'सबसों ऊँची प्रेम सगाई'

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसू-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढ़ी बृंदावन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई॥

इस अङ्कका मूल्य १२० रु० (सजिल्द १३५ रु०)

वार्षिक शुल्क*
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क*
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$65 (Sea Mail)

* कृपया नियम देखें।

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये केशोराम अग्रवालद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

visit us at: **www.gitapress.org** | e-mail: **gitapres@ndf.vsnl.net.in**

'कल्याण' के सम्मान्य सदस्यों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण' के ७७ वें वर्ष—सन् २००३ का यह विशेषाङ्क 'भगवत्प्रेम-अङ्क' आप लोगोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४ पृष्ठोंमें पाठ्य-सामग्री और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरंगे एवं रेखाचित्र भी दिये गये हैं। इस विशेषाङ्कके थ फरवरी एवं मार्च माहका अङ्क भी प्रेषित किया गया है। डाकसे सभी ग्राहकोंको विशेषाङ्क-प्रेषणमें लगभग दो माहका ाय लग जाता है।

२-वार्षिक सदस्यता-शुल्क प्रेषित करनेपर भी किसी कारणवश यदि विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा आपके पास पहुँच ा हो तो उसे डाकघरसे प्राप्त कर लेना चाहिये एवं प्रेषित की गयी राशिका पूरा विवरण (मनीऑर्डर पावतीसहित) यहाँ त देना चाहिये। जिससे जाँचकर आपके सुविधानुसार राशिकी उचित व्यवस्था की जा सके। सम्भव हो तो वी०पी०पी० से सी अन्य सज्जनको ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ नये सदस्यके पूरे पतेसहित देनी चाहिये। ऐसा करके आप ल्याण' को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ-साथ 'कल्याण' के पावन प्रचारमें सहयोगी भी हो सकेंगे।

३-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी सदस्य-संख्या एवं पता छपा है, उसे कृपया जाँच लें तथा अपनी सदस्य-ख्या सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री अथवा वी०पी०पी० का नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारमें सदस्य-ख्याका उल्लेख नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्यवाही नहीं कर पाते हैं। डाकद्वारा ङ्कोंके सुरक्षित वितरणमें सही पिन-कोड आवश्यक है। अत: अपने लिफाफेपर छपा अपना पता जाँच लेना चाहिये।

४-*'कल्याण'* एवं *'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'* की व्यवस्था अलग-अलग है। अत: पत्र तथा मनीऑर्डर आदि म्बन्धित विभागको अलग-अलग भेजना चाहिये।

'कल्याण' के उपलब्ध पुराने विशेषाङ्क

वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)	वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)
६	श्रीकृष्णाङ्क	१००	३५	सं० योगवासिष्ठाङ्क	९०
७	ईश्वराङ्क	९०	३६	सं० शिवपुराण (बड़ा टाइप)	१००
८	शिवाङ्क	१००	३७	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	११०
९	शक्ति-अङ्क	१००	३९	भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	८५
१२	संत-अङ्क	१००	४३	परलोक और पुनर्जन्माङ्क	१००
१५	साधनाङ्क	१००	४४-४५	गर्गसंहिता [भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन]	७०
१६	भागवताङ्क	१३०			
१८	सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५	४४-४५	नरसिंह-पुराणम्	५५
१९	संक्षिप्त पद्मपुराण	१२०	४४-४५	अग्निपुराण	११०
२१	सं० मार्कण्डेयपुराण	५५	४८	श्रीगणेश-अङ्क	७५
२१	सं० ब्रह्मपुराण	७०	४९	हनुमान-अङ्क	७०
२२	नारी-अङ्क	१००	५१	सं० श्रीवराहपुराण	६०
२३	उपनिषद्-अङ्क	१००	५३	सूर्याङ्क	६०
२४	हिन्दू-संस्कृति-अङ्क	१२०	६६	सं० भविष्य-पुराणाङ्क	७५
२५	सं० स्कन्दपुराणाङ्क	१४०	६७	शिवोपासनाङ्क	७५
२६	भक्तचरिताङ्क	१२०	६८	रामभक्ति-अङ्क	६५
२८	सं० नारदपुराण	१००	६९	गो-सेवा-अङ्क	७५
३०	सत्कथा-अङ्क	१००	७२	भगवल्लीला-अङ्क	६५
३१	तीर्थाङ्क	१००	७४	सं० गरुडपुराणाङ्क	८०
३४	सं० देवीभागवत (मोटा टाइप)	१२०	७५	आरोग्य-अङ्क [मासिक अङ्कोंसहित]	१२०
			७६	नीतिसार-अङ्क [,, ,,]	१२०

सभी अङ्कोंपर डाक-व्यय अतिरिक्त देय होगा। गीताप्रेस-पुस्तक-विक्री-विभागसे प्राप्य है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, जनपद—गोरखपुर, (उ०प्र०)

आशीर्वाद

प्रेम-दर्शन

विषय	पृष्ठ-संख्या

विषय	पृष्ठ-संख्या

प्रेमोपासना और उसके विविध रूप

विषय	पृष्ठ-संख्या

आर्षग्रन्थों तथा सत्साहित्यमें प्रेम-निरूपण

प्रेमाभक्तिके परम उपासक [प्रेमीभक्तोंके चरित]

चित्र-सूची

(रंगीन-चित्र)

(रेखा-चित्र)

विषय	पृष्ठ-संख्या

प्रेमसिन्धु भगवान् श्रीराम—वालरूपमें

प्रेमी हनुमान्‌जीद्वारा सेवक-सेव्य-भावकी याचना

'जित देखौं तित स्याममयी है'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
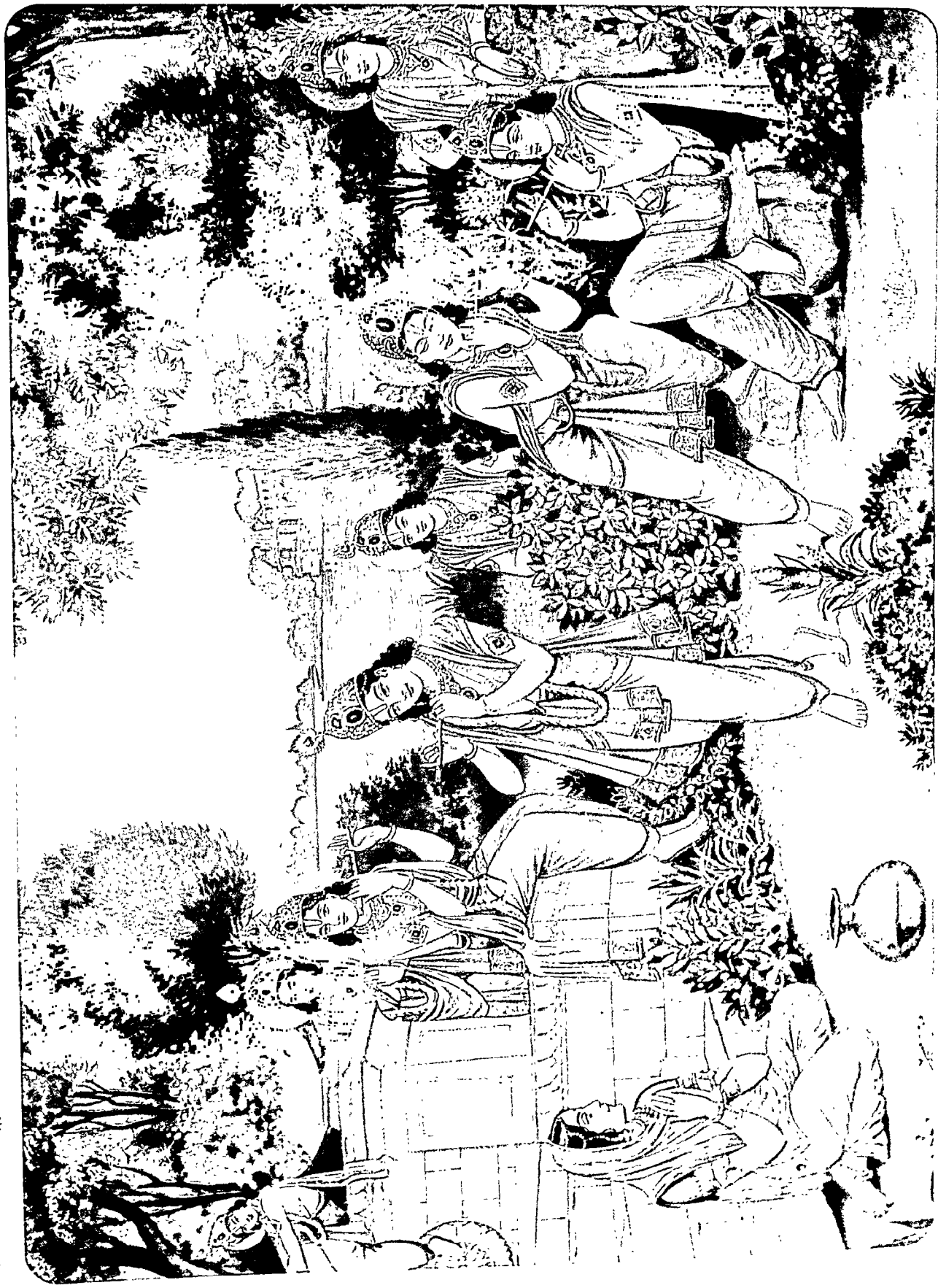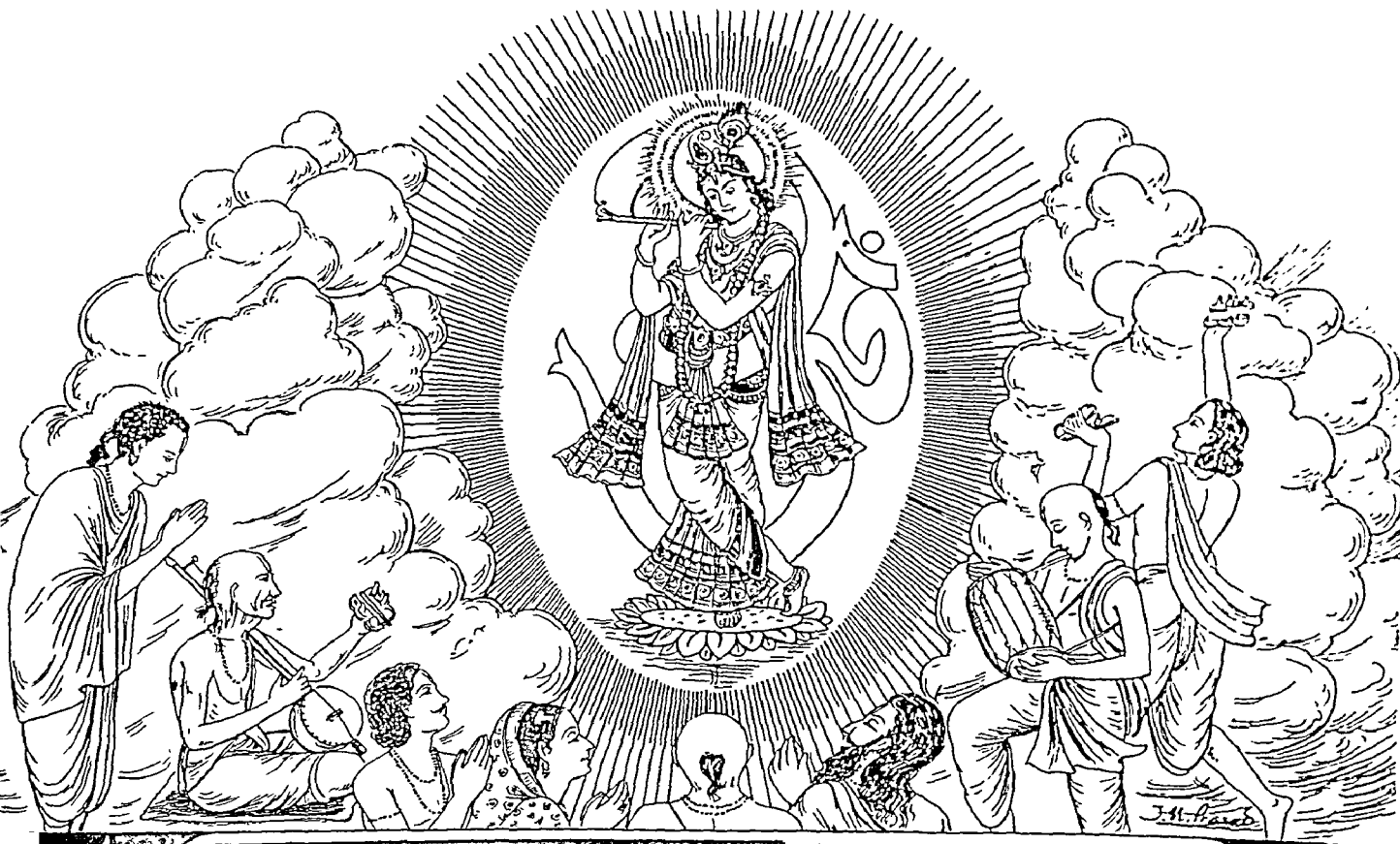
कल्याण

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥

वर्ष ७७ | गोरखपुर, सौर माघ, वि० सं० २०५९, श्रीकृष्ण-सं० ५२२८, जनवरी २००३ ई० | संख्या १

पूर्ण संख्या ९१४

'जित देखौं तित स्याममई है'

जित देखौं तित स्याममई है।
स्याम कुंज बन, जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रंगनमें स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी, की लोगन ही की स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चंद्रसार रबिसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठको कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुतिको अक्षर स्याम देखियत, दीपसिखापर स्यामतई है।
नर-देवनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याममई है॥

श्रुतिका प्रेममय माङ्गलिक संदेश

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता, संमनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछड़ेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरेसे प्रेम करें।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्तियुक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन बहिनके साथ ईर्ष्या न रखें। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग करें।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोंसे सदा मिले हुए रहो।

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु॥

समान गतिवाले आप सबको संमनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान-भावोंके साथ एक अग्रणीका अनुसरण करें। देव जिस प्रकार समान-चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी उत्तम समिति हो।

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥

हे धर्म-निरत विद्वानो! आप परस्पर एक होकर रहें, परस्पर मिलकर प्रेमसे वार्तालाप करें। समान-मन होकर ज्ञान प्राप्त करें। जिस प्रकार श्रेष्ठजन एकमत होकर ज्ञानार्जन करते हुए ईश्वरकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार आप भी एकमत होकर विरोध त्यागकर अपना काम करें।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

हम सबकी प्रार्थना एक समान हो, भेद-भावसे रहित परस्पर मिलकर रहें, अन्तःकरण—मन-चित्त-विचार समान हों। मैं सबके हितके लिये समान मन्त्रोंको अभिमन्त्रित करके हवि प्रदान करता हूँ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

तुम सबके संकल्प एक समान हों, तुम्हारे हृदय एक समान हों और मन एक समान हों, जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे संगठित हो।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

मेरी जिह्वाके अग्रभागमें माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमें मधुरता हो। मेरे कर्ममें माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो।

‘मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्’

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ १॥
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम्।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ २॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ३॥
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम्।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ४॥
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं स्मरणं मधुरम्।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ५॥
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ६॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं मुक्तं मधुरम्।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ७॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ ८॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यकृतं मधुराष्टकं सम्पूर्णम्॥

श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। उनके अधर मधुर हैं, मुख मधुर है, नेत्र मधुर हैं, हास्य मधुर है, हृदय मधुर है और गति भी अति मधुर है॥ १॥ उनके वचन मधुर हैं, चरित्र मधुर हैं, वस्त्र मधुर हैं, अङ्गभङ्गी मधुर है, चाल मधुर है और भ्रमण भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ २॥ उनका वेणु मधुर है, चरणरज मधुर है, करकमल मधुर हैं, चरण मधुर हैं, नृत्य मधुर है और सख्य भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ३॥ उनका गान मधुर है, पान मधुर है, भोजन मधुर है, शयन मधुर है, रूप मधुर है और तिलक भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ४॥ उनका कार्य मधुर है, तैरना मधुर है, हरण मधुर है, स्मरण मधुर है, उद्‌गार मधुर है और शान्ति भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ५॥ उनकी गुञ्जा मधुर है, माला मधुर है, यमुना मधुर है, उसकी तरङ्गें मधुर हैं, उसका जल मधुर है और कमल भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ६॥ गोपियाँ मधुर हैं, उनकी लीला मधुर है, उनका संयोग मधुर है, वियोग मधुर है, निरीक्षण मधुर है और शिष्टाचार भी मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ७॥ गोप मधुर हैं, गौएँ मधुर हैं, लकुटी मधुर है, रचना मधुर है, दलन मधुर है और उसका फल भी अति मधुर है; श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ८॥

'भजत रे मनुजाः कमलापतिम्'

भुजगतल्पगतं घनसुन्दरं गरुडवाहनमम्बुजलोचनम्।
नलिनचक्रगदाकरमव्ययं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ १॥
अलिकुलासितकोमलकुन्तलं विमलपीतदुकूलमनोहरम्।
जलधिजाङ्कितवामकलेवरं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ २॥
किमु जपैश्च तपोभिरुताध्वरैरपि किमुत्तमतीर्थनिषेवणैः।
किमुत शास्त्रकदम्बविलोकनैर्भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ३॥
मनुजदेहमिमं भुवि दुर्लभं समधिगम्य सुरैरपि वाञ्छितम्।
विषयलम्पटतामपहाय वै भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ४॥
न वनिता न सुतो न सहोदरो न हि पिता जननी न च बान्धवः।
व्रजति साकमनेन जनेन वै भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ५॥
सकलमेव चलं सचराचरं जगदिदं सुतरां धनयौवनम्।
समवलोक्य विवेकदृशा द्रुतं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ६॥
विविधरोगयुतं क्षणभङ्गुरं परवशं नवमार्गमलाकुलम्।
परिनिरीक्ष्य शरीरमिदं स्वकं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ७॥
मुनिवरैरनिशं हृदि भावितं शिवविरिञ्चिमहेन्द्रनुतं सदा।
मरणजन्मजराभयमोचनं भजत रे मनुजाः कमलापतिम्॥ ८॥
हरिपदाष्टकमेतदनुत्तमं परमहंसजनेन समीरितम्।
पठति यस्तु समाहितचेतसा व्रजति विष्णुपदं स नरो ध्रुवम्॥ ९॥

॥ इति श्रीमत्परमहंसस्वामिब्रह्मानन्दविरचितं श्रीकमलापत्यष्टकं सम्पूर्णम्॥

रे मनुष्यो! जो शेषशय्यापर पौढ़े हुए हैं, नीलमेघ-सदृश श्याम-सुन्दर हैं, गरुड़ जिनका वाहन है और जिनके कमल-जैसे नेत्र हैं, उन शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अव्यय श्रीकमलापतिको भजो॥ १॥ भौंरोंके समान जिनकी काली-काली कोमल अलकें हैं, अति निर्मल सुन्दर पीताम्बर है और जिनके वामाङ्कमें श्रीलक्ष्मीजी सुशोभित हैं, रे मनुष्यो! उन श्रीकमलापतिको भजो॥ २॥ जप, तप, यज्ञ अथवा उत्तम-उत्तम तीर्थोंके सेवनमें क्या रखा है? अथवा अधिक शास्त्रावलोकनके पचड़ेमें पड़नेसे ही क्या होना है? रे मनुष्यो! बस श्रीकमलापतिको ही भजो॥ ३॥ इस संसारमें यह मनुष्य-शरीर अति दुर्लभ और देवगणोंसे भी वाञ्छित है—ऐसा जानकर विषय-लम्पटताको त्यागकर रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ४॥ इस जीवके साथ स्त्री, पुत्र, भाई, पिता, माता और बन्धुजन कोई भी नहीं जाता, अतः रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ५॥ यह सचराचर जगत्, धन और यौवन सभी अत्यन्त अस्थिर हैं—ऐसा विवेकदृष्टिसे देखकर रे मनुष्यो! शीघ्र ही श्रीकमलापतिको भजो॥ ६॥ यह शरीर नाना प्रकारके रोगोंका आश्रय, क्षणिक, परवश तथा मलसे भरे हुए नौ मार्गोंवाला है—ऐसा देखकर रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ७॥ मुनिजन जिनका अहर्निश हृदयमें ध्यान करते हैं, शिव, ब्रह्मा तथा इन्द्रादि समस्त देवगण जिनकी सर्वदा वन्दना करते हैं तथा जो जरा, जन्म और मरणादिके भयको दूर करनेवाले हैं, रे मनुष्यो! उन श्रीकमलापतिको भजो॥ ८॥ दास परमहंसद्वारा कहे गये इस अत्युत्तम भगवान् हरिके अष्टकको जो मनुष्य समाहितचित्तसे पढ़ता है, वह अवश्य ही भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त होता है॥ ९॥

‘किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे’

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे॥ १॥
अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम्।
इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं देवकीनन्दनं नन्दजं संदधे॥ २॥
विष्णवे जिष्णवे शङ्खिने चक्रिणे रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः॥ ३॥
कृष्ण गोविन्द हे राम नारायण श्रीपते वासुदेवाजित श्रीनिधे।
अच्युतानन्त हे माधवाधोक्षज द्वारकानायक द्रौपदीरक्षक॥ ४॥
राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो दण्डकारण्यभूपुण्यताकारणः।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसम्पूजितो राघवः पातु माम्॥ ५॥
धेनुकारिष्टकानिष्टकृद् द्वेषिहा केशिहा कंसहृद्वंशिकावादकः।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो बालगोपालकः पातु मां सर्वदा॥ ६॥
विद्युदुद्योतवत्प्रस्फुरद्वाससं प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम्।
वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे॥ ७॥
कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः।
हारकेयूरकं कङ्कणप्रोज्ज्वलं किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे॥ ८॥
अच्युतस्याष्टकं यः पठेदिष्टदं प्रेमतः प्रत्यहं पूरुषः सस्पृहम्।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृविश्वम्भरस्तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम्॥ ९॥

॥ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतमच्युताष्टकं सम्पूर्णम्॥

अच्युत, केशव, राम, नारायण, कृष्ण, दामोदर, वासुदेव, हरि, श्रीधर, माधव, गोपिकावल्लभ तथा जानकीनायक श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ॥ १॥ अच्युत, केशव, सत्यभामापति, लक्ष्मीपति, श्रीधर, राधिकाजीद्वारा आराधित, लक्ष्मीनिवास, परम सुन्दर, देवकीनन्दन, नन्दकुमारका मैं चित्तसे ध्यान करता हूँ॥ २॥ जो विभु हैं, विजयी हैं, शङ्ख-चक्रधारी हैं, रुक्मिणीजीके परम प्रेमी हैं, जानकीजी जिनकी धर्मपत्नी हैं तथा जो व्रजाङ्गनाओंके प्राणाधार हैं उन परमपूज्य, आत्मस्वरूप, कंसविनाशक, मुरलीमनोहरको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ३॥ हे कृष्ण! हे गोविन्द! हे राम! हे नारायण! हे रमानाथ! हे वासुदेव! हे अजेय! हे शोभाधाम! हे अच्युत! हे अनन्त! हे माधव! हे अधोक्षज (इन्द्रियातीत)! हे द्वारकानाथ! हे द्रौपदीरक्षक! (मुझपर कृपा कीजिये)॥ ४॥ जो राक्षसोंपर अति कुपित हैं, श्रीसीताजीसे सुशोभित हैं, दण्डकारण्यकी भूमिकी पवित्रताके कारण हैं, श्रीलक्ष्मणजीद्वारा अनुगत हैं, वानरोंसे सेवित हैं और श्रीअगस्त्यजीसे पूजित हैं; वे रघुवंशी श्रीरामचन्द्रजी मेरी रक्षा करें॥ ५॥ धेनुक और अरिष्टासुर आदिका अनिष्ट करनेवाले, शत्रुओंका ध्वंस करनेवाले, केशी और कंसका वध करनेवाले, वंशीको बजानेवाले, पूतनापर कोप करनेवाले, यमुनातटविहारी बालगोपाल मेरी सदा रक्षा करें॥ ६॥ विद्युत्प्रकाशके सदृश जिनका पीताम्बर विभासित हो रहा है, वर्षाकालीन मेघोंके समान जिनका अति शोभायमान शरीर है, जिनका वक्षःस्थल वनमालासे विभूषित है और जिनके चरणयुगल अरुणवर्ण हैं; उन कमलनयन श्रीहरिको मैं भजता हूँ॥ ७॥ जिनका मुख घुँघराली अलकोंसे सुशोभित है, मस्तकपर मणिमय मुकुट शोभा दे रहा है तथा कपोलोंपर कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं; उज्ज्वल हार, केयूर (बाजूबन्द), कङ्कण और किङ्किणीकलापसे सुशोभित उन मञ्जुलमूर्ति श्रीश्यामसुन्दरको मैं भजता हूँ॥ ८॥ जो पुरुष इस अति सुन्दर छन्दवाले और अभीष्ट फलदायक अच्युताष्टकको प्रेम और श्रद्धासे नित्य पढ़ता है, विश्वम्भर, विश्वकर्ता श्रीहरि शीघ्र ही उसके वशीभूत हो जाते हैं॥ ९॥

प्रियतम प्रभुकी प्रेम-साधना

प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसे विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, उसे भगवान् मिल गये—यह मानना चाहिये। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भावजगत्‌की वस्तु रहें ही नहीं।

वास्तवमें प्रभु रसरूप हैं। श्रुतियोंमें भी परमपुरुषकी रसरूपताका वर्णन मिलता है—'रसो वै सः' (तै०उप० २।७।२)। प्रेमका निजी रूप रसस्वरूप परमात्मा ही है। इसीलिये जैसे परमात्मा सर्वव्यापक है, वैसे ही प्रेमतत्त्व (आनन्दरस) भी सर्वत्र व्याप्त है। हरेक जन्तुमें तथा हरेक परमाणुमें आनन्द अथवा रसस्वरूप प्रेमकी व्याप्ति है। संसारमें बिना प्रेम या आनन्दरसके एक-दूसरेसे मिलना नहीं हो सकता। स्त्री, पुत्र, मित्र, पिता, भ्राता, पुत्रवधू तथा पशु-पक्षी आदिमें भी प्रीति या स्नेह इस प्रेमरसकी व्याप्तिके कारण ही है।

कहते हैं कि गुड़के सम्बन्धसे नीरस बेसनमें मिठास आ जाती है। इसी प्रकार 'स्व'के सम्बन्धसे अर्थात् अपनेपनके सम्बन्धसे संसारकी वस्तुओंमें भी प्रीति होती है। संसारकी जिस वस्तुमें जितना अपनापन होगा, वह वस्तु उतनी ही प्यारी लगेगी। उसमें राग होना स्वाभाविक है। संसारकी वस्तुओंमें जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी है। जहाँ द्वेष है वहाँ राग है—ये द्वन्द्व हैं। द्वन्द्व अकेला नहीं रहता। राग-द्वेष—ये दोनों साथ रहते हैं, इसीलिये इसका नाम द्वन्द्व है। पर एक बात बड़ी विलक्षण है, वह है—रस (प्रेम)-साधनाकी। रस-साधनाका प्रारम्भ भगवान्‌में अनुरागको लेकर ही होता है। एकमात्र भगवान्‌में अनन्य राग होनेपर अन्यान्य वस्तुओंमें रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है। उन वस्तुओंमेंसे राग निकल जानेके कारण उनमें कहीं द्वेष भी नहीं रहता। कारण ये राग-द्वेष साथ-साथ ही तो रहते हैं। प्रेमीजन द्वन्द्वोंसे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वोंके द्वारा अपने प्रियतम भगवान्‌को सुख पहुँचाते हैं और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हैं, उनमेंसे कोई-सा साधन भी त्याज्य नहीं है तथा कोई भी वस्तु हेय नहीं। कारण उन वस्तुओंमें कहीं आसक्ति रहती नहीं जो मनको खींच ले, इसलिये रसकी साधनामें कहींपर कड़वापन नहीं है। उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्‌में रागको लेकर। राग बड़ा मीठा होता है, रागका स्वभाव ही मधुरता है और यह मधुरता आती है अपनेपनसे। जहाँ अपनत्व नहीं वहाँ प्रेम नहीं।

इसी कारण साक्षात् अपनेमें अर्थात् 'स्व' में प्राणीका सर्वाधिक प्रेम होता है। इसीलिये भगवान् प्राणके प्राण, जीवके जीवन, आनन्दके आनन्द प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही हैं। पर यह अपनापन संसारमें प्रायः दिखायी देनेवाले निकटस्थ प्राणिपदार्थमें होना स्वाभाविक है, जो जन्म-मरणके बन्धनका भी कारण होता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें यह लिखा है—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
(५।४८।४-५)

माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, अपना शरीर, धन, मकान, मित्र और परिवार—ये ही सब ममताके आस्पद हैं। अतः भगवान् कहते हैं—इन सबकी ममताका कच्चा धागा बटोरकर उसकी एक मजबूत रस्सी वट लो और मेरे चरणकमलमें बाँध दो। यहाँ कच्चा धागा इसलिये कहा गया कि इन प्राणिपदार्थोंमें जो ममता है—अपनापन है वह स्वार्थपूर्ण है। इसलिये यह कच्चा धागा है, जो कभी भी स्वार्थकी टकराहटसे टूट सकता है, परंतु प्रभुमें जो प्रेम होता है वह कभी टूटता नहीं। स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र आदिमें कभी प्रेम और कभी वैर भी हो जाता है। कभी प्रेमकी कमी और कभी अधिकता हो जाती है, परंतु भगवान्‌में वह सदा-सर्वदा एकरस निरतिशय रहता है। क्योंकि जैसे सूर्य प्रकाशका उद्गम-स्थान या प्रकाशस्वरूप ही है, वैसे ही भगवान् भी प्रेमके

न-स्थान या प्रेमस्वरूप ही हैं। इसीलिये इन्हें प्रेम)-सागर भी कहा जाता है। यह रससागर बड़ा म, अतुल और विलक्षण है। इसमें प्रेम, प्रेमी और पद वस्तुतः एक भगवान् ही होते हैं, पर सदा ही बनकर रसास्वाद करते और कराते रहते हैं।

वस्तुतः परमेश्वरमें प्रेम होना ही विश्वमें प्रेम होना ौर विश्वके समस्त प्राणियोंमें प्रेम ही भगवान्में प्रेम क्योंकि स्वयं परमात्मा ही सबके आत्मस्वरूपसे जमान हैं। जो व्यक्ति इस भगवत्प्रेमके रहस्यको भाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोंके साथ नी आत्माके समान प्रेम हो जाता है। ऐसे प्रेमीकी सा करते हुए भगवान्ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

हे अर्जुन! जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतोंमें देखता है और सुख अथवा दुःखमें भी सम देखता वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। अपनी सादृश्यतासे देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने ;, हाथ, पैर और गुदा आदि अङ्गोंमें भिन्नता होते हुए उनमें समान रूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे ङ्गोंमें अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोंमें जो समभाव देखता इस प्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे ाबोर रहता है। उसकी दृष्टि सबके प्रति प्रेमकी ही हो ती है। उसके हृदयमें किसीके भी साथ घृणा और ाका लेश भी नहीं रहता। उसकी दृष्टिमें तो सम्पूर्ण सार एक वासुदेवरूप ही हो जाता है।

इस परमतत्त्वको न जाननेके कारण ही प्रायः मनुष्य ा-द्वेष करते हैं तथा परमात्माको छोड़कर सांसारिक षय-भोगोंकी ओर दौड़ते हैं और बार-बार दुःखको प्त होते हैं। मनुष्य जो स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थोंमें उन्हें जो सुखकी प्रतीति होती है वह केवल भ्रान्तिसे हो है। वास्तवमें विषयोंमें सुख है ही नहीं, परंतु जिस प्रक सूर्यकी किरणोंसे मरुभूमिमें जलके विना हुए ही उस प्रतीति होती है और प्यासे हिरण उसकी ओर दौड़ते तथा अन्तमें निराश होकर मर जाते हैं, ठीक इसी प्रक सांसारिक मनुष्य संसारके पदार्थोंके पीछे सुखकी आश दौड़ते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही विता हैं और असली नित्य परमात्म-सुखसे वञ्चित रह जाते

जबतक साधक विषय-भोगोंके मोहसे मुक्त न होता, तबतक उसमें भक्तिभाव उत्पन्न ही नहीं होत भक्तिका प्रभाव अमित है। यह सब दुःखोंको मिटानेवाल सब प्रकारके कल्याणको देनेवाली, मोक्षकी कामना दूर भगानेवाली, घनीभूत, आनन्दरूपा, दुर्लभ एवं परमात्म श्रीकृष्णको आकृष्ट करनेवाली है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पू० ल० १।१

भक्ति मोक्षरूपा भी मानी गयी है। भक्तिका उद्रे महापुरुषोंके उपदेश, उपनिषद्, पुराण आदिके श्रवणद्व होता है, परंतु प्रेम ईश्वरीय देन अथवा नैसर्गिक रूपमें स्वयं स्फूर्त होता है। देवर्षि नारदके उपदेशने प्रह्लाद, ध्र आदिके मनमें भगवद्भक्तिका बीज अङ्कुरित किया इसके साथ ही नन्दबाबा, माँ यशोदा तथा व्रजाङ्गनाओं मनमें स्वभावतः ही प्रेम प्रस्फुटित हुआ।

भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—(१) वै भक्ति, (२) अनुरागा भक्ति। वैधी भक्तिमें प्रवृत्ति प्रेरणा शास्त्रसे मिलती है, जिसे विधि कहते हैं। शास्त्र दृढ़ विश्वासयुक्त, तर्कशील, बुद्धिसम्पन्न तथा निष्ठाव साधक ही वैधी भक्तिका अधिकारी है। वह शास्त्रविधि अनुसार अपने आराध्यकी सेवा-पूजा और उपास करता है। दूसरी रागानुगा भक्ति आत्यन्तिक रागके कार ही उत्पन्न होती है। रागात्मिका भक्ति और

जो स्वाभाविक आसक्ति होती है उसे रागानुरागा कहते हैं। रागात्मक भाव प्रगाढ़ हो जानेपर प्रेम कहलाने लगता है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माकी बाट जोहते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वैसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है।

इस प्रकार प्रगाढ़ प्रेमकी पराकाष्ठा ही रागानुगा (प्रेमा) भक्ति है। इस प्रेमाभक्तिमें अनन्यताका सर्वोपरि स्थान है। अनन्यताके सम्बन्धमें देवर्षि नारदका कथन है कि अपने प्रिय भगवान्को छोड़कर दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम ही अनन्यता है—'**अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता**' (ना० भ० सू० १०)। अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह है—एक भगवान्के अतिरिक्त अन्य किसीमें किसी समय भी आसक्ति न हो। प्रेमकी मग्नतामें भगवान्के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे, जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हों। यूँ होते-होते अभ्यास बढ़ जानेपर अपने-आपकी विस्मृति होकर केवल भगवान् ही रह जायँ, यही विशुद्ध अनन्य प्रेम है। प्रेम करनेका हेतु भी केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही होना चाहिये। प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय अन्य कोई हेतु न रहे। मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा तथा इस लोक और परलोकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनमें न रहे। ऐसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द होता है उसकी महिमा अकथनीय है। ऐसे प्रेमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है।

उत्तम साधक सांसारिक कार्य करते हुए भी अनन्यभावसे परमात्माका चिन्तन किया करते हैं। साधारण भगवत्प्रेमी साधक अपना मन परमात्मामें लगानेकी कोशिश करते हैं, परंतु अभ्यास और आसक्तिवश भजन-ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोंमें चला ही जाता है। जिनका भगवान्में मुख्य प्रेम है वे हर समय भगवान्को स्मरण रखते हुए समस्त कार्य करते हैं और जिनका भगवान्में अनन्य प्रेम हो जाता है उनको तो समस्त चराचर विश्व एक वासुदेव ही प्रतीत होने लगता है। ऐसे महात्मा बड़े दुर्लभ हैं (गीता ७।१९)।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रेम प्राप्त कैसे हो? इस सम्बन्धमें गोस्वामीजी महाराजने कहा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
(रा०च०मा० ७।६१)

पर वास्तविकता यह है कि हमलोगोंका प्रेम तो काञ्चन-कामिनी, मान-प्रतिष्ठामें हो रहा है। हम सच्चे प्रेमके लिये तो हृदयमें कामना ही नहीं करते। जबतक प्रेमके लिये हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं हो जाता, तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी कैसे सकती है। अभी तो हमलोगोंका कामी मन नारी-प्रेममें ही आनन्दकी उपलब्धि कर रहा है, अभी तो हमलोगोंका लोभी चित्त काञ्चनकी प्राप्तिमें ही पागल है, अभी तो हमलोगोंका चञ्चल चित्त मान-बड़ाईके पीछे मारा-मारा फिरता है। जबतक हमलोगोंका यह काम और लोभ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हो जाता, तबतक हम प्रभु-प्रेमको प्राप्त करनेके अधिकारी ही नहीं हैं।

भगवान् हमें जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले—ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेमास्पद प्रभुके मिलनेका कारण है। प्रभुका महत्त्व और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका महत्त्व

जान लेनेपर हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। इस सम्बन्धमें विभिन्न प्रेमाचार्योंने विभिन्नरूपसे प्रेमाभक्तिका लक्षण किया है। भगवान् वेदव्यास भगवान्के अर्चन-पूजन आदिमें अनुराग अथवा प्रेमको ही वास्तविक प्रेमाभक्ति मानते हैं—'**पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः**' (ना०भ०सू० १६)। इस कथनकी पुष्टि 'विष्णुरहस्य' में भी हुई है। श्रीगर्गाचार्यने भगवत्कथादिमें अनुरागको ही भक्ति माना है—'**कथादिष्विति गर्गः**' (ना०भ०सू० १७)। महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है। श्रीशङ्कराचार्यजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है—आत्मरूपसे प्रत्येक प्राणीमें भगवान् ही विराजमान हैं। अतः सर्वात्मामें रति होना वस्तुतः भगवान्की भक्ति ही है और ऐसी भक्ति करनेवालेको मुक्ति प्राप्त होनेमें संदेह नहीं।* देवर्षि नारदके अनुसार अपने सभी कर्मोंको भगवदर्पण करना और भगवान्का किञ्चित् विस्मरण होनेपर व्याकुल हो जाना प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(ना०भ०सू० १९)

अपने समस्त कर्म (वैदिक और लौकिक) भगवान्में अर्पण करके प्रियतम भगवान्का अखण्ड स्मरण करना और पलभरके लिये भी यदि उनका विस्मरण हो जाय (प्रियतमको भूल जाय) तो परम व्याकुल हो जाना—यही सर्वलक्षणसम्पन्न भक्ति है। मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले—ऐसा प्रेम प्रेमी संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। पर ऐसे प्रेमी संतोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा सबपर पूर्ण है ही, किंतु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। भक्तिमती प्रेम-दीवानी मीराबाईके अग्रलिखित पदमें उनकी प्रेमविह्वलताका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।
जौहरिकी गति जौहरी जाणै की जिन जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस विध होय।
गगन मँडलपर सेज पियाकी किस विध मिलणा होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी जद बैद साँवलियाँ होय॥

दयाबाईकी दीनता और विरहवेदना बड़ी ही मर्मर है। कितने करुणकण्ठसे वे प्रभुसे प्रार्थना करती हैं

जनम जनम के बीछुरे, हरि! अब रह्यो न जाय।
क्यों मन कूँ दुख देत हो, विरह तपाय तपाय॥
बौरी है चितवत फिरूँ, हरि आवें केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥

वस्तुतः मिलन और वियोग प्रेमके दो समान हैं। इन दोनोंमें ही प्रेमीजनोंकी भाषामें, प्रेमीजन अनुभूतिमें समान रति है। आनन्दस्वरूप भगवान्मे राग होता है, वह भगवान्से मिलनेकी इच्छा उ करता है और उनका वियोग अत्यन्त दुःखदायी होत परंतु भगवान्के लिये होनेवाली व्याकुलता अ दुःखदायिनी होनेपर भी परम सुखस्वरूपा होती भगवान्के विरहमें जो अपरिसीम पीड़ा होती है, उ सम्बन्धमें कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी भयावह होती है, पर उस विषम वियोग-विषके साथ बड़ी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवा मधुरातिमधुर अमृतस्वरूपा **चिन्मयी स्मृति**। भगवा स्मृति नित्यानन्द सुखदस्वरूप भगवान्को अंदर हृदयस्थ विराजमान करा देती है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ भगवा स्मृति है वहाँ-वहाँ भगवत्-रसका समुद्र लहरात इसीलिये जहाँ भोगोंके लिये होनेवाली व्याकुलता नि दुःखदायिनी होती है वहाँ भगवान्के लिये होने आकुलता भगवत्स्मृतिके कारण सुखस्वरूपा हो है। इसीलिये यदि कोई प्रेमी साधकसे पूछे कि तुम र

और वियोग दोनोंमेंसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा, संयोग या वियोग। यह बड़ा विलक्षण प्रश्न है। जो प्राणप्रियतम है, प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका वियोग भी अत्यन्त असह्य है। यदि हमसे पूछा जाय तो दोनोंमेंसे कौन-सा चाहते हो तो स्वाभाविक हम यही कहेंगे कि हम मिलन चाहते हैं, संयोग चाहते हैं, वियोग कदापि नहीं। परंतु प्रेमियोंकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते हैं कि इनमेंसे एक मिले तो वियोग चाहते हैं, संयोग नहीं। बड़ी विलक्षण बात है यह। वे ऐसा क्यों चाहते हैं, इसलिये कि वियोगमें संयोगका अभाव नहीं। यद्यपि वियोगमें बाहरी मिलन नहीं है तथापि आभ्यन्तरमें—अंदरमें मधुर मिलन हो रहा है। प्रियतमकी मधुर स्मृति निरन्तर बनी रहती है। मिलनका अभाव तो है ही नहीं और असली मिलन होता भी है अन्तर्वृत्तिका ही। हमारे सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी आँखें भी खुली हैं, पर मनकी अन्तर्वृत्ति उस आँखके साथ नहीं है। सामनेवाली वस्तु आँखोंके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं। इस प्रकार बाह्यवियोगमें आभ्यन्तरिक मिलन निरन्तर रहता है और संयोगका मिलन बाहरका मिलन है। इसमें समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक बात है, इसे सब समझ सकते हैं। किसीसे मिलनेके लिये समय, स्थान निश्चित करना पड़ता है तथा मर्यादा आदिका भी ध्यान रखना पड़ता है, परंतु वियोगके मिलनमें जो अन्तर्मिलन होता है उसमें कोई समयकी अपेक्षा नहीं, लगातार दिनभर होता रहे। स्थानकी अपेक्षा नहीं—जंगलमें, घरमें, बाहर-भीतर कहीं भी हो सकता है, फिर व्यवहारकी भी कोई अपेक्षा नहीं। इस प्रकार जैसा आनन्द अन्तरात्मामें आभ्यन्तरमिलनमें है वैसा बाह्यमिलनमें नहीं। संसारकी किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है तो वह बार-बार याद आती है, मिलती नहीं, इससे उसकी स्मृति भी दु:खदायिनी होती है। परंतु प्रियतम भगवान्‌का वियोग इससे विलक्षण है। यह परम सुखमय होता है। इसीलिये किसी कविने कहा है—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत् गति है और सुषुप्ति मिलन है॥

—ये पंक्तियाँ भगवत्प्रेममें पूर्णरूपसे लागू होती हैं। प्रियतम प्रभुका वियोग या विरह ही प्रेमकी जाग्रद् अवस्था है।

भगवान्‌को छोड़कर जगत्‌का स्वरूप तमोमय है, अन्धकारमय है और भगवान् हैं प्रकाशमय। उनमें प्रकाश-ही-प्रकाश है। मनमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक होती है। सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है। भगवान् तो परम प्रकाशरूप हैं ही, इसलिये इस प्रेमरसकी साधनामें निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं। इसीलिये इसका नाम है—'उज्ज्वलरस' अर्थात् आनन्दरस, मधुररस। *'काम अंधतम प्रेम निर्मल भास्कर'* इसमें कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं है, दु:खके लिये कोई कल्पना ही नहीं है। इस प्रेमरसकी साधनामें आरम्भसे ही भगवान्‌का स्वरूप, भगवान्‌का शब्द, भगवान्‌का स्पर्श, भगवान्‌की गन्ध और भगवान्‌का रस—ये सब साथ रहते हैं। जहाँ शुरूसे भगवत्-रस साथ हो वही वास्तवमें प्रेमसाधना है। यह परम प्रियतम भगवान्‌की साधना है। प्रियतम प्रभुका स्वरूप प्रेमका ही पुञ्ज है।

प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। भगवान् सगुण-साकारकी उपासना करनेवालोंके लिये प्रेममय बन जाते हैं और निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवालोंके लिये आनन्दमय बन जाते हैं। वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भक्तोंके प्रेमानन्द हैं और वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

हरि सब जगह परिपूर्ण हैं। वे प्रेमसे ही प्रकट होते हैं; क्योंकि वे स्वयं प्रेममय हैं।

—राधेश्याम खेमका
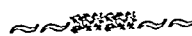
प्रेमदर्शनके आचार्य देवर्षि नारद और उनका भक्तिसूत्र

अहो नारद धन्योऽसि विरक्तानां शिरोमणिः। सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्करः॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य २।

सनकादि मुनीश्वरोंने कहा—नारदजी! आप धन्य हैं। आप विरक्तोंके शिरोमणि हैं। श्रीकृष्णदासोंके शाश्वत पथप्र एवं भक्तियोगके भास्कर हैं।

देवर्षि नारदजीकी महत्ताकी क्या इयत्ता, उनके भगवत्प्रेमका क्या निदर्शन, साक्षात् प्रेमस्वरूप प्रेमैकगम्य और प्रेमास्पद मनमोहन श्रीकृष्ण जिनकी इस प्रकार निरन्तर स्तुति किया करते हैं, जिन्हें प्रणाम किया करते हैं—

अहं हि सर्वदा स्तौमि नारदं देवदर्शनम्।

× × ×

उत्सङ्गाद्ब्रह्मणो जातो यस्याहन्ता न विद्यते। अगुप्तश्रुतिचारित्रं नारदं तं नमाम्यहम्॥
कामाद्वा यदि वा लोभाद् वाचं नो नान्यथा वदेत्। उपास्यं सर्वजन्तूनां नारदं तं नमाम्यहम्॥

(स्कन्द० माहे० कौमारिका

मैं दिव्यदृष्टिसम्पन्न श्रीनारदजीकी सदा स्तुति करता हूँ। जो ब्रह्माजीकी गोदसे प्रकट हुए हैं, जिनके मनमें अ नहीं है, जिनका शास्त्रज्ञान और चरित्र किसीसे छिपा नहीं है, उन देवर्षि नारदको मैं नमस्कार करता हूँ। जो र अथवा लोभवश झूठी बात मुँहसे नहीं निकालते और सभी प्राणी जिनकी उपासना करते हैं, उन नारदजीको मैं न करता हूँ।

स्वयं देवर्षि नारदजी अपनी स्थितिके विषयमें कहते हैं—जब मैं उन परमपावनचरण उदारश्रवा प्रभुके ग गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु अविलम्ब मेरे चित्तमें बुलाये हुएकी भाँति तुरंत प्रकट हो जाते हैं—

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः। आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि॥ (श्रीमद्भा० १।६

श्रीनारदजी प्रेमी परिव्राजक हैं। उनका काम ही है—अपनी वीणाके मनोहर झंकारके साथ भगवान्‌के गुणोंका प्रे गान करना। उनका नित्य सर्वत्र भ्रमण प्रेमरसकी अविकल धाराको प्रवाहित करनेके लिये हुआ करता है औ उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वे अवतरित भी होते हैं। वे प्रेमकीर्तनके आचार्य और भागवतधर्मके प्रधान बारह आ हैं। उन्होंने घर-घर एवं जन-जनमें प्रेमाभक्तिकी स्थापना करनेकी प्रतिज्ञा की है। निरन्तर वे इस भक्तिके प्रचा लगे रहते हैं। देवर्षि नारदजी कृपामूर्ति हैं, जीवोंपर कृपा करनेके लिये ये निरन्तर त्रिलोकीमें घूमते रहते हैं। एक ही व्रत है कि जो भी मिल जाय, उसे चाहे जैसे हो भगवान्‌के श्रीचरणोंतक पहुँचा दिया जाय। ये सचमुच सच्चे हितैषी हैं। इन्हें भगवान्‌का मन कहा गया है। प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष आदि महान् भक्तोंको इन्होंने ही भक्ति प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत तथा वाल्मीकीय रामायण-जैसे दो अनूठे ग्रन्थ भी संसारको इन्हींकी कृपासे प्रा शुकदेव-जैसे महान् ज्ञानीको भी इन्होंने ही उपदेश दिया। पूर्वजन्ममें इन्हें भगवान्‌की जिस मोहिनी छविका दर्श हुआ था, उसीको प्राप्त करनेकी छटपटाहटमें देवर्षि नारदने उस जन्मको भगवत्स्मृतिसे कृतार्थ कर पुनः इस र भगवान्‌के नित्य पार्षदके रूपमें प्राप्त किया। देवर्षि नारद भगवान्‌के विशेष कृपापात्र और लीलासहचर हैं। ज भगवान्‌का अवतार होता है, ये उनकी प्रेमलीलाके लिये भूमि तैयार करते हैं। लीलोपयोगी उपकरणोंका संग्र अन्य प्रकारकी सहायता करते हैं। इनका मङ्गलमय जीवन जगत्‌के मङ्गलके लिये ही है। श्रीराम और श्रीकृष्णकी ली तो ये विशेषरूपसे सहयोग देते रहे।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पद्मपु० उ० ९२। २२)

बस, फिर क्या था, देवर्षि नारदजीने भगवद्गुणगान प्रारम्भ कर दिया। देवर्षि नारदजीने अनुभव किया कि भगवान् भक्तके प्रेमके वशीभूत हैं तथा प्रेमका, अनुरागका, अनुरक्तिका मार्ग सहज और सुलभ भी है। इसलिये अनन्य प्रेमसे उन्हें रिझाना चाहिये। इसी बातको बतानेके लिये इन्होंने चौरासी सूत्रोंकी उद्भावना की। ये ही चौरासी सूत्र भक्तिसूत्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनमें प्रेमकी महाभावदशाका बहुत ही अद्भुत वर्णन हुआ है। इस भक्तिसूत्रके सूत्र छोटे-छोटे हैं, संस्कृत बहुत ही सरल है, किंतु भाव बड़ा ही गम्भीर है। ये सभी सूत्र याद करनेयोग्य हैं। जैसे प्रेमके स्वरूपके विषयमें बताया गया है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥**' (भक्तिसूत्र ५१)। प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है—'**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥**' (भक्तिसूत्र ५४)। साथ ही भक्ति क्या है इसे बताते हुए कहा गया है—'**तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥**' (भक्तिसूत्र १९)। अर्थात् अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है। नारदजीने प्रेमाभक्तिको कर्म, ज्ञान और योगसे भी बढ़कर बताते हुए कहा है—'**सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥**' (भक्तिसूत्र २५)। भक्तिको प्राप्त करनेके मुख्य साधनोंमें देवर्षि नारदजीने भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी अथवा लेशमात्र भी भगवत्कृपाको ही माना है—'**मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥**' (भक्तिसूत्र ३८)। यह भी बताया गया है कि महापुरुषोंका सङ्ग अथवा सत्सङ्ग बड़ा ही दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है तथा यह भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होता है—'**महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥**' (भक्तिसूत्र ३९-४०)। भगवान् और उनके भक्तोंमें भेदका *अभाव* है—'**तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥**' (भक्तिसूत्र ४१)।

देवर्षि नारदजी बताते हैं कि भगवत्प्रेमी भक्त स्वयं तो तरता ही है, लोकोंको भी तार देता है—'**स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥**' (भक्तिसूत्र ५०)। इतना ही नहीं, भगवान्के प्रेमी भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं—'**तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥**' (भक्तिसूत्र ६९)। ऐसे भक्तोंको पाकर पितर आनन्दित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है—'**मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥**' (भक्तिसूत्र ७१)। निष्कर्षरूपमें देवर्षि नारदजी कहते हैं—'**सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः॥**' (भक्तिसूत्र ७९)। अतः सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर केवल भगवान्का ही भजन करना चाहिये। यहाँ अविकलरूपमें यह भक्तिसूत्र भावानुवादके साथ प्रस्तुत है—

नारदभक्तिसूत्र

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे।

सा त्वस्मिन्* परमप्रेमरूपा॥ २॥

वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है।

अमृतस्वरूपा च॥ ३॥

और अमृतस्वरूपा (भी) है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥ ४॥

जिसको (परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा भक्तिको) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है; अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥

जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्तिके) प्राप्त होनेपर मनुष्य न

* पाठभेद 'कस्मै'।

वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे (विषयभोगोंकी प्राप्तिमें) उत्साह होता है।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति॥ ६॥

जिसको (परम प्रेमरूपा भक्तिको) जान (प्राप्त)-कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध (शान्त) हो जाता है (और) आत्माराम बन जाता है।

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥ ७॥

वह (प्रेमाभक्ति) कामनायुक्त नहीं है, क्योंकि वह निरोधस्वरूपा है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः॥ ८॥

लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मोंके त्यागको निरोध कहते हैं।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥ ९॥

उस प्रियतम भगवान्में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनताको भी निरोध कहते हैं।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥ १०॥

(अपने प्रियतम भगवान्को छोड़कर) दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम अनन्यता है।

लोके वेदेषु तदनुकूलाचरणं तद्विरोधिषूदासीनता॥ ११॥

लौकिक और वैदिक कर्मोंमें भगवान्के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषयमें उदासीनता है।

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्॥ १२॥

(विधिनिषेधसे अतीत अलौकिक प्रेम-प्राप्ति करनेका मनमें) दृढ़ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया॥ १३॥

नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है।

लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि॥ १४॥

लौकिक कर्मोंको भी तबतक (बाह्यज्ञान रहनेतक) विधिपूर्वक करना चाहिये, पर भोजनादि कार्य जबतक शरीर रहेगा तबतक होते रहेंगे।

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥ १५॥

अब नाना मतोंके अनुसार उस भक्तिके लक्षण बताये जाते हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥ १६॥

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्की पूजा आदिमें अनुराग होना भक्ति है।

कथादिष्विति गर्गः॥ १७॥

श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥ १८॥

शाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ १९॥

परंतु देवर्षि नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।

अस्त्येवमेवम्॥ २०॥

ठीक ऐसा ही है।

यथा व्रजगोपिकानाम्॥ २१॥

जैसे व्रजगोपियोंकी (भक्ति)।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः॥ २२॥

इस अवस्थामें भी (गोपियोंमें) माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं।

तद्विहीनं जाराणामिव॥ २३॥

उसके बिना (भगवान्को भगवान् जाने बिना किया जानेवाला प्रेम) जारोंके (प्रेमके) समान है।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥ २४॥

उसमें (जारके प्रेममें) प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥ २५॥

वह (प्रेमरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है।

फलरूपत्वात्॥ २६॥

क्योंकि (वह भक्ति) फलरूपा है।

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥ २७॥

ईश्वरको भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

उसका (भक्तिका) साधन ज्ञान ही है, किन्हीं (आचार्यों)-का यह मत है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

दूसरे (आचार्यों)-का मत है कि भक्ति और ज्ञान एक-दूसरेके आश्रित हैं।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः* ॥ ३० ॥

ब्रह्मकुमारोंके (सनत्कुमारादि और नारदके) मतसे भक्ति स्वयं फलरूपा है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

राजगृह और भोजनादिमें वैसा ही देखा जाता है।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

न उससे (जान लेनेमात्रसे) राजाकी प्रसन्नता होगी, न क्षुधा मिटेगी।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये।

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं।

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

वह (भक्ति-साधन) विषयत्याग और सङ्गत्यागसे सम्पन्न होता है।

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

अखण्ड भजनसे (भक्तिका साधन सम्पन्न होता है)।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ ३७ ॥

लोकसमाजमें भी भगवत्-गुण-श्रवण और कीर्तनसे (भक्ति-साधन सम्पन्न होता है)।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥

परंतु (प्रेमभक्तिकी प्राप्तिका साधन) मुख्यतया (प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होता है।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

परंतु महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

उस (भगवान्)-की कृपासे ही (महत्पुरुषोंका) सङ्ग भी मिलता है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

क्योंकि भगवान्में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

(अतएव) उस (महत्सङ्ग)-की ही साधना करो, उसीकी साधना करो।

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

दुःसङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

क्योंकि वह (दुःसङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण है।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

ये (काम-क्रोधादि) पहले तरङ्गकी तरह (क्षुद्र आकारमें) आकर भी (दुःसङ्गसे विशाल) समुद्रक आकार धारण कर लेते हैं।

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

(प्रश्न) कौन तरता है? (दुस्तर) मायासे कौन तरता है? (उत्तर) जो सब सङ्गोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है और जो ममतारहित होता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥ ४७ ॥

जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है और जो योग तथा क्षेमका परित्याग कर देता है।

यः कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है और तब सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ ४९ ॥

जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।

---

* पाठभेद 'ब्रह्मकुमारः'।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥ ५०॥

वह तरता है, वह तरता है, वह लोकोंको तार देता है।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ ५१॥

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।

मूकास्वादनवत्॥ ५२॥

गूँगेके स्वाद लेनेकी तरह।

प्रकाशते[1] क्वापि पात्रे॥ ५३॥

किसी बिरले योग्य पात्रमें (प्रेमी भक्तमें) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ ५४॥

यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति[2] तदेव चिन्तयति॥ ५५॥

उस प्रेमको पाकर प्रेमी उस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, उस प्रेमका ही वर्णन करता है और उस प्रेमका ही चिन्तन करता है।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ ५६॥

गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिभेदसे तीन प्रकारकी होती है।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ ५७॥

(उनमें) उत्तर-उत्तर क्रमसे पूर्व-पूर्व क्रमकी भक्ति कल्याणकारिणी होती है।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ॥ ५८॥

अन्य सबकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्॥ ५९॥

क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥ ६०॥

भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्[3]॥ ६१॥

लोकहानिकी चिन्ता (भक्तको) नहीं कर चाहिये, क्योंकि यह भक्त अपने-आपको और लौकिक वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण व चुका है।

न तदसिद्धौ[4] लोकव्यवहारो हेयः किं फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव॥ ६२॥

(परंतु) जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले तबत लोकव्यवहारका त्याग नहीं करना चाहिये, किंतु फ त्यागकर (निष्कामभावसे) उस भक्तिका साधन क चाहिये।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं[5] न श्रवणीयम्॥ ६३॥

स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र नहीं सु चाहिये।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥ ६४॥

अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मि करणीयम्॥ ६५॥

सब आचार भगवान्‌के अर्पण कर चुकनेपर काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो उन्हें भी उस (भगवा के प्रति ही करना चाहिये।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम्॥ ६६॥

तीन (स्वामी, सेवक और सेवा) रूपोंको भङ्ग नित्य दासभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही क चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः॥ ६७॥

एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावय कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥

ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुः नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुल और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।

---

१. पाठभेद 'प्रकाश्यते।'
२. किसी-किसी प्रतिमें 'तदेव भाषयति' नहीं है।
३. पाठभेद 'लोकभेदशीलत्वात्'।
४. पाठभेद 'तत्सिद्धौ'।
५. पाठभेद 'स्त्रीधननास्तिकचरित्रम्'।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥ ६९॥

ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं।

तन्मयाः॥ ७०॥

(क्योंकि) वे तन्मय हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥ ७१॥

(ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर) पितर प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः॥ ७२॥

उनमें (भक्तोंमें) जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है।

यतस्तदीयाः॥ ७३॥

क्योंकि (भक्त सब) उनके (भगवान्‌के) ही हैं।

वादो नावलम्ब्यः॥ ७४॥

(भक्तको) वाद-विवाद नहीं करना चाहिये।

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥ ७५॥

क्योंकि (वाद-विवादमें) बाहुल्यका अवकाश है और वह अनियत है।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि॥ ७६॥

(उस प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके लिये) भक्तिशास्त्रका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्तिकी वृद्धि हो।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥ ७७॥

सुख, दुःख, इच्छा, लाभ आदिका (पूर्ण) त्याग हो जाय, ऐसे कालकी बाट देखते हुए आधा क्षण भी (भजन बिना) व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि॥ ७८॥

(भक्तिके साधकको) अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः॥ ७९॥

सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।

स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥ ८०॥

वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) कीर्तित होनेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्तोंको अपना अनुभव करा देते हैं।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी॥ ८१॥

तीनों (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्योंमें (अथवा तीनों कालोंमें सत्य भगवान्‌की) भक्ति ही श्रेष्ठ है, भक्ति ही श्रेष्ठ है।

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति॥ ८२॥

यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १. गुणमाहात्म्यासक्ति, २. रूपासक्ति, ३. पूजासक्ति, ४. स्मरणासक्ति, ५. दास्यासक्ति, ६. सख्यासक्ति, ७. कान्तासक्ति, ८. वात्सल्यासक्ति, ९. आत्मनिवेदनासक्ति, १०. तन्मयतासक्ति और ११. परमविरहासक्ति—इस प्रकारसे ग्यारह प्रकारकी होती है।

इत्येवं वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः॥ ८३॥

कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि, हनुमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोंकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न कर (सब) एकमतसे ऐसा ही कहते हैं (कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है)।

य इदं नारदप्रोक्तं शिवानुशासनं विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठं लभते स प्रेष्ठं लभत इति॥ ८४॥

जो इस नारदोक्त शिवानुशासनमें विश्वास और श्रद्धा करते हैं वे प्रियतमको पाते हैं, वे प्रियतमको पाते हैं।

महर्षि शाण्डिल्य और उनका भगवत्प्रेम

कृपामूर्ति महर्षि शाण्डिल्य परम भागवत हैं। भगवान्‌के अनन्य प्रेमी हैं। वे भगवान्‌के सौन्दर्य, माधुर्य एवं औदार्य आदि दिव्य स्वरूपोंका ध्यान करते रहते हैं। भगवान्‌की मङ्गलमयी कथाओंका प्रेमपूर्वक श्रवण तथा प्रेमाभक्तिका दान—ये ही दो उनके मुख्य कार्य रहे हैं। त्याग, वैराग्य, तपस्या तथा स्वाध्यायका आश्रयण और भगवत्प्रेममें निमग्न रहना—यही उनकी मुख्य चर्या रही है। पद्मपुराणने बताया है कि महर्षि शाण्डिल्य भगवान्‌की लीलास्थली परम पावन चित्रकूटधाममें रहते हुए श्रीमद्भागवतकी कथाओंका पाठ करते हुए ब्रह्मानन्दमें निमग्न रहते हैं—

इतिहासमिमं पुण्यं शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वरः।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुतः॥

(श्रीमद्भा० मा० ५।८९)

पुराणोंमें आया है कि कश्यपवंशी महामुनि देवलके पुत्र ही शाण्डिल्य नामसे प्रसिद्ध हुए। धर्मशास्त्रकार शङ्ख और लिखित इन्हींके पुत्र कहे गये हैं। ये रघुवंशीय नरेश दिलीपके पुरोहित थे। कहीं-कहीं नन्द-गोपके पुरोहितके रूपमें भी इनका वर्णन आता है। इन्होंने प्रभासक्षेत्रमें शिवलिङ्ग स्थापित कर दिव्य सौ वर्षोंतक घोर तपस्या और प्रेमपूर्ण आराधना की थी, फलस्वरूप भगवान् शिव प्रसन्न हुए और इनके सामने प्रकट होकर इन्हें तत्त्वज्ञान, भगवद्भक्ति और अष्टसिद्धियोंका वरदान दिया।

महर्षि शाण्डिल्यने मथुराधिपति राजा वज्रबाहुको सम्पूर्ण गर्गसंहिता सुनायी। इसका फल यह हुआ कि राजाको पार्षदोंसहित भगवान् राधामाधवके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। उस समय महर्षि शाण्डिल्यने भगवान्‌की बहुत ही सुन्दर स्तुति की, जो इस प्रकार है—

वैकुण्ठलीलाप्रवरं मनोहरं
नमस्कृतं देवगणैः परं वरम्।
गोपाललीलाभियुतं भजाम्यहं
गोलोकनाथं शिरसा नमाम्यहम्॥

'आप वैकुण्ठलीलामें श्रेष्ठ एवं मनोहर हैं' — [illegible]

है। देवगण सदा आपको नमस्कार करते हैं। आप परम श्रेष्ठ हैं। गो-पालनकी लीलामें आपकी विशेष अभिरुचि रहती है—ऐसे आपका मैं भजन करता हूँ। साथ ही आप गोलोकाधिपतिको मैं नमस्कार करता हूँ।

एक बारकी बात है—ऋषियोंने महर्षि शाण्डिल्यसे पूछा—'भगवन्! सब जगह और सब समयमें काम देनेवाला ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है?'

महर्षि शाण्डिल्यने उत्तर दिया—

क्षेममात्यन्तिकं विप्रा हरेर्भजनमेव हि।
देशकालानपेक्षात्र साधनाभावमप्युत॥

(शाण्डिल्यसंहिता १।९)

अर्थात् 'हे विप्रो! मनुष्य-जीवनमें सबसे बढ़कर कल्याणकारक भगवद्भजन है। किसी देश या कालकी इसमें अपेक्षा नहीं है और न इसके लिये साधन जुटाने पड़ते हैं।'

भक्तिः श्रीकृष्णदेवस्य सर्वार्थानामनुत्तमा।
एषा वै चेतसः शुद्धिर्यतः शान्तिर्यतोऽभयम्॥

(शा० सं० १।१९)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंसे भी बढ़कर है। इससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर जीवको शान्ति मिलती है, वह निर्भय हो जाता है।'

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिशास्त्रके महान् आचार्य हैं। जैसे भगवान् वेदव्यासने समस्त श्रुतियोंका समन्वय करनेके लिये ब्रह्मसूत्रका प्रणयन किया, वैसे ही श्रुतियों, श्रीमद्भागवत तथा गीताका तात्पर्यपरक निर्णय करनेके लिये इन्होंने एक विलक्षण ग्रन्थका प्रणयन किया, जो 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' या 'भक्तिमीमांसा' के नामसे प्रसिद्ध है। यह स्वरूपमें जितना ही लघु है, माहात्म्यमें उतना ही बृहद् है। इसमें छोटे-छोटे एक सौ सूत्र हैं। इन सूत्रोंमें उन्होंने प्रेम [illegible]

किया गया है। इस उपनिषद्‌में प्रेमयोगतत्त्व एवं अध्यात्म-साधनाकी प्रक्रियाका निरूपण हुआ है।

आचार्यका अभिमत है कि जीवोंका ब्रह्मभावापन्न होना ही मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न है। उसका आवागमन स्वाभाविक नहीं है, किंतु जपाकुसुमके सांनिध्यसे स्फटिकमणिकी लालिमाके समान, अन्तःकरणकी उपाधिसे ही होता है, किंतु केवल औपाधिक होनेके कारण ही वह ज्ञानसे नहीं मिटाया जा सकता, उसकी निवृत्ति तो उपाधि और उपाधेय—इन दोनोंमेंसे किसी एककी निवृत्ति या सम्बन्ध छूट जानेसे ही हो सकती है। चाहे जितना ऊँचा ज्ञान हो, किंतु जैसे स्फटिकमणि और जपाकुसुमका सांनिध्य रहते लालिमाकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वैसे ही जबतक अन्तःकरण है, तबतक न तो उपाधि और उपाधेयका सम्बन्ध छुड़ाया जा सकता है तथा न आवागमनसे ही जीवको बचाया जा सकता है। अतः उपाधिके नाशसे ही भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है। उपाधिनाशके लिये भगवद्भक्तिसे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है। इस भक्तिसे त्रिगुणात्मक अन्तःकरणका लय होकर ब्रह्मानन्दका प्रकाश हो जाता है, इससे आत्मज्ञानकी व्यर्थता भी नहीं होती; क्योंकि अश्रद्धारूपी मलको दूर करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार महर्षि शाण्डिल्यने भगवद्भक्तिकी उपयोगिता और ज्ञानकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है।

भक्ति क्या है, इसे बताते हुए वे अपने भक्तिसूत्रमें कहते हैं—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** भगवान्‌में परम अनुराग ही भक्ति है अर्थात् भगवान्‌के साथ अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। इस अनुरागसे ही जीव भगवन्मय हो जाता है, उसका अन्तःकरण अन्तःकरणके रूपमें पृथक् न रहकर भगवान्‌में समा जाता है, यही मुक्ति है।

भगवान्‌के सर्वोपरि गुणको बताते हुए महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं—**'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्'** (शाण्डिल्यसूत्र ४९) अर्थात् भगवान्‌का मुख्य गुण है—कारुण्य या दयालुता। परमात्मा परम दयालु हैं, कृपालु हैं, कृपासागर हैं—इस बातको सदा ध्यानमें रखते हुए प्रेमपूर्वक उनकी आराधना करनी चाहिये। इससे भगवद्विश्वासमें वृद्धि होगी और भगवान्‌में अनन्य प्रेम होनेमें परम सहायता प्राप्त होगी। करुणावरुणालय प्रभु करुणा—कृपाकी वर्षा कर जीवोंका उद्धार कर देते हैं। महर्षि शाण्डिल्यविरचित यह भक्तिसूत्र बड़े ही महत्त्वका है। इसके छोटे-छोटे सूत्रोंमें भगवत्प्रेमका बड़ा ही निगूढ़ भाव भरा हुआ है।

महर्षि शाण्डिल्य भगवान्‌की लीलास्थलियोंमें भ्रमण करते हुए, भगवान्‌के दिव्य चरित्रका अनुस्मरण करते हुए विभोर रहते हैं और भगवत्प्रेमियोंको भगवत्-लीलाधामका रहस्य भी बताते हैं। एक बार ऐसे ही भ्रमण करते हुए महर्षि व्रजभूमिमें पहुँच गये और महाराज परीक्षित् तथा राजा वज्रनाभकी प्रार्थनापर उन्होंने उन्हें भगवान्‌की अन्तरंग प्रेमलीलास्थली व्रजभूमिका रहस्य बताते हुए कहा—

प्रिय परीक्षित् और वज्रनाभ! मैं तुमलोगोंको व्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो। 'व्रज' शब्दका अर्थ है—व्याप्ति। इस वृद्धवचनके अनुसार व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'व्रज' पड़ा है। सत्त्व, रज तथा तम—इन तीन गुणोंसे अतीत जो परब्रह्म है, वही व्यापक है। इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप, परम ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त पुरुष उसीमें स्थित रहते हैं। इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममें नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निवास है। उनका एक-एक अङ्ग सच्चिदानन्दस्वरूप है। वे आत्माराम और आप्तकाम हैं। प्रेमरसमें डूबे हुए रसिकजन ही उनका अनुभव करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—राधिका; उसमें रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष उन्हें 'आत्माराम' कहते हैं। 'काम' शब्दका अर्थ है कामना—अभिलाषा; व्रजमें भगवान् श्रीकृष्णके वाञ्छित पदार्थ हैं—गौएँ, ग्वालबाल, गोपियाँ और उनके साथ लीला-विहार आदि; वे सब-के-सब यहाँ नित्य प्राप्त हैं। इसीसे श्रीकृष्णको 'आप्तकाम' कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्यलीला प्रकृतिसे परे है। वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलने लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी लीलाका अनुभव करते हैं। प्रकृतिके साथ होनेवाली लीलामें ही रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणके द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्‌की लीला दो प्रकारकी है—एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी। वास्तवी लीला स्वसंवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके रसिक भक्तजन ही जानते हैं। जीवोंके सामने जो लीला होती है, वह व्यावहारिकी लीला है। वास्तवी लीलाके बिना व्यावहारिकी लीला नहीं हो सकती; परंतु व्यावहारिकी लीलाका वास्तविक लीलाके राज्यमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता।

(स्कन्दपुराणान्तर्गत श्रीमद्भा० माहात्म्य १।१९—२६)

छान्दोग्य श्रुतिमें आपके द्वारा उपदिष्ट विद्याको 'शाण्डिल्यविद्या' के नामसे अभिहित किया गया है। उसमें आपने बताया है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है, इसका कारण यह है कि परमात्मा '**तज्जलानिति**' है अर्थात् यह संसार उसी परमात्मासे उत्पन्न होता है, उसीमें ली होता है और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष भावनाम है। उसकी जैसी भावना होगी, वैसी ही उसे गं मिलेगी। परमात्मा सत्यसंकल्प, सर्वकर्ता तथा सर्वगत हैं वे दयालु हमलोगोंके हृदयमें ही विराजमान हैं। यां हमलोग उनका आश्रय लें तो उन्हें अवश्य प्राप्त क सकते हैं, इसमें संदेह नहीं—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'

'एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।'

(छान्दो० ३।१४।१, ४

इस प्रकार भगवत्प्रेमी महर्षि शाण्डिल्यजीने भगवान् प्रेमाभक्तिका उपदेश देकर जीवोंपर महान् अनुग्रह किया है

~~~

श्रीशुकदेवजीकी माधुर्योपासना

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।६८)

श्रीशुकदेवजी महाराज अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी मधुमयी, मङ्गलमयी, मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्‌के प्राणियोंपर कृपा करके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस (श्रीमद्भागवत) महापुराणका विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ।

भक्तिका प्रमुख तत्त्व है प्रेम। महर्षि शाण्डिल्यजी इसे परानुरक्ति तथा देवर्षि नारदजी परम प्रेमरूपा मानते हैं। श्रीवल्लभ '**स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः**' तथा श्रीवेदान्तदेशिक '**परमा भक्तिरतिशयिता प्रीतिः**' कहकर भक्तिमें अतिशय प्रेमकी प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। भक्तका भगवान्‌के प्रति होनेवाला गाढ़ आकर्षण 'राग' कहलाता है। प्रेमाभक्तिके मूलमें राग केन्द्रीय भाव है। इस रागमें योग-वियोगकी वृत्ति विद्यमान रहती है अर्थात् मिलन होनेपर बिछुड़ जानेकी

जहाँ सौन्दर्यके महासमुद्र श्रीकृष्णमें वह गोपीभाव वनव अविच्छिन्नरूपमें प्रवाहित होती रहती है। ऋग्वेदकी ऋचाओं- '**पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः**' (१०।१४९।४ तथा '**जायेव पत्य उशती सुवासाः**' (१०।७१।४)-में निहि उत्कट दाम्पत्यभाव ही माधुर्योपासनाका मूलाधार कहा सकता है। इन मन्त्रोंमें भक्त कहता है कि उसकी चित्तवृत्ति सब कुछ छोड़कर वैसे ही परमेश्वरकी ओर दौड़ें, जै आलिङ्गनके लिये आतुर स्त्रियाँ पतिकी ओर दौड़ती हैं उपनिषद् परम तत्त्वको '**रसो वै सः**' कहकर रसरूप मान है, भक्तको यदि उस रसको प्राप्त करना है तो स्वयंको रसि बनाना होगा। इसलिये रसिकभक्तोंका सिद्धान्त बन गया-

कृष्णप्रिया सखीभावं समाश्रित्य प्रयत्नतः।
तयोः सेवां प्रकुर्वीत दिवानक्तमतन्द्रितः॥

श्रीशुकदेवजी वृत्रासुरके प्रसंगमें स्पष्ट कहते हैं कि आदर्श भक्तको कैसा होना चाहिये और उसकी एकाग्र अनन्यता तथा प्रेमकी प्रगाढ़ता कैसी होनी चाहिये? भगवान् प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—जै पक्षियोंके पंखविहीन बच्चे अपनी माकी राह देखते रहते जैसे भूखे बछड़े अपनी माका दूध पीनेके लिये अकु उठते हैं और सर्वोपरि जैसे वियोगिनी प्रेमिका अ प्रियतमसे मिलनेके लिये बेचैन हो उठती है, वैसे ही
~~~

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

श्रीमद्भागवतकी माधुर्यपरक लीलाओंके चित्रणने निम्बार्क, चैतन्य, हरिदासी, राधावल्लभीय तथा शुकसम्प्रदायके साधकोंको पूर्णरूपसे प्रभावित किया। श्रीजीवगोस्वामीने 'प्रीति-संदर्भ' नामक ग्रन्थमें भगवान्‌की ऐश्वर्य तथा माधुर्यपरक लीलाओंमेंसे माधुर्य लीलाको सर्वश्रेष्ठ बताया है। उनकी दृष्टिमें मधुरोपासना सर्वोपरि साधना है। 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थमें कहा गया है कि रसराज श्रीकृष्ण और उनकी प्राणवल्लभा गोपियाँ माधुर्यभावके आलम्बन हैं—

अस्मिन्नालम्बनाः प्रोक्ताः कृष्णस्तस्य च वल्लभाः।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि काम तथा भगवत्प्रेममें अन्तर है। जिन लोगोंकी बुद्धि परमेश्वरमें लीन रहती है, उनमें कामनाएँ उत्पन्न होनेपर भी सांसारिक भोगोंकी प्रवृत्ति नहीं होती। भगवद्विषयक रति वह अंगार है, जो मनके बीजको भून डालता है। जैसे भुने हुए अन्नमें अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकते, वैसे ही कृष्णासक्त मनमें लौकिक कामनाओंको अङ्कुरित होनेका अवसर ही नहीं मिलता। चीरहरण-प्रसंगमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंसे कहते हैं—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

(श्रीमद्भा० १०।२२।२६)

यह भाव क्योंकि श्रीकृष्णकी प्रियताके लिये है, इसमें साधककी निजी भोगवृत्ति नहीं है। अतः लौकिक दृष्टिसे दीखनेवाला काम यहाँ प्रेममें परिणत हो जाता है। कृष्णदास कविराजने इसीलिये कहा था—

आत्म सुख दुःख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण बिना और सब करि परित्याग।
कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

माधुर्यभावका तात्पर्य निजेन्द्रिय-सुखकी कामना नहीं है, वह तो श्रीकृष्णके सुखके लिये है। श्रीमती कुब्जाको छोड़कर अन्य किसीमें निज सुखकी कामना नहीं है। मेरा विचार है कि शुद्ध माधुर्य वृन्दावनमें है। मथुरा ऐश्वर्यलीलाकी भूमि है, अतः वहाँ कुब्जामें यह भाव उत्पन्न हो सकता है। श्रीशुकदेवजीने कुब्जाको यहाँ गोपियोंसे हीन मानकर कहा है—परीक्षित्! कुब्जाने केवल अङ्गराग समर्पित कर उस परमतत्त्वको पा लिया जो अत्यन्त कठिन है, परंतु उस दुर्भगाने उसे प्राप्त करके भी व्रजगोपियोंकी भाँति सेवा न माँगकर विषयसुख माँगा। जो भगवान्‌को प्रसन्न करके उनसे विषयसुखकी याचना करता है, वह निश्चय ही दुर्बुद्धि है; क्योंकि वास्तवमें विषयसुख अत्यन्त तुच्छ है—

सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥
दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥

(श्रीमद्भा० १०।४८।८, ११)

श्रीशुकदेवजी कुब्जाको दुर्भगा कहते हैं, पर गोपियोंको भगवान् श्रीकृष्ण महाभागा कहते हैं। रासकी रात्रिमें पधारी हुई गोपियोंको देखकर वे कह उठते हैं—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।

(श्रीमद्भा० १०।२९।१८)

इसपर शुकदेवजीकी टिप्पणी है—गोपियोंने अपने प्यारे श्यामसुन्दरके लिये सारी कामनाएँ, सारे भोग छोड़ दिये थे। श्रीकृष्णमें उनका अनन्त अनुराग तथा परम प्रेम था। गोपियाँ यह निश्चय कर चुकी थीं कि आत्मज्ञानमें निपुण महापुरुष भी उनसे ही प्रेम करते हैं—

प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं
कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः।

× × ×

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।

(श्रीमद्भा० १०।२९।३०, ३३)

श्रीशुकदेवजी स्वयं निकुञ्जसेवी थे। भुशुण्डिरामायण (९९।७३।७४)-में उन्हें सखीरूपमें प्रस्तुत किया गया है—

असौ मुनिर्नित्यविलासदर्शने
कुतूहली *श्रीजनकात्मजायाः।*
सखीपदं प्राप्य निकुञ्जराज्ये
प्रियेण साकं रमते सदैव॥

यही नहीं, वे राजा दशरथको व्रजके प्रमुख रस-स्थानोंका दर्शन करानेके बाद वहीं निकुञ्जलीलामें भाग

लेनेके लिये अन्तर्धान भी हो जाते हैं। ब्रह्माजी भुशुण्डिरामायणमें कहते हैं—

इति व्रजं दर्शयित्वा राज्ञे दशरथाय सः।
तस्मिन्नेव निकुञ्जान्तः पश्यतोऽन्तर्दधौ शुकः॥

श्रीशुकदेवजी नित्य वृन्दावनधामकी निकुञ्जलीलाको उपास्य मानते हैं। साधकोंके लिये यह लीला प्रकट और संसारी जीवोंके लिये अप्रकट मानी गयी है। साधकका निस्संग आनन्दानुभव ही इसका प्रयोजन है। केवल गोपिभावमें निस्संग सुखानुभवके लिये कोई स्थान नहीं है। श्रीशुकदेवजी श्रीसीता-राम तथा श्रीराधा-कृष्णके निकुञ्जविहारके निस्संग साक्षी हैं, वे प्रिय-प्रियतमाके नित्यविहारदर्शनके अभिलाषी हैं। शुकदेवजीकी मधुरोपासना इतनी उज्ज्वल और प्रगाढ़ है कि श्रीरामभक्तिके तथा श्रीकृष्णभक्तिके रसिक सम्प्रदायवाले समानभावसे उन्हें प्रमाण मानते हैं। चाहे श्रीसीता-राम हों या श्रीराधा-कृष्ण हों, है तो अद्वयतत्त्वका ही द्विधा रूप। वृन्दावनदेवजीका तो कथन ही है—

मूर्तिमान शृंगार हरि, सब रस को आधार।
रस पोषक सब शक्ति ले, व्रज में करत विहार॥

आचार्य वल्लभने श्रीशुकदेवजीके इस वचनका उल्लेख करते हुए उपासनामें कान्ताभावको स्वीकार किया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१५)

अर्थात् भगवान्से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिये। वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो—कामका हो, क्रोधका हो या भयका हो; स्नेह, नातेदारी या सौहार्दका हो। चाहे जिस भावसे भगवान्में नित्य-निरन्तर अपनी वृत्तियाँ जोड़ दी जायँ, वे भगवान्से ही जुड़ती हैं। इसीलिये वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं और उस जीवको भगवान्की ही प्राप्ति होती है।

सुबोधिनीमें कामको स्त्रीभावमें तथा सौहार्दको सख्यभावमें निहित मानते हुए प्रथम स्थानीय-उपासनाभाव कान्ताभाव या माधुर्यको तथा द्वितीय स्थानीय-भाव सख्यको बताया गया है। इसीलिये यहाँ काम पहले तथा सख्य अन्तमें आया है। जीवका कल्याण भगवान्से सम्बन्ध स्थापित करनेमें है, वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो। भगवन्मय वृत्तियाँ परम तत्त्वकी मधुरोपासनाको भावदृष्टिसे श्रेष्ठ साधना समझना चाहिये, ऐसी श्रीशुकदेवजीकी स्थापना है।

भागवतमें कामको दैहिक स्तरपर स्वीकार नहीं किया गया, वह भावके स्तरपर अनुरागका रूप धारण करता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि इस संसारमें उनका अङ्ग-सङ्ग ही मनुष्योंमें प्रीति या अनुरागका कारण नहीं है। इसीलिये याज्ञिकोंकी पत्नियोंको लौट जानेका आदेश देते हुए वे कहते हैं—'हे ब्राह्मणपत्नियो! तुम जाओ और अपना मन मुझमें लगा दो। तुम्हें बहुत शीघ्र मेरी प्राप्ति हो जायगी।'

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।३२)

शुकदेवजी पतिके द्वारा बलपूर्वक रोकी गयी एक मधुरोपासिका ब्राह्मणपत्नीकी चर्चा इस प्रसंगमें करते हैं तथा श्रीकृष्णके वाक्यकी पुष्टिमें कहते हैं कि उस ब्राह्मणपत्नीने श्यामसुन्दरके सुने हुए रूपमाधुर्यका ध्यान करते हुए मन-ही-मन उनका आलिङ्गन किया तथा शरीरका विसर्जन कर दिया—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।३४)

वेणुगीतकी पृष्ठभूमिमें भी गोपियोंके भावजगत्में विहारका चित्रण शुकदेवजी करते हैं। श्रीकृष्णके नटवररूपकी कल्पनामें आकर्षणकी पराकाष्ठा निहित है। भगवान्से मिलनेकी आकाङ्क्षाने गोपियोंके मनोराज्यमें वृन्दावनविहारीको लाकर खड़ा कर दिया। मनसा प्रत्यक्षीकरणकी इस प्रक्रियामें उन्होंने वंशीध्वनि भी सुन ली और फिर वे इतनी तन्मय हो गयीं कि श्रीकृष्णको पाकर उनका आलिङ्गन करने लगीं। यहाँ **'स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्'** पर यदि ध्यान देंगे तो भावलोकका सौन्दर्य पकड़में आ जायगा।

योगमें वियोग तथा वियोगमें योगकी भावना इस माधुर्योपासनाका मुख्य आधार है। दिनके समय गोचारणके लिये गये भगवान्का वियोग उनके योगमें ही छिपा है तथा भगवान्के मथुरा चले जानेपर भी गोपियाँ वियोगमें योगका अनभव करती हैं। वस्तुतः [illegible]

स्पष्ट कहा है—गोपियो! तुमसे दूर रहनेका एक विशेष कारण है। वह यही कि तुम मेरा प्रगाढ़ ध्यान कर सको, शरीरसे दूर रहनेपर ही मनसे किया गया संनिधिका अनुभव स्मृतिको तरोताज़ा रखता है। विमुक्त होकर ही प्रेममें प्रगाढ़ता आती है—

यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।३४)

सचमुच गोपियाँ इसी स्थितिमें पहुँच चुकी थीं। वे सर्वत्र श्रीकृष्णका ही अनुभव करती थीं। तभी तो वे उद्धवजीसे कहती हैं—यह वही यमुना नदी है, जिसमें वे विहार करते थे। यह वही पर्वत है, जिसके शिखरपर चढ़कर वे बाँसुरी बजाते थे। ये वे ही वन हैं, जिनमें वे रासलीला करते थे और ये वे ही गौएँ हैं, जिनको चरानेके लिये वे सुबह-शाम हमलोगोंको देखते हुए आते-जाते थे और यह ठीक वैसी ही वंशीकी तान हमारे कानोंमें गूँजती रहती है जैसी वे अपने अधरोंके संयोगसे छेड़ा करते थे। यहाँका एक-एक प्रदेश, एक-एक धूलिकण उनके परम सुन्दर चरणकमलोंसे चिह्नित है। हम इन्हें देखती रहती हैं और ये भी हर क्षण श्रीकृष्णको हमारी आँखोंके सामने लाकर रख देते हैं। अब उद्धवजी तुम्हीं बताओ, हम उन्हें भूलें भी तो कैसे?

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।५०)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्यभावकी उपासनामें शुकदेवजीको माधुर्य या कान्ताभक्ति ही अधिक प्रिय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी अनेक प्रकारके संवेगोंका उदय, विकास तथा लयीकरण इस भावोपासनामें ही हो सकता है। लौकिक रतिके उन्नयनका मार्ग भी इसी प्रक्रियामें मिल सकता है। 'वैष्णवनकी वार्ता' के अनेक भक्तोंका जीवन इस संदर्भमें उद्धृत किया जा सकता है। अतः संस्कृतहृदय भावुक भक्तको श्रीमद्भागवतका यह साधनापक्ष अंगीकार करना चाहिये। परमहंसवृत्तिका साधक ही इस साधनामें सफल हो सकता है, अन्यको इस मार्गपर चलनेका अधिकार नहीं है।

(आचार्य डॉ० श्रीविष्णुदत्तजी राकेश, विद्यासागर, विद्यावाचस्पति, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

कृष्णप्रिया श्रीरुक्मिणीजीका प्रभुमें अनन्य प्रेम

श्रीमद्भागवतमें अनिर्वचनीय प्रेमके दो चरित्र बड़े ही पुनीत और अलौकिक हैं। प्रथम प्रेमकी जीवित प्रतिमा प्रातःस्मरणीया गोपबालाओंका और द्वितीय भगवती श्रीरुक्मिणीजीका। विदर्भ देशके राजा भीष्मकके रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली नामक पाँच पुत्र और रुक्मिणी नामकी एक सबसे छोटी कन्या थी। रुक्मिणीजी साक्षात् रमा थीं, भगवान्‌में उनका चित्त तो स्वाभाविक ही अनुरक्त था, परंतु लीलासे नारदादि तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य, रूप, वीर्य, गुण, शोभा और वैभवका अनुपम वर्णन सुनकर अपने मनमें उन्होंने दृढ़ निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्ण ही मेरे पति हैं।

आरम्भमें साधकको अपना ध्येय निश्चय करनेकी ही आवश्यकता होती है। ध्येय निश्चित होनेके पश्चात् उसकी प्राप्तिके लिये साधन किये जाते हैं। जिसका लक्ष्य ही स्थिर नहीं, वह लक्ष्यवेध कैसे करेगा? भगवती रुक्मिणीने दृढ़ प्रत्यय कर लिया कि जो कुछ भी हो, चाहे जितना लोभ या भय आये, मुझे तो श्रीकृष्णको ही अपने जीवनाधार-रूपमें प्राप्त करना है। भक्त भगवान्‌को जैसे भजता है भगवान् भी भक्तको वैसे ही भजते हैं। श्रीरुक्मिणीने जब श्रीकृष्णका माहात्म्य सुनकर उनका पतिरूपसे वरण किया तो उधर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी रुक्मिणीको बुद्धि, लक्षण, उदारता, रूप, शील और गुणोंकी खान समझकर—योग्य अधिकारी मानकर पत्नीरूपसे ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया।

श्रीरुक्मिणीजीके बड़े भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष रखते थे, उन्होंने अपने माता-पिता और भाइयोंकी इच्छाके विपरीत रुक्मिणीजीका विवाह श्रीकृष्णसे न कर शिशुपालसे करना चाहा और उन्हींके इच्छानुसार सम्बन्ध पक्का भी हो गया। जब यह समाचार श्रीरुक्मिणीजीको मिला, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अपना जीवन पहलेसे ही भगवान्‌पर न्योछावर कर दिया था। अब इस विपत्तिमें पड़कर उन्होंने अपने मनकी दशाके सम्बन्धमें

श्रीकृष्णके प्रति निवेदन करनेके अभिप्रायसे एक छोटा-सा पत्र लिखा और एक विश्वासी वृद्ध ब्राह्मणको उसे देकर द्वारका भेज दिया। पत्र क्या था! प्रेम-समुद्रके कुछ अमूल्य

और अनुपम रत्नोंकी एक मंजूषा थी। थोड़ेसे शब्दोंमें अपना हृदय खोलकर रख दिया गया था। नवधा भक्तिके अन्तिम सोपान आत्मनिवेदनका सुन्दर स्वरूप उसके अंदर था।

ब्राह्मणदेवता द्वारका पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारपर उपस्थित हुए। द्वारपाल उन्हें अंदर ले गया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणदेवताको देखते ही सिंहासनसे उतरकर उनकी अभ्यर्थना की। अपने हाथोंसे उठाकर आसन दिया और आदरपूर्वक बैठाकर भलीभाँति उनकी पूजा की। ब्राह्मणके भोजन-विश्रामादि कर चुकनेपर भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास जाकर बैठ गये और अपने कोमल कर-कमलोंसे उनके पैर दबाते-दबाते धीर-भावसे कुशल-

समाचार पूछनेके बाद ब्राह्मणसे बोले—'महाराज! मैं उन सब ब्राह्मणोंको बारम्बार मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ जो सदा संतुष्ट रहते हैं, जो दरिद्र होनेपर भी सुखसे अपना जीवन बिताते हैं, जो साधु हैं, प्राणिमात्रके परम बन्धु हैं और जो निरभिमानी तथा शान्त हैं। ब्रह्मन्! आप अपने राजाके राज्यमें सुखसे तो रहते हैं? जिस राजाके राज्यमें प्रजा सुखी है, वही राजा मुझको प्रिय है।' इस प्रकार कुशल-प्रश्नके बहानेसे भगवान्‌ने ब्राह्मण और क्षत्रियोंके उस धर्मको बतला दिया, जिससे वे भगवान्‌के प्रिय पात्र बन सकते हैं।

ब्राह्मणने सारी कथा संक्षेपमें सुनाकर वह प्रेम-पत्रिका भगवान्‌को दिखलायी, जिसपर श्रीरुक्मिणीके द्वारा अपनी प्रेम-मुद्रिकाकी मुहर लगायी हुई थी। भगवान्‌की आज्ञा पाकर ब्राह्मणने पत्र पढ़कर सुनाया। पत्रमें लिखा था—'हे त्रिभुवनकी सुन्दरताके समुद्र! हे अच्युत! जो कानोंके छिद्रोंद्वारा हृदयमें प्रवेश करके (तीनों प्रकारके) तापोंको शान्त करते हैं, वे आपके सब अनुपम गुण और नेत्रधारियोंकी दृष्टिका जो परम लाभ है; ऐसे आपके मनोमोहन स्वरूपकी महिमा सुनकर मेरा चित्त आपपर आसक्त हो गया है, लोकलज्जाका बन्धन भी उस (प्रेमके प्रवाह)-को नहीं रोक सकता।'

'हे मुकुन्द! ऐसी कौन कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती कामिनी है, जो आप-जैसे अतुलनीय कुल, शील, स्वरूप, विद्या, अवस्था, सम्पत्ति और प्रभाव-सम्पन्न पुरुषको विवाह-समय उपस्थित होनेपर पति-रूपसे वरण करनेकी अभिलाषा नहीं करेगी। हे नरश्रेष्ठ! आप ही तो मनुष्योंके मनको रमानेवाले हैं। अतएव हे विभो! मैंने आपको पति मानकर आत्मसमर्पण कर दिया है, अतएव आप यहाँ अवश्य पधारकर मुझे अपनी धर्मपत्नी बनाइये। हे कमलनयन! मैं अब आपकी हो चुकी, क्या सियार कहीं सिंहके भागको हर ले जा सकता है? मैं चाहती हूँ आप वीर-श्रेष्ठके भाग—मुझको सियार शिशुपाल यहाँ आकर स्पर्श भी न कर सके। यदि मैंने पूर्त (कुआँ-बावड़ी आदि बनवाना), इष्ट (अग्निहोत्रादि), दान, नियम, व्रत एवं देवता, ब्राह्मण और गुरुओंके पूजनद्वारा भगवान्‌की कुछ भी

राजा मुझे हाथ भी न लगा सकें।'

'हे अजित! परसों विवाहकी तिथि है, अतएव आप एक दिन पहले गुप्त-रूपसे पधारिये, फिर पीछेसे आये हुए अपने सेनापतियोंको साथ लेकर शिशुपाल-जरासंध आदिकी सेनाको नष्ट-भ्रष्ट कर बलपूर्वक मुझे ग्रहण कीजिये, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है। यदि आप यह कहें कि तुम तो अन्तःपुरमें रहती हो, तुम्हारे बन्धुओंको मारे बिना मैं किस तरह तुम्हारे साथ विवाह कर सकता हूँ या तुम्हें हरकर ले जा सकता हूँ? तो मैं आपको उसका उपाय बताती हूँ। हमारे कुलकी सनातन रीतिके अनुसार कन्या पहले दिन कुलदेवी भवानीकी पूजा करनेके लिये बाहर मन्दिरमें जाया करती है। वहाँ मुझे हरण करना सुलभ है।' इतना लिखनेके पश्चात् अन्तमें देवी रुक्मिणी लिखती हैं—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभिः स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०।५२।४३)

'हे कमललोचन! उमापति महादेव तथा उनके समान दूसरे ब्रह्मादि महान् लोग, अपने अन्तःकरणका अज्ञान मिटानेके लिये आपके जिस चरणरजके कणोंसे स्नान करनेकी प्रार्थना करते रहते हैं, मैं यदि उस प्रसादको नहीं पा सकी तो निश्चय समझियेगा कि मैं व्रत-उपवासादिके द्वारा शरीरको सुखाकर व्याकुल हुए प्राणोंको त्याग दूँगी। (यों बारम्बार करते रहनेपर अगले) सौ जन्मोंमें तो आपका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

कुछ लोग कहते हैं कि इस पत्रमें कौन-सी बड़ी बात है? किसी पुरुषके रूप-गुणपर मुग्ध होकर घरवालोंकी इच्छाके विरुद्ध उसे प्रेमपत्र लिखना कौन-सी अच्छी बात है? परंतु ऐसा कहनेवाले सज्जन भूलते हैं। श्रीरुक्मिणीजीने किसी पार्थिव रूप-गुणपर मुग्ध होकर यह पत्र नहीं लिखा, पत्रके अन्तिम श्लोकसे स्पष्ट सिद्ध है कि रुक्मिणी किसी राजा या बलवान्को नहीं जानती और चाहती थीं। रुक्मिणी जानती थीं देवदेव महादेवादिद्वारा वन्दित-चरण कमललोचन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको! रुक्मिणीका त्याग और निश्चय देखिये! इष्ट, पूर्त, दान, नियम, व्रत और देवता-गुरु-ब्राह्मणोंकी पूजा आदि सबका फल रुक्मिणी केवल एक ही चाहती हैं। यही तो भक्तका निष्कामकर्म है। भक्तके द्वारा दान, यज्ञ, तप आदि सभी कर्म किये जाते हैं, परंतु किसलिये? धन, जन, भोग, स्वर्गादिके लिये नहीं, केवल भगवान्को पानेके लिये घर, द्वार, परिवार, भाई-बन्धुका ममत्व त्याग कर। इसी प्रकार तो भगवत्प्राप्तिके लिये भक्तको लोकलज्जा और मर्यादाका बाँध तोड़कर आत्मसमर्पण करना पड़ता है। इतनेपर भी यदि भगवान् नहीं मिलते तो भक्त ऊबता नहीं। उसका निश्चय है कि आज नहीं तो क्या है, 'कभी सौ जन्मोंमें तो उनका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

जहाँ इतना विशुद्ध और अनन्य प्रेम होता है, वहाँ भगवान् आये बिना कभी रह नहीं सकते। अतएव रुक्मिणीजीका पत्र सुनते ही भगवान्ने भक्तका संकट हरनेके लिये निश्चय कर लिया और ब्राह्मणसे कहने लगे—'भगवन्! जैसे रुक्मिणीका चित्त मुझमें आसक्त है, वैसे ही मेरा भी मन उसीमें लग रहा है। मुझे तो रातको नींद भी नहीं आती……। मैंने निश्चय कर लिया है कि युद्धमें अधम क्षत्रियोंकी सेनाका मन्थन कर उसके बीचसे, काष्ठके भीतरसे अग्नि-शिखाके समान, मुझको एकान्त-भावसे भजनेवाली अनिन्दिताङ्गी राजकुमारी रुक्मिणीको ले आऊँगा।' वही भक्त सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है, जो अपने अन्तरके प्रेमकी प्रबल इच्छासे भगवान्के चित्तमें मिलनेके लिये अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न कर दे। इस प्रकारकी अवस्थामें भगवान् भक्तसे मिले बिना एक क्षण भी सुखकी नींद नहीं सो सकते। जैसे भक्त अपने प्रियतम भगवान्के विरहमें तारे गिनता हुआ रात बिताता है, वैसे ही भगवान् भी उसीके ध्यानमें जागा करते हैं; ऐसी स्थिति हो जानेपर भगवत्प्राप्तिमें विलम्ब नहीं होता। भगवान् दौड़ते हैं इस प्रकारके भक्तको सादर ग्रहण करनेके लिये।

भगवान्का रुख देखकर चतुर सारथी दारुक उसी क्षण शैव्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नामक चार घोड़े जोतकर रथ ले आया और भगवान्ने उसपर सवार होकर रथ बहुत शीघ्र हाँकनेकी आज्ञा देकर विदर्भ देशके कुण्डिनपुरके लिये प्रस्थान किया। ब्राह्मणदेवता भी साथ ही थे।

श्रीरुक्मिणीजीने सारी रात जागते हुए बितायी, सूर्योदय होनेको आया, ब्राह्मण नहीं लौटे, रुक्मिणीकी विरह-व्यथा उत्तरोत्तर बढ़ रही थी, वे मनमें इस प्रकार चिन्ता करने लगीं
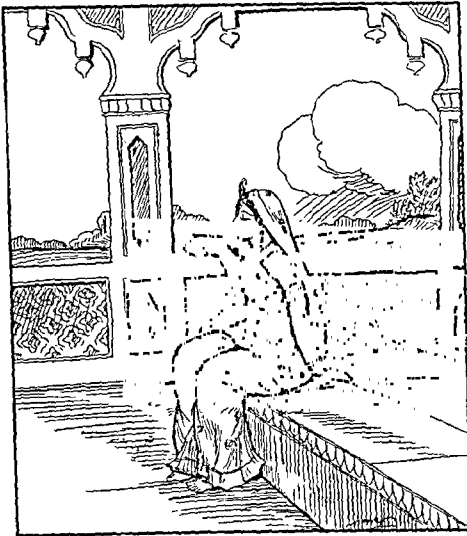
भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न होते ही रुक्मिणीजीके बाँह, ऊरु, भुजा और नेत्र आदि अङ्ग भावी प्रियकी सूचना देते हुए फड़क उठे और उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनका प्रिय समाचार लेकर वही वृद्ध ब्राह्मण आ पहुँचे। भगवान्‌की आगमन-वार्ता सुनकर रुक्मिणीजीको जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है। श्रीकृष्ण और बलदेवका आगमन सुनकर रुक्मिणीके पिता राजा भीष्मकने उनके स्वागत और अतिथि-सत्कारका पूरा प्रबन्ध किया। भगवान्‌की भुवनमोहन रूपराशिको निरखकर नगरके नर-नारियोंका चित्त उसीमें रम गया और सभी प्रेमके आँसू बहाते हुए कहने लगे कि 'यदि हमने कभी कुछ भी सुकृत किया हो तो त्रिलोकके विधाता अच्युत भगवान् कुछ ऐसा करें कि ये मनमोहन अनूपरूप-शिरोमणि श्रीकृष्ण ही रुक्मिणीका

अनन्यगति श्रीरुक्मिणीजी निरन्तर भगवान्‌की सेवामें रत रहतीं। एक दिन भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक मन्द-मन्द मुसकाते हुए रुक्मिणीसे कुछ ऐसी रहस्ययुक्त बातें कहीं, जिसे सुनकर रुक्मिणीजी थोड़ी देरके लिये व्याकुल हो गयीं। अपना समस्त ऐश्वर्य सौंपकर भी भगवान् समय-समयपर भक्तकी यों परीक्षा किया करते हैं, वह इसलिये कि भक्त कहीं ऐश्वर्यके मदमें मत्त होकर प्रेमकी अनिर्वचनीय स्थितिसे च्युत न हो जाय। यद्यपि श्रीरुक्मिणीजीके लिये ऐसी कोई आशंका नहीं थी, तथापि भगवान्‌ने अपने भक्तोंका महत्त्व बढ़ाने और जगत्‌को सच्चे प्रेमकी अनुपम शिक्षा देनेके लिये रुक्मिणीजीकी वाणीसे भगवत्प्रेमका तत्त्व कहलाना चाहा और इसीलिये उनसे रहस्ययुक्त वचन कहे। भगवान् बोले—'हे राजकुमारी! लोकपालोंके समान धनसम्पन्न महानुभाव, श्रीमान् तथा रूप और उदारतासे युक्त महान् बली नरपति तुमसे विवाह करना चाहते थे। कामोन्मत्त शिशुपाल तुम्हें ब्याहनेके लिये बारात लेकर आ पहुँचा था; तुम्हारे भ्राता आदिने भी तुम्हारा विवाह शिशुपालके साथ करनेका निश्चय कर लिया था तो भी तुमने सब प्रकारसे अपने योग्य उन राजकुमारोंको छोड़कर; जो किसी बातमें तुम्हारे समान नहीं है—ऐसे मुझ-जैसेको अपना पति क्यों बनाया?

हे सुभ्रु! तुम जानती हो, हम राजाओंके भयसे समुद्र-किनारे आ बसे हैं, क्योंकि हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है; फिर राज्यासनके अधिकारी भी नहीं हैं। जिनका आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता, जो स्त्रियोंके वशमें नहीं रहते, ऐसे हम-सरीखे परुषोंकी पदवीका अनुसरण करनेवाली

सुमध्यमे! हमलोग स्वयं निष्किञ्चन (धन-सम्पत्तिरहित) हैं और धन-सम्पत्तिरहित दरिद्र ही हमसे प्रेम करते हैं।

धनवान् लोग प्रायः हमको नहीं भजते। जो लोग धन, जाति, ऐश्वर्य, आकार और अवस्थामें परस्पर समान हों, उन्हींसे मित्रता और विवाह करना शोभा देता है। अपनेसे अत्यन्त विषम परिस्थितिवालोंके साथ विवाह या मित्रता कभी उचित नहीं होती। हे रुक्मिणी! तुम दूरदर्शिनी नहीं हो इसीसे बिना जाने तुमने मुझ-जैसे गुणहीनको नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर वर लिया, वास्तवमें तुमको धोखा हुआ। यदि तुम चाहो तो अब भी जिसके संगसे तुम इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त कर सको, ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो। तुम्हारा हरण तो हमने शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि घमंडी राजा और हमसे वैरभाव रखनेवाले तुम्हारे भाई रुक्मीका दर्प-दलन करनेके लिये किया था; क्योंकि बुरे लोगोंका तेज नाश करना ही हमारा कर्तव्य है। इतना कहकर अन्तमें भगवान् बोले—

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः॥

(श्रीमद्भा० १०।६०।२०)

'हे राजकुमारी! हम आत्मलाभसे ही पूर्ण होनेके कारण स्त्री, पुत्र और धनादिकी कामना नहीं रखते। हम उदासीन हैं, देह और गृहमें हमारी आसक्ति नहीं है। जैसे दीपककी ज्योति केवल प्रकाश करके साक्षीमात्र रहती है, वैसे ही हम समस्त क्रियाओंके केवल साक्षीमात्र हैं।'

भगवान्‌के इस रहस्यपूर्ण कथनपर हम क्या कहें? भगवान्‌ने इस व्याजसे भक्तको अपना वास्तविक स्वरूप और भक्तका कर्तव्य तथा उसके लक्षण बतला दिये। भगवती रुक्मिणीको (तुम ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो) इन शब्दोंसे बड़ी मर्म-वेदना हुई, वे मस्तक अवनत करके रोने लगीं, अश्रुधारासे शरीर भींग गया। दारुण मनोवेदनासे कण्ठ अवरुद्ध हो गया और अन्तमें अचेत होकर गिर पड़ीं। भगवान् रुक्मिणीकी इस प्रेम-दशाको देख मुग्ध होकर तुरंत पलंगसे उठे और चतुर्भुज होकर दो हाथोंसे रुक्मिणीको उठा लिया और

उनके बिखरे हुए केशोंको सँवार कर आँसू पोंछने लगे। रुक्मिणीजीको चेत हुआ तब भगवान् बोले—'राजकुमारी! मैं तो हँसी करता था, तुम्हारे चरित्रको मैं भलीभाँति जानता हूँ। तुम्हारे मुखसे प्रणयकोप प्रकट करनेवाली बातें सुननेके लिये ही मैंने इतनी बातें कही थीं।'

भगवान् भक्तकी परीक्षा तो बड़ी कठिन लिया करते हैं, परंतु फिर तुरंत सँभाल भी लेते हैं। भगवान्‌ने रुक्मिणीको बहुत समझाकर धैर्य बँधाया, तब भगवान्‌के चरणकमलोंकी नित्य अनुरागिणी देवी रुक्मिणी बड़े मधुर शब्दोंमें भगवान्‌से कहने लगीं—'हे कमलनयन! आपने जो ऐसा कहा कि मैं तुम्हारे समान नहीं था, तुमने क्यों मेरे साथ विवाह किया?' सो आपका कथन सर्वथा सत्य है, मैं अवश्य ही आपके योग्य नहीं हूँ। कहाँ ब्रह्मादि तीनों देवोंके या तीनों गुणोंके नियन्ता दिव्य शक्तिसम्पन्न आप साक्षात् भगवान्! और कहाँ मैं अज्ञानी तथा सकाम पुरुषोंके द्वारा पूजी जानेवाली गुणमयी प्रकृति! हे प्रभो! आपका यह कहना कि 'हम राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं' सर्वथा सत्य है; क्योंकि शब्दादि गुण ही राजमान

प्रकाश पानेवाले) होनेके कारण 'राजा' हैं, उनके भयसे ही मानो समुद्रके सदृश अगाध विषयशून्य भक्तोंके हृदयदेशमें आप चैतन्यघन आत्मारूपसे प्रकाशित हैं। आपका यह कहना भी ठीक है कि 'हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है और हम राज्यासनके अधिकारी नहीं हैं।' बहिर्मुख हुई प्रबल इन्द्रियोंके साथ अथवा जिनकी प्रबल इन्द्रियाँ विषयोंमें आसक्त हैं, उनसे कभी आपको प्रीति नहीं है। हे नाथ! राज्यासन तो घोर अविवेकरूप है।

मनुष्य राजपदको पाकर ज्ञानशून्य कर्तव्यविमूढ़ होकर अन्धा-सा बन जाता है। ऐसे राजपदको तो आपके सेवकोंने ही त्याग दिया है, फिर आपकी तो बात ही क्या है? हे भगवन्! आपने जो कहा कि 'हमारे आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकते।' वह सत्य ही है, आपके चरणकमलके मकरन्दका सेवन करनेवाले मुनियोंके ही आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आते। पशु-समान अज्ञानी मनुष्य जिनकी तर्कना भी नहीं कर सकते। ऐसे आपके अनुगामी भक्तोंका चरित्र ही जब इतना अचिन्त्य और अलौकिक है, तब आप जो साक्षात् ईश्वर हैं, उनके चरित्रका दुर्बोध या अलौकिक होना कोई आश्चर्य नहीं। आपने कहा कि 'हम निष्किञ्चन हैं, निष्किञ्चन ही हमसे प्रेम करते हैं'; अतः हे स्वामिन्! जिन ब्रह्मादि देवताओंकी सभी पूजा करते हैं, वे भी जब सादर आपको पूजते हैं तब आप निष्किञ्चन तो नहीं हैं, परंतु एक तरहसे आप निष्किञ्चन ही हैं; क्योंकि आपसे भिन्न कुछ है ही नहीं।

जो लोग धन-सम्पत्तिके मदसे अंधे हो रहे हैं और केवल अपने शरीरके पालन-पोषणमें ही रत हैं, वे आप कालरूपको नहीं जानते। आप पूजनीयोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं, जगत्-पूज्य ब्रह्मादि आपको इष्टदेव मानकर पूजते हैं, उनके आप प्रिय हैं और वे आपके प्रिय हैं। आप सम्पूर्ण पुरुषार्थ और परमानन्दरूप हैं, आपको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग सब वस्तुओंका त्याग कर देते हैं। हे विभो! ऐसे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोंसे ही आपका सेव्य-सेवक-सम्बन्ध उचित है; स्त्री-पुरुष-रूप सम्बन्ध योग्य नहीं है, कारण कि इस सम्बन्धमें आसक्तिके कारण प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे व्याकुल होना पड़ता है····इसलिये आपका यह कहना कि समान लोगोंमें ही मित्रता और विवाह होना चाहिये, यह ठीक ही है। आपने कहा कि 'नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर मुझे वर लिया', अतः हे भगवन्! ऐसे सर्वत्यागी मुनिगण ही आपके प्रभावको जानते और कहते हैं। आप जगत्के आत्मा हैं और भक्तोंको आत्मस्वरूप प्रदान करते हैं, यह समझकर ही मैंने आपका वरण किया है।

आपने कहा कि 'तुम दूरदर्शिनी नहीं हो' सो प्रभो! आपकी भ्रुकुटियोंके बीचसे उत्पन्न कालके वेगसे जिनके समस्त विषय-भोग नष्ट हो जाते हैं—ऐसे ब्रह्मादि देवताओंको भी मैंने पति बनाना उचित और श्रेष्ठ नहीं समझा तो फिर शिशुपालादि तुच्छ लोगोंकी बात ही क्या है? हे गदाग्रज! हे प्रभो! सिंह जैसे अपनी गर्जनासे पशुपालकोंको भगाकर अपना आहार ले आता है, वैसे ही आप शार्ङ्गधनुषके शब्दसे राजाओंको भगाकर अपना भाग—जो मैं हूँ, उसे हर लाये हैं; ऐसे आप उन राजाओंके भयसे समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं—यह कहना ठीक नहीं है। भगवन्! आप सब गुणोंकी खान हैं, आपके चरणकमलोंके मकरन्द-सुगन्धका वर्णन साधुगणोंद्वारा किया गया है। लक्ष्मी सदा उसका सेवन करती हैं, भक्तजन उससे मोक्ष पाते हैं। ऐसे चरणकमलोंके मकरन्दकी सुगन्ध पाकर अपने प्रयोजनको विवेक-बुद्धिसे देखनेवाली कौन ऐसी स्त्री होगी, जो आपको छोड़कर किसी मरणशील और कालके भयसे सदा शंकित दूसरे पार्थिव पुरुषका आश्रय लेगी?

अतएव आपने जो यह कहा कि 'दूसरा पुरुष ढूँढ़ सकती हो' वह ठीक नहीं है। आप जगत्के अधिपति और सबके आत्मा हैं, इस लोक और परलोकमें सब अभिलाषाएँ पूरी करनेवाले हैं, मैंने योग्य समझकर ही आपको पति बनाया है। मेरी यही प्रार्थना है कि मैं देवता, पशु, पक्षी आदिकी किसी भी योनिमें भ्रमण करूँ, परंतु सर्वत्र आपहीके चरणोंकी शरणमें रहूँ। नाथ! जो लोग आपको भजते हैं, आप समदर्शी और निःस्पृह होते हुए भी उनको भजते हैं और आपको भजनेसे ही इस असार-संसारसे मुक्ति मिलती है।

हे अच्युत! हे शत्रुनाशन! जो स्त्री-प्रधान घरोंमें रहकर गधेके समान बोझा ढोते हैं, बैलकी तरह नित्य गृहस्थीके कामोंमें जुते रहकर क्लेश भोगते हैं, कुत्तेके समान जिनका तिरस्कार होता है, बिलावकी तरह जो दीन बने हुए गुलामोंकी भाँति स्त्री आदिकी सेवामें लगे रहते हैं—ऐसे

शिशुपालादि राजा उसी (अभागिनी) स्त्रीके पति हों; जिसके कानोंमें शिव-ब्रह्मादिकी सभाओंमें आदर पानेवाली आपकी पवित्र कथाओंने प्रवेश नहीं किया हो। हे स्वामिन्! जिसने आपके चरणारविन्दके मकरन्द-सुगन्धको कभी नहीं पाया अर्थात् जिसने आपके चरणोंमें मन लगानेका आनन्द कभी नहीं पाया, वही मूढ़ स्त्री बाहर त्वचा, दाढ़ी-मूँछ, रोम, नख और केशोंसे ढके हुए तथा भीतर मांस, हड्डी, रुधिर, कृमि, विष्ठा, कफ, पित्त और वातसे भरे हुए जीवन्मृत (जीते ही मुर्देके समान) पुरुषको पतिभावसे भजेगी।

हे कमलनयन! आपने कहा कि 'हम उदासीन हैं, आत्मलाभसे पूर्ण हैं' सो सत्य है; क्योंकि निजानन्द-स्वरूपमें रमण करनेके कारण मुझपर अत्यन्त अधिक दृष्टि नहीं रखते, तथापि मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरणोंमें मेरा चित्त सदा लगा रहे। आप इस जगत्की वृद्धिके लिये उत्कृष्ट रजोगुणको स्वीकार करते हुए मुझ (प्रकृति)-पर जो दृष्टि डालते हैं, उसीको मैं परम अनुग्रह मानती हूँ। प्रभो! मैं आपके कथनको मिथ्या नहीं मानती; जगत्में कई स्त्रियाँ ऐसी हैं जो स्वामीके रहते भी अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाती हैं····पुंश्चली स्त्रियोंका मन विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंपर आसक्त होता रहता है, किंतु चतुर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वे ऐसी असती स्त्रियोंसे विवाह कभी न करें। क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ दोनों कुलोंको कलंकित करती हैं, जिससे स्त्रीके साथ ही पुरुषकी भी इस लोकमें अकीर्ति और परलोकमें बुरी गति होती है।'

इस प्रकार भगवान्को तत्त्वसे जाननेवाली प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्ति देवी रुक्मिणीजीने अपने भाषणमें भगवान्का स्वरूप, माहात्म्य, भगवत्प्राप्तिके उपाय, भक्तोंकी निष्ठा, भक्तोंके कर्तव्य और भगवान्से विमुख अधम जीवोंकी दशा तथा उनकी गतिका वर्णन किया। देवी रुक्मिणीके इस भाषणसे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और सकामभावकी निन्दा, निष्कामकी प्रशंसा तथा सब कुछ छोड़कर प्रेमसे भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुल रहनेवाले भक्तोंका महत्त्व बतलाते हुए उन्होंने कहा—

दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्रः
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः॥

(श्रीमद्भा० १०।६०।५७)

'तुमने मुझको ही वरण करनेका दृढ़ निश्चय करके अपने प्रणकी सूचना देनेके लिये मेरे पास दूत भेजा और जब मेरे आनेमें कुछ विलम्ब हुआ, तब तुमने सब जगत्को शून्य देखकर यह विचार किया कि यह शरीर और किसीके भी योग्य नहीं है। इसका न रहना ही उत्तम है, अतएव मैं तुम्हारे प्रेमका बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ। तुमने जो किया वह तुम्हारे ही योग्य है, मैं केवल तुमको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा।'

श्रीहनुमान्जीका दास्य प्रेम

अनन्य भक्त-प्रवर पवनपुत्र हनुमान्जी अपना आध्यात्मिक परिचय देते हुए कहते हैं कि 'देहबुद्धिसे मैं अपने आराध्य श्रीरामका दास हूँ, जीवबुद्धिसे अपने अंशीका अंश हूँ और आत्मासे अभेद वही हूँ जो मेरे इष्टदेव स्वयं हैं*।' इस सूक्तिके गागरमें अर्थका सागर समाया हुआ है।

हनुमान्जी दास्य भक्तिके परम पिपासु हैं। स्वधर्माचरण और प्रभुके प्रति आत्म-समर्पण ही उनके जीवनका साध्य है। उनकी भक्ति भुक्ति और मुक्तिसे परे स्वान्तःसुखाय है। उनके भीतर-बाहर सर्वत्र आराध्य-ही-आराध्य हैं। उनका रोम-रोम रामके अनुरागके रागारुणसे रञ्जित है। आत्म-विस्मरण ही उनके समर्पणकी चरम उपलब्धि है।

हनुमान्जीको अपने इष्टदेवसे चाहिये केवल निर्भरा भक्ति। निर्भरा भक्तिका उद्देश्य है—एकनिष्ठ भगवत्प्राप्ति। वे अपने आराध्यके विनीत दास हैं और आराध्य श्रीराम उनके सर्वसमर्थ स्वामी हैं। सर्वसमर्थ स्वामी उनके साध्य भी हैं और साधनाके लिये साधन भी। साधन इसलिये क्योंकि वे निःसाधन हैं और साध्य इसलिये क्योंकि स्वामीके अतिरिक्त अन्यत्र उनकी अनुरक्ति नहीं। शरणागतिका यह स्वरूप ही उनका सर्वस्व है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

* देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः। वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः॥ (अध्यात्मरामायण)

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(रा०च०मा० २।१२७।३-४)

दासकी अनन्य भक्तिसे अभिभूत एक बार प्रभु यह कहनेसे अपनेको रोक न सके कि मैं तुम्हें न स्वर्गका सुख दे सकता हूँ और न मुक्तिका ही सुख। मैं तुम्हें कुछ भी दे सकनेमें असमर्थ हूँ। मैं तो तुमसे स्वयं प्रेमरस ग्रहण करता हूँ। मैं तुम्हारे अनिर्वचनीय प्रेम-रसका आस्वाद ग्रहण करनेके लिये ही तो बार-बार वसुन्धरापर अवतार लेता हूँ।

अयोध्याके राजसिंहासनपर आरूढ़ होनेके पश्चात् श्रीरामके हृदयमें एक दिन असह्य हूक उठी कि अयोध्याका राजसिंहासन तो मैंने ले लिया, किष्किन्धाका राज्य सुग्रीवको दे दिया और लङ्का-जैसी स्वर्णनगरीका अधिपति विभीषणको बना दिया, किंतु अत्यन्त परम प्रिय दास जिसकी निष्कामसेवासे मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता, उसे देनेके लिये अब मेरे पास कुछ भी शेष नहीं रहा। प्रभुके हृदयमें उठती तीव्र कसकसे द्रवीभूत पवनसुत फूट-फूटकर रो पड़े। उन्होंने कहा कि आपके कमलवत् चरणसे बढ़कर मेरे लिये सम्पूर्ण सृष्टिमें कुछ भी नहीं। आपकी चरण-रज-सेवा मेरे लिये पदसे भी श्रेष्ठ परम पद है। आपके इस परम पदको पाकर मैं कृतार्थ हूँ।

ईश्वरीय प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जीवनमें कैसी आचार-संहिताका वरण किया जाय, इसके सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान हनुमान्जी ही हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके निकटतम आत्मीय जनोंमें वे भी हैं। राम-पञ्चायतन सीतासहित चार बन्धुओंका पुञ्ज है, किंतु स्थापनाओंमें हनुमान्जीके भी होनेसे संख्या छः हो जाती है। राम-पञ्चायतनके अन्तर्गत उनकी यह स्थापना सर्वोत्तम उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त राम-पञ्चायतनकी एक विशिष्टता और भी है, जहाँ श्रीराम-सीता यथास्थान राजसिंहासनारूढ़ हैं और तीनों बन्धु भव्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत यथोचित स्थानोंमें सुशोभित हैं, वहाँ सबके बीच मात्र एक कौपीन धारण किये राम-सीताके पदाम्बुजोंमें भक्तिभाव-सम्पृक्त समर्पित मुद्रामें नतमस्तक हनुमान्जी भी विराजमान हैं, यह दास्य भावकी भक्तिका मूर्तिमान् बिम्ब है। इस बिम्बसे उन्हें वह श्रेय मिला, जिसे तुलसीने *'राम ते अधिक राम कर दासा'* की अपनी अनूठी उक्तिमें प्रकट किया है।

संकटमोचक हनुमान्जीकी दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—श्रीरामावतारका सूत्र-संचालक होना। इस स्थितिके है जिसमें वे अपने सुदृढ़ स्कन्धोंपर श्रीराम-लक्ष्मणको बाल-रूपमें धारण किये हुए हैं। इसका अर्थगाम्भीर्य यह है कि वे लोकसेवाके उन उदात्त मूल्योंके निर्वहनके प्रति निष्ठापूर्वक प्रतिबद्ध हैं जो अवतार लेकर श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा निर्वहन किये गये। अनन्य भक्तमें लोकसेवाका उन्मेष भी होता है।

इस निष्ठाका सुफल भी भारतीय जनमानसकी ओरसे उन्हें कृतज्ञताके रूपमें मिला। अखिल देशव्यापी स्तरपर आराधनाके लिये राम-मन्दिरोंसे भी कहीं अधिक हनुमान्-मन्दिर प्रतिष्ठापित हैं। इसका अभिप्राय श्रीरामके प्रति पूज्यभावकी लेशमात्र भी कमी नहीं, अपितु रामके दासके प्रति भी जनमानसमें कृतज्ञताके उमड़ रहे स्रोतका प्रकटीकरण है। रामभक्ति तो भारतीय जनमानसका साध्य है ही, परंतु उस उच्चतम शिखरतक पहुँचानेका सोपान तो हनुमान्जीकी आचरणमूलक प्रेरणा ही है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी तो गुरु हनुमान्जीकी अंगुलियाँ पकड़कर श्रीरामके चरणारविन्दोंतक पहुँचे थे।

हनुमान्जीके रोम-रोममें श्रीराम रमण करते हैं। उनकी विमलवाणी 'राम-राम'के महोच्चारसे अविराम गूँजती रहती है। *'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'* ही उनके जीवनका मूल मन्त्र है। इस पुनीत अनुष्ठानके प्रति वे अपनी समग्र चेतना और तत्परता नियोजित करते हैं। उनके हृदयमें व्यक्तिगत आकाङ्क्षाओंका अङ्कुरतक प्रस्फुटित नहीं होता। उन्होंने अपनी सभी इच्छाएँ और स्पृहाएँ प्रभु-भक्तिके पुनीत प्रवाहमें विसर्जित कर दी थीं। इस वस्तुस्थितिका अवबोध उन्होंने एक बार सीता माताको अपना हृदय चीरकर कराया भी था। उनका निर्मल हृदय श्रीरामका अभिराम धाम है—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(रा०च०मा० २।१३१)

प्रभुका अवतार अधर्मके नियमन और धर्मके संवर्द्धनका हेतु है। इससे सृष्टिमें संतुलन स्थापित होता है। अवतारी महापुरुषोंके ऐसे महान् सत्कार्योंमें उनके निकटतम कारक पुरुष भी उच्चस्तरीय सहयोगी बनकर अवतार लेते हैं। रामकी छत्रच्छायामें हनुमान्जी ज्ञान-भक्ति-सेवाके साकार रूप बनकर अवतीर्ण हुए। पवन-पुत्र स्वयं पवनरूप हैं। सृष्टिकी सर्वोपरि अपरिहार्य ...

अविराम प्राप्त हैं।

लङ्का-अभियानमें आद्यन्त हनुमान्‌जीकी सूझ-बूझकी विविधताएँ द्रष्टव्य हैं।

शक्तिशाली रावणकी सुसज्जित सेनासे युद्ध किस प्रणालीसे किया जाय, इसका प्रशिक्षण हनुमान्‌जीने स्वयं अपने दलको दिया। साधनोंके अभावके बावजूद सुलभ उपकरणोंका युद्धमें यथोचित उपयोग करके विजयश्री प्राप्त की जा सकती है, यह उन्होंने प्रत्यक्ष कर दिखाया। रावणकी अशोक-वाटिकासे ही एक वृक्ष उखाड़कर उसीके वृक्षसे उसीके बेटे अक्षकुमारको उसीकी वाटिकामें मारकर उन्होंने यमपुरी पहुँचा दिया। जिस कौशलसे रामकार्यके लिये लङ्कामें प्रविष्ट होकर रावणके ही तेल-तूल-आगसे उसकी स्वर्णनगरीको आगकी प्रचण्ड लपटोंमें झोंककर उन्होंने लङ्का-दहन किया, ऐसा उदाहरण अन्यत्र नहीं।

सशंकित सुग्रीवद्वारा *'पुरुष जुगल'* की वास्तविकताकी खोज-बीनके लिये हनुमान्‌जीको भेजनेपर विदित हुआ कि *'अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार'*। इस भेंटसे दास हनुमान् स्वयं तो प्रभुसे जुड़ गये, किंतु अपनी तरह ही समस्त जीवोंको भी प्रभुके चरणोंतक पहुँचाये बिना उन्हें शान्ति नहीं। जीव स्वयं निर्बल है। उसमें स्वयं उठकर साधनाके द्वारसे प्रभुके द्वारतक पहुँचनेकी शक्ति नहीं है। अतः प्रभुको स्वयं करुणासे द्रवीभूत होकर जीवको शरण देनेके लिये ऊपरसे नीचे उतरकर असीमसे ससीम बनना पड़ता है। यही अवतारवाद है।

प्रभु निष्काम हैं, किंतु असीम शक्तिसम्पन्न हैं। जीव सकाम, किंतु शक्तिहीन है। हनुमान्‌जी जीवकी इच्छा और प्रभुकी शक्तिका समन्वय कराते हैं। प्रभु जीवको बुद्धि देते हैं संसारको समझनेके लिये और हनुमान् उसे विश्वास देते हैं प्रभुसे जुड़नेके लिये, किंतु जीव इस क्रमको ही उलट देता है। वह संसारपर विश्वास करता है और ईश्वरको बुद्धिसे समझना चाहता है। परिणाम यह होता है कि जीव जन्म-जन्मान्तरतक कोल्हूके बैलकी तरह जहाँ है, वहीं रह जाता है। अतः हनुमान्‌जी जीवमें प्रभु-विश्वास उत्पन्नकर उसीसे जुड़नेकी सत्प्रेरणा निरन्तर देते रहते हैं।

ऐसे महत्कार्यका शुभारम्भ वह अपने संरक्षक सुग्रीवसे प्रारम्भ करते हैं। हनुमान्‌जीके माध्यमसे श्रीराम-सुग्रीव-मिलन ब्रह्म और जीवका मिलन है। दोनोंके बीच दास्यभक्तिसे भी सरल सखा-भक्तिकी स्थापना होती है। प्रगाढ़ मैत्रीधर्मका पालन करते हुए जहाँ श्रीराम बालिका संहार करके पत्नीसहित किष्किन्धाका राज्य सुग्रीवको तत्काल दिला देते हैं, वहाँ सुग्रीव विषय-भोगमें संलिप्त होकर सीताकी खोजमें उतनी ही देर लगाता है। सुग्रीव (जीव) वैभव पाकर प्रभुको और उनके कार्यको भूल जाता है। वह श्रीरामकी करुणा और हनुमान्‌के विश्वासका दुरुपयोग करता है।

धैर्यकी भी एक सीमा होती है। सीताकी खोजमें अप्रत्याशित विलम्ब होते देख श्रीरामको अन्ततोगत्वा लक्ष्मणको संकेत देना ही पड़ा कि *'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव'* (रा०च०मा० ४। १८)। उधर हनुमान्‌जी भी सीताकी खोजके प्रति सुग्रीवकी अन्यमनस्कता देखकर—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥

(रा०च०मा० ४। १९। १-२)

हनुमान्‌जीका सत्परामर्श पाकर—

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना। बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥
अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा॥

(रा०च०मा० ४। १९। ३-४)

एक अवसर वह भी था जब हनुमान्‌जीके सत्प्रयाससे श्रीरामने सुग्रीवको भयमुक्त करनेका वचन दिया था—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

(रा०च०मा० ४। ६)

और आज इस अवसरपर भय दिखाया, जिससे सुग्रीव काँप उठा। जटिल-से-जटिल समस्या सुलझानेमें हनुमान्‌जी अत्यन्त निपुण हैं। एक ओर सुग्रीवको सचेत कर दिया तो दूसरी ओर क्रुद्ध लक्ष्मण जो सुग्रीवको डराने आ रहे थे, उनका स्वागत करते हुए *'करि बिनती मंदिर लै आए। चरन पखारि पलँग बैठाए॥'* (रा०च०मा० ४। २०। ५)। इधर क्रुद्ध लक्ष्मण भूल ही गये कि अग्रजद्वारा किस प्रयोजनके निमित्त यहाँ भेजा गया हूँ और उधर अन्यमनस्क सुग्रीवको भी कर्तव्य-बोध हो गया। हनुमान्‌जीकी प्रत्युत्पन्नमतिसे प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल हो गयी।

हनुमान्‌जीका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है सीता माताकी खोज। यह कार्य उनके बिना पूर्ण होना कठिन था। पराम्बा सीता ज्ञानियोंकी शान्ति, भक्तोंकी भक्ति और कर्मयोगियोंकी शक्ति हैं। उनकी खोज वस्तुतः शान्ति, भक्ति और शक्तिकी खोज है। सीताकी खोजके अभियानमें सर्वप्रथम सुरसा

नसे टकराती है और अहंकारकी लड़ाई लड़ती है। किंतु नुमान्‌जी तो सीताकी खोजमें ही दत्तचित्त थे। उन्होंने म्रतापूर्वक सुरससे कहा—

ाम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
ाब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥

(रा०च०मा० ५।२।४-५)

हे माता! रामकार्यमें शरीरका उपयोग हो जाने दो, फेर तुम मुझे अपने मुखका ग्रास बना लेना। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, किंतु यह विवेकपूर्ण प्रस्ताव अस्वीकृत करके वह अपने अहंकारमें शनैः-शनैः वृद्धि करने लगी—

ात जोजन तेहिं आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। मागा बिदा ताहि सिरु नावा॥

(रा०च०मा० ५।२।१०-११)

वह सुरसासे अहंकारकी लड़ाई नहीं लड़ते। अहंकारसे अहंकारकी टकराहट श्रेयस्कर भी नहीं। वह उनका अत्यन्त लघुरूप खोजती रही कि आखिर यह मर्कट गया तो कहाँ गया? नम्रताने अहंकारको पराभूत कर दिया। वह एकदम शून्य हो गये। ऐसी अभेद दृष्टि विरलोंमें होती है।

इसी अनुक्रममें उनकी भेंट ***'लंकिनी निसिचरी'***से भी हुई जिसने धमकाया—***'जानेहि नहीं मरसु सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥'*** (रा०च०मा० ५।४।३)। हनुमान्‌जीने कहा कि जब सारे चोर तेरे आहार हैं तो चोरोंका सरताज तो तेरा स्वामी लङ्कामें ही है, जिसकी तू सेविका है। सर्वप्रथम तो तू उसे ही अपना आहार बना—इतना कहकर एक ऐसा मुष्टिका-प्रहार किया कि ***'रुधिर बमत धरनीं ढनमनी'***। मुष्टिका-प्रहारने सत्संगका कार्य किया। उसे सीख मिली कि ऐसा सुख जिससे प्रभु विलग हो जाते हों उससे तो अधिक स्वागतयोग्य वह दुःख ही है, जो हमें प्रभुसे जोड़ता है। हनुमान्‌जी एक क्षण भी प्रभुसे विलग नहीं रह सकते। वह उनसे सतत जुड़े हैं और समस्त जीवोंको भी प्रभुसे जोड़नेका पुनीत कार्य अहर्निश करते रहते हैं।

लङ्कामें विभीषण हनुमान्‌जीसे अपनी मनोव्यथा करुण शब्दोंमें व्यक्त करते हैं—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥

(रा०च०मा० ५।७।१—४)

प्रत्युत्तरमें हनुमान्‌जीके तृप्तिदायक वचन सुनकर उन्हें परम शान्ति प्राप्त होती है—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबहीं बिधि हीना॥

(रा०च०मा० ५।७।६-७)

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥
जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥

(रा०च०मा० ५।७, ५।८।१)

तत्पश्चात् विभीषणसे सीता माताका सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर वे अशोकवाटिकाके लिये प्रस्थान करते हैं, जहाँ अपनी प्रथम लघु भेंटमें ही सीता माताको तृप्ति और शान्ति प्रदान करते हैं। उसका बोध निम्न पंक्तियोंमें है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥

(रा०च०मा० ५।१३)

तथा ***'सुनतहिं सीता कर दुख भागा'***—***'तोहि देखि सीतलि भइ छाती'*** आदि। सीता माताने पुलकित होकर उन्हें आशिष् भी प्रदान किया—

मन संतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥
आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥

(रा०च०मा० ५।१७।१—३)

सीताजीकी खोज पूर्ण होनेपर दास हनुमान्‌के प्रति प्रभुके हृदयोद्गारकी अत्यन्त मनोरम झाँकी प्रस्तुत है—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥
सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

(रा०च०मा० ५।३२।७-८, दोहा ३२)

हनुमान्‌जी कहते हैं कि आत्मप्रशंसा सुनकर अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे पतन होता है और जब प्रभुके मुखसे दासकी प्रशंसा हो रही है तो मेरा गिरना अवश्यम्भावी है। अतः मेरे गिरनेके लिये आपके चरणोंसे बढ़कर अन्य कोई स्थान नहीं है। यहाँ गिरकर मैं धन्य हो जाऊँगा।

प्रभु जब पूछते हैं कि तुमने लङ्का-दहन कैसे किया? तो उत्तर देते हैं ***'सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥'*** (रा०च०मा० ५।३३।९)।

'कह हनुमंत विपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥' ऐसा निवेदन करते हुए वे प्रभुसे अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेते हैं—

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी।
सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥
(रा०च०मा० ५।३४।१-२)

सीताकी मनोव्यथा पूछनेपर वे बिना कुछ कहे ही सब कुछ व्यक्त कर देते हैं—*'सीता कैं अति विपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥'* (रा०च०मा० ५।३१।९) एक ओर अशोकवाटिकामें बड़ी सान्त्वना देकर सीताके अश्रु पोंछकर आये हैं, दूसरी ओर जहाँ प्रभुको आशुप्रेरित करनेकी बात थी वहाँ *'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥'* जब जहाँ जैसी पृष्ठभूमि रचनेकी आवश्यकता, वहाँ तदनुसार करनेमें परम पारंगत।

इधर लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर भगवान् राम विषादमें डूब गये, यह विसूरते हुए कि *'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता'* तथा *'नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई'* और अब मैं अयोध्यामें किसीको भी अपना मुख दिखानेयोग्य नहीं रहा, उधर दास हनुमान् लङ्कासे सुषेन वैद्यको *'आनेउ भवन समेत तुरंता'* और औषध न पहचाननेपर समूचा पर्वत ही उठा लाये। उनके आते ही *'हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना॥'* (रा०च०मा० ६।६२।१) स्वामी श्रीरामपर जब भी कोई विपत्ति आती है, दास जबतक उसका निवारण नहीं कर लेता, तबतक उसकी एक ही पुकार रहती है—*'राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'*।

हनुमान्जी स्वयं तो श्रीरामके अनन्य दास हैं ही, सभीमें श्रीरामका दास होनेकी कल्पना करते हैं। एक बार प्रभु रामने सम्मुख आसीन वानरी सेनासे प्रश्न किया कि

भगवान् रामने अपनी प्रथम भेंटमें हनुमान्जीसे कहा—*'सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* (रा०च०मा० ४।३।७) स्वयं लक्ष्मणजी इसकी पुष्टि करते हैं कि मैं माता सीताके साथ वनमें चौदह वर्ष रहकर भी उनका विश्वास-अर्जन न कर सका, जबकि हनुमान्जीने अपनी प्रथम लघु भेंटमें ही उनका विश्वास प्राप्त कर लिया *'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास। जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥'* (रा०च०मा० ५।१३)। दूसरी बात यह है कि मेरी असावधानीसे ही उनका हरण हुआ, किंतु सीताकी खोजमें दिन-रात एक करके हनुमान्जीने दोनोंको अन्तमें मिला दिया। शेषनागके रूपमें पृथ्वीका भार-निर्वहन तो मैं करता ही हूँ, किंतु उन्होंने दूनेका प्रमाण तो तभी दे दिया जब *'लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई'* (रा०च०मा० ४।४।५)।

एक बार श्रीराम-सीता-हनुमान् विपिनमें एक वृक्षकी घनी छाँहमें आसीनस्थ थे। उस वृक्षकी शाखाओंसे लिपटी एक पल्लवित-पुष्पित लतासे वृक्षकी शोभामें वृद्धि हो रही थी। प्रभु रामने हनुमान्से कहा कि वृक्षकी श्रीवृद्धिका श्रेय लताको है। सीताने कहा कि लताका आश्रयदाता तो वृक्ष है। यदि लताको वृक्षका आश्रय न मिला होता तो लता पल्लवित-पुष्पित ही न हो पाती। ऐसा कहकर दोनों हनुमान्जीकी ओर देखने लगे।

हनुमान्जीने कहा कि प्रभु और उनकी शक्ति *'कहिअत भिन्न न भिन्न'* हैं। भक्तको तो दोनोंकी स्निग्ध छायाका आश्रय चाहिये। भक्तोंको एक बार प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है कि ज्ञान (राम) और भक्ति (सीता)-के वियुक्त हो जानेसे सृष्टिका संतुलन ही विस्थापित हो जाता है। उस अवधिमें प्रवृत्तिपरक वैराग्य (लक्ष्मण) और निवृत्तिपरक वैराग्य (हनुमान्)-को कैसी विषम स्थिति झेलनी पड़ी थी। विलगावरूप मारीच

(सीता) सुरक्षित रहती है। भक्ति (सीता) निरापद तभी रहती है, जब वैराग्य (लक्ष्मण-हनुमान्)-को श्रीराम-सीता दोनोंकी स्निग्ध छाया प्राप्त होती है।

जब मैं अपने गुरुप्रवर हनुमान्‌जीकी याद करता हूँ तो मुझे तो राम स्वतः याद आ जाते हैं और जब मुझे मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामकी याद आती है तो उनके पादारविन्दोंमें नतमस्तक हनुमान् स्वतः याद आ जाते हैं। मुझे यह कहना परम प्रिय लगता है कि—

जैसे बाण को चाहिए धनुष और धनुष को बाण।
ऐसे हनुमान को चाहिए राम और राम को हनुमान॥

(श्रीगिरीशचन्द्रजी श्रीवास्तव)

~~~

प्रेमी उद्धवका सख्यभाव

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥*

(श्रीमद्भा० १०।४७।५८)

उद्धवजी भगवान्‌के सखा-भक्त थे। अक्रूरके साथ जब भगवान् व्रजसे मथुरा आ गये और कंसको मारकर सब यादवोंको सुखी बना दिया, तब भगवान्‌ने एकान्तमें

अपने प्रिय सखा उद्धवको बुलाकर कहा—'उद्धव! व्रजकी गोपाङ्गनाएँ मेरे वियोगमें व्याकुल होंगी, उन्हें जाकर तुम समझा आओ। उन्हें मेरा संदेश सुना आओ कि मैं तुमसे अलग नहीं, सदा तुम्हारे ही साथ हूँ।' उद्धवजी अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर नन्द-व्रजमें गये। वहाँ चारों ओरसे उन्हें व्रजवासियोंने घेर लिया और लगे भाँति-भाँतिके प्रश्न करने; कोई आँसू बहाने लगा, कोई मुरली बजाते-बजाते रोने लगा, कोई भगवान्‌का कुशल-समाचार पूछने लगा। उद्धवजीने सबको यथायोग्य उत्तर दिया और सबको धैर्य बँधाया।

एकान्तमें जाकर उन्होंने गोपियोंको अपना ज्ञान-संदेश सुनाया। उन्होंने कहा—'भगवान् वासुदेव किसी एक जगह नहीं हैं, वे तो सर्वत्र व्यापक हैं। उनमें भगवत्-बुद्धि करो, सर्वत्र उन्हें देखो।' गोपियोंने रोते-रोते कहा—'उद्धवजी! तुम ठीक कहते हो, किंतु हम गँवारी वनचरी इस गूढ़ ज्ञानको भला कैसे समझ सकती हैं। हम तो उन श्यामसुन्दरकी भोली-भाली सूरतपर ही अनुरक्त हैं। उनका वह हास्ययुक्त मुखारविन्द, वह काली-काली घुँघराली अलकावली, वह वंशीकी मधुर ध्वनि हमें हठात् अपनी ओर खींच रही है। वृन्दावनकी समस्त भूमिपर उनकी अनन्त स्मृतियाँ अङ्कित हैं। तिलभर भी जमीन खाली नहीं, जहाँ उनकी कोई मधुर स्मृति न हो। हम इन यमुनापुलिन, वन, पर्वत, वृक्ष और लताओंमें उन श्यामसुन्दरको देखती हैं। इन्हें देखकर उनकी स्मृति मूर्तिमान् होकर हमारे हृदयपटलपर नाचने लगती है।

उनके ऐसे अलौकिक प्रेमको देखकर उद्धवजी अपना समस्त ज्ञान भूल गये और अत्यन्त करुणाके स्वरमें कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

* उद्धवजी कहते हैं—इस पृथ्वीपर जन्म लेना तो इन गोपाङ्गनाओंका ही सार्थक हुआ; क्योंकि इन्हें विश्वात्मा भगवान् नन्दनन्दनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम है, जिसे पानेके लिये मुनिगण तथा हम भक्तजन सदा इच्छुक बने रहते हैं! जिनको भगवान्‌की कथामें अनुराग हो गया है, उन्हें कुलीनताकी, द्विजातिसमुचित संस्कारकी और बड़े-बड़े यज्ञ-यागोंमें दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है?
~~~

'मैं इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलिकी भक्तिभावसे वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी हुई हरि-कथा तीनों भुवनोंको पावन करनेवाली है।' व्रजमें जाकर उद्धवजी ऐसे प्रभावित हुए कि वे सब ज्ञान-गाथा भूल गये।

भगवान्‌के द्वारका पधारनेपर ये भी उनके साथ गये। यदुवंशियोंके मन्त्रिमण्डलमें इनका भी एक प्रधान स्थान था। इनकी भगवान्‌में अनन्य भक्ति थी। जब इन्होंने समझा कि भगवान् अब इस लोककी लीलाका संवरण करना चाहते हैं, तब ये एकान्तमें जाकर बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥

(श्रीमद्भा० ११।६।४३)

'हे भगवन्! हे नाथ! मैं आपके चरणोंसे आधे क्षणके लिये भी अलग होना नहीं चाहता। मुझे भी आप अपने साथ ले चलिये।'

भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! मैं इस लोकसे इस शरीरद्वारा अन्तर्हित होना चाहता हूँ। मेरे अन्तर्हित होते ही यहाँ घोर कलियुग आ जायगा। इसलिये तुम बदरिकाश्रमको चले जाओ और वहाँ तपस्या करो। तुम्हें कलियुगका धर्म नहीं व्यापेगा।'

भगवान्‌की ऐसी ही मर्जी है, यह समझकर उद्धवजी चले तो गये, किंतु उनका मन भगवान्‌की लीलाओंमें ही लगा रहा। जब सब यादव प्रभासक्षेत्रको चले गये तो भगवान्‌की अन्तिम लीलाको देखने विदुरजी भी प्रभासमें पहुँचे। तबतक समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका था। विदुरजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते भगवान्‌के पास पहुँचे। भगवान् सरस्वती नदीके तटपर एक अश्वत्थवृक्षके नीचे विराजमान थे, विदुरजीने रोते-रोते उन्हें प्रणाम किया। दैवयोगसे पराशरके शिष्य मैत्रेयजी भी वहाँ आ गये। दोनोंको भगवान्‌ने इस समस्त जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, प्रलयका ज्ञान कराया और इस अन्तिम ज्ञानको विदुरजीके प्रति उपदेश करनेके लिये भी भगवान् आज्ञा कर गये।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर उद्धवजी बदरिकाश्रमको चले। भगवान् अपने परमधामको पधारे। उद्धवजीके हृदयमें भगवान्‌का वियोग भर रहा था, अतः उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वे खूब रोते थे। किंतु रोना भी किसी हृदयके सामने हो तो हृदय हलका होता है। दैवयोगसे उद्धवजीको विदुरजी मिल गये। विदुरजीने पूछा—'यदुवंशके सब लोग कुशलपूर्वक तो हैं?' यदुकुलका नाम सुनते ही उद्धवजी ढाह बाँधकर रो पड़े और रोते-रोते बोले—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२।७-८)

'कृष्णरूपी सूर्यके अस्त होनेपर, कालरूपी सर्पके ग्रसे जानेपर हे विदुरजी! हमारे कुलकी अब कुशल क्या

पूछते हो? यह पृथ्वी हतभागिनी है और उनमें भी ये यदुवंशी सबसे अधिक भाग्यहीन हैं, जो दिन-रात पासमें रहनेपर भी भगवान्‌को नहीं पहचान सके, जैसे समुद्रमें रहनेवाले जीव चन्द्रमाको नहीं पहचान सकते।'

इसके बाद उद्धवजीने यदुवंशके क्षयकी सब बातें सुनायीं।

उद्धवजी परम भागवत थे, ये भगवान्‌के अभिन्नविग्रह थे। इनके सम्बन्धमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥

(श्रीमद्भा० ३।४।३०-३१)

'मेरे इस लोकसे चले जानेके पश्चात् उद्धव मेरे ज्ञानकी रक्षा करेंगे। उद्धव मुझसे गुणोंमें तनिक भी कम नहीं हैं, अतः वे ही सबको इसका उपदेश करेंगे।'

जिनके लिये भगवान् ऐसा कहते हैं उनके भगवत्प्रेमके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है!

अक्रूरजीका भगवत्प्रेम

देहंभृतामियानर्थो हित्वा दम्भं भियं शुचम्।
सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः॥*

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २७)

भक्ति-शास्त्रमें भक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इस तरह नौ प्रकारकी बतायी गयी है। इसके उदाहरणमें एक-एक भक्तका नाम लेते हैं—जैसे श्रवणमें परीक्षित्, कीर्तनमें वेदव्यास आदि-आदि। इस तरह वन्दन-भक्तोंमें अक्रूरजीको बताया गया है। ये भगवान्के वन्दन-प्रधान भक्त थे। इनका जन्म यदुवंशमें ही हुआ था। ये वसुदेवजीके कुटुम्बके नातेसे भाई लगते थे। इनके पिताका नाम श्वफल्क था। ये कंसके दरबारके एक दरबारी थे। कंसके अत्याचारोंसे पीड़ित होकर बहुत-से यदुवंशी इधर-उधर भाग गये थे, किंतु ये जिस-किसी प्रकार कंसके दरबारमें ही पड़े हुए थे।

जब अनेक उपाय करके भी कंस भगवान्को नहीं मरवा सका, तब उसने एक चाल चली। उसने एक धनुषयज्ञ रचा और उसमें मल्लोंके द्वारा मरवानेके लिये गोकुलसे गोप-ग्वालोंके सहित श्रीकृष्ण-बलरामको बुलवाया। उन्हें आदरपूर्वक लानेके लिये अक्रूरजीको भेजा गया। कंसकी आज्ञाको पाकर अक्रूरजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान्के दर्शनोंके लिये बड़े उत्कण्ठित थे, किसी-न-किसी प्रकार वे भगवान्के दर्शन करना चाहते थे। भगवान्ने स्वतः ही कृपा करके ऐसा संयोग लगा दिया। जीव अपने पुरुषार्थसे प्रभुका दर्शन करना चाहे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। कोटि जन्ममें भी उतनी पवित्रता, वैसी योग्यता जीव नहीं प्राप्त कर सकता कि जिससे वह परात्पर प्रभुके सामने पुरुषार्थके द्वारा पहुँच सके। जब वे ही अहैतुकी कृपा करके दयावश जीवको अपने समीप बुलाना चाहें, तभी वह आ सकता है। प्रभुने कृपा करके घर बैठे ही अक्रूरजीको बुला लिया।

प्रातःकाल मथुरासे रथ लेकर वे नन्दगाँव भगवान्को लेने चले। रास्तेमें अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते जाते थे। सोचते थे, उन पीताम्बरधारी बनवारीको मैं इन्हीं चक्षुओंसे देखूँगा, उनके सुन्दर मुखारविन्दको, घुँघराली काली-काली लटाओंसे युक्त सुकपोलोंको निहारूँगा। वे जब मुझे अपने सुकोमल करकमलोंसे स्पर्श करेंगे, उस समय मेरे समस्त शरीरमें बिजली-सी दौड़ जायगी। वे मुझसे हँस-हँसकर बातें करेंगे। मुझे पास बिठायेंगे। बार-बार प्रेमपूर्वक 'चाचा', 'चाचा' कहेंगे। मेरे लिये वह कितने सुखकी बात होगी। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करते हुए वे वृन्दावनके समीप पहुँचे। वहाँ उन्होंने वज्र, अङ्कुश, यव, ध्वजा आदि चिह्नोंसे विभूषित श्यामसुन्दरके चरणचिह्नोंको देखा। बस,

फिर क्या था। वे उन घनश्यामके चरणोंको देखते ही रथसे कूद पड़े और उनकी वन्दना करके उस धूलिमें लोटने लगे। उन्हें उस धूलिमें लोटनेमें कितना सुख मिल रहा था, यह कहनेकी बात नहीं है। जैसे-तैसे व्रजमें पहुँचे। सर्वप्रथम बलदेवजीके साथ श्यामसुन्दर ही उन्हें मिले। उन्हें छातीसे लगाया, घर ले गये, कुशल पूछी, आतिथ्य किया और सब हाल जाना।

दूसरे दिन रथपर चढ़कर अक्रूरके साथ श्यामसुन्दर और बलराम मथुरा चले। गोपियोंने उनका रथ घेर लिया, बड़ी कठिनतासे आगे बढ़ सके। थोड़ी दूर चलकर यमुना-किनारे अक्रूरजी नित्य-कर्म करने ठहरे। स्नान करनेके लिये ज्यों ही उन्होंने डुबकी लगायी कि भीतर चतुर्भुज श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। घबड़ाकर ऊपर आये तो दोनों भाइयोंको रथपर बैठे देखा। फिर डुबकी लगायी तो पुनः

* प्राणियोंके देह-धारण करनेकी सफलता इसीमें है कि निर्दम्भ, निर्भय और शोकरहित होकर अक्रूरजीके समान भगवद्-चिह्नोंके दर्शन तथा उनके गुणोंके श्रवणादिके द्वारा अहैतुकी भक्ति करे।

वही मूर्ति जलके भीतर दिखायी दी। अक्रूरजीको ज्ञान हो गया कि जलमें, स्थलमें, शून्यमें कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ श्यामसुन्दर विराजमान न हों। भगवान् उन्हें देखकर हँस पड़े। वे भी प्रणाम करके रथपर बैठ गये। मथुरा पहुँचकर भगवान् रथसे उतर पड़े और बोले—'हम अकेले ही पैदल जायँगे।' अक्रूरजीने बहुत प्रार्थना की कि आप रथपर पहले मेरे घर पधारें, तब कहीं अन्यत्र जायँ। भगवान्ने कहा—'आपके घर तो तभी जाऊँगा जब कंसका अन्त हो जायगा।' अक्रूरजी दुःखी मनसे चले गये।

कंसको मारकर भगवान् अक्रूरजीके घर गये। अब अक्रूरजीके आनन्दका क्या ठिकाना! जिनके दर्शनोंके लिये योगीजन हजारों-लाखों वर्ष तपस्या करते हैं, वे स्वतः ही बिना प्रयासके घरपर पधार गये। अक्रूरजीने उनकी विधिवत् पूजा की और कोई आज्ञा चाही। भगवान्ने अक्रूरजीको अपना अन्तरङ्ग सुहृद् समझकर आज्ञा दी कि 'हस्तिनापुरमें जाकर हमारी बूआके लड़के पाण्डवोंका समाचार ले आओ। हमने सुना है, धृतराष्ट्र उन्हें दुःख देता है।' भगवान्की आज्ञा पाकर अक्रूरजी हस्तिनापुर गये और धृतराष्ट्रको सब प्रकारसे समझाकर तथा पाण्डवोंके समाचार लेकर लौट आये।

भगवान् जब मथुरापुरीको त्यागकर द्वारका पधारे, तब अक्रूरजी भी उनके साथ ही गये। ये भगवान्के प्रिय सखा और सच्चे भक्त थे। अन्तमें भगवान्के साथ-ही-साथ ये उनके धामको पधारे।
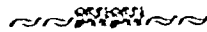
भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीका प्रभु-प्रेम

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
(रा०च०मा० ७।८७।७-८ (क); ७।८७)

'गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजीने अपनी शिक्षा समाप्त होनेपर अपने गुरु श्रीअगस्त्यजीसे अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'आपके चरणोंमें रहकर मैंने विद्या प्राप्त की है। आप कृपापूर्वक कुछ गुरु-दक्षिणा बताइये। मैं आपके चरणोंमें क्या उपस्थित करूँ?'

'मैं तुम्हारी श्रद्धासे प्रसन्न हूँ।' श्रीअगस्त्यजीने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया—'तुम्हें गुरु-दक्षिणा देनेकी आवश्यकता नहीं, मैं तुम्हें स्नेहपूर्वक वैसे ही उऋण कर दे रहा हूँ।' 'नहीं गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजी बोले—'आपने मुझे दुर्लभ विद्यादान दिया है। आप गुरु-दक्षिणाके लिये मुझे कुछ आज्ञा दीजिये।'

'तुम्हें गुरु-दक्षिणा देनेकी आवश्यकता नहीं' अगस्त्यजीने पुनः उत्तर दिया—'मैं तुम्हें ऋणमुक्त कर दे रहा हूँ। तुम सुखपूर्वक चले जाओ।'

'परम पूज्य गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजीने आग्रहपूर्वक पुनः निवेदन किया—'आप कुछ-न-कुछ गुरु-दक्षिणामें अवश्य माँगिये। गुरु-दक्षिणा दिये बिना मुझे संतोष नहीं होगा।'

'अत्यधिक हठ उचित नहीं।' अगस्त्यजीके मनमें कुछ रोष उत्पन्न हो गया। 'पर तुम नहीं मानते और मुझे गुरु-दक्षिणा देना ही चाहते हो तो जगद्वन्द्य परमप्रभु श्रीरामको लाकर मुझसे मिला दो।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने गुरुदेवके चरणोंमें सादर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और वहाँसे चलकर अरण्यमें एक कुटिया बना ली। श्रीसुतीक्ष्णजीकी कुटियाके समीप अन्य कितने ही ऋषि रहते थे। वह स्थान सुतीक्ष्ण-आश्रमके नामसे प्रख्यात था। उक्त आश्रम अत्यन्त मनोरम था। वहाँ प्रत्येक ऋतुके पुष्प और फल सुलभ थे। आश्रम प्रत्येक दृष्टिसे तपस्वियोंके उपयुक्त एवं सुखद था।

श्रीसुतीक्ष्णजीकी भगवान् श्रीराममें अद्भुत रति थी। वे मन, वाणी एवं कर्मसे श्रीराघवेन्द्रके भक्त थे। स्वप्नमें भी किसी अन्य देवताकी आशा नहीं रखते थे। वे निरन्तर श्रीरामके ध्यान एवं उनके भजन-स्मरणमें ही लगे रहते थे। अत्यन्त सरल एवं निश्छल प्रकृतिके श्रीसुतीक्ष्णजी प्रायः श्रीरामके स्मरणमें रोते-रोते बेसुध हो जाते थे। प्रभु-प्रेममें पगे रहनेके कारण उन्हें फल एवं जल ग्रहण करनेका ध्यानतक नहीं रहता था, इस कारण उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। देहमें मांसका नाम नहीं था। केवल अस्थिपञ्जर ही शेष रह गया था। श्रीसुतीक्ष्णमुनिमें नवधा भक्तिके सभी आदर्श उपस्थित हो गये

थे। वे राम-मन्त्रके अनन्य उपासक थे।

'भगवती सीता एवं अनुज लक्ष्मणसहित प्रभु श्रीराम इधर ही आ रहे हैं'—यह संवाद पाते ही सुतीक्ष्णजी उठकर खड़े हो गये और मनमें अनेक मनोरथ करते हुए आतुरतासे दौड़ पड़े। उस समय उनके मनकी बड़ी विचित्र स्थिति

थी। सुतीक्ष्णजीकी भक्ति, उनकी योग्यता, उनकी नम्रता एवं विनय दुर्लभ है। वे कहते हैं—

हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसंग जोग जप जागा। नहिं दृढ़ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(रा० च० मा० ३।१०।४, ६—८)

श्रीसुतीक्ष्णजी प्रभुको प्राप्त करनेकी योग्यताका अपनेमें सर्वथा अभाव देखते हैं। उन्हें अपनेमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, जप, यज्ञ, सत्सङ्ग एवं प्रभु-पाद-पद्मोंमें दृढ़ अनुराग—कुछ भी नहीं दीखता, पर करुणामूर्ति प्रभुके स्वभावकी आशा तथा उसका विश्वास अवश्य है और ये ही भक्तिकी पराकाष्ठाके लक्षण हैं।

'आज संसार-सागरसे मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभुके मुख-कमलका दर्शन कर मेरे नेत्र सफल होंगे, कृतार्थ हो जायँगे।'—अपने इसी भावसे भावित श्रीसुतीक्ष्णजी प्रेममें मग्न हो गये। उस समय उनकी दशा अत्यन्त विचित्र हो गयी थी। वे किस था। उन्हें मार्ग नहीं सूझ रहा था। वे कभी जोरसे श्रीभगवान्‌के परम मङ्गलमय, परम मधुर नामका उच्चारण करने लगते तो कभी सर्वथा मौन हो जाते, जैसे उनकी वाणी ही नहीं है। प्रेमविह्वल श्रीसुतीक्ष्णजी कभी पीछे लौट जाते और कभी अपने आराध्य श्रीरामके गुण गा-गाकर नृत्य करने लगते। वे कभी गाते, कभी रोते और कभी अट्टहास करने लगते। श्रीरामके ध्यानमें तल्लीन होकर वे कभी नाचते तो कभी मौन खड़े हो जाते।

दयासिन्धु, सर्वेश्वर, प्रेममूर्ति प्रभु श्रीराम वृक्षकी ओटसे श्रीसुतीक्ष्णजीकी यह प्रेमपूर्ण स्थिति देख रहे थे। उनकी यह अतिशय प्रीति देखकर प्रभु उनके हृदयमें प्रकट हो गये। महामुनिने अपने हृद्देशमें त्रैलोक्यवन्दित अपने जीवनधन श्रीरामके मधुर मनोहर स्वरूपका दर्शन किया तो

उनकी स्थिति अत्यन्त विचित्र हो गयी। उन्हें रोमाञ्च हो आया। वे मार्गमें ही अचल होकर बैठ गये—

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

(रा०च०मा० ३।१०।१५)

फिर तो प्रभु श्रीराम उनके समीप आ गये। प्रभु श्रीसुतीक्ष्णजीको अनेक प्रकारसे जगाने लगे; किंतु ध्यानजनित अनिर्वचनीय सुखकी समाधिके कारण वे नहीं जगे। सच बात तो यह है कि प्रभु श्रीराम वृक्षकी ओटसे श्रीसुतीक्ष्णजीके अतिशय प्रेमकी स्थिति देखकर तत्काल उनके समीप पहँचकर उन्हें सखी करना चाहते थे; किंतु श्रीसुतीक्ष्णजीके

विरदके रक्षार्थ त्वराके कारण प्रभु उनके हृदयमें प्रकट हो गये थे। फिर श्रीसुतीक्ष्णजीके हृदयकी वह अद्भुत प्रीति अक्षुण्ण बनी रहनेपर वहाँसे हट भी कैसे सकते थे? अतएव लीला-अवतारविग्रह राजकुमारके मधुर रूपको छिपाकर प्रभुने नित्य अवतारी विग्रह शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूपका उन्हें दर्शन कराया। फिर तो श्रीसुतीक्ष्णजी छटपटा

उठे। हृद्देशमें अपने जीवनाराध्य श्रीरामके स्थानपर श्रीविष्णुके* दर्शन कर वे मणिहीन फणिकी भाँति व्याकुल हो गये—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसें। बिकल हीन मनि फनि बर जैसें॥

(रा०च०मा० ३। १०। १९)

जब व्याकुल होकर श्रीसुतीक्ष्णजी जगे तो उनके सम्मुख सीता एवं लक्ष्मणसहित उनके आराध्य त्रैलोक्यमोहन, धनुर्धर श्रीराम खड़े थे। फिर तो—

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥

(रा०च०मा० ३। १०। २१)

और भक्तप्राणधन भगवान् श्रीरामने उन्हें उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। प्रभु श्रीरामसे मिलते हुए सुतीक्ष्णजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, जैसे तमाल-तरुसे कनकवृक्ष मिल रहा हो और मुनि श्रीसुतीक्ष्णजीने खड़े होकर नवनीरदवपु श्रीरामके मुखारविन्दको देखा तो वे चित्रलिखित-से खड़े रह गये। फिर हृदयमें धैर्य धारणकर उन्होंने बार-बार प्रभुके चरणोंमें सिर रखा तथा अपने आश्रममें लाकर प्रभुकी श्रद्धा-भक्तिसे एवं विधिपूर्वक पूजा की।
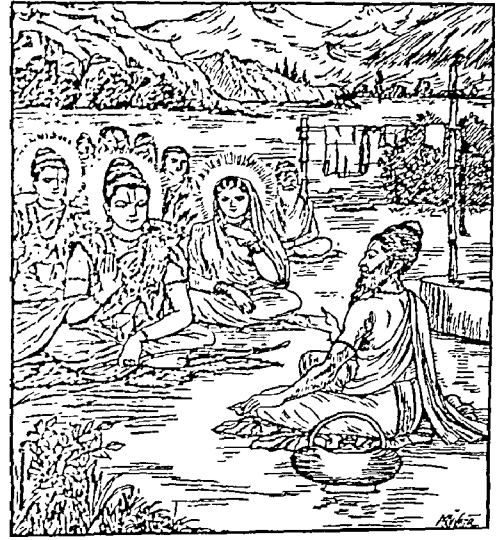
फिर अपनी दीनता एवं अल्पज्ञता तथा प्रभुकी अपार महिमाका संकेत करते हुए श्रीसुतीक्ष्णजीने अत्यन्त विनय-पूर्ण शब्दोंमें श्रीभगवान्‌की स्तुति की। स्तुति करते हुए श्रीसुतीक्ष्णजीने कहा—

जो कोसल पति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(रा०च०मा० ३। ११। २०-२१)

अभी कुछ ही देर पूर्व ध्यानमग्न मुनि तो जगाये नहीं जग रहे थे और अब कितनी चतुराईसे वरकी याचना कर रहे हैं!

इत्येवं स्तुवतस्तस्य रामः सस्मितमब्रवीत्।
मुने जानामि ते चित्तं निर्मलं मदुपासनात्॥
अतोऽहमागतो द्रष्टुं मदृते नान्यसाधनम्।
मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम्।

(अ०रा० ३। २। ३५—३७)

'श्रीसुतीक्ष्णजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे मुसकराकर कहा—'मुने! मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारा चित्त मेरी उपासनासे निर्मल हो गया है और तुम्हारा मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है; इसीलिये मैं तुम्हें देखने

---

* श्रीसुतीक्ष्णजी-जैसे सर्वगुणसम्पन्न भक्तके मनमें अपने इष्टके प्रति अनन्य श्रद्धा एवं भक्ति थी; इस कारण अवतार और अवतारीमें किंचित् भी भेद न मानते हुए भी उन्हें तो अपने परमाराध्य नीलकलेवर श्रीराम ही प्राणप्रिय थे। इसे उन्होंने अपने ही मुखसे स्पष्ट भी कर दिया—

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदयँ निरंतर बासी॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥ (रा०च०मा० ३। ११। १७-१८)

आया हूँ। संसारमें जो लोग मेरे मन्त्रकी उपासना करते हैं और मेरी ही शरणमें रहते हैं तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्य-गति रहते हैं, उन्हें मैं नित्य-प्रति दर्शन देता हूँ।'

श्रीभगवान्‌ने पुनः कहा—'**त्वं ममोपासनादेव विमुक्तोऽसीह सर्वतः**' (अ०रा० ३।२।३८)—तुम केवल मेरी उपासनासे इस जीवितावस्थामें ही सब प्रकार मुक्त हो गये हो।'

फिर अति आतुरताका आनन्द प्राप्त करनेके लिये अपने प्रेमी भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीसे विनोद करते हुए कहा—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥

(रा०च०मा० ३।११।२३)

'हे मुनि! मैं आपपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आपकी जो इच्छा हो, माँगिये। मैं आपको वही दूँगा।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने तो पहले ही श्रीभगवान्‌से वर माँग लिया था, पर श्रीभगवान् और देनेके लिये प्रस्तुत हैं। इससे लगता है कि मेरी माँगमें कहीं-न-कहीं त्रुटि अवश्य रह गयी है। अनन्त ज्ञाननिधि प्रभुसे सर्वथा अल्पज्ञ जीव अपनी बुद्धिके अनुसार ही तो याचना करेगा—यह सोचकर अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये मुनिने बड़ी ही विनम्रतासे निवेदित किया—

मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

(रा०च०मा० ३।११।२४-२५)

श्रीभगवान्‌ने पुनः विनोद किया। श्रीसुतीक्ष्णजीको ध्यान अत्यधिक प्रिय है, पर श्रीभगवान्‌ने अपने वरदानमें ध्यानका स्पर्श भी नहीं किया। वरदान देते हुए प्रभु बोले—

अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥

(रा०च०मा० ३।११।२६)

पर श्रीसुतीक्ष्णजीकी भक्ति अत्यन्त दृढ़ थी। अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये उन्होंने निखिल सृष्टिके स्वामी, अपने परमाराध्य प्रभु श्रीरामसे निवेदन किया—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

(रा०च०मा० ३।११।२७; ३।११)

'हे धनुष-बाणधारी भगवान् श्रीराम! आप भाई श्रीलक्ष्मण और माता जानकीसहित निष्काम (स्थिर) होकर सदा ही मेरे हृदयाकाशमें चन्द्रवत निवास करें।'

प्रसन्नतापूर्वक तत्क्षण कह दिया—'एवमस्तु।' और फिर बोले—

गुरुं ते द्रष्टुमिच्छामि ह्यगस्त्यं मुनिनायकम्।
किञ्चित्कालं तत्र वस्तुं मनो मे त्वरयत्यलम्॥

(अ०रा० ३।२।३९)

'अब मैं तुम्हारे गुरु मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजीसे मिलना चाहता हूँ, मेरा चित्त उनके पास कुछ दिन रहनेके लिये उतावला हो रहा है।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने तुरंत कहा—'प्रभो! आश्रमसे आये मुझे बहुत दिन बीत गये और इस कारण मुझे गुरुजीके दर्शन किये भी अत्यधिक दिन हो गये। अब मैं आपके साथ ही गुरुजीके यहाँ चलूँगा, इसमें आपके लिये संकोचका कोई प्रश्न नहीं है। मैं अपने स्वार्थसे चलना चाहता हूँ—'

बहुत दिवस गुर दरसनु पाएँ। भए मोहि एहिं आश्रम आएँ॥
अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥

(रा०च०मा० ३।१२।२-३)

प्रभुने सुतीक्ष्णजीकी चतुराई समझ ली और उन्होंने मुसकराते हुए उन्हें अपने साथ ले लिया। मार्गमें अपनी भक्तिकी अद्भुत बातें सुनाते हुए प्रभु श्रीराम जब अगस्त्य मुनिके आश्रमके समीप पहुँचे, तब—

तुरत सुतीछन गुर पहिं गयऊ। करि दंडवत कहत अस भयऊ॥
नाथ कोसलाधीस कुमारा। आए मिलन जगत आधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिनु देव जपत हहु जेही॥

(रा०च०मा० ३।१२।६—८)

श्रीसुतीक्ष्णजी तुरंत अपने गुरुके पास पहुँचे और उनके चरणोंमें दण्डवत् करके उन्होंने निवेदन किया—नाथ! आप लक्ष्मण और माता जानकीसहित जिन परम प्रभुका दिन-रात नामजप करते रहते हैं, वे विश्वाधार कोशलकुमार आपसे मिलने पधारे हैं।

सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥

(रा०च०मा० ३।१२।९)

श्रीसुतीक्ष्णजीकी वाणी सुनते ही श्रीअगस्त्यजी तुरंत उठ खड़े हुए और आतुरतासे प्रभुके दर्शनार्थ दौड़ पड़े तथा सीता-अनुजसहित नवघनसुन्दर श्रीरामको देखते ही प्रेम-निमग्न हो गये। उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर आये।

इस प्रकार श्रीसुतीक्ष्णजीने अपनी अनुपम भक्तिसे प्रभु-प्राप्तिके साथ ही अपने गुरुकी माँगी हुई गुरु-दक्षिणा

श्रीमच्छङ्कराचार्यजीका श्रीकृष्णप्रेम

प्रबोधसुधाकर नामक ग्रन्थमें श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने द्विधा भक्ति, भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान और सगुण-निर्गुणकी एकता आदिका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। उसे संक्षेपमें भावार्थसहित यहाँ दिया जा रहा है—

द्विधा भक्ति

चित्ते सत्त्वोत्पत्तौ तडिदिव बोधोदयो भवति। तर्ह्येव स स्थिरः स्याद्यदि चित्तं शुद्धिमुपयाति॥
शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते। वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥
यद्वत्समलादर्शे सुचिरं भस्मादिना शुद्धे। प्रतिफलति वक्त्रमुच्चैः शुद्धे चित्ते तथा ज्ञानम्॥
जानन्तु तत्र बीजं हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्युः। मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे॥
इत्युपनिषत्तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ। क्लेशादक्लेशाद्वा मुक्तिः स्यादेतयोर्मध्ये॥
स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा। प्रारम्भे स्थूला स्यात्सूक्ष्मा तस्याः सकाशाच्च॥
(१६६—१७१)

चित्तमें सत्त्वकी उत्पत्ति होनेपर बिजलीकी तरह बोध हो जाता है और यदि चित्त शुद्ध हो चुका हो तो वह बोध उसी समय स्थिर हो जाय। अन्तरात्मा (चित्त)-की शुद्धि श्रीकृष्णके चरणकमलकी भक्ति बिना नहीं होती। जैसे साबुनसे मिले हुए जलके द्वारा वस्त्र प्रक्षालन किया जाता है, इसी प्रकार भक्तिसे चित्त धुलता है। जैसे मलिन दर्पणको भस्म आदिसे भलीभाँति साफ कर लेनेपर उसमें मुखका प्रतिबिम्ब ठीक पड़ता है, इसी प्रकार ज्ञान भी शुद्ध चित्तमें होता है। जो हरिभक्तिसे ज्ञानी हुए हैं वे उसमें भक्तिको ही बीज समझें, ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त दो ही रूप हैं। यह उपनिषद् है, भगवान्ने दो ही प्रकारके भक्त बतलाये हैं। उन दोनोंमेंसे एकको मुक्ति क्लेशसे मिलती है, दूसरेको बिना ही क्लेशके मिल जाती है। हरिभक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—स्थूल और सूक्ष्म। प्रारम्भमें स्थूल होती है, फिर उसीसे सूक्ष्म हो जाती है॥ १६६—१७१॥

स्वाश्रमधर्माचरणं कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्। विविधोपचारकरणैर्हरिदासैः सङ्गमः शश्वत्॥
कृष्णकथासंश्रवणे महोत्सवः सत्यवादश्च। परयुवतौ द्रविणे वा परापवादे पराङ्मुखता॥
ग्राम्यकथासूद्वेगः सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम्। यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता॥
एवं कुर्वति भक्तिं कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना। समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति॥
स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुतायां हरेर्मूर्तौ। मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम्॥
सत्यं समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम्। अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात्॥
(१७२—१७७)

अपने वर्णाश्रमधर्मका आचरण, अनेक उपचारोंसे नित्य श्रीकृष्णमूर्तिका पूजनोत्सव, सदा हरिदासोंका सङ्ग, श्रीकृष्णके कथाश्रवणमें महोत्सव, सत्यभाषण, परस्त्री, परधन और परनिन्दासे पराङ्मुखता; ग्राम्य कथामें (विषयी स्त्री-पुरुषोंकी व्यर्थ चर्चामें) उद्वेग, तीर्थगमनमें प्रीति, यदुपति श्रीकृष्णकी कथाका वियोग होनेपर यह चिन्ता कि जीवनका इतना समय व्यर्थ गया। इन साधनोंसे भक्ति करनेवाले पुरुषमें श्रीकृष्णकथाकी कृपासे वह सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके भीतर श्रीहरि प्रवेश कर जाते हैं। स्मृति और सत्पुराणोंके वचनोंसे श्रीहरिकी जैसी मूर्ति सुनी है, उसमें मानस-पूजाका अभ्यास, निर्जन स्थानके निवासमें प्रीति, सत्य, सब जीवोंमें श्रीकृष्णकी स्थितिका ज्ञान, भूतसमूहमें अद्रोह—इन साधनोंसे समस्त भूतोंमें कृपा उत्पन्न हो जाती है॥ १७२—१७७॥

प्रमितयदृच्छालाभे सन्तुष्टिर्दारपुत्रादौ। ममताशून्यत्वमतो निरहङ्कारत्वमक्रोधः॥
मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दायां स्तुतौ समता। सुखदुःखशीतोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम्॥
निद्राहारविहारेष्वनादरः सङ्गराहित्यम्। वचने चानवकाशः कृष्णस्मरणेन शाश्वती शान्तिः॥

केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा। आनन्दाविर्भावो युगपत्स्यादष्टसात्त्विकोद्रेकः॥
तस्मिन्ननुभवति मनः प्रगृह्यमाणं परमात्मसुखम्। स्थिरतां याते तस्मिन् याति मदोन्मत्तदन्तिदशाम्॥
जन्तुषु भगवद्भावं भगवति भूतानि पश्यति क्रमशः। एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्यः स्यात्॥

(१७८—१८३)

थोड़ेसे यदृच्छा लाभमें संतोष, स्त्री-पुत्रादिमें ममताका अभाव, निरहंकारता, अक्रोध, मृदुभाषण, प्रसन्नता, अपनी निन्दा और स्तुतिमें समभाव, सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंमें सहनशीलता, विपत्तिमें निर्भयता, निद्रा-आहार-विहार आदिमें अनादर, आसक्तिहीनता, व्यर्थ वचन बोलनेमें अनवकाश (समय न मिलना), श्रीकृष्णके स्मरणसे पूर्ण शान्ति, किसी पुरुषने श्रीहरिका गीत गाया हो या मुरली बजायी हो तो उसे सुनते ही तत्क्षण आनन्दका आविर्भाव और सात्त्विक हर्षका उल्लास। ऐसे अनुभवसे मन जब परमात्म-सुखको ग्रहण करके स्थिर हो जाता है, तब (प्रेमसे) उसकी दशा मदमत्त गजराजकी-सी हो जाती है, वह सब जीवोंमें भगवान्‌के भावको और क्रमसे भगवान्‌में सब जीवोंको देखता है, ऐसी दशा हो जानेपर ही वह श्रेष्ठ हरिदास होता है॥ १७८—१८३॥

ध्यानकी विधि

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये। कल्पद्रुमतलभूमौ चरणं चरणोपरि स्थाप्य॥
तिष्ठन्तं घननीलं स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्। पीताम्बरपरिधानं चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥
आकर्णपूर्णनेत्रं कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्। मन्दस्मितमुखकमलं सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्तं स्वलंकारान्। गलविलुलितवनमालं स्वतेजसापास्तकलिकालम्॥
गुञ्जारवालिकलितं गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि। भुञ्जानं सहगोपैः कुञ्जान्तरवर्तिनं हरिं स्मरत॥
मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवितं परानन्दम्। मन्दाकिनीयुतपदं नमत महानन्ददं महापुरुषम्॥
सुरभीकृतदिग्वलयं सुरभिशतैरावृतं सदा परितः। सुरभीतिक्षपणमहासुरभीमं यादवं नमत॥
कन्दर्पकोटिसुभगं वाञ्छितफलदं दयार्णवं कृष्णम्। त्यक्त्वा कमन्यविषयं नेत्रयुगं द्रष्टुमुत्सहते॥
पुण्यतमामतिसुरसां मनोऽभिरामां हरेः कथां त्यक्त्वा। श्रोतुं श्रवणद्वन्द्वं ग्राम्यं कथमादरं भवति॥
दौर्भाग्यमिन्द्रियाणां कृष्णे विषये हि शाश्वतिके। क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु॥

(१८४—१९३)

'यमुनातटके निकट स्थित वृन्दावनके अति रमणीय किसी काननमें, कल्पवृक्षकी तलभूमिमें चरणपर चरण रखकर बैठे हुए मेघश्याम, जो अपने तेजसे विश्वको प्रकाशित कर रहे हैं, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, चन्दन-कर्पूरसे जिनका शरीर लिप्त हो रहा है, जिनके नेत्र कानोंतक पहुँचे हुए हैं, जिन्होंने कानोंमें कुण्डल धारण किये हैं, जिनका मुखकमल मन्द हाससे युक्त है, जो कौस्तुभमणिसे युक्त सुन्दर हार पहने हुए हैं, जो अपने प्रकाशसे कङ्कण, अँगूठी आदि अलंकारोंको शोभित कर रहे हैं, वनमाला जिनके गलेमें लटक रही है, अपने तेजसे जिन्होंने कलिकालका निरास कर दिया है, गुञ्जापुञ्जसे युक्त सिरपर गुञ्जा और भ्रमरोंके शब्द हो रहे हैं, ऐसे किसी कुञ्जके अंदर बैठकर गोपोंके साथ भोजन करते हुए श्रीहरिका स्मरण सेवित हैं, गङ्गाजी जिनके चरणकमलमें स्थित हैं, जो महान् आनन्दके दाता हैं, ऐसे परमानन्दस्वरूप महापुरुषको नमस्कार करो। दसों दिशाओंको जिन्होंने सुगन्धित कर दिया है, सुरभि-सदृश सैकड़ों गायोंने जिनको चारों ओरसे घेर रखा है, देवताओंके भयको नाश करनेके लिये जो भयानक महासुररूप धारण करनेवाले हैं, उन यादवको नमस्कार करो। जो करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर हैं, जो वाञ्छित फलके दाता हैं, ऐसे दयासमुद्र श्रीकृष्णको छोड़कर ये नेत्रयुगल और किस विषयके दर्शनका उत्साह करें। अति पवित्र, अति सुन्दर, रसवती, मनोरम श्रीकृष्णकथाको छोड़कर ये कर्णयुगल संसारी पुरुषोंकी चर्चा सुननेके लिये कैसे आदर करें। सदा विद्यमान श्रीकृष्णरूपी विषयके होते हुए भी पापके साधन क्षणिक अन्य विषयोंमें प्रीति करना

सगुण-निर्गुणकी एकता

श्रुतिभिर्महापुराणैः सगुणगुणातीतयोरैक्यम्। यत्प्रोक्तं गूढतया तदहं वक्ष्येऽतिविशदार्थम्॥
भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः। प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥
ननु सगुणो दृश्यतनुस्तथैकदेशाधिवासश्च। स कथं भवेत्परात्मा प्राकृतवद्रागरोषयुतः॥
इतरे दृश्यपदार्था लक्ष्यन्तेऽनेन चक्षुषा सर्वे। भगवाननया दृष्ट्या न लक्ष्यते ज्ञानदृग्गम्यः॥
यद्विश्वरूपदर्शनसमये पार्थाय दत्तवान् भगवान्। दिव्यं चक्षुस्तस्माददृश्यता युज्यते नृहरौ॥
साक्षाद्यथैकदेशे वर्तुलमुपलभ्यते रवेर्बिम्बम्। विश्वं प्रकाशयति तत्सर्वैः सर्वत्र दृश्यते युगपत्॥
यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः। सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥
एको भगवान् रेमे युगपद्गोपीष्वनेकासु। अथवा विदेहजनकश्रुतदेवभूदेवयोर्हरिर्युगपत्॥
अथवा कृष्णाकारां स्वचमूं दुर्योधनोऽपश्यत्। तस्माद्व्यापक आत्मा भगवान् हरिरीश्वरः कृष्णः॥
वक्षसि यदा जघान श्रीवत्सः श्रीपतेः स किं द्वेष्यः। भक्तानामसुराणामन्येषां वा फलं सदृशम्॥
तस्मान्न कोऽपि शत्रुर्नो मित्रं नाप्युदासीनः। नृहरिः सन्मार्गस्थः सफलः शाखीव यदुनाथः॥
लोहशलाकानिवहैः स्पर्शाश्मनि भिद्यमानेऽपि। स्वर्णत्वमेति लौहं द्वेषादपि विद्विषां तथा प्राप्तिः॥

(१९४—२०५)

श्रुतियों और महापुराणोंने जो सगुण-निर्गुणकी एकता गुप्तरूपसे कही है मैं उसे स्पष्ट करके बतलाऊँगा। ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द प्रकृतिसे परे परमात्मा जो सर्वभूतोंका अन्तर्यामी है, यह यदुकुलतिलक (श्रीकृष्ण) वही है। (यदि ऐसा कहा जाय कि) यह कृष्ण तो सगुण है, इसका शरीर दृश्य है, एक स्थानमें रहनेवाला है और साधारण पुरुषोंकी तरह राग-द्वेषसे युक्त है, यह परमात्मा कैसे हो सकता है? अन्य दृश्य पदार्थ इस नेत्रसे पहचाने जाते हैं, भगवान् इस नेत्रसे नहीं पहचाना जाता यह ज्ञानदृष्टिका विषय है। विश्वरूप दर्शनके समय भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिया था, इसलिये नृहरिमें अदृश्यता युक्त ही है। गोलाकार सूर्यका मण्डल साक्षात् एकदेशमें देखा जाता है, पर (वह) समस्त विश्वका प्रकाश करता है और सब देशोंके निवासी सब पुरुष एक ही कालमें (उसे) अपने सन्मुख देखते हैं। यद्यपि साकार यदुनाथ एकदेशी नजर आता है, तथापि यह सर्वव्यापक सर्वात्मा सच्चिदानन्द ही है। एक ही भगवान्ने एक ही कालमें अनेक गोपियोंमें रमण किया अथवा विदेह जनक और श्रुतदेव ब्राह्मणके घरमें एक ही कालमें हरिने प्रवेश किया अथवा दुर्योधनने अपनी समस्त सेनाको कृष्णाकार देखा, इसलिये कृष्ण व्यापक आत्मा भगवान् हरि ईश्वर ही है। वक्षःस्थलका आघात श्रीवत्स क्या हरिका द्वेष्य है। भक्तोंको (तथा) अन्य असुरोंको फल सदृश ही मिला। इसलिये कोई भी उसका शत्रु, मित्र या उदासीन नहीं है, नृहरि यदुनाथ शुभ मार्गमें स्थित फले हुए वृक्षके सदृश है। लौहशलाकाओंसे पारसके तोड़नेपर भी (वह) लोहा (जिसकी शलाकाएँ बनी होती हैं) सोना हो जाता है, उसी प्रकार द्वेष करनेसे भी शत्रुओंको (उसकी) प्राप्ति हुई॥ १९४—२०५॥

नन्वात्मनः सकाशादुत्पन्ना जीवसन्ततिश्चेयम्। जगतः प्रियतर आत्मा तत्प्रकृते नैव सम्भवति॥
वत्साहरणावसरे पृथग्वयोरूपवासनाभूषान्। हरिरजमोहं कर्तुं सवत्सगोपान् विनिर्ममे स्वस्मात्॥
अग्नेर्यथा स्फुलिङ्गाः क्षुद्रास्तु व्युच्चरन्तीति। श्रुत्यर्थं दर्शयितुं स्वतनोरतनोत्स जीवसन्दोहम्॥
यमुनातीरनिकुञ्जे कदाचिदपि वत्सकांश्च चारयति। कृष्णो तथार्यगोपेषु च वरगोष्ठेषु चारयत्स्वारात्॥

(२०६—२०९)

यदि कहा जाय कि आत्मासे जीवसमूहोंकी उत्पत्ति हुई है, सारे जगत्को अपना आत्मा अत्यन्त प्रिय है तो यह बात कृष्णमें नहीं घटती। वत्सहरणके समय ब्रह्माको मोहित करनेके लिये पृथक्-पृथक् अवस्था, रूप, वस्त्र और भूषणोंवाले वत्स और गोप कृष्णने अपनेहीसे बनाये थे। अग्निसे जैसे छोटे-छोटे चिनगारे निकलते हैं, वैसे ही

परमात्मासे सब जीव निकलते हैं। इस श्रुतिका अर्थ दिखलानेके लिये कृष्णने अपने ही शरीरसे तो जीवोंका समूह रचा था। यमुनाके तीरपर कुञ्जमें कृष्ण बछड़े चरा रहे थे और दूर गोष्ठोंमें वृद्ध गोप गौवोंको चरा रहे थे॥ २०६—२०९॥

वत्सं निरीक्ष्य दूराद्गावः स्नेहेन सम्भ्रान्ताः। तदभिमुखं धावन्त्यः प्रययुर्गोपैश्च दुर्वाराः॥
प्रस्रवभरेण भूयः स्रुतस्तनाः प्राप्यपूर्ववद्वत्सान्। पृथुरसनया लिहन्त्यस्तर्णकवत्यः प्रपाययन्प्रमुदा॥
गोपा अपि निजबालाङ्कगृहुर्मूर्धानमाघ्राय। इत्थमलौकिकलाभस्तेषां तत्र क्षणं ववृधे॥
गोपा वत्साश्चान्ये पूर्वं कृष्णात्मका ह्यभवन्। तेनात्मनः प्रियत्वं दर्शितमेतेषु कृष्णेन॥
प्रेयः पुत्राद्वित्तात्प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मात्। अन्तरतरं यदात्मेत्युपनिषदः सत्यताभिहिता॥

(२१०—२१४)

दूरसे वत्सोंको देख, स्नेहविवश होकर गौएँ भागकर उनके पास आयीं, गोप हटा न सके। दूधके भारसे स्तन बहने लगे, पहले वत्सोंके पास जाकर लम्बी जीभोंसे चाटती हुई हालके ब्याने—बच्चेवाली गौओंने भी पहलेकी तरह प्रेमसे वत्सोंको दूध पिलाया। गोपोंने भी मुख चूमते हुए अपने-अपने बालकोंको गोदमें ले लिया। इस प्रकार उस क्षणमें उनको अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ। वे सब बालक और वत्स कृष्णरूप ही तो थे, इसलिये कृष्णने इनमें अपनी प्रियतरता दिखा दी। यह अन्तरतर आत्मा पुत्रसे, धनसे और सारे जगत्‌से अति प्रिय है। इस उपनिषद्‌की सत्यता कृष्णने बतला दी॥ २१०—२१४॥

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगतः सन्नीलमेघः सतामौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति।
विज्ञानामृतमद्भुतं निजवचो धाराभिरारादिदं चेतश्चातक चेन्न वाञ्छति मृषा क्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्॥
चेतश्चञ्चलतां विहाय पुरतः संधाय कोटिद्वयं तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यतां युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम्॥

नित्यानन्दरूपी अमृतके समुद्रसे निकलता हुआ सत्पुरुषोंकी उत्कण्ठारूपी प्रबल वायुके वेगसे उड़ाया हुआ नीलमेघ तेरे समीप ही अपने वचनरूपी धाराओंसे अद्भुत ज्ञानरूपी अमृत (श्रीगीता)-की वर्षा कर रहा है। रे चित्त चातक! क्यों नहीं पीता? क्या तुझे किसीने पकड़ लिया है या तू सोया हुआ है? रे चित्त! चञ्चलताको त्यागकर अपने सामने तराजूके दोनों पलड़े रख और विचारकर कि दोनोंके बीचमें विश्राम और हित किसमें है? युक्ति और अनुभवसे जिसमें परमानन्द मिले, उसीका सेवन कर!

पुत्रान्पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धनं भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नालं समुत्कण्ठया।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैरं यतो निर्भयम्॥
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिनं किञ्चित्फलं स्वेप्सितं किञ्चित्स्वर्गमथापवर्गमपरैर्योगादियज्ञादिभिः।
अस्माकं यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिनां किं लोकेन दमेन किं नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, धन, अन्य धन-भोज्यादि पदार्थोंमें न्यूनाधिक भाव होनेसे कभी भी इच्छा शान्त नहीं होती। अनन्त घनानन्दामृतसमुद्र विभु यदुनायक कृष्ण जब चित्तमें प्रकट होकर इच्छापूर्वक विहार करता है, तब यह बात नहीं रहती (इच्छा शान्त हो जाती है) और चित्त निर्भय हो जाता है। कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करते हैं। दूसरे कुछ लोग यज्ञादिसे स्वर्ग और योगादिसे मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं, हमें तो यदुनन्दनके चरणयुगलके ध्यानमें सावधान रहनेकी इच्छा है। हमें लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष)-से क्या प्रयोजन!

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्रीअच्युतमुनिजी महाराज)*

---
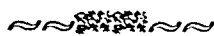
* पूर्वकालमें अच्युतमुनिजी एक उच्चकोटिके विरक्त संत थे, जो काशीमें गङ्गातटपर निवास करते थे। इनके परम भक्त श्रीगौरीशंकरजी गोइनकाने 'अच्युत-ग्रन्थमाला' के नामसे विभिन्न महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका प्रकाशन भी कराया था।

कितने भक्तवत्सल हैं, भक्तोंकी प्रेममयी भावनासे कैसे बँधे हैं! फिर तो वे वैकुण्ठसे नि:संकोच अम्बरीषके पास पहुँचे, क्षमा माँगी। तब राजाने भगवान् श्रीसुदर्शनकी स्तुति की—हे चक्रराज! आप स्वयं अग्नि, सोम, सूर्य आदि समस्त तेजोमय देवोंके भी तेज:स्वरूप हैं। आपका अमित प्रभाव है। इन महर्षिका मङ्गल हो। आप शान्त हो जायँ। इस प्रकार अनेक प्रार्थना करनेपर सुदर्शनजी शान्तरूपमें दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये।

वे ही चक्रराज श्रीसुदर्शनजी उपर्युक्त भगवदाज्ञा शिरोधार्य करके जब तेजोराशिके रूपमें भूतलपर अवतीर्ण हुए, उस समय सर्वत्र चारों ओर दिव्य मङ्गलमय प्रकाश फैल गया। दक्षिण भारतमें गोदावरी-तटपर वैदूर्यपत्तन (मूँगी-पैठण) स्थानमें महर्षि अरुण अपनी पत्नी जयन्तीके साथ तपश्चर्या कर रहे थे, उत्तम संतानकी कामना थी। भगवत्प्रेरणासे सुदर्शनजी उन्हीं ऋषि-दम्पतिके पुत्ररूपमें प्रकट हुए। महर्षिने सभी शुभ लक्षण देखकर बालकका नाम नियमानन्द रखा। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायकी परम्परागत मान्यता है कि द्वापरान्तमें युधिष्ठिर संवत् ६ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको सायंकाल इनका जन्म हुआ। वर्तमानमें इसी दिन इनकी जयन्ती मनायी जाती है। भविष्यपुराणमें भगवान् श्रीवेदव्यासने निर्देश किया है—

सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो जनिष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानिं हरिष्यति॥

अर्थात् आयुधप्रवर चक्रराज सुदर्शन भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे द्वापरान्तमें पृथिवीपर जन्म धारण करेंगे और निम्बादित्य (निम्बार्क) नामसे प्रख्यात होकर सनातन वैदिक धर्म, वैष्णव-सम्प्रदाय-परम्पराकी शिथिलताको दूर कर प्राणिमात्रका कल्याण करेंगे।

भगवान् सुदर्शनको पुत्ररूपमें प्राप्तकर महर्षि अरुण और माता जयन्तीके हृदयमें अद्भुत अनुराग एवं प्रेमलक्षणा भक्तिका आविर्भाव हुआ, जो भगवत्कृपैकलभ्य है। अमित प्रतिभासम्पन्न श्रीनियमानन्दजी (निम्बार्काचार्य) अल्पावस्थामें ही अनन्त दिव्य गुणोंसे युक्त होकर शोभायमान रहने लगे। जिनके दर्शन देवताओंको भी दुर्लभ हैं, ऐसे सुदर्शन प्रभुने कुछ वर्ष परम पावन पितृ-सदन अरुणाश्रममें निवास किया।

एक समय व्रजक्षेत्रसे तीर्थयात्रा करते हुए कुछ संत-महात्मा अरुणाश्रम पहुँचे। महर्षिने उनका आतिथ्य किया। सुनकर श्रीनियमानन्दजीको भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका स्मरण हो आया। प्रभुके नाम-रूप-लीला-धामकी साक्षात् अनुभूति एवं अगाध रूपमें भगवत्प्रेम जाग्रत् हुआ। श्रीहरिकी जन्मभूमि तथा लीला-विहारस्थली मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, यमुना-पुलिन आदिके दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा बढ़ी। अब एक क्षणका विलम्ब भी असह्य होने लगा। अत: वे माता-पितासहित व्रजधाम पधारे। वहाँपर यमुना-पुलिन, वृन्दावन, गोवर्धन, गोकुल आदि व्रजधामके अङ्गभूत स्थलोंका अवलोकन कर अलौकिक प्रेमानन्दसे परिप्लुत होकर उनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहने लगी और श्रीनियमानन्द (निम्बार्काचार्य) पराभक्ति-पयोधिमें अवगाहन करने लगे।

जो स्वयं अगाध भगवत्प्रेममें निमग्न होगा वही इतर सांसारिक प्राणीको अधिकारानुसार भगवत्प्रेम प्रदान कर सकता है। जैसे पूर्वकालमें भगवत्पार्षद उद्धवजीके व्रजमें पहुँचनेपर समस्त व्रजवासियोंके हृदयमें असीम प्रेमभाव उमड़ पड़ा था, उसी प्रकार सुदर्शनावतार श्रीनियमानन्दके व्रजमें पहुँचनेपर सबमें अपार भगवत्प्रेम प्रकट हुआ। अपने मनोमन्दिरमें ध्यानपरायण हो उन्होंने निकुञ्जलीलाविहारी श्रीराधा-कृष्णकी दिव्य छविको धारण कर लिया। इस प्रकार ध्यानावस्थित अवस्थामें आचार्य श्रीनियमानन्द (श्रीनिम्बार्क)-को सम्पूर्ण व्रजमण्डल प्रभुके बाल-क्रीडा-प्रसङ्गके वत्सहरण-लीलामें जैसे ब्रह्माजीको व्रजरज, लतावृक्ष, गोवत्स, गोपवृन्द, गिरिराज आदि सभी अच्युतमय दिखायी देते थे, वैसा ही दिखायी देने लगा। आचार्यप्रवरने जब भावजगत्में प्रवेश किया, तब बाह्य लौकिक ज्ञान विलुप्त हो गया। स्वयं वे भगवद्धामको प्राप्त होकर सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें देखने लगे। बहुत देरतक इसी प्रकार भावजगत्में ही वे विराजमान रहे। यह भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठाका स्वरूप है। प्रभुने विचार किया यदि इसी प्रकार प्रेमोद्रेकसे ये भावजगत्में ही निमग्न रहेंगे तो सुदर्शनके अवतारका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, अत: इनको प्रकृतिस्थ करना चाहिये; ऐसा विचार कर उन्होंने विश्वमोहिनी वैष्णवी मायाका विस्तार किया। अब तो आचार्यप्रवर भावजगत्से उतरकर प्रकृतिस्थ हो गये। जैसे ब्रह्माजीके सामनेसे वह सब दृश्य लुप्त हो जानेपर वे प्रकृतिस्थ हो गये थे। तदनन्तर श्रीनियमानन्दजीने गिरिराज गोवर्धनकी उपत्यका (तलहटी)-में तपश्चर्या आरम्भ की।

है। यहींपर एक समय सायंकाल पितामह ब्रह्माजी यतिवेषमें प्रवेशद्वारपर पहुँचे। नियमानन्दजीने उन्हें सादर आश्रमके भीतर पधराया। आतिथ्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की गयी, पर यतिवेषधारी ब्रह्माजीने सूर्यास्तके बाद भगवत्प्रसाद-ग्रहण न करनेका अपना नियम बताया। इसपर अरुणनन्दनने अपने दिव्य प्रभावसे निम्ब-वृक्षमें उन्हें अर्कबिम्बका दर्शन कराया।

चारों ओर सूर्यप्रकाश देखकर यतिराजने प्रसाद ग्रहण किया। तत्पश्चात् तुरंत अँधेरी रात दिखी। यह देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि ये ही सुदर्शनचक्रावतार हैं। यतिराजने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया। यह व्यवस्था दी—**'निम्बे अर्को दर्शितो येन'** अर्थात् निम्ब-वृक्षपर अर्कबिम्ब स्थापित करनेसे आपका नाम 'निम्बार्क' होगा। आपद्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायको 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' के नामसे जाना जायगा। यह कहकर ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये। श्रीब्रह्मदेवके स्वधामगमनके पश्चात् श्रीनिम्बार्कप्रभु भक्तिमार्ग और भगवत्प्रेमके स्वरूपको लोकमें प्रवर्तित करनेहेतु आत्म-चिन्तन एवं शास्त्रानुशीलन करते हुए तपश्चर्यामें लीन हुए। भगवत्प्रेरणासे भक्तिसूत्रके प्रणेता देवर्षि श्रीनारदजीका जब आगमन हुआ, तब आश्रम परम आनन्दमय वातावरणसे व्याप्त हुआ। अर्चन-वन्दनके साथ श्रीनिम्बार्क मुनीन्द्रने विनम्रभावसे देवर्षि नारदके चरण-सांनिध्यमें उपस्थित होकर प्रपत्तिपूर्वक उनसे मन्त्रोपदेश ग्रहण किया। मन्त्र-दीक्षाके अनन्तर देवर्षिने निम्बार्कको सम्बोधित करते हुए कहा—हे चक्रराज! हे अरुणनन्दन! आप स्वयं अपनी ज्ञान-ज्योतिके प्रकाशसे जगत्के अज्ञानान्धकारको दूर करनेमें समर्थ हैं। फिर भी रहस्यकी बात बताता हूँ—

ज्ञानिनामपि मनो विचाल्यते
मायया भगवतः प्रसह्य यत्।
निर्मलं तदपि दूषितं पुन-
र्जायते सलिलवत्कुसङ्गतः॥
केशवोऽपि भगवान् भुवं गतो
लीलया स कुरुते मनुष्यवत्।
एवमेव च भवान् प्रवर्तयन्
सम्प्रदायसरणिं व्रजिष्यति॥

श्रीहरिकी दुरत्यय माया ज्ञानियोंके चित्तको भी हठात् विचलितकर संसारकी ओर प्रेरित कर देती है। जिस प्रकार आकाशसे गिरता हुआ निर्मल जल भूमिका स्पर्श पाते ही मटमैला हो जाता है, उसी प्रकार कुसङ्गके प्रभावसे निर्मल मन भी दूषित हो जाता है। जिसका मन श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें लगा हुआ है, वह लोकमें सामान्यरूपसे विचरण करता हुआ मायाके बन्धनसे दूर रहता है। ब्रह्म, रुद्र आदि देवोंको भी उपदेश देनेवाले सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वेश्वर श्रीकृष्ण लीलामय वपु धारणकर जब पृथ्वीपर आते हैं तो वे भी सामान्य पुरुषकी भाँति सब कार्य करते हैं, किंतु अपनी स्वतन्त्र सत्ताके कारण किसीके अधीन नहीं रहते, उसी प्रकार आप भी अनुग्रह-विग्रह धारणकर भूतलपर आये हैं, अतः सत्सम्प्रदाय-सिद्धान्त एवं भक्ति-मार्गको प्रकाशित करते हुए यहाँ विचरण करेंगे। स्वयं मुक्तभावसे रहकर आप जगत्को प्रेमलक्षणा भक्ति तथा मुक्तिका मार्ग दिखायेंगे।

गुरुदेव श्रीदेवर्षिवर्यका आदेश-उपदेश शिरोधार्य कर आपने भगवत्प्रेमको दर्शानेवाले सद्ग्रन्थों, स्तोत्रोंकी रचनाके साथ युगलस्वरूप श्रीराधाकृष्णकी वृन्दावन-निकुञ्जोपासनाका प्रवर्तन किया जो प्रेमैकपुञ्ज मधुरातिमधुर है। आपके सूत्रात्मक सकलशास्त्रसारभूत भाष्य और मौलिक सद्ग्रन्थोंका आश्रय लेकर शिष्य-प्रशिष्य परम्परागत परवर्ती पूर्वाचार्यवर्योंने भगवत्प्रेम और भक्तिके स्वरूपका प्रभूत रूपमें प्रख्यापन किया है।

श्रीनिम्बार्क भगवान्की इसी प्रेमभावनाका उदात्त स्वरूप आचार्य-परम्परा-स्तोत्रमें अभिव्यक्त हुआ है—

यत्सम्प्रदायाश्रयणान्नराणां
श्रीराधिकाकृष्णपदारविन्दे ।
प्रेमागरीयान् सहसाऽभ्युदैति
निम्बार्कमेतं शरणं प्रपद्ये॥

जिन आद्याचार्य भगवन्निम्बार्कद्वारा लोकमें प्रवर्तित सम्प्रदाय-परम्पराका आश्रय लेनेसे नित्य किशोर श्यामाश्याम श्रीराधाकृष्णके युगल चरणारविन्दमें परमोत्कृष्ट प्रेमभाव सहसा उदित होता है, वह उन अनुग्रहैकविग्रह आचार्यवर्य श्रीनिम्बार्ककी शरणमें प्रपन्नभावसे प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेक भावोंसे सुदर्शनचक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्यका भगवत्प्रेम सदा स्मरणीय एवं अनुकरणीय है।

(प्राचार्य श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय, निम्बार्कभूषण, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य)
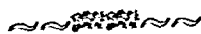
आचार्य रामानुज और उनका प्रेम-निवेदन

वैष्णवाचार्योंमें श्रीरामानुजाचार्यजीका विशिष्ट स्थान है। आप भगवान् श्रीसंकर्षणके अवतार माने जाते हैं। आपका भक्तिसिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' के नामसे प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी परम्परामें सर्वप्रथम आचार्य नारायण माने जाते हैं। उन्होंने निजस्वरूपा शक्ति श्रीमहालक्ष्मीजीको श्रीनारायणमन्त्रका उपदेश दिया, उनसे यह उपदेश विष्वक्सेनजीको प्राप्त हुआ और आगे नाथमुनि आदिकी परम्परामें वही उपदेश श्रीयामुनाचार्यजीको प्राप्त हुआ। ये ही यामुनाचार्यजी श्रीरामानुजके परम गुरु थे। इस प्रकार इस विशिष्टाद्वैतभक्तिसिद्धान्तमें श्रीनाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य—तीन आचार्य विशेष प्रसिद्ध हुए, जो 'मुनित्रय' कहलाते हैं। यामुनाचार्यजी आलवन्दार भी कहलाते हैं। उनका 'आलवन्दारस्तोत्र' प्रपत्तिमार्गका अनूठा स्तोत्र है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये सारे भारतकी यात्रा की और गीता तथा ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखा। वेदान्तसूत्रोंपर इनका भाष्य 'श्रीभाष्य'के नामसे प्रसिद्ध है और इनका सम्प्रदाय भी श्रीसम्प्रदाय कहलाता है; क्योंकि इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका श्रीमहालक्ष्मीजी मानी जाती हैं।

श्रीरामानुजके सिद्धान्तके अनुसार भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, वे ही प्रत्येक शरीरमें साक्षीरूपमें विद्यमान हैं। वे जगत्के नियन्ता, शेषी (अवयवी) एवं स्वामी हैं और जीव उनका नियम्य, शेष तथा सेवक है। अपने व्यष्टि अहंकारको सर्वथा हटाकर भगवान्की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। भगवान् लक्ष्मी-नारायण जगत्के माता-पिता और जीव उनकी संतान हैं। माता-पिताका प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त करना ही संतानका धर्म है। वाणीसे भगवान् नारायणके नामका ही उच्चारण करना चाहिये और मन-वाणी एवं शरीरसे उनकी सेवा करनी चाहिये। श्री-भूलीला महादेवियोंके सहित भगवान् नारायणकी सेवा प्राप्त होना ही परम पुरुषार्थ है। भगवान्के इस दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। भगवान् अनन्त गुणगणावलीसे समन्वित हैं। वे सृष्टिकर्ता, कर्मफलप्रदाता, नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्गुणोंके महासागर हैं।

ईश्वरका स्वरूप पाँच प्रकारका है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। श्रीभगवान् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री-भूलीलासहित समस्त दिव्याभूषणोंसे भूषित हैं। वे भक्तोंके प्रेमानन्दमें सदा निमग्न रहते हैं। आचार्यके अनुसार न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। अनुकूलताका संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान्में सम्पूर्ण आत्मसमर्पण—सब प्रकारसे केवल भगवान्के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है। अतः सर्वस्व निवेदनरूप शरणागत भक्ति ही भगवान्की प्रसन्नताका प्रधान साधन है। शरणागत भक्तको करुणामय भगवान् अपना विशिष्ट प्रेम प्रदानकर कृतार्थ कर देते हैं। आचार्य रामानुजने दैन्यभावकी प्रतिष्ठा की है। आपने अपने शरणागतिगद्य, श्रीरङ्गगद्य तथा वैकुण्ठगद्य (गद्यत्रय)-में प्रेमाभक्तिका निचोड़ लाकर रख दिया है।

आचार्य स्वयं कहते हैं—भगवान् मेरे नित्य स्वामी हैं और मैं उनका नित्य दास हूँ। मैं कब अपने कुलके स्वामी, देवता और सर्वस्व भगवान् नारायणका जो मेरे भोग्य, दाता, पिता और मेरे सब कुछ हैं, इन नेत्रोंद्वारा दर्शन करूँगा। मैं कब भगवान्के युगलचरणारविन्दोंको अपने मस्तकपर धारण करूँगा? कब वह समय आयेगा जबकि मैं भगवान्के दोनों चरणारविन्दोंकी सेवाकी आशासे अन्य सभी भोगोंकी आशा-अभिलाषा छोड़कर समस्त सांसारिक भावनाओंसे दूर हो भगवान्के युगल-चरणारविन्दोंमें प्रवेश कर जाऊँगा। कब ऐसा सुयोग प्राप्त होगा, जब मैं भगवान्के युगल चरणकमलोंकी सेवाके योग्य होकर उन चरणोंकी आराधनामें ही लगा रहूँगा। कब भगवान् नारायण अपनी अत्यन्त शीतल दृष्टिसे मेरी ओर देखकर स्नेहयुक्त, गम्भीर एवं मधुर वाणीद्वारा मुझे अपनी सेवामें लगनेका आदेश देंगे।*

* 'भगवतो नित्यस्वाम्यमात्मनो नित्यदास्यं च यथावस्थितमनुसंधाय कदाहं भगवन्तं नारायणं मम कुलनाथं मम कुलदैवतं मम कुलधनं मम भोग्यं मम मातरं मम पितरं मम सर्वं साक्षात्करवाणि चक्षुषा? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयं शिरसा संग्रहीष्यामि? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्याशयानिरस्तसमस्तेतरभोगाशोऽपगतसमस्तसांसारिकस्वभावस्तत्पादाम्बुजद्वयं प्रवेक्ष्यामि? कदाहं भगवत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्याकरणयोग्यस्तत्पादौ परिचरिष्यामि? कदा मां भगवान् स्वकीययातिशीतलया दृशावलोक्य स्निग्धगम्भीरमधुरया गिरा परिचर्यामाज्ञापयिष्यतीति।' —श्रीवैकुण्ठगद्यम्

आचार्य पुनः प्रार्थना करते हैं—

हे प्रभो! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, रत्नराशि, धन-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अविनाशी मोक्षपदसहित सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर समस्त ब्रह्माण्डका आक्रान्त करनेवाले आपके दोनों चरणोंकी शरणमें आया हूँ—

पितरं मातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य सर्वकामांश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो॥

(शरणागतिगद्यम्)

उनका कहना है—हे पूर्णकाम, सत्यसंकल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम, हे महान् ऐश्वर्यसे युक्त श्रीमन्नारायण! हे वैकुण्ठनाथ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणोंके महासागर हैं; छोटे-बड़ेका विचार न करके सामान्यतः सभी लोगोंको आप शरण देते हैं, प्रणतजनोंकी पीडा हर लेते हैं। शरणागतोंके लिये तो आप वत्सलताके समुद्र ही हैं। आप सदा ही समस्त भूतोंकी यथार्थताका ज्ञान रखते हैं। सम्पूर्ण चराचर भूतोंके सारे नियमों और समस्त जड-चेतन वस्तुओंके आप अवयवी हैं (ये सभी आपके अवयव हैं)। आप समस्त संसारके आधार हैं, अखिल जगत् तथा हम सभी लोगोंके स्वामी हैं। आपकी कामनाएँ पूर्ण और आपका संकल्प सच्चा है। आप समस्त प्रपञ्चसे भिन्न और विलक्षण हैं। याचकोंके तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्तिमें पड़े हुए के सहायक हैं। ऐसी महिमावाले तथा आश्रयहीनोंको आश्रय देनेवाले हे श्रीमन्नारायण! मैं आपके चरणारविन्दयुगलकी शरणमें आया हूँ; क्योंकि उनके सिवा मेरे लिये कहीं भी शरण नहीं है।*

श्रीरङ्गनाथस्वामीसे अपना प्रेम निवेदन करते हुए वे उनसे अपना दास्य-भाव देनेकी प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम्।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा॥

(श्रीरङ्गगद्यम्)

हे नाथ! कृपा करके मुझे अपना सेवक बना लीजिये। मुझे अपनी दासता, किंकरताका दान दे दीजिये। कैसी दासता? जो कि प्रीतिसे होती है—प्रेम जिसको करा लेता है। कैसा प्रेम? आपके अनुभवसे होनेवाला। मैं अनन्त लावण्य, अपार माधुर्य, परम सौन्दर्यकी प्रतिष्ठाभूत आपकी दिव्य मूर्तिका एवं आपके अनन्त सौशील्य, वात्सल्य आदि गुणोंका अनुभव करूँ। वह अनुभव ऐसा होगा कि मेरे हृदयमें आपके प्रति तैलधाराके समान अविच्छिन्न प्रेम लहरा देगा। वह प्रेम मुझसे आपकी सेवा करायेगा। मैं उस प्रेममें विभोर होकर आपकी सेवा-सपर्या, भजन-भक्ति करूँगा। आपकी ऐसी सुन्दर सेवा-भक्तिके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई उपाय अपने उद्धारका और अन्य कोई लक्ष्य अपने जीवनका नहीं सूझ रहा है। यह सेवा ही मेरी गति है—उपाय है और जीवनका लक्ष्य है।

प्रेमधर्मरूप-सौन्दर्य-माधुर्यसिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

जय नँदनंदन प्रेम-विवर्धन सुषमासागर नागर स्याम।
जय कांता-पट-कांति-कलेवर मन्मथ-मन्मथ रूप ललाम॥
जय गोपीजन-मन-हर मोहन राधावल्लभ नव-घनरूप।
जय रस-सुधा-सिंधु सुचि उछलित रासरसेस्वर रसिक अनूप॥
जय मुरली धर अधर गान-रत जय गिरिवरधर जय गोपाल।
मग जोहत बीतत पल जुग सम दै दरसन अब करौ निहाल॥

---

* 'सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते श्रीमन्नारायण श्रीवैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यैकजलधे अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूतनिखिलनियमनिरत अशेषचिदचिद्वस्तुशेषीभूत निखिलजगदाधार अखिलजगत्स्वामिन् अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्यसंकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख श्रीमन्नारायण अशरण्यशरण्य अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये।' —शरणागतिगद्यम्

श्रीमद्वल्लभाचार्यकी प्रेमोपासना

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य भगवत्प्रेममय थे। वे गोपीप्रेमके साकार स्वरूप ही थे और प्रतिक्षण प्रभुकी परम प्रेममयी निकुञ्जलीलाके दिव्य रसमें मग्न रहते थे। उनके रोम-रोमसे दिव्य भगवत्प्रेम उमड़ता रहता था। जो भी उनकी संनिधिमें रहता, वह श्रीकृष्णप्रेम-युक्त हो जाता।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पुष्टिमार्ग प्रेममार्ग है। आचार्यका मत है कि पुष्टिमार्गीय जीवकी तो सृष्टि ही भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये हुई है—**'भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्'** (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेदः १२)। महाप्रभुजी यह स्वीकार करते हैं कि भक्तिमें स्नेह और माहात्म्य दोनोंका सम्मिलन होता है—**'स्नेहो माहात्म्यं च मिलितं भक्तिर्भवति'** (सुबोधिनी)।

वास्तवमें भक्तिका वास्तविक स्वरूप है प्रेमपूर्वक भगवत्सेवा—**'भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा।'** (सुबोधिनी) जब भक्तका चित्त भगवत्प्रेममय होकर भगवत्प्रवण हो जाता है, तभी सेवा सधती है। ऐसी ही सेवा सिद्ध करनेके लिये प्रेमी भक्त तनुवित्तजा सेवा करता है—**'चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।'** (सिद्धान्तमुक्तावली २) महाप्रभुजीकी आज्ञा है कि प्रेमपूर्वक सेवा करनेसे सेव्य—स्वामी अवश्य प्रसन्न होते हैं। भगवान् भी अपने प्रेमी भक्तोंके वशमें हो जाते हैं।

जिन प्रमेय भगवान् श्रीहरिको क्रियारूपमें वेदके पूर्वकाण्डमें वर्णित किया जाता है और ज्ञानरूपमें उत्तर-काण्डमें जिनका वर्णन होता है, वे ही भक्तिमार्गमें ज्ञान-क्रिया-उभयरूपमें प्रमेय हैं। वे ही भक्तिमार्गमें फलरूप हैं। उन वेदार्थ, उभयरूप प्रमेय भगवान्की प्राप्तिका साधन प्रेम ही है। नवधा भक्ति उसी प्रेमाभक्तिका साधन है—

विशिष्टरूपं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्।
तत्साधनं नवविधा भक्तिस्तत्प्रतिपादिका॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

क्रिया-ज्ञान-उभय-विशिष्ट भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव प्रेममयी सेवासे ही होता है। वास्तवमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिये ही अवतरित होते हैं, यही उत्तमा अभिव्यक्ति है। उनके प्रादुर्भावका मुख्य कारण प्रेमी भक्तोंको कृतार्थ करना होता है, दैत्यवध करना नहीं।

और प्रभु श्रीकृष्णके प्रति एकनिष्ठ अनन्य भाव नितान्त आवश्यक है। यदि देहपातपर्यन्त भक्त कृष्णैकमानस रहे तो उसे शीघ्र ही प्रभु श्रीकृष्णके साथ सायुज्यफल प्राप्त होता है। ऐसा सर्वत्यागी, अनन्य, एकनिष्ठ, कृष्णमात्रैकमानस, जो कि भगवत्प्रेममें स्त्री, घर, पुत्र, आप्तजन, प्राण, वित्त, इहलोक और परलोक सभी छोड़कर कृष्णके प्रति परम भाव-परायण हो जाता है, दुर्लभ है। ऐसा प्रेम-निमग्न, प्रेम-प्लुत भक्त उत्तम है, वह चाहे करोड़ोंमें एक ही क्यों न हो, वही आदर्श है और उत्तम है—

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम्॥
एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभम्।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

यह प्रेममार्ग भगवत्प्राप्तिके सभी मार्गोंमें उत्तम है; क्योंकि इसमें भगवान्के वाक्य ही प्रमाण हैं, भगवान् ही इस मार्गमें प्रमेय (जाननेयोग्य) हैं, भगवान् स्वयं ही फलरूप हैं। इसकी यह भी विशेषता है कि इसका साधन जो प्रेममयी भक्ति है, वह मानो फलसे भी अधिक रसमय है। यदि किसी बाधाके कारण प्रेमाभक्तिरूप साधन समुचित ढंगसे न बन पाये तो भी परम दयालु भगवान् अपने निष्ठावान् प्रेमी भक्तको कृतार्थ कर देते हैं, उसकी दुर्गति या नाश नहीं होने देते। भगवान् स्वयं उसकी रक्षा करते हैं—

मार्गोऽयं सर्वमार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः।
यस्मिन् पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

किंतु यह मार्ग उन्हें ही सिद्ध होता है, जिनपर भगवान्की कृपा होती है और उन्हींको प्रेममयी भक्तिके मुख्य फलरूप भगवान् प्राप्त होते हैं—

सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।
तस्य सर्वं अशक्यं स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

जब भगवत्कृपासे किसी दैवी जीवमें भगवत्प्रेमका बीज-भाव स्थापित कर दिया जाता है तो भगवान्की प्रेममयी सेवाके प्रेमपन्थ—पुष्टिमार्गमें उसकी अत्यन्त रुचि होती है।

लीलाओंमें विशेष रुचि दिखलाता है। उसकी भाषा, वेश और आचरण सभीमें प्रेममार्गकी रुचि दिखलायी देने लगती है। ऐसी रुचिसे ही ज्ञात होता है कि इस जीवपर भगवान्‌की कृपा है—

कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते।

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

भगवान्‌के गुण, माहात्म्य, लीला आदिके श्रवणमें रुचि प्रथम कक्षाकी आरम्भिक रुचि है। जब श्रवणादिसे स्वाभाविक रूपसे भगवान् भक्तके हृदयमें विराजते हैं, तब उसके मनमें एक विशेष रुचि होती है, जिसे 'परोक्ष रुचि' कहते हैं; क्योंकि भक्तको भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं हुआ होता है। इस परोक्ष रुचिसे पुष्टि जीवमें भगवान्‌के द्वारा स्थापित बीजरूप भाव श्रवणादि साधनोंसे पनपने-बढ़ने लगता है। वह धीरे-धीरे भगवान्‌के प्रति स्नेह, प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है। भक्तके अन्तरमें जब भगवत्प्रेम जाग जाता है, तब भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य सभी विषयोंमें होनेवाले रागका नाश हो जाता है।

भगवत्प्रेम इतर राग-विनाशक है। भगवत्प्रेम भावमयी भगवत्सेवा और भगवान्‌की मङ्गलमयी सरस लीलाओंके श्रवणसे वृद्धिंगत होते हुए आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेता है। भगवान्‌में आसक्त प्रेमी भक्तको वे सारे पदार्थ और व्यक्ति बाधक प्रतीत होने लगते हैं, जो भगवान्‌से सम्बद्ध नहीं हैं। यहाँतक कि ऐसे स्वजन-परिजन जो भगवद्भावमें सहयोगी नहीं हैं या बाधक हैं, वे भी भगवदासक्त प्रेमी भक्तको बाधक और अनात्मरूप प्रतीत होते हैं। वह उन्हें छोड़ देनेके लिये भी तत्पर हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी भी यही सलाह है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

सूरदासजी भी अपने भगवत्-रंगमें रँगे मनको यही सिखावन देते हैं—*'तजौ मन, हरि-बिमुखनि कौ संग।'*

भगवत्प्रेममें रँगे, भगवत्-आसक्त भक्तकी भगवदासक्ति क्रमशः परिपक्व होकर व्यसन अवस्थाको प्राप्त हो जाती है। व्यसन अवस्थामें भगवत्प्रेम-परिप्लुत भक्तके दैहिक धर्मोंका भी निरसन-सा हो जाता है। भगवद्भावके परिपाककी इस रसात्मक स्थितिमें मग्न भक्तको न तो घर-परिवार-स्वजन-परिजनकी याद आती है, न शरीर और शरीरके धर्मोंकी सुध-बुध रहती है तथा न उसे इस लोक एवं परलोकका ध्यान ही रहता है। जिस प्रकार गङ्गाजीका जल-प्रवाह निरन्तर समुद्रमें गिरता है, उसी प्रकार व्यसन-अवस्था-प्राप्त प्रेमी भक्तके मनकी समस्त वृत्तियाँ भगवान्‌में ही लगी रहती हैं, वह प्रतिक्षण भगवत्प्रवण होकर भगवान्‌में ही तल्लीन रहता है।

भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेमकी यह व्यसनात्मक स्थिति प्राप्त हो जानेपर भक्त कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा स्थापित भगवद्भावका बीज श्रवणादिके द्वारा विकसित होते हुए प्रेमके रूपमें अङ्कुरित, आसक्तिके रूपमें पल्लवित और व्यसनके रूपमें पुष्पित होता है। तब भक्तको पूर्ण पुरुषोत्तम रसात्मक परब्रह्म श्रीकृष्णकी फलरूपमें उपलब्धि होती है। यह भावमयी प्रेमसाधना आद्यन्त रसात्मक है।*

भगवत्प्रेमकी परिपक्वावस्थामें पहुँचनेपर प्रेमी भक्तका सुख-दुःख-उत्सव सब कुछ भगवत्सम्बन्धी हो जाता है, निजी नहीं रहता। उसकी यही अभिलाषा रहती है कि श्रीकृष्णके वियोगमें यशोदामैया, नन्दबाबा और गोपियोंको जो दुःख हुआ था, वही कभी मेरे जीवनमें अवतरित हो। श्रीकृष्णकी रसमयी लीलाओंसे व्रजवासियोंको, गोपिकाओंको गोकुलमें जो सुख मिला था, क्या वैसा ही सुख भगवान् मेरे जीवनमें भी प्रदान करेंगे? उद्धवजीके आगमनपर गोकुल और वृन्दावनमें जैसा महान् उत्सव हुआ था, क्या वैसा महोत्सव मेरे मनमें भी होगा?

यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां तु यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥
गोकुले गोपिकानां तु सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत् सुखं समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥
उद्धवागमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥

(निरोधलक्षणम् १—३)

श्रीमद्वल्लभाचार्यका दृढ़ निश्चय है कि श्रीहरिके

---

* महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यने इसका वर्णन षोडश ग्रन्थोंके अन्तर्गत 'भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थमें किया है—

बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्॥
बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः। अव्यावृत्तो भजेत् कृष्णं पूजया श्रवणादिभिः॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा। ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्॥
बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति। स्नेहाद् रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः॥
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते। यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात् तदैव हि॥ (१—५)

स्वरूपका सदा ध्यान करना, उन्हींके विषयमें संकल्प करना, उन्हींका दर्शन करना, उन्हींका स्पर्श करना, उन्हींके लिये प्रत्येक कार्य करना और उन्हींके लिये गतिमान् होना प्रेमी भक्तका जीवन है। जिस भी इन्द्रियका भगवत्सेवामें स्पष्ट विनियोग न मालूम पड़े, उसका विशेषरूपसे निग्रह करना भक्तका सुनिश्चित कर्तव्य है—

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चयः॥

(निरोधलक्षण १९)

परमप्रेममें परिप्लुत होकर भगवान्में ही निरुद्ध हो जानेसे बढ़कर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी दृष्टिमें न तो कोई मन्त्र है, न इससे उत्कृष्ट कोई स्तोत्र है, न इससे ऊँची कोई विद्या है और न इससे उत्तम कोई तीर्थ है—

नातः परतरो मन्त्रो नातः परतरः स्तवः।
नातः परतरा विद्या तीर्थं नातः परात् परम्॥

श्रीमद्वल्लभाचार्य स्वयं भगवत्प्रेममें पूर्णतः निरुद्ध, तल्लीन और तन्मय रहते थे। वे अपने अनुयायियोंको भी ऐसी प्रेमसाधनाकी राहपर चलाते थे कि वे भी प्रपञ्चको भूलकर भगवत्-आसक्तिमय होकर भगवान् श्रीकृष्णमें ही निरुद्ध होकर कृतार्थ हो जायँ—

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते॥

(निरोधलक्षण २०)

(डॉ० श्रीगजाननजी शर्मा, सम्पादक 'श्रीवल्लभ-चिन्तन')

श्रीमध्वाचार्यजी और उनके प्रेमोपदेश

श्रीभगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वयं वायुदेवने ही भक्ति-सिद्धान्तकी रक्षाके लिये तमिलनाडु प्रान्तके मंगलूर जिलेके अन्तर्गत उडूपीक्षेत्रसे दो-तीन मील दूर वेललि ग्राममें भार्गवगोत्रीय नारायणभट्टके अंशसे तथा माता वेदवतीके गर्भसे विक्रम संवत् १२९५ की माघ शुक्ला सप्तमीके दिन आचार्य मध्वके रूपमें अवतार ग्रहण किया था। कई लोगोंने आश्विन शुक्ला दशमीको इनका जन्म-दिन माना है। परंतु वह इनके वेदान्त-साम्राज्यके अभिषेकका दिन है, जन्मका नहीं। इनके जन्मके पूर्व पुत्र-प्राप्तिके लिये माता-पिताको बड़ी तपस्या करनी पड़ी थी।

बचपनसे ही इनमें अलौकिक शक्ति दीखती थी। इनका मन पढ़ने-लिखनेमें नहीं लगता था; अतः यज्ञोपवीत होनेपर भी ये दौड़ने, कूदने-फाँदने, तैरने और कुश्ती लड़नेमें ही लगे रहते थे। अतः बहुत-से लोग इनके पितृप्रदत्त नाम वायुदेवके स्थानपर इन्हें 'भीम' नामसे पुकारते थे। ये वायुदेवके अवतार थे, इसलिये यह नाम भी सार्थक ही था। परंतु इनका अवतार-उद्देश्य खेलना-कूदना तो था नहीं; अतः जब वेद-शास्त्रोंकी ओर इनकी रुचि हुई, तब थोड़े ही दिनोंमें इन्होंने सम्पूर्ण विद्या अनायास ही प्राप्त कर ली।

जब इन्होंने संन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की, तब मोहवश माता-पिताने बड़ी अड़चनें डालीं; परंतु इन्होंने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हें कई चमत्कार दिखाकर, जो कि अबतक एक सरोवर और वृक्षके रूपमें इनकी जन्म-भूमिमें विद्यमान हैं एवं एक छोटे भाईके जन्मकी बात कहकर, ग्यारह वर्षकी अवस्थामें अद्वैतमतके संन्यासी अच्युतपक्षाचार्यजीसे संन्यास ग्रहण किया। यहाँपर इनका संन्यासी नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ। संन्यासके पश्चात् इन्होंने वेदान्तका अध्ययन आरम्भ किया। इनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि अध्ययन करते समय ये कई बार गुरुजीको ही समझाने लगते और उनकी व्याख्याका प्रतिवाद कर देते। सारे दक्षिण देशमें इनकी विद्वत्ताकी धूम मच गयी।

एक दिन इन्होंने अपने गुरुसे गङ्गास्नान और दिग्विजय करनेकी आज्ञा माँगी। ऐसे सुयोग्य शिष्यके विरहकी सम्भावनासे गुरुदेव व्याकुल हो गये। उनकी व्याकुलता देखकर अनन्तेश्वरजीने कहा कि भक्तोंके उद्धारार्थ गङ्गाजी स्वयं सामनेवाले सरोवरमें परसों आयेंगी, अतः वे यात्रा न कर सकेंगे। सचमुच तीसरे दिन उस तालाबमें हरे पानीके स्थानपर सफेद पानी हो गया और तरङ्गें दीखने लगीं। अतएव आचार्यकी यात्रा नहीं हो सकी। अब भी हर बारहवें वर्ष एक बार वहाँ गङ्गाजीका प्रादुर्भाव होता है। वहाँ एक मन्दिर भी है।

कुछ दिनोंके बाद आचार्यने यात्रा की और स्थान-स्थानपर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ किये। इनके शास्त्रार्थका उद्देश्य होता—भगवद्भक्तिका प्रचार, वेदोंकी प्रामाणिकताका स्थापन, मायावादका खण्डन और मर्यादाका संरक्षण। एक जगह तो इन्होंने वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके क्रमशः तीन, दस और सौ अर्थ हैं—ऐसी प्रतिज्ञा करके और व्याख्या करके पण्डितमण्डलीको आश्चर्यचकित कर दिया। गीताभाष्यका

निर्माण करनेके पश्चात् इन्होंने बदरीनारायणकी यात्रा की और वहाँ महर्षि वेदव्यासको अपना भाष्य दिखाया। कहते हैं कि दुःखी जनताका उद्धार करनेके लिये उपदेश, ग्रन्थनिर्माण आदिकी इन्हें आज्ञा प्राप्त हुई। बहुत-से नृपतिगण इनके शिष्य हुए, अनेक विद्वानोंने पराजित होकर इनका मत स्वीकार किया। इन्होंने अनेक प्रकारकी योगसिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इनके जीवनमें समय-समयपर वे प्रकट भी हुईं। इन्होंने अनेक मूर्तियोंकी स्थापना की और इनके द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह आज भी विद्यमान हैं। श्रीबदरीनारायणमें व्यासजीने इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ भी दी थीं, जो इन्होंने सुब्रह्मण्य, उडूपि और मध्यतलमें पधरायीं।

एक बार किसी व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलावार जा रहा था, तुलुबके पास वह डूब गया। उसमें गोपीचन्दनसे ढकी हुई भगवान् श्रीकृष्णकी एक सुन्दर मूर्ति थी। मध्वाचार्यको भगवान्की आज्ञा प्राप्त हुई और उन्होंने मूर्तिको जलसे निकालकर उडूपिमें उसकी स्थापना की। तभीसे वह रजतपीठपुर अथवा उडूपि मध्वमतानुयायियोंका तीर्थस्थल हो गया। एक बार एक व्यापारीके डूबते हुए जहाजको इन्होंने बचा दिया। इससे प्रभावित होकर वह अपनी आधी सम्पत्ति इन्हें देने लगा, परंतु इनके रोम-रोममें भगवान्का अनुराग और संसारके प्रति विरक्ति भरी हुई थी। ये भला, उसे क्यों लेने लगे। इनके जीवनमें इस प्रकारके असामान्य त्यागके बहुत-से उदाहरण हैं। कई बार लोगोंने इनका अनिष्ट करना चाहा और इनके लिखे हुए ग्रन्थ भी चुरा लिये। परंतु आचार्य इससे तनिक भी विचलित या क्षुब्ध नहीं हुए, बल्कि उनके पकड़े जानेपर उन्हें क्षमा कर दिया और उनसे बड़े प्रेमका व्यवहार किया। ये निरन्तर भगवत्-चिन्तनमें संलग्न रहते थे। बाहरी काम-काज भी केवल भगवत्सम्बन्धसे ही करते थे।

इन्होंने उडूपिमें और भी आठ मन्दिर स्थापित किये, जिनमें श्रीसीताराम, द्विभुज कालियदमन, चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्तियाँ हैं। आज भी लोग उनका दर्शन करके अपने जीवनका लाभ लेते हैं। ये अपने अन्तिम समयमें सरिदन्तर नामक स्थानमें रहते थे। यहींपर इन्होंने परम धामकी यात्रा की। देहत्यागके अवसरपर पूर्वाश्रमके सोहन भट्टको—जिनका नाम पद्मनाभतीर्थ हो गया था—श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्रामशिला देकर अपने मतके प्रचारकी आज्ञा कर गये। इनके शिष्योंके द्वारा अनेक मठ स्थापित हुए तथा इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थोंका प्रचार होता रहा। इनके मतका विशेष विवरण इस संक्षिप्त परिचयमें देना सम्भव नहीं है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके उपदेश

१. श्रीभगवान्का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे अन्तकालमें उनकी विस्मृति न हो; क्योंकि सैकड़ों बिच्छुओंके एक साथ डंक मारनेसे शरीरमें जैसी पीड़ा होती है, मरणकालमें मनुष्यको वैसी ही पीड़ा होती है; वात, पित्त और कफसे कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है तथा नाना प्रकारके सांसारिक पाशोंसे जकड़े रहनेके कारण मनुष्यको बड़ी घबराहट हो जाती है। ऐसे समयमें भगवान्की स्मृतिको बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है। (द्वा० स्तो० १।१२)

२. सुख-दुःखोंकी स्थिति कर्मानुसार होनेसे उनका अनुभव सभीके लिये अनिवार्य है। इसीलिये सुखका अनुभव करते समय भी भगवान्को न भूलो तथा दुःखकालमें भी उनकी निन्दा न करो। वेद-शास्त्रसम्मत कर्ममार्गपर अटल रहो। कोई भी कर्म करते समय बड़े दीनभावसे भगवान्का स्मरण करो। भगवान् ही सबसे बड़े, सबके गुरु तथा जगत्के माता-पिता हैं। इसीलिये अपने सारे कर्म उन्हींके अर्पण करने चाहिये। (द्वा० स्तो० ३।१)

३. व्यर्थकी सांसारिक झंझटोंके चिन्तनमें अपना अमूल्य समय नष्ट न करो। भगवान्में ही अपने अन्तःकरणको लीन करो। विचार, श्रवण, ध्यान और स्तवनसे बढ़कर संसारमें अन्य कोई पदार्थ नहीं है। (द्वा० स्तो० ३।२)

४. भगवत्-चरणकमलोंका स्मरण करनेकी चेष्टामात्रसे ही तुम्हारे पापोंका पर्वत-सा ढेर नष्ट हो जायगा। फिर स्मरणसे तो मोक्ष होगा ही, यह स्पष्ट है। ऐसे स्मरणका परित्याग क्यों करते हो। (द्वा० स्तो० ३।३)

५. सज्जनो! हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनों हाथ उठाकर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि भगवान्की समता करनेवाला भी इस चराचर जगत्में कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है। वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं। (द्वा० स्तो० ३।४)

६. यदि भगवान् सबसे श्रेष्ठ न होते तो समस्त संसार उनके अधीन किस प्रकार रहता और यदि समस्त संसार उनके अधीन न होता तो संसारके सभी प्राणियोंको सदा-सर्वदा सुखकी ही अनुभूति होनी चाहिये थी। (द्वा० स्तो० ३।५) [प्रेषिका—कु० पूजा शर्मा]

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका दिव्य प्रेम

[प्रेमधनके बिना जीवन व्यर्थ है]

श्रीचैतन्यमहाप्रभु कलियुगमें संकीर्तनके प्रवर्तकाचार्यके रूपमें माने जाते हैं। इन्होंने नवद्वीप (बंगाल)-की पावन धरतीपर जन्म ग्रहणकर उसे पवित्र बनाया और पं० श्रीजगन्नाथ मिश्रको पिता तथा परम भाग्यवती श्रीमती शचीदेवीको माता बननेका गौरव प्रदान किया। ये नीमके नीचे प्रादुर्भूत होनेसे निमाई और गौर अङ्ग (वर्ण) होनेसे गौराङ्ग कहलाये। *'होनहार बिरवानके होत चीकने पात'* की उक्ति इनपर पूर्णरूपेण चरितार्थ हुई है।

कहा जाता है कि चैतन्यमहाप्रभुजी एक बार गयामें अपने पितरोंको पिण्डदान करने हेतु पधारे थे। श्रीविष्णुपादके दर्शन करनेके बाद इनकी भेंट श्रीस्वामी ईश्वरपुरीजी महाराजसे हो गयी। लोकमर्यादाको निभानेके निमित्त इन्होंने हठपूर्वक प्रार्थना करके पुरीजी महाराजको विवश करते हुए उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ले ली। मन्त्र-दीक्षा प्राप्त करते ही ये मूर्च्छित होकर धराधामपर धड़ामसे गिर पड़े। साथियोंने मानवीय उपचार करके इन्हें किसी प्रकार चैतन्य किया। बस फिर क्या था, पूर्वसे ही हृदयमें जमा हुआ प्रेम प्रवाहित होकर फूट पड़ा। उस प्रेम-प्रवाहके फूटते ही इनके अंदरसे ऐसी सहज धारा बह निकली, जिसने सम्पूर्ण जगत्‌को प्रेम-प्लावित कर दिया।

सही बात तो यह है कि चैतन्यमहाप्रभुका आविर्भाव वस्तुतः विशुद्ध प्रेम और विश्वबन्धुत्वका द्योतक है। कारण कि इन्होंने राधाके रूपमें श्रीकृष्ण-राधा-प्रेमामृतका पान करते हुए हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, सिक्ख, मुसलमान आदि सभीको एक प्रेमसूत्रमें ग्रथितकर विश्व-बन्धुत्वकी ज्योति जलायी। महाप्रभुने बताया कि जो भी नाम हमें प्रिय हो, जो भी हमारा धर्म, सम्प्रदाय और आजीविका हो, उसीमें रहकर हमें प्रेमसे भगवन्नाम-संकीर्तन करना चाहिये। इतना ही नहीं द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि चाहे जिस किसी भी आध्यात्मिक, दार्शनिक सिद्धान्तवादको माननेवाले क्यों न हों, वे प्रेमसे नाम-संकीर्तन कर सकते हैं। नाम-संकीर्तन करनेवालोंको वेशभूषा भी नहीं बदलना है और न ही किसी अन्य बाह्याडम्बरकी आवश्यकता है। शुद्धभावसे कीर्तनमात्र करना ही परम मङ्गलकारक है।

चैतन्यमहाप्रभुने प्रेमधर्मके मूलभूत आध्यात्मिक तत्त्वोंकी व्याख्या की। प्रेम-भक्तिके अङ्गरूपमें इन्होंने स्वामी श्रीरामानन्दद्वारा प्रदर्शित सेवा और उपासनाके पाँच उत्कृष्ट तत्त्वोंको स्वीकार किया है—(१) वर्णाश्रमधर्माचारपालनद्वारा भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। (२) भगवान्‌के लिये सभी स्वार्थोंका त्याग करना आवश्यक है। (३) भगवत्प्रेमद्वारा सर्वधर्मत्याग होता है। (४) ज्ञानात्मिका भक्तिकी साधना करनी पड़ती है और (५) स्वाभाविक एवं अखण्डरूपमें मनको श्रीकृष्णकी भक्तिमें लगाना जीवमात्रका लक्ष्य है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु अपनेको संसारी जीव मानते हुए श्रीकृष्णसे शुद्ध भक्तिकी प्रार्थना इस प्रकार करते हैं—

धन जन नाहिं माँगो कविता सुन्दरी।
शुद्ध भक्ति देह मोरे कृष्ण कृपा करि॥
अति दैन्य पुनः माँगो दास्य भक्ति दाना।
आपनाके करे संसारी जीवन अभिमाने॥

(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने सुप्तप्राय मानव-जातिको प्रेमसे भक्ति-पथ दिखलाकर पुनः जागृति प्रदान की—

जो सिद्ध जोगी मुनी ऋषि, सकले गौर प्रेमे रसि।
आनन्द ए तिनि भूवन, गोर प्रेमरे होई मगन।
हाँ तक कीर्तन ली प्यारे, वृक्षादि पशु पक्षी खरे।

प्रेम रसरे रसिजाई, पाषाण तरल हुअई।
जीव वाकतेक मातर, रसिब नाहिं से भवन।
यकल जीवक उद्धार, कारणे गौर अवतार।

(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीगौराङ्ग चैतन्यमहाप्रभु कीर्तन करते हुए वृन्दावन जा रहे हैं। वे अरण्यवासी सिंह, हस्ती, मृग और पक्षियोंतकको श्रीकृष्णप्रेममें उन्मत्त करते हुए एवं उनके मुखसे श्रीहरिके सुमधुर नामोंका उच्चारण कराते हुए उन्हें भी अपने साथ ही नृत्य कराते जा रहे हैं। दास्यप्रेम-भक्तिके महत्त्वका वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—

दास्य सुखरू सुख नाहिं, सकल सुख तुच्छा ताहिं।
कोटिए ब्रह्म सुख जे हिय, दास्य भाव तू समनोहि।
जे लख्मी अति प्रिया होई, दास्य सुखकू से भागई।
विधि नारद भव पुण, आवर सुक सनातन।
सकले दास्य भवे भोग, आपने अनन्त ईश्वर।
दास्य सुखरे मोल होई, सकल भाव पासोरई।
राधा रुकमणी आदि लेते, दास्य जे भागन्ति निरते।

(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

अर्थात् दास्यभक्तिके समान और कोई सुख नहीं, इसकी तुलनामें अन्य सुख व्यर्थ हैं। करोड़ों ब्रह्म-सुख दास्यभावके सुखके सामने तुच्छ हैं। जो लक्ष्मी अति प्रिया होती हैं, वे दास्यभक्तिको माँगती हैं। इसी तरह नारद, शुक और सनातन आदि सभी दास्यप्रेममें विभोर रहते हुए अपने-आपमें अनन्त ईश्वर हैं। राधा, रुक्मिणी आदि सभी सर्वदा दास्यप्रेमकी याचना करती हैं।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने सारे संसारके लिये प्रेम-शब्दाभिधेय ज्योति जलायी। संसारमें प्रेय और श्रेय नामक दो मार्ग हैं। इनमें प्रेय भौतिक और श्रेय आध्यात्मिक पथका अनुसरण करता है। प्रेयका अर्थ है—स्त्री, पुत्र, धन, यश आदि इस लोकके तथा स्वर्गलोकके समस्त प्राकृत सुख-भोगोंकी सामग्रियोंकी प्राप्तिका मार्ग तथा श्रेयका अर्थ है—इन भौतिक सुख-भोगोंकी सामग्रियोंसे उदासीन रहकर नित्यानन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्रीतिके लिये उद्योग करना। इसीलिये श्रीचैतन्यमहाप्रभुने संकीर्तनके द्वारा प्रेय एवं श्रेय दोनों मार्गोंको एक साथ समन्वित करके चलनेको कहा है।

वास्तवमें जबतक जगत्‌में भगवन्नाम-संकीर्तन रहेगा, तबतक श्रीचैतन्यमहाप्रभुका प्रेम-शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहेगा और भक्तगण गाते रहेंगे—

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द। हरे कृष्ण हरे राम राधे गोविन्द।

ऐसे दिव्य प्रेमावतार गौराङ्ग चैतन्यमहाप्रभुकी संकीर्तन-लीलाका आज भी सर्वत्र वितरण हो रहा है। भक्तगण प्रभु-नाम-संकीर्तन कर रहे हैं। आजके युगमें इनके दिव्य प्रेमकी ज्योति पूर्णरूपसे जले तभी विश्व-बन्धुत्वकी भावना जाग सकती है। हम कीर्तनको अपने जीवनका लक्ष्य बनायें, यही उनकी सच्ची स्मृति होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु-जैसे भक्तोंकी महिमा अपरम्पार है। इनका जीवन-दर्शन हमें पतनके गर्तमें गिरनेसे बचा सकता है। इनका पावन चरित्र पतित मानवको कल्याणके मार्गपर ले जानेवाला है।

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

मोह और प्रेममें अन्तर

(सुश्री आभाजी मिश्रा)

मोह बाह्य आडम्बर है, किंतु प्रेमको आन्तरिक अनुभूति कहा जाता है। मोहका सांसारिक पदार्थोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, जबकि प्रेम अलौकिक समर्पणका द्योतक है। मोह एकांगी है, मगर प्रेम उभय पक्षीय है। मोहमें 'मैं' की प्रधानता पायी जाती है, परंतु प्रेममें परमात्माका वास होता है। प्रेम साधन और साध्य दोनों है, लेकिन मोहमें यह गुण नहीं पाया जाता। मोह अधोगामी होता है तो प्रेम उत्कर्षकी राह है। वस्तुतः मोह भवबन्धन है, मगर प्रेम मुक्त अभिव्यक्ति है। मोह दुःखरूप है, प्रेम आनन्दस्वरूप है। मोहके व्यापारी अनेक हैं, परंतु प्रेमके पुजारी विरले ही होते हैं। मोहका अन्त मृत्यु है और प्रेमकी परिणति मोक्ष है। मोह बिका है तो प्रेम टिका है। मोह मस्ताना है पर प्रेम दीवाना है। मोह आदान है, प्रेम प्रदान है। प्रेम उपासना है तो मोह वासना है। रागसे मोहकी उत्पत्ति होती है और अनुरागसे प्रेम पोषित होता है।
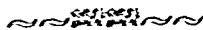
संतशिरोमणि तुलसीदासजीकी प्रेमसाधना

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने श्रीरामचरितमानसके कई प्रसंगोंमें संतोंके विविध गुणों और लक्षणोंकी अवली प्रस्तुत की है। वे स्वयं संत थे। करुणा और परदु:खकातरता ही संतत्वकी मुख्य पहचान है; क्योंकि यह भावना परोपकारकी ओर प्रेरित करती है। तुलसीके कथनानुसार संतका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है, किंतु दोनोंमें एक अन्तर है। नवनीत आत्मपीड़ा (अग्निकी आँच)-से पिघलता है जबकि संतके हृदयको परपीड़ा द्रवीभूत करती है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(रा०च०मा० ७।१२५।७-८)

परपीड़ासे विगलित होकर तुलसीदासजीने लोककल्याणार्थ भक्तिका जो मार्ग प्रशस्त किया, वह अनुपम एवं वरेण्य है। उनका भगवत्प्रेम उनकी साधनाका उदात्त स्वरूप है। उनके *श्रीरामचरितमानस* एवं *अन्य ग्रन्थोंमें* इस प्रेमकी उज्ज्वल छविके दर्शन होते हैं।

तुलसीदासजीके लिये रामप्रेम सर्वोपरि था; क्योंकि उनकी दृष्टिमें रामप्रेम विश्वप्रेमका प्रतीक था—*'सीय राममय सब जग जानी।.....'* उनकी मान्यता थी कि प्रेमकी उच्चता लक्ष्यकी व्यापकताके अनुरूप होती है। जिस प्रेमका लक्ष्य जितना व्यापक होगा वह उतना ही ऊँचा होगा। गृहप्रेमसे समाजप्रेम, समाजप्रेमसे राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रप्रेमसे यह विश्वप्रेम अथवा श्रीरामप्रेम बड़ा है। विभीषण, भरत, प्रह्लाद, राजा बलि और व्रजवनिताओंने व्यक्तिगत प्रेम या पारिवारिक प्रेमको ठुकराकर विश्वप्रेमके प्रतीक श्रीराम या श्रीकृष्णके प्रति अनुराग प्रकट किया, जिसके मङ्गलकारी औचित्यका समर्थन करते हुए तुलसीदासजीने अपनी विनय-पत्रिका (१७४)-के एक पदमें लिखा है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥

तुलसी-प्रेमके आलम्बन दाशरथि श्रीराम थे जो सगुण और परब्रह्मके अवतार थे। उनके अनुसार श्रीरामके चरणोंके प्रति अनन्य प्रेमका होना ही भक्ति है और इसीलिये उन्होंने श्रीरामके चरणोंके प्रति निरन्तर प्रेमके होनेकी स्पृहा व्यक्त की है—

तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

उनके श्रीराम ऐश्वर्यमय, क्षमावान्, शरणागतवत्सल और करुणायतन हैं, इसके कारण भक्तोंको सदैव उनकी उदारताकी छत्रच्छाया सुलभ हो जाती है। तुलसीदासजी इस आस्थाके मूर्तरूप थे कि सर्वव्यापी श्रीहरिका प्रकटीकरण प्रेमसे होता है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १।१८५।२)

तुलसीदासजी दास्यभक्तिके अनुयायी थे जिसे सेवक-सेव्य भक्ति कहते हैं। उनके एक पात्र काकभुशुण्डिजीका स्पष्ट उद्घोष है—*'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि'*। इस भक्तिमार्गके अनुसार आराध्यको महान्, उत्कृष्ट, ऐश्वर्यवान् माना जाता है और भक्त अपनेको तुच्छ, दीन तथा निकृष्ट समझता है। इस सन्दर्भमें विनय-पत्रिकाका पद (७९) द्रष्टव्य है—

देव—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

श्रीरामके औदार्यपर तुलसीदासको बहुत भरोसा था। यहाँतक कि उनके श्रीराम बिना सेवाके ही द्रवीभूत हो जाते हैं। उनकी उदारतासे लाभान्वित होनेवालोंकी शृङ्खलामें गीध, शबरी, विभीषण आदि सम्मिलित हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

× × ×

सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥

× × ×

सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥

(विनय-पत्रिका १६२)

श्रीराम '**पुनीत प्रेम अनुगामी**' हैं। ज्यों ही वे अपने भक्तोंको प्रेमविह्वल देखते हैं, त्यों ही उन्हें अनुगृहीत कर देते हैं। दास्यभक्तिमें दीनताके संनिवेशसे भक्तका कल्याण सुनिश्चित हो जाता है; क्योंकि जहाँ दीनता होती है वहाँ अहंकारका भाव तिरोहित हो जाता है और इसीलिये भक्त पतन या स्खलनसे सुरक्षित हो जाता है, किंतु यहाँ एक बात ध्यान देनेयोग्य है कि तुलसीदासजीकी दैन्यभावना दास्यमनोवृत्ति उत्पन्न करनेवाली नहीं है—उनकी दीनता विनम्रताकी पराकाष्ठामें परिवर्तित है।

सरलतासे अनुप्राणित होनेके कारण तुलसीदासजीकी भक्तिभावना या श्रीरामानुराग कई विशेषताओंसे सम्पोषित है। वे रागात्मिका भक्तिके पक्षधर थे, जिसमें आडम्बरका निषेध और तड़क-भड़कका आवर्जन है। उनकी भक्ति आचरणकी परिष्कारक और धर्मप्रवण है। विरति और विवेकपर आधृत होनेके कारण वह श्रेष्ठ तथा कल्याणकारिणी है। श्रीरामसे प्रेम स्थापित करते हुए जितेन्द्रिय बनकर नैतिक पथपर अग्रसर होना ही भक्तिका वास्तविक स्वरूप है—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

(दोहावली ८६)

चातकप्रेमको अनन्य एवं आदर्श मानते हुए तुलसीने इसी प्रेमके अनुगमनका संदेश दिया है जिसमें अनन्यता, एकनिष्ठता, सरसता, सहिष्णुता, निस्पृहता प्रभृति गुणोंकी विद्यमानता रहती है।* श्रीरामके स्नेही होनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। निष्कामभावसे श्रीरामप्रेम करनेमें ही भलाई और कल्याण है। सन्तोषवृत्तिके साथ श्रीरामके प्रति अनुरागात्मक सम्बन्ध रखनेके लिये काननवासकी आवश्यकता नहीं है—

राम सनेही राम गति राम चरन रति जाहि।
तुलसी फल जग जनम को दियो बिधाता ताहि॥
आपु आपने तें अधिक जेहि प्रिय सीताराम।
तेहि के पग की पानहीं तुलसी तनु को चाम॥
स्वारथ परमारथ रहित सीता राम सनेहँ।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहँ॥
जे जन रूखे बिषय रस चिकने राम सनेहँ।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं कि गेहँ॥
जथा लाभ संतोष सुख रघुबर चरन सनेह।
तुलसी जो मन खूँद सम कानन बसहुँ कि गेह॥

(दोहावली ५८—६२)

श्रीरामप्रेम सर्वोपरि है। इसके बिना सारे नियम व्यर्थ हैं।

श्रीरामके कथनानुसार जिस भक्तिपद्धतिसे उनमें (राममें) आशुद्रवणशीलता होती है, वही भक्ति है जो भक्तके लिये सुखद होती है। इस भक्तिमें आलम्बन श्रीराम हैं।

श्रीरामकी भक्ति सचराचर-सेवाके द्वारा भी की जा सकती है। भक्तिका आलम्बन विश्व भी हो सकता है जिसमें श्रीरामकी अभिव्यक्ति हुई है। विश्वके अन्तरालमें श्रीसीतारामकी विद्यमानताका अनुभव कर तुलसीदासजीने सम्पूर्ण विश्वको प्रणाम किया है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।८।२)

(डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

~~~

* एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥
चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिऐ न पानि। प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोप। तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही कें माथ। तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥
बास बेस बोलनि चलनि मानस मंजु मराल। तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥

(दोहावली २७७, ७९, ८१, ८८, ९१)
~~~

संत सूरदासका वात्सल्य-प्रेम

भक्तिके आचार्योंने वत्सल अथवा वात्सल्यभक्तिपर बल देकर और उसका भक्तिमें समावेश करके उसके गौरवको और अधिक बढ़ा दिया है। भक्तिके आचार्योंने वात्सल्यभक्तिका निर्वचन भी किया और उसके उदाहरणस्वरूप अभिव्यक्ति भी दी। हिंदीके भक्त कवियोंने उस दायको स्वीकार किया और अपने काव्योंमें आचार्यप्रणीत ग्रन्थोंसे प्रेरणा भी ली। इस तरहके कवियोंमें सूरदास ऐसे ही भक्त-संत हैं, जिन्होंने श्रीमद्भागवतमहापुराणके आधारपर अपने सूरसागरके पदोंकी रचना की। श्रीमद्भागवतमें वर्णित श्रीकृष्णकी लीलाओंको उन्होंने काव्यमय विस्तार दिया। श्रीकृष्णकी बाललीलाओंके चित्रणमें उनकी मतिमें व्यापक विस्तार और निखार आया। उनके विविधताभरे पदोंमें वात्सल्य-वर्णनके कारण विद्वानोंने वात्सल्यरसकी पूर्ण प्रतिष्ठाका श्रेय संत सूरदासजीको ही दिया है।

सूर-साहित्यके दो रूप मिलते हैं—(१) वल्लभाचार्यजीकी भेंटसे पहले जब ये विनय और दीनताभरे भावोंके पद गाते थे और (२) वल्लभाचार्यजीकी भेंटके बाद जब इन्होंने भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन किया। 'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता' में आया है कि सूरदासजीने वल्लभाचार्यजीके सामने दो पद गाये। पहला पद था—*'हरि हौं सब पतितनि को नायक'* और दूसरा था—*'प्रभु, हौं सब पतितनि कौ टीकौ'*। इन्हें सुनकर वल्लभाचार्यजीने कहा—*'जो सूर है कें ऐसो घिघियात काहे को है कछु भगवल्लीला वर्णन करि'*। सूरदासजीने कहा कि मुझमें ऐसी समझ नहीं है। तब वल्लभाचार्यजीने इन्हें उपदेश दिया। तबसे सूरदासजीको नवधा-भक्ति सिद्ध हो गयी और इन्होंने भगवल्लीलाकी दृष्टिका स्फुरण पाया। जैसे कोई बालक पुराने खिलौनेको छोड़कर फिर नये खिलौनेसे ही खेलता है—ऐसे सूरदासजीने उसके बादसे भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन प्रारम्भ किया।

सूरदासजी उच्च कोटिके संत होनेके साथ-साथ उच्च कोटिके कवि भी थे। इन्होंने वात्सल्य और शृङ्गाररसप्रवाहिनी ऐसी विस्तृत और गम्भीरताभरी भावाभिव्यक्ति की है कि इन्हें वात्सल्य और शृङ्गाररसका सम्राट् कहा जाता है। सूरदासजी अन्धे थे, परंतु इन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। ये भगवान्‌के कीर्तनकार थे। जैसा भगवान्‌का स्वरूप होता था, वे उसे अपनी बंद आँखोंसे वैसा ही वर्णन कर देते थे। 'अष्टसखानकी वार्ता' में आया है कि एक बार श्रीविट्ठलनाथजीके पुत्रोंने उनकी परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने नवनीतप्रिय बालकृष्णकी मूर्तिका कोई शृङ्गार नहीं किया। नग्न मूर्तिपर मोतियोंकी माला लटका दी और सूरदासजीसे कीर्तन करनेकी प्रार्थना की। दिव्य-दृष्टि प्राप्त सूरदासजीने पद गाया—

देखे री हरि नंगम नंगा।
जल सुत भूषन अंग बिराजत बसनहीन छबि उठत तरंगा॥

ऐसे दिव्य-दृष्टिप्राप्त संतने अपनी बंद आँखोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओंका वात्सल्यरससे सिक्त वाणीमें विस्तारभरा वर्णन किया है। उस रसधारामें भक्त और साहित्यकार निमग्न हो गये।

सूरदासजीके वात्सल्यरसकी दो दशाएँ हैं—(क) संयोग-वात्सल्य और (ख) वियोग-वात्सल्य, जो यहाँ संक्षेपमें वर्णित हैं—

(क) संयोग-वात्सल्य

१-पुत्रजन्मका आनन्द और उल्लास।
२-विभिन्न संस्कारोंके अवसरोंपर वात्सल्यसुखानुभूति।
३-श्रीकृष्णकी बालछविका वर्णन।
४-बालस्वभावका चित्रण।
५-बालक्रीडा एवं चेष्टाएँ।
६-माखनचोरी और उलाहने।
७-मातृहृदय।

पुत्र-जन्मके आनन्दोल्लासका वर्णन—श्रीकृष्णके प्रति अभिव्यक्त वात्सल्यके आश्रय नन्द, यशोदा, व्रजकी गोपियाँ और गोप हैं। उन्हींको वात्सल्यसुखकी विशेष अनुभूति होती है। वसुदेव और देवकी तो उनके रूपको देखकर आश्चर्यसे अभिभूत हो जाते हैं। नन्दके यहाँ पुत्रजन्मके हर्ष और आनन्दका बड़ा ही सजीव वर्णन सूरने किया है। माता यशोदा पुत्रके सुखको देखकर अत्यन्त आनन्दको प्राप्त होती हैं। नन्द अपनी प्रसन्नताको वस्त्र, आभूषण, गाय और नाना वस्तुओंका दान करके प्रकट करते हैं। गोपियाँ मङ्गलगान करती हैं, बधाई देती हैं और शिशुको आशीर्वाद देती हैं। ढाढी, जगा, सूत, मागध आदि भी नेग लेते हैं और आशीर्वाद देते हैं। सारे व्रजमें पुत्रजन्मपर फैली शोभाकी कोई सीमा नहीं है। सूरदासजी वर्णन करते हैं—

सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।

सूरदासजीने आनन्द-उल्लासका वर्णन वात्सल्यसे पुष्टरूपमें किया है—बढ़ईसे रत्नजटित पालना बनवाया गया है, उसमें रेशमकी डोरी लगी है। श्रीकृष्णको पालनेमें सुलाकर यशोदा आनन्दित होती हैं। श्रीकृष्ण कभी पलक मूँद लेते हैं, कभी अधर फड़काते हैं। पालनेमें झुलाते समय वात्सल्यमयी यशोदाका वर्णन कविने इस प्रकार किया है—

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तो कौं कान्ह बुलावै।

(सूरसागर ६६१)

विभिन्न संस्कारोंके अवसरोंपर वात्सल्य-सुखानुभूति— पुत्रोत्सवके पश्चात् होनेवाले अनेक संस्कारोंका वर्णन सूरदासजीने किया है। इनमें नामकरण, वर्षगाँठ, अन्नप्राशन एवं कर्णछेदन मुख्य हैं। नामकरण और अन्नप्राशनपर ज्योतिषी तथा ब्राह्मणको बुलाया जाता है। उस समय भी उत्सव-जैसा वातावरण होता है। कृष्णकी एक वर्षकी अवस्था हो जानेपर सूरदासजीने उनके वर्षगाँठके उत्सवका और उस समयके आनन्दोल्लासका वर्णन किया है। श्रीकृष्णको शृङ्गार कराकर और वस्त्राभूषणोंसे सजाकर यशोदा फूली नहीं समाती हैं। निम्नलिखित पंक्तियोंमें सूरने उस समयके वात्सल्यमय दृश्यका वर्णन करते हुए कहा है—

दोउ कपोल गहि कै मुख चूमति, बरष-दिवस कहि करति कलोल।
सूर *स्याम ब्रज-जन-मोहन-बरष-गाँठि* कौ डोरा खोल॥

(सूरसागर ७१२)

श्रीकृष्णके कर्णछेदनका वर्णन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंगसे किया गया है। कर्णछेदनके समय यशोदाको पहले तो बड़ा आनन्द होता है, परंतु जब यह ध्यान आता है कि कर्णछेदन करनेसे बालक कृष्णको कष्ट होगा तो उनका हृदय धड़कने लगता है। वे उधर देख भी नहीं सकीं और मुख मोड़ लेती हैं। श्रीकृष्ण रोने लगते हैं तो कर्णछेदन करनेवाले नाईको धमकाने लगती हैं ताकि रोते हुए बालकको कुछ ढाढ़स बँध सके। बालस्वभावकी परख और माताके हृदयकी अनुभूतिसे भरा कर्णछेदनका यथार्थ चित्रण सूरदासजीकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें द्रष्टव्य है—

कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है, हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत, हरि हँसत हेरि हरि, जसुमति की धुकधुकी सु उर की॥
लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी॥

(सूरसागर ७९८)

श्रीकृष्णकी बालछविका वर्णन— श्रीकृष्णकी बाल-छविका वर्णन सूरदासजीने क्रम-क्रम करके उनके बढ़ते हुए रूपके अनुसार किया है। उनके पूरे शरीरके सौन्दर्यके साथ शरीरके एक-एक अङ्गका जैसे पैर, अँगुली, नख, कर, चिबुक, भुजा, कण्ठ, ओष्ठ, मुख, जीभ, दाँत, नाक, कान, नेत्र, भौंह, भाल, बाल आदिका अनेक पदोंमें वर्णन किया है। विभिन्न आभूषणों—पैंजनी, किंकिनी, पहुँची, बघनखा, कठुला शेरनख, मोती और प्रवालके द्वारा अलंकृत उनकी शोभाके वर्णन किये हैं। पिछोरी, झगुलिया, कुलही आदिके साथ बिंदी, डिठौना, तिलक, काजल आदिके वर्णन बालछविके वर्णन हैं। श्रीकृष्णके हँसने, किलकने, तुतलाने, लड़खड़ाकर चलने, धूलधूसरित होने, माखन खाने, लपटाने, प्रतिबिम्बको पकड़ने, खेलने, नाचने आदिका वर्णन सूरदासजीने अनेक पदोंमें किया है। इन वर्णनोंमें सूरकी रुचि इसलिये भी अधिक जगी है; क्योंकि वे उनके अपने हृदयगत इष्टदेवके प्रति भावोंकी तरहके हैं। इस प्रसंगका एक पद अतीव वात्सल्यरसपूर्ण है। वह यहाँपर द्रष्टव्य है—

सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेममगन तन की सुधि भूली।
बाहिर तैं तब नंद बुलाए, देखौ धौं सुंदर सुखदाई।
तनक-तनक सी दूध-दँतुलिया, देखौ नैन सफल करौ आई॥
आनँद सहित महर तब आए, मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यौ, मनौ कमल पर बिज्जु जमाई॥

(सूरसागर ७००)

यहाँपर श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। यशोदा और नन्द आश्रय हैं। दूधके दाँत उद्दीपनविभाव हैं। नन्दको बुलाना और दोनोंका ध्यान देकर देखना अनुभाव है और हर्ष संचारीभाव है।

सूरदासने भगवान्‌की रूपमाधुरीका तरह-तरहसे वर्णन किया है। उनकी किलकारी, हँसी और बालक्रीडा, तोतले वचन आदिकी शोभाका शब्दोंद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः वे कहते हैं—

जो मेरी अँखियनि रसना होतीं कहतीं रूप बनाइ री।
चिर जीवहु जसुदा कौ ढोटा, सूरदास बलि जाइ री॥

× × ×

बालस्वभाव-चित्रण—सूरदासजीने बालस्वभावका चत्रण बड़ी बारीकीसे किया है। बच्चोंकी प्रकृतिके भीतर जतनी पैठ सूरने लगायी है, उतनी और किसी कविने नहीं लगायी। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने ठीक ही कहा है कि सूरने बालहृदयका कोना-कोना झाँक लिया था। बच्चोंमें स्पर्धाका भाव बड़ा प्रबल होता है। यशोदा श्रीकृष्णको दूध पिलाना चाहती हैं। इससे तुम्हारी चोटी बढ़ जायगी और बलराम-जैसी हो जायगी। स्पर्धावश वे दूध पीने लगते हैं, पर वे चाहते हैं कि दूध पीते ही चोटी बढ़ जानी चाहिये। वे मातासे पूछने लगते हैं—

मैया, कबहिँ बढ़ैगी चोटी!
किती बार मोहिँ दूध पियत भई, यह अजहू है छोटी!

(सूरसागर ७९३)

सूरदासजीने बालकृष्णके स्वभावके अनेक चित्र उरेहे हैं। गाय दुहने तथा चरानेके लिये आग्रह करना, रैता, पैता, मना, मनसुखा और हलधरके साथ गोचारणको जाना, सबके साथ शिलापर बैठकर भोजन करना, दाऊके डरकी बात करना, मिट्टी खाना, कहानी सुननेका चाव रखना, खाना खाते समय कुछ खाना, कुछ गिराना आदि अनेक बालस्वभावके चित्रणके शताधिक पद सूरने लिखे हैं। उनके बालसुलभ हठका बड़ा वात्सल्यभरा और बालमनोविज्ञानसे पुष्ट चित्रण सूरने अनेक पदोंमें किया है। यहाँपर उनका एक बड़ा प्रसिद्ध पद पठनीय है—

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नँद बाबा कौ तेरौ सुत न कहैहौं।
आगैं आउ, बात सुनि मेरी, बलदेवहिँ न जनैहौं।
हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।
तेरी सौं मेरी सुनि मैया, अबहिँ बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहौं॥

(सूरसागर ८११)

बाल-क्रीड़ा और चेष्टाएँ—बालक्रीड़ा वात्सल्यरसके उद्बोधनका महत्त्वपूर्ण अंग है। बालक्रीडासे वात्सल्यरस उद्दीप्त होता है। सूरदासने बाल भगवान्‌के शिशुरूप और बालरूप दोनोंकी क्रीड़ाओंका सुन्दर चित्रण किया है। श्रीकृष्ण आँगनमें घुटनोंके बल चल रहे हैं। वे किलकारी मार रहे हैं। नन्द और यशोदा उनकी क्रीड़ापर भावविभोर हो रहे हैं। तोतले शब्द, दौड़ना, गिरना, फिर उठना, मणियोंके आँगनमें अपने प्रतिबिम्बको पकड़ना—इसी तरहकी शिशुक्रीड़ाएँ हैं। श्रीकृष्ण कुछ बड़े होते हैं तो यशोदा उन्हें अँगुली पकड़कर चलना सिखाती हैं। पैरोंकी पैंजनियाँ बजती हैं। यशोदा उन्हें नचाती हैं और बड़ा आनन्द लेती हैं—*'आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी'*। श्रीकृष्ण अपनी चञ्चलताके कारण स्वयं भी तरह-तरहकी चेष्टाएँ करते हैं। यशोदा दूध बिलो रही हैं। उससे रईकी घुमड़-घुमड़ ध्वनि हो रही है। श्रीकृष्णजी अपनी किंकिणी और नूपुरोंकी ध्वनि करते हुए उसी रईकी ध्वनिके साथ नाचते हैं—

त्यौं त्यौं मोहन नाचै ज्यौं ज्यौं रई-घमरकौ होइ री।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर दोइ री॥

श्रीकृष्णके खेलका बड़ा सुन्दर वर्णन सूरने किया है। कभी खीझते हैं, कभी चौगान खेलते हैं, कभी भौंरा-चकडोरीसे खेलते हैं। कभी खेलमें एक-दूसरेको हारनेपर दावँ देनेका अवसर देना पड़ता है। इस तरहका एक बड़ा वात्सल्यभरा वर्णन खेलके प्रसंगमें सूरदासने किया है। श्रीकृष्ण खेलमें हार जाते हैं। श्रीदामा जीत जाते हैं। श्रीकृष्ण दावँ देना नहीं चाहते, परंतु अन्ततः खेलना भी चाहते हैं तो दावँ देते हैं। इसका वर्णन सूरने इस प्रकार किया है—

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारैं गैयाँ॥
रूहठि करै तासौं को खेलै, रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत, दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ॥

(सूरसागर ८६३)

माखनचोरी और उलाहने—श्रीकृष्णकी बाललीलाओंमें माखनचोरी बड़ी चर्चित रही है। सूरदासने श्रीकृष्णके माखनके अनुराग और माखन चुरानेके अनेक प्रसंग गाये हैं। श्रीकृष्णके साथ माखन चुरानेवाले बालकोंकी पूरी टोली होती है। माखन खाना, माखन और दधिके भाजन फोड़ना, बंदरोंको माखन खिलाना, दूधमें पानी मिलाना, बछड़े गायोंके नीचे दूध पीनेको खोलकर छोड़ देना—इन सब बातोंसे गोपियाँ तंग आ जाती हैं। यशोदाके पास उलाहने

लेकर आती हैं। पुत्रप्रेमके कारण यशोदा यह स्वीकार नहीं करतीं। वे श्रीकृष्णका पक्ष लेकर ग्वालिनोंसे लड़ती हैं—

मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।

(सूरसागर ९११)

कई बार दधि-माखन चुराते समय गोपियाँ श्रीकृष्णको पकड़ भी लेती हैं तो वे तरह-तरहके बहाने बना देते हैं। जैसे—मैं तो इस भाजनमेंसे चींटी निकाल रहा था या मैंने अपना घर समझा इस धोखेमें आ गया। कई बार गोपियाँ पकड़कर भी ले आयीं। सूरदासने ऐसे अनेक भावपूर्ण चित्र खींचे हैं। एक बार यशोदाने स्वयं श्रीकृष्णको माखन चुराते देख लिया। उनका मुख दधिसे सना हुआ था। यशोदाने हाथमें साँटी ले ली। उस समय श्रीकृष्ण अत्यन्त कातर होकर जो उत्तर देते हैं और यशोदा सब कुछ जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण अपराधी हैं, वे वात्सल्यरसकी दुग्धधवल धारामें निमग्न हो जाती हैं। सूरदासरचित वात्सल्यरसका बड़ा प्रसिद्ध पद है—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनें मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव बिरंचि नहिं पायौ॥

(सूरसागर ९५२)

इस उपर्युक्त पदमें वात्सल्यरसकी पूर्ण निष्पत्ति हुई है। इसमें रसके सारे अवयव आ गये हैं। यशोदा इसमें आश्रय हैं। श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। श्रीकृष्णकी चतुराई—मुखसे दधि पोंछना और दोना पीछे छुपाना उद्दीपन हैं। साँटी डाल देना एवं कण्ठसे लगा लेना अनुभाव हैं और मुसकराना संचारीभाव है। ऐसी रसमाधुरी लिये हुए वात्सल्यरसका चित्रण देखकर ही आचार्योंने सूरको वात्सल्यरसका प्रतिष्ठापक कहा है।

मातृहृदय—सूरदासको माताके हृदयका सच्चा पारखी कहा गया है। सूरसागरमें भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओंके वर्णनमें सबसे अधिक पद माताके हृदयपक्षसे सम्बद्ध हैं। माताके हृदयको पहचाननेके विषयमें सहृदयोंका मानना है कि सूरदास बाललीलावर्णन करनेमें अद्वितीय हैं, यह बा सत्य है, किंतु मातृहृदयका चित्र खींचनेमें ये अपनी सान नहीं रखते।

यशोदा माता हैं। वे वात्सल्यमयी हैं। उन्होंने श्रीकृष्णवे वात्सल्यका सर्वाधिक अनुभव किया है। सूरने उनवे हृदयका अनुभव करके यशोदाकी आँखोंसे कृष्णक देखकर स्वयं प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी इतनी मार्मिक अभिव्यक्ति की है जो देखते ही बनती है। माताकी अभिलाषा बच्चेके शीघ्र बड़े होनेकी होती है। यशोदा कहती हैं—*'नान्हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ो किन होहि'* यशोदाजी भगवान् श्रीकृष्णको अपना बच्चा समझती हैं मिट्टी खानेके प्रसंगमें भगवान् अपनी मायासे उन्हें विमोहित तो करते हैं, पर पुनः उन्हें भुलावेमें डाल देते हैं। उन्हें याद नहीं रहता कि उन्होंने श्रीकृष्णके मुखमें ब्रह्माण्ड देखा है।

सूरदासने माता यशोदाद्वारा श्रीकृष्णके घुटनों-चलने, पावों-चलने, दूधके दाँत देखने, तोतले वचन बोलने और बाल-क्रीडा करनेके अपने नाना भाँतिके मनोरथों, अपनी अभिलाषाको शब्दोंद्वारा अभिव्यक्ति दी है। माताके हृदयका एक अत्यन्त भावभरा मार्मिक पद द्रष्टव्य है—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रैंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै॥
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख बचन झरै।
कब नंदहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै॥
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसौं झगरै।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै, अपने कर सौं मुखहिं भरै॥

(सूरसागर ६९४)

यशोदाजीके प्रत्येक कार्यमें—बच्चेके लालन-पालनमें वात्सल्य झलकता है। प्रातः उठनेके लिये, मुँह धोनेके लिये और माखन-रोटी खानेके लिये बड़े अनुरागसे श्रीकृष्णको राजी करती हैं। वे श्रीकृष्णके बड़ा होनेपर स्तन्य छुड़ाना चाहती हैं तो कितनी ममता-वात्सल्यभरी कलासे उनको समझाती हैं कि देखो अब तुम बड़े हो गये हो, माका दूध पियोगे तो तुम्हारे अच्छे दाँत बिगड़ जायँगे—

'जैहैं बिगरि दाँत ये अच्छे, तातैं कहि समुझावति।'

ग्वाल-बाल चिढ़ाते हैं कि 'श्रीकृष्णको मोल लिया है', तो समझाती हैं—

'सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥'

खेलते समय श्रीकृष्ण यशोदासे आँख मुँदवाते हैं।

कृष्ण सब बच्चोंमें छोटे हैं, यशोदा चाहती हैं कि श्रीकृष्ण ात जायँ। वे बता देती हैं कि बच्चे किधर हैं और श्रीकृष्ण ादामाको पकड़ लेते हैं। श्रीदामाके चोर होनेपर कविने ावाभिव्यक्ति की है—

हँसि-हँसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहत जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर॥

(सूरसागर ८५८)

ऊखलसे बाँधनेपर, माखन चोरी करनेपर और दूध ्रलोते ही मटका फोड़नेपर नाराज होकर भी माता भीतरसे वित हो जाती हैं। उलाहना देनेपर कई बार गोपियोंपर ही ्रीझ पड़ती हैं कि क्या हो गया जो माखन खा लिया तो—

कहन लगीं अब बढ़ि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।

(सूरसागर ९७३)

—ये भाव यशोदा माताके हृदयकी अभिव्यक्ति करनेवाले हैं। जब श्रीकृष्ण गोवर्धनको उठा लेते हैं तो ाशोदाका मातृहृदय बड़े आश्चर्यमें पड़ जाता है। माताको ुत्र सदैव कोमल और अशक्त लगता है। यशोदा श्रीकृष्णके ाथ दबाने लगती हैं और बलैया लेती हैं। सूरदासजी वर्णन करते हैं—

गिरिवर कैसैं लियौ उठाइ।
कोमल कर चापति महतारी, यह कहि लेति बलाइ॥

(सूरसागर १५८५)

(ख) वियोग-वात्सल्य

संयोगसुखके अभावका नाम वियोग है। श्रीकृष्णके साथ नन्द-यशोदा, गोप-गोपी, ग्वाल-बाल और गाय-बछड़ोंका बेहद लगाव था। श्रीकृष्णके अलग होनेपर उन सभीको वियोगकी अनुभूति होती है। श्रीकृष्णके वियोग-वात्सल्यकी अनुभूति सबसे अधिक यशोदाको होती है। श्रीकृष्णका वियोग दो अवसरोंपर होता है—एक तो कालीदहमें कूद पड़नेपर और दूसरा मथुरा चले जानेपर। कालीदहमें कूदनेका वियोग थोड़ी देरका होता है, पर यशोदाकी अतिशय वियोग-वात्सल्यभरी छटपटाहट देखनेमें आती है—

खन भीतर, खन बाहिर आवति, खन आँगन इहिं भाँति।
सूर स्याम कौं टेरति जननी, नैंकु नहीं मन साँति॥

(सूरसागर ११५८)

वियोगका दूसरा अवसर श्रीकृष्णके मथुरागमनपर आता है। यह श्रीकृष्णका दीर्घकालीन वियोग है। सूरने संयोग-वात्सल्यकी तरह वियोग-वात्सल्यकी अभिव्यक्ति भी बड़ी गम्भीर, व्यापक और सूक्ष्म चित्रणद्वारा की है। मथुरा जानेके वियोगमें कंसके द्वारा अनिष्टकी आशंकासे वेदना और बलवती हो जाती है। श्रीकृष्णका दीर्घकालीन साहचर्य एकदम भुलाया भी नहीं जा सकता। श्रीकृष्णके मथुरागमनके अवसरपर चार बार वियोगकी अभिव्यक्ति सूरदासजीने अपने विशाल ग्रन्थ 'सूरसागर'में की है—(१) मथुरा जाते समय, (२) नन्द आदिके मथुरासे लौटते समय, (३) कुछ दिन व्यतीत हो जानेपर नन्द तथा यशोदाके वार्तालाप करते समय और (४) उद्धवके आगमनके समय। वियोग-वात्सल्यके चित्रणमें सूरदासने माता यशोदाके विरहोद्गारोंकी ही अभिव्यक्ति की है। मथुरा जाते समय वे अनिष्टकी आशंकासे अभिभूत हो जाती हैं और श्रीकृष्ण तथा बलरामको ले जानेका सारा दोष अक्रूरको देती हैं। वे कातरताभरे शब्दोंमें व्रजके लोगोंको पुकारती हैं। उनके शब्दोंमें वियोग-वात्सल्यकी छटपटाहट व्यक्त होती है—

जसोदा बार बार यौं भाषै।
है कोउ ब्रज मैं हितू हमारो, चलत गुपालहिं राखै॥

(सूरसागर ३५९१)

नन्दजी भी यशोदाजीको समझाते हैं, परंतु यशोदाको धैर्य नहीं बँधता। श्रीकृष्णके जाते समय चारों ओर व्रजके लोगोंकी भीड़ है। बीचमें रथपर श्रीकृष्ण और बलरामजी बैठे हैं। यशोदा पृथ्वीपर लेट जाती हैं। वे अत्यन्त मार्मिक शब्दोंमें श्रीकृष्णसे कहती हैं—'लाल! बिछुड़ते समय मेरी छातीसे लग जाओ।'

उद्धवके व्रज आनेपर उद्धव-गोपीसंवादमें भी यशोदाकी दशाका वर्णन है। वे व्रजकी दशाका वर्णन करती हैं। गोप-गोपी और ग्वाल-बालोंके साथ गायोंकी दशाका वर्णन करती हैं। अपनी मिलनकी उत्सुकता प्रकट करती हैं। सूरने वर्णन किया है कि वे श्रीकृष्णको सुखी देखकर संतोष कर लेती हैं और अपना मातृत्वभरा आशिष् देती हैं—

कहियौ जसुमति की आसीस।
जहाँ रहौ तहँ नंद लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस॥

(सूरसागर ४७०७)

इस प्रकार सूरदासजीका संयोग-वात्सल्यके साथ वियोग-वात्सल्य भी विस्तृत और सूक्ष्म अन्तर्दशाओंके साथ

पुष्टरूपमें वर्णित है। वियोग, अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण आदि सब दशाएँ भी उनमें आ गयी हैं। सूरदासके वात्सल्यवर्णनमें अनेक स्थलोंपर श्रीकृष्णके अलौकिक रूपका भी संकेत किया गया है। भगवान् जब अपने चरणका अँगूठा मुखमें डालते हैं तो *'उछरत सिंधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ। सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।'* ऐसा कहनेमें भगवान्का अलौकिक रूप लक्षित है। *'सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे, मेंटन कौं भू-भार'* ऐसा कहनेमें भी अलौकिक स्वरूप प्रकट होता है। सूरदासजीने वात्सल्यका वर्णन अपने भक्तिभावोंकी अभिव्यक्तिके लिये किया है। विद्वानोंने इसीसे सूरके वात्सल्यको वात्सल्य-भक्ति-रसकी कोटिमें रखा है।

(डॉ० श्रीनिवासजी शर्मा, एम्०ए० (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच्०डी०)

भक्त नामदेवका नामप्रेम

'मेरे भाग्यमें ज्ञान-वैराग्य कहाँ?' संत श्रीज्ञानेश्वरजीसे तीर्थयात्राके बीच उनके सत्सङ्गके अनन्तर श्रीनामदेवजीने कहा। 'मुझे तो विठोबाकी कृपाका ही आश्रय है। मुझे तो नाम-संकीर्तन ही प्रिय लगता है।'

हैदराबाद (दक्षिण)-के नरसी ब्राह्मणी नामक ग्राममें भगवद्भक्त छीपी (दर्जी) श्रीदामा सेठकी धर्मपत्नी गोणाईके गर्भसे कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा रविवार, संवत् १३२७ वि०-को प्रत्यूष-वेलामें श्रीनामदेवजीने जन्म लिया था। ये शैशवसे ही श्रीविट्ठलके श्रीविग्रहकी पूजा, उनके गुणगान तथा उनके नामका जप करते रहे। श्रीविट्ठलके चरणोंमें इनका अमित प्रेम था, उनका नाम इन्हें प्राणोंसे अधिक प्रिय था।

सृष्टिके प्रत्येक पदार्थमें केवल विठोबाके ही दर्शन उन्हें होते थे। घरके एक कोनेमें आग लगी तो आप दूसरी ओरका सामान अग्निमें फेंकते हुए बोले, 'प्रभो! इधर कृपा क्यों नहीं करते?' अन्ततः उन्हीं भक्तप्राणधनको उनकी कुटिया छानी पड़ी।

कुत्ता रोटी लेकर भागा तो आप घीकी कटोरी लिये उसके पीछे चिल्लाते हुए दौड़े, 'प्रभो! रोटी रूखी है। उसमें घृत लगा लेने दीजिये।'

अपने आराध्यको इस रीतिसे सर्वत्र देखना, उनके नाम-कीर्तनके बिना क्षणभर भी चैनसे न रह पाना विश्वास, निष्ठा और प्रेमकी पराकाष्ठा है और इसके सजीव प्रमाण श्रीनामदेवजी हैं।

श्रीनामदेवजी यहाँतक कहते हैं कि 'जो नारायणका भजन नहीं करते, मैं उनको देखना भी नहीं चाहता'—

जे न भजति नारायणा। तिनका मैं न करौं दरसणा॥

आप संसारकी कठिनाइयों और जीवनकी निस्सारतापर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि 'भगवान्की लीला अगाध समुद्र है, उसकी गति कोई नहीं देख सकता। ग्रहणके योग्य तो प्रभुका नाम है, उसे ही भजिये'—

तत्त गहनको नाम है, भजि लीजै सोई।
लीला सिंध अगाध है, गति लखै न कोई॥

'सोनेके पर्वत, हाथी और घोड़ेका दान तथा करोड़ों गायोंका दान नामके समान नहीं। ऐसा नाम अपनी जीभपर रखो, जिससे जरा और मृत्यु पुनः न हो'। अतः एकाग्रचित होकर नामसंकीर्तन करना चाहिये; क्योंकि इस भवसागर-रूपी संसारको पार करनेके लिये नाम ही जहाज है—

कंचन मेरु-सुमेरु, हय-गज दीजै दाना।
कोटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना॥
अस मन लाव नाम रसना। तेरो बहुरि न होइ जरा-मरना॥
एकै मन एकै दसा एकै व्रत धरिये।
नामदेव नाम जहाज है, भवसागर तरिये॥

आप जोर देकर कहते हैं कि 'मेरी बात सच्ची मान लो और निर्भय होकर भगवान्का भजन करो'—

कहत नामदेव साँची मान। निरभै होइ भजिलै भगवान॥

श्रीभगवान्के नामके ये अनन्य प्रेमी महात्मा नाम-जप करनेवाले पुरुषोंके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ अनुभव करते थे, उनके लिये अपना प्राण उनके सम्मुख रख देनेमें भी इन्हें हिचक नहीं थी। वे स्वयं कह भी देते हैं—

कहत नामदेव बलि-बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखो॥

संवत् १४०७ वि० में ८० वर्षकी आयुमें आपने परमधामकी यात्रा की। महाराष्ट्रमें वारकरी पन्थके संस्थापक एक प्रकारसे आप ही हैं।

भक्त कविरत्न जयदेवजी और उनका श्रीकृष्ण-प्रेम

प्रसिद्ध भक्त-कवि जयदेवका जन्म लगभग पाँच सौ
पूर्व बंगालके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत केन्दुबिल्व
मक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम भोजदेव और
ताका नाम वामादेवी था। ये भोजदेव कान्यकुब्जसे
गालमें आये हुए पञ्च-ब्राह्मणोंमें भरद्वाजगोत्रज श्रीहर्षके
शज थे। माता-पिता बाल्यकालमें ही जयदेवको अकेला
ोड़कर चल बसे थे। ये भगवान्‌का भजन करते हुए किसी
कार अपना निर्वाह करते थे। पूर्व-संस्कार बहुत अच्छे
ोनेके कारण इन्होंने कष्टमें रहकर भी बहुत अच्छा
वेद्याभ्यास कर लिया था और सरल प्रेमके प्रभावसे
गवान् श्रीकृष्णकी परम कृपाके अधिकारी हो गये थे।

इनके पिताको उसी गाँवके निरञ्जन नामक एक ब्राह्मणके कुछ रुपये देने थे। निरञ्जनने जयदेवको संसारसे उदासीन जानकर उनकी भगवद्भक्तिसे अनुचित लाभ उठानेके विचारसे किसी प्रकार उनके घर-द्वार हथियानेका निश्चय किया। उसने एक दस्तावेज़ बनाया और आकर जयदेवसे कहा—'देख जयदेव! मैं तेरे राधा-कृष्णको और गोपी-कृष्णको नहीं जानता या तो अभी मेरे रुपये ब्याज-समेत दे दे, नहीं तो इस दस्तावेज़पर सही करके घर-द्वारपर मुझे अपना क़ब्ज़ा कर लेने दे!'

जयदेव तो सर्वथा निःस्पृह थे। उन्हें घर-द्वारमें रत्तीभर भी ममता न थी। उन्होंने कलम उठाकर उसी क्षण दस्तावेज़पर हस्ताक्षर कर दिये। निरञ्जन क़ब्ज़ा करनेकी तैयारीसे आया ही था। उसने तुरंत घरपर क़ब्ज़ा कर लिया। इतनेमें ही निरञ्जनकी छोटी कन्या दौड़ती हुई अपने घरसे आकर निरञ्जनसे कहने लगी—'बाबा! जल्दी चलो, घरमें आग लग गयी; सब जल गया।' भक्त जयदेव वहीं थे। उनके मनमें द्वेष-हिंसाका कहीं लेश भी नहीं था, निरञ्जनके घरमें आग लगनेकी खबर सुनकर वे भी उसी क्षण दौड़े और जलती हुई लाल-लाल लपटोंके अंदर उसके घरमें घुस गये। जयदेवका घरमें घुसना ही था कि अग्नि वैसे ही अदृश्य हो गयी, जैसे जागते ही सपना!

जयदेवकी इस अलौकिक शक्तिको देखते ही निरञ्जनके नेत्रोंमें जल भर आया। अपनी अपवित्र करनीपर पछताता हुआ। निरञ्जन जयदेवके चरणोंमें गिर पड़ा और दस्तावेज़को फाड़कर कहने लगा—'देव! मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने लोभवश थोड़े-से पैसोंके लिये जान-बूझकर बेईमानीसे तुम्हारा घर-द्वार छीन लिया है। आज तुम न होते तो मेरा तमाम घर ख़ाक हो गया होता। धन्य हो तुम! आज मैंने भगवद्भक्तका प्रभाव जाना।'

उसी दिनसे निरञ्जनका हृदय शुद्ध हो गया और वह जयदेवके सङ्गसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजन-कीर्तनमें समय बिताने लगा। उसका जीवन भगवत्प्रेममय हो गया।

भगवान्‌की अपने ऊपर इतनी कृपा देखकर जयदेवका हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने घर-द्वार छोड़कर पुरुषोत्तम-क्षेत्र—पुरी जानेका विचार किया और अपने गाँवके पराशर नामक ब्राह्मणको साथ लेकर वे पुरीकी ओर चल पड़े। भगवान्‌का भजन-कीर्तन करते, मग्न हुए जयदेवजी चलने लगे। एक दिन मार्गमें जयदेवजीको बहुत दूरतक कहीं जल नहीं मिला। बहुत जोरकी गरमी पड़ रही थी, वे प्यासके मारे व्याकुल होकर जमीनपर गिर पड़े। तब भक्तवाञ्छाकल्पतरु हरिने स्वयं गोपाल-बालकके वेषमें पधारकर जयदेवको कपड़ेसे हवा की और जल तथा मधुर दूध पिलाया। तदनन्तर मार्ग बतलाकर उन्हें शीघ्र ही पुरी पहुँचा दिया। अवश्य ही भगवान्‌को छद्मवेषमें उस समय जयदेवजी और उनके साथी पराशरने पहचाना नहीं।

जयदेवजी प्रेममें डूबे हुए सदा श्रीकृष्णका नाम-गान करते रहते थे। एक दिन भावावेशमें अकस्मात् उन्होंने देखा मानो चारों ओर सुनील पर्वतश्रेणी है, नीचे कल-कल निनादिनी कालिन्दी बह रही है। यमुना-तीरपर कदम्बके नीचे खड़े हुए भगवान् श्रीकृष्ण मुरली हाथमें लिये मुसकरा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही जयदेवजीके मुखसे अकस्मात् यह गीत निकल पड़ा—

> मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
> र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
> इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
> राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः॥

पराशर इस मधुर गानको सुनकर मुग्ध हो गया। बस,

यहींसे ललितमधुर 'गीतगोविन्द' आरम्भ हुआ! कहा जाता है, यहीं जयदेवजीको भगवान्‌के दशावतारोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उन्होंने *'जय जगदीश हरे'* की टेर लगाकर दसों अवतारोंकी क्रमशः स्तुति गायी। कुछ समय बाद जब उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ, तब पराशरको साथ लेकर वे चले भगवान् श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने! भगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर जयदेवजी बहुत प्रसन्न हुए। उनका हृदय आनन्दसे भर गया! वे पुरुषोत्तमक्षेत्र—पुरीमें एक विरक्त संन्यासीकी भाँति रहने लगे। उनका कोई नियत स्थान नहीं था। प्रायः वृक्षके नीचे ही वे रहा करते और भिक्षाद्वारा क्षुधा-निवृत्ति करते। दिन-रात प्रभुका ध्यान, चिन्तन और गुणगान करना ही उनके जीवनका एकमात्र कार्य था।

विवाहकी इच्छा न होनेपर भी सुदेव नामके एक ब्राह्मणने भगवान्‌की आज्ञासे अपनी पुत्री पद्मावती जयदेवजीको अर्पित कर दी। भगवान्‌का आदेश मानकर जयदेवजीको पद्मावतीके साथ विवाह करना पड़ा। कुछ दिनों बाद गृहस्थ बने हुए जयदेव पतिव्रता पद्मावतीको साथ लेकर अपने गाँव केन्दुबिल्व लौट आये और भगवान् श्रीराधामाधवकी युगल श्रीमूर्ति प्रतिष्ठित करके दोनों उनकी सेवामें प्रवृत्त हो गये।

कुछ समय केन्दुबिल्वमें रहनेके बाद जयदेवजी यात्राको निकले। एक राजाने उनका बड़ा सम्मान करके उन्हें अपने यहाँ रखा और वहाँसे चलते समय इच्छा न रहनेपर भी बहुत-सा धन उन्हें दे दिया। जयदेवजीने उसे लेनेसे इनकार किया; परंतु जब राजा किसी प्रकार भी नहीं माना, तब मन मारकर उन्होंने राजाकी प्रसन्नताके लिये निःस्पृह और निर्मम भावसे कुछ धन साथ ले लिया तथा वहाँसे वे अपने गाँवको चल पड़े। मार्गमें कुछ डाकुओंने पीछेसे आक्रमण करके जयदेवजीको नीचे गिरा दिया और देखते-ही-देखते उनके हाथ-पैर काटकर उन्हें एक कुएँमें डाल दिया। अनित्य धनकी गठरीके साथ ही उन्होंने महान् दुःखके कारणरूप भयानक पापकी भारी पोटली भी बाँध ली। अपनी सफलतापर गर्व करते हुए डाकू वहाँसे चल दिये।

भगवत्कृपासे कुएँमें जल बिलकुल नहीं था, इससे जयदेवजी डूबे नहीं। भगवान्‌की दयासे उन्हें कहीं चोट भी नहीं आयी। वे कुएँके अंदर एक सुन्दर शिलाको पाकर उसीपर सुखसे बैठ गये और प्रभुके विधानपर परम प्रसन्न होते हुए प्रेमसे उनका नाम-गुण-कीर्तन करने लगे। जयदेवजीने सोचा कि हो-न-हो यह मेरे धन-ग्रह करनेका ही परिणाम है!

थोड़ी देर बाद उधरसे गौड़ेश्वर राजा लक्ष्मणसेन[illegible] सवारी निकली। कुएँमेंसे आदमीकी आवाज आती सुन[illegible] राजाने देखनेकी आज्ञा दी। एक सेवकने जाकर देखा [illegible] मालूम हुआ, कोई मनुष्य सूखे कुएँमें बैठा श्रीकृष्णनामकीर्[illegible] कर रहा है। राजाकी आज्ञासे उसी क्षण जयदेव बाह[illegible] निकाले गये और इलाज करानेके लिये उन्हें साथ लेक[illegible] राजा अपनी राजधानी गौड़को लौट आये। श्रीजयदेवजीक[illegible] विद्वत्ता और उनके श्रीकृष्ण-प्रेमका परिचय प्राप्तकर राजाक[illegible] बड़ी प्रसन्नता हुई तथा उनके लोकोत्तर गुणोंको देख व[illegible] उनका भक्त बन गया। राजाने हाथ-पैर काटनेवालोंक[illegible] नाम-पता और हुलिया पूछा। जयदेवजी नाम-पता तो जान[illegible] ही नहीं थे; हुलिया भी उन्होंने इसलिये नहीं बताया कि कहीं राजकर्मचारी उनका पता लगाकर उन्हें तंग न करें।

चिकित्सासे जयदेवजीके घाव सूख गये। राजाने उन्हें अपनी पञ्चरत्न-सभाका प्रधान बना दिया और सर्वाध्यक्षताका सारा भार उन्हें सौंप दिया। इसके कुछ दिनों बाद इनकी पत्नी पद्मावती भी श्रीराधामाधवकी युगल मूर्तिको लेकर पतिके पास चली आयीं। राजा हर तरहसे धनादि देकर जयदेवजीका सम्मान करना चाहते; परंतु धन-मानके विरागी भक्त जयदेव मामूली खर्चके सिवा कुछ भी नहीं लेते थे। एक दिन राजमहलमें कोई महोत्सव था। उसमें भोजन करनेके लिये हजारों दरिद्र, भिक्षुक, अतिथि, ब्राह्मण, साधु आदि आये थे। उन्हींमें साधुवेषधारी वे चारों डाकू भी थे जिन्होंने जयदेवजीको धनके लोभसे उनके हाथ-पैर काटकर कुएँमें फेंक दिया था।

डाकुओंको क्या पता था कि हमने जिसे मरा समझ लिया था, वही यहाँ सर्वाध्यक्ष है। डाकुओंने दूरसे ही जयदेवजीको देखा और लूले-लँगड़े देखकर उन्हें तुरंत पहचान लिया। वे डरकर भागनेका मौका देखने लगे। इतनेमें ही जयदेवजीकी दृष्टि उनपर पड़ी। देखते ही वे वैसे ही आनन्दमें भर गये, जैसे बहुत दिनोंके बिछुड़े बन्धुओंको देखकर बन्धुको आनन्द होता है। जयदेवजीने मनमें सोचा, 'इन्हें धनकी आवश्यकता होगी। राजा मुझसे सदा धन लेनेको कहा करते हैं; आज इन्हें कुछ धन दिलवा दिया जायगा तो बड़ा संतोष होगा।' जयदेवजीने राजासे कहा—

मेरे कुछ पुराने मित्र आये हैं, आप चाहें तो इन्हें कुछ धन दे सकते हैं।' कहनेभरकी देर थी। राजाने तुरंत उन्हें अपने पास बुलाया और उनकी इच्छाके अनुसार बहुत-सा धन-धान्य देकर आदरपूर्वक खिलाने-पिलानेके बाद वस्त्रालङ्कारोंसे पुनः सम्मानित करके प्रेमपूर्वक उनको विदा कर दिया। धनका बोझ ज्यादा हो गया था तथा रास्तेमें सँभालकी भी आवश्यकता थी, इसलिये जयदेवजीने एक अफसरके साथ चार सेवकोंको उनके साथ कर दिया। राहमें अफसरने उनके इतना धन-सम्मान पानेका रहस्य जाननेके लिये उनसे पूछा कि 'भाइयो! आपका निःस्पृह भक्तवर जयदेवजीके साथ क्या सम्बन्ध है, जिससे उन्होंने आपलोगोंको इतनी अपार सम्पत्ति दिलवाकर आपके उपकारका बदला चुकाया है?'

पापबुद्धि डाकुओंने ईश्वरके न्याय और भयको भुलाकर कपटसे कहा—'साहब! तुम्हारा यह अध्यक्ष और हमलोग एक राज्यमें कर्मचारी थे। हमलोग अफसर थे और यह हमारी मातहतीमें काम करता था; इसने एक बार ऐसा कुकर्म किया कि राजाने गुस्सेमें आकर इसका सिर उड़ा देनेकी आज्ञा दे दी। उस समय हमलोगोंने दया करके इसे बचा लिया और इसके हाथ-पैर कटवाकर छोड़ दिया। हम कहीं यह भेद खोल न दें, इसी भयसे इसने हमारा इतना सम्मान किया-कराया है। हमने भी उसका बुरा हो जानेके डरसे कुछ भी नहीं कहा।'

डाकुओंका इतना कहना था कि धड़ामसे धरती फटी और चारों जीते ही उसमें समा गये! राजकर्मचारी आश्चर्यमें डूब गया।

तदनन्तर अफसर नौकरोंके सिरपर सारा धन लदवाकर वापस राजधानीको लौट आये और राजासे उन्होंने सारा हाल सुना दिया। राजाने जयदेवको बुलाकर चकित मनसे सब बातें सुनायीं। इतनेमें ही राजा यह देखकर आश्चर्य और हर्षमें डूब गया कि जयदेवजीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है तथा उनके कटे हुए हाथ-पैर उसी क्षण पुनः पूर्ववत् स्वाभाविक हो गये हैं। राजाने विस्मित होकर बड़े ही कौतूहलसे आग्रहपूर्वक सारा हाल पूछा। जयदेवजीको अब सच्ची घटना सुनानी पड़ी। दयालुहृदय जयदेवजीने कहा—'राजन्! मैं बहुत ही अभागा हूँ, जिसके कारण उन बेचारोंके प्राण गये। मैंने धनको बुरा समझकर छोड़ दिया था, पुनः राजाके आग्रहसे उसे ग्रहण किया। इसीसे वनमें उन बेचारोंकी बुद्धि लोभवश दूषित हो गयी और उन्होंने धन छीननेके लिये मुझे लूला-लँगड़ा करके कुएँमें डाल दिया। इस प्रकार उन्होंने धनका और धन-ग्रहणका प्रत्यक्ष दोष सिद्ध कर मेरे साथ मित्रताका ही बर्ताव किया। मैं उनके उपकारसे दब गया, इसीसे उन्हें आपके पाससे धन दिलवाया। अधिक धन दिलवानेमें मेरा एक हेतु यह भी था—यदि उनकी धनकी कामना पूर्ण हो जायगी तो वे डाकूपनके निर्दय कामको छोड़ देंगे। अवश्य ही मेरे हाथ-पैर किसी पूर्वकृत कर्मके फलसे ही कटे थे, वे तो केवल लोभवश निमित्त बने थे। आज अपने ही कारणसे उनकी इस प्रकार अप्राकृतिक मृत्युका समाचार सुनकर मुझे रोना आ रहा है। यदि उनका दोष हो तो भगवान् उन्हें क्षमा करें। कितना आश्चर्य है कि मेरे दोष न देखकर भगवान्ने दया करके मेरे हाथ-पैर पुनः पूर्ववत् बना दिये हैं। राजन्! ऐसे मेरे प्यारे श्रीकृष्णको जो नहीं भजता, उसके समान अभागा और कौन होगा।'

भक्तप्रवर श्रीजयदेवजीकी वाणी सुनकर राजा चकित हो उनके चरणोंमें लोट गया। भक्तहृदयकी महत्ताका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्तकर वह उनसे अत्यन्त प्रभावित होकर भक्त बन गया!

जयदेवजीकी पत्नी पद्मावती भी छायाकी भाँति सब प्रकारसे स्वामीका अनुवर्तन करनेवाली थी। भगवान्‌के प्रति उसका प्रेम भी असीम था। पातिव्रत-धर्मका महत्त्व वह भलीभाँति जानती थी। जयदेवजी राजपूज्य थे। इससे रानी, राजमाता आदि राजमहलकी महिलाएँ भी उनके घर पद्मावतीजीके पास आकर सत्सङ्गका लाभ उठाया करती थीं। रानी बहुत ही सुशीला, साध्वी, धर्मपरायणा और पतिव्रता थी। परंतु उसके मनमें कुछ अभिमान था, इससे किसी-किसी समय वह कुछ दुःसाहस कर बैठती थी। एक दिन पद्मावतीके साथ भी वह ऐसा ही दुःसाहसपूर्ण कार्य कर बैठी।

सत्सङ्ग हो रहा था। बातों-ही-बातोंमें पद्मावतीने सती-धर्मकी महिमा बतलाते हुए कहा कि 'जो स्त्री स्वामीके मर जानेपर उसके शवके साथ जलकर सती होती है, वह तो नीची श्रेणीकी ही सती है। उच्च श्रेणीकी सती तो पतिके मरणका समाचार सुनते ही प्राण त्याग देती है।' रानीको यह बात नहीं जँची। उसने समझा, पद्मावती अपने

सतीत्वका गौरव बढ़ानेके लिये ऐसा कह रही है। मनमें ईर्ष्या जाग उठी, रानी परीक्षा करनेका निश्चय करके बिना ही कुछ कहे महलको लौट गयी। एक समय राजाके साथ जयदेवजी कहीं बाहर गये थे। रानी सुअवसर समझकर दम्भसे विषादयुक्त चेहरा बनाकर पद्मावतीके पास गयी और कपट-रुदन करते-करते कहा कि 'पण्डितजीको वनमें सिंह खा गया।' उसका इतना कहना था कि पद्मावती 'श्रीकृष्ण-कृष्ण' कहकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ी! रानीने चौंककर देखा तो पद्मावती अचेतन मालूम हुई—परीक्षा करनेपर पता लगा कि पद्मावतीके प्राणपखेरू शरीरसे उड़ गये हैं। रानीके होश उड़ गये। उसे अपने दुःसाहसपूर्ण कुकृत्यपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगी, 'अब मैं महाराजको कैसे मुँह दिखाऊँगी। जब पतिदेव अपने पूज्य गुरु जयदेवजीकी धर्मशीला पत्नीकी मृत्युका कारण मुझको समझेंगे, तब उन्हें कितना कष्ट होगा! जयदेवजीको भी कितना सन्ताप होगा! हा दुर्दैव!' इतनेमें ही जयदेवजी आ पहुँचे। राजाके पास भी मृत्यु-संवाद जा पहुँचा था, वह भी वहीं आ गया। राजाके दुःखका पार नहीं रहा। रानी तो जीते ही मरेके समान हो गयी। जयदेवजीने रानीकी सखियोंसे सारा हाल जानकर कहा—'रानी-मासे कह दो, घबराएँ नहीं। मेरी मृत्युके संवादसे पद्मावतीके प्राण निकल गये तो अब मेरे जीवित यहाँ आ जानेपर उन प्राणोंको वापस भी आना पड़ेगा।' जयदेवजीने मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना की। कीर्तन आरम्भ हो गया। जयदेवजी मस्त होकर गाने लगे। धीरे-धीरे पद्मावतीके शरीरमें प्राणोंका सञ्चार हो आया। देखते-ही-देखते वह उठ बैठी और हरि-ध्वनि करने लगी। रानी आनन्दकी अधिकतासे रो पड़ी। उसने कलङ्क-भञ्जन श्रीकृष्णको धन्यवाद दिया और भविष्यमें कभी ऐसा दुःसाहस न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। सब ओर आनन्द छा गया। जयदेवजीकी भक्ति और पद्मावतीके पातिव्रतका सुयश चारों ओर फैल गया।

कुछ समय गौड़में रहनेके बाद पद्मावती और श्रीराधामाधवजीके विग्रहोंको लेकर राजाकी अनुमतिसे जयदेवजी अपने गाँवको लौट आये। यहाँ उनका जीवन श्रीकृष्णके प्रेममें एकदम डूब गया। उसी प्रेमरसमें डूबकर इन्होंने मधुर 'गीतगोविन्द' की रचना की।

एक दिन श्रीजयदेवजी 'गीतगोविन्द' की एक कविता लिख रहे थे, परंतु वह पूरी ही नहीं हो पाती थी। पद्मावतीने कहा—'देव! स्नानका समय हो गया है, अब लिखना बंद करके आप स्नान कर आयें तो ठीक हो।' जयदेवजीने कहा—'पद्मा! जाता हूँ। क्या करूँ, मैंने एक गीत लिखा है; परंतु उसका शेष चरण ठीक नहीं बैठता। तुम भी सुनो—

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं
जनितरतिरङ्गपरभागम् ।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वयं
सरसलसदलक्तकरागम् ॥
स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनम्—

इसके बाद क्या लिखूँ, कुछ निश्चय नहीं कर पाता! पद्मावतीने कहा—'इसमें घबरानेकी कौन-सी बात है! गङ्गास्नानसे लौटकर शेष चरण लिख लीजियेगा।'

'अच्छा यही सही। ग्रन्थको और कलम-दावातको उठाकर रख दो, मैं स्नान करके आता हूँ।'

जयदेवजी इतना कहकर स्नान करने चले गये। कुछ ही मिनटों बाद जयदेवका वेष धारणकर स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण पधारे और बोले—'पद्मा! जरा 'गीतगोविन्द' देना।'

पद्मावतीने विस्मित होकर पूछा,—'आप स्नान करने गये थे न? बीचसे ही कैसे लौट आये?'

महामायावी श्रीकृष्णने कहा—'रास्तेमें ही अन्तिम चरण याद आ गया, इसीसे लौट आया।' पद्मावतीने ग्रन्थ और कलम-दावात ला दिये। जयदेव-वेषधारी भगवान्‌ने—

'देहि मे पदपल्लवमुदारम्।'

—लिखकर कविताकी पूर्ति कर दी। तदनन्तर पद्मावतीसे जल मँगाकर स्नान किया और पूजादिसे निवृत्त होकर भगवान्‌को निवेदन किया हुआ पद्मावतीके हाथसे बना भोजन पाकर पलँगपर लेट गये।

पद्मावती पत्तलमें बचा हुआ प्रसाद पाने लगी। इतनेमें ही स्नान करके जयदेवजी लौट आये। पतिको इस प्रकार आते देखकर पद्मावती सहम गयी और जयदेव भी पत्नीको भोजन करते देखकर विस्मित हो गये। जयदेवजीने कहा—'यह क्या? पद्मा, आज तुम श्रीमाधवको भोग लगाकर मुझको भोजन कराये बिना ही कैसे जीम रही हो? तुम्हारा ऐसा आचरण तो मैंने कभी नहीं देखा।'

पद्मावतीने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं? आप कविताका शेष चरण लिखनेके लिये रास्तेसे ही लौट आये थे, कविताकी पूर्ति करनेके बाद आप अभी-अभी तो स्नान-पूजन-भोजन करके लेटे थे। इतनी देरमें मैं आपको नहाये हुए-से आते कैसे देख रही हूँ!' जयदेवजीने जाकर देखा, पलँगपर कोई नहीं लेट रहा है। वे समझ गये कि आज अवश्य ही यह भक्तवत्सलकी कृपा हुई है। फिर कहा—'अच्छा पद्मा! लाओ तो देखें, कविताकी पूर्ति कैसे हुई है।'

पद्मावती ग्रन्थ ले आयी। जयदेवजीने देखकर मन-ही-मन कहा—'यही तो मेरे मनमें था, पर मैं संकोचवश लिख नहीं रहा था।' फिर वे दोनों हाथ उठाकर रोते-रोते पुकारकर कहने लगे—'हे कृष्ण! नन्दनन्दन, हे राधावल्लभ, हे व्रजाङ्गनाधव, हे गोकुलरत्न, करुणासिन्धु, हे गोपाल! हे प्राणप्रिय! आज किस अपराधसे इस किङ्करको त्यागकर आपने केवल पद्माका मनोरथ पूर्ण किया!' इतना कहकर जयदेवजी पद्मावतीकी पत्तलसे श्रीहरिका प्रसाद उठाकर खाने लगे। पद्मावतीने कितनी ही बार रोककर कहा—'नाथ! आप मेरा उच्छिष्ट क्यों खा रहे हैं?' परंतु प्रभु-प्रसादके लोभी भक्त जयदेवने उसकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटनाके बाद उन्होंने 'गीतगोविन्द' को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। तदनन्तर वे उसीको गाते मस्त हुए घूमा करते। वे गाते-गाते जहाँ कहीं जाते, वहीं भक्तका कोमलकान्त गीत सुननेके लिये श्रीनन्दनन्दन छिपे हुए उनके पीछे-पीछे रहते। धन्य प्रभु!

अन्तकालमें श्रीजयदेवजी अपनी पतिपरायणा पत्नी पद्मावती और भक्त पराशर, निरञ्जन आदिको साथ लेकर वृन्दावन चले गये तथा वहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीला देख-देखकर आनन्द लूटते रहे। कहते हैं कि वृन्दावनमें ही वे देह त्यागकर नित्यनिकेतन गोलोक पधार गये।

किसी-किसीका कहना है कि जयदेवजीने अपने ग्राममें शरीर छोड़ा था और उनके घरके पास ही उनका समाधि-मन्दिर बनाया गया।
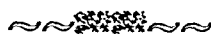
आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीका श्रीकृष्ण-प्रेम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

जिनके करकमल वंशीसे विभूषित हैं, जिनकी नवीन मेघकी-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र हैं, अरुण बिम्बफलके समान अधरोष्ठ हैं, पूर्ण चन्द्रके सदृश सुन्दर मुख और कमलके-से नयन हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

(मधुसूदनी गीताटी०)

ध्यानाभ्याससे मनको स्ववश करके योगीजन यदि किसी प्रसिद्ध निर्गुण, निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो वे उसे भले ही देखें; हमारे लिये तो श्रीयमुनाजीके तटपर जो कृष्णनामवाली वह अलौकिक नील ज्योति दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी अद्वैत वेदान्तके महान् तत्त्वज्ञ थे, किंतु भगवान् मनमोहनकी मोहिनी छटाने उनपर ऐसा प्रभाव डाला कि फिर वे सदाके लिये उनकी गुणावलीपर रीझते ही चले गये। भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है कि उसपर अमलात्मा-विमलात्मा ज्ञानीजन भी मुग्ध हो जाते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात् जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं।

श्रीमधुसूदनाचार्यजीने गीताकी मधुसूदनी टीकाके प्रारम्भमें मङ्गलाचरणके रूपमें उपर्युक्त श्लोकोंद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका जो स्वरूप चित्रित किया है, उससे उनका श्रीकृष्णप्रेम स्पष्ट झलकता है।

ईसाकी लगभग सोलहवीं शताब्दीमें बंगालके फरीदपुर जिलेके कोटालपाड़ा ग्राममें प्रमोदन पुरन्दर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनके तृतीय पुत्र हुए कमलनयनजी। इन्होंने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीपके हरिराम तर्कवागीशसे न्यायशास्त्रका अध्ययन किया। काशी आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजीसे इन्होंने वेदान्तका अध्ययन किया और यहीं संन्यास ग्रहण किया। संन्यासका इनका नाम 'मधुसूदन सरस्वती' पड़ा।

स्वामी मधुसूदन सरस्वतीको शास्त्रार्थ करनेकी धुन थी। काशीके बड़े-बड़े विद्वानोंको ये अपनी प्रतिभाके बलसे हरा देते थे। परंतु जिसे श्रीकृष्ण अपनाना चाहते हों, उसे मायाका यह थोथा प्रलोभन-जाल कबतक उलझाये रख सकता है। एक दिन एक वृद्ध दिगम्बर परमहंसने उनसे कहा—'स्वामीजी! सिद्धान्तकी बात करते समय तो आप अपनेको असङ्ग, निर्लिप्त ब्रह्म कहते हैं; पर सच बताइये, क्या विद्वानोंको जीतकर आपके मनमें गर्व नहीं होता? यदि आप पराजित हो जायँ, तब भी क्या ऐसे ही प्रसन्न रह सकेंगे? यदि आपको घमंड होता है तो ब्राह्मणोंको दुःखी करने, अपमानित करनेका पाप भी होगा।' कोई दूसरा होता तो मधुसूदन सरस्वती उसे फटकार देते, परंतु उन संतके वचनोंसे वे लज्जित हो गये। उनका मुख मलिन हो गया। परमहंसने कहा—'भैया! पुस्तकोंके इस थोथे पाण्डित्यमें कुछ रखा नहीं है। ग्रन्थोंकी विद्या और बुद्धिके बलसे किसीने इस मायाके दुस्तर जालको पार नहीं किया है। प्रतिष्ठा तो देहकी होती है और देह नश्वर है। यश तथा मान-बड़ाईकी इच्छा भी एक प्रकारका शरीरका मोह ही है। तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। उपासना करके हृदयसे इस गर्वके मैलको दूर कर दो। सच्चा आनन्द तो तुम्हें आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रके चरणोंमें ही मिलेगा।'

स्वामीजीने उन महात्माके चरण पकड़ लिये। दयालु संतने श्रीकृष्ण-मन्त्र देकर उपासना तथा ध्यानकी विधि बतायी और चले गये। मधुसूदन सरस्वतीने तीन महीनेतक उपासना की। जब उनको इस अवधिमें कुछ लाभ न जान पड़ा, तब काशी छोड़कर ये घूमने निकल पड़े। कपिलधाराके पास वही संत इन्हें फिर मिले। उन्होंने कहा—'स्वामीजी! लोग तो भगवत्प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोंतक साधन, भजन और तप करते हैं, फिर भी बड़ी कठिनतासे उन्हें भगवान्‌के दर्शन हो पाते हैं, पर आप तो तीन ही महीनेमें घबरा गये।' अब अपनी भूलका स्वामीजीको पता लगा। ये गुरुदेवके चरणोंपर गिर पड़े। काशी लौटकर ये फिर भजनमें लग गये। प्रसन्न होकर श्रीश्यामसुन्दरने इन्हें दर्शन दिये।

अद्वैतसिद्धि, सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैत-रत्न-रक्षण और प्रस्थानभेदके लेखक इन प्रकाण्ड नैयायिक तथा वेदान्तके विद्वान्‌ने भक्तिरसायन, गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नामक व्याख्या एवं श्रीमद्भागवतकी व्याख्या लिखी। ये कहते हैं—'यह ठीक है कि अद्वैत ज्ञानके मार्गपर चलनेवाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं; यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वाराज्यके सिंहासनपर आरूढ़ हो चुका हूँ; किंतु क्या करूँ, एक कोई गोपकुमारियोंका प्रेमी शठ है, उसी हरिने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है'—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

आचार्यजीका कहना है कि भक्तिका फल प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। जिस प्रकार गङ्गास्नानसे तापपीडित मनुष्यको प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है और उसका पाप-नाश आदि अदृष्ट फल भी शास्त्रोंमें कहा गया है, उसी प्रकार भक्तिसे प्रत्यक्ष सुख-शान्तिकी अनुभूति होती है तथा भक्तिविधायक शास्त्रोंसे मोक्ष आदि फलकी प्राप्ति भी सुनी जाती है—

दृष्टादृष्टफला भक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥

(भक्तिरसायन २।४५)
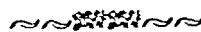
भगवत्प्रेमी भक्तके लक्षण

(पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज)

अन्य समस्त कार्य छोड़कर जो सर्वदा एकमात्र भगवान्‌का ही अवलम्बन करता है, एकमात्र भगवान्‌की सेवा-पूजामें तन-मन-धनसे निरन्तर नियुक्त रहता है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌में समस्त लोक और समस्त लोकोंमें भगवान्‌का दर्शन करता है, जो सर्वत्र समानबुद्धि रखता है और सर्वभूतोंमें प्रेम रखता है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसको अपने और परायेका भेद नहीं है, जिसको इच्छा, द्वेष और अभिमान नहीं है तथा जो सर्वदा पवित्र एवं भगवान्‌में दत्तचित्त है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसका मन सम्पत्ति-विपत्तिमें भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता, जो सर्वदा सत्यवादी एवं सदाचारपरायण है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌के सर्वत्र दर्शन करता है, जिसको संसारसे अभय प्राप्त है, जो अन्य प्राणियोंको अभय प्रदान करता है, जो संसारसे उदासीन है तथा जो आश्रमधर्ममें कुशल है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसको प्रेमका ही अवलम्बन है और जिसका हृदय प्रेममय है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो सर्वदा चातककी भाँति एकनिष्ठ है, सर्वदा लक्ष्मणकी भाँति स्वतन्त्रतासे रहित है, सर्वदा द्वन्द्वों अर्थात् शीतोष्ण और राग-द्वेषसे परे एवं संतुष्टचित्त है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीको नहीं जानता और न किसीको चाहता है, जिसका मन स्थिर है और जो संयमी है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌को इसी शरीरसे प्राप्त कर लेता है, जिसका भगवान्‌के चिन्तनमें ही समय व्यतीत होता है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसने भगवान्‌को जो कि एकमात्र सत्य वस्तु हैं आत्मसमर्पण किया है, वही नमस्कारयोग्य है।

ऐसे भक्तराजके दर्शन, प्रणाम और सेवा करनेवालेका जीवन धन्य है। ऐसे भक्तकी कृपासे प्रेमकी वृद्धि और कामनासे विरति होती है। भक्तका हृदय ही भगवान्‌का विलासस्थान है। भक्तके हृदयसे भगवान्‌का स्वरूप और भगवान्‌की महिमा प्रकाशित होती है। हे पुरुषो! ऐसे भक्तको त्यागकर और किसका सङ्ग करना चाहिये? भक्त सम्पत्ति, सिद्धि अथवा कैवल्यमुक्ति नहीं चाहता, वह सर्वस्व त्याग देता है और सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌में विलीन होता है अर्थात् आत्मविसर्जन करता है। भगवान्‌में आत्माकी आहुति प्रदान करना सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है, यही परम पुरुषार्थ है। जो जिस पदार्थको चाहता है वह उसीको प्राप्त करता है। जो कुछ भी नहीं चाहता वह श्रीभगवान्‌को प्राप्त करता है। भक्तका धन केवल श्रीकृष्णके चरणकमल हैं और वह केवल भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होता है।

[प्रेषक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

भगवत्प्रेमके साधक और बाधक

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति॥
बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन। तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन॥

(दोहावली १५२-१५३)

'जिसका मन सरल है, वाणी सरल है और समस्त क्रियाएँ सरल हैं, उसके लिये भगवान् श्रीरघुनाथजीके प्रेमको उत्पन्न करनेवाली सभी विधियाँ सरल हैं अर्थात् निष्कपट (दम्भरहित) मन, वाणी और कर्मसे भगवान्‌का प्रेम अत्यन्त सरलतासे प्राप्त हो सकता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऊपरका वेष साधुओंका-सा हो और बोली भी मीठी हो, परंतु मन कठोर हो और कर्म भी मलिन हो—इस प्रकार विषयरूपी जलकी मछली बने रहनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति नहीं होती (श्रीरामजी तो सरल मनवालेको ही मिलते हैं)।'
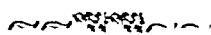
प्रेमतत्त्व

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रेमतत्त्वको रसिक लोग 'मूकरसास्वादनवत्' कहते हैं। कोई आन्तर मधुर वेदनाको तो कोई स्नेहात्मक अन्तःकरणकी वृत्तिको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि वधू आदिमें राग, यागादिमें श्रद्धा, गुरु आदिमें भक्ति तथा सुखादिकी इच्छा—ये सभी प्रेमके ही रूप हैं, तथापि सुखमात्रका अनुवर्तन करनेवाली अन्तःकरणकी सात्त्विकी वृत्ति ही प्रेम है। यह प्राप्त, अप्राप्त और नष्टमें भी रहती है। इच्छा नष्ट और प्राप्तमें नहीं होती। प्रेमरसज्ञ लोग रसस्वरूप परमात्माको ही प्रेम कहते हैं। इसीलिये द्रवीभूत अन्तःकरणपर अभिव्यक्त रसस्वरूप परमात्मा ही प्रेमके रूपमें प्रकट होता है। अतएव आचार्योंने कहा है—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्॥

अस्पृष्ट दुःख निरुपम सुखसंवित्स्वरूप परमात्मा ही प्रेम है। यह भी कहा गया है—

निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि।

प्रेमियोंका कहना है कि चित्त लाक्षा (लाख)-के समान कठोर द्रव्य है। वह तापक द्रव्यके योगसे कोमल या द्रवीभूत होता है। जैसे द्रवीभूत लाक्षामें निःक्षिप्त हिङ्गुल, हरिद्रा आदि रंग स्थायीभावको प्राप्त होता है, वैसे ही द्रवीभूत अन्तःकरणपर अभिव्यक्त भगवान् ही भक्ति कहे जाते हैं। भगवान्‌के गुणगणश्रवणसे चरित्रनायक पूर्णतम प्रभुका स्वरूप प्रकट होता है। पुनश्च उनके प्रति स्नेहादिका प्रादुर्भाव होता है। स्नेहादिसे चित्तमें द्रवता होती है। स्नेहास्पद पदार्थके दर्शनसे उसमें संस्कार उत्पन्न होता है, अतएव पुनः-पुनः उसका स्मरण होता है। उपेक्षणीय वस्तुके संस्कार नहीं होते, इसका कारण यही है कि रागके आस्पद या द्वेषके आस्पद पदार्थको ग्रहण करता हुआ चित्त रागादिसे द्रवीभूत हुआ है, इसीलिये उसके संस्कार हो जाते हैं। उपेक्षणीय तत्त्वके ग्रहण-समयमें चित्त द्रवीभूत नहीं होता; क्योंकि वह तापक भाव नहीं है। प्रेमी कहते हैं कि भगवान्‌के उत्कट स्नेहसे चित्तको इतना द्रुत करे कि वह गङ्गाजलके समान निर्मल, कोमल तथा द्रवीभूत हो जाय। फिर उसमें भगवान्‌का स्थायीरूपसे प्राकट्य होता है—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

अर्थात् भगवान्‌के गुणोंके श्रवणसे भगवान्‌में द्रवीभूत चित्तकी वृत्तियोंका ऐसा प्रवाह चलता है, जैसे कोमल, निर्मल, द्रवीभूत गङ्गाजलका प्रवाह समुद्रकी ओर चलता है। जिस समय द्रवीभूत चित्तमें पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभुका प्राकट्य होता है, उस समय ही स्थिर भक्ति कही जाती है। जैसे लाक्षाके कठोर रहनेपर उसमें रंग स्थिर नहीं होता, लाखकी टिकियापर मुहरका अक्षर अङ्कित करनेके लिये भी अग्नि-सम्बन्धसे उसे कुछ कोमल किया जाता है; क्योंकि कठोर लाखपर मुहरके अक्षर अङ्कित नहीं होते, वैसे ही कठोर अद्रुत चित्तपर भगवान्‌का स्वरूप, चरित्र, गुण तथा अन्यान्य सदुपदेश अङ्कित नहीं होते। परंतु गङ्गाजलके समान कोमल, द्रवीभूत अन्तःकरणमें भगवान्‌का प्राकट्य होनेसे फिर भगवान् भी निकलनेमें समर्थ नहीं होते। जैसे लाक्षाके साथ एकदम मिला हुआ रंग उसमेंसे निकलनेमें समर्थ नहीं होता, लाख चाहे तो भी रंगसे वियुक्त नहीं हो सकती, वैसे ही यदि भगवान् चाहें तो भी भक्तके द्रवीभूत चित्तसे निकल नहीं सकते। भक्त भी यदि चाहे तो भी वह भगवान्‌से वियुक्त नहीं हो सकता, भगवान्‌को अपने अन्तःकरणसे निकाला नहीं जा सकता।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

अर्थात् जिसके हृदयकी प्रणय-रशनासे बँधे हुए भगवान् अपनेको न छुड़ा सकें, वही प्रधान भक्त है। कितने स्थलोंमें भक्त भगवान्‌से कहते हैं कि यदि आप हमारे हृदयसे निकल जायँ तो हम देखें आपकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता। कहीं-कहीं भक्त भी हृदयसे भगवान्‌को निकालना चाहते हैं, भगवान्‌में दोषानुसंधान करते हैं, परंतु असफल होते हैं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनोधित्सति
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती मनः।

यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

अतएव कुछ लोग द्रवताको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि द्रवताकी अपेक्षा अवश्य है, तथापि प्रेमका स्वयंस्वरूप द्रवता नहीं है, प्रेमका निजी रूप तो रसस्वरूप परमात्मा ही है। अतएव आचार्योंने उसे निरुपम सुख-संविद्रूप बतलाया है। जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म विश्वका कारण है, अतएव उसके सदंश, चिदंशकी सर्वत्र अनुवृत्ति दिखायी देती है। **'घटः सन्'**, **'पटः सन्'** इत्यादि रूपसे सद्विशेष घटादि प्रपञ्चमें सत्की व्याप्ति है। वैसे ही **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि'** के अनुसार आनन्दरससे भी सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, अतएव सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति या व्याप्ति होनी चाहिये। इसीलिये हर एक जन्तुमें, प्रत्येक परमाणुमें आनन्द, रस या रसस्वरूपभूत प्रेमकी भी व्याप्ति है। बिना प्रेम या रसके एक-दूसरेसे मिलना नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, मित्र आदिका मिलन भी रस या स्नेहसे है। पशु-पक्षियोंमें, पिता-माता, पुत्र, पुत्रवधूमें प्रीति स्नेह होता है। 'किं बहुना' एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे मिलना भी बिना स्नेहके नहीं हो सकता। इस तरह प्रेमतत्त्व आनन्द या रसस्वरूप होनेसे विश्वका कारण है, इसलिये उसकी व्याप्ति है। वह सर्वत्र और सबके पास है। उसका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् केवल सांसारिक वस्तुओंमें ही प्रेम करनेसे दुःख होता है। भगवान्‌में उसका सम्बन्ध जोड़ते ही सारा विश्व आनन्दमय, मङ्गलमय हो जाता है। इसीलिये प्रेमियोंने चाहा है कि संसारसे प्रेम हटकर भगवान्‌में ही हो जाय—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।

× × ×

या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥

(विनय-पत्रिका १०३)

जैसे किसीके पास कोई दिव्यशक्तिसम्पन्न क्षेत्र हो, परंतु वह उसमें दौर्गन्ध्यविषकण्टकादिपूर्ण विषवृक्षको लगाकर उससे दुःख पाता है, यदि हिम्मत बाँधकर सावधानीसे उस वृक्षको काटकर सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्यपूर्ण आम्र या कल्पवृक्षको लगाये तो अवश्य सुखी हो जाय। ठीक वैसे ही प्रेमको संसारके साथ जोड़कर प्रेममें लौकिक भावोंको जोड़कर प्राणी दुःखी होता है; जबकि प्रेमके साथ भगवान्‌का सम्बन्ध जोड़ते ही सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है। जैसे कोई कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुको कहीं भेजती हुई उसे ऐसा पाथेय अवश्य प्रदान करती है, जिसके सहारे वह पुनः अपनी अम्बाके पास आ जाय, यदि ऐसा न ध्यान रखे तो उसे करुणामयी नहीं कहा जा सकेगा; वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डजननी कृष्णाभिधाना माँने भी जीवोंको प्रेमतत्त्व साथमें ही दे रखा है। उसे भूल जानेसे या उसका दुरुपयोग करनेसे जीव दुःख पाता है। परंतु उसका स्मरणपूर्वक सदुपयोग करते ही अर्थात् गुरुजनों, शास्त्रों एवं भगवान्‌में प्रेमका उपयोग करनेसे वह कृतकृत्य होकर अपनी कृष्णाभिधाना माँके अङ्क (गोद)-में जा पहुँचता है, सर्वदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है।

कहा जा सकता है कि यदि रस, प्रेम और भगवान् एक हैं तथा नित्य सिद्ध ही हैं तो भगवान्‌में प्रेमको 'प्रेम' और अन्य प्रेमास्पदमें विषय-विषयीभाव कल्पनाकी क्या अपेक्षा है? इससे तो मालूम पड़ता है कि प्रेमके लिये भेदभावकी ही अपेक्षा है। बिना दोके प्रेम नहीं होता, अतएव प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु होनी चाहिये। परंतु गम्भीरतासे विवेचन करें तो मालूम होगा कि आरम्भमें औपाधिक प्रेमके लिये अवश्य ही दोकी अपेक्षा किंवा अभिव्यक्तिके लिये साधनकी अपेक्षा है, परंतु स्वभावतः प्रेम अभेदमें या अत्यन्त संनिहित प्रत्यगात्मामें ही होता है और वह स्वतःसिद्ध भी है। जैसे स्वप्रकाश ब्रह्मके प्राकट्यार्थ भी महावाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित वृत्तिकी अपेक्षा होती है, वैसे ही भगवत्स्वरूप स्वतःसिद्ध प्रेमके भी प्राकट्यके लिये भगवदाकाराकारित स्निग्ध मानसी वृत्ति अपेक्षित है। उस प्राकट्यके लिये ही सद्धर्म, सत्कर्म आदि साधनोंकी अपेक्षा है। प्राकट्यभेदसे ही उसके अणु, मध्यम, महत् एवं परम महत्परिमाणभेदसे अनेक भेद भी होते हैं। साधनकालमें ही भेदभावकी अपेक्षा होती है। अज्ञानके कारण ही भगवान्‌में प्रेम न होकर विश्वमें होता है या यों समझिये कि नीरस, निस्सार संसारमें रसस्वरूप भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सरसताकी प्रतीति होती है। अतः सरसत्वेन प्रतीयमान विश्वमें प्रेम होता है। जैसे प्रकाशकी अन्यत्र सातिशयता और व्यभिचारिता होनेपर भी सूर्यमें उसका व्यभिचार या सातिशयता सम्भव नहीं है, वैसे ही अन्यत्र प्रेमका व्यभिचार और सातिशयता देखी जाती है, परंतु भगवान्‌में व्यभिचार और सातिशयता नहीं है। पुत्र, कलत्रादिकोंमें कभी प्रेम, कभी वैर भी हो जाता है, कभी

प्रेमकी कमी, कभी अधिकता हो जाती है, परंतु भगवान्में वह सदा होता है और सर्वदा निरतिशय होता है; क्योंकि जैसे सूर्य प्रकाशके उद्गमस्थान या प्रकाशस्वरूप ही हैं, वैसे ही भगवान् भी प्रेमके उद्गमस्थान किंवा प्रेमस्वरूप ही हैं।

कहा जाता है कि भगवान्में प्रेम प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भगवान्में अव्यभिचारी और निरतिशय प्रेम या उन्हें प्रेमस्वरूप कैसे माना जाय? परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि भगवान् सर्वप्रकाशक, अखण्ड बोधरूपसे, प्रत्यगात्मारूपसे प्रसिद्ध हैं। अतएव उनमें प्रेम भी प्रसिद्ध है। केवल अनिर्वचनीय आवरण मिटानेके लिये ही कुछ प्रयत्नोंकी अपेक्षा है। विज्ञानसे सारी वस्तुओंका व्यवहार होता है। सम्पूर्ण वस्तु, सम्पूर्ण व्यवहार बोधसे ही प्रकाशित होता है। फिर बोधमें क्या संदेह? *'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'* जैसे दर्पणदर्शनके पश्चात् तदन्तर्गत प्रतिबिम्ब दिखायी देता है, वैसे ही बोधमानके पश्चात् ही विश्व या उसकी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'** जैसे तरङ्ग व्यामोहसे ही कह सकती है कि 'जल कहाँ है?' जो कुछ है 'मैं ही हूँ।' वैसे ही जीव व्यामोहसे ही कह सकता है कि 'भगवान् कहाँ हैं? जो कुछ है, मैं ही हूँ।' जैसे तरङ्गके भीतर, बाहर, मध्यमें 'किं बहुना' तरङ्गका अस्तित्व ही जलपर निर्भर है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्में विशेषतः जीवमें उसके भीतर, बाहर, मध्यमें सर्वत्र भगवान् ही हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व या जीव भगवान्की सत्तासे ही सत्तावाले हैं, उनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं है।

प्राणीका अपने प्राणोंमें, सुखमें, अपनी आत्मामें स्वाभाविक प्रेम होता है, भगवान् तो प्राणोंके प्राण, सुखके सुख और जीवोंके भी जीवन हैं। फिर उनमें प्रेम स्वाभाविक क्यों न हो? इसीलिये तो महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—*'लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।'* अर्थात् लोकमें कोई भी जन्तु या कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो रामका भक्त न हो। वसिष्ठजी कहते हैं—*'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥'* अर्थात् हे तात! राघवेन्द्र रामभद्र! तुम्हीं तो प्राणोंके प्राण, जीवोंके जीवन और आनन्दके भी आनन्द हो। प्राणसे या अपानसे प्राणी नहीं जीता, किंतु प्राणीमें प्राणनशक्ति देनेवाले प्राणके भी प्राण भगवान् ही सबको जिलाते हैं। फिर तुमको छोड़कर जगत् किसे अच्छा लगे? इस दृष्टिसे रावणादि भी रामके भक्त ही हैं। भला, अपनी सत्ताका कौन विरोधी होगा? नास्तिक भी अपनी और अपने सिद्धान्तकी सत्ताका बाध या अपलाप नहीं चाहता या करता। हर एक व्यक्तिका निश्चय है कि और कुछ हो या नहीं, रहे या न रहे, मैं तो हूँ ही, मैं तो रहूँ ही। जैसे जलके बिना तरङ्ग क्षणभर भी टिक नहीं सकती, वैसे ही सत्ताके बिना सम्पूर्ण पदार्थ असत् हो जाते हैं। सत्, चित्, आनन्द, रसस्वरूप भगवान्के बिना सब निःस्फूर्ति, नीरस, निरानन्द, 'किं बहुना' असत् हो जाते हैं। उनके योगसे—आध्यात्मिक सम्बन्धसे ही स्फूर्तिमत्ता, सरसता, सानन्दता और अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः उनका अमङ्गलमय वियोग किसे सह्य होगा?

जैसे गुड़के सम्बन्धसे नीरस बेसनमें मिठास आती है, वैसे ही 'स्व'के सम्बन्धसे—अपनेपनके सम्बन्धसे वस्तुओंमें प्रीति होती है। अपनेपनके बिना कट्टर वैष्णवोंको भगवान् शिवमें और शैवोंको विष्णुमें भी प्रेम नहीं होता। अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान्के ही जिस रूपमें अपनापन, अपना उपास्यभाव होता है, उसीमें प्रेम होता है। जिसमें उपास्यबुद्धि, इष्टबुद्धि नहीं, जिसमें अपनापन नहीं, उसमें प्रेम भी नहीं। अपनापन होनेसे अपने क्षेत्र, वृक्षकी बागके काँटोंमें भी प्रेम होता है, उनके नष्ट होनेमें कष्ट होता है। जिस अपनेपनके बिना ब्रह्म भी नीरस, जिस अपनेपनके सम्बन्धसे कण्टकादिमें भी प्रेम, साक्षात् उस अपनेमें 'स्व'में प्राणीका कितना प्रेम हो सकता है? इसीलिये भगवान् प्राणके प्राण, जीवके जीवन, आनन्दके आनन्द, प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही हैं। जो वस्तु जितनी अप्रत्यक्ष, दूर और अपनेसे भिन्न है, उसमें उतनी ही प्रेमकी कमी होती है। क्षेत्र, मित्र, पुत्र, कलत्र आदिमें दूरस्थ, अप्रत्यक्ष तत्त्वोंकी अपेक्षा अधिक प्रेम होता है। क्षेत्रादिकी अपेक्षा देहादिमें अधिक प्रेम होता है। देह-विरुद्ध होनेसे उन सबका ही त्याग किया जाता है; क्योंकि उनकी अपेक्षा देह संनिहित एवं प्रत्यक्ष है। देहसे भी इन्द्रियाँ, प्राण अन्तरङ्ग हैं, अतः उनमें प्रेम अधिक होता है। मन उनसे भी समीप है, अतः उसके प्रतिकूल या उसे दुःखदायी मालूम पड़नेपर देहादिका भी त्याग किया जाता है। बुद्धि, अहमर्थका भी निरोध आत्महितके लिये किया जाता है।

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति' इत्यादिसे मनोनाश, वासनाक्षयके लिये प्रयत्न प्रसिद्ध ही है। इस दृष्टिसे सर्वान्तरङ्ग, सर्वसंनिहित, परम प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मस्वरूप ही भगवान् हैं। उन्हींमें मुख्य प्रेम

और वे ही प्रेमस्वरूप भी हैं। उनसे भिन्नमें प्रेमकी कमी स्पष्ट है। आत्माके लिये ही सब कुछ होता है, देवतामें प्रीति भी आत्मकल्याणके लिये ही होती है, आत्म-प्रतिकूल देवताकी उपेक्षा ही होती है। यदि भगवान् प्रत्यगात्मस्वरूप नहीं, तब तो भगवान् शेष (अङ्ग) हो जायँगे, भगवान्के लिये आत्मा नहीं, किंतु भगवान् आत्माके लिये समझे जायँगे, अतः भगवान् परोक्ष होनेसे अस्वप्रकाश समझे जायँगे। भगवान् अनात्मा होनेसे बहिरङ्ग और शेष (अङ्ग) समझे जायँगे, यह सब अनर्थ है; क्योंकि सिद्धान्ततः वस्तुगत्या भगवान् ही सर्वान्तरङ्ग, सर्वान्तरात्मा हैं, वे ही सर्वशेषी हैं। सब कुछ उनके लिये, वे किसीके लिये नहीं। भगवान् ही प्रत्यगात्मा होनेसे स्वप्रकाश और वे ही शेषी हैं, वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद हैं। इसीलिये तो जैसे सैन्धवखिल्य (सेंधा नमकका टुकड़ा) अपने-आपको अपने उद्गमस्थान समुद्रमें समर्पण कर समुद्ररूप हो जाता है, वैसे ही औपाधिक चैतन्यरूप जीवात्मा अपने उद्गमस्थान परप्रेमास्पद भगवान्में आत्मसमर्पण करके भगवत्स्वरूप हो जाता है। जैसे घटाकाश घट और घटाकाश सबको ही महाकाशमें समर्पण कर देता है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

(जब आकाशसे ही वायु आदि क्रमसे घट बना, उसीसे घटाकाशकी प्रतीति हुई, घट पृथिव्यादिमें लय-क्रमसे आकाश हो गया, तब घटाकाश सुतरां आकाश हो गया, यही सच्चा आत्मसमर्पण है) वैसे ही जीवात्मा भगवान्से प्रादुर्भूत अपना सर्वस्व और अपने-आपको भगवान्में समर्पण करके सर्वदाके लिये सर्वशेषी, सर्वान्तरङ्ग, सर्वप्रेमास्पद, सर्वान्तरात्मस्वरूप हो जाता है। अपने मिथ्या, काल्पनिक भावका सर्वदाके लिये बाध कर, पारमार्थिक रूपको प्राप्त कर लेता है।

इस तरह औपाधिक प्रेम सापेक्ष, सातिशय होनेपर भी निरुपाधिक प्रेम भेदनिरपेक्ष, स्वप्रकाश, सर्वान्तरात्मा भगवान्का स्वरूप ही है और वह स्वतःसिद्ध है। केवल उसके प्राकट्यके लिये ही प्रयत्नकी अपेक्षा होती है। जैसे ब्रह्माकार वृत्तिकी कोमलता, दृढ़तासे नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप ज्ञानमें भी कोमलता और दृढ़ताका व्यवहार होता है, वैसे ही प्रेममें भी कोमलता, दृढ़तासे नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप ज्ञानमें भी कोमलता और दृढ़ताका व्यवहार होता है। प्रेममें भी कोमलता, दृढ़ता और उत्पत्तिका उपचार ही है। आमाम्र (कच्चा आम) पक्वाम्रका हेतु समझा जाता है, वैसे ही साधनावस्थाका प्रेम साध्यावस्थाके प्रेमका साधन माना जाता है। उसमें रक्षाकी भी बड़ी अपेक्षा समझी जाती है। भावुकोंने कहा है कि जैसे दीप बुझ जाता है, वैसे प्रेमके बुझ जानेका भी भय रहता है। जैसा कि किसीकी उक्ति है—

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

अर्थात् दोनों रसिकोंके हृदयमें रहनेवाला प्रेम एक दीप है, वही हृदयभवनका प्रकाशन करता है और निश्चल होकर स्वयं देदीप्यमान होता है। यदि वह मुखरूप द्वारसे बाहर किया गया तो या तो बुझ जाता है अथवा उसमें लघुता आ जाती है।

वैसे प्रेमतत्त्व निष्कारण बतलाया जाता है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेताऽपि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवेदिनस्त्रिजगती दुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघवम्॥

अर्थात् प्रेमदेवने अपने प्रादुर्भावके दिन किसी सूक्ष्मतम हेतुकी भी अपेक्षा नहीं की, किसी भी अपराधके कारण उनका ह्रास नहीं होता और बहुत नमस्कारसे उनकी वृद्धि भी नहीं होती। पीयूषके प्रतिस्पर्धी, त्रिजगती दुःखके द्रोही, परम गुरु प्रेमदेवताको वाग्गोचर करके लघु कैसे बनाया जाय? यद्यपि लोकमें प्रेम त्रिदल होता है—पहला आश्रय, दूसरा विषय और तीसरा प्रेम। तथापि अन्तरङ्गस्थितिमें तीनों एक ही वस्तु हैं, एकमें ही औपाधिक त्रैविध्यकी कल्पना होती है, जैसे जल और तरङ्गमें वास्तविक भेद न होनेपर भी काल्पनिक भेदको लेकर व्यवहार होता है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥

(रा०च०मा० १। १८)

श्रीभगवान्की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीजनकनन्दिनी तो इतनी अन्तरङ्ग हैं, जैसे अमृतमें माधुर्य। परमानन्द-सुधासिन्धु भगवान्में माधुर्यसारसर्वस्व ही उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं। उन्हींका प्रेम वास्तविक प्रेम है।

भगवत्प्रेममें सद्भावनाका महत्त्व

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शंकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

केवल किसी बातके सुननेसे ही उतना लाभ नहीं होता, जितना सुननेके अनुसार अनुष्ठान करनेसे। शास्त्रमें एक जगह चारों युगोंका लक्षण करते हुए लिखा है कि कलियुग कलियुग नहीं, अपितु उचित कार्यका ज्ञान हो जानेपर भी सोये पड़े रहना और उसके लिये उचित प्रयत्न न करना कलियुग है। इसी प्रकार उस कार्यको करनेके लिये आलस्य त्यागना द्वापर, कार्यमें उद्यत होना त्रेता तथा उसमें संलग्न होकर उसे सम्पादन करने लग जाना सत्ययुग है—

कलिः शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठन्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते परम्॥

इसके लिये सबसे बड़ी आवश्यकता है—सद्भावना। भावना अच्छी होनेपर प्राणीके कल्याणमें कोई बाधा नहीं होती। इसलिये उत्तम भावना बनानी चाहिये। साथ ही अपने ज्ञान और कर्मको भी शुद्ध करना चाहिये। सिद्धान्त तो यह है कि ज्ञान एवं कर्म भी भावनाका ही अनुसरण करते हैं, अतः प्रधानता भावनाकी ही है। साधनावस्थामें चित्तकी शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित होती है और चित्तशुद्धि ही भावनाके पवित्र होनेका मूल है। चित्तकी शुद्धताके लिये योगसूत्रकारका कहना है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ (पा०सू० १। ३३)

सुखी प्राणीमें मैत्री-सौहार्द, दुःखीमें करुणा-कृपा, पुण्यशीलमें मुदिता-हर्ष और अपुण्य—पापीमें उपेक्षा-उदासीनता करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है अर्थात् सुखसंयुक्त सभी प्राणियोंको देखकर ऐसी भावना करें कि 'ठीक है, मेरे मित्रोंको सुख हो रहा है', इस प्रकार मैत्री-प्रेमकी भावना करनेसे ईर्ष्याकी भावना समाप्त हो जाती है। दुःखितोंको देखकर 'किस प्रकार इनका दुःख दूर होगा'—इस प्रकार कृपाकी भावना करनी चाहिये, उपेक्षा अथवा हर्ष नहीं मानना चाहिये। पुण्यशीलोंको देखकर उनके पुण्यका अनुमोदन करते हुए प्रसन्न होना चाहिये, विद्वेष तथा उपेक्षाकी भावना नहीं अपनानी चाहिये। इसी प्रकार पापियोंके समक्ष आनेपर उनमें उदासीनताका भाव अपनाना चाहिये, न कि उनके पापका अनुमोदन तथा द्वेष करना चाहिये। ऐसा करनेसे शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है, फिर राग-द्वेषादिमलरहित होकर मन प्रसन्न होता है तथा भावना अत्यन्त पवित्र हो जाती है। कर्मके कदाचित् ठीक न होनेपर भी यदि भावना पवित्र हो तो प्राणीका कल्याण होता है।

कहते हैं कि एक राजमार्ग (सड़क)-के दोनों ओर आमने-सामने एक वेश्या तथा संन्यासी रहते थे, दोनों युवा थे। अपने पेशेमें लगी वेश्या भजन करनेवाले उस संन्यासी बाबाको देखकर अपनेको धिक्कारती और मनमें सोचती कि 'मैं बड़ी पापिन हूँ, ऐसे दुष्कर्ममें प्रवृत्त हूँ, संन्यासी बाबाका जीवन बड़ा उत्तम है। इन्होंने सर्वस्व त्यागकर अपना मन भगवद्भजनमें लगा दिया है।' उधर संन्यासी वेश्याको देखकर इसके विपरीत सोचते—'मैं बड़ा हतभाग्य हूँ कि इसी अवस्थामें बाबा बन बैठा, संसारके सुखका अनुभव नहीं किया, यह वेश्या ही धन्य है जो अपनी युवावस्थाका आनन्द ले रही है।' यही सोचते दोनोंका महाप्रयाण हुआ। भावनाके अनुसार ही वेश्याको स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्ति हुई और संन्यासी बाबाको नरक जाना पड़ा। अतः भावना उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। सद्भावनासे दिव्य प्रेमकी प्राप्ति होती है।

जो व्यक्ति दान करनेमें समर्थ नहीं है, वह भी दानकी भावना कर सकता है। उससे वह भले ही दान न कर सके, किंतु लेनेकी बुरी भावनासे तो बच जायगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥
(रा०च०मा० ७। १०३। ८)

अन्ततः इसका भी अर्थ यही है कि पुण्यकी भावनासे ही पुण्य हो जाता है और मानसकृत पाप नहीं होता। इसका यह तात्पर्य है कि यदि मनसे कोई पाप हो जाय तो भी कर्मसे उसका आचरण नहीं करना चाहिये, जिससे वह वहीं दबकर नष्ट हो जाय। महाभारतकारने भी कहा है—

मनसा रोचयन्पापं कर्मणा नाभिरोचयेत्।
न प्राप्नोति फलं तस्य इति धर्मविदो विदुः॥

यदि मनसे पाप हो भी जाय तो उसे कर्मसे नहीं करना चाहिये; क्योंकि मानसिक पापका फल उसे नहीं होता। यह भावनाको ही शुद्ध करनेका उपाय है। भावनाके दूषित होनेपर प्राणीको जहाँ दूसरेके दुःखको दूर करनेके लिये स्वयं दुःखी होना चाहिये, वहाँ वह उसके विपरीत दूसरेको अधिक दुःख हो, इसके लिये स्वयं थोड़ा दुःख

उठानेको भी प्रस्तुत हो जाता है।

कहा जाता है कि एक दरिद्र ब्राह्मण थे, उसपर भी अधिक संतानें हो गयीं। शास्त्रकी आज्ञा है कि दरिद्रको तप करना चाहिये, वे भी उसीके अनुसार दरिद्रादेवीसे मुक्ति पानेके लिये तप करने लगे। फलतः उन्हें एक शङ्ख प्राप्त हुआ। शङ्खमें विशेषता थी कि ब्राह्मणदेव जितनी वस्तु उससे लेंगे, उसकी दूनी उनके पड़ोसीको मिल जायगी। ब्राह्मणदेवकी भावना अत्यन्त दूषित थी। अपनेसे दूनी सुखसामग्रीकी वस्तु पड़ोसीको मिलनेकी बात उन्हें स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं थी, भले ही शङ्खसे बिना कुछ माँगे, वे बाल-बच्चोंसहित स्वयं भूखों मर जायँ। उन्होंने शङ्खको घरमें रख छोड़ा और कभी कुछ नहीं माँगा। दुर्भावना इतनी जबर्दस्त थी कि इतनेसे भी उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा कि यह शङ्ख हमसे दूनी धन-सम्पत्ति हमारे पड़ोसीको प्रदान कर सकता है तो यदि मैं स्वयं एकाक्ष होनेकी इससे प्रार्थना करूँ तो अवश्य ही मेरा पड़ोसी दोनों आँखोंसे अन्धा हो जायगा। यह दुर्भावनाका दुष्परिणाम है जिसके कारण दूसरेको अन्धा बनानेके लिये अपनेको एकाक्ष होना भी उचित ही प्रतीत होता है। दुर्भावनासे प्रेमका सर्वथा लोप हो जाता है और राग-द्वेष चरम सीमाको प्राप्त कर लेता है।

इसलिये हमारा आपलोगोंसे कहना है कि सत्सङ्गसे देखना चाहिये कि हमारी भावनामें कुछ अन्तर हुआ या नहीं। यदि हुआ तो हमलोगोंका सत्सङ्ग सफल हुआ। यदि न भी हुआ तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। प्रयत्न जारी रखना चाहिये, साथ ही भगवान्‌की कृपाका भी भरोसा रखना चाहिये। भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अवश्य ही भावनाको शुद्ध करेंगे और भावनाके शुद्ध होते ही प्राणीको आत्मस्वरूपका ज्ञान होगा और तभी भगवत्प्रेमकी जागृति होगी। फिर तो जीवन सफल हो जायगा। जीवनकी सफलताके लिये अपनेमें सद्भावना लानी होगी और सद्भाव लानेके लिये अध्यात्म-पाठशालामें नाम लिखाना होगा। वह आज लिखाइये चाहे दस-पाँच जन्मके बाद, बिना लिखाये जीवनकी सफलताकी कुञ्जी प्राप्त नहीं हो सकती। अध्यात्म-पाठशालामें ही यह पाठ पढ़ाया जाता है कि प्राणिमात्र उस परम प्रसिद्ध अमरणधर्मा परमात्माके ही पुत्र हैं—'**अमृतस्य पुत्राः**'। जहाँ अध्यात्म-पाठशालाका यह पाठ आपके चित्तमें बैठा, वहीं परम कल्याणकारिणि सद्भावनादेवीका प्रादुर्भाव हुआ और आप प्राणिमात्रमें उस परमतत्त्वको जब देखने लगेंगे तो आपका कल्याण सुनिश्चित है। अतः अपनेमें सद्भावना लानी चाहिये। सद्भावनासे ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।
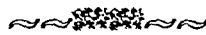
प्रेम-माधुरी

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

चलिये आप मेरे साथ वृन्दावन। शरीरसे नहीं तो मनसे ही सही। यह मत पूछिये कि वहाँ क्या है? वहाँ सब कुछ है—प्रेम है, संगीत है, मिलन है, विरह है, योग है, शृङ्गार है। वहाँ क्या नहीं है? वहाँकी अनुरागमयी भूमिके कण-कणमें एक दिव्य उन्माद भरा हुआ है। वहाँके पत्ते-पत्तेमें एक विचित्र आकर्षण है। आप चाहते क्या हैं? आपकी जन्म-जन्मकी लालसा पूरी हो जायगी। वहीं तो सर्वस्व है। जीवन है वहाँ, रस है वहाँ, पूर्ण रसमें रहकर अतृप्ति है वहाँ। चलिये तो सही। वहाँकी दिव्य लताओंसे आलिङ्गित सरस रसालकी मञ्जरियोंके मकरन्दसे आकृष्ट हुए भौंरोंको, जो अपनी चञ्चलता छोड़कर इस प्रकार उनसे लिपट गये हैं मानो कारागारमें कैद हैं। जब मलयज वायु अपने कोमल करोंसे स्पर्श करती है, बौरोंके झूलेपर मस्त हुए मिलिन्दोंको आन्दोलित करती है और वे एक साथ ही अत्यन्त मधुर दिव्य संगीत गाते हुए मधु-धारा प्रवाहित करनेवाली पुष्पवती लताओंकी ओर बढ़ते हैं, तब हृदयमें कितना आनन्द होता है, उन्हें देखकर सम्पूर्ण हृदय किस प्रकार रससे सराबोर हो जाता है—यह वहीं चलकर देखिये। आप भी श्रीरूप गोस्वामीके समान मधुर कण्ठसे कूक उठेंगे—

सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे
विनिष्यन्दे बन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम्।
कृतान्दोलं मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे-
र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्दिलयति॥*

वृन्दावनमें सबसे बड़ा आनन्द तो व्रजदेवियोंके

* आमके बौरोंके सुगन्धित एवं मधुर मकरन्दके कारागारमें भौंरोंको बंद करके मलयाचलसे आनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुके द्वारा मन्द-मन्द आन्दोलित होकर वृन्दावन मेरे अनुपम आनन्दको संवर्धित कर रहा है।

दर्शनका है। वे गाँवकी गँवार ग्वालिनें प्रेमकी मूर्तियाँ ही हैं। नगरकी बनावट उन्हें छूतक नहीं गयी है। कितनी भोली हैं वे! उस दिव्य राज्यमें कपटका तो प्रवेश ही नहीं है। केवल उनका हृदय ही दिव्य नहीं है, शरीर भी दिव्य है। देखिये, सामने यह वृन्दावन है। कितना सुन्दर है यह धाम! परंतु आप अभी धामको मत देखिये; यह सामने जो व्रजदेवी बैठी हैं, उनको देखिये। इस समय यह ध्यान कर रही हैं। क्या यह श्रीकृष्णका ध्यान कर रही हैं? अजी, वृन्दावनमें श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करना पड़ता। यहाँ तो वे ही इनका ध्यान करते हैं, इनके पीछे-पीछे घूमते हैं। फिर ये इतनी तन्मयतासे किस साधनामें तत्पर हैं? अच्छा, सुन लीजिये, यह इनका भोलापन है।

आप सुनकर हँसेंगे; परंतु भावपूर्ण हृदयसे तनिक देखिये तो मालूम होगा कितना गम्भीर प्रेम है। इनका हृदय इनके हाथमें नहीं है, निरन्तर श्यामसुन्दरके पास ही रहता है। इनके हृदयमें श्रीकृष्णकी बाँसुरी बजती ही रहती है, एक क्षणके लिये भी बंद नहीं होती। ये प्रतिपल उनके मधुर संस्पर्श और रूप-सुधाके पानके लिये आकुल रहती हैं। घरमें, वनमें, कुञ्जमें, नदी-तटपर—जहाँ भी ये रहती हैं, वहाँ इनका मन उसी चितचोर मोहनको देखनेके लिये मचलता रहता है। अब घरका काम-धन्धा कैसे हो? इन्होंने सोचा—यह हृदयकी विवशता तो अच्छी नहीं है, इसको अपने हाथमें करना चाहिये। यह कैसे हो? बिना योग किये यह वशमें कैसे आये? इसलिये आप योग कर रही हैं। कितना आश्चर्य है! बड़े-बड़े मुनिगण प्राणायाम आदि साधनोंके द्वारा मनको विषयोंसे खींचकर जिनमें लगाना चाहते हैं, उन्हींसे मनको हटाकर यह गोपी विषयोंमें लाना चाहती है। बड़े-बड़े योगी जिनको अपने चित्तमें तनिक-सा देखनेके लिये लालायित रहते हैं, उन्हींको यह मुग्ध गोपी अपने हृदयसे निकाल देना चाहती है! श्रीरूप गोस्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

परंतु क्या इन्हें सफलता मिल सकेगी? ये निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जायँगी अथवा अपने मनको वशमें करके घरके काम-काजमें लगी रह सकेंगी? ना, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। इनका हृदय एक रंगमें रँगा जा चुका है, अब इसपर दूसरा रंग चढ़नेवाला नहीं। ये जो कुछ कर रही हैं, वह तो इनके प्रेमका दिव्य उन्माद है। भला, श्रीकृष्णके बिना ये जीवित रह सकती हैं? इनका जीवन तो श्रीकृष्णमय है। आप पूछेंगे—भाई, ऐसा उच्च जीवन इन्हें कैसे प्राप्त हुआ?

यह कथा भी बड़ी विचित्र है। गाँवकी बालिका, इन्हें बरसानेके बाहरका तो कुछ पता ही न था। एक दिन इन्होंने किसीके मुँहसे कृष्णका नाम सुन लिया। बस, फिर क्या था—पूर्वकी प्रीति जग गयी। 'कृष्ण' नाममें भी कुछ अद्भुत आकर्षण है। जिनके कानोंमें यह समा जाता है, वह दूसरा कुछ सुनना ही नहीं चाहता। वह तो ऐसा चाहने लगता है कि कहीं मेरे अरबों कान हो जाते। नामने इनपर मोहनी डाली, इन्होंने अपनेको निछावर कर दिया। किया नहीं, इनका हृदय स्वयं निछावर हो गया। एक दिन ये यमुनातटपर घूम रही थीं, मुरलीकी मोहक तान सुनकर मुग्ध हो गयीं। सखियोंने एक बार श्यामसुन्दरका चित्रपट दिखा दिया, आँखें निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं। इन्हें मालूम न था कि ये तीनों एक ही हैं। एक हृदयकी तीनपर आसक्ति! इन्हें बड़ी व्यथा हुई। श्रीरूप गोस्वामीने इनकी मर्मान्तक पीड़ाका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतः श्रेयसी॥*

जब इन्हें मालूम हुआ कि ये तीन नहीं हैं, एक ही हैं, तब कहीं इनके हृदयकी वेदना शान्त हुई। एक वेदना तो शान्त हो गयी, परंतु दूसरी लग गयी। उसी दिनसे इनकी गति बदल गयी। वे कैसे मिलेंगे, इस चिन्तासे धैर्य लुप्त हो गया। बार-बार काँप उठतीं, सारे शरीरपर स्वेद-बिन्दु झलकते ही रहते, सखियोंसे यह बात छिपी न रही। उन्होंने एकान्तमें पूछा—'सखी, तुम्हें क्या हो गया है? कौन-सी

* एक दिन किसी पुरुषका 'कृष्ण' यह दो अक्षरका नाम सुनते ही मेरी बुद्धि लुप्त हो गयी। दूसरे दिन किसी पुरुषकी वंशीध्वनि सुनते ही मैं उन्मादिनी हो गयी। तीसरे दिन वर्षाकालीन मेघके समान श्यामसुन्दर नवकिशोरको चित्रपटमें देखकर मेरा मन हाथसे बाहर हो गया। बड़े दुःखकी बात है, धिक्कार है मुझे—तीन-तीन पुरुषोंसे प्रेम! मर जानेमें ही अब मेरा कल्याण है।

ऐसी दुर्लभ वस्तु है, जिसके लिये तुम्हें इतनी चिन्ता हो रही है? बार-बार तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है, कभी आँसू तो कभी पसीना! इतनी गम्भीर मुद्रा, जैसी कभी नहीं देखी! ऐसा क्यों? हमलोगोंसे क्या अपराध हो गया है कि अपने हृदयकी वेदना हमसे नहीं बता रही हो? क्या हम तुम्हारी अपनी नहीं हैं? अपने लोगोंसे कोई बात छिपाना अच्छा नहीं है। यदि हम तुम्हारी कुछ सेवा कर सकें तो हमें उसका अवसर दो। हमें हमारे सौभाग्यसे क्यों वञ्चित कर रही हो?' इन्होंने अपनी सखियोंसे अपने हृदयकी बात कही और उन लोगोंने इन्हें वृन्दावनके कुञ्जोंमें श्रीकृष्णके दर्शन कराये। क्या ही सुन्दर दर्शन था! ये श्रीकृष्णको देखकर बोल उठी थीं—

नवमनसिजलीलाभ्रान्तनेत्रान्तभाजः
स्फुटकिसलयभङ्गीसङ्गिकर्णाञ्चलस्य।
मिलितमृदुलमौलेर्मालया मालतीनां
मदयति मम मेधां माधुरी माधवस्य॥

'नवीन प्रेमकी लीलाको प्रकट करनेवाले नेत्रोंकी चञ्चल चितवन, कपोलोंपर मनोहर पल्लवोंकी सुन्दर रचना, मुकुटपर मालतीकी माला—सब मधुर-ही-मधुर! माधवकी यह माधुरी मेरे धैर्यका बाँध तोड़ रही है, मेरी मेधाको उन्मादिनी बना रही है।'

सचमुच ये उन्मादिनी हो गयीं, घरकी सुध भूल गयीं, अपने-आपको भूल गयीं। सखियाँ किसी प्रकार इन्हें घर ले आयीं, परंतु इनकी चेष्टा ज्यों-की-त्यों बनी रही। घरवाले बड़े चिन्तित हुए—'यह क्या हो गया? इस रोगकी क्या चिकित्सा है? वैद्यकमें तो इसका वर्णन नहीं है। हो-न-हो कोई ग्रह लग गया है। सामने मयूरपिच्छ देखकर काँपने लगती है, गुञ्जाके दर्शनमात्रसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं, रोने लगती है। इसके चित्तमें अपूर्व नाट्यक्रीडाका चमत्कार उत्पन्न करनेवाला न जाने कौन-सा नया ग्रह प्रवेश कर गया है, जिससे इसकी यह दशा हो रही है'—

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते
गुञ्जानां तु विलोकनान्मुहुरसौ सास्रं परिक्रोशति।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारितां
बालायाः किल चित्तभूमिमविशत् कोऽयं नवीनग्रहः॥

यह ग्रह और कोई नहीं है, श्रीकृष्ण ही हैं। जिसके चित्तमें वे प्रवेश कर जाते हैं, उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है। वह न लोकका रहता है, न परलोकका। कम-से-कम लोक और परलोकका स्वार्थ रखनेवालोंके लिये तो वह बेकार हो ही जाता है। एक सखीने श्रीकृष्णके पास जाकर इनकी सारी कथा सुनायी। 'श्रीकृष्ण! यदि कहीं दूरसे भी प्रसङ्गवश तुम्हारे नामके अक्षर उसके कानोंमें पड़ जाते हैं तो हमारी प्यारी सखी सिसक-सिसककर रोने और काँपने लगती है और तो क्या कहूँ, कहीं संयोगवश नये-नये श्याम मेघ उसके सामने आ जाते हैं तो वह उन्हें प्राप्त करनेके लिये इतनी उत्सुक हो जाती है कि तत्क्षण उसके चित्तमें पंख प्राप्त करनेकी इच्छा हो आती है—

दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे
सोन्मादं मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम्।
आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवान्नवाम्भोधरे
दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति॥

नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको जिसने एक बार भर आँख देख लिया, उसको फिर तृप्ति कहाँ? वह तो उन्हें देखे बिना रह ही नहीं सकता। एक-एक क्षण कल्पके समान हो जाता है। प्रतिक्षण प्यास बढ़ती ही जाती है और बार-बार मनमें यही आता है कि हा! अबतक श्रीकृष्ण नहीं आये, उनके बिना यह जीवन निस्सार है। श्रीकृष्णके आनेमें थोड़ा-सा विलम्ब होनेपर इन्होंने अपनी सखीसे कहा—

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे सखि कलितदोर्वल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः॥

'हे सखी! यदि श्रीकृष्ण मेरे लिये निष्ठुर हो गये, वे अबतक नहीं आये तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध है? तुम व्यर्थ उदास मत होओ, रोओ मत। आगेका काम देखो। ऐसा उपाय करो कि इस श्यामवर्ण तमालवृक्षके तनेमें मेरी भुजाएँ लिपटी हुई हों और मेरा यह शरीर चिरकालतक वृन्दावनमें ही अविचलरूपसे रहे।'

यहाँ इन व्रजदेवीकी यह दशा थी, उधर श्रीकृष्ण पश्चात्ताप कर रहे थे। वे सोच रहे थे—'मैंने निष्ठुरता की। कहीं उसके कोमल हृदयका प्रेमाङ्कुर सूख न जाय। प्रेमके आवेशमें आकर वह कहीं शरीर न छोड़ दे। उसकी फली-

फूली मनोरथ-लता कहीं मुरझा न जाय।' उन्होंने तमालवृक्षकी आड़में खड़े होकर देखा, यहाँ प्राणत्यागकी पूरी तैयारी है। व्रजदेवी कह रही हैं—

यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तथा यूयं परिक्लेशिताः।
धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी॥

'जिसके उत्सङ्ग-सुखके लिये मैंने गुरुजनोंकी बड़ी भारी लाज छोड़ दी; सखियो! जिनके लिये तुमलोगोंको जो कि हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो, इतना क्लेश दिया; जिनके लिये सती-साध्वी स्त्रियोंद्वारा अनुष्ठित महान् धर्मका भी मैंने आदर नहीं किया, उन्हींके द्वारा उपेक्षित होनेपर भी मैं जीवित हूँ, मैं पापिनी हूँ। मेरे धैर्यको धिक्कार है!'

इस प्रकार कहते-कहते व्रजदेवी तमालसे लिपटनेके लिये अधीरभावसे दौड़ीं; परंतु यह क्या? तमालका स्पर्श भी कहीं इतना शीतल होता है? यह मधुर संस्पर्श तो प्राणोंमें मृत्युके बदले अमृतमय जीवनका सञ्चार कर रहा है! आँखें खोलीं तो देखा यह तो तमाल नहीं, श्रीकृष्ण हैं। एक साथ ही अनेक प्रकारके भाव उठे और तत्क्षण विलीन हो गये। हृदयमें आश्चर्य, प्रेम और आनन्दकी बाढ़ आ गयी। शरीर स्थिर हो गया, आँखें जम गयीं, मानो अब देखते ही रहना है। ऐसी 'निधि पाकर उसे आँखोंसे ओझल कौन करे? निर्निमेष नयनोंसे रूप-रसका पान करने लगीं। श्रीकृष्ण बहुत देरतक रहे—हँसे, खेले, बोले, अनेक प्रकारकी लीला करते रहे; परंतु वे बड़े खिलाड़ी हैं, आँखमिचौनी खेलनेमें तो उनका कोई सानी नहीं है। वे फिर आनेका वादा करके चले गये, वे वहाँ रहकर भी छिप गये, वे यहाँ रहकर भी छिपे हुए हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। उनके जानेपर, सखियोंके बहुत सचेत करनेसे ये घर गयीं। परंतु घरके कर्तव्योंको कौन सँभालता, मन तो इनके हाथमें था ही नहीं। इन्होंने सोचा—'योग करनेसे मन वशमें होता है; चलो, अब योग ही करें।' यह अपने चित्तको श्रीकृष्णके पाससे खींचनेके लिये या यों कहिये कि श्रीकृष्णको अपने चित्तसे निकालनेके लिये योग कर रही हैं। परंतु क्या यह सम्भव है? चित्तमें कोई आ जाय तो उसे निकाल सकते हैं, चित्त कहीं चला जाय तो उसे खींच सकते हैं? देवी, तुम अब क्या कर रही हो यह? जो चित्त हो गया है, जिसके बिना चित्तकी सत्ता ही नहीं है, उसको तुम चित्तमेंसे कैसे निकाल सकोगी? अस्तु, यह भी तो प्रेम ही करा रहा है! प्रेमका ऐसा ही कुछ स्वरूप है।

नन्दनन्दन श्रीकृष्णका प्रेम जिसके चित्तमें उदय होता है, उसके द्वारा कितनी ही उलटी-सीधी चेष्टाएँ होने लगती हैं; क्योंकि इसमें विष और अमृत दोनोंका अपूर्व सम्मिश्रण है। पीड़ा तो इसमें इतनी है कि इसके सामने नये कालकूट विषका गर्व भी खर्व हो जाता है। आनन्दका इतना बड़ा उद्गम है यह प्रेम कि अमृतकी मधुरिमाका अहङ्कार शिथिल पड़ जाता है। श्रीरूप गोस्वामीने इसका वर्णन करते हुए कहा है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

इतना ही नहीं, प्रेमकी गति और भी विलक्षण है। क्योंकि प्रेम तो अपने-आपकी मस्ती है, उसमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। कोई कुछ भी कहे, सुने, करे, प्रेमी अपने ढंगसे सोचता है। प्रियतमकी स्तुति सुनकर जहाँ प्रसन्न होना चाहिये, वहाँ प्रेमी कभी-कभी उससे तटस्थ हो जाता है; वह सब सुन-सुनकर उसके चित्तमें व्यथा होने लगती है। प्रियतमकी निन्दा सुनकर जहाँ दुःख होना चाहिये, वहाँ प्रेमी सुखका अनुभव करने लगता है—उन बातोंको परिहास समझकर। दोषके कारण उसका प्रेम क्षीण नहीं होता, गुणोंके कारण बढ़ता नहीं; क्योंकि वह तो आठों पहर एकरस, एक-सा रहता है। अपनी महिमामें प्रतिष्ठित, अपने स्वरसमें डूबा हुआ नैसर्गिक प्रेम कुछ ऐसा ही होता है—कुछ ऐसी ही उसकी प्रक्रिया है। श्रीरूप गोस्वामीके शब्दोंमें—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया॥

प्रेम-नगरकी रीति ही निराली है, स्थूल लोककी मर्यादाएँ उसके बाहरी फाटकतक भी नहीं फटक पातीं।

अपने प्रियतमको अपने हृदयसे निकालनेके लिये योग! भला, यह भी कोई प्रेम है? हाँ, अवश्य ही यह प्रेम है। शुद्ध प्रेम है। इसीसे तो श्रीकृष्ण इनके बुलानेसे बोलते हैं, हँसानेसे हँसते हैं, खिलानेसे खाते हैं। श्रीकृष्ण इनके जीवन-प्राणसे एक हो गये हैं, वे अपने श्रीकृष्णको प्राणोंसे अलग करना चाहती हैं। इसका अर्थ है कि वे उन प्राणोंको छोड़ देना चाहती हैं, जो बिना श्रीकृष्णके भी जीवित हैं। इनका यह योग तभीतक चल सकता है, जबतक श्रीकृष्णकी बाँसुरी नहीं बजती। जिस समय विश्वविमोहन मोहनकी मुरली बज उठेगी, उस समय इनकी सब योग-समाधि भूल जायगी। इतनी मधुरिमा है उसमें कि बड़े-बड़े समाधिनिष्ठ योगी इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि वंशीकी मधुरध्वनि कब मेरी समाधि तोड़ेगी। वंशीध्वनिके सम्बन्धमें जानते हो न, वह क्या-क्या कर गुजरती है इस संसारमें—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

'जब वंशी बजती है, तब बादलोंका गति-रोध हो जाता है। संगीत-सम्राट् तुम्बुरु गन्धर्व बार-बार चमत्कृत हो उठते हैं। सनक, सनन्दन आदिके हृदयमें रसका समुद्र उमड़ने लगता है और वे अपनी सब ध्यान-धारणा छोड़ बैठते हैं। ब्रह्मा चकित, स्तम्भित, विस्मित होकर कहने लगते हैं—'मेरी सृष्टिमें इतना माधुर्य कहाँ!' रसातलके एकच्छत्र अधिपति दैत्यराज बलिका चित्त उत्सुकताकी परम्परासे अस्थिर हो जाता है। शेषनाग आघूर्णित होने लगते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका घेरा तोड़-फोड़कर सम्पूर्ण जगत्में परिव्याप्त हो जाती है यह वंशीध्वनि।'

वंशीकी इस उन्मादक स्वर-लहरीके स्पर्शसे अपनेको कौन नहीं भूल जाता? इसीके द्वारा निखिल जगत्का चुम्बन करके श्रीकृष्ण एक गुदगुदी उत्पन्न किया करते हैं, सोये हुए प्रेमको जगाया करते हैं।

अभी जो यह ध्यान कर रही हैं, उनकी यह स्थिति है कि यह अपने चित्तको श्रीकृष्णसे अलग करना चाहती हैं और इनका चित्त अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है। इनका प्रेमोन्मत्त चित्त प्रत्येक ध्वनिको श्रीकृष्णकी ध्वनि समझ रहा है, प्रत्येक स्पर्शको श्रीकृष्णका स्पर्श समझ रहा है, इनके हृदयकी आँखें श्रीकृष्णके ही मोहक रूपरसको पीकर छक रही हैं और नासिकामें वही उन्मादक दिव्य सुगन्ध भर रही है। इनके बार-बार मना करनेपर भी मन उन्हींके साथ क्रीड़ा करने लगता है और यह भी उसीमें तन्मय हो जाती हैं। घंटोंतक आत्मविस्मृत रहनेके बाद एकाध बार इन्हें अपनी अवस्थाका ध्यान हो आता है और तब यह अपने चित्तको उधरसे खींचना चाहती हैं। परंतु यह योग-साधना क्या उन्हें श्रीकृष्णसे अलग कर सकती है? अजी, योग-साधनामें क्या रखा है, संसारकी कोई भी शक्ति इन्हें श्रीकृष्णसे अलग नहीं कर सकती और तो क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी इन्हें अपनेसे अलग नहीं कर सकते।

जानते हो इस समय श्रीकृष्णकी क्या दशा होगी? इनका यह प्रेमोन्माद क्या उनसे छिपा होगा? नहीं, नहीं, वे सब जानते हैं, अपने प्रेमियोंकी अनिर्वचनीय स्थिति देखकर स्वयं मुग्ध होते रहते हैं। अपने प्रेमियोंके प्रेमको जगानेके लिये ही तो उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं। वे अब भी कहीं यहीं होंगे। इन व्रजदेवीकी जैसी प्रेममयी स्थिति है, वैसी ही उनकी भी होगी। उन्हें सर्वत्र गोपियोंका ही दर्शन होता होगा। अब वे आते ही होंगे। देखो न, वह आ रहे हैं। वह फहराता हुआ पीताम्बर, मन्द-मन्द पद-विन्यास, हाथमें बाँसुरी, मेघश्याम श्रीविग्रह, मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, अनुग्रहपूर्ण भौंहें, उन्नत ललाट, गोरोचनका तिलक, काले-काले घुँघराले बाल, मयूरपिच्छका मुकुट—सब-का-सब आँखोंमें, प्राणोंमें, हृदयमें और आत्मामें दिव्य अमृतका सञ्चार कर रहा है। देखो तो कुछ गाते हुए आ रहे हैं। हमलोग अलग होकर सुनें और उनकी लीलाओंका आनन्द लें। अच्छा, क्या गुनगुना रहे हैं?

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी॥

मेरे सामने राधा है, मेरे पीछे राधा है; मेरे बायें राधा है, मेरे दाहिने राधा है; पृथिवीमें राधा है, आकाशमें राधा है—यह सम्पूर्ण त्रिलोकी मेरे लिये राधामय क्यों हो गयी?

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका लक्ष्य है

[परम पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी महाराजके सदुपदेश]

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके कुछ उपाय

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका प्रमुख लक्ष्य है। सभी धर्मशास्त्रोंने भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये निश्छल हृदयसे भगवान्‌के प्रति अनन्य प्रेमभावना उद्दीप्त कर, हर क्षण उन्हींका स्मरण करते-करते दैनिक कार्य करनेकी प्रेरणा दी है।

जो भगवान्‌के असली प्रेमी हैं, उनकी यह पहचान है कि यदि उन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान्‌की विस्मृति हो जाय तो वे तड़प उठते हैं। अतः भगवत्प्रेममें निरन्तर निमग्न रहना चाहिये। सद्‌गृहस्थ अपने प्रतिदिनके कार्य सुचारुरूपसे चलाते-चलाते भी भगवत्प्रेममें डूबे रहते हैं—यह हमारे धर्मशास्त्रोंकी कथाओंसे स्पष्ट हो जाता है। भगवत्प्रेम-प्राप्तिके लिये हमें भगवन्नामका सहारा लेना पड़ेगा।

श्रीभगवन्नामकी बड़ी अद्भुत तथा विलक्षण महिमा है। श्रीभगवन्नाम ही साक्षात् भगवान् हैं। जिस प्रकार भगवान्‌का अवतार श्रीराम तथा श्रीकृष्णके रूपमें होता है, उसी प्रकार नाम भी भगवान्‌का स्वरूप तथा साक्षात् अवतार है। बंगालमें तो श्रीभगवन्नामको 'नामब्रह्म' कहकर पुकारते हैं। हमने बहुत-से ऐसे मन्दिर देखे हैं कि जिनमें श्रीठाकुरजी महाराजकी प्रतिमाकी जगह 'नाम ठाकुर' की ही पूजा होती है। नामका तत्त्व सबसे उत्कृष्ट है। भगवान्‌के नाममें अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है। एक बार भी श्रीभगवन्नामका उच्चारण करनेमात्रसे ही अनन्त जन्मोंके पाप-ताप भस्मीभूत हो जाते हैं। नाम साक्षात् भगवान् हैं—इसमें तनिक भी संदेह मत करो और नामका सहारा लेकर सहज ही भवसागरसे पार हो जाओ।

वास्तवमें संसारी विद्या असली विद्या नहीं है, यह हमें संसारके मायाजालमें फँसानेवाली है। यह तो अविद्या है। असली विद्या वही है जो जीवके सब पापोंको दूर करके उसे भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख कर देती है और मायाजालसे छुड़ाकर प्रभु श्रीकृष्णसे मिला देती है।

जो भगवान्‌के सच्चे भक्त होते हैं, उनकी परीक्षा होती है। इससे वे बड़े दृढ़ हो जाते हैं और प्रभुके परम कृपापात्र बन जाते हैं। छोटे भक्तोंकी छोटी परीक्षा होती है और बड़े भक्तोंकी बड़ी। बड़े भक्तोंकी परीक्षाके लिये तो उनके सामने अप्सराएँतक भेजी जाती हैं और यदि वे उनके चक्करमें फँस गये तो मारे गये। नहीं तो वे सच्चे भक्त बन जाते हैं। भक्तोंको कामिनी-काञ्चनसे दूर रहना चाहिये। इनके जालमें फँस गये तो फिर भक्त कैसे?

किसी भी जीवको नीचा मत समझो, किसीका भी अपमान मत करो और अपनेको तृणसे भी नीचा समझो। जबतक हमारे हृदयमें दीनता न होगी, तबतक कुछ नहीं होगा। इस संसारमें अभिमान ही सबसे बुरी चीज है। इससे घोर अधःपतन हो जाता है। प्रायः ऐसा देखा गया है कि बड़े-बड़े विद्वान् और पण्डित औरोंको तो श्रीभगवन्नाम-जप-कीर्तन करनेका उपदेश देते हैं, परंतु अभिमानवश स्वयं नहीं करते और कीर्तनमें चुपचाप खड़े रहते हैं। वे समझते हैं कि हम तो बड़े विद्वान् हैं, हमें कीर्तन करके क्या करना है? कीर्तन तो छोटे मनुष्योंका काम है। यह अभिमान उन्हें कीर्तनके श्रेष्ठतम लाभसे वञ्चित कर देता है और घोर अधःपतन कर डालता है।

जब जीव भक्ति महारानीकी गोदमें बैठ जाता है, तब सचमुच ही उसका एक प्रकारसे नया जन्म होता है। भक्ति महारानीकी कृपासे उसमें अभिमानका नाम भी नहीं रहता।

श्रीभगवन्नाम-कीर्तनकी बड़ी अद्भुत महिमा है। भगवान् विष्णुने स्वयं अपने श्रीमुखसे देवर्षि नारदजी महाराजसे कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ९२।२२)

भगवान् कहते हैं कि 'नारदजी! जहाँपर मेरे भक्त कीर्तन करते हैं, मैं वहींपर रहता हूँ।' भगवान्‌ने कीर्तन-प्रेमियोंके प्रति जो उदारता दिखायी है, वह अपूर्व है। जितने भी ईश्वरप्राप्तिके मार्ग हैं, सभी ठीक हैं, परंतु कलियुगमें तो श्रीहरिकी भक्ति और श्रीहरिनाम-संकीर्तन ही कल्याणका एकमात्र सरल तथा सर्वोत्तम साधन है।

जो इस मायासे निकल गये हैं, उनकी यही पहचान है कि वे अपना हठ नहीं रखते और बड़े नम्र

निरभिमानी होते हैं। भगवान्‌के नामके प्रतापसे अभिमान उनके पास भी नहीं फटक सकता।

श्रद्धा और विश्वास ही भक्तिके प्राण हैं। श्रद्धा और विश्वासके बिना क्या होगा? कीर्तनमें बैठकर यह समझना चाहिये कि यहाँ भगवान् हमारे सामने बैठे हैं। नामसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होगी। यह विश्वासकी बात है। नाम साक्षात् भगवान् है, ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

जितना प्रेम एक विषयी मनुष्यका विषयोंमें होता है, उतना ही प्रेम भगवान्‌में हो, तभी काम बनता है। प्रेमका राज्य अति विलक्षण है और वेदकी शक्तिकी भी उसमें गति नहीं है। प्रेमकी निष्ठा अति दुर्लभ है।

याद रखो कि जबतक तुम व्याकुल होकर प्रभुको नहीं पुकारोगे, तबतक कुछ नहीं होगा। यही एकमात्र उपाय है कि तुम रो-रोकर प्रभु श्रीकृष्णको पुकारो। बस, इसके सामने अन्य साधन कुछ भी नहीं हैं।

हमारे शास्त्र, वेद, पुराण और स्मृति—सबकी पूर्णता श्रीभगवद्दर्शनमें ही है। विद्याका मद हो जाता है, अतः इस मदसे बचते रहना चाहिये। आजकलके बहुत-से पण्डित ऐसे हैं कि जो विद्वान् तो अवश्य हैं, पर उनका आचरण ठीक नहीं है। वे स्वयंके आचरणपर ध्यान नहीं देते; सो ठीक नहीं है।

हमारे सभी वेद, शास्त्र, पुराण और सभी पूज्य ऋषि-महर्षि, साधु-संत-महात्मा यही कहते हैं तथा यही बतलाते हैं कि इस संसारमें दो ही चीजें पतनके कारण हैं—पहली चीज है सङ्ग और दूसरी भोजन। कुसङ्गसे सदा-सर्वदा बचते रहना चाहिये और भोजन सात्त्विक करना चाहिये। बढ़िया भोजन और बढ़िया कपड़ोंसे बचना चाहिये, यही कल्याणमार्ग है।

हमारा मन जबतक शुद्ध और पवित्र नहीं होगा, तबतक कल्याण नहीं होगा। शुद्ध और पवित्र मन तब होगा, जब हमारा भोजन शुद्ध तथा पवित्र होगा। भोजन शुद्ध और पवित्र तब होगा जब वह बेईमानीके पैसेका न होकर शुद्ध कमाईका होगा एवं उस भोजनको बनानेवाला भी मांसभक्षक तथा नीच, हृदयका पापी और पतित नहीं होगा।

व्यभिचारिणी स्त्री तथा रजस्वला स्त्रीके हाथका बना और होटलोंका बना भोजन करनेसे एवं अंडे, मांस, मछली, प्याज-लहसुन आदि तामसिक पदार्थोंके खानेसे हमारा मन कभी शुद्ध तथा पवित्र नहीं रह सकता। मनके शुद्ध हुए बिना भजन-ध्यान नहीं हो सकता।

हम भोजनके सम्बन्धमें आपको अपना अनुभव सुनाते हैं। जबतक हम बाँधपर रहे और बाँधके आसपासके गाँवोंके लोगोंकी हाथ-पैरकी मेहनतसे शुद्ध कमाईके द्वारा लाये गये अन्नकी रोटी खाते रहे, तबतक तो हमारा मन बड़ा शुद्ध, शान्त, सात्त्विक तथा पवित्र बना रहा और हमें भजन-कीर्तनमें अद्भुत आनन्द आता रहा। इसके विपरीत जबसे हमें शहरोंमें रहनेके कारण बाबू लोगोंका अन्न खाना पड़ रहा है, जो आजकल प्रायः बेईमानीके कमाये धनसे बनता है, हमारा मन पहले-जैसा शुद्ध नहीं दिखलायी देता। वह अशान्त-सा रहता है और भजन-कीर्तनमें भी इसी कारण पहले जैसा अद्भुत आनन्द नहीं प्राप्त होता।

ग्रामोंकी सनातनधर्मी गरीब हिंदू जनताकी रूखी-सूखी शुद्ध कमाईकी रोटी खानेमें जो सुख है तथा विलक्षण आनन्द है और उससे जैसा भजन-ध्यान-कीर्तन होता है, मन शान्त रहता है, वह सुख, आनन्द, शहरमें बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियोंमें रहनेवाले, प्रायः असत्-मार्गकी कमाईसे पैसा पैदा करनेवाले लोगोंके छप्पन प्रकारके सुस्वादु भोजन करनेमें कहाँ प्राप्त हो सकता है? इसलिये जिसे अपना परम कल्याण करना हो और मनको शुद्ध, पवित्र तथा सात्त्विक रखकर भजन-ध्यानका विलक्षण आनन्द लूटना हो, उसे होटलोंका और बेईमानीकी कमाईका भोजन भूलकर भी नहीं करना चाहिये। *'जैसा खावे अन्न वैसा बने मन'*—इस बातको कभी नहीं भूलना चाहिये।

भगवान् अपने भक्तोंके अधीन हैं। भगवान्‌को अपने भक्त जितने प्यारे हैं, उतने और कोई भी नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे श्रीउद्धवजीसे कहा था कि 'उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे भक्त जितने प्यारे हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, भाई बलरामजी, अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी तथा मेरा अपना आत्मा भी प्यारा नहीं है।' भगवान् भक्तके लिये ही लीला करते हैं। भगवान्‌के लिये उनके प्राणप्यारे भक्त ही लीलाधर हैं।

श्रीमन्महाप्रभु गौराङ्गदेव अपनी माताजीके ऐसे अनन्य भक्त थे कि जितनी बार भी उन्हें उनकी माताजी मिलतीं उतनी ही बार श्रीमन्महाप्रभुजी पृथ्वीपर लेटकर श्रीमाताजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया करते। श्रीमन्महाप्रभुजी अपनी माताजीके इतने बड़े परम भक्त होनेपर भी माताजीसे कहा करते थे—'माताजी! जो भगवान् श्रीकृष्णके भक्तोंसे घृणा करता है, वह

मुझे तनिक भी प्रिय नहीं है।' इसलिये भगवद्भक्तोंका भूलकर भी कभी अपमान नहीं करना चाहिये।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवका अवतार उस समय हुआ था, जिस समय सब लोग भगवद्भक्तोंको और भक्तिको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे थे तथा उनको अत्यन्त तुच्छ समझते थे। उस समय तिलक लगाना भी कठिन हो गया था। श्रीमन्महाप्रभुजीने प्रकट होकर सबको बताया—'भक्तिके बिना जीवका कदापि कल्याण नहीं होगा।' उन्होंने घर-घर जाकर श्रीहरिनाम-संकीर्तनकी धूम मचा दी। आज भी यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीहरिनामका सहारा लो, तभी कल्याण होगा।

भगवन्नाम-कीर्तन करके अगर तुम किसी अन्य वस्तुको चाहते हो तो भगवान् हाथसे निकल जायँगे। चाहे जो हो जाय कुछ भी न माँगो। भले ही सब कुछ नष्ट हो जाय, किंतु भगवत्सम्बन्ध न टूटने पाये।

मुझे तो सब मार्ग एक ही ओरको गये दीखते हैं; एक ही फल दीखता है। पर वहाँ पहुँचनेके लिये, उससे मिलनेके लिये बड़ी-से-बड़ी कुर्बानी देनी पड़ेगी।

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
(रा०च०मा० ५।४८।५)

हे मन! तू अपनी चतुराई छोड़ दे, यह समझ कि भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्‌के हैं।

नियमपूर्वक सत्संग करके मनको भगवान्‌में लगाओ। भगवत्प्रेम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह तो चिन्मय रस है।

जब समष्टिकी लगन होती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं और एककी ही लगन होती है तब उसके भावानुसार उसे दर्शन देते हैं। लगन निरन्तर प्रतिक्षण बढ़ती रहनी चाहिये। लगन बढ़ती है—भगवत्कृपासे, महाप्रभुजीकी कृपासे और पूर्ण भक्तकी कृपासे।

समस्त संसारमें जितने भी रस हैं, उन सबके सार श्रीकृष्ण हैं। जीव तभीतक प्राकृतिक रसोंके वशीभूत है, जबतक वह श्रीकृष्णरससे वञ्चित है।

जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही श्रीराधिका हैं, जो श्रीराधिका हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं। दोनों परस्पर अभिन्न हैं, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान्, गुलाबका फूल तथा उसकी सुगन्ध। बल्कि यों कहिये कि श्रीजीके द्वारा ही श्रीकृष्णका आनन्द है। वैष्णवोंने श्रीजीको 'आह्लादिनी शक्ति' कहा है, जिसका सार प्रेम है।

हमारे मन कितने मलिन हैं, जो हम श्रीकृष्ण और श्रीराधामें पुरुष-स्त्रीका भाव करते हैं। वहाँ तो इसकी गन्ध भी नहीं है। उनकी लीलाओंका रहस्य जाननेके लिये, बड़े ऊँचे भाववाले परम पवित्र मन चाहिये। हमारे मन तो प्राकृतिक रागको क्षणमात्र भी नहीं त्याग सकते। सचमुच, यदि मन मायासे ऊपर उठ जाय तो नया जन्म ही हो जाय।

जो लोग भगवान्‌की लीलाओंमें तर्क-वितर्क करते हैं, उन्हें उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भगवान्‌पर उनका विश्वास ही नहीं है।

हमें यदि उस रसको पीना है तो भले ही इसके लिये संसारसे हमारी जड़ कट जाय। उसकी लगनमें हँसते-हँसते सिरतक दे देना चाहिये।

हम कथा-कीर्तन सुनते-करते हैं, पर वे सब ऊपर-ही-ऊपर हवाकी तरह उड़ जाते हैं। अंदर गहरी तहमें चले जायँ तो फिर क्या कहने हैं?

जैसे बच्चा माताकी गोदमें जानेके लिये रोता है, वैसे ही माता भी बच्चेको गोदमें लेनेके लिये आतुर होती है। इसी प्रकार जो जीव भगवान्‌से मिलना चाहते हैं तो भगवान् भी चाहते हैं कि ये जीव मेरी ओर आयें।

भगवान् बड़ा बनना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि जीव मुझे छोटा बनाकर मुझसे प्यार करे। बड़ा बननेकी धुन तो सांसारिक मनुष्यमें होती है। जो यह समझता है कि भगवान् तो हमारे ही हैं, उसे भजन करनेकी जरूरत नहीं होती। श्रीमहाप्रभुजीने यही बतलाया था कि 'जीवो! भगवान्‌से डरो मत, राधा-कृष्ण कहो, उनसे खूब प्रेम करो।'

हम छोटे-से त्यागको भी बहुत कुछ समझ लेते हैं, परंतु भगवान्‌के लिये हमें सारे सांसारिक सम्बन्धोंका त्याग करना होगा। वह भी सदाके लिये और हँसते-हँसते प्रसन्नताके साथ।

साधकको किसी बलकी जरूरत नहीं है, वह केवल यही विश्वास रखे कि भगवान् हमारे हैं। बस, इसीकी जरूरत है। जब महाप्रभुजीने हमें अपना लिया तो फिर डरनेकी क्या आवश्यकता है?

जब भगवत्कृपा होगी, तब सब कुछ अपने-आप ही हो जायगा। हमें कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं होगी। हमें तो भगवत्प्रेममें निमग्न रहकर भगवान्‌की कृपाप्राप्तिके लिये प्रयासरत रहना चाहिये। [प्रस्तोता—गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी]
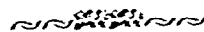
भगवत्प्रेमकी आनन्दात्मकताका रहस्य

[ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजके अमृतोपदेश]

भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है और वही परमानन्द है। आनन्द और प्रेम दोनों की प्रक्रिया एक है। आनन्दमें अहम्का बन्धन क्षीण होता है और भगवत्प्रेममें भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। जबतक जीव अहंता और ममतासे आवृत रहता है, तबतक उसमें भेदभाव भी रहता है और वासनाजन्य प्रेम भी। प्रेमसे जब वासनाका भाव विच्छिन्न हो जाता है तो विशुद्ध आनन्दकी प्राप्ति होती है। अतः आनन्दकी उत्कृष्ट इच्छा ही भगवत्प्रेम कहलाती है। **'वासुदेवः सर्वम्'** की भावनासे पूर्णतः भावित होकर भक्त साधक भगवत्प्रेमकी दिव्यताको प्राप्त होता है। इस प्रकार उपास्य, उपासक और उपासनारूपी त्रिपुटीका लय ही भगवत्प्रेमका सच्चा व्यापार है। इस स्थितिमें सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है, व्यवहारमें कुछ भेद बना भी रहे तो कोई हानि नहीं। तुलसीदास, कबीरदास, ज्ञानदेव, तुकाराम आदि संतोंने समग्र विश्वको उसकी विभूतिके रूपमें ही स्वीकार किया है। संत तुकाराम कहते हैं—

गुड़ सा मीठा है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक, जल तरंग से हैं हम एक॥

इसी प्रकार कबीरदासने भी कहा है—

लोगा भरमि न भूलहु भाई।
खालिकु खलक खलक महि खालिकु पूर रह्यो सब ठाईं॥
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजनहारै।
ना कछु पोच माटी के भाँणे ना कछु पोच कुँमारै॥
सब महि सच्चा एको सोई, तिसका किया सब किछु होई।
हुकम पछानै सु ऐकी जानै बंदा कहियै सोई॥
अल्लह अलख न जाई लखिया गुरु गुड़ दीना मीठा॥
कहि कबीर मेरी संका नासी, सर्व निरंजन डीठा॥

(कबीर-ग्रन्थावली परिशिष्ट १२)

सर्वात्म-दर्शनका मूल तत्त्व यही है कि जो आत्मा मुझमें है, वही सभी प्राणियोंमें भी है—**'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि'**। श्रीमद्भागवत महापुराणमें भी यही बात कही गयी है—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(११।२।४५)

अर्थात् आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं। जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी एवं समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्में ही आधेयरूपसे अथवा अध्यस्त रूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमें भगवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकार जिसका अनुभव है, ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भगवान्का परम प्रेमी उत्तम भागवत समझना चाहिये।

भगवत्प्रेमकी वास्तविक उपलब्धिहेतु कुछ सरलभाव निर्दिष्ट हैं—

(१) जब कहीं जाओ तो यह समझो कि भगवान्की परिक्रमा कर रहे हैं।

(२) कुछ भी देखो तो समझो कि हम भगवान्के विभिन्न रूपोंके दर्शन कर रहे हैं।

(३) जब भोजन करो तो यह भाव रखो कि भगवान्का प्रसाद पा रहे हैं।

(४) जब जल पीयो तो यह समझो कि भगवान्का चरणामृत पान कर रहे हैं।

(५) जब सोओ तो भगवान्का नाम-गुण-चिन्तन करते हुए सोओ और यह समझो कि प्रभुकी ममतामयी गोदमें विश्राम कर रहे हैं।

(६) जब जगो तो यह समझो कि भगवान्का ही कार्य करनेके लिये जगे हैं।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री 'मानसकिंकर']
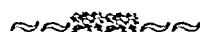
प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति॥

लोक-मर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है। प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्'** अर्थात् गोपियोंके शुद्ध प्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है। इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है; क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीर-सुखकी इच्छा नहीं थी। वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त। इसलिये शुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा 'राग' के तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन, विछोह या विरह।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार और संसारी विषयभोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसे प्रेमियोंकी भिन्न-भिन्न दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमें अष्ट सात्त्विक भावोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ भावोंका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वर-भंग, पुलक और प्रलय। अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये—

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं, उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय, उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी ही दशा हुई थी। उन्होंने स्वयं कहा है—

'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥'

अर्थात् मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं।

स्वेद—शरीरमेंसे पसीना छूटना या पसीनेमें 'लथपथ' हो जाना, इसे 'स्वेद' कहते हैं।

अश्रु—बिना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है, उसे 'अश्रु' कहते हैं। हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं, वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरसे नीचेको बहते हैं। शोकके आँसू गरम होते हैं और वे आखोंके बीचसे ही बहते हैं।

स्वरभंग—मुखसे अक्षर (शब्द)-का स्पष्ट उच्चारण न हो सके, उसे 'स्वरभेद', 'गद्‌गद' या स्वर-भंग कहते हैं।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है, उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं। उसका असली स्वरूप है—'आकृतिका बदल जाना।'

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ, उसे पुलक या रोमाञ्च कहते हैं।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय, उसे प्रलय कहते हैं। इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी आ जाती है। इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं। 'बेहोश होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़नेका नाम प्रलय है।'

उपर्युक्त सभी भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि कारणोंसे होते हैं, किंतु ईश्वर-प्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं।

पहले हम पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा बिछोह—ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं। अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये—

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किंतु चित्त उसके लिये तड़प रहा है। इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय, इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे, घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!

हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!

हा! हा! कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे?

हे देव! हे दयालो! हे विश्वमें एकमात्र बन्धु! हे श्याम! अरे ओ चपल! हे करुणाके सागर! हे स्वामिन्! हे मेरे साथ रमण करनेवाले! हे मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले प्राणेश! तुम मुझे दर्शन कब दोगे?

उपर्युक्त श्लोकमें परम करुणापूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो, तब कहीं वह निगोड़ा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है!

मिलन—दूसरा है, सम्मिलन-सुख। यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या सुख है, यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलन-सुखको तो दोनों एक होकर ही जान सकते हैं, वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं, फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे? अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही दीख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवत आदिमें वर्णन है, किंतु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसंगवश यत्किञ्चित् है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन-सुखको तो सिर्फ वे दोनों ही लूटते हैं। सुनिये, रसिक रसखानजीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है, किंतु वर्णन करनेमें कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और सुन्दर चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

ए री! आज-काल्हि सब लोक-लाज त्यागि दोऊ,
सीखे हैं सबै बिधि सनेह सरसायबो।
यह रसखान दिन द्वै में बात फैलि जैहै,
कहाँलौं सयानी! चन्द हाथन छिपायबो॥
आज हौं निहार्‌यो वीर, निपट कलिन्दी तीर,
दोउनको दोउन सौं मुख मुसकायबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हैं, भूल गयीं गैयाँ, इन्हैं गागर उठायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है। वह भी कालिन्दीकूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ?

'दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैयाँ,
उन्हैं, भूल गयीं गैयाँ, इन्हैं गागर उठायबो॥'

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको।

वियोग—तीसरी दशा है विरहकी। इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक-दूसरीसे श्रेष्ठ हैं। पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है। प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

बिरहा-बिरहा मत कहौ, बिरहा है सुलतान।
जेहि घट बिरह न संचरै, सो घट जान मसान॥

विरहके भी तीन भेद हैं—भविष्यविरह, वर्तमानविरह और भूतविरह। इनमें भी परस्परमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी-विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान-विरह। भूत-विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी-विरहको ही लीजिये। 'प्यारा कल चला जायगा' बस, इस भावके उदय होते ही कलेजेमें जो एक प्रकारकी ऐंठन-सी होने लगती है, उसी ऐंठनका नाम 'भावी-विरह' है।

ऐसी विरह-वेदना अपने किसी प्रियके विछोहमें सभीके हृदयमें होती है, किंतु श्रीकृष्णके मथुरा-गमनका समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी-विरह-वेदना हुई, वह तो कुछ बात ही अनोखी है। वैसे तो सभीका विरह उत्कृष्ट है, किंतु श्रीराधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही श्रीराधिकाजी कर्तव्यविमूढ़-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापका मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—राधिकाजी कह रही हैं—

'मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ? रजनी बीतनेपर प्रातःकाल किसके

कमलमुखकी ओर निहारूँगी? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरह-शोकमें मर जाऊँगी। समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी, जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी।' यह भावी-विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान-विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे और विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया, वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है। उस समय दिलमें जो एक प्रकारकी धड़कन होती है, वह सीनेमें कोई मानो एक साथ ही सैकड़ों सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है, उसे ही 'वर्तमान-विरह' कहते हैं।

गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले श्रीकृष्णके विरहमें व्रजाङ्गनाओंकी क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमरवाणीमें सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है—

एवं ब्रुवाणा विरहातुरा भृशं
व्रजस्त्रियः कृष्णविषक्तमानसाः।
विसृज्य लज्जां रुरुदुः स्म सुस्वरं
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

(श्रीमद्भा० १०। ३९। ३१)

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन्! जिनके चित्त श्रीकृष्णमें अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ायी हुईं, नाना भाँतिके आर्त-वचनोंको कहती हुईं और लोक-लाज आदिकी कुछ भी परवा न करती हैं, वे ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द! हा माधव! हा दामोदर! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये, अब उनसे फिर कभी भेंट होगी या नहीं—इसी द्विविधाका नाम 'भूत-विरह' है। इसमें आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या? फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य ही है, किंतु पता नहीं वह आशा कब पूरी होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार दूरसे ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हो, दर्शन हो जायँ! बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा विचित्र होती है। साधारणतया उस विरहकी दस दशाएँ बतायी गयी हैं। वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहमृत्युर्दशा दश॥

(उज्ज्वलनीलमणि शृ० १५३)

'चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु—ये ही विरहकी दस दशाएँ हैं।' अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये—

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमें दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे। व्रजभाषा-गगनके परम प्रकाशवान् नक्षत्र 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिंन रह्यो हियमें ठौर।
नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत, चितवत, दिवस, जागत, स्वप्न, सोवत रात।
हृदयतें वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाज दिखात।
कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समात॥
श्याम गात सरोज-आनन ललित-गति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है, यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किंतु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ? श्रीराधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्ने धन्यास्ताः सखि योषितः।
अस्माकं तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

(पद्या[illegible]

'प्यारी सखी! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमें तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मथुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' निद्रा आये कहाँ, आँखोंमें तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं?

उद्वेग—हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचल और बेकली होती है, उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

ब्याकुल ही तड़पौं बिनु प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौं तनु रूप-सुधा बिनु,
पानिय पीको पपीहै पिआओ॥
जीयमें हौस कहूँ रहि जाय न,
हा! 'हरिचंद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे! कोउ,
हाल तौ जाइकै मेरो सुनाओ॥

पागलपनकी हद हो गयी न! भला कोई जाकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता? अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये—

कृशता—प्यारेकी यादमें बिना खाये-पीये दिन-रात चिन्ता करनेके कारण शरीर जो दुबला हो जाता है, उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोंकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुण-स्वरसे श्रीराधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। प्रज्ञाचक्षु सूरने तो इस वर्णनमें कमाल ही कर दिया है, सुनिये—

चित्त दै सुनौ स्याम प्रवीन!
हरि! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल, तमोल, भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ़ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि, गवन मो तन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों, ग्रसित आपद दीन॥
उठि बहुरि संभारि भट ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे, जियहि आशा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो यह सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्र खींचनेमें पर्याप्त होगा। विरहिणी श्रीराधाकी कृशता, मलिनाङ्गता, चिन्ता, उद्वेग, व्याधि, मोह और मृत्युतककी दसों दशाओंका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया गया है। मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्युतुल्य अवस्था' ही बताया है। श्रीराधिकाजीकी इससे बढ़कर और मृत्यु-तुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है?

मलिनाङ्गता—'शरीरकी सुध न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गन्दे हो जाते हैं। इसे ही 'मलिनाङ्गता' या 'मलिनता' कहते हैं। ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आया ही है—

'तज्यो तेल, तमोल, भूषन, अंग बसन मलीन।'

प्रलाप—शोकके आवेशमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं, उसका नाम 'प्रलाप' है। श्रीसीताजीकी खोजमें श्रीलक्ष्मणजीके साथ श्रीरामचन्द्रजी वनोंमें भटक रहे हैं। हृदयमें भारी विरह है, अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, चौंककर खड़े हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽहं ब्रूहि सखे स्वयं स भगवानार्यः स को राघवः
के यूयं बत नाथ नाथ किमिदं दासोऽस्मि ते लक्ष्मणः।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्यागतिर्मृग्यते
का देवी जनकाधिराजतनया, हा जानकि क्वासि हा॥

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'भैया! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही।'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो! आप साक्षात् भगवान् हैं।'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान्?'

लक्ष्मण कहते हैं—'रघु महाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम।'

फिर चारों ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा, तुम कौन हो?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन्! हे दयालो! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं? मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जङ्गलोंमें क्यों घूम रहे हैं?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम

देवीकी खोज कर रहे हैं।'

चौंककर भगवान् पूछते हैं—'कौन देवी?'

लक्ष्मणजी कहते हैं—'जगद्वन्दिनी, जनकनन्दिनी श्रीसीताजी।'

बस, सीताजीका नाम सुनते ही 'हा सीते! हा जानकि! तू कहाँ चली गयी' कहते-कहते भगवान् मूर्च्छित हो जाते हैं। इन बेसिर-पैरकी बातोंका ही नाम 'प्रलाप' है।

व्याधि—शरीरमें किसी कारणवश जो वेदना होती है उसे 'व्याधि' कहते हैं और मनकी वेदनाको 'आधि' कहते हैं। विरहकी 'व्याधि' भी एक दशा है। उदाहरण लीजिये। श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ललितासे कह रही हैं—

उत्तापी पुटपाकतोऽपि गरलग्रामादपि क्षोभणो
दम्भोलेरपि दुःसहः कटुरलं हृन्मग्नशल्यादपि।
तीव्रः प्रौढविसूचिकानिचयतोऽप्युच्चैर्ममायं बली
मर्माण्यद्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विश्लेषजन्माज्वरः॥

(ललितमाधव नाटक)

'हे सखि! गोकुलपति उस गोपालका विच्छेद-ज्वर मुझे बड़ी ही पीड़ा दे रहा है। यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे भी अधिक उत्तापदायी है। पृथ्वीपर जितने जहर हैं, उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह है, हृदयमें छिदे हुए शल्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा तीव्र विषूचिकादि रोगोंसे भी बढ़कर यन्त्रणाएँ पहुँचा रहा है। प्यारी सखि! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंका भेदन कर रहा है।' इसीका नाम 'विरह-व्याधि' है।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी तथा विचित्र चेष्टाएँ करने लगती है तो उसे ही 'विरहोन्माद' कहते हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

भ्रमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती
प्रथयति तव वार्तां चेतनाचेतनेषु।
लुठति च भुवि राधा कम्पिताङ्गी मुरारे
विषमविषयखेदोद्गारिविभ्रान्तचित्ता॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! श्रीराधिकाजीकी दशा क्या पूछते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिलखिलाकर हँसने लगती है, चेतन-अवस्थामें हो या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है। कभी धूलिमें ही लोट जाती थर-थर काँपने ही लगती है। हे मुरारे! मैं क्या ब विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरह-खेदसे विभ्रा विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी 'उन्मादिनी ही सुन्दर चित्र खींचा है, किंतु इसे 'विरहोन्माद' 'प्रेमोन्माद' कहना ही ठीक होगा। सुनिये, साँवरे सनी हुई एक सखीकी कैसे विचित्र दशा हो गयं पढ़ते-पढ़ते भाव सजीव होकर आँखोंके सामने न लगता है—

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी गोपी,
दुखी-सी रहति कछु नाहीं सुधि देह
मोही-सी, लुभाई, कुछ मोदक-सो खाये सदा,
बिसरी-सी रहै नेकु खबर न गेह
रिस भरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेह
पूँछे ते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानी या सनेह

मोह—अत्यन्त ही वियोगमें अङ्गोंके शिथिल हं जो एक प्रकारकी मूर्च्छा-सी हो जाती है, उसे 'मोह हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तं रसिक हरिश्चन्द्रजी ही बड़ी खूबीसे खींच सकते हैं। र मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीर्ि

थाकी गति अंगनकी, मति परि गई मंद,
सूखि झाँझरी-सी ह्वै कैं देह लागी पियरान।
बावरी-सी बुद्धि भई, हँसी काहू छीन लई,
सुखके समाज, जित तित लागे दूरि जान॥
'हरीचन्द' रावरे बिरह जग दुखमयो,
भयो कछु और होनहार लागे दिखरान।
नैन कुम्हिलान लागे, बैनहु अथान लागे,
आयो प्राननाथ! अब प्रान लागे मुरझान॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न तो ये कुम्हिलाये हुए नैन और अथाये हुए बैन पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण, प्राणनाथकी आश अटके हुए हैं। 'मोह' की दशाका इससे उत्तम उ और कहाँ मिलेगा।

मृत्यु—मृत्युकी अब हम व्याख्या क्या करें। मृ

गयी तो झगड़ा मिटा, दिन-रातके दु:खसे बचे, किंतु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेसे ही विरहिणीका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं, 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना।' इसका दृष्टान्त लीजिये। बँगलाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर-वाणीमें ही व्रजवासियोंकी दशमी दशाका दर्शन कीजिये—

माधव! तुहु यब निरदय भेल।
मिछई अवधि दिन, गणि कत राखब, व्रजबधु-जीवन-शेल॥
कोइ धरनितल, कोइ यमुनाजल, कोइ-कोइ लुठइ निकुञ्ज॥
एतदिन विरहे, मरण-पथ पेखलु, तोहे तिरिवध पुनपुञ्ज॥
तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरि परान॥
जीवन मरण, मरण वर जीवन 'गोविन्ददास' दुख जान॥

दूती कह रही है—'प्यारे माधव! भला, यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये? दुनियाभरके झूठे, कलकी कह आये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इस प्रकार झूठ-मूठ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहलाते रहोगे। अब तुम्हें व्रजकी दयनीय दशा क्या सुनाऊँ, वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो पृथ्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निभृत निकुञ्जोंमें ही लम्बी-लम्बी साँसें ले रही हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ दिन-रात्रि बिता रही हैं। तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो सैकड़ों स्त्रियोंके वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उन मछलियोंकी-सी है, जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हों और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो। वे जिस प्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़पती रहती हैं, उसी प्रकार ये तुम्हारे विरहमें तड़प रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं, किंतु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दु:खको ऐसा ही समझो!'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किंतु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और पुन: मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमार्गीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान प्रवर्धनशील कहा गया है। (**प्रतिक्षणवर्द्धमानम्**) अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके समीपतक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ़' महाभाव और 'अधिरूढ' महाभाव दो भेद बताये गये हैं। 'अधिरूढ' महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोदन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'दिव्योन्माद' होता है। 'दिव्योन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उद्घूर्णा, चित्र, जल्पादि बहुत-से भेद हैं। यह दिव्योन्माद श्रीराधिकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है, इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके निम्नाङ्कित श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रखा है, ऐसा अवशचित्त पुरुष संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ अपने प्यारे श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनमें अनुरागवश कभी तो हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाता है और कभी थिरक-थिरककर नृत्य करने लगता है।

इस श्लोकमें '**रौति**' और '**रोदिति**' ये दो धातु साथ ही हैं। इससे खूब जोरोंसे ठाह मारकर रोना ही अभिव्यञ्जित होता है। '**रू**' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द आप-से-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ '**रौति**' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इससे भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, दिव्योन्माद तो फिर उन्मादसे भी बढ़कर विचित्र होगा। वह अनुभवगम्य विषय है, श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपसे देखा अथवा सुना नहीं गया।

भावोंकी चार दशाएँ बतायी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भाव-शाबल्य और (४) भाव-शान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है, उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं, तो उस अवस्थाका नाम भाव-सन्धि है, जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भाव-शावल्य कहते हैं। जैसे 'पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयंकर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ।' इसी प्रकार इष्टवस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है, उसे 'भाव-शान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था, वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, सुप्त, उग्रता, उपालम्भ, निद्रा और विबोध—इन सबको व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनका वैष्णव-शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय, दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूप-माधुरी आँखोंमें समा जाय और किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय, तब बेड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये, फिर भाव, महाभाव, अधिरूढभाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो आप-से-आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा, त्यों-त्यों तड़फड़ाहट आप-से-आप ही बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको बुलानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किंतु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-क्रोधादि चोरोंको स्थान दे रखा है, वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं? सचमुच हमारा हृदय तो वज्रका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छासे उदित नहीं होता। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं—

> तदश्मसारं हृदयं बतेदं
> यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
> न विक्रियेताथ यदा विकारो
> नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥
>
> (श्रीमद्भा० २।३।२४

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह—फ़ौलादकी तरह समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें हरि-नाम-स्मरणमात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो जाते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें विकृति उत्पन्न हो? महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

> **नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।**
> **पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥**

अर्थात् हे नाथ! तुम्हारा नाम-ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंमेंसे जलकी धारा बहने लगेगी, कब हम 'गद्गद कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे?' वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर गये। १८ वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौर-भक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुड-स्तम्भके समीप, जगमोहनके इसी ओर, जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था, महाप्रभु दर्शन करते-करते इतने रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक-दो दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोये। उन्मादावस्थामें भी उनका जगन्नाथजीके दर्शनोंका जाना बंद नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्ण-भावसे चलता रहा। वैष्णव-भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

> **जमुना पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।**
> **पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे-मधुरे गूँज सुनाऊँ॥**
> **कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।**
> **'ललितकिसोरी' आस यही मम ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥**

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेम-साधना

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर, जरा भी स्वार्थ, अभिमान और कामना न रखकर एकमात्र भगवान्‌में ही अतिशय श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना और भगवान्‌से भिन्न किसी भी वस्तुमें किञ्चिन्मात्र भी प्रेम न करना—यह अनन्य प्रेम है। अनन्य प्रेमके साधनका स्वरूप और फल गीता (१०।९-१०)-में इस प्रकार बताया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

'निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं एवं मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान आदिद्वारा मुझमें निरन्तर रमण करने और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भगवान्‌ने ९वें श्लोकमें अनन्य प्रेमी भक्तके लक्षणोंके रूपमें छः साधन बतलाये हैं और १०वें श्लोकमें उनका फल बतलाया है। अब इनके विषयमें कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है—

'मच्चित्ताः'

जैसे संसारी मनुष्य रात-दिन संसारमें ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही भगवान्‌के प्रेमी भक्त भगवान्‌में ही रचे-पचे रहते हैं तथा जैसे संसारी मनुष्य हर समय मनसे संसारका ही चिन्तन करते रहते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त हर समय मनसे भगवान्‌का ही चिन्तन करते रहते हैं। भगवान्‌से मिलनेके इच्छुक साधक भक्त मनसे भगवान्‌का आह्वान करके भगवान्‌का दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, पूजा, आदर, सत्कार और विनोद करते रहते हैं। सर्वप्रथम भक्त भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके चरणोंसे लेकर मस्तकतक वस्त्र-आभूषण-आयुध आदिके सहित उनके स्वरूपका श्रद्धा-प्रेमसे चिन्तन करता है। फिर मनसे ही अपने सम्मुख प्रकट मानसिक भगवान्‌के स्वरूपका मानसिक सामग्री और अपने मानसिक शरीरके द्वारा षोडश उपचारोंसे पूजन करता है। तत्पश्चात् आत्मीयतापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता है तथा मनसे ही उनके साथ आमोद, प्रमोद और विनोद करता हुआ आश्रम, घर या वनमें विचरण करता रहता है। जहाँ-जहाँ भगवान्‌के चरण टिकते हैं, उस-उस भूमिमें भगवान्‌का प्रभाव प्रवेश कर जाता है; इसलिये उस भूमिकी रजको परम पवित्र और कल्याणकारिणी हो गयी समझता है। जिस बिछौने, गद्दे या शतरंजीपर बैठकर भगवान्‌के साथ भक्त मनसे वार्तालाप करता है, उस शतरंजी और गद्दे आदिमें मानो भगवान्‌के दिव्य गुण-प्रभावके परमाणु प्रवेश कर गये, इसलिये उस शतरंजी गद्देको छूनेसे उसके शरीरमें रोमाञ्च हो जाते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित होता रहता है। जैसे दो सखा आपसमें प्रेमकी बातचीत करते हैं, वैसे ही वह भगवान्‌के साथ दिव्य प्रेमकी मनसे ही बातचीत करता रहता है। प्रेमभरे नेत्रोंसे वे एक-दूसरेको देखते हैं। भगवान्‌के हृदयमें और नेत्रोंमें समता, शान्ति, ज्ञान, प्रेम आदि अनन्त दिव्य गुण भरे पड़े हैं, भगवान् मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात करते हैं, जिससे वे गुण मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और रोम-रोममें ऐसे प्रवेश कर रहे हैं कि उनमें समता, शान्ति, ज्ञान, आनन्द तथा प्रसन्नताकी सीमा ही नहीं रही। मानो मैं गुणोंके सागरमें डूबा हुआ हूँ—ऐसा उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भगवान्‌के नेत्रोंकी दृष्टि जहाँ-जहाँ पड़ती है, वे सब वस्तुएँ दिव्य अलौकिक कल्याणदायक हो जाती हैं—ऐसा अनुभव होने लगता है। फिर मानो भगवान् और भक्त दोनों एक साथ भोजन करने बैठे हैं तथा एक-दूसरेको परोस रहे हैं। भगवान्‌के स्पर्शसे वह भोजन दिव्य, अलौकिक रसमय, परम मधुर हो गया है। उस भोजनके करनेसे सारे शरीरमें इतनी प्रसन्नता, आनन्द, शान्ति और तृप्ति हो रही है कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान्‌के अङ्गसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है, वह भी दिव्य रसमय, आनन्दमय, शान्तिमय, प्रेममय और कल्याणमय हो जाती है। भगवान् जिसको अपने मनसे स्मरण कर लेते हैं, वह वस्तु भी परम शान्ति, परमानन्द और परम कल्याणदायिनी हो जाती है। भगवान्‌में दिव्य सुगन्ध आती

है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बड़ी ही कोमल और मधुर है, वह कानोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरण-स्पर्श हाथोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण-स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है, वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है। इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, आमोद, प्रमोद आदि सभी रसमय, आनन्दमय, प्रेममय और अमृतमय हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धाम सभी परम मधुर, दिव्य, अलौकिक तथा रसमय हैं। यों चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते हैं, भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती; अत: वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते। एक भगवान्‌में ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है।

'मद्‌गतप्राणाः'

वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्—श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन, धन और प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं। फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती हैं। उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। उन्हें क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। उनको भगवद्दर्शनके बिना चैन नहीं पड़ता, न रातको नींद आती है और न दिनमें भूख लगती है। भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हें अच्छा नहीं लगता। वे जलके बिना मछलीकी भाँति तड़फते रहते हैं। जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं, उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्‌गत हो जाते हैं। वे गोपियोंकी तरह विरहाकुल, पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते-फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण सबको भगवान्‌के न्यौछावर कर देते हैं, उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हें खाने, पीने, बोलने, चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष, राक्षस, देवता, मनुष्य, पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हें ज्ञान नहीं रहता। मन, तन, धन, जीवन, प्राण और सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमें भी उनकी प्रीति तथा ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमें ही श्रीसुन्दरदासजीने यह कहा है—

न लाज तीन लोक की न बेद को कह्यौ करै।
न संक भूत प्रेत की न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्तः परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्वको परस्पर एक-दूसरीको कहती और समझाती रहती थीं, वैसे ही वे भगवत्प्रेममें मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोंके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, प्रेम, गुण और प्रभावकी चर्चा करते हुए एक-दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझाते रहते हैं एवं अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला, चरित्र, महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य, रूप-लावण्य, वस्त्र, आभूषण, नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमें परस्पर वार्तालाप करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम तथा आनन्दमें तन्मय एवं मुग्ध हो जाते हैं।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तों तथा अपने प्रिय सखाओंके सम्मुख भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और गुणोंका गान करते रहते हैं एवं भगवान्‌के साकार, निराकार, सगुण, निर्गुण, स्वरूपके तत्त्वरहस्यका, भगवान्‌के चरित्र और दिव्य लीलाओंका, भगवान्‌के नामकी महिमाका, भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यका तथा भगवान्‌के दिव्य, अलौकिक, अनन्त नानाविध गुणोंके तत्त्व-रहस्यका पुस्तक, व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदिके द्वारा वर्णन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमके आनन्दमें विह्वल और मग्न हो जाते हैं। फिर भी, इन सबका वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं।

'नित्यं तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोंसे ही हर समय संतुष्ट रहते हैं। इनसे बढ़कर किसीको भी आनन्ददायक नहीं समझते। वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर तृप्त और संतुष्ट रहते हैं, परम शान्ति तथा परमानन्दके दिव्य

एक भगवान्‌में ही सर्वथा रमण करते रहते हैं। अपने परम प्यारे भगवान्‌में दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे स्वाद लेना नासिकाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उसका स्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर, उनके नेत्रोंमें जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम, रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है, उसको देखते रहना नेत्रोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के चरणोंका हाथोंसे स्पर्श करना हाथोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नूपुर, वंशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल, मधुर वाणीको सुन-सुनकर स्वाद लेना कानोंके द्वारा रमण है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव, रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्‌में रमण करना है तथा भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार-स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनमें रमण करना है। इस प्रकार भगवान्‌का आघ्राण, प्रसाद-भोग, दर्शन, स्पर्श, भाषण-श्रवण, चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय, प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय है—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़कर उनसे उनके दर्शन-भाषण आदि करनेमें ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्‌में ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं। गोपियोंका भगवान्‌में अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था। उनके मन, प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रेमास्पद भगवान्‌के ही अर्पित थीं तथा वे भगवान्‌के गुणोंका गान करती हुई उनके प्रेममें ही सदा मग्न

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास तथा अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनसे चिन्तन, दर्शन, भाषण एवं चरण-स्पर्श करना ही भगवान्‌को प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना है। इस प्रकार भगवान्‌को भजनेवाले भक्त मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा, ऐश-आराम, भोग और त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नहीं चाहते। वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्‌को अनन्यभावसे भजते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

‘जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमें न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता है तथा वह योगकी बड़ी-बड़ी सिद्धियों और मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता।’

ऐसे अनन्य विशुद्ध प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धियोगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं, जिससे भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण-स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमें आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌की प्राप्ति होनेके पश्चात् उसे केवल भगवान्‌का ही अनुभव रहता

है। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। होश आनेके बाद उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के ही मन और संकेतके अनुकूल कठपुतलीकी भाँति स्वाभाविक ही होती रहती हैं। फिर भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही होती है। उनमें परस्पर नित्य-नया प्रेम सदा-सर्वदा समानभावसे जाग्रत् रहता है। परस्पर दोनोंकी चेष्टा एक-दूसरेको आह्लादित करनेके लिये ही होती है, जो कि एक-दूसरेके लिये लीलारूप है। प्रेम, प्रेमास्पद और प्रेमी—इनका नाम-रूप अलग-अलग है, परंतु वस्तुत: तीनों एक ही हैं। जैसे सुवर्णके आभूषणोंके नाम-रूप अलग-अलग होते हैं, किंतु वस्तुत: वे स्वर्ण ही हैं। इसी प्रकार परम दिव्य चिन्मय प्रेमस्वरूप परमात्मा ही प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम नामसे व्यवहृत हुए हैं। भक्तकी दृष्टिमें तो भक्त प्रेमी, भगवान् प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है तथा भगवान्‌की दृष्टिमें भगवान् प्रेमी, भक्त प्रेमास्पद एवं उनका सम्बन्ध ही प्रेम है, अत: भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये लीला है और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये लीला है। एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही होती है।

वहाँ एक-दूसरेके साथ लज्जा, मान, भय और आदर-सत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं रहते। वस्तुत: तो एक ही हैं अत: कौन किसका किससे किसलिये लज्जा, मान, भय और आदर-सत्कार करे। दास्य और वात्सल्यभावमें तो आदर-सत्कार और भय रहते हैं, कान्ताभावमें भी आदर-सत्कार रहते हैं तथा सख्यमें भी लज्जा रहती है; किंतु यहाँ तो परस्पर लज्जा, भय, मान और आदर-सत्कारका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि भगवान्‌की प्राप्ति होनेके साथ ही दास्य, सख्य, कान्ताभाव, वात्सल्य, शान्त आदि सारे भावोंका उस भक्तमें समावेश हो जाता है। वह इन सारे भावोंसे अतीत केवल विशुद्ध चिन्मय परम प्रेमस्वरूप भगवान्‌को प्राप्त हो जानेके कारण इन भावोंसे ऊपर उठ जाता है। इस परम विशुद्ध दिव्य अलौकिक प्रेमकी प्राप्ति रहस्यमय है। इसका कोई वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकता।

प्रेम-तत्त्व

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

कामनासे युक्त होकर जो ईश्वरका भजन-चिन्तन किया जाता है, वह कामनाकी पूर्ति होने या न होनेपर ईश्वरसे विमुखता उत्पन्न करता है। जैसे बच्चा माँसे पैसा माँगता है, जबतक माँ पैसा नहीं देती, तबतक तो वह माँकी ओर देखता रहता है, किंतु पैसा मिलते ही माँसे विमुख होकर भाग जाता है। यही दशा सकाम साधककी होती है।

इसी प्रकार जो भक्ति भगवान्‌के गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको लेकर की जाती है, वह भी वास्तविक नहीं है। वह साधन-भक्ति है। प्रेम तो वह है, जो ईश्वरके साथ सम्बन्धसे होता है, जो उनको अपना माननेसे होता है। वे चाहे जैसे हों, मुझसे प्रेम करें या न करें, दयालु हों चाहे निष्ठुर हों, परंतु मेरे हैं—इस भावसे ही सच्चा प्रेम होता है। जैसे विवाहके पहले सगाई करते समय देखा जाता है कि लड़का कैसा है, परंतु जब सम्बन्ध हो जाता है, तब तो वह अपना हो जाता है, वह चाहे जैसा हो, सती स्त्रीका तो वही सर्वस्व है। उसने तो उसपर अपने-आपको न्योछावर कर दिया है। उसकी दृष्टि उसके गुण-दोषोंकी ओर नहीं जाती।

जो साधक भगवान्‌को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है, वह कैसा है—महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्णका है या नीच वर्णका—इसका भगवान् ज़रा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है, वे उससे प्रेम करनेके लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है, वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं—इसका वाणीद्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्‌की इस महिमाको समझनेवाला साधक उनपर अपनेको न्योछावर कर देनेके सिवा और करेगा ही क्या!

यदि प्रेमकी इच्छा रहते हुए भी सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ तो उसके न मिलनेकी गहरी वेदना होनी चाहिये।

वह वेदना अवश्य ही प्रेम चाहनेवालेको प्रेमकी प्राप्ति करा देगी। यदि प्रेमकी चाह है, परंतु उसके प्राप्त न होनेकी तीव्र वेदना नहीं है तो साधकको समझना चाहिये कि मेरे जीवनमें किसी-न-किसी प्रकारका अन्य रस है, जो मुझे प्रेमसे वञ्चित करनेवाला है। विचार करनेपर या तो किसी प्रकारके सद्गुणका अथवा किसी प्रकारके सदाचारका रस दिखलायी देगा; क्योंकि प्रेम चाहनेवालेके मनमें भोगवासना और भोगोंका रस तो पहले ही मिट जाना चाहिये। जबतक भोगोंमें रस प्रतीत होता है, तबतक तो प्रेमकी सच्ची चाह ही नहीं होती।

भगवत्प्रेमका मूल्य सद्गुण या सदाचार नहीं है। अत: उस प्रेममें प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है। पतित-से-पतित भी भगवान्‌का प्रेम प्राप्त कर सकता है; क्योंकि जिस प्रकार भक्तवत्सल होनेके नाते श्रीहरि अपने भक्तसे स्नेह करते हैं, वैसे ही वे पतितपावन प्रभु अधमोद्धारक और दीनबन्धु भी तो हैं ही। अत: दीन, हीन और पतितसे भी वे प्यार करते हैं। उसे भी वे अपने प्रेमका पात्र समझते हैं। वे मनुष्यसे किसी सौन्दर्य या गुणके कारण प्रेम नहीं करते; क्योंकि अनन्त दिव्य सौन्दर्य, अनन्त दिव्य सद्गुणोंके वे केन्द्र हैं। किसी ऐश्वर्यके कारण प्रभु प्रेम करते हों, ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनके समान ऐश्वर्य किसीके पास है ही नहीं तो उनसे अधिक ऐश्वर्य हो ही कैसे सकता है। वे तो एकमात्र उसीसे प्रेम करते हैं, जो उनपर विश्वास करके यह मान लेता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं। बस, इसके अतिरिक्त भगवान् और कुछ नहीं चाहते, इसलिये प्रत्येक मनुष्य उनके प्रेमका अधिकारी है।

प्रेम प्रदान करना या न करना प्रभुके हाथकी बात है। वे जब चाहें, जिसको चाहें, अपना प्रेम प्रदान करें अथवा न करें, इसमें साधकके वशकी बात नहीं है; किंतु उनका प्रेम न मिलनेसे व्याकुलता और बेचैनी तो होनी ही चाहिये। छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होनेसे मनुष्य दु:खी हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। फिर जिसको भगवान्‌के प्रेमकी चाह है और प्रेम मिलता नहीं, वह चैनसे कैसे रह सकता है? उसकी वेदनाको किसी भी भोगका, सद्गुणका और सदाचारका अथवा सद्गतिका सुख भी कैसे शान्त कर सकता है?

अत: जिस साधकको गोपीभाव प्राप्त करना हो और उनकी लीलामें प्रवेश करके गोपी-प्रेमकी बात समझनी हो, उसे चाहिये कि देहभावसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण भोगवासनाका त्याग कर दे; क्योंकि जबतक देहभाव रहता है अर्थात् मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ—ऐसा भाव होता है, तबतक गोपी-चरित्र सुनने और समझनेका अधिकार नहीं प्राप्त होता। फिर गोपी-प्रेम क्या है—यह तो कोई समझ ही कैसे सकता है।

जब भगवान् श्यामसुन्दरके प्रेमकी लालसा समस्त भोग-वासनाओंको समाप्त कर सबल हो जाती है, तब साधकका व्रजमें प्रवेश होता है। उसके पहले तो व्रजमें प्रवेश होना ही दुष्कर है। यह उस व्रजकी बात नहीं है, जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं। यह तो वह व्रज है, जो प्रकृतिका कार्य नहीं, जहाँकी कोई भी वस्तु भौतिक नहीं और जिसका निर्माण दिव्य प्रेमकी धातुसे हुआ है। जहाँकी भूमि, ग्वाल-बाल, गोपियाँ, गायें और लता-पत्ता आदि सब-के-सब चिन्मय हैं। जहाँ जडता और भौतिक भावकी गन्ध भी नहीं है, उस व्रजमें प्रवेश हो जानेके बाद भी गोपीभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। दासभाव, सख्यभाव और वात्सल्यभावके बाद कहीं गोपी-भावकी उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गोपी-प्रेमकी बात कैसे समझ और कह सकते हैं।

जबतक देहभाव रहता है, तभीतक भोगवासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं और तभीतक दोषोंका नाश करके चित्तशुद्धिके लिये साधन करना रहता है। चित्तका सर्वथा शुद्ध हो जाना और सब प्रकारसे असत्‌का संग छूट जाना ही सच्चा व्रजमें प्रवेश है।

अत: जिस साधकको गोपी-प्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि पहले मुक्तिके आनन्दतकका लोभ छोड़कर व्रजमें प्रवेशका अधिकार प्राप्त करे। तत्पश्चात् भगवान्‌की कृपापर निर्भर होकर गोपी-भावको प्राप्त करे।

दिव्य-प्रेम

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

प्रेमकी सबसे पहली और एकमात्र मुख्य शर्त है— 'स्वसुख-वाञ्छाकी कल्पनाका भी अभाव।' एक बड़ी सुन्दर निकुञ्ज-लीला है। एक सखीने नख-शिख शृङ्गार किया। ऐसा कि जो प्राणप्रियतम श्यामसुन्दरको परम सुख देनेवाला था। उसने दर्पणमें देखा और वह चली श्यामसुन्दरको दिखाकर उन्हें सुखी करनेकी मधुर लालसासे। प्रियतम श्यामसुन्दर निभृत निकुञ्जमें कोमल कुसुम और किसलयकी सुरभित शय्यापर शयन कर रहे हैं। अलसायी आँखोंमें नींद छायी है, बीच-बीचमें पलक खुलती है, पर तुरंत ही बंद हो जाती है। प्रेममयी गोपी आयी है अपनी शृङ्गारसुषमासे श्यामसुन्दरको सुखी करनेके लिये। उसके मनमें स्व-सुखकी तनिक भी वाञ्छा नहीं है; पर श्यामसुन्दर सो रहे हैं, वह चाहती है, एक बार देख लेते तो उन्हें बड़ा सुख होता। उसके हाथमें कमल था, उसके परागको वह उड़ाने लगी। सोचा, कोई परागकण प्रियतम श्यामसुन्दरके नेत्रोंमें पड़ जायगा तो कुछ क्षण नेत्र खुले रह जायँगे। इतनेमें वे मेरे शृङ्गारको देख लेंगे, उन्हें परम सुख होगा।

इसी बीचमें नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी वहाँ आ पहुँचीं। उन्होंने प्यारी सखीसे पूछा—'क्या कर रही हो?' सखीने सब बताया। श्रीराधारानी स्वयं स्वभावसे ही श्यामसुन्दरका सुख चाहती हैं। पर यहाँ सखीकी यह चेष्टा उन्हें ठीक नहीं लगी। उन्होंने कहा—'सखी! तुम्हारा मनोभाव बड़ा मधुर है, पर श्यामसुन्दरको जब तुम सुखी देखोगी, तब तुम्हें अपार सुख होगा न? किंतु श्यामसुन्दरके इस सुखसे तुमको तभी सुख मिलेगा, जब उनकी सुख-निद्रामें विघ्न उपस्थित होगा। इस आत्मसुखके लिये, उनकी सुख-निद्रामें बाधा उपस्थित करना कदापि उचित नहीं है।' सखीने केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही शृङ्गार किया था, परंतु इसमें भी स्व-सुखकी छिपी वासना थी; इस बातको वह नहीं समझ पायी थी। प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म दर्शन करनेवाली प्रेमस्वरूपा श्रीराधिकाजीने इसको समझा और सखीको रोक दिया। सखी प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म परिचय पाकर प्रसन्न हो गयी।

गोपी चाहती है, श्रीश्यामसुन्दरके चरणकमल हमारे हृदयको स्पर्श करें, उन्हें इसमें अपार सुख भी मिलता है और वे यह भी जानती हैं, इससे प्रियतम श्यामसुन्दरको भी महान् सुख होता है, तथापि वे जितनी विरहव्यथासे व्यथित हैं उससे कहीं अधिक व्यथित इस विचारसे हो जाती हैं कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलमें कहीं आघात न लग जाय। वे रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें गाती हैं—

यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।१९)

'तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं। उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर भी बहुत ही डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उनमें चोट न लग जाय। उन्हीं कोमल चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर अरण्यमें घूम रहे हो, यहाँके नुकीले कंकड़-पत्थरों आदिके आघातसे क्या उन चरणोंमें पीड़ा नहीं होती? हमें तो इस विचारमात्रसे ही चक्कर आ रहा है। हमारी चेतना लुप्त हुई जा रही है। प्राणप्रियतम श्यामसुन्दर! हमारा जीवन तो तुम्हारे लिये ही है। हम तुम्हारी ही हैं।' अतः इस प्रेमराज्यमें किसी भी प्रकारसे निज सुखकी कोई भी वाञ्छा नहीं होती। इसीसे इसमें 'सर्वत्याग' है—त्यागकी पराकाष्ठा है। 'प्रेम' शब्द बड़ा मधुर है और प्रेमका यथार्थ स्वरूप भी समस्त मधुरोंमें परम मधुरतम है। परंतु त्यागमय होनेसे यह पहले है—बड़ा ही कटु, बड़ा ही तीखा। अपनेको सर्वथा खो देना है—तभी इसकी कटुता और तीक्ष्णता महान् सुधामाधुरीमें परिणत होती है। गोपीमें वस्तुतः निज सुखकी कल्पना ही नहीं है, फिर अनुसंधान तो कहाँसे होता? उसके शरीर, मन, वचनकी सारी चेष्टाएँ और सारे संकल्प

अपने प्राणाराम श्रीश्यामसुन्दरके सुखके लिये ही होते हैं, इसलिये उसमें चेष्टा नहीं करनी पड़ती। यह प्रेम न तो साधन है, न अस्वाभाविक चेष्टा है, न इसमें कोई परिश्रम है। प्रेमास्पदका सुख ही प्रेमीका स्वभाव है, स्वरूप है। 'हमारे इस कार्यसे प्रेमास्पद सुखी होंगे'—यह विचार उसे त्यागमें प्रवृत्त नहीं करता। सर्वसमर्पित जीवन होनेसे उसका त्याग सहज होता है। अभिप्राय यह कि उसमें श्रीकृष्णसुखकाम स्वाभाविक है, कर्तव्यबुद्धिसे नहीं है। उसका यह 'श्रीकृष्णसुखकाम' उसका स्वरूपभूत लक्षण है।

प्राणप्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरका सुख ही गोपीका जीवन है। इसे चाहे 'प्रेम' कहें या 'काम'। यह 'काम' परम त्यागमय सहज प्रेष्ठसुख-रूप होनेसे परम आदरणीय है। मुनिमनोऽभिलषित है। 'काम' नामसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। '**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**'। भगवान्ने धर्मसे अविरुद्ध कामको अपना स्वरूप बतलाया है। भगवान्ने स्वयं कामना की—'मैं एकसे बहुत हो जाऊँ' '**एकोऽहं बहु स्याम्**'। इसी प्रकार 'रमण' शब्द भी भयानक नहीं है। भगवान्ने एकसे बहुत होनेकी कामना क्यों की? इसीलिये कि अकेलेमें 'रमण' नहीं होता—'**एकाकी न रमते**।' यहाँ भी 'काम' और 'रमण' शब्दका अर्थ गन्दा कदापि नहीं है, इन्द्रिय भोगपरक नहीं है। मोक्षकी कामनावालेको 'मोक्षकामी' कहते हैं। इससे वह 'कामी' थोड़े ही हो जाता है। इसी प्रकार गोपियोंका 'काम' है—एकमात्र 'श्रीकृष्णसुखकाम' और यह काम उनका सहजस्वरूप हो गया है। इसलिये यह प्रश्न ही नहीं आता कि गोपियाँ कहीं यह चाहें कि हमारे इस 'काम' का कभी किसी कालमें भी नाश हो। यह काम ही उनका गोपीस्वरूप है। इसका नाश चाहनेपर तो गोपी गोपी ही नहीं रह जाती। वह अत्यन्त नीचे स्तरपर आ जाती है, जो कभी सम्भव नहीं है।

गोपीकी बुद्धि, उसका मन, उसका चित्त, उसका अहंकार और उसकी सारी इन्द्रियाँ प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके सहज साधन हैं; न उसमें कर्तव्यनिष्ठा है, न अकर्तव्यका बोध; न ज्ञान है न अज्ञान; न वैराग्य है न राग; न कोई कामना है न वासना—बस, श्रीकृष्ण-सुखके साधन बने रहना ही उसका स्वभाव है। यही कारण है कि परम निष्काम, आत्मकाम, पूर्णकाम, अकाम आनन्दघन श्रीकृष्ण गोपी-प्रेमामृतका रसास्वादन कर आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। जो आनन्दके नित्य आकर हैं, आनन्दके अगाध समुद्र हैं, आनन्दस्वरूप हैं; जिनसे सारा आनन्द निकलता है, जो आनन्दके मूल स्रोत हैं, जिनके आनन्द-सीकरको लेकर ही जगत्में सब प्रकारके आनन्दोंका उदय होता है, उन भगवान्में आनन्दकी चाह कैसी? उनमें आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा कैसी? यह बात दार्शनिककी कल्पनामें नहीं आ सकती। परंतु प्रेमराज्यकी बात ही कुछ विलक्षण है। यहाँ आनन्दमयमें ही आनन्दकी चाह है। इसीसे भगवान् श्यामसुन्दर प्रेमियोंके प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये व्याकुल हैं। यशोदा मैयाका स्तन-पान करनेके लिये भूखे गोपाल रोते हैं; गोप-सखाओं और बछड़ोंके खो जानेपर कातर हुए कन्हैया उन्हें वन-वन ढूँढ़ते-फिरते हैं, व्रजसुन्दरियोंका मन हरण करके उन्हें अपने पास बुलानेके लिये गोपीजनवल्लभ उनके नाम ले-लेकर मधुर मुरलीकी तान छेड़ते हैं। प्रेममें यही विलक्षण महामहिम मधुरिमा है।

प्रेम भगवान्का स्वरूप ही है। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भाव-जगत्की वस्तु रहें ही नहीं। आनन्दस्वरूप यदि आनन्दके साथ इस प्रकार आनन्दरसका आस्वादन न करें, उनकी आनन्दमयी आह्लादिनी शक्ति उन्हें आनन्दित करनेमें प्रवृत्त न हो तो केवल स्वरूपभूत आनन्द बड़ा रूखा रह जाता है। उसमें रस नहीं रहता। इसलिये वे स्वयं अपने ही आनन्दका अनुभव करनेके लिये अपनी ही स्वरूपभूता आनन्दरूपा शक्तिको प्रकट करके उसके साथ आनन्द-रसमयी लीला करते हैं। यह आनन्द बनता नहीं। पहले नहीं था, अब बना, सो बात नहीं है। प्रेम नित्य, आनन्द नित्य—दोनों ही भगवत्स्वरूप। आनन्दकी भित्ति प्रेम और प्रेमका विलक्षण रूप आनन्द। इस प्रेमका कोई निर्माण नहीं करता। जहाँ त्याग होता है, वहीं इसका प्राकट्य—उदय हो जाता है। जहाँ त्याग, वहाँ प्रेम; और जहाँ प्रेम, वहीं आनन्द।

कहीं भी द्वेषसे, वैरसे आनन्दका उदय हुआ हो तो बताइये? असम्भव है। भगवान् प्रेमानन्दस्वरूप हैं। अतएव भगवान्‌की यह प्रेमलीला अनादिकालसे अनन्तकालतक चलती ही रहती है। न इसमें विराम होता है, न कभी कमी ही आती है। इसका स्वभाव ही वर्धनशील है।

समस्त जगत्‌के जीव-जीवनमें भी आंशिकरूपमें विभिन्न प्रकारसे प्रेमकी ही लीला चलती है। माता-पिताके हृदयका वात्सल्य-स्नेह, पत्नी-पतिका माधुर्य, मित्रका पवित्र सख्यत्व, पुत्रकी मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुका स्नेह, शिष्यकी गुरु-भक्ति—इस प्रकार विभिन्न विचित्र धाराओंमें प्रेमका ही प्रवाह बह रहा है। यह प्रेम त्यागसे ही विकसित होता और फूलता-फलता है। जगत्‌में यदि यह प्रवाह सूख जाय, संतानको माता-पिताका वात्सल्य न मिले, पति-पत्नीका माधुर्य मिट जाय, मित्र-बन्धुओंके सखाभावका नाश हो जाय, गुरु-शिष्यकी स्नेह-भक्ति न रहे और माता-पिताको पुत्रकी विशुद्ध श्रद्धा-सेवा न मिले तो जगत् भयानक हो जाय। कदाचित् ध्वंस हो जाय या फिर जगत् क्रूर राक्षसोंकी ताण्डवस्थली बन जाय! अतएव त्यागमय प्रेमकी बड़ी आवश्यकता है। यही प्रेम जब सब जगहसे सिमटकर एक भगवान्‌में लग जाता है, तब वह परम दिव्य हो जाता है। इसी एकान्त विशुद्ध प्रेमकी निर्मल मूर्ति है—गोपी और उस प्रेमके पुञ्जीभूत रूप ही हैं—श्यामसुन्दर—'**पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानाम्**'।

जहाँ स्व-सुखकी वाञ्छा है, वस्तु अपने लिये है, वहीं वह 'भोग' है। वही वस्तु भगवान्‌के समर्पित हो गयी तो 'सेवा' है। 'स्व-सुख-वाञ्छा'को लेकर हम जो कुछ भी करते हैं, सब भोग है, उसी कामको भगवत्-समर्पित करके हम सुखी होते हैं तो वह प्रेम है। घरकी कोई चीज, मनकी कोई चीज, जीवनकी कोई चीज जबतक 'स्व-सुख' के लिये है तबतक 'भोग' है और जबतक भोग हैं, जब उनका इन्द्रियोंके साथ भोग्य-सम्बन्ध है, तबतक उनसे दुःख उत्पन्न होता रहेगा। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५।२२)

'जो भी संस्पर्शज भोग हैं, वे सभी दुःखकी उत्पत्तिके क्षेत्र हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इसलिये भैया अर्जुन! बुद्धिमान् लोग उनमें प्रीति नहीं रखते।'

पर ये ही सब भोग जब स्व-सुखकी इच्छाका परित्याग करके पर-सुखार्थ भगवदर्पित हो जाते हैं तो इन्हींको 'भगवान्‌की सेवा' कहा जाता है। यही प्रेम है। गोपीप्रेम इसीसे स्व-सुख-वाञ्छासे सर्वथा रहित परम उज्ज्वल है। यहाँ पूर्ण समर्पण हो चुकनेपर भी नित्य समर्पणकी लीला चलती रहती है। प्रतिक्षण समर्पण होता रहता है। यों समर्पण होते-होते समर्पण-क्रिया भी विस्मृत होने लगती है और फिर 'ग्रहण' भी समर्पणरूप, त्यागरूप बन जाता है; क्योंकि उसमें भी प्रियतमके सुखकी ही निर्मल वाञ्छा रहती है।

पर इस 'ग्रहण'में प्रेमकी पहचान बहुत कठिन है। हम हलवा खा रहे हैं, हमें उसके मिठासका स्वाद आ रहा है तथा हमें सुख मिल रहा है। यह हलवा खाना तथा उसमें मिठास तथा सुखकी अनुभूति—स्व-सुखके लिये हो रही है या प्रेमास्पदके सुखके लिये—इसका परीक्षण बहुत कठिन है। इसका यथार्थ स्वरूप वही जानते हैं, जो प्रेमके इस स्तरतक पहुँच गये हैं। प्रेमीको स्वाद आ रहा है पर स्वादके सुखका ग्रहण वह तभी करता है, जब कि उससे प्राणधन प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको सुख होता हो। स्वाद प्रेमीको आता है, परंतु यदि प्रेमास्पदको उसमें सुख नहीं है तो वह स्वाद कभी प्रेमीको इष्ट नहीं है। हलवेकी मिठास लेते-लेते यह मालूम हो जाय कि प्रेमास्पद चाहते थे कि तुम मीठा हलवा न खाकर कड़ुवा नीम खाते तो तुरंत हलवा उसके लिये कड़ुवा हो जायगा, बुरी चीज बन जायगा और वह नीम खाने लगेगा। यहीं पता लगता है कि 'ग्रहण' स्व-सुखकी वाञ्छासे था या प्रेमास्पदके सुखके लिये। यही बात कपड़े पहनने, सोने, जागने, जगत्‌के सारे व्यवहार करनेमें है। प्रत्येक क्रियामें प्रेमास्पदका सुख ही एकमात्र इष्ट होना चाहिये। प्रेमीको यह पता लग जाय कि

प्रेमास्पद हमारे मरणमें प्रसन्न है तो प्रेमीके लिये एक क्षण भी जीवन-धारण करना परम दुःखरूप हो जायगा।

यों प्रेमास्पदके सुखका जीवन जिनका बन जाता है, उनको प्रेमास्पद प्रभुके मनकी बात खोजनी नहीं पड़ती। वह उसके सामने स्वयं प्रकट रहती है। प्रेमास्पदका मन उस प्रेमीके मनमें आ विराजता है। इसीलिये भगवान्ने अर्जुनसे श्रीगोपसुन्दरियोंके सम्बन्धमें कहा है—

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिकाः पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वतः॥

'मेरी महिमा, मेरी सेवाका स्वरूप, मेरी श्रद्धाका स्वरूप तथा मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपिकाएँ ही जानती हैं। हे अर्जुन! दूसरा कोई नहीं जानता।'

इसलिये गोपीको यह पता नहीं लगाना पड़ता कि भगवान् किस बातसे प्रसन्न होंगे। उनके अंदर भगवान्का मन ही काम करता है। भगवान्ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।'

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणवाली हैं, मेरे लिये अपने दैहिक वस्तुओं तथा कार्योंका सर्वथा परित्याग कर चुकी हैं।' श्रीकृष्ण ही गोपियोंके मन हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं। उनके सारे संकल्प तथा सारे कार्य श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ या श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही होते हैं।

प्रेमकी बड़ी ही विचित्र गति होती है। वह महागम्भीर है और महाचञ्चल है। प्रेमीमें प्रेमका अगाध समुद्र प्रशान्तभावसे स्थिर हो जाता है, परंतु जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर महासमुद्र नाचने लगता है, उसी प्रकार प्रेमास्पद भगवान्के प्रसन्न श्रीमुखको देखकर उनके सुखार्थ उस प्रेम-महासागरमें लहरें—तरङ्गें उठने लगती हैं। ये तरङ्गें ही प्रेमलीला हैं।

गोपियोंके जीवनमें इन प्रेम-तरङ्गोंके अतिरिक्त अन्य कोई भी क्रिया नहीं है। प्रेमकी ही ये उच्छ्वसित ऊर्मियाँ हैं जो नाच-नाचकर प्रेमसुधाका अधिकाधिक मधुर रसास्वादन कराया करती हैं। ये तरङ्गें कभी अत्यन्त उत्ताल हो जाती हैं, कभी मृदु बन जाती हैं; कभी बहुत ऊपर उछलती हैं, कभी मन्द-मन्द उठती-बैठती हैं; कभी सीधी होती हैं, कभी दायें-बायें हो जाती हैं। प्रेममें दो तरहके भाव होते हैं—दक्षिण और वाम। दक्षिणभावसे भी और वामभावसे भी—परस्पर प्रेम-लीलाएँ चलती रहती हैं। जहाँ प्रेमानन्दमयी श्रीराधारानी या गोपाङ्गनाओंका वामभाव होता है, वहाँ प्रियतम श्यामसुन्दर उन्हें मनाया करते हैं और जहाँ प्रेमघन श्रीश्यामसुन्दरका वामभाव होता है, वहाँ श्रीराधारानी या श्रीगोपाङ्गनाएँ उन्हें मनाया करती हैं। मधुर मनोहर प्रेमसमुद्रके 'विरहतट' पर कभी 'विप्रलम्भ' रसका आस्वादन होता है तो कभी 'मिलनतट' पर 'सम्भोग' रसका आस्वादन होता है। फिर कभी मिलनमें ही विरहकी स्फूर्ति हो जाया करती है—

प्रियस्य संनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तं प्रेमवैचित्यमुच्यते॥

'प्रेमकी उत्कर्षताके कारण प्रियतमके समीप रहनेपर भी उनके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीड़ाका अनुभव होना प्रेम-वैचित्य कहलाता है।' इस प्रकार प्रेमसागरमें अनन्त मधुरातिमधुर तरङ्गें उठा करती हैं। इनका वर्णन कौन करे? जो तटपर खड़ा है, वह तो तरङ्गोंके भीतरकी स्थिति जान नहीं सकता और जो तरङ्गोंमें मिल गया, वह तरङ्ग ही बन जाता है। इसीसे प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥**' (ना०भ०सू० ५१)

कभी-कभी ऐसा होता है—प्रेमी और प्रेमास्पद अपने-आपको भूलकर एक-दूसरे बन जाते हैं। नटवर रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर अपनेको राधा मानकर हा कृष्ण! हा श्यामसुन्दर! हा प्राणवल्लभ! पुकारने लगते हैं और रासेश्वरि नित्य निकुञ्जेश्वरि श्रीराधारानी श्रीकृष्णके आवेशमें हा राधे! हा प्राणेश्वरी! हा प्राणाधिके! हा मनमोहनी! पुकारा करती हैं। ये सभी प्रेमसमुद्रकी पवित्रतम मधुर-मधुर तरङ्गें हैं। यह श्रीराधा-माधवका प्रेम, प्रेमविहार, प्रेमलीला नित्य है और नित्य वर्द्धनशील है, इसीसे उनका अप्रतिम आनन्द भी नित्य और प्रतिक्षण वर्द्धनशील है। किसी-किसी युगमें कोई ऐसे प्रेमी संत होते हैं, जो इस

प्रेमलीलाका दर्शन करना चाहते हैं। तब उनकी प्रीतिसे प्रेरित होकर भगवान् अपने दिव्य धाम तथा प्रेमी परिकरों, सखाओं, सखियोंको लेकर दिव्यधामके दिव्य चिन्मय पशु-पक्षियों और वृक्ष-लताओंको लेकर इस मर्त्य भूमिपर अवतरित होते हैं। यही भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी अवधलीला है और यही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी व्रजलीला है। इस प्रेमराज्यमें उन्हींका प्रवेश है जो अपनेको खोकर स्व-सुखकी समस्त वाञ्छाओंको मिटाकर भगवान्‌के ही हो जाते हैं। इस प्रकार त्यागकी पराकाष्ठासे उदित दिव्य प्रेमको वैष्णवोंने 'पञ्चम पुरुषार्थ' बताया है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जहाँ मोक्षकी कामनाका भी परित्याग हो जाता है। प्रेम-सेवाको छोड़कर प्रेमी भक्त देनेपर भी मुक्तिको स्वीकार नहीं करते।

'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'

यही त्यागकी पराकाष्ठा है। इसमें 'अहं'की चिन्ता या 'अहं'की मङ्गल-कामनाका सर्वथा अभाव है। जहाँ मोक्षकी कामना है, वहाँ बन्धनकी अपेक्षा है। बन्धन न हो तो मोक्ष—छुटकारा किससे? और बन्धन किसको होता है। जो बँधा है, वही छुटकारा चाहता है। अतः बन्धनकी अनुभूति और बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा—इसीका नाम 'मुमुक्षा' है और यह जिसमें है, उसीको 'मुमुक्षु' कहते हैं। छुटकारेकी इच्छामें ही बन्धनकी अनुभूति है, जिसको इस बन्धनकी अनुभूति है वही बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है—हम उसे चाहे मुमुक्षु कहें—चाहे जिज्ञासु या साधक। कुछ भी कहें, उसमें 'अहं' है और वह 'अहं'-का मङ्गल चाहता है। पर प्रेम-राज्यमें तो अहंकी चिन्ता ही नहीं है, 'स्व' की सर्वथा विस्मृति है। प्रेमास्पदका सुख ही जीवन है। इसीसे यह 'पञ्चम पुरुषार्थ' है।

गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्षसंन्यासयोग' है। 'मोक्षसंन्यास'का यह अर्थ किया जाय कि इसमें 'मोक्षके भी परित्याग' का विषय है। वही तो 'शरणागति' है। यह तो मानना ही चाहिये कि जिस अर्जुनको भगवान्‌ने रणाङ्गणमें प्रत्यक्ष समझाकर गीताका उपदेश किया, जिसको अपना अत्यन्त प्रिय, इष्ट और अधिकारी बताया, जिसके हितके लिये ही उपदेश किया—

'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥'

—उस अर्जुनने गीताको जितना अच्छा समझा है, उतना और किसने समझा होगा? अर्जुनका जीवन गीताके अनुसार जितना बना होगा, उतना और किसका बनेगा, अर्जुन तो स्वीकार करता है कि 'मेरा मोह नष्ट हो गया और मैं आपके वचनोंका पालन करूँगा।' और यहींपर गीता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार गीताका अर्थ समझनेवालेकी जो गति हुई होगी, वही गीता-वक्ताके उपदेशका फल होना चाहिये। अब महाभारतमें देखिये—अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष'-की प्राप्ति हुई या और कुछ मिला। महाभारत, स्वर्गारोहणपर्वमें कथा है—

'देवताओं, ऋषियों और मरुद्‌गणोंके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर भगवान्‌के दिव्य धाममें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपना ब्राह्मविग्रह धारण किये विराजमान हैं। उनका स्वरूप पूर्व देखे हुए विग्रहके ही सदृश है, अतः वे भलीभाँति पहचाननेमें आ रहे हैं। उनके दिव्य श्रीविग्रहसे दिव्य ज्योति फैल रही है। उनके सुदर्शनचक्रादि आयुध देवताओंके शरीर धारण किये हुए उनकी सेवामें लगे हैं। वहीं अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भी भगवान्‌की सेवामें संलग्न है। देवपूजित भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी युधिष्ठिरको आये देख उनका यथारीति सत्कार किया।......'

इससे समझमें आ जाना चाहिये कि अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' नहीं मिला। उन्हें भगवान्‌की 'प्रेमसेवा' प्राप्त हुई। शरणागतिसे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया—'**नष्टो मोहः**।' अतएव संसारसे मुक्ति होनेका काम तो हो ही गया। बन्धन रह गया केवल भगवान्‌की प्रेमसेवाका, जो शरणागत अर्जुन और गीतावक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण दोनोंको ही इष्ट है। अर्जुनसे भगवान्‌ने मानो कह दिया—'तुम्हारा मोह नष्ट हो गया। तुम मेरे सेवक थे, सेवक ही रहोगे। मोहवश कह रहे थे—'मैं यह नहीं करूँगा', 'यह करूँगा' अब तुम मेरे

वचनोंका ही अनुसरण करोगे। बस, काम हो गया। तुम मेरे चिर सेवक ही रहो। तुम्हें मोक्षसे क्या मतलब।' यही मोक्ष-संन्यास है। प्रेमी मोक्षका भी संन्यास कर देता है—यह अभिप्राय है।

मोक्ष-संन्यासका यथार्थ अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं; मुझे गीताका न अध्ययन है, न ज्ञान। यह तो मैंने 'स्वान्तः-सुखाय' अपने मनका अर्थ कह दिया है। वैसे न मैं जानता हूँ, न शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, न विवाद, मैं तो सदा ही हारा हुआ हूँ। गीतामर्मज्ञ विज्ञ महानुभाव मेरी धृष्टताके लिये कृपया क्षमा करें!

इतना अवश्य ध्यानमें रखना चाहिये कि जबतक मोक्षकी इच्छा है तबतक स्व-सुख-वाञ्छा है ही; क्योंकि इसमें अपने बन्धनकी अनुभूति है। बन्धन दुःखरूप है, उससे मुक्ति प्राप्त कर वह मोक्ष-सुखको प्राप्त करना चाहता है। यही स्व-सुखकी चाह है। अतः यहाँ भी सर्वत्याग—पूर्ण त्याग नहीं है, प्रेमीजन पूर्ण त्यागी होते हैं। अतः वे मोक्षका भी परित्याग करके केवल प्रेमसेवामें ही सहज संलग्न रहते हैं।

ऐसे प्रेमियोंकी तो बात ही दूसरी है, उनके जरासे सङ्गके साथ भी मोक्षकी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

(१।१८।१३; ४।३०।३४)

'भगवत्सङ्गीका अर्थ है—भगवान्‌में अनुरक्त—आसक्त, भगवान्‌का सङ्गी, भगवान्‌का प्रेमी, गोपीभावापन्न। ऐसे भगवत्सङ्गीका सङ्ग यदि लवमात्रके समयके लिये मिलता हो तो उसकी तुलना यहाँके भोगोंकी तो बात ही क्या है, स्वर्गसे भी नहीं होती, वरं अपुनर्भव—मोक्षसे भी नहीं होती। 'अपुनर्भव' का अर्थ है—जिससे वापस नहीं लौटा जाता, वैसी 'सायुज्य मुक्ति'। इस मुक्तिकी भी लवमात्रके भगवत्सङ्गीके सङ्गसे तुलना नहीं होती। यह भगवत्प्रेमकी महिमा है। इसीसे इस प्रेमकी—इस दिव्य भगवत्प्रेमकी—व्रजरसकी वाञ्छा शिव-नारदादि, महान् मुनि-तपस्वी आदि करते हैं। स्वयं ब्रह्मविद्या भी इस प्रेमके लिये लालायित हैं—

जाबालि नामक ब्रह्मज्ञानी मुनिने एक बार विशाल वनमें विचरते समय एक विशाल बावलीके तटपर वटवृक्षकी छायामें एक अनन्य सुन्दरी परम तेजोमयी तरुणी देवीको कठोर तप करते देखा। चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नाके सदृश उसकी चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। उसे देखकर मुनिको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने यह जानना चाहा कि 'ये देवी कौन हैं तथा क्यों तपस्या कर रही हैं।' पूछनेपर पता लगा कि जिनके शरण प्राप्त करनेपर अज्ञानान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जाता है, दुर्लभ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तथा जीव मायाके बन्धनसे मुक्त होकर स्व-स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वे स्वयं ब्रह्मविद्या ही ये हैं। नम्रताके साथ प्रश्न करनेपर तापसी देवीने कहा—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
साहं हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिरं तपः॥
ब्रह्मानन्देन पूर्णाहं तेनानन्देन तृप्तधीः।
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्॥
तथापि शून्यमात्मानं मन्ये कृष्णरतिं विना।

(पद्मपुराण)

'मैं वह अतुलनीया ब्रह्मविद्या हूँ जिसे महान् योगिराज सदा ढूँढ़ा करते हैं। मैं श्रीहरिके चरणकमलोंकी प्राप्तिके लिये उनका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे यहाँ तप कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे पूर्ण हूँ, मेरी बुद्धि भी उसी ब्रह्मानन्दसे परितृप्त है। परंतु श्रीकृष्णमें मुझे रति (प्रेम) अभी नहीं मिली, इसलिये मैं अपनेको सदा सूनी देखती हूँ।'

जिस अलौकिक प्रेमके लिये स्वयं ब्रह्मविद्या कल्पोंतक तप करती हैं, जिस रसकी तनिक-सी प्राप्तिके लिये अर्जुन साधना करके अर्जुनी बनते हैं, वह कितना उज्ज्वल, कितना दिव्य, कितना पवित्र और कितना मधुरतम है, इसे कौन बता सकता है। वे गोपरमणियाँ धन्य हैं, जिन्होंने इस प्रेम-रसका आस्वादन किया और प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको

करवाकर उनकी परम प्रीति लाभ की और जिनके सामने भगवान्‌ने अपना पूर्ण प्रकाश किया।

हमलोगोंके सामने भगवान् अपनेको पूर्णरूपसे प्रकट नहीं करते, 'योगमाया' (अपनी आत्ममाया)-से ढके रखते हैं।

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

(गीता ७। २५)

भगवान्‌ने कहा—'मैं सबके सामने प्रकाशित क्यों नहीं होता, लोग मुझे पहचानते क्यों नहीं, इसीलिये कि मैं योगमायासे अपनेको ढके रखता हूँ।' परंतु प्रेमवती श्रीगोपाङ्गनाओंके साथ यह बात नहीं है। वहाँ भगवान् 'योगमायासमावृत' नहीं हैं, वहाँ 'योगमायामुपाश्रित' हैं अर्थात् अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको पृथक् प्रकट करके मानो कहते हैं—'मैं इस समय अनावृत हूँ, बेपर्द हूँ, तुम इस नाटककी सारी व्यवस्था करो, लीलाके सारे साज बनाओ।' योगमाया काम करती हैं। भगवान् तथा श्रीगोपाङ्गनाओंकी दिव्य रासलीला होती है। यहाँ कुछ भी गोपन नहीं है। भगवान्‌की अनावृत लीला है। गोपियोंका चीरहरण क्या है? वह कोई गंदी चीज थोड़े ही है। गंदी चीज होती तो दुर्वृत्त कामियोंको प्रिय होती और होती अनन्त कालतक नरकोंमें ले जानेवाली। शुकदेवजी परीक्षित्‌के सामने उसे कहते ही क्यों, पर यह तो सर्वथा लोकविलक्षण दिव्य भावमयी वस्तु है। मल, विक्षेप और आवरण—तीन बड़े बाधक दोष हैं जो आत्मस्वरूपतक, भगवान्‌तक साधकको नहीं जाने देते। इनमें मलका नाश भजनसे या भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे ही हो जाता है। विक्षेप-दोष नष्ट हो जाता है भगवान्‌में मन लगानेसे। वहाँ चञ्चल मन अचञ्चल हो जाता है। रह जाता है—आवरण-दोष। यह बड़ा व्यवधान बना रहता है। ज्ञानके साधकोंका यह दोष ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा किये हुए महान् अनुग्रहपूर्ण तत्त्वोपदेशसे दूर होता है और प्रेमी भक्तोंके इस दोषको भगवान् स्वयं दूर कर देते हैं। वे अपने हाथों 'आवरण भंग' कर देते हैं, पर्दा फाड़ डालते हैं। यही गोपियोंका चीरहरण है। जिस प्रेममें भय, लज्जा, संकोच तथा जरा भी व्यवधान नहीं है, ऐसा स्त्री-पुरुषका—पति-पत्नीका प्रेम हम जगत्‌में देखते हैं। वहाँ कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं रहती जिसे गोपनीय कहा जा सकता है। यही प्रेम जब दिव्य भाव बनकर भगवान्‌में आ जाता है तथा पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धसे रहित, असम्बन्ध नित्य 'दिव्य सम्बन्धरूप' हो जाता है। तब वहाँ कुछ भी गोपनीय नहीं रहता। तमाम आवरणोंका विनाश हो जाता है। यौनभाव तो वहाँ रहता ही नहीं। यही भगवान् तथा भक्तका अनावरण मिलन है। यहाँ मायाका आवरण हट गया। पृथक्‌ताका पर्दा फट गया। चीरहरण तथा रासलीलाका अर्थ है—अनावृत (योगमायाके पर्देसे मुक्त) भगवान् और अनावृत (अहंता-ममता-आसक्तिरूप मायाके पर्देसे सर्वथा मुक्त) गोपाङ्गनाओंका महामिलन। जीव और परमात्माका, भक्त और भगवान्‌का घुल-मिल जाना—एक हो जाना।

यही दिव्य भगवत्प्रेम है। इस प्रेमराज्यमें जिनका प्रवेश है, उनकी चरणरज भी परम पावनी है। ज्ञानिशिरोमणि उद्धवजी मोक्ष न चाहकर ऐसी प्रेमवती गोपियोंकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये व्रजमें लता-गुल्म-ओषधि बनना चाहते हैं। औरोंकी तो बात ही क्या—भगवान् स्वयं भी उनके चरणधूलिकणसे अपनेको पवित्र करनेके लिये उनके पीछे-पीछे सदा घूमा करते हैं—

'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥'

'उसके पीछे-पीछे मैं सदा इस विचारसे चला करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मुझपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

प्रानधन सुंदर स्याम सुजान!

छटपटात तुम बिना दिवस-निसि मेरे दुखिया प्रान॥
बिदरत हियौ दरस बिनु छन-छन, दुस्सह दुखमय जीवन।
अमिलन के अति घोर दाह तें दहत देह-इंद्रिय-मन॥
कलपत-विलपत ही दिन बीतत, निसा नींद नहिं आवै।
सुपन-दरसहू भयो असंभव, कैसें मन सचु पावै॥
अव जनि वेर करौ मन-मोहन! दया नैक हिय धारौ।
सरस सुधामय दरसन दै निज, उर की अगिनि निवारौ॥

हुई अपने सर्वावगाही जलसे आलिङ्गन करती हुई गिरना चाहती है।'

श्रीअरविन्द और श्रीमाँद्वारा प्रवर्तित योगमार्ग प्रेमतत्त्वकी तपस्यापर इतना अवलम्बित है कि इसे प्रेम-योग भी कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य है—'पार्थिव सत्ताका दिव्य जीवनमें रूपान्तरण।' इसमें संसारके सभी उपादान भगवान्के प्रेमको प्राप्त करनेके साधन हो जाते हैं। इसके लिये प्रकृतिमें विकासके लिये जो अभीप्सा उपस्थित है, उसे भगवत्कृपासे जोड़ देना होगा और उसके लिये साधन है भगवत्प्रेम, जो आत्मसमर्पण अर्थात् मानव-चेतनाको प्रभुके प्रकाशमें उत्सर्ग कर देता है। इस आत्मसमर्पणकी कुञ्जी है ज्ञान, कर्म और भक्तिके द्वारोंको खोलकर सृष्टिके विकासके मार्गके अवरोधों तथा बाधाओंको समाप्त कर देना। प्रेम प्रकृतिकी डोरके द्वारा चेतनाको दिव्य तत्त्वसे संयुक्त कर देता है। यह एक साथ ही दिव्य और समस्त सत्ताओंका मुकुट एवं उनकी परिपूर्णताओंका मार्ग है। भगवत्प्रेमके बिना योगके सारे मार्ग जीवनहीन हैं।

किंतु प्रकृतिके विकासकी वर्तमान अवस्थामें मानवको चुनावकी स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। मानवको अधिकार है कि वह भगवान्से प्रेम करे या न करे। मानवकी संकल्पशक्तिकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है कि वह अपनी चेतनाको भगवत्प्रेमके माध्यमसे भगवान्से जोड़ सकती है। साथ ही वह भगवत्तत्त्वको इसी माध्यमसे उतारकर मानवकी पशु-जीवनकी विकसित चेतनाको दिव्य जीवनकी ओर अग्रसर कर सकती है। ज्ञान और कर्मकी प्रगतिके

श्रीमाँने सृष्टिकी कथाको इस रूपमें किञ्चित् वर्णित किया है कि जब परात्पर प्रभुने स्वयंको मूर्त्त बनाना चाहा तो प्रथम तत्त्व बना जगत्का ज्ञान और सृजन करनेकी क्षमता। इस कार्य-योजनाके मूलतत्त्व थे आनन्द और स्वाधीनता। इन्हें प्रकट करनेके लिये चार सत्ताएँ वैश्व विकासके लिये निःसृत हुई थीं। ये हैं—१-चेतना, २-प्रकाश, ३-आनन्द और ४-प्रेम। किंतु जैसे ही ये परमपुरुषसे अलग हुईं कि लीला-विधानसे चेतन अचेतनमें, प्रकाश अन्धकारमें, आनन्द शोकमें और प्रेम घृणामें परिवर्तित हो गया। अतः जिस सृजन-शक्तिने इन सत्ताओंको निःसृत किया था, उसने उपचार और प्रतिकारके लिये परमपुरुषसे गुहार लगायी। अतः साक्षात् परमपुरुषसे भगवत्प्रेमका अवतरण हुआ, जो इन सत्ताओंद्वारा मूलतत्त्वको पानेका संकल्प और प्रयास करा सके।

भगवत्प्रेमके अवतरणके पूर्व जड़ था, सत्ता नहीं थी। परमपुरुष प्रेमके माध्यमसे ही जड़में अपने प्रति सचेत होते हैं। जब चेतनाने सृजन प्रारम्भ किया तो प्रथम अभिव्यक्ति सचेतन प्रकाशका निःसरण था। जब प्रकाश अपने उत्ससे पृथक् हुआ तो निश्चेतनका जन्म हुआ था। ये क्रियाएँ विश्व-निर्माणके पूर्वकी हैं। जब विश्वका निर्माण हुआ तो उसे व्यर्थ होनेसे बचानेके लिये भगवत्प्रेमने निश्चेतनको चेतनामें रूपान्तरित करनेके लिये उसमें डुबकी लगायी थी और जड़ जगत्का वर्तमान स्वरूप तथा विकास इसीका परिणाम है।

भगवत्प्रेमके बिना अस्तित्वकी कल्पना नहीं की जा

सकती। प्रेमकी अभिव्यक्तियोंका भी जीवोंके क्रमशः विकासके साथ ऊर्ध्वारोहण हुआ है। मानव-चेतनाके स्तरपर इस विकासक्रममें पहुँचकर सृष्टि भगवत्प्रेमके विभिन्न आयामोंके प्रति सचेत हुई है। साथ ही सृष्टिकी चेतनाको यह भी आभास हो गया कि भगवत्प्रेमकी उपलब्धियोंके सोपान मानवके विकास-स्तरपर ही समाप्त नहीं हो जाते।

श्रीमाँने कहा है कि प्रेम अपने सारतत्त्वसे अभिन्न होनेका आनन्द है। भगवत्प्रेमकी पूर्णतामें प्रेम विश्वकी परिक्रमा करके उद्गमकी ओर लौट आता है। विश्वका अनुभव ही सृष्टिका प्रयोजन है। इसीके माध्यमसे भौतिक पदार्थका विकास तथा चेतनाको बहुआयामी होनेका सुयोग मिलता है। अतः भगवान्‌को प्राप्त करने तथा उन्हें जीवनमें अभिव्यक्त करनेके लिये भगवत्प्रेमसे बढ़कर कोई साधन या तपस्या नहीं हो सकती। यह श्वेत दिव्याग्नि है जो सत्ताको शुद्ध ही नहीं करता, उसे शुचिता भी प्रदान करता है।

श्रीअरविन्द भगवत्प्रेमकी स्थितिको निरानन्द नहीं नित्यानन्दकी मधुमती भूमिका मानते हैं। इसमें अधिकार-भेदका भी प्रश्न नहीं उठता। प्रेमीकी पुकारके लिये प्रभु भी व्याकुल रहते हैं। हम उन्हें जितना चाहते हैं, उससे अनन्त गुना वे प्रतीक्षा करते रहते हैं कि उनसे प्रेम किया जाय। अवसर पाते ही वे अपने प्रेमसे हमें आच्छादित कर लेते हैं।

श्रीअरविन्द यह स्पष्ट कहते हैं कि भगवत्प्रेम आन्तरात्मिक ही नहीं, बल्कि—'**यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे**'-का अनुसरण करते हुए सारी सत्ताओंको अर्थात् व्यष्टिके रूपमें सारे ब्रह्माण्डको समेटकर उसे भगवान्‌को समर्पण करनेवाला होता है। शरीर, प्राण, मन, अहंकार आदि सभी अङ्ग भगवत्प्रेमकी यज्ञाग्निमें समिधाएँ हैं। '**स्व**' को समाप्त करनेके लिये यह महान् प्रगतिका एक चरण है। भगवत्प्रेममें यज्ञ वह दिव्य कर्म है जो सृष्टिके आदिके साथ ही अभिव्यक्त है। चैतन्यपुरुष इस यज्ञका पुरोहित है। भक्ति, ज्ञान और कर्म इसके साधन हैं। यह भगवान्‌को समर्पित होकर उदार और असीम बनकर आनन्दमें रूपान्तरित हो जाता है। इसीलिये भगवत्प्रेम रूपान्तर और सृजन दोनों साधनोंसे संसार और प्राणियोंके विकासका नियन्ता है। इस उद्देश्यकी परिपूर्तिहेतु चेतनाके बिलकुल बाहरी छोरोंतक प्रेमके प्रसारणके लिये पूर्णयोगका लक्ष्य-साधन किया जाता है। भगवत्प्रेम सत्य और प्रकाशके नये स्वर्ग और नये संसारकी सृष्टिका योग है। इसकी विशेषता है कि यह अविद्यासे ग्रस्त नहीं होता।

भगवत्प्रेम ही पूर्ण योगका अधिष्ठान और मूल प्रेरणा है। पूर्णयोगका मूल सूत्र है कि मानवचेतनाकी सभी या कुछ शक्तियाँ भगवान्‌की ओर मुड़ जायँ ताकि उनका सम्बन्ध और मिलन सत्ताकी इस चेष्टासे स्थापित हो जाय। इसीलिये १-नित्यता, २-तीव्रताको इसकी उड़ानके लिये पंख माना जाता है।

आनन्द अनिर्वचनीय है, भगवत्प्रेम मानवी चेतनाकी किञ्चित् पकड़में आता तो है पर बहुआयामी होनेके कारण बुद्धि और विवेकके भी परे चला जाता है। पर योगकी प्रेरणा इसीसे प्रारम्भ होती है। यदि भगवान् हमें नहीं खोजते तो प्रकृतिमें कोई भी ऐसा कारण या सूत्र नहीं दिखायी देता है कि हम उन्हें खोजनेकी अभीप्सा करें। पूर्णयोगका मूल सूत्र साधककी चेतनाको, जितना भी वह आत्माके प्रकाशको उपलब्ध हो, कम-से-कम उतनी चेतनाको भगवान्‌की ओर मोड़ दिया जाय। भगवत्प्रेमके द्वारा जितना हम इसमें सफल होंगे उतनी ही प्रगति होगी।

श्रीअरविन्द ब्रह्मकी अभिव्यक्तिके तीनों रूपोंको स्पष्ट करते हैं—१-अन्तःस्थ आत्मा, २-ऊर्ध्व कमल—सम्पूर्ण मनका दिव्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाना एवं ३-व्याप्ति—भगवत्प्रेमकी परिव्याप्तिसे एकत्वका साधन। अनिर्वचनीय होते हुए भी भगवत्प्रेम दिव्य और अदिव्य सभी धरातलोंको परिप्लावित कर सकता है। यह स्थूल-सूक्ष्म, पाप-पुण्य सभीसे परे है। भगवत्प्रेम ही दिव्य प्रियतमका प्रेमपात्र और प्रियतमकी आत्मा है। भगवत्प्रेम और भगवत्प्रयास पर्यायवाची हैं। अभीप्साकी सचाईके उत्तरमें यह प्रकट होता है, समता और शान्तिमें बढ़ता है तथा शुद्ध एकत्व-बोधमें पूर्णताको प्राप्त करता है। प्रभुकी लीला और विकासके मानवीय स्तरपर चरम परिणति यही है। [प्रेषक—श्रीदेवदत्तजी]

मातृप्रेम, मातृभूमिप्रेम और भगवत्प्रेम

(परमादरणीय गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकरजी)

[राष्ट्रिय स्वयंसेवकसंघके सरसंघचालक श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकर (श्रीगुरुजी) एक महान् भगवद्भक्त, राष्ट्रभक्त महापुरुष थे। उनका स्पष्ट मत था कि अपना दिव्य भारत-राष्ट्र भगवान्‌का साक्षात् विग्रह है। वे मातृभूमि, मातृशक्ति तथा भगवत्प्रेमको एक-दूसरेका पर्याय मानते थे। सन् १९६१ ई०में उन्होंने पुणेमें आयोजित 'मातृपूजन' ग्रन्थका लोकार्पण करते हुए मातृप्रेम, मातृभूमि (राष्ट्र)-प्रेमके विषयमें जो महत्त्वपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये थे, उनका सार अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —सं०]

मेरी माँकी अनेक संतानें हुईं, परंतु उनमेंसे मैं अकेला ही जीवित रहा। इस कारण मेरी माँकी ममता मुझपर विशेष रीतिसे स्वाभाविक ही रही। उनकी समस्त ममता मुझपर ही केन्द्रित थी, किंतु मैं रहा केवल एक यायावर—सतत घूमते रहनेवाला ही।

एक बार मैं अपने घरसे चल दिया। अदृश्य हो गया। किसीको भी पता नहीं था कि मैं कहाँ गया हूँ। केवल मेरे एक मित्रको, जो नागपुरमें ही रहता था, मैं बताकर चला गया था। लगभग चार मासके बाद मैं लौट आया। जब मैं नागपुर वापस आया तो पता चला कि माँ बीमार हैं। माता-पिता उन दिनों नागपुरके समीप रामटेकमें रहते थे। मैं वहाँ गया। माँसे मैंने उनकी तबीयतके बारेमें पूछा। पता चला कि उन्हें हृदय-विकार है। डॉक्टरने 'अञ्झायना पेक्टोरीस' नामका हृदयका रोग बताया था। माँको बहुत कष्ट हो रहा था। हमारे मित्र डॉक्टर उन्हें औषधि दे रहे थे, किंतु उनकी औषधिसे लाभ नहीं हो रहा था। मुझे स्मरण होता है कि उस अवस्थामें भी अपना गायब हुआ पुत्र लौटकर आया देखकर वे मेरी सुख-सुविधाओंकी ओर स्वयं ध्यान देने लगीं। फिर एक दिन वे बोलीं, 'मुझे डॉक्टरकी औषधि नहीं चाहिये, तू ही मुझे औषधि दे।'

मैं न डॉक्टर था न वैद्य। कठवैद्य भी नहीं हूँ। किंतु माँका आग्रह था कि मैं ही उन्हें औषधि दूँ। उनके आग्रहके कारण मैंने उनका कहना मान लिया। मैं नागपुर आया। नागपुरमें रामकृष्ण मिशनका आश्रम है। उस आश्रममें रोगियोंको होमियोपैथिक औषधि मुफ्त देनेकी व्यवस्था है। वहाँ सर्वसामान्य लोगोंकी रोगमुक्तिके लिये एक वृद्ध साधु औषधि देते थे। मैं उनके पास गया। उनसे कहा—'मेरी माँको ऐसा-ऐसा कष्ट है, कौन-सी औषधि उन्हें देना ठीक होगा?' उन वृद्ध साधुने मुझसे ही पूछा, 'तुम्हारा क्या विचार है?' मैंने उत्तर दिया—'कुछ नहीं सोचा। आप ही कुछ दें। आपने यदि साधारण शक्करकी पुड़िया दी तो भी चलेगी।' तब उन्होंने एक औषधिका नाम मुझे बताया। मैंने वह औषधि माँको दी और सचमुच माँको आराम हुआ। वे स्वस्थ हो गयीं। 'उसके बाद कई वर्षोंतक वे जीवित रहीं।' जबतक उनके हाथ-पैर काम करते रहे, तबतक वे घरके सब काम अपार कष्ट झेलते हुए करती रहीं। उन्हें दिलका दौरा फिर कभी नहीं पड़ा। वास्तवमें उन्हें दिलका दौरा नहीं, पुत्र-वियोगका दौरा पड़ा था। डॉक्टरने भी यही कहा कि 'चूँकि तुम घरसे भाग गये थे इसीसे ऐसा हुआ।' इस घटनासे स्पष्ट है कि मैं माँको सुख पहुँचानेवाला नहीं, दु:ख देनेवाला ही ठहरा।

फिर एक बार माँको पक्षाघात हुआ। उनका दाहिना अङ्ग निष्क्रिय हो गया। मुझे उसी समय अपने निर्धारित प्रवासपर जाना था। मैं घर गया। मेरे साथ सदैव ही एक डॉक्टर रहते हैं। उन्होंने कहा कि 'यह पेरालीसिसका स्ट्रोक है। एकदम आराम नहीं होगा।' अन्य डॉक्टर भी आये और औषधोपचार प्रारम्भ हुआ। मैं ठहरा हमेशाका प्रवासी। स्वीकृत कार्यके लिये मुझे ट्रेनसे जाना था। मैं माँसे बोला, 'जाऊँ क्या?' उन्होंने कहा—'नहीं।' तो बोला—'ठीक है।' अपने मुकामपर आ गया। विचार किया कि पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम रद्द करनेके लिये सब स्थानोंपर तारद्वारा सूचित करना होगा, किंतु फिर सोचा कि कुछ देर बाद निर्णय

करूँगा। इसके बाद ११-११॥ बजे पुनः मैंने माँसे पूछा तो उन्होंने 'जा' कहा। सोचनेकी बात है कि उन्हें उस समय कैसा लगा होगा? क्या वे यह सोचती होगीं कि अपनी कठिन बीमारीमें इकलौता पुत्र भी समीप न रहे? नहीं, ऐसा नहीं। बात यह थी कि मेरे द्वारा एक कार्य स्वीकृत है, इस कार्यमें किसी प्रकारका विघ्न पड़ने देना उन्हें मंजूर नहीं था। इसीलिये उन्होंने मुझे जानेकी अनुमति दी। उन्होंने यह भी कहा कि 'मनुष्यका जीवन-मरण किसीके पास रहने या न रहनेपर निर्भर नहीं।' यह सब बतानेका अर्थ कोई ऐसा न समझे कि मेरी माँ श्रेष्ठ योगिनी वगैरह थी। हाँ, वे भक्त जरूर थीं और इसी कारण उनके मनमें धैर्य उत्पन्न हुआ था। मेरी माँ सचमुच माँ थीं। मेरे कर्तव्य-मार्गमें उन्होंने अपनी बीमारीकी बाधा भी नहीं आने दी। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि माँके अनन्त उपकार हैं।

एक बार एक स्वयंसेवककी माँ मेरी माँके पास शिकायत लेकर पहुँची कि उसका दूसरा लड़का विवाह करनेसे इनकार कर रहा है। मेरी माँने उसकी सब बात शान्तिपूर्वक सुनी और समझाते हुए कहा, 'तुम्हारा दूसरा लड़का विवाह नहीं कर रहा, परंतु पहलेका विवाह तो हो चुका है, मेरा तो इकलौता पुत्र है और वह विवाह नहीं कर रहा, फिर भी मुझे दुःख नहीं हो रहा। भला तुम क्यों मन खट्टा कर रही हो?' मुझे लगा कि चलो अच्छा ही हुआ, राष्ट्रकार्यके लिये एक प्रचारक मिला। इस प्रकार उसने संघ-कार्यमें मेरी सहायता ही की। इस प्रकारकी कुछ छोटी-छोटी घटनाओंका स्मरण मुझे अपनी माँकी याद दिला रही है। मेरी माँ सचमुच माता थीं। माताके कर्तव्य अथवा जिसे हम मातृत्वके गुण कह सकते हैं, वे उनमें थे। परंतु मुझे मातृभक्त नहीं कहा जा सकता। वैसी मेरी योग्यता भी नहीं है। हाँ, ऐसी श्रेष्ठ माताके पुत्रके नाते यदि मुझे यहाँ निमन्त्रित किया गया हो तो वह उचित ही हुआ है।

फिर एक अन्य घटना याद आती है। मनुष्यके जन्मग्रहण करनेके पूर्व जन्मदात्री माता उसके पार्थिव शरीरका स्वतः अपने रक्तसे ही तथा जन्मके पश्चात् अपने दूधसे तथा आगे यावज्जीवन प्रेमसे उसका पोषण करती है किंतु निसर्ग-नियमके अनुसार कभी-न-कभी तो मातृवियोग प्रसंग आता ही है। वैसा ही प्रसंग मुझपर भी आया। इस सूचना मैंने अपने स्वभावानुसार कुछ लोगोंको जिनके प्र मेरा नितान्त आदर है और उस मनःस्थितिमें भी जिन मुझे स्मरण हुआ, दी। उनमेंसे कामकोटिपीठके आदरणी श्रीमच्छङ्कराचार्यजीको भी मैंने पत्र लिखा। उन्होंने हाथोंहा दो श्लोकोंके रूपमें मुझे सान्त्वना देनेवाला पत्र लिखा थ श्लोकोंका अर्थ इस प्रकार था—

'अस्थिचर्ममय मानवदेहधारिणी तुम्हारी माँ यद्य नहीं रहीं, किंतु जो तुम्हारे समान असंख्य पुत्रोंकी माता जो केवल आज ही नहीं, सहस्रों वर्षोंसे असंख्य पुत्रों जन्मदात्री है और भविष्यमें भी सहस्रों वर्षोंतक ऐसे पुत्रोंकी माँ रहेगी, सबका धारण-पोषण करनेवाली, पवि और नित्य चैतन्यमयी भारतमाता विराजमान है। उ भारतमाताके कार्यार्थ कटिबद्ध हुए तुम्हें मातृवियोग हो नहीं सकता। तुम शोक न करो। तुम्हारे लिये शोकव कारण नहीं है।'

मुझे लगता है कि जिस दिन पूज्य माँका देहावसा हुआ, उस दिन मेरी आँखसे आँसूकी एक भी बूँद नह टपकी। जो लोग वहाँ आ-जा रहे थे उनके साथ मुक्तरूपसे बातें कर रहा था। हो सकता है, अनेक वर्षों जो सतत अभ्यास चला है उसीका यह परिणाम रहा हो यह एक ऐसा प्रसंग था, जब मनका संतुलन रखन कसौटीकी ही बात है। भगवान्‌की कृपासे मैं उस अवस्था बाहर निकल सका। श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने जो सान्त्वन प्रदान की, उससे हृदयमें व्याप्त वेदनाका शमन तथा मनक संतुलन बनाये रखनेका कार्य हो सका।

मातृभक्तिका ह्रास

इसलिये मातृपूजनका विचार करते समय हमें अपन जन्मदात्री माँके समान ही अपनी मातृभूमिका भी विचार करन चाहिये। किंतु दुर्दैवकी बात है कि यह सब हमें बताना पड़त है। जन्मदात्रीके सम्बन्धमें कितनी उत्कट प्रेमकी भावना होनी चाहिये, परंतु इस भावनाका लोप होता जा रहा है। आज ऐसे

लोग कम ही मिलेंगे जो विशुद्ध मातृभूमि-भक्त हैं। कुछ लोग हैं जो सत्ता, यश अथवा स्वार्थके लिये मातृभूमिकी भक्ति करते हैं, किंतु मातृभक्तिसे ओतप्रोत हृदयका क्या कहीं दर्शन होता है? इसका उत्तर देना कठिन है। छोटे-छोटे स्वार्थोंके लिये मातृभूमिके पुत्र आपसमें लड़ते-झगड़ते दिखायी दे रहे हैं। लोग स्वार्थके पीछे लगे हुए हैं। आपसमें संघर्ष कर रहे हैं। इस दृश्यको देखकर क्या कोई कह सकता है कि इनमें मातृभूमिकी भक्ति है?

मातृभूमि—हिन्दुराष्ट्र

वैसे यह हमारी मातृभूमि और हम इसके पुत्र हैं। यह नयी बात नहीं है। अति प्राचीन कालसे इस मातृभूमिके पुत्रके नाते हमारा यहाँ राष्ट्र-जीवन रहा है। इस बातकी घोषणा केवल हम ही करते हों सो बात नहीं। जिन लोगोंने भी निष्पक्ष होकर सत्यको देखनेका प्रयत्न किया, उन सभीका यही कहना है। मेरे पास एक पुस्तक है। उसमें पुरानी अंग्रेजी मासिक पत्रिका 'एडिन्बरा रिव्यू' के सन् १८७२ वर्षके एक अङ्कका उद्धरण दिया हुआ है जिसमें कहा गया है—

'Hindu is the most ancient Nation on the earth and has been unsurpassed in refinement and culture.'

(पृथ्वीपर 'हिन्दु' एक अति प्राचीन राष्ट्र है, जो सभ्यता और सुसंस्कृतिमें अद्वितीय है।)

पृथ्वीपर हिन्दु-जीवन अति प्राचीन राष्ट्रके नाते विद्यमान है। हम यह आज ही नहीं कह रहे हैं कि यह हिन्दु-राष्ट्र है। अंग्रेज राज्यकर्ताओंने अपने साम्राज्यवादी स्वार्थोंकी पूर्तिके लिये हिन्दुराष्ट्र-जीवनको विशृंखल कर 'खिचड़ी-राष्ट्र' निर्माण करनेका प्रयत्न किया। आज अंग्रेज-राज्य प्रत्यक्ष रीतिसे हट गया है, किंतु फिर भी उनके द्वारा प्रचारित राष्ट्र-विस्मरणके कार्यको लोग अपने क्षुद्र स्वार्थके लिये आगे बढ़ाते जा रहे हैं। तब क्या इन्हें लोग कह सकेंगे कि ये मातृभूमिके पुत्र हैं? आज यह कहना कि हम मातृभूमिके पुत्र हैं या यह कहना कि हिन्दुस्थान हिन्दुओंका जाओ घर तुम्हारा है, ऐसा कहना अमृतमय समझा जाता है। यह तो बहुत ही दुःखद स्थिति है। अंग्रेजीमें जिसे 'फ़ैशन' कहते हैं, वैसे ही 'यह सबका राष्ट्र' है कहनेकी एक पद्धति आजकल चल पड़ी है। इस फ़ैशनसे स्वार्थ पूरा होता है, किंतु इससे मातृभूमिका विस्मरण होता है।

आधुनिक जीवन-प्रवाहमें बहनेके कारण जन्मदात्री माँके प्रति अनादर बढ़ता जा रहा है। अपने जन्मको माता-पिताके वैषयिक सुखका 'बाइ प्रॉडक्ट' कहनेकी प्रवृत्तिका निर्माण हो रहा है। पूर्वकालमें विशिष्ट संकल्प कर, उस पवित्र संकल्पसे ही पुत्र-प्राप्तिकी जाती रही और शेष जीवन संयमसे व्यतीत किया जाता था, किंतु आजकल सब कुछ बदल गया है, सम्पूर्ण जीवन काममय हो चुका है।

जगन्माताका भी विस्मरण

जिस प्रकार हम जन्मदात्रीको भूल गये वैसे ही सम्पूर्ण राष्ट्रको जन्म देनेवाली मातृभूमिको भी भूल गये। इन दो महान् माताओंके विस्मरणके बाद यह कैसे सम्भव है कि सर्वसृष्टिको जन्म देनेवाली अखण्ड मण्डलाकार जगन्माताका स्मरण रहे? किसीको धर्म भाता नहीं। धर्मका नाम लिया कि जगन्माताका स्मरण होता ही है और उसके साथ उनकी पूजा भी आती है। शिवके साथ शक्तिकी पूजा स्वाभाविक ही जुड़ी है। संत ज्ञानेश्वरने जगन्माताके स्वरूपका विशद वर्णन करते हुए उसे 'शिवशक्तिरूप' ही बताया। हम सबको जगन्माताके इसी स्वरूपका विचार करना चाहिये।

स्वामी रामकृष्ण परमहंसके जीवनका एक प्रसंग है। स्वामीजी साधना करनेके बाद सिद्ध पुरुष हो चुके थे, फिर भी वे कालीमाताके भक्त थे। ईश्वर-कृपासे तोतापुरी नामके साधुसे उनकी भेंट हुई। तोतापुरी अद्वैत स्थितिकी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त किये हुए श्रेष्ठ साधु थे। रामकृष्णको अद्वैत ज्ञान पानेका अधिकारी पुरुष पाकर उन्होंने कहा कि 'मैं तुम्हें अद्वैतका ज्ञान प्रदान करता हूँ।' ऐसा कहकर तोतापुरीने रामकृष्णजीके सिरपर हाथ रखा। उस समय रामकृष्णजीको समाधि लग गयी। वे तीन दिनतक समाधिमें रहे। श्वासका स्पन्दन भी बंद हो गया। इसपर तोतापुरीको

कालीमाताकी भक्तिमें कोई कमी नहीं आयी। कालीमाताके मन्दिरमें जाकर वे तालियाँ बजाकर भक्तिमें मस्त हो जाते थे। तोतापुरी ठहरे कठोर अद्वैती। वे कहते थे कि 'यह सब पाट-पसारा व्यर्थ है। जग मिथ्या है और ब्रह्म ही केवल सत्य है। ऐसा होते हुए भी तुम कालीमाताकी भक्ति क्यों करते हो?' रामकृष्णजीने उनसे कहा, 'मैं इनकी भक्ति करता हूँ, इसका कारण है कि ये 'जगन्माता हैं।' तोतापुरीको यह बात नहीं पटती थी। तोतापुरी वहाँसे अन्यत्र जानेके लिये तैयार हुए तो रामकृष्णजीने उन्हें रोक लिया।

इसके बाद तोतापुरीजी अस्वस्थ हो गये। उन्हें दस्त लगने लगे। औषधि आदिसे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। वे तत्त्वज्ञ थे। पद्मासन लगाकर ध्यान करते थे, किंतु शारीरिक अस्वास्थ्यकी इस स्थितिमें अब आसन लगाकर बैठना भी कठिन हो गया। तब यह सोचकर कि अब देह समाप्त करनेका समय आ चुका है, किसीको कुछ भी न बताते हुए वे गङ्गाजीमें उतर पड़े। काफी देरतक गङ्गाजीमें घूमनेके बाद भी उन्हें डूबनेलायक पानीका स्थान नहीं मिला। इसलिये वे वापस आये। उनके मनमें विचार आया कि 'ऐसा क्यों हुआ?' जब वे इस विचारमें मग्न थे, उन्हें जगन्माताका साक्षात्कार हुआ। जगन्माताने उनसे कहा—'मुझे पारकर ब्रह्मको पाया जा सकता है। इसलिये मुझे समझे बिना ब्रह्म कहाँसे प्राप्त होगा? मैं यदि पार न जाने दूँ तो वह दिखायी कैसे देगा?'

श्रीरामकृष्ण सदैव एक कथा सुनाते थे। राम, लक्ष्मण, सीता वनमें चलते थे तब राम और लक्ष्मणके बीचमें सीताजी चलती थीं। एक पंक्तिमें तीनों चलते हैं और इसलिये बीचमें सीताके आनेके कारण लक्ष्मणको राम नहीं दिखायी पड़ते। तब सीताजी बीचमें चलते हुए अपना एक पग थोड़ा बाजूमें रख लेतीं ताकि लक्ष्मणको श्रीराम दिखायी पड़ें। ठीक ही है, माया बाजू होनेपर ही परब्रह्मके दर्शन सम्भव हैं। यही साक्षात्कार तोतापुरीको भी हुआ। इसके बाद उनकी बीमारी ठीक हुई और वे कालीमाताके दर्शन करनेके बाद वहाँसे वापस हुए।

जगन्माताके कारण शक्ति

इसलिये यह स्पष्ट है कि जगन्माताके सिवाय ज्ञान नहीं। उपनिषद् या अन्य कहीं एक कथा आती है। युद्धमें दैत्योंका पराभव करनेपर देवताओंको अपने पराक्रमका भारी गर्व हो गया। ऐसा गर्व होना अच्छी बात नहीं। इसलिये जिस समय सब देवता सभामें विराजमान थे, उनके समक्ष अकस्मात् एक भव्य रूप प्रकट हुआ। ग्रन्थमें उसे यक्ष कहा गया है। दैत्योंसे भी अधिक भयंकर उस रूपको देखकर सब देवता घबरा गये। अब किसी-न-किसीको उसका सामना करना पड़ेगा। इसलिये तय हुआ कि जो सबसे बलवान् हो, वह पहले जाय। सर्वप्रथम वायुदेवता ही सामने आये। यक्षने वायुसे पूछा, 'तुम्हारी शक्ति किस बातमें है।' वायुने कहा, 'मैं अपनी शक्तिसे सारी सृष्टिको हिला सकता हूँ।' यक्षने कहा, 'ठीक है, यह घासका एक तिनका यहाँ रखा है, इसे हिला दो।' वायुने अपनी सब शक्ति लगा दी, किंतु उस घासके तिनकेको वे हिलातक न सके। आखिर लज्जित होकर वापस हो गये। तब अग्निदेवता उठे, किंतु अग्नि भी अपनी समस्त दाहक शक्तिका प्रयोग कर थक गये, उस तिनकेको जला न पाये। अन्तमें इन्द्र भी गये, किंतु यक्षने यह दर्शाकर कि मानो इन्द्रकी कोई बिसात ही नहीं है, वह इन्द्रके समक्ष स्वयं अन्तर्धान हो गया। तब इन्द्र विचार करने लगे कि देवताओंको क्या बताया जाय? सब देवताओंके इस पराभवका क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्नपर इन्द्र सोच रहे थे कि उन्हें एक देदीप्यमान स्त्री दिखायी दी। अत्यन्त तेजस्वी, हेमवती स्वरूपा उस स्त्रीने कहा, 'तू जिसकी खोज कर रहा है, जिससे वायु गतिमान् है, जिसके कारण अग्निमें दाहकता है, वह तो समस्त सृष्टिकी शक्ति परब्रह्मकी जननी है।' यही जगन्माता मातृत्वका मूलस्वरूप है।

विश्वमें मातृत्वका इतना उदात्त विचार किसीने प्रस्तुत नहीं किया है। मातृत्वके सम्बन्धमें कोमलता और पवित्रताके विचार तो सर्वत्र प्रस्तुत किये जाते हैं। रोमन कैथोलिकोंमें मेडोना और उनके पुत्र येशुके ऐसे चित्र जो हृदयको स्पर्श करनेवाले अत्यन्त प्रेमवान् हैं, पूजे जाते हैं। अपने यहाँ ज्ञानदायी, करुणामयी, जगत्‌को धारण करनेवाली, पालन करनेवाली होनेके साथ-साथ संहार-स्वरूपिणी शक्ति—इन तीन रूपोंमें उनका वर्णन हुआ

संसारमें केवल खाने-पीनेके लिये ही जीवित हैं? इस प्रकारका जीवन तो पशु-पक्षी भी जी लेते हैं। मनुष्य तो विचार करनेवाला बुद्धिमान् प्राणी है। इसलिये अपने हृदयमें मातृत्वके सम्बन्धमें श्रेष्ठ भावना जगाकर अत्यन्त कृतज्ञताके साथ इस जन्मदात्री धरित्री और जगद्धात्रीसे अपना माता-पुत्रका नाता है, ऐसे मातृत्वके स्वरूपका ध्यान धारण कर उसकी उपासना करनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये। पूर्ण श्रद्धाके साथ इसका पालन करना चाहिये। मानव-जीवनमें कृतज्ञताका स्थान असामान्य है।

आजकल हम कहते हैं कि हमारी बड़ी प्रगति हो रही है, किंतु मनुष्य कृतज्ञता भी भूलता हुआ दिखायी पड़ रहा वास्तविक भावना होनी चाहिये। सर्वज्ञान-प्रदायिनी शक्तिदात्री जगन्माताकी वास्तविक भावनाके अभाव और केवल स्वार्थ-सीमित दृष्टिसे ही उसकी ओर देखनेके कारण जीवन पशुतुल्य बनता जा रहा है। कामप्रधान-जीवन सुसंस्कृत मनुष्यके जीवनका लक्षण नहीं है। अन्त:करणमें यदि कृतज्ञताका भाव नहीं रहा तो जीवन जंगली हो जाता है। इसलिये सुसंस्कृत होकर माताके प्रति अपनी भक्ति उसके इन विविध स्वरूपोंमें नित्य करना अत्यावश्यक है। इसीमें मातृप्रेमकी सफलता निहित है और यही परिपुष्ट होकर भगवत्प्रेममें परिणत हो जाती है।

[प्रस्तुति—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

श्रीरामजीका बन्धुप्रेम

(गोलोकवासी परम भागवत संत श्रीरामचन्द्र केशव डोंगरेजी महाराज)

रामजीका बन्धुप्रेम भी अलौकिक है। ऐसा बन्धुप्रेम आपको जगत्‌में कहीं देखनेको नहीं मिलेगा। जब महाराज दशरथजीने रामजीका राज्याभिषेक करनेकी सोची, तब रामजी लक्ष्मणसे कहते हैं—'लक्ष्मण! यह राज्य तेरा है, मैं तो निमित्तरूप हूँ, तुम मेरे बाह्य प्राण हो, यह जीवन और राज्य तेरे लिये है।'

रामजी वनमें पधारे तो रामजीके पीछे-पीछे लक्ष्मण गये—इसमें क्या आश्चर्य है! कैकेयीने वनवास तो रामचन्द्रजीको दिया, लक्ष्मणको नहीं। फिर भी रामजी वनमें जाते हैं, तब लक्ष्मण माता-पिता और पत्नीको छोड़कर बड़े भाईके पीछे हो जाते हैं। रामजीका प्रेम ऐसा है कि राम-वियोगसे लक्ष्मण अयोध्यामें रह नहीं सके। लक्ष्मण पत्नी और माता-पिताको छोड़ सकते हैं, किंतु बड़े भाईको नहीं छोड़ सकते हैं। राम-वियोग लक्ष्मणसे सहन नहीं हुआ। जहाँ रामजी हैं, वहीं लक्ष्मण हैं।

रामजीने खेल खेलनेमें भी छोटे भाइयोंके दिलको नहीं दुखाया। रामजी इस तरह खेलते हैं कि उनकी हार होती है और लक्ष्मण तथा भरतकी जीत। रामजी बोलते हैं कि मेरे भाईकी जीत मेरी ही जीत है। रामजी कौसल्याजीसे कहते हैं कि भरत मुझसे छोटा होते हुए भी जीत गया और मैं हार गया। भरत कौसल्याजीसे कहते हैं—'माँ! बड़े भाईका मेरे ऊपर अगाध प्रेम है। वे जान-बूझकर हार जाते हैं।' श्रीरामजीने जगत्‌को बन्धुप्रेमका आदर्श दिखाया है। कैकेयी कहती हैं—'मैंने भरतको राज्य दिया है।' तब रामजी कहते हैं—'माँ! मेरा छोटा भाई यदि राजा बनता है तो मैं सदाके लिये वनमें रहनेके लिये तैयार हूँ।'

लोग कहते हैं कि भरतका प्रेम रामके प्रेमसे श्रेष्ठ है। राज्य भरतने नहीं किया, किंतु गद्दीपर उन्होंने रामजीकी पादुकाको प्रतिष्ठित किया। रामजी तो वनमें तप करते हैं, किंतु भरत महलमें ही तप करते हैं।

भरतका यह नियम था कि कोई साधु, ब्राह्मण, गरीब आये तो उनका प्रेमसे आतिथ्य-सत्कार करते थे। भरतने चौदह सालतक अन्न नहीं लिया। 'मेरे बड़े भाई कन्दमूल खाते हैं तो मैं भोजन कैसे करूँ?' यह भरतका कहना था। भरतका प्रेम अति दिव्य है। रामजी वनमें शयन करते हैं तो भरतलाल पृथ्वीपर। भरत श्रीरामकी पादुकाका दर्शन करते हुए सतत 'राम! राम!!' जप करते रहते हैं।

आप छोटे भाईको प्रेम करेंगे तो वह आपसे प्रेम करेगा। जगत्‌में रामराज्य कब होगा, भगवान् जाने। मनुष्यके वक्षःस्थलपर जबतक काम और स्वार्थ बैठे हैं, तबतक रामराज्यकी सम्भावना नहीं है, किंतु अपने घरमें आप ऐसा रामराज्य कर सकते हैं। जो व्यक्ति शुद्धभावसे अपने भाईसे प्रेम करेगा, वह भी उतने ही शुद्धभावसे आपके प्रति प्रेम करेगा। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो भाईसे तो कपट करते हैं और दूसरोंसे प्रेम करते हैं।

यह कलियुगकी महिमा है। इसे बतानेके लिये ही भाई-भाईमें वैर होता है। एक गाँवमें हमको अनुभव हुआ। एक सेठ आये। वे कहते हैं, 'महाराज! हमको ऐसा मन्त्र दीजिये जिससे हम जीत जायँ'। मैंने पूछा, 'आपकी क्या इच्छा है?' सेठ कहते हैं कि मैंने दावा किया है, उसमें जीत जानेकी इच्छा है।

मैंने पूछा कि किसके ऊपर किया है? सेठ कहते हैं, अपने भाईके ऊपर। मुझे कहना पड़ा—'आपकी बुद्धि बहुत बिगड़ी है। मेरे पास ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, जो भाईसे कपट करता है, जिसे भाईमें भगवान् नहीं दिखता, वह भगवान्‌की भक्ति क्या करेगा? भगवान् तो प्रत्यक्ष दिखते नहीं हैं। मूर्तिमें भगवान्‌की भावना करनी पड़ती है, किंतु भाई तो प्रत्यक्ष दिखता है। उससे यदि कपट करे तो उस कपटीकी भक्तिको भगवान् कैसे स्वीकार करेंगे? जिन्हें घरमें रहकर भक्ति करनी है, उन्हें घरके प्रत्येक व्यक्तिमें ईश्वरका भाव रखना चाहिये।

सनातन धर्म तो यहाँतक कहता है कि आपके आँगनमें भिखारी आये तो उसमें भी भगवान्‌के दर्शन करें। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि घरमें कोई चीज यदि खराब हो जाय तो भिखारीको बुलाकर दे देते हैं। भिखारी भी भगवान्‌का अंश है। दान लेनेवाला हलका है, ऐसा समझकर दान करे तो दान सफल नहीं होगा।

भिखारी यह उपदेश देने आता है कि गत जन्ममें मैंने किसीको कुछ दान नहीं दिया, इसीलिये मैं दरिद्र बना हूँ। आप भी दान-पुण्य न करेंगे तो मेरे-जैसा ही बनेंगे। आज भी भगवान् हमारे पास कभी दरिद्रनारायणके रूपमें, कभी साधुके रूपमें और कभी ब्राह्मणके रूपमें आते हैं। जब जीवोंमें सामने भगवान् नहीं दीखता है तो भगवान्‌को बुरा लगता है।

ज्ञानी कहता है कि ईश्वरका कोई रूप नहीं। वैष्णव मानते हैं कि जगत्‌में जितने लोग होते हैं, सब भगवान्‌के स्वरूप हैं। ईश्वर अनेक रूप धारण करते हैं। किसीका तिरस्कार मत करो, किसीके प्रति बुरा भाव मत रखो, तब घरमें रहकर भक्ति कर सकोगे। उपेक्षा रखे बिना सबसे प्रेम करो, स्वार्थभावसे प्रेम मत करो। सबमें मेरे भगवान् हैं—इस भावके साथ सबसे प्रेम करो।

मनुष्य-जन्म दूसरेको सुखी करनेके लिये है। बहुत बार मनुष्य परोपकारमें शरीर घिसता है, तब उसको दुःख होता है कि लोगोंने मेरी कुछ कदर नहीं की। किंतु रामजीकी भी लोगोंने निन्दा की है। इसलिये सत्कर्मोंकी कदर भगवान्‌के दरबारमें ही होगी। मान-दान सबसे श्रेष्ठ है। आप सबसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करेंगे तो सब आपसे प्रेम करेंगे।

जो कपटके खेल खेलता है, उसका मन सदा अशान्त रहता है। जिनका व्यवहार अति शुद्ध होता है, उनके पास कुछ न होनेपर भी उनको शान्ति मिलती है। पाप सदाके लिये छिपता नहीं है, एक-न-एक दिन वह जाहिर जरूर होगा। इसलिये यदि शान्ति चाहिये तो धर्मकी मर्यादाका पालन कीजिये। श्रीरामजीने जगत्‌में धर्मका आचरण सिखाया है। श्रीरामजी कर्मका प्रकाश देनेवाले सूर्य हैं।

भगवत्प्रेम आत्मोद्धारके लिये है

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

भगवान् जिन्हें परमात्मा, परब्रह्म और परवस्तु आदि पर्यायवाची शब्दोंसे अभिहित करते हैं; वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी एवं '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्**' समर्थ हैं। भगवान्का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

(विष्णुपुराण ६।५।७८)

'**भगाः अस्य सन्तीति भगवान्**'—इस अर्थमें वे षडैश्वर्य-सम्पन्न हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरणा॥

जिनमें ये सभी विद्यमान हैं, वे भगवान् हैं। श्रीभगवत्पाद शङ्कराचार्यजीने गीताभाष्यमें कहा है—'**ऐश्वर्यादिषट्कं यस्मिन् वासुदेवे नित्यम् अप्रतिबद्धत्वेन सामस्त्येन च वर्तते।**' तथा '**उत्पत्त्यादिविषयं च विज्ञानं यस्य स वासुदेवो वाच्यो भगवान् इति।**' अर्थात् ऐश्वर्यादि षड्गुण जिन वासुदेवमें अप्रतिबन्ध और सम्पूर्ण रूपमें नित्य वर्तमान रहते हैं तथा जिन्हें उत्पत्ति आदिका सर्वथा ज्ञान है, वे वासुदेव भगवान् कहलाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (४।५)-में अर्जुनकी शङ्काका समाधान करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

अनावरण ज्ञानशक्तिसम्पन्न भगवान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावके कारण सब कुछ जानते हैं। उनमें अप्रतिबद्ध ज्ञानशक्ति है, यही अवतारका रहस्य है। श्रीभगवत्पादजीने गीताभाष्यकी अवतरणिकामें इस रहस्यको यों स्पष्ट किया है कि वे भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजसे सदा सम्पन्न होकर निज त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया मूलप्रकृतिको वशीकृत कर यद्यपि अज-अव्यय, भूतोंके ईश्वर और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावके हैं तथापि अपनी मायासे मानो शरीरवान् हों और उत्पन्न हुए हों, इस प्रकार लोकानुग्रह करते हुए दीखते हैं। स्मरणीय है कि इस कथनका आधार साक्षात् भगवान्का वचन ही है, जो गीता (४।६)-में इस प्रकार है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'जन्मरहित होनेपर भी, अक्षीणज्ञानशक्तिस्वभाववाला होनेपर भी तथैव ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तका ईश्वर होनेपर भी अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको स्ववशमें कर मैं अवतरित होता हूँ।'

श्रुति भी यह घोषित कर रही है कि उन परमेश्वरको छोड़कर, उनसे परे या ऊपर कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है। उन्हींसे सब कुछ व्याप्त है, परिपूर्ण है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। (महानारायणीयोपनिषद्)

भगवद्वचन है—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

अध्यात्मरामायणमें एक सुन्दर प्रसङ्ग है, जो अयोध्याकाण्डके प्रारम्भमें है। एक बार नीलोत्पलदलश्याम, कौस्तुभामुक्तकन्धर सर्वाभरणसम्पन्न राम रत्नसिंहासनपर विराजमान थे, उसी समय दिव्यदर्शन नारद वहाँ आये। उन्हें देखकर रामने उठकर सम्मानपूर्वक सीतासहित नमस्कार किया और कहा—'मुनीश्वर! आपके दर्शनसे कृतार्थ हूँ। आज्ञा दीजिये कि मैं क्या सेवा करूँ?'

तब नारदजीने भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामसे कहा—'हे राम! सांसारिक व्यक्तियों-जैसे अपने वाक्योंसे मुझे क्यों मोहित कर रहे हैं? हे विभो! आपने जो यह कहा कि 'मैं संसारी हूँ' सो ठीक ही है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत्की कारणभूता माया आपकी गृहिणी हैं। आपके संनिकर्षसे ब्रह्मादिका उनसे जन्म होता है। आपके ही आश्रयसे त्रिगुणात्मिका माया सर्वदा अजस्रस्रूपसे शुक्लकृष्णलोहित प्रजाको भी जन्म देती हैं। इस लोकत्रयमहागेहके गृहस्थ आप ही हैं। आप विष्णु हैं और जानकी लक्ष्मी हैं; आप

शिव हैं और जानकी शिवा हैं; आप ब्रह्मा हैं और जानकी वाणी हैं; आप सूर्य हैं और जानकी प्रभा हैं; आप शशाङ्क हैं और शुभलक्षणा सीता रोहिणी हैं; आप इन्द्र हैं और सीता शची हैं; आप अग्नि हैं और सीता स्वाहा हैं; आप कालरूप यम हैं और सीता संयमिनी हैं। प्रभो! हे जगन्नाथ! आप निर्ऋति हैं और शुभा जानकी तामसी हैं। राम! आप वरुण हैं और शुभलक्षणा जानकी भार्गवी हैं। राम! आप वायु हैं और सीता सदागति कहलाती हैं। राम! आप कुबेर हैं और सीता सर्वसम्पत् हैं। आप लोकनाश करनेवाले रुद्र हैं तो जानकी रुद्राणी हैं। संसारमें स्त्रीवाचक जो कुछ भी है, वह सब शुभा जानकी हैं और हे राघव! पुरुषवाचक सब कुछ आप ही हैं। अतः देव! तीनों लोकोंमें आप दोनोंको छोड़कर कुछ भी नहीं है[1]।'

नारदजीने पुनः कहा—'हे रघूत्तम! आपसे ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है और आपमें ही प्रतिष्ठित है। अन्तमें सब कुछ आपमें ही लीन हो जाता है, इसलिये आप ही सबके कारण हैं—

त्वत्त एव जगज्जातं त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
त्वय्येव लीयते कृत्स्नं तस्मात्त्वं सर्वकारणम्॥

(अ०रा० अयो० १।२५)

'रज्जुमें सर्पकी भाँति आत्मामें जीवको माननेसे भय बना रहता है, जबकि 'मैं परमात्मा हूँ'—इस ज्ञानसे भय—दुःखसे विमुक्ति हो जाती है। आपके ही कारण आपकी चिन्मात्र ज्योतिसे सभीमें बुद्धि प्रकाशित होती है, अतएव आप सबकी आत्मा हैं। रज्जुमें सर्पभ्रमके समान अज्ञानसे ही आपमें सम्पूर्ण जगत्‌की कल्पना की जाती है। आपके ज्ञानसे वह सब लीन हो जाता है, अतः ज्ञानप्राप्तिका सदा अभ्यास करना चाहिये। आपके चरणकमलोंमें जिनका अनुराग है, केवल उन्हें ही क्रमिक रूपसे ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये आपमें जो भक्ति रखते हैं, वे ही मुक्तिभाजन बनते हैं। मैं आपके भक्तोंके भक्तोंका और उनके भी भक्तोंका किंकर हूँ। अतः हे प्रभो! मुझपर कृपा करें, मुझे मोहजालमें न फँसायें। आपके नाभिकमलसे उत्पन्न ब्रह्मा मेरे जनक हैं, अतः मैं तो आपका पौत्र हूँ। राघव! मुझ भक्तकी रक्षा करें[2]।

नारदजीका यह कथन सत्य है कि यही मोह है जो अनर्थकारी है। इसका नाम ही माया है, अविद्या है। यही तो संसार है, संसृतिका कारण है। श्रीभगवत्पादजीने कहा है—'**अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्वात्**' अर्थात् वह माया तो अव्यक्त है, उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण सम्भव नहीं है, क्योंकि माया न सत् है, न असत् ही। वह अनिर्वचनीया है।

माया सत्यका आवरण अर्थात् सत्यको आच्छादित कर देती है; उससे सही रूपका बोध नहीं होता।

---

१. अथ तं नारदोऽप्याह राघवं भक्तवत्सलम्। किं मोहयसि मां राम वाक्यैर्लोकानुसारिभिः॥
संसार्यहमिति प्रोक्तं सत्यमेतत्त्वया विभो। जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव॥
त्वत्सन्निकर्षाज्जायन्ते तस्यां ब्रह्मादयः प्रजाः। त्वदाश्रया सदा भाति माया या त्रिगुणात्मिका॥
सूतेऽजस्रं शुक्लकृष्णलोहिताः सर्वदा प्रजाः। लोकत्रयमहागेहे गृहस्थस्त्वमुदाहृतः॥
त्वं विष्णुर्जानकी लक्ष्मीः शिवस्त्वं जानकी शिवा। ब्रह्मा त्वं जानकी वाणी सूर्यस्त्वं जानकी प्रभा॥
भवान् शशाङ्कः सीता तु रोहिणी शुभलक्षणा। शक्रस्त्वमेव पौलोमी सीता स्वाहानलो भवान्॥
यमस्त्वं कालरूपश्च सीता संयमिनी प्रभो। निर्ऋतिस्त्वं जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा॥
राम त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा। वायुस्त्वं राम सीता तु सदागतिरितीरिता॥
कुबेरस्त्वं राम सीता सर्वसम्पत्प्रकीर्तिता। रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्वं लोकनाशकृत्॥
लोके स्त्रीवाचकं यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा। पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव॥
तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किञ्चन॥ (अ०रा० अयो० १।९—१९)

२. रज्जावहिमिवात्मानं जीवं ज्ञात्वा भयं भवेत्। परात्माहमिति ज्ञात्वा भयदुःखैर्विमुच्यते॥
चिन्मात्रज्योतिषा सर्वाः सर्वदेहेषु बुद्धयः। त्वया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान्॥
अज्ञानान्न्यस्यते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत्। त्वज्ज्ञानाल्लीयते सर्वं तस्माज्ज्ञानं सदाभ्यसेत्॥
त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात्। तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि॥
अहं त्वद्भक्तभक्तानां तद्भक्तानां च किङ्करः। अतो मामनुगृह्णीष्व मोहयस्व न मां प्रभो॥
त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा मे जनकः प्रभो। अतस्तवाहं पौत्रोऽस्मि भक्तं मां पाहि राघव॥ (अ०रा० अयो० १।२६—३१)

गीताभाष्यमें बताया गया है कि '**तामसो हि प्रत्यय आवरणात्मकत्वादविद्या, विपरीतग्राहकः संशयोपस्थापको वा अग्रहणात्मको वा॥**' अविद्या तामस ज्ञान है, वह सत्यको आच्छादित करनेवाला आवरण है, वस्तुके यथार्थ ग्रहणके विपरीत या संशय उत्पन्न करनेवाला अथवा विषयको अग्राह्य करनेवाला है। रामायणके ही दो उदाहरण देखिये, जिनमें इस सत्याच्छादनका अद्भुत वर्णन किया गया है—

(१) महाराज दशरथने पहले कैकेयीको दो वर प्रदान किये थे, जो धरोहर थे। रामके राजतिलकके अवसरपर कैकेयीने वे वर माँगे। सही है कि इसे मायाका प्रभाव ही मानना चाहिये। राम जब निष्प्रभ, निस्तेज महाराजके दर्शन करते हैं तब वे रामसे कहते हैं—

स्त्रीजितं भ्रान्तहृदयमुन्मार्गपरिवर्तिनम्।
निगृह्य मां गृहाणेदं राज्यं पापं न तद्भवेत्॥
एवं चेदनृतं नैव मां स्पृशेद्रघुनन्दन।
इत्युक्त्वा दुःखसन्तप्तो विललाप नृपस्तदा॥

(अ०रा० अयो० ३।६९-७०)

'राम! स्त्रीसे पराजित, भ्रान्तहृदय और उन्मार्गसे परिवर्तित या पथभ्रष्ट मुझको कैदकर इस राज्यको ग्रहण करो, इससे तुम्हें कोई पाप न लगेगा। यदि तुम ऐसा करोगे तो असत्य मुझे स्पर्श न करेगा।' ऐसा कहकर राजा दुःखसंतप्त हो विलाप करने लगे।

दशरथका रामके प्रति यह कथन कहाँतक समीचीन है, यह विचारणीय है। वे 'स्त्रीजित्' अवश्य हैं। दूसरे शब्दोंमें वे 'मोहजित्' हैं। यह मोह है, यह माया है जो उनके मुखसे इस प्रकार कहला रही है। मायाग्रस्त कोई भी व्यक्ति हो, उनका अनुमोदन करेगा। तदनुसार सद्यः कार्यप्रवृत्त हो जायगा। परंतु राम अमायिक हैं, वे क्यों मोहवशीभूत होकर अनुचित कार्य करेंगे? उन नयकोविदने यथोचित रीतिसे अपने जनक और माता कैकेयीको भी आश्वस्त किया।

(२) लक्ष्मणको जब ज्ञात होता है कि पिताने रामको राज्याभिषेकके बदले वनवास दिया है, तब वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर रामसे कहते हैं—

उन्मत्तं भ्रान्तमनसं कैकेयीवशवर्तिनम्।
बद्ध्वा निहन्मि भरतं तद्बन्धून्मातुलानपि॥
अद्य पश्यन्तु मे शौर्यं लोकान्प्रदहतः पुरा।
राम त्वमभिषेकाय कुरु यत्नमरिन्दम॥

(अ०रा० अयो० ४।१०-११)

उन्मत्त, भ्रान्तचित्त और कैकेयीके वशीभूत राजाको मैं कैदकर भरत और उनके मातुल आदि सभी बान्धवोंको मार डालूँगा। आज सम्पूर्ण लोकोंको दग्ध करनेवाले कालानलके समान मेरे पौरुषको पहले वे सब लोग देख लें। हे शत्रुदमन राम! आप अभिषेककी तैयारी कीजिये।

उत्तेजित लक्ष्मणको रामने आलिङ्गित कर मधुर शब्दोंमें समझाया—'तुम शूर हो और मेरा भला करना चाहते हो। यह सब मैं जानता हूँ, परंतु उसके लिये यह समय नहीं है। आँखोंके सामने राज्य और देहादि जो कुछ दीख रहे हैं, यदि वे सब सत्य हों तो तुम्हारा परिश्रम सफल माना जायगा। परंतु ये सब सत्य नहीं हैं।' (अ० रा० अयो० ४। १८-१९)

करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं
शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः।
देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते
को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते॥
पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसङ्गमः।
प्रपायामिव जन्तूनां नद्यां काष्ठौघवच्चलः॥
छायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता
तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुवं च।
स्वप्नोपमं स्त्रीसुखमायुरल्पं
तथापि जन्तोरभिमान एषः॥
संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसङ्कुला।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते॥

(अ०रा० अयो० ४।२२–२५)

अर्थात् मनुष्य दिन-रात शरीरभोगार्थ ही दुःखसे सभी प्रकारके कर्म करता है। परंतु पुरुषसे देह भिन्न है; ऐसी स्थितिमें पुरुषसे क्या भोग भोगा जायगा। पिता, माता, पुत्र, भाई, पत्नी, बन्धु-बान्धव—इन सबका संगम तो नदीमें एकत्रित काष्ठके समान चपल है। छायाके सदृश लक्ष्मी चञ्चल है और यौवन पानीकी लहरोंके समान अस्थिर है। स्त्री-सुख स्वप्नके सदृश है और मनुष्यकी आयु भी अल्प है, तथापि इनके प्रति आकर्षण-अनुरक्ति है। स्वप्नके समान अस्तित्ववाली यह संसृति सदा रोगादिसे परिपूर्ण है। यह न तो सत्य है, न शाश्वत ही। यह तो गन्धर्वनगरी है। फिर भी मूढ उसके पीछे दौड़ता है।

इतना ही नहीं, प्रतिक्षण रोगादि शत्रुओंकी भाँति मनुष्यपर आक्रमण करते ही रहते हैं। वृद्धावस्था बाघिन-जैसी सामने खड़ी रहती है और मृत्यु समयकी ताकमें संनद्ध उपस्थित रहती है—

विकारी परिणामी च देह आत्मा कथं वद॥
यमास्थाय भवाँल्लोकं दग्धुमिच्छति लक्ष्मण।

(अ०रा० अयो० ४।३१-३२)

लक्ष्मण! विकारी और परिणामी देहको आत्मा कैसे कहा जा सकता है, जिसके आधारपर तुम तो लोकको ही जला डालनेके इच्छुक हो! मैं देह हूँ, इस प्रकारकी जो बुद्धि है, वह अविद्या और मैं देह नहीं हूँ, चिदात्मा हूँ, इस प्रकारकी बुद्धि विद्या कहलाती है। अविद्या संसृतिका कारण है और विद्या उसको दूर करनेवाली है। इसलिये मुमुक्षुओंको सदैव प्रयत्नपूर्वक तत्त्व-चिन्तन करना चाहिये—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका।
तस्माद्यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः॥

(अ०रा० अयो० ४।३३-३४)

जैसा कि श्रीभगवत्पादजीने कहा है—अविद्या नामक आत्मा-अनात्माके पारस्परिक अध्यासको पुरस्कृत कर लौकिक और वैदिक समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त होते हैं एवं मोक्षपरक विधि-निषेधात्मक सभी शास्त्र भी—

'तमेतमविद्याख्यम् आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः लौकिकवैदिकाश्च प्रवृत्ताः सर्वाणि शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।' (ब्रह्मसूत्रभाष्य)

राग-द्वेष, भय-क्रोध—ये सब अविद्याके ही खेल हैं। जबतक यह खेल चलता रहेगा, तबतक बन्धन ही है, विमुक्ति नहीं, शान्ति नहीं। रामने लक्ष्मणको इसीलिये समझाया है—

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम्।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज॥
क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी।
सन्तोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक्॥

(अ० रा० अयो० ४।३६-३७)

अर्थात् मानसिक संतापका मूल कारण क्रोध है, क्रोध संसारका बन्धन है। वह धर्मको क्षीण करनेवाला है, इसलिये तुम उसका परित्याग करो। यह क्रोध तो महान् शत्रु है और तृष्णा वैतरणी नदी है, जबकि संतोष नन्दनवन है एवं शान्ति ही कामधेनु है।

लक्ष्मणको रामने और भी समझाया—

आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय॥

(अ०रा० अयो० ४।३९-४०)

आत्मा शुद्ध, स्वयंज्योति, अविकारी और निराकृति है। संसारका दुःख और मृत्युका भय तबतक विद्यमान रहता है, जबतक आत्माको देह, इन्द्रियों और प्राणोंसे भिन्न नहीं जाना जाता। इसलिये तुम हमेशा देहसे भिन्न आत्माका अपने हृदयमें अनुभव करो।

यह अमोघ उपदेश है। इससे बढ़कर सत्य क्या हो सकता है! जिसको यह अनुभव होता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। वास्तवमें यह भगवत्प्रेम है। भगवत्प्रेमका दूसरा नाम आत्मप्रेम है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि विशुद्ध भक्ति या ज्ञानसे इसकी प्राप्ति होती है। कहा गया है कि **'स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते।'** गीता (४।९—११)-में भगवान्ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥
ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

जो व्यक्ति तत्त्वतः यह जानता है कि मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, वह देहको त्यागकर पुनरपि जन्म नहीं लेता, मुझको ही प्राप्त हो जाता है। राग, भय और क्रोधरहित, मुझसे ही ओत-प्रोत और मेरे ही आश्रित बहुत-से व्यक्ति ज्ञान-तपस्यासे पूत होकर मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं। जो मुझको जैसे भजते हैं, उनको मैं वैसे ही भजता हूँ। मनुष्य

सब प्रकारसे मेरे ही मार्गपर चलते हैं।

स्पष्ट है कि इसके लिये ईश्वरानुग्रह सर्वथा अपेक्षित है। ईश्वरानुग्रहके बिना ऐसी बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती। श्रीभगवत्पादजीने सूत्रभाष्यमें इस संदर्भमें कहा है कि अविद्यावस्थामें रहनेवाला जीव कार्यकारणसंघातके विवेकसे रहित रहता है, वह अविद्याके अन्धकारसे अन्धा बना रहता है। तब वह परमेश्वर जो कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी और चैतन्यदायक है, उससे उसके आज्ञानुसार कर्तृत्व-भोक्तृत्वस्वरूप संसारको प्राप्त करता है। उस ईश्वरके अनुग्रहसे ही ज्ञानकी प्राप्तिद्वारा मोक्षसिद्धिके वह योग्य होता है—

'अविद्यावस्थायां कार्यकारणसङ्घाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः, तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति।'

ईश्वरानुग्रहकी जितनी आवश्यकता ज्ञान-प्राप्तिके लिये स्वीकार्य है, उतनी ही गुरुके अनुग्रहकी भी। यह मानना चाहिये कि ईश्वर और गुरु दोनों उद्धारक हैं। पूर्वकृत सुकृतसे ईश्वरानुग्रह प्राप्त होता है। गुरुके अनुग्रहके लिये भी पूर्वपुण्य चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि सब प्रकारके द्रव्यमय यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर है। ज्ञानयज्ञसे बढ़कर कोई यज्ञ नहीं है। 'ब्रह्मार्पणबुद्धि' से जिसका आचरण होता है, उसे सिद्धि अवश्य मिलती है। उसका विधान जाननेके लिये गुरुकी सेवामें पहुँचना चाहिये; गुरुकी सेवा करनी चाहिये और उनकी शुश्रूषा भी करनी चाहिये। परिणामस्वरूप तत्त्वदर्शी गुरुका उपदेश प्राप्त होता है। भगवान्‌की उक्ति है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४।३४)

जो तत्त्वदर्शी अथवा सम्यग्दर्शी हैं, उनके द्वारा उपदेश प्राप्त होनेसे वह उपदेश सफल होता है। सम्यग्दर्शी तो वे हैं, जो भगवत्प्रेममें लीन हैं। भगवत्प्रेमका नामान्तर ही आत्मप्रेम है। अतएव भगवान्‌ने अर्जुनको समझाया है कि 'हे अर्जुन! जिस ज्ञानको प्राप्तकर पुनः तुम इस प्रकारके मोहमें न पड़ोगे। समस्त प्राणियोंको जिससे अपने-आपमें देखोगे और फिर मुझमें भी'—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४।३५)

सब परमेश्वरमें हैं अथवा क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्व सभी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है ही। जो विष्णुतत्त्व किंवा भगवत्तत्त्वको जानता है वह सर्वज्ञ होता है, वह ज्ञानी होता है। भगवान्‌ने चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानीको सर्वाधिक प्रश्रय दिया है और कहा है कि वह उनका अत्यन्त प्रिय है। भगवत्प्रेमकी यह पराकाष्ठा है, जहाँतक पहुँचनेके लिये सतत प्रयत्न और तपस्या आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान्‌ने कहा है—'बहुत-से मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्नशील सिद्धोंमें भी कोई एक 'तत्त्व' को यथावत् समझता है। अनेक जन्मोंके अन्तमें ज्ञानवान् मुझे प्राप्त करता है। मुझ सर्वात्माको प्राप्त होनेवाला वह महात्मा सुदुर्लभ ही है'—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

(गीता ७।३, १९)

स्वार्थसे कौन चूकता है—**'स्वार्थे कः प्रमाद्यति?'** पुत्र-मित्र-कलत्र-बन्धु-बान्धवोंसे प्रेम किस हेतु होता है? अपने हितके लिये ही न! भगवान्‌से प्रेम भी अपने हितके लिये ही है। भगवत्प्रेमका तात्पर्य है—अपनेसे प्रेम। आत्मा सबसे अधिक प्रिय है। श्रेयकी प्राप्ति इसीसे है। इसलिये अत्यधिक प्रिय आत्मा किंवा परमात्माकी उपासना करनी चाहिये, किसी अन्यकी नहीं। 'शतश्लोकी' का वाक्य है—

'तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत विद्वान् न चान्यत्।'

भगवान् आद्यशङ्कराचार्यकी प्रेममीमांसा

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

हिन्दी भाषामें 'प्रेम' शब्द स्नेह, प्रीति, अनुग्रह, कृपा, मृदु व्यवहार, आमोद-प्रमोद, विनोद, हर्ष और उल्लास प्रभृति विविध अर्थोंका द्योतक किंवा व्यञ्जक है, जो संस्कृतव्याकरणके अनुसार पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्गमें **'प्रेमन्'** शब्दसे निष्पन्न होता है। प्रसिद्ध विद्वान् वामन शिवराम आप्टेने **'प्रेमन्'** के संदर्भमें टिप्पणी करते हुए लिखा है—

प्रियस्य भावः इमनिच् प्रादेशः एकाच्कत्वात् न टिलोपः।

(संस्कृत-हिन्दीकोश, पृ० ६९६)

और इसके आगे उन्होंने स्त्रीलिङ्गमें **'प्रेमिन्'** (प्रेमन्+इनि)-की भी चर्चा की है। यों तो 'प्रेम' शब्दकी अर्थवत्तासे ही सुस्पष्ट है कि इसका प्रीति, रुचि, प्रियता और मनोनुकूलताके साथ गहरा सम्बन्ध है। जो सामान्यतया भौतिक तथा आध्यात्मिक द्विविध और सूक्ष्मतया अनेकविध होता है। जिस प्रकार एक ही जल बुद्बुद, तरङ्ग, सर-सरिता और कूपजल प्रभृति अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होते हुए भी तात्त्विकरूपसे नीर ही होता है अथवा एक ही रस पृथक्-पृथक् विभावानुभावसंचारियोंके संयोगसे शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, बीभत्स आदि अनेक रूपोंमें प्रकट होता है। भवभूति कहते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत् समग्रम्॥

(उत्तररामचरितम् ३।४७)

और काव्यशास्त्रियोंके मतमें तो एक ही स्थायी भाव अनेक रसोंके स्वरूपमें उसी प्रकार अभिव्यक्त या निष्पन्न होता है, जिस प्रकार रसरूपात्मक (**'रसो वै सः'**—तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) उपादान कारणभूत **जगन्नियन्ता** परब्रह्मसे कार्यरूप जगत्की उत्पत्ति होती है।

विचारणीय है कि प्रेमका एक पर्यायवाची शब्द 'रति' भी है। जिसकी अर्थवत्ता लोकाभिमुख लोगोंको तो बाँधती है, किंतु योगियों, ज्ञानियों, संन्यासियों एवं तपश्चर्यापूत महापुरुषोंको मुक्त करती है और लोकबन्धनकी सीमासे उन्हें बहुत दूर लेकर चली जाती है। प्रीतिका विस्तार या उसकी व्यापकता समस्त ब्रह्माण्डमें विद्यमान जड-चेतन सभीमें है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीके अनुसार अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सुर, नर और मुनि सभी स्नेह करते हैं, किंतु यहाँ **'स्वारथ'** की अर्थवत्तात्मक सीमाएँ सभीकी अलग-अलग हैं और 'प्रेम' के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

इस चिन्तनके अनुसार यदि भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी महाराजकी प्रीत्यात्मक मानसिकता, भावना, कार्यपद्धति, चिन्तन और कृतियोंपर विचार किया जाय तो *'हरि अनंत हरिकथा अनंता'* (रा०च०मा० १।१४०।५)-की उक्ति चरितार्थ होने लगेगी; क्योंकि भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी देवाधिदेव महादेवके साक्षात् अवतार हैं, जिनमें लोककल्याणहेतु जीवोंके प्रति अगाध करुणा भरी हुई है। अल्पवयमें ही चारों वेदों, सनातनधर्म तथा संस्कृतिके सिद्धान्तों और सनातनपरम्पराके प्रति उन्हें असीम प्रेम था। छः शास्त्रोंके लिये अनुराग, मानवताहेतु राग, राष्ट्रके प्रति प्रीति और ब्रह्मज्ञानके प्रति अनन्तानन्त निष्ठा थी। आपके व्यक्तित्वसागरमें एक ओर जहाँ **'*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*'** से आरम्भ होनेवाले ब्रह्मसूत्र, **'*धर्मक्षेत्रे*'** से लेकर **'*ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम*'** पर्यन्त पूर्णता प्राप्त करनेवाली गीता, उपनिषद् वाङ्मय एवं अन्य अनेकानेक आकर ग्रन्थोंका भाष्य करनेकी उन्नत ज्ञानात्मक क्षमता हिमगिरिकी भाँति दृष्टिगोचर होती है, वहीं पराम्बा, परमेश्वरी भगवती आदिशक्तिके पादपद्मोंके प्रति भक्तिकी उत्ताल तरङ्गें भी तरङ्गायित होती देखी जा सकती हैं। आपके विशाल हृदयमें विद्यमान धर्म और देशके प्रति उत्कट प्रेमका ही परिणाम था, जिसके कारण अत्यन्त विशाल भारतवर्षकी आपने पैदल परिक्रमा की तथा सनातन वैदिक धर्मपर छाये कुहरेकी परतोंको भगवान् सहस्रदीधितिके प्रचण्ड रश्मिपुञ्जोंकी भाँति अपने विद्यानलके प्रभावसे जीर्ण-शीर्ण कर दिया।

आचार्यपरम्पराके प्रति आपके मनःस्थित प्रेमने ही

(मठाम्नायमहानुशासनम् १, १०, १८, २८)

अर्थात् सर्वप्रथम द्वारकाशारदापीठकी स्थापनाके बाद आचार्यचरणने क्रमशः गोवर्धनपीठ, ज्योतिष्पीठ और शृङ्गेरीपीठकी स्थापना की, जिससे धर्मकी प्रथा अक्षुण्ण बनी रहे। इसके साथ-साथ आपने सभी पीठोंपर अलग-अलग अपने चार शिष्योंको आचार्यके रूपमें प्रतिष्ठित किया तथा 'मठाम्नायमहानुशासनम्' की रचना कर उसमें मठसम्बन्धित विधि-विधानों, आचार्योंकी योग्यता, परिचय तथा तत्सम्बद्ध मर्यादाकी सविस्तर व्यवस्था दी। आपने भावी सनातन पीढ़ीको प्रेरणा तथा धर्ममर्यादाका निर्देश देनेकी दृष्टिसे अनेक कृतियोंका प्रणयन किया, जिनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

(१) अपरोक्षानुभूतिः, (२) आत्मबोधः, (३) तत्त्वोपदेशः, (४) प्रौढानुभूतिः, (५) ब्रह्मज्ञानावलीमाला, (६) लघुवाक्यवृत्तिः, (७) वाक्यवृत्तिः, (८) सदाचारानुसंधानम्, (९) स्वात्मनिरूपणम्, (१०) अद्वैतानुभूतिः, (११) दशश्लोकी, (१२) प्रबोधसुधाकरः, (१३) प्रश्नोत्तररत्नमालिका, (१४) ब्रह्मानुचिन्तनम्, (१५) मोहमुद्गरः, (१६) सौन्दर्यलहरी, (१७) स्वात्मप्रकाशिका, (१८) योगतारावली, (१९) शतश्लोकी, (२०) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहः, (२१) विवेकचूडामणिः, (२२) उपदेशसाहस्री, (२३—४०) वेदान्तस्तोत्राणि, (४१—६४) भक्तिस्तोत्राणि, (६५) [illegible]

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

कहना न होगा कि आचार्य शङ्करके अनुकरणके परिणामस्वरूप ही देशके अनेक सम्प्रदायों एवं धर्मानुयायियोंने अपने-अपने यहाँ आचार्यपरम्पराका श्रीगणेश किया। आपकी मेधा, तपश्चर्या, ज्ञानशक्ति और वाक्शक्तिसे ही प्रभावित होकर सम्राट् सुधन्वाने आपका शिष्यत्व ग्रहण किया था—

वेदान्तचर्चा समभूत् तदानीं राजा सुधन्वा यतिसेवकोऽभूत्।
तत्र द्विषोऽद्वैतपथस्य ये ते श्रुत्वैव तद् व्याकुलतामवापुः॥

(शङ्कराचार्यचरितम् १२।४)

भगवान् शङ्कराचार्यजी महाराज एक ओर जहाँ '**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन**' (गीता ४।३७) और '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' के अद्वितीय चिन्तक, समर्थक किंवा उच्चतम शिखर थे, वहीं वे उत्कट श्रद्धाकी परिपक्वावस्थाजन्य भक्तिके जीवन्त रूप थे। मात्र शक्तिके अस्तित्वको स्वीकार कर संतुष्ट होनेवाले नहीं थे, प्रत्युत वे भगवतीके सदृश अन्य किसीको भी माननेको तैयार ही नहीं थे। इसीलिये सौन्दर्यलहरी (१—३)-में आप कहते हैं—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
× × ×
निमग्नानां दंष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवति॥

अर्थात् भगवान् शिव शक्तिसे युक्त होकर ही कुछ करनेमें समर्थ हो पाते हैं। पराशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी

सम्भव नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—सभी क्रमशः सृष्टि, स्थिति, संहार या संतुलन रखनेमें शक्तिके कारण ही समर्थ हो पाते हैं। सांख्यके अनुसार प्रकृतिके बिना पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता; क्योंकि प्रकृति ही प्रधान है, वही सृष्टिकी संचालिका तथा सभी तत्त्वोंकी मूल है। भगवान् शङ्करका कहना है कि हे मा! आप ब्रह्मादि त्रिदेवोंकी आराध्या हैं। अतः जन्म-जन्मान्तरके पुण्याभावमें भला कोई व्यक्ति आपकी स्तुति कैसे कर सकता है? अज्ञानरूपी अन्धकारको विनष्ट करनेवाली मणिद्वीप नगरीका प्रताप वस्तुतः आपके चरणोंकी धूलिका प्रभाव है। अज्ञानियोंके लिये आत्मज्ञानरूपी वाञ्छित फल प्रदान करनेवाला कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे निःसृत पराग और अर्थहीन दरिद्रोंके लिये सभी सम्पत्तियोंका स्वामी बनानेवाली चिन्तामणि उसी प्रकार आपके कृपाप्रसाद हैं, जैसे भवसागरमें निमग्न जीवोंके उद्धारके लिये वराहावतारी भगवान्‌के दाँत। परमपूज्य आचार्यप्रवरका मानना है कि सर्वसौभाग्यदायिनी भगवती न केवल लोकसिद्धियोंकी प्रदात्री हैं, प्रत्युत मोक्षप्रदा भी हैं। इसीलिये 'श्रीयन्त्र' की उपासना संसारमें पूज्यपादके प्रवर्तनके परिणामस्वरूप अनुदिन विकसित और व्यापक होती चली गयी। आपका कहना है कि—

मूलाधारचक्रमें पृथ्वी और जलतत्त्वोंको, स्वाधिष्ठान-चक्रान्तर्गत मणिपूरमें अग्नि, हृदयस्थ अनाहतचक्रमें वायु और विशुद्धिचक्रमें आकाश तथा भ्रूमध्यमें विद्यमान आज्ञाचक्रमें मनस्तत्त्वको, इस प्रकार सम्पूर्ण कुलपथ सुषुम्णामार्गके द्वारा सभी चक्रोंका भेदन कर सहस्रदलकमलमें अपने पति शिवसे संयुक्त होकर भगवती विहार करती रहती हैं।

ध्यातव्य है कि भेदनके समय शक्तिकी गति मूलाधारसे सहस्रारकी ओर रहती है और सहस्रारसे नीचे उतरते समय वह अपनी अन्वयभूमिकामें नाडियोंको अमृतसे सींचती हुई मूलाधारकी ओर लौटकर अपना रूप सर्पाकार बनाकर लघु कुहरमें शयन करती है। इसी प्रकार जीवके ऐहिक किंवा आमुष्मिक सर्वविध श्रेयके उपलब्ध्यर्थ पूज्यपादने 'श्रीयन्त्र'-की सृष्टिक्रमीय उपासनापर बल दिया है, जो पिण्डमें ब्रह्माण्डका प्रतीकात्मक स्वरूप है और जिसमें ४ शिवचक्र, ५ शक्तिचक्र, ९ प्रपञ्चके कारणात्मक मूलतत्त्व, ४३ कोण, ८ दल, १६ दल, ३ रेखाएँ और ३ वृत्त हैं। आपकी दृष्टिमें इस यन्त्रका उपासक भगवान् कामेश्वरका अंश बन जाता है; क्योंकि उपासक षट्चक्रोंके भेदनपूर्वक आज्ञाचक्रके ऊपर पहुँच जाता है—

मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्।

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक १४)

और वाक्सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तपश्चर्या करता है, किंतु जीवनमें कहीं भी पथच्युत होनेपर उसके मुक्तिके मार्गमें बाधाएँ आ जाती हैं और उसे पुनः संसारमें जन्म लेना पड़ता है, किंतु भगवतीका भक्त यदि '**भवानि त्वं**…' मात्रका उच्चारण कर देता है, तो इतनेसे ही उसकी सायुज्य मुक्ति हो जाती है। यथा—

भवानि त्वं दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतुं वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति यः।
तदैव त्वं तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमुकुटनीराजितपदाम् ॥

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक २२)

'श्रीयन्त्र' की उपासनामें भगवती सृष्टिकी बीज हैं, जो हादि और कादि विद्याओंकी उपादान कारण हैं। इसीलिये आज्ञाचक्रसे ऊपर पहुँचकर समयाचारका साधक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

तवाज्ञाचक्रस्थं तपनशशिकोटिद्युतिधरं
परं शम्भुं वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोके लोके निवसति हि भालोकभुवने॥

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक ३६)

वात्सल्य और प्रेमका जैसा चित्र भगवान् शङ्कराचार्यजीने सौन्दर्यलहरीके ६७वें श्लोकमें खींचा है, वैसा अन्यत्र सर्वथा सुदुर्लभ है। यथा—

कराग्रेण स्पृष्टं तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्तं मुहुरधरपानाकुलतया।

करग्राह्यं शम्भोर्मुखमुकुरवृन्तं गिरिसुते
कथङ्कारं ब्रूमस्तव चुबुकमौपम्यरहितम्॥

प्रकृत श्लोकमें भगवतीकी ठोड़ीका अनुपम सौन्दर्य वात्सल्यसे हिमवान् और प्रेमसे शिवजीद्वारा स्पर्शित है। इसी क्रममें सौन्दर्यलहरीके श्लोक ७२ में वात्सल्यवश माताके स्तनोंसे दुग्धस्राव होना और दुग्धपानके समय अपने शिरकुम्भको ही कहीं माताने तो नहीं ले लिया, इस भ्रममें गणेशजीका अपना सिर पकड़नेपर वात्सल्यवश माता पार्वतीका हँस पड़ना अद्भुत पवित्र प्रेमभावका द्योतक है। इसी प्रकार श्लोक ७५के '**तव स्तन्यं मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयतः**' से लेकर '**कवीनां प्रौढानामजनि कमनीयः कवयिता**' पर्यन्त कृत वर्णनमें माताके करुणामय प्रेमका अद्वितीय चित्रण किया गया है, जिसे पाकर मैं द्रविड़ शिशु वाग्देवताकी कृपाके परिणामस्वरूप कवि बन गया, ऐसा स्वीकार करनेवाले पूज्यपादने इस ग्रन्थमें लौकिक उपादानोंके माध्यमसे आध्यात्मिक चिन्तनका जो निरूपण किया है, वह सचमुच उनकी आध्यात्मिकता तथा लोकहितके प्रति गहनतम प्रेमको प्रमाणित करता है, यथा—

हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा।
× × ×
जनस्तां जानीते तव जननि रोमावलिरिति॥

(सौन्दर्यलहरी, श्लोक ७६)

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि शिवजीके तृतीय नेत्रके खुलनेसे भस्मसात् कामने परमपावनी जगदम्बाके पास आकर शरण ली थी और तभीसे भगवतीके मनमें उसके प्रति पुत्रभाव उत्पन्न हुआ; क्योंकि अम्बास्तवकार कहते हैं—

दग्धं यदा मदनमेकमनेकधा ते
मुग्धः कटाक्षविधिरङ्कुरयाञ्चकार।
धत्ते तदा प्रभृति देवि ललाटनेत्रं
सत्यं ह्रियैव मुकुलीकृतमिन्दुमौलिः॥
कामोत्थितो यतो जातस्तस्याः कामेशयोषितः।
कामाक्षीति ततः ख्यातिं सा गता काञ्चिकापुरे॥

जहाँतक लौकिक भावभूमिगत प्रेमके तटस्थ एवं शास्त्रीय ज्ञानका प्रश्न है, भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी महाराजने भगवती भारतीके साथ सम्पद्यमान शास्त्रार्थके प्रसंगमें उनके कामशास्त्रीय पूर्वपक्षका उत्तर देनेके लिये योगबलसे राजा अमरुके मृत शरीरमें प्रवेश किया था। तभी तो पद्मपाद नामक उनके विद्वान् शिष्यने राजा अमरुके दरबारमें गीत गाते हुए उनसे कहा था—

पूर्वं भवान् ब्रह्मरसस्य भोक्ता
भुङ्क्ते रसं लौकिकमत्र निन्द्यम्।
अन्नादिकोषं च विहाय नित्यं
आनन्दरूपे नितरां रमस्व॥

(शङ्कराचार्यचरितम् ९।३२)

अर्थात् पहले आप ब्रह्मानन्दके भोक्ता थे और अब साधुजनद्वारा निन्द्य लोकरसका उपभोग कर रहे हैं। अतः आप अन्नादि कोषोंको छोड़कर नित्य आनन्दमय रूपमें रमण करें।

माताकी मरणासन्नावस्थामें बद्रीनाथसे कालाटि पहुँचकर पूज्यपादने माताजीके प्रति सम्मानपूर्ण और शास्त्रसम्मत व्यवहार किया। वयोवृद्धा मा जब पुत्रका हाथ अपने हाथमें लेकर अत्यधिक आनन्दको प्राप्त हुईं, उस समय बढ़े हुए मातृप्रेमवाले आचार्यप्रवर भी अश्रुयुक्त होकर माके शरीरसे लिपट गये। यथा—

हस्तेऽस्य हस्तं च निजे निधाय
सानन्दमानन्दमवाप माता।
श्रीशङ्करश्चापि विवृद्धरागः
साश्रुर्जनीदेहमथालिलिङ्गः ॥

(शङ्कराचार्यचरितम् ७।९)

इसके अतिरिक्त भारतवर्षको प्रादेशिक भेदोंसे रहित करने और राष्ट्रैक्यके उद्देश्यसे उन महामनीषी यतीश्वरने उपासकोंके उपास्यके आधारपर अभिमत भेदोंको तोड़नेके अनेक प्रयत्न किये, जिससे उनका राष्ट्र और लोकधर्मके प्रति प्रेम सुस्पष्टतया परिलक्षित होता है। यथा—

एकं चिकीर्षुः स च भारतं वै
प्रादेशभेदै रहितं मनीषी।
सेव्याभिभेदं यतिराड् बिभेत्तु-
मुपासकानां विविधं प्रयेते॥

(शङ्कराचार्यचरितम् ६।३९)

अद्वैत वेदान्तदर्शनके अपूर्व ज्ञाता, व्याख्याता एवं प्रतिष्ठापक भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं कि प्रेम और आनन्द, सभी आत्माके ही रूप हैं; क्योंकि आत्मा सच्चिदानन्दघनस्वरूप है, उसे सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती, यह अनुभूति तो अहंकारको होती है; इसीलिये वे विवेकचूड़ामणि (१०५-१०६)-में कहते हैं—

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः॥
आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः।
स्वत एव हि सर्वेषामात्मा प्रियतमो यतः॥

आचार्यको यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि विषय भी आत्मार्थत्वेन प्रिय होता है, स्वयं नहीं; क्योंकि सभीका आत्मा स्वयं प्रियतम होता है। इसीलिये तो आगे वे कहते हैं कि सदानन्दात्मक आत्माको कभी दुःख नहीं होता। हाँ, सुषुप्तावस्थामें निर्विषयक आत्मानन्दका अनुभव अवश्य होता है।

इस संदर्भमें श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमान-प्रमाण साक्षी हैं। इसीलिये तो श्रुति कहती है—'**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्**' (तैत्तिरीयोपनिषद् ३।६) और आचार्य कहते हैं—

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन।
यत् सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते।
श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति॥

(विवेकचूड़ामणि, श्लोक १०७)

बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।५)-में भी कहा गया है—

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

आगे चलकर सत्त्वधर्म एवं गुणोंके चर्चाप्रसंगमें श्रद्धा, भक्ति आदिका विवरण—**श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः** (विवेकचूड़ामणि, श्लोक ११८)-में देते हुए आप उसके आनन्द-रसकी प्राप्तिरूपी परिणामका वर्णन करते हैं, जैसे—

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः
स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः।
तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा
यया सदानन्दरसं समृच्छति॥

(विवेकचूड़ामणि, श्लोक ११९)

यही कारण है कि आत्माकी परिभाषा करते हुए शङ्कराचार्यजी महाराज कहते हैं—

योऽयमात्मा स्वयञ्ज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः।
अवस्थात्रयसाक्षीसन्निर्विकारो निरञ्जनः।
सदानन्दः स विज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता॥

(विवेकचूड़ामणि, श्लोक २११)

इसी ग्रन्थमें ब्रह्म और आत्माकी अभिन्नता भी बतायी गयी है। तदनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त, विशुद्ध एवं स्वयंसिद्ध है और नित्यानन्दैकरस आत्मासे अभिन्न है—

नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति॥

(विवेकचूड़ामणि, श्लोक २२५)

इसी प्रकार इसे कहीं स्वानन्दामृतपूरपूरित परब्रह्म, परमानन्द, प्रत्यगेकरस तथा सच्चित्-घन कहा गया है तो कहीं नित्यविशुद्धबोधानन्दात्मा स्वीकारा गया है।

इसके अतिरिक्त भगवान् विष्णु, श्रीअन्नपूर्णा, गङ्गा-यमुना, नर्मदा, भगवती त्रिपुरसुन्दरी एवं अन्य देवी-देवताओंकी आराधनामें आपद्वारा विरचित स्तोत्र एवं अन्य अनेक स्तोत्रों तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थोंपर कृत भाष्य तथा अन्य कृतियाँ आपकी अगाध श्रद्धा, निष्ठा, भक्ति एवं सनातन वैदिक संस्कृतिके प्रति अद्भुत प्रेमके जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मयके प्रचार, उसमें निगूढ़ दार्शनिक तत्त्वोंके निरूपण, सदुपयोगी और भक्ति-मुक्तिदायी आर्षग्रन्थोंपर भाष्य-प्रणयन, अनीश्वरवादी विधर्मी चिन्तनों-ढोंगों और पाखण्डोंके निकन्दन, शास्त्रके प्रति प्रगाढ़ निष्ठा, तीर्थों, नदियों, सागर तथा पर्वतोंके प्रति आदरभाव, जन्मभूमिके प्रति अनुराग, संन्यास-दीक्षा, त्याग, धर्म और सदाचारके प्रति समर्पण, माताके लिये पूज्यभाव, मन्दिर-निर्माण, पीठस्थापन, ज्ञान, मुक्ति और गुरु-पूजा प्रभृतिके प्रति आपका प्रेम युगों-युगोंतक समस्त ब्रह्माण्डमें अमर रहेगा और उसका अनुकरण कर असंख्य पीढ़ियाँ अपने जीवनको अनन्त कालपर्यन्त धन्य बनाती रहेंगी।
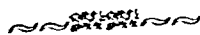
भगवत्स्वरूप और भगवत्प्रेमकी तात्त्विक मीमांसा

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य पुरीपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

(१) भगवत्तत्त्वकी तात्त्विक मीमांसा—ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेजोरूप षड्विध ऐश्वर्यसे सदा सम्पन्न तथा क्लेश, कर्म, विपाक और आशयरूप जीवभावसे सदा सुदूर पुरुषविशेष महेश्वर हैं।

घट, पट, स्त्री, पुत्र, ग्रह-नक्षत्रादि रूप अर्थका बोध ज्ञान है। कार्यसम्पादन-सामर्थ्य शक्ति है। सहायसम्पत्ति बल है। ईश्वरत्वरूप स्वातन्त्र्य ऐश्वर्य है। ओजस्विता वीर्य है। सदा उत्साहसम्पन्नता अर्थात् अपराभवता तेज है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेशरूप पञ्चक्लेश हैं। शुभ, अशुभ और मिश्रसंज्ञक त्रिविध कर्म हैं। सुख-दुःख और मोहसंज्ञक त्रिविध कर्मफल-विपाक हैं। अन्तःकरण और तन्निष्ठ संस्कारका नाम आशय है।

ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति, स्रष्टृत्व-द्रष्टृत्व-आत्मसम्बोधत्वरूप दशविध ऐश्वर्यसे सदा सम्पन्न महेश्वर हैं।

वेदान्तवेद्य अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मको परमात्मा, भगवान्, नारायण, वासुदेव, क्षेत्रज्ञ, आत्मा, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता और महेश्वर तथा तत्त्वादि नामोंसे तत्त्वज्ञ मनीषी निरूपित करते हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान् इस नामसे निरूपित करते हैं।

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥

(श्रीमद्भा० ५।११।१३)

पार्थिव प्रपञ्चसे प्रकृतिपर्यन्त क्षेत्र है। उसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है। वह पर प्रेमास्पद होनेसे परमात्मस्वरूप प्रत्यगात्मा एवं परिपूर्ण पुरुष है। वह निर्विकार होनेसे पुराण है। अपरोक्ष होनेसे साक्षात् है। निरपेक्ष प्रकाशस्वरूप होनेसे स्वप्रकाश है। सर्वकारण अज है। ब्रह्मादिदेवशिरोमणियोंका भी नियामक होनेसे परेश है। अपने अधीन रहनेवाली मायाके द्वारा सबके अन्तःकरणोंमें रहकर जीवोंको प्रेरित करनेवाला समस्त भूतोंका आश्रय होनेसे नारायण नामक भगवान् वासुदेव है।

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मेति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० २।१०।७)

नामरूपात्मक प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति और संहृति जिस भगवत्तत्त्वसे सुनिश्चित है, वह परम ब्रह्म है। शास्त्रोंमें उसीको परमात्मा कहा गया है। ऐसा निरपेक्ष तत्त्व ही आश्रय है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३।२२)

इस देहमें परमपुरुष ही उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मरूपसे प्रतिष्ठित है।

दृश्यजगत्‌का प्रतिक्षण परिवर्तन स्वभावसिद्ध है। परिवर्तनका आश्रय और अलिप्त साक्षी स्थिर सत्य है। सुवर्णकी कटक, मुकुट, कुण्डलादिरूपसे प्रतीतिके तुल्य परब्रह्म परमात्माकी प्रपञ्चरूपसे प्रतीति वेदान्तरसरसिकोंको मान्य है।

जिस प्रकार मेघमण्डलकी उत्पत्ति और प्रसिद्धि आदित्यसे सम्भव होनेपर भी मेघमण्डल आदित्यके अंशभूत आँखोंके लिये आदित्यदर्शनमें प्रतिबन्धक सिद्ध होता है; उसी प्रकार अहङ्कारकी उत्पत्ति और प्रसिद्धि परब्रह्म परमात्मासे सम्भव होनेपर भी अहङ्कार परब्रह्मके अंशतुल्य जीवात्माके लिये परब्रह्म परमात्माके साक्षात्कारमें बाधक सिद्ध होता है। मेघमण्डलका वायुयोगसे अपसारण हो जानेपर नेत्रोंको सुलभ सूर्यदर्शनके सदृश विवेक-विज्ञानसे अहङ्कारका अपसारण हो जानेपर जीवोंको परब्रह्म

परमात्माका दर्शन सुलभ हो जाता है।

एक ही भगवान् जनार्दन जगत्की सृष्टि, स्थिति, संहतिके लिये ब्रह्मा, विष्णु और महेश-संज्ञाओंको धारण करते हैं। वे प्रभु स्त्रष्टा होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं। पालक विष्णु होकर पाल्यरूप अपना ही पालन करते हैं। संहारक महेश होकर संहृतरूप स्वयंका ही संहार करते हैं—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः॥
स्त्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यं च पाति च।
उपसंह्रियते चान्ते संहर्ता च स्वयं प्रभुः॥

(विष्णुपुराण १। २। ६६-६७)

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥

(श्रीमद्भा० ११। २८। ६)

नामरूपात्मक जगत् प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। प्रपञ्चोपादान प्रधान (प्रकृति) परिणामशील अतएव विकारयुक्त है। इस प्रकार कार्यात्मक प्रपञ्च और कारणात्मक प्रधान दोनोंकी तत्त्वरूपता असिद्ध है। पारिशेष्यन्यायसे प्रकृति और प्राकृत तद्वत् भूत और भौतिक प्रपञ्चका परमाश्रय परब्रह्म परमात्मा ही परम सत्य अर्थात् वास्तविक वस्तु है। वह ज्ञानस्वरूप है। स्वप्रकाश विज्ञानातिरिक्त कभी कहीं कोई भी पदार्थ नहीं है। उसमें अविद्या, काम और कर्मयोगसे परिलक्षित विभेद वास्तविक नहीं है। वह विज्ञान विमल, विशोक और अशेष लोभादि विरहित है। वही एक सत्यस्वरूप परम परमेश्वर वासुदेव है। उससे पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है। अणु, चूर्णरज, पिण्ड, कपाल, घटरूपसे प्रतिष्ठित मृत्तिकाके तुल्य आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वीरूपसे परब्रह्म ही प्रतिष्ठित है। व्यष्टि पृथ्वीरूपा मिट्टीमें प्रतिष्ठित घटोत्पादिनी शक्तिका आश्रय मृत्तिकाके तुल्य जगत्कारण ब्रह्ममें संनिहित प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिका समाश्रय स्वयं परब्रह्म ही है। वह ज्ञानस्वरूप वासुदेव ही सत्य है, उसके अतिरिक्त सब कुछ असत्य है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

(श्रीमद्भा० ३। ३२। २८)

ब्रह्म एक है। वह निर्गुण और ज्ञानस्वरूप है। बाह्य वृत्तियोंवाली इन्द्रियोंके द्वारा वह भ्रान्तिवश शब्दादिधर्मोंवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमें भास रहा है—

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चि-
त्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम्।
विज्ञानमेकं निजकर्मभेद-
विभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम्॥
ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोक-
मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
एकं सदैकं परमः परेशः
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥
सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो
ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्।

(विष्णुपुराण २। १२। ४३—४५)

भगवान् वासुदेव उत्पत्ति, स्थिति, संहृति, निग्रह-तिरोधान और अनुग्रहकर्ता हैं। वे स्वयं ही जगत् बनते हैं और बनाते भी हैं। इतना ही नहीं, जिस प्रकार व्यापक आकाश ही घटगत घटाकाश कहा जाता है, उसी प्रकार चिदाकाशस्वरूप परमात्मा ही व्यष्टिगत प्रत्यगात्मा कहा जाता है। जागर, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधिमें अलिप्त एकरस साक्षी पुरुषरूप नारायणसे सत्ता, चित्ता और प्रियता लाभकर देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण अपना-अपना काम करनेमें समर्थ होते हैं।

अग्निकी चिनगारियाँ जिस प्रकार अग्निको उद्भासित और दग्ध करनेमें समर्थ नहीं, उसी प्रकार इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण भी प्रत्यगात्मस्वरूप अन्तरात्मा नारायणको सत्ता, चित्ता और प्रियता प्रदान करनेमें समर्थ नहीं। 'नेति-नेति' आदि निषेधमुखसे प्रवृत्त श्रुतियाँ निषेधगर्भित विधि-मुखसे और 'तत्त्वमस्यादि' विधिमुखसे प्रवृत्त श्रुतियाँ विधिगर्भित निषेधसे ही नारायण नामक परमात्मतत्त्वमें प्रवृत्त होती हैं। शब्दोंमें अर्थावबोधक सामर्थ्य भी भगवदनुग्रहसे ही सम्भव है।

इस प्रकार क्षेत्रज्ञ, वासुदेव, नारायण, अज, ब्रह्म, भगवान् आदि नामोंसे निरूपित वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्मा, अन्तरात्मा और वस्तुतः प्रत्यगात्मा है। 'सापेक्षमसमर्थ

भवति' (पा०सू० ३।१।८ भाष्य) सापेक्ष असमर्थ होता है अर्थात् निरपेक्ष समर्थ होता है। परमात्मा निरपेक्ष होनेसे समर्थ है।

जिस प्रकार जल-स्थल-नभमें विद्यमान विद्युत्की अर्थक्रियाकारिताके बिना विद्यमानता उसकी निर्गुणरूपता सिद्ध करती है तथा नीरूपता उसकी निराकारता सिद्ध करती है, उसी प्रकार सर्वव्यापक अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप निरुपाधिक परब्रह्मकी निर्गुण-निराकारता सिद्ध है। जिस प्रकार पंखा आदिके माध्यमसे उपयोगिता सिद्ध करनेवाली, किंतु आँखोंसे ओझल रहनेवाली विद्युत्की सगुण-निराकारता सिद्ध है, उसी प्रकार सर्वभूतनियामक मायोपाधिक सर्वेश्वरकी सगुण-निराकारता सिद्ध है। जिस प्रकार बल्ब, बादल आदिके योगसे अभिव्यक्त विद्युत्की सगुण-साकारता सिद्ध होती है, उसी प्रकार प्रीति-प्रगल्भतादिके योगसे अभिव्यक्त श्रीराम-कृष्णादिरूप परब्रह्मकी सगुण-साकारता सिद्ध होती है।

श्रीराम-कृष्णादि रूपोंमें अवतरित भगवद्विग्रह सकल सुन्दरताओंसे सम्पन्न होता है। सर्वसौन्दर्यसार अनुपमरूपका दर्शन कर भावुक भक्त धन्य-धन्य होते हैं। दिव्य मुखचन्द्रकी आभा और प्रेमपूर्ण मुसकानसे स्निग्ध चितवन भक्तोंके मनको हर लेती है। देवताओंके लिये भी दुर्लभ दर्शन लाभकर भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। भगवद्दर्शनके बिना एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षोंके तुल्य प्रतीत होने लगते हैं। भगवद्दर्शनके बिना भक्तोंकी दशा वैसी ही हो जाती है, जैसी सौरादि आलोकके बिना नेत्रोंकी।

जब आत्मानात्मविवेकसम्पन्न परमहंस मननशील मुनि और रागादिविरहित शमादिसम्पन्न सनकादि-सरीखे अमलात्मा संत भी स्वरूप, शक्ति और वैभवसे अनन्त, अचिन्त्य महिमामण्डित प्रभुको नहीं पहचान पाते, तब उनकी भक्ति करनेकी भावनावाले, किंतु देह-गेह, सगे-सम्बन्धियोंमें रचे-पचे प्राकृतजन उन्हें कैसे पहचान सकते हैं?

अमलात्मा आत्माराम मननशील मुनिगणों और चिज्जडग्रन्थिभेदक निर्ग्रन्थ परमहंसोंको भी निज गुणोंसे आकृष्ट कर उनसे भक्तियोग निष्पन्न करानेके लिये अवतीर्ण श्रीहरिके अनुपम स्वरूपको प्राकृतजन कैसे समझ सकते हैं?

जैसे मूढदृष्टिसम्पन्नोंके द्वारा श्रीहरि लक्षित नहीं होते; वैसे ही परमहंस मुनीन्द्र अमलात्माओंके द्वारा भी वे लक्षित नहीं होते; क्यों न हो, प्रभु कारणोपाधिक कारणात्मा और कारणातीत जो ठहरे! उन्हें कार्योपाधिक परमहंसादि न जान पायें, इसमें आश्चर्य ही क्या है?—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥

(श्रीमद्भा० १।८।२०)

(२) अवतारतत्त्वकी तात्त्विक मीमांसा— श्रीदेवकीजीने सम्भावित सर्वहेतुओंका निराकरण करते हुए भगवदनुग्रहसे श्रीभगवान्‌के अवतारको समीचीन स्वीकार किया है—

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं
ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं
स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।२४)

वेदोंने जिस वास्तव वस्तुका निरूपण किया है, वह अव्यक्त है; क्योंकि आद्य अर्थात् कारण है। वह परमाणुरूप नहीं है, अपितु बृहद् ब्रह्मस्वरूप है।

प्रकारान्तरसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवत्तत्त्व अव्यक्त है। वह प्रत्यक्षानुमानादि किसी भी प्रकारसे व्यक्त नहीं होता। उत्पत्तिसे उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि वह सर्वकार्योंका आद्य अर्थात् कारण है। जो सादि होता है, उसीकी अभिव्यक्ति होती है, न कि अनादिकी। व्यापक ब्रह्मस्वरूप होनेसे भी उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। परिच्छिन्नकी देशविशेषमें अभिव्यक्ति सम्भव है, न कि व्यापककी। जो प्रकाशस्वरूप है, जिसके सांनिध्यमात्रसे सबका प्रकाशन सम्भव है, कोई परिच्छिन्न प्रकाश उसकी अभिव्यक्ति करनेमें समर्थ नहीं है। किसी गुणसे भी उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि वह निर्गुण है। इतना ही नहीं, वह निर्विकार है, अतः उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

सविकार प्रकृतिकी महदादिके द्वारसे अभिव्यक्ति

सम्भव है, न कि निर्विकारकी। वह सत्तामात्र है, सर्वाभिव्यञ्जक सद्रूपका अभिव्यञ्जक कोई भी वस्तुविशेष हो, यह सम्भव नहीं। यह लोकप्रसिद्ध तथ्य है कि **'घटः सन् पटः सन्'**—'घट है, पट है' आदि स्थलोंमें सत्तासे ही घटादि व्यक्त होते हैं, न कि घटादिसे सत्ताकी अभिव्यक्ति होती है। अभिप्राय यह है कि वन्ध्यापुत्रादि असत् स्वरूपका अभिव्यञ्जक नहीं होता, अतएव सत् ही स्वरूपका अभिव्यञ्जक हो सकता है। परम तत्त्व निर्विशेष है, अतः उसका अभिव्यञ्जन असम्भव है। सावयवरूप सविशेष घटादिका ही घटत्वादि सामान्यसे अभिव्यञ्जन देखा जाता है, न कि निर्विशेषका। सचेष्टकी क्रियासे अभिव्यक्ति देखी जाती है, न कि निश्चेष्टकी। बंद आकाशादिको खोला जा सकता है, न कि आकाशादिको खोला जाना सम्भव है।

इस प्रकार यद्यपि अव्यक्तत्व, आद्यत्व, ब्रह्मत्व, ज्योतित्व, निर्गुणत्व, निर्विकारत्व, सत्तामात्रत्व, निर्विशेषत्व, निरीहत्वरूप नवविध हेतुओंसे भगवदवतारकी सिद्धि असम्भव परिलक्षित होनेपर भी जिस प्रकार अघटनघटनापटीयसी स्वात्मवैभव, आत्मयोगरूपा अचिन्त्यलीलाशक्ति मायाके लिये सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मको परस्पर विलक्षण जीव, जगत् और जगदीश्वररूपसे अवतरित करना सम्भव है, उसी प्रकार जगदीश्वरको युगानुरूप विविध लीलोपयुक्त मत्स्य, कूर्मादि अवतार-विग्रहोंसे सम्पन्न करना भी सम्भव है—

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम्॥
नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः॥

(श्रीमद्भा० ११।२२।४-५)

'वेदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमें जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है। मेरी माया स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है। 'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, मैं जो कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार विवाद इसलिये होता है कि मेरी शक्तियोंका पार पाना असम्भव है'—

सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥

(श्रीमद्भा० ३।५।२५)

'महाभाग! यह द्रष्टा और दृश्यका अनुसन्धान करनेवाली द्रष्टाकी शक्ति ही—कार्यकारणरूपा अनिर्वचनीया माया है। इसके द्वारा ही महेश्वरने इस विश्वका निर्माण किया है'—

स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुः॥

(श्रीमद्भा० १।२।३०)

असम्भवको सम्भव करनेवाली शक्ति माया है। **'सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते'** (श्रीमद्भा० ३।७।९)। वही है यह श्रीभगवान्‌की माया जो युक्तिविरुद्ध परिलक्षित होनेवाली घटनाको भी घटित कर दे—

निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्॥
अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्।
सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनोदृशम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन॥

(अध्यात्मोपनिषत् ६२-६३)

आदि श्रुतियोंके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध होता है कि ब्रह्म समस्त क्रियाओं, गुणों और विकारोंसे विरहित है—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।'** (तैत्तिरीय० ३।१) आदि श्रुतियोंके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध होता है कि इस जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, संहृति ब्रह्मसे ही होती है। उक्त दोनों प्रकारकी श्रुतियोंमें वस्तुतः विगान नहीं है। स्वरूपलक्षणलक्षित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकार ही है, वही स्वशक्तिभूता त्रिगुणमयी अनिर्वचनीया मायाके योगसे तटस्थलक्षणलक्षित ईश्वररूपसे उत्पत्त्यादि कृत्योंका निर्वाहक होता है। अभिप्राय यह है कि उसीमें त्रिगुणमयी प्रकृतिकृत व्यवहार आरोपित होते हैं। दाहिकाशक्तिसे दाहकी निष्पत्ति होनेपर भी अग्निको दाहक माना जाना जिस प्रकार समीचीन है, उसी प्रकार मायाशक्तिसे सृष्ट्यादिकी निष्पत्ति सम्भव होनेपर भी ब्रह्मको स्रष्टादि माना जाना सर्वतोभावेन समीचीन है।

'सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म। ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्॥' (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् १) आदि श्रुतियाँ उक्त रहस्यका प्रतिपादन स्वयं ही करती हैं—

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।१९)

स्वयं वेदोंने परमात्माको सकल विरुद्धधर्माश्रयरूपसे निरूपित किया है। '**अजायमानो बहुधा वि जायते**' (यजु० ३१।१९) यहाँ परमात्माको अजायमान और विशेषरूपसे जन्मयुक्त माना गया है। '**स एव मृत्युः सोऽमृतम्**' (अथर्व० शौ० सं० १३।४।३।२५)-में परमात्माको मृत्यु और अमृत दोनों ही कहा गया है। '**तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः**' (यजु० ४०।५)-में उसे चलनक्रियाशील और चलनक्रियारहित, दूर और समीप, भीतर और बाहर बताया गया है। '**नासदासीद्, नो सदासीत्**' (ऋ०शा०सं० १०।१२९।१)-में न सत् था, न असत् था—कहकर परमात्मशक्तिको भी परस्पर विरुद्धरूपसे निरूपित किया गया है। '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' (श्वेता० ३।२०)-में भगवत्तत्त्वको अणु-से-अणु और महान्-से-महान् कहा गया है। '**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**' (श्वेता० ३।१७, गीता १३।१४)-में उसे इन्द्रियसहित और इन्द्रियरहित कहा गया है। '**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता**' (श्वेता० ३।१९) की उक्तिसे परमात्माको निराकार और '**सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**' (श्वेता० ३।१६)-की उक्तिसे साकार कहा गया है। '**न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः**' (यजु० ३२।३)-की उक्तिसे श्रुतिने परमात्माको अनुपमेय कहा है तथा '**संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज**' (अथर्व० ३।१०।३)—'हे रात्रि! संवत्सर (प्रजापति, परमात्मा)-की प्रतिमा (मूर्ति) जिस तेरी हम उपासना करते हैं, वह तू प्रतिमा हमारी प्रजाको धन-पुष्टि आदिसे संयुक्त कर।'—की उक्तिसे परमात्माकी मूर्तिका प्रतिपादन किया गया है।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

(रामपूर्वतापिन्युपनिषत् १।७)

'ब्रह्म चिन्मय (चिन्मात्र), अद्वितीय, निष्कल और अशरीर है। उपासकोंकी कार्यसिद्धिके लिये उसके विविध अवतार-विग्रहकी श्रुतियोंने उद्भावना की है, जो कि भक्तोंद्वारा भाव्य (भावनायोग्य) है।'

—आदि वचनोंके अनुसार सगुणकी तात्त्विक निर्गुणरूपता और निर्गुणकी औपाधिक सगुणरूपताके कारण सगुण-निर्गुणमें ऐक्य सिद्ध होता है।

जैसे स्वतःशुद्ध स्फटिकमें हिङ्गुलके योगसे रक्तत्वकी और स्फटिकांशके प्रमोषसे पद्मरागत्वकी प्रतीति होती है, उसीमें चन्द्रिकाके योगसे इन्द्रनीलत्वकी स्फूर्ति होती है, वैसे ही स्वप्रकाश ब्रह्ममें मायायोगसे ईश्वरत्व (परमात्मत्व)-की प्राप्ति होती है। उसीमें चिदंश (ब्रह्मत्व)-के प्रमोषसे और मायाके दार्ढ्यसे भगवान् और लीलावतार श्रीराम-कृष्णादिकी स्फूर्ति होती है—

मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाऽच्युतः॥

(पाञ्चरात्र)

'जिस प्रकार नाना छविधारी वैदूर्य नामक मणि नील-पीतादिसे युक्त रूपभेद (विविधता)-को प्राप्त होती है, उसी प्रकार भक्तोंकी भावनाके योगसे भगवान् अच्युत रूपविशेषको प्राप्त होते हैं।'

अवतारविग्रह सर्वशक्तियों, विशेषणों और सर्वगुणोंसे सम्पन्न है। यद्यपि चरम कार्य पृथ्वीमें भी गन्धादि सर्वविशेषताओंका संनिवेश है तथापि वह भौतिकतारूप दूषणसे दूषित है। अविद्या, काम और कर्मोंसे असंस्पृष्ट अवतार-विग्रहमें सकल सुन्दरताओंका संनिवेश और विशेषताओंका उपनिवेश तथा भौतिकताका असंनिवेश होता है। निजभक्तोंपर अनुग्रह करनेकी भावनासे ही भगवान् अवतरित होते हैं—

बिभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशं
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः।

(श्रीमद्भा० ११।१।१०)

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितुं मनसाऽऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥
त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज

आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२; ३।९।११)

ध्यान रहे, गुलाबके बीज (अङ्कुरोत्पादिनी शक्तिविशिष्ट उपादान)-में पत्तियों और काँटोंको उत्पन्न करनेवाली शक्तियोंकी अपेक्षा जिस प्रकार दिव्य पराग, मकरन्दसे समन्वित पुष्पोंको समुत्पन्न करनेवाली शक्ति विलक्षण है, उसी प्रकार परमात्मामें प्रपञ्चोत्पादिनी और प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाली शक्तियोंकी अपेक्षा स्वयंको श्रीराम-कृष्ण-शिवादिरूपोंमें समुत्पन्न करनेवाली शक्ति विलक्षण है।

यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भगवद्विग्रह कारणोपाधिक (मायोपहित) चैतन्यकी उपाधि मायानिष्ठ विशुद्ध सत्त्व निमित्तिक होनेसे तत्त्वान्तर संज्ञक विजातीय परिणाम न होनेसे निर्विकार है। लीलासौख्यकी दृष्टिसे परिच्छिन्न परिलक्षित होनेपर भी आकाश, अहं और महत्की अपेक्षा भी विभु है—

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः॥

(प्रबोधसुधाकर २००)

(३) भगवत्प्रेमतत्त्वकी तात्त्विक मीमांसा— सर्वानुभव-सिद्ध यह तथ्य है कि आत्मा सर्वाधिक प्रीतिका विषय है। अन्योंमें आत्मापेक्षया किञ्चिन्न्यून प्रीति स्वभावसिद्ध है। **'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** (बृहदा० २।४।५, ४।५।६) इस अनुभवसिद्ध श्रुतिके बलपर आत्माकी सुखरूपता सिद्ध है, न कि अन्योंकी। **'सुखमस्यात्मनो रूपम्'** (श्रीमद्भा० ७।१३।२६)—'यह आत्मा साक्षात्सुखरूप ही है।'

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (छान्दोग्य० ७।२३।१)-के अनुसार भूमासंज्ञक परमात्माकी सुखरूपता सिद्ध है, न कि किसी अन्यकी। ऐसी स्थितिमें जीवनिष्ठ असन्मान्यतासुलभ परमात्माकी परोक्षता और आत्माकी परिच्छिन्नता और सद्वितीयताका अपलाप परमात्माकी परप्रेमास्पदता और अक्षय सुखकी उपलब्धिके लिये अनिवार्य है—

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥
सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५०, ५५—५७)

'राजन्! संसारके सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सर्वाधिक प्रेम करते हैं। पुत्रसे, धनसे या अन्य ममतास्पदसे जो प्रेम होता है, वह इसलिये कि वे वस्तुएँ अपने आत्माको प्रिय लगती हैं।'

'श्रीकृष्णको ही तुम सब आत्माओंका आत्मा समझो। जगत्कल्याणके लिये ही वे योगमायाका आश्रय लेकर देहधारीके समान जान पड़ते हैं।'

'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानते हैं, उनके लिये तो इस जगत्‌में जो कुछ भी चराचर पदार्थ हैं और प्रपञ्चातीत परमात्माके विविध अवतार हैं, वे सभी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त कुछ भी प्राकृत-अप्राकृत पदार्थ है ही नहीं।'

'सभी वस्तुओंका अन्तिमरूप अपने कारणमें स्थित होता है। उस कारणके भी परम कारण हैं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र। ऐसी स्थितिमें किस वस्तुका श्रीकृष्णसे पृथक् प्रतिपादन करें।'

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

'जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारिके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भवसागर बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान है। उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवास-स्थान—यह संसार नहीं रह जाता।'

जहाँ सभी रस और भाव समुद्रमें तरङ्गतुल्य उन्मज्जित और निमज्जित होते हैं, वह प्रेम नामसे प्रथित है—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः॥

(चैतन्यचन्द्रोदय ३।८)

आत्मीय भावसे आकर्षण प्रेमोत्पादक है। आत्मभावमें प्रतिष्ठा प्रेमीकी पूर्णता है। ममताका पर्यवसान अहंता है। आसक्तिका पर्यवसान अभिष्वङ्ग है। ममतास्पदमें अहंताकी घनता अभिष्वङ्ग है। आसक्ति और अभिष्वङ्गके विषय पुत्र, दार और गृहादि हैं। आत्मामें परम प्रीति अंशी-सरीखे प्रभुको आत्मीय सिद्ध करती है। अंशी-सरीखे प्रभुसे निज एकताकी अनुभूति प्रभुकी आत्मरूपता सिद्ध करती है। आत्मस्वरूप श्रीहरिसे अतिरक्तोंकी असत्ता प्रभुकी अद्वितीयता सिद्ध करती है। अतएव आत्मस्वरूप श्रीहरि सर्वोत्कृष्ट ही नहीं, अपितु एकमात्र प्रेमपात्र हैं।

लीलासौख्यकी अभिव्यक्तिके लिये प्रेमास्पद, प्रेमाश्रय और प्रेमको लेकर त्रिविधता है, परंतु तरङ्गायित त्रिपुटीका आश्रय स्वयं प्रेमतत्त्व तुरीय है। अद्वितीय प्रेमतत्त्वमें तुरीयत्व भी औपचारिक (अवास्तविक) ही है—

'तुरीयं त्रिषु सन्ततम्' (श्रीमद्भा० ११।२५।२०)
'मायासंख्या तुरीयम्' (शाङ्करभाष्य मा०का० मङ्गला०)

प्रेमास्पदके प्रकाशव्यूहरूप प्रेमास्पद, प्रेमी और प्रेममें त्रिरूपता उसी प्रकार प्रातीतिक है, जिस प्रकार योगिविरचित कायव्यूहोंमें विविधता प्रातीतिक है।

कृष्णव्रताः (कृष्णरताः) कृष्णमनुस्मरन्तो
रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्ण-
माज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे॥

'जिन्होंने श्रीकृष्णभजनका ही व्रत ले रखा है, जो श्रीकृष्णमें ही अनुरक्त हैं, जो श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण करते हुए ही रात्रिमें सोते हैं और उन्हींका स्मरण करते हुए सबेरे उठते हैं, वे श्रीकृष्णस्वरूप होकर उनमें इस तरह मिल जाते हैं, जैसे मन्त्र पढ़कर हवन किया हुआ घृत अग्निमें मिल जाता है'—

कृष्णभाव (भक्ति)-रसभाविता मतिः
क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमेकलं
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

(पद्यावली १४)

'हे सज्जनो! श्रीकृष्णभक्तिरसभावित (सुवासित) मति यदि किसी स्थलपर मिल जाय तो तुरंत खरीद लो। उसका मूल्य केवल लालसा है। श्रीकृष्णसेवासुख-लालसाके बिना श्रीकृष्णभक्तिरसभावित मति करोड़ों जन्मोंके सुकृतोंसे भी नहीं मिल सकती।'

प्रेम हू सब साधन कौ सार

प्रेम हू सब साधन कौ सार।
भगवत् प्राप्ति प्रेम साधन तें, होंय प्रगट प्रभु हार॥ १॥
ज्यों श्रम रहित वासना अविरल, बढ़त राग आधार।
त्यों अनुराग अधार प्रेम कौ, प्रभु प्रति होय अपार॥ २॥
तहँ न राग द्वेषादि द्वन्द्व जग, मुक्त सकल दुःख भार।
परमानंद नित्य माधुर्य रस, रसिकन कौ आधार॥ ३॥
प्रेम रूप-हरि, प्रेम स्वयं हरि, वह रस रूप अगार।
साधन, सिद्धि, साध्य, साधक, सब प्रभु ही प्रेमाकार॥ ४॥
मति, गति, भगति, कर्म, जप, तप, मख, सम, दम, नियम अपार।
'कृष्णगुपाल' प्रेम बिनु सूने, सब कहँ प्रेम अधार॥ ५॥

—पं० श्रीकृष्णगोपालाचार्यजी

भगवत्प्रेमके प्रचार-प्रसारसे प्राणियोंका परम कल्याण

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)

यह भारतभूमि ऋषि-मुनियों एवं साधु-महात्माओंकी जन्मभूमि एवं निवासस्थली रही है। अतः सृष्टि, स्थिति, संहार एवं विश्वका संचालन और पालन—इन पाँच कृत्योंको सम्पन्न करनेवाले परमात्माके अवतारोंकी भी क्रीड़ास्थली रही है। उन्हीं भगवान्‌के श्वास-निःश्वासभूत चारों वेद हैं और उन्हीं वेदोंके व्याख्यास्वरूप इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ हैं। इस घोर कलियुगमें नित्य सुस्थिर रहनेवाले सनातन धर्मका ह्रास होने लगता है। लोगोंकी धर्ममें रुचि कुछ कम हो जाती है। ऐसी स्थितिमें संत-महात्माओंके प्रयासके द्वारा यह सनातन धर्म भारतमें सुरक्षित रहता है।

इसी दिशामें 'कल्याण' पत्रके संचालकोंका 'भगवत्प्रेम-अङ्क' प्रकाशित करनेका प्रयत्न हो रहा है। इस पत्रके द्वारा प्रतिवर्ष कोई विशेषाङ्क प्रकाशित कर धर्म और सदाचारका विश्वमें प्रचार-प्रसार किया जाता है। 'भगवत्प्रेम-अङ्क' से देशवासियों और विश्वके सज्जनोंमें भी परस्पर भगवत्प्रेम और सद्व्यवहारका प्रचार-प्रसार होगा। इस प्रयत्नसे सम्पूर्ण विश्वके सभी प्राणियोंका परम कल्याण होगा और विशेषरूपसे मानव-समाजका तो आत्यन्तिक श्रेय होगा।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए सभी लोगोंको अपने-अपने धर्ममें निरत रहनेको कहा है—इससे सभी देश, सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें मनुष्योंका अपने-अपने कर्तव्यपालनसे सम्पूर्ण विश्व तथा पृथ्वीपर निवास करनेवाले प्राणियोंका परम कल्याण होता है और सिद्धि प्राप्त होती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४५-४६)

भगवान्‌की कृपासे 'कल्याण' पत्रके इस विशेषाङ्कका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो—यही हमारी शुभ कामना है। आशा है सभी लोग यथाशक्ति धर्म और सद्भावनाके प्रचार-प्रसारमें अपना हाथ बटायेंगे।

भगवान्‌का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं

मैं जीवनकी किसी भी परिस्थितिसे भयभीत या परास्त नहीं होता; क्योंकि मेरे हृदयमें स्थित भगवान् मेरी सफलताके हेतु हैं। भगवान्‌के लिये कोई भी स्थिति ऐसी पेचीदा अथवा कठिन नहीं है, जिसको वे सुलझा न सकें अथवा जिसका सर्वानुकूल समाधान वे न कर सकें। अतएव अपने मनको क्षुब्ध करनेवाली प्रत्येक पेचीदा या कठिन परिस्थितिको सर्वसमाधानविधायक भगवान्‌को सौंपकर मैं निश्चिन्त होता हूँ।

जब मैं अस्वस्थ होता हूँ, तब न तो मैं अपनी अस्वस्थताके विषयमें कुछ सोचता हूँ और न दूसरोंसे उसके सम्बन्धमें कुछ कहता-सुनता हूँ; प्रत्युत अपने हृदयमें इस विश्वासको दृढ़ करता हूँ कि सर्वरोगशामक भगवान् मेरे अन्तरमें अवस्थित हैं। जब कोई भय मुझे भयभीत करता है तो मैं अपने हृदयमें बार-बार इस विश्वासको दोहराता हूँ कि भगवान् संरक्षक एवं साहसके रूपमें नित्य मेरे साथ हैं। जब मन किसी भावी काल्पनिक अथवा वास्तविक विपत्तिकी आशङ्कासे भयभीत एवं अस्थिर होने लगता है, तब मैं इस विश्वासको परिपुष्ट करता हूँ कि जो भगवान् इस समय मेरे साथ हैं, वे ही भविष्यमें भी मेरे साथ रहेंगे।

सामने उपस्थित कठिनाइयोंको—चाहे वे कितनी ही भीषण एवं पेचीदा क्यों न हों—मैं विश्वासपूर्वक भगवान्‌के प्रेमपूर्ण और सौहार्दभरे संरक्षणमें सौंपता जाता हूँ और एक क्षणके लिये भी इस बातमें संदेह नहीं करता कि भगवान्‌का प्यार सब परिस्थितियोंका सुन्दर-से-सुन्दर रूपमें समाधान कर रहा है।

मैं भगवान्‌के प्रेम एवं शक्तिके बलपर किसी भी परिस्थितिका स्थिरतासे सामना करनेमें समर्थ हूँ। भगवान्‌का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ हैं।

सत्यप्रेम, गूढ़प्रेम, अगमप्रेम और तत्त्वप्रेमकी तात्त्विक मीमांसा

(अनन्तश्रीविभूपित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामभद्रके प्रति महाराज दशरथके प्रेमको '**सत्यप्रेम**' कहा है, जनकजी और भरतजीके प्रेमको '**गूढ़प्रेम**' माना है, भरत तथा श्रीरामके पारस्परिक प्रेमको '**अगमप्रेम**' स्वीकार किया है तथा भगवती सीताके प्रेमको '**तत्त्वप्रेम**' कहकर निरूपित किया है।

(१) **सत्यप्रेम**—कोपभवनमें महारानी कैकेयीको मनाते हुए महाराज दशरथने दृढ़तापूर्वक यह भावना व्यक्त की—'मछली चाहे बिना पानीके जीती रहे और मणिधर सर्प भी चाहे बिना मणिके दीन-दु:खी होकर जीता रहे; परंतु मैं स्वभाववश ही कहता हूँ, मनमें छल रखकर नहीं कि मेरा जीवन रामके बिना नहीं है'—

जिऐ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिकु जिऐ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥

(रा०च०मा० २।३३।१-२)

महाराजने उक्त स्वभावको सत्य सिद्ध करते हुए निज प्रमाद और प्रबल प्रारब्धवश प्रिय पुत्र श्रीरामके वियोगका कुयोग सधनेपर प्रिय शरीरको श्रीरामविरहमें तृणवत् त्याग दिया। अतएव उनका प्रेम '**सत्यप्रेम**' सिद्ध होता है—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

(रा०च०मा० १।१६)

क्यों न हो! मनुष्यलोकमें कपटरहित प्रेम होता नहीं। कदाचित् किसीमें हो भी जाय तो विरहयोग सधता नहीं और विरहका योग भी सध जाय तो जीवन सम्भव होता नहीं—

कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहः सति विरहे को जीवति॥

(वैष्णवतोषिणी १०।३१।१)

(२) **गूढ़स्नेह**—दम्भी योगमें भोगको दुराकर रखते हैं, जबकि विदेहराज जनकजीने श्रीराम-प्रेमरूप योगको भोगमें दुराकर रखा था; परंतु वह प्रेम श्रीरामभद्रके दर्शनसे भोगको भगाकर प्रकट हो गया। अतएव श्रीरामभद्रके प्रति विदेहराजका वह प्रेम '**गूढ़स्नेह**' (गूढ़प्रेम) कहा गया है—

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

(रा०च०मा० १।१७।१-२)

ह्लादिनीसारसर्वस्वभूता सीताजीके हृदयमें श्रीरामभद्रके प्रति तथा संवित्सारसर्वस्व श्रीरामभद्रके हृदयमें देवी सीताके प्रति संनिहित प्रेमके मूर्तरूप श्रीभरतजी हैं। उन्हें श्रीभरद्वाज आदि महर्षियोंने साकार रामस्नेह, रामप्रेमपीयूष और रामभक्तिरस कहा है—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
तुम्ह कहँ भरतु कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥

(रा०च०मा० २।२०८।८, दो० २०८; २०९।५)

श्रीभरतजीका पवित्र आचरण भक्तजनोंको अनुरञ्जित करनेवाला, भवभारका भञ्जन करनेवाला तथा रामस्नेहरूपी सुधाकर (चन्द्रमा)-का सारसर्वस्व है—

जन रंजन भंजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥

(रा०च०मा० २।३२६।८)

यदि श्रीसीतारामजीके प्रेमपीयूषसे परिपूर्ण भरतजीका जन्म भूतलपर न हुआ होता तो मुनियोंके मनके लिये भी अगम यम-नियम-शम-दमादि कठिन व्रतोंका आचरण कौन करता? दु:ख-दाह-दरिद्रता-दम्भादि दोषोंको सुयशके बहाने कौन हरण करता? कलिमल-ग्रसित मनुष्योंको हठपूर्वक श्रीरामभक्त कौन बनाता—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

(रा०च०मा० २।३२६ छंद)

कौसल्याजीके मनमें भरतजीके प्रति अधिक चिन्ता थी। उन्होंने मिथिलेश्वरीको चित्रकूटमें भरतजीके शील-स्वभावको समझाते हुए कहा कि श्रीरामके प्रति भरतके

हृदयमें 'गूढ़स्नेह' है। भले ही उन्हें माता-पिताने राज्य दिया है, उनके राज्यश्री प्राप्त करनेसे श्रीरामभद्रको परम प्रसन्नता है, मन्त्रिमण्डलका समर्थन प्राप्त है, प्रजा भी अनुकूल है, हमारा भी पूर्ण समर्थन उन्हें सुलभ है, परंतु वे रामविमुख होकर राज्यश्री लाभ कर सुखपूर्वक अयोध्यामें निवास करते हुए राज्य करेंगे, ऐसा मुझे नहीं लगता। वे राज्याधिकार सुलभ होनेपर भी वनमें निवास करेंगे या कहीं अन्यत्र वनवासियों-सरीखे जीवन-यापन करते हुए अवधि व्यतीत करेंगे, ऐसा प्रतीत होता है—

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

(रा०च०मा० २।२८४।४)

हुआ भी ऐसा ही। श्रीभरतजीने नन्दिग्राममें निवास कर नियम, व्रत और भक्तिभावपूर्वक अवधि व्यतीत होनेकी प्रतीक्षा करते हुए राघवेन्द्र श्रीरामभद्रके प्रति अपने गूढ़प्रेमको प्रकट कर दिया।

इसी प्रकार रामभक्त भरतजीके रामस्नेहसुधारससिक्त वचनोंको सुनकर समस्त अवधवासी अति प्रसन्न हुए थे—

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधाँ जनु पागे॥

(रा०च०मा० २।१८४।१)

रामवियोगविषमविषदग्ध रामभक्तोंको भरतजीके रामस्नेहसुधारसस्निग्ध वचन उसी प्रकार दाहमुक्त कर स्फूर्तिप्रद सिद्ध होते हैं, जिस प्रकार सबीज मन्त्र सुनकर मृतप्राय मूर्च्छित व्यक्ति जग जाते हैं और नवीन स्फूर्ति-लाभ करते हैं—

लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥

(रा०च०मा० २।१८४।२)

कौसल्या-सुमित्रादि माताओं, वसिष्ठादि गुरुजनों, मन्त्रिगण और प्रबुद्ध नागरिकोंकी दृष्टिमें भरतजी श्रीरामप्रेमकी साक्षात् मूर्ति ही मान्य हैं—

मातु सचिव गुर पुर नर नारी। सकल सनेहँ बिकल भए भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥

(रा०च०मा० २।१८४।३-४)

श्रीभरतजी उनकी दृष्टिमें श्रीरामजीको प्राणोंके समान प्यारे हैं—

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥

ऐसे भरतजी सबके प्राणप्रिय हो गये। सबने उनके जीवनको धन्य समझा और उनके शील तथा स्नेहकी भूरि भूरि सराहना की—

धन्य भरत जीवनु जग माहीं। सीलु सनेहु सराहत जाहीं॥

(रा०च०मा० २।१८०।१)

चित्रकूट प्रस्थान करनेके पूर्व भरतजीने अयोध्याको श्रीरामजीकी सम्पत्ति समझकर उसकी सुरक्षाका पूर्ण प्रबन्ध किया। प्रेमावेशमें प्राप्त दायित्वसे मुकरना या उसके निर्वाहमें प्रमाद बरतना भरतजी-जैसे आदर्श भक्तोंके लिये असम्भव है। श्रीभरतजीकी दृष्टिमें स्वामीके हितको करनेवाला ही सेवक है। स्वामीके हितको साधते समय भले ही उन्हें कोई स्वार्थी कहे, अनेक दोषारोपण भी क्यों न करे तो भी उसकी चिन्ता श्रीभरतजी-जैसे प्रबुद्ध भक्तके लिये उपयुक्त नहीं—

करइ स्वामि हित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥

(रा०च०मा० २।१८६।५)

श्रीभरतजीने गुरु वसिष्ठसे आशीर्वाद और परिचय-प्राप्त रामभक्त निषादराजको हृदयसे लगाकर निज विनय और प्रेमका परिचय देकर सबका हृदय जीत लिया। तीर्थराज प्रयागसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष न माँगकर जन्म-जन्ममें श्रीरामभद्रके चरणोंमें वरदानस्वरूप रति चाहकर, श्रीरामप्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ सिद्ध किया—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(रा०च०मा० २।२०४)

श्रीरामजी कदाचित् सर्वज्ञताको तिलाञ्जलि देकर प्राकृत पुरुषोंके तुल्य भरतजीको कुटिल समझने लग जायँ, लोग गुरुद्रोही और साहिबद्रोही कहने लग जायँ, इसकी चिन्ता छोड़कर भरतजी त्रिवेणीसे यही वर माँगते हैं कि श्रीसीतारामचरणोंमें मेरा प्रेम आपके अनुग्रहसे प्रतिदिन बढ़ता ही रहे—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

(रा०च०मा० २।२०५।१-२)

क्यों न हो! मेघ चाहे जन्मभर चातककी सुध भुला दे और जल माँगनेपर वह चाहे वज्र तथा पत्थर (ओले)

ही गिराये, पर चातककी रटन घटनेसे तो उसकी टेकरूपी विभूति ही नष्ट हो जायगी, चातककी भलाई तो प्रेम बढ़ानेमें ही सर्वतोभावेन संनिहित है।

जैसे तपानेसे सोनेपर चमक आ जाती है, वैसे ही प्रियतमके चरणोंमें प्रेमका नियम निभानेपर प्रेमी भक्तका गौरव बढ़ जाता है—

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥

(रा०च०मा० २।२०५।३—५)

वस्तुतः मधुर अतृप्तिसे युक्त प्रेमपक्षमें नित्य वृद्धि सम्भव होनेपर भी पूर्णिमाकी तिथिका प्रवेश नहीं है। प्रेमीका प्रेम तभी परिपुष्ट माना जाता है, जब प्रेष्ठसे भी निज प्रेमको दुराकर रखनेकी भावना उसके हृदयमें अवतरित होती है। प्रेमगोपनमें दक्ष भक्त ही तत्सुखसुखित्वकी भावनामें सर्वोत्कृष्ट गोपीभावसे भावित माना जाता है। मानसपटलपर प्रतिष्ठित प्रियतमका मानस-संयोग ही जब प्रेमीके लिये प्रियतमका संश्लेष सिद्ध होता है तथा मानस-भवनमें भावित प्रेष्ठका विश्लेष ही जब प्रेमीके लिये वियोग बन जाता है, तब बाह्य संयोग-वियोग-निरपेक्ष प्रेम परिपुष्ट माना जाता है।

शुचिता और सत्यसे सम्पन्न, स्नेह तथा शील-युक्त भरतजीको प्राप्त करके लोक और वेद—दोनों ही प्रतिष्ठित हुए।

विधिकी सीमामें लोक-वेदसम्मत राज्यश्रीका लाभ करके भी भरतजी उसके भोक्ता और उपभोक्ता नहीं बने। उन्होंने हृदयदाहको दूर करनेके लिये श्रीरामजीसे मिलनेका निर्णय लिया, जिसे लोक और वेदके मर्मज्ञोंने भी अतिश्रेष्ठ समझा। लोक-वेद-मर्मज्ञ देवगुरु बृहस्पतिजीके शब्दोंमें—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

(रा०च०मा० २।२१८।७)

सारा जगत् श्रीरामजीको जपता है, परंतु श्रीरामजी जिन्हें जपते हैं, उन भरतजीके समान श्रीरामजीका प्रेमी भला, अन्य कौन होगा?

श्रीरामभद्रके चरणकमलोंमें अरति अर्थात् श्रीरामप्रेमकी अनभिव्यक्ति भवरोगका हेतु है। वल्कलवसनधारी बटोही श्रीरामका दर्शन जिन स्थावर-जङ्गम प्राणियोंने किया और सौभाग्यवश जो स्वयंको श्रीरामजीकी दृष्टिका विषय बना पाये, वे सभी परमपदके योग्य हुए। परंतु जब विरही भरतका दर्शन उन्हें सुलभ हुआ तथा जब वे भरतजीकी दृष्टिका विषय बने, तब उनका *भवरोग ही मिट गया,* अर्थात् उनमें श्रीरामप्रेमका द्रुतगतिसे सञ्चार हो गया और वे परम पदको प्राप्त हो गये—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥

(रा०च०मा० २।२१७।१-२)

भरतजीका यह लोकोत्तर महत्त्व भी श्रीरामजीके अनुग्रहका ही फल समझना चाहिये। एक बार श्रीराम-नाम कहनेपर भी जब व्यक्ति तरन-तारन (स्वयं तरनेवाला और अन्योंको तारनेवाला) हो जाता है; तब श्रीरामजी स्वयं जिसका स्मरण करते हों अर्थात् नामसहित ध्यान करते हों, अभिप्राय यह है कि जो भगवान् श्रीरामके भी प्रीतिपात्र हों, उनके दर्शनका ऐसा अनुपम महत्त्व क्यों न हो!

मुग्धा शक्तिके वशीभूत भरतजी स्वयंको श्रीरामस्नेहविहीन समझकर मार्गके तीर्थोंमें स्नान करते, आश्रम और मन्दिरोंका दर्शन करते तथा मुनियोंको प्रणाम करते। मन-ही-मन उन सभीसे भगवती सीतासहित श्रीरामभद्रके पादपद्मोंमें प्रेम-प्राप्तिका वर माँगते।

मार्गमें भरतलालजी विचार करते हैं कि संसारमें चातक अपनी नेम (नीति)-रूपी विभूतिको नित्य नूतन बनाये रखनेमें निपुणताके कारण यशोलाभ करते हैं तथा मीन अपनी प्रेमरूपी विभूतिको नित्य नूतन बनाये रखनेमें प्रवीण होनेके कारण संसारमें सदा कीर्तिलाभ करते हैं। अतः लोक और वेदमें अनन्य रसिक ही यश प्राप्त कर पाते हैं—

जग जस भाजन चातक मीना। नेम पेम निज निपुन नवीना॥

(रा०च०मा० २।२३४।३)

जब भरतजी कैकेयीकी करतूतके कारण स्वयंको कलंकित अनुभव करते, तब श्रीरामधामकी ओर उनके कदम उठाये नहीं उठते; परंतु जब श्रीरामजीके अद्भुत

अन्तर्यामित्व और शील-स्वभावका अनुशीलन करते; तब श्रीरामनिवासकी ओर चरण द्रुतगतिसे बढ़ने लगते। जलमें रहनेवाले अलिगण जिस प्रकार प्रतिपल प्रवाहमें पीछे और आगे होते रहते हैं, वैसे ही भरतजी कभी पीछे तो कभी आगे परिलक्षित होते हैं।

श्रीरामजीके चरणचिह्नोंको धरतीमें अङ्कित देखकर भरतजी स्वयंको धन्य-धन्य मानते। संलग्न धूलिको सिरसे लगाते तथा हृदय और नेत्रोंसे स्पर्श कराते। चरणचिह्नित धूलिका स्पर्श कर वे श्रीराममिलनजनित सुख पाते। उनकी अद्भुत गति, मति और स्थिति लखकर खग, मृग तथा स्थावर प्राणी भी प्रेमनिमग्न हो जाते।

पथप्रदर्शक निषादराज भी स्नेहवश मार्ग भूल जाते। तब सुरवृन्द सुगम मार्ग बताकर पुष्प-वृष्टि करने लगते। भरतजीकी यह अद्भुत दशा देखकर साधक और सिद्धवृन्द भी अनुपम अनुरागसे सम्पन्न हो जाते। वे भरतलालके अनुपम स्नेहकी सराहना करते फूले न समाते तथा मुक्तस्वरसे कहने लगते—'यदि भूतलपर भारतवर्षमें श्रीभरतजीका आविर्भाव न हुआ होता तो श्रीराम-प्रेमकी वक्रगतिके प्रभावसे अचर प्राणियोंको सचर और सचर प्राणियोंको अचर कौन करता'—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

(रा०च०मा० २।२३८।८)

क्यों न हो? रसिक महानुभावोंने प्रेमकी गतिको स्वभावसे ही कुटिल माना है—'**अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्।**' (उज्ज्वलनीलमणि, विप्र० ९३)

भरतजीको हेतु बनाकर रामवनगमनका रहस्य इस प्रकार बताया गया है—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

(रा०च०मा० २।२३८)

भरतजी प्रेमामृतको सँजोनेवाले अगाध समुद्र हैं। उन्हींको हेतु बनाकर उन्हींके प्राणधनको उन्हींसे वियुक्त किये जानेके कारण प्राप्त विरह मन्दराचल है। प्रेमसिन्धुका मन्थन कृपासिन्धु स्वयं श्रीरघुवीरने करके स्वर्गीय अमृतसे भी विरक्त देवर्षिवृन्द और साधुवृन्दको प्रेमामृत प्रदान कर धन्य-धन्य किया है।

ध्यान रहे, घटनाका उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि घटनाके मूलमें संनिहित हेतुका महत्त्व होता है। भरतजीको श्रीरामभद्रका वियोग तो तब भी सुलभ था, जब वे शत्रुघ्नसहित ननिहालमें निवास कर रहे थे; परंतु उस समयके वियोगके पीछे प्रेमसमुद्र भरतजीके हृदयको उद्वेलित कर प्रेमामृतको प्रकट कर देनेवाला सुपुष्टहेतु संनिहित नहीं था। जब श्रीरामजीने कैकेयीको प्रेरित कर भरतजीको ही हेतु बनाकर स्वयंको वनवासी बना लिया, तब भरतजीको प्राप्त श्रीरामवियोगजन्य विरह भरतजीके हृदयको उद्वेलित कर प्रेमामृत प्रकट करनेमें समर्थ सिद्ध हुआ।

ज्ञानसभासदृश मुनिमण्डलीके मध्य भक्तिस्वरूपा सीताजीसहित सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीरघुचन्द्रका चिरप्रतीक्षित दर्शन-लाभ कर सानुज दण्डवत् प्रणाम करते हुए भरतजीने कहा—'हे नाथ! रक्षा कीजिये, हे नाथ! रक्षा कीजिये।'

लक्ष्मणजीने वचन पहचानकर श्रीरामजीको कहा—'हे रघुनाथजी! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।'

यह सुनते ही श्रीरामभद्र प्रेमविह्वल हो गये। कहीं उत्तरीय वस्त्र गिरा, कहीं तरकश, कहीं धनुष और कहीं बाण। श्रीरामजीने बलपूर्वक उठाकर भरतजीको हृदयसे लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजीको मिलते देखकर सभी अपान (अहमर्थ) भूल गये—

भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

(रा०च०मा० २।२४०)

मिलन-प्रीतिका वर्णन कैसे किया जाय। वह तो कविकुलके लिये कर्म, मन और वाणीसे अगम है। मन, बुद्धि, चित्त और अहमिति बिसराकर परस्पर मिलकर भरत तथा श्रीराम परम प्रेमसे पूर्ण होकर स्थित थे।

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

(रा०च०मा० २।२४१।२)

अविद्यामें अन्तःकरणका विलय सुषुप्ति है। अन्तःकरणका विस्मरण समाधि है। अन्तःकरणका मिथ्यात्व निश्चयरूप बाध जीवन्मुक्ति है।

प्राकृतोंका मिलन देहभूमिकापर, इन्द्रियात्मवादियोंका मिलन इन्द्रियभूमिकापर, प्राणात्मवादियोंका मिलन

प्राणभूमिकापर होता है। मनोमयात्मवादियोंका मिलन मनोभूमिपर, विज्ञानरूप अहमर्थवादियों (विज्ञानात्मवादियों)-का मिलन विज्ञानभूमिपर होता है। देहात्मवादियों और इन्द्रियात्मवादियोंके मिलनका अन्त स्वप्नमें ही हो जाता है। मनोमयात्म और विज्ञानात्मवादियोंके मिलनका अन्त सुषुप्तिमें हो जाता है। जैसे घटाकाश घटसे अतीत होकर महाकाशसे मिले तो महाकाशरूप होकर ही अवशिष्ट रहता है, वैसे ही भरतजी अन्त:करणचतुष्टयरूप जीवत्वतादात्म्यसे ऊपर उठकर श्रीरामजीसे मिलकर श्रीरामरूप-परिपूर्ण प्रेमस्वरूप होकर स्थित हो गये।

अगमस्नेह—भरत और श्रीरामका परस्पर स्नेह अगम है। **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)-के अनुसार भरतजीका श्रीरामभद्रके प्रति विशुद्ध सत्त्वात्मक अप्राकृत दिव्य स्वार्थरहित जो अगम प्रेम है, श्रीरामभद्रके हृदयमें वह प्रतिफलित होकर भरतजीके प्रति अगमस्नेहका रूप धारण करता है। रजोगुणके नियामक ब्रह्मा, तमोगुणके रुद्र और सत्त्वगुणके नियामक विष्णुके मनकी गति भी उसमें नहीं है। विशुद्ध सत्त्वात्मक अतएव निर्गुण मूकास्वादतुल्य अनिर्वचनीय उस प्रेमको श्रीरामजी जानते हुए भी निरूपित नहीं कर सकते—

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

(रा०च०मा० २।२४१।५)

मधुर अतृप्ति प्रेमकी अद्भुत रीति है। *'दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन'* (रा०च०मा० २।२६०) प्रेमके प्यासे मेरे नेत्र आजतक प्रभुदर्शनसे तृप्त नहीं हुए। भरतजीकी श्रीरामभद्रके प्रति यह उक्ति इसी तथ्यको सिद्ध करती है।

श्रीभरतजीके निर्मल प्रेमको परखकर श्रीरामभद्रने अपने 'राम' नामकी महिमाको भरतजीके नाममें संनिहित करते हुए अर्थात् 'शक्तिपात' करते हुए कहा—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥

(रा०च०मा० २।२६३)

हे भरत! तुम्हारा नाम स्मरण करते ही सब पाप मिट जायँगे। छल, कपट, दम्भादि सब प्रकारके प्रपञ्च (मायाजाल) विनष्ट हो जायँगे। समस्त अमङ्गलोंके समूह विनष्ट हो जायँगे तथा धन-वैभव-यशादिकी सुलभतासे लोक सुखद होगा और परलोकमें सुख मिलेगा।

तत्त्वप्रेम—प्रीतिमर्मज्ञ श्रीरामजीके शब्दोंमें श्रीरामभद्र और सीतामें तत्त्वप्रेम है। दोनोंके प्रेमका तत्त्व श्रीरामभद्रका मन ही जानता है। वह मन सदा सीताजीके समीप ही रहता है अर्थात् सीताजीमें ही संनिहित रहता है। बस, प्रीतिका रस-रहस्य इतनेमें ही समझ लेना चाहिये—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

वस्तुस्थिति यह है कि श्यामतेज श्रीराम और गौरतेज सीताजी दोनों ही अचिन्त्यलीलाशक्तिके योगसे सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्माकी उज्ज्वल अभिव्यक्ति हैं। अतएव दोनोंमें तात्त्विक ऐक्य न होकर दोनों एक ही तत्त्व हैं—

एकं ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

(वेदपरिशिष्ट)

तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

(सम्मोहनतन्त्र, गोपालसहस्रनाम १९)

लक्षणसाम्यसे वस्तुसाम्यके कारण श्रीराधामाधवतुल्य श्रीसीताराम एक ही तत्त्व हैं। श्रीराम अर्थ हैं तो सीता वाणी, सीता अर्थ हैं तो श्रीराम वाणी। दोनों ही अर्थ हैं और दोनों ही वाणी। दोनों ही पङ्कज और दोनों ही भ्रमर हैं। दोनों ही चन्द्रमा और दोनों ही चकोर हैं। प्राधान्यव्यपदेशन्यायसे श्रीराम नामी और सीता नाम हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। श्रीराम उसकी सदानन्दप्रधान अभिव्यक्ति नामी हैं। सीता उसकी चिदानन्दप्रधान अभिव्यक्ति नाम हैं। **'सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता। प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः।'** (सीतोपनिषद्) आदि श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिरूपा सीता शब्दब्रह्मस्वरूपा हैं। यह जगत् ब्रह्माधिष्ठिता शब्दब्रह्मात्मिका प्रकृतिरूपा भगवती सीताका विलास है। भगवान् श्रीरामकी आत्मस्वरूपा अहंता, ममतास्पदा सीतामें भगवान् श्रीरामका मन सदा संनिविष्ट रहता है, यही प्रीतिरसरहस्य है।

एकतत्त्वरूप श्रीराम-सीतामें परस्पर तुल्य प्रेमका होना स्वाभाविक है। परंतु **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११) जो मेरा जिस प्रकार सेवन करते हैं, मैं भी उनका उसी प्रकार सेवन करता हूँ—इस न्यायसे सीताजीके हृदयमें प्रतिष्ठित श्रीरामप्रेमके कारण श्रीरामभद्रके हृदयमें सीताजीके प्रति पूर्वप्रतिष्ठित तुल्य प्रेमसे सम्वलित सीताकर्तृक

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें प्रेमका दिव्य स्वरूप

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज)

श्रीसुदर्शनचक्रावतार परमाद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं तत्परवर्ती पूर्वाचार्यो तथा सम्प्रदायके रसिक मूर्द्धन्य महामनीषी संत कवीश्वरों, रसिक महात्माओंने प्रेम (अनुराग—परा भक्ति)-का जो दिव्यतम स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह अतीव अनुपम, श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि निखिल-शास्त्रसम्मत तथा उत्कृष्टतम रसानुरक्तिका द्योतक है। श्रीनिम्बार्क भगवान्ने अपने गुरुवर्य देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीकी सरणिको विशेषरूपसे प्रस्फुटित किया है। आचार्य 'देवर्षि नारदजीने अपने 'भक्तिसूत्र' में —**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥ प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी॥** (सूत्र-५१—५५, ८१)—इन सूत्रोंद्वारा परम प्रेमा-भक्तिका जैसा स्वरूप-निरूपण किया, उसी प्रकार आपने भी अपने '**वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी**' के नवम श्लोकसे प्रेमलक्षणा-भक्तिका अद्भुत अनिर्वचनीय स्वरूप प्रतिपादित किया है—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा॥

(वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी, श्लोक ९)

परम कृपाधाम सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य कृपा दैन्यादिलक्षणपरिपूर्ण प्रपन्न भक्तोंपर होती है और जिस अनिर्वचनीय कृपासे उन कृपार्णव श्रीप्रभुके युगलचरणकमलोंमें रसमयी भक्ति प्रकट होती है, वही फलरूपा एवं प्रेमलक्षणा उत्तमा भक्ति वर्णित है तथा यह प्रेमलक्षणा परा भक्ति अनन्य रसिक-भगवज्जनोंके निर्मल सरस अन्तःकरणमें स्फुरित होती है। नानाविधजन्मार्जित पुण्य-कर्मोंके साधनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली साधनरूपा अपरा भक्ति भी निर्दिष्ट हुई है।

अतः जो प्रेमलक्षणा परा भक्ति रसिक साधकके अन्तर्मनमें आविर्भूत होती है, वही फलरूपा उत्तमा-भक्ति है। इसीका निर्वचन आद्याचार्यप्रवर निम्बार्क भगवान्ने उक्त '**दशश्लोकी**' में किया है। आपने अपने '**श्रीप्रातःस्तवराज**' एवं '**श्रीराधाष्टकस्तोत्र**' में भी वृन्दावननित्यनिकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधाकृष्णके परस्पर प्रेम-प्राखर्यका जो परम ललित सरस वर्णन किया है, वस्तुतः वह अतीव अनुपम है—

प्रातर्नमामि वृषभानुसुतापदाब्जं
नेत्रालिभिः परिणुतं व्रजसुन्दरीणाम्।
प्रेमातुरेण हरिणा सुविशारदेन
श्रीमद्व्रजेशतनयेन सदाऽभिवन्द्यम्॥

(प्रातःस्तवराज, श्लोक ८)

भृङ्गरूपी व्रजाङ्गनाओंके नयनोंद्वारा जिनका स्तवन होता है, ऐसे चतुरशिरोमणि प्रेमसुधारसपूरित व्रजेश्वर श्रीहरि स्वयं जिन प्रेमाह्लादिनी सर्वेश्वरी श्रीराधा प्रियाकी अभिवन्दना करते हैं, एवंविध वृषभानुसुता श्रीराधाके उन दिव्य चरणारविन्दोंको मैं प्रभातमें अभिनमन करता हूँ।

इसी प्रकार श्रीराधाष्टकस्तोत्रमें कहा गया है—

दुराराध्यमाराध्य कृष्णं वशे तं महाप्रेमपूरेण राधाऽभिधाऽभूः।
स्वयं नामकीर्त्या हरौ प्रेम यच्छ प्रपन्नाय मे कृष्णरूपे समक्षम्॥
मुकुन्दस्त्वया प्रेमदोरेण बद्धः पतङ्गो यथा त्वामनुभ्राम्यमाणः।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन् कृपा वर्तते कारयातो मयीष्टिम्॥

(श्लोक ३-४)

वृन्दावनाधीश्वरी श्रीराधे! उन परम दुराराध्य सर्वेश्वर रसब्रह्म श्रीकृष्णको अपने महाप्रेम-रससुधासे स्वाधीन करनेसे आप राधारूपसे अतिशय सुशोभित हैं। इसी राधा नामके मङ्गल-संकीर्तनमात्रसे प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णदर्शनका दुर्लभ लाभ प्रदान करती हैं। एवंविध परम उदारमयी कृपामयी मुझ प्रपन्नको भी दिव्य दर्शन देकर कृतकृत्य करें।

हे श्रीराधे! आपके अनुगम प्रेमडोरमें आबद्ध जगज्जन्मादिहेतु परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण आपका पतङ्गवत् अनुगमन करते हैं, ऐसी निकुञ्जेश्वरी श्रीराधे! आपकी अहैतुकी परम कृपा है, अतः ऐसे प्रेमाबद्ध भगवान श्रीकृष्णद्वारा दर्शनकृपासे मुझे अभिप्रेत रसानुराग प्रदान करें।

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्क भगवान्से परवर्ती पूर्वाचार्य-चरणोंके द्वारा प्रणीत '**श्रीकृष्णस्तवराज**' के इन श्लोकोंसे भी प्रेमका उत्कृष्टतम वर्णन परम मननीय है—

ब्रह्मरुद्रसुरराजस्वर्चितं चर्चितं च रमयाङ्कमालया।
चर्चितं च नवगोपबालया प्रेमभक्तिरसशालिमालया॥
त्वय्यणुत्वसुमत्वभागिनि सर्वशक्तिबलयोगशालिनि।
भक्तिरस्तु मम निश्चला हरे कृष्ण केशव महत्तमाश्रये॥

(श्लोक ५, ७)

विधि-रुद्रेन्द्रादि सुरवृन्दोंद्वारा समर्चित, दिव्य विशालमालासे सुशोभित, श्रीलक्ष्मीजीद्वारा परिसेवित एवं प्रेमा-भक्तिरससे सुस्निग्ध श्रीकृष्णरूपी सुकण्ठाहारविभूषित नित्यनवनवायमान व्रजेश्वरी श्रीराधासे परम शोभायमान श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके सतत समर्चनीय श्रीयुगल-चरणाम्बुजोंकी मैं शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

सृष्टि-रचयिता श्रीब्रह्मा, संहारकर्ता श्रीशङ्करादि देवोंके भी जो जनक अर्थात् उत्पादक हैं, शरणागतजनोंके पापपुञ्जोंका परिहार करनेवाले परमानन्दस्वरूप सर्वेश्वर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण! आप अणुस्वरूपात्मक जीवात्मा और महत्त्व परिमाणरूप आकाशप्रभृति पदार्थोंमें अन्तर्यामी स्वरूपमें अवस्थित हैं। इसीलिये '**अणोरणीयान् महतो महीयान्**' इत्यादि—ये श्रुतिवचन आपको सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान्‌से भी परम महान् अभिव्यक्त करते हैं तथा आपमें ज्ञान, क्रिया, बल आदि सम्पूर्ण शक्ति-वैभव संनिविष्ट है। अतएव सभी उत्तमोत्तम देववृन्द आपका ही समाश्रय ग्रहण करते हैं। ऐसे सर्वाधार, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न आपके मङ्गल पदाम्बुजोंमें मेरी अविचल प्रगाढ़ प्रेमा-भक्ति अवस्थित रहे, यही एकमात्र स्पृहा है।

आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यके आचार्य-परम्परानुवर्ती पूर्वाचार्यप्रवरोंने अपने हिन्दी-व्रज-वाणी-साहित्यमें जो प्रेमका अनिर्वचनीय निरूपण किया है, वह परम मननीय है। श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराजने अपनी व्रजभाषाकी आदि वाणीमें प्रेमका परमोत्कृष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया है, वह यथार्थतः हृदयमें सर्वदा समुपासनीय है—

सेऊँ श्रीबृन्दाबिपिन बिलास।
जहाँ जुगल मिलि मंदिर मूरति, करत निरंतर बास॥
प्रेम-प्रवाह रसिकजन प्यारे, कबहुँ न छाँड़त पास।
कहा कहौं भाग की श्रीभट, राधाकृष्ण रस चास॥

(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख, पद-सं० १०)

मन बच क्रम दुर्गम सदा, ताहि ब चरन छुवात।
राधा तेरे प्रेम की, कहि आवत नहिं बात॥

(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख, दोहा-सं० २१)

राधे तेरे प्रेम की का पै कहि आवै।
तेरी-सी गोपाल की, तो पै बनि आवै।
मन बच क्रम दुर्गम किसोर, ताहि चरन छुवावै।
श्रीभट मति बृषभानुजे, परताप जवावै॥

(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख, पद-सं० २१)

बसौ मेरे नैनन में दोउ चंद।
गौरबरनि बृषभानुनंदिनी, स्यामबरन नँदनंद॥
गोलकु रहे लुभाय रूप में, निरपत आनँद-कंद।
जै श्रीभट प्रेमरस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद॥

(श्रीयुगलशतक-सहज-सुख, पद-सं०

परस्पर निरषि थकित भये नैन।
प्रेम कला भरि सुर राधे सौं, बोलत अमृत वैन॥
हार उदार निहार तिहारौ, राधे यह मन लैन।
श्रीभट लटक जानि हितकारिनि, भई स्याम सुष दैन॥

(श्रीयुगलशतक-सहज-सुख, पद-सं

श्रीबृन्दाबिपिनेश्वरी, पद-रस सिंधु बिहारी।
रच्यौ परस्पर प्रेम छेम, बाढ्यौ अति भारी॥
अरप्यौ पिय हिय पाय कैं, निज अधर सुधारी।
श्रीभट बड़भागी गोपाल, पीयौ रुचिकारी॥

(श्रीयुगलशतक-सुरत-सुख, पद-सं० ७७)

श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराजके परम कृपापात्र पट्टशिष्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्य रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजने अपने महावाणी बृहद्-वाणी-ग्रन्थमें प्रेमपरक अनेक स्थलोंपर जिस अनिर्वचनीय विधासे मञ्जुल विवेचन किया है, वह द्रष्टव्य है—

जयति प्रेमा प्रेम सीमा कोकिला कल बैनिये।
परा भक्ति प्रदायिनी करि कृपा करुणानिधि प्रिये॥

(महावाणी, सेवा-सुख, पद-सं० ५२ पंक्ति-सं० १)

जयति नवनित्य नागरि निपुन राधिके,
रसिक-सिरमौरि मनमोहनी जू।
चारुछबि चंचला चित्त आकर्षनी,
बर्षनी प्रेम-घन मोहनी जू॥
सहज सिद्धा प्रसिद्धा प्रकासिका प्रभा,
दिव्य बर कनक-तन मोहनी जू।

स्वामिनी सुखद श्रीहरिप्रिया बिसद
जस पान की परम धन मोहनी जू॥

(महावाणी, सुरत-सुख, दोहा-सं० १)

जलतरंग ज्यौं नैंन में, तारे रहे समोय।
प्रेम पयोधि परे दोउ, पल न्यारे नहिं होय॥

(महावाणी, सुरत-सुख, दोहा सं० २४)

प्रेम पयोधि परे दोउ प्यारे निकसत, नाहिंन कबहुँ रैन दिन।
जलतरंग नैंनिन तारे ज्यौं, न्यारे होत न जतन करौ किन॥
मिले हैं भाँवते भाग सुहाग भरे, अनुराग छबीले छिन-छिन।
श्रीहरिप्रिया लगे लग दोऊ निमिष, न रहें ये इन ये इन बिन॥

(महावाणी, सुरत-सुख, पद-सं० २४)

प्यारी जू प्रानन की प्रतिपाल।
जिनकी दया सुदृष्टि बृष्टि करि, पल में होत निहाल॥
तन मन परम पुष्ट पन पावै, लावै रंग रसाल।
श्रीहरिप्रिया प्रेम सर बाढ़े, काढ़े दुख ततकाल॥

(महावाणी, सहज-सुख, पद-सं० ३९)

इसी प्रकार जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराजने अपने 'श्रीपरशुराम-सागर' बृहद्ग्रन्थके 'दोहावली' भागमें प्रेमका जो प्रचुर वर्णन किया है, उसके कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

बंध्यो प्रेम की डोर हरि, 'परशुराम' प्रभु आप।
साधु-साधु मुखि उच्चरै, करै भगत को जाप॥
जन्म मरण ये 'परशुराँ', हरि बिमुखन के होय।
हरि रस पीवे प्रेम सों, जनमे मरे न सोय॥
प्रेम रस अंतरि बस्यो, प्राण रह्यो बिरमाइ।
लागी प्रीति अपार सों, 'परसा' तजी न जाइ॥
'परसा' संगति साध की, कीयाँ दोष दुराँहिं।
पीजै अमृत प्रेम रस, रहिये हरि सुख माँहिं॥
हरि सनमुख सिर नाइये, जपिये हरि को जाप।
हरि उर तैं न बिसारिये, 'परसा' प्रेम मिलाप॥
'परसा' हरि की भगति बिन, करिये सोइ हराम।
नर औतार सुफल तबै, भजै प्रेम सौं स्याम॥
सर्बस हरि कौं सौंपिये, हरि न मिलै क्यौं आय।
'परसा' तन मन प्राण दै, पीजै प्रेम अघाय॥
हरि अमृत रस प्रेम सौं, पीवै जो इकतार।
'परसा' चढ़ै न ऊतरे, लागी रहै खुमार॥

इसी आचार्य-परम्परामें जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराजने अपने 'श्रीगीतामृत-गङ्गा-व्रजवाणी' में प्रेमके दिव्य स्वरूपका जो असमोर्ध्व वर्णन किया है, वह वस्तुतः अतीव विलक्षण है। उक्त ग्रन्थके कतिपय मञ्जुल पद्योंके अनुशीलनसे स्वतः प्रेम-प्राखर्यका बोध हो सकेगा—

प्रेम को रूप सु इहै कहावै।
प्रीतम के सुख सुख अपनो दुख, बाहिर होत न नेक लखावै॥
गुरुजन बरजन तरजन ज्यों-ज्यों, त्यों-त्यों रति नित-नित अधिकावै।
दुरजन घर-घर करत बिनिंदन, चंदन सम सीतल सोउ भावै॥
पलक औटहू कोटि बरस के, छिनक ओटि सुख कोटि जनावै।
बृन्दावन-प्रभु नेही की गति देही त्यागि धरै सोइ पावै॥

(घाट ४, पद ३५)

बसी तुव मूरति नैंननि मेरैं।
कैसें चैंन परैं प्यारी अब, भली भाँति बिनु हेरैं॥
तनक किर किरी खरकति सो सतो, नख-सिख भूषन तेरैं।
बृन्दावन प्रभु नेह अजन ते, खरकति और घनेरैं॥

(घाट ४, पद ४८)

तुम बिन दृगन सुहात न और।
नींद रैन दिन बसी रहत ही, वाहू को नहीं ठौर॥
अब कैसें फीको जग भावत चाखे, रूप सलौनै कौर।
बृन्दावन प्रभु सुरझत नाहीं, परे प्रेम के झोर॥

(घाट ४, पद ५७)

इसी परम्परामें श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीगोविन्द-शरणदेवाचार्यजी महाराजने अपने परम रसमय 'गोविन्दवाणी' ग्रन्थमें प्रेमरूपा परा भक्तिरूप जिस उत्तम विधाका विवेचन किया है, वह अत्यन्त चित्ताकर्षक है—

जग में हरि के जन बड़भागी।
निस दिन भजन भावना बितवत, चरन कँवल अनुरागी॥
प्रेम मगन गावत माधौ गुन, हरि धन भये विभागी।
धारत तिलक माल तुलसी की, बुधि सो तैं द्रुत जागी॥
दरसन पावन होयैं पतित जन, जिनकी मति हरि पागी।
गोबिंद सरन बिस्व उपकारी रसना हरि रट लागी॥

(पद-सं० १०४)

नेति नेति कहत निगम, एक प्रेम ही तैं सुगम।
गोबिंद सरन प्रभुता तजि, भये अति आधीनैं॥

(पद-सं० १०५ पंक्ति १०)

नीके बिहारी-बिहारिनि प्यारे।
कुंजमहल राजत रँगभीनै, सखि नैंननि के तारे॥
अद्भुत गौर-साँवरे दंपति, पलहू होत न न्यारे।
मन बसी रसी सोहनी मूरति, बिसरत क्यौब बिसारे॥
रूप सुधा रस पियै परसपर, रहत प्रेम मतवारे।
गोबिंद सरन जिय कल न परत है, जब ते नैंन निहारे॥

(पद-सं० १०६)

प्रस्तुत प्रेमोत्कर्षका लोकोत्तर रसपूर्ण भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं निम्बार्क-सिद्धान्त-सम्पोषक भक्तप्रवर श्रीनागरीदासजी, जिन्होंने पुष्करक्षेत्रान्तर्गत किशनगढ़ राज्यके सम्पूर्ण विपुल वैभवका परित्याग कर श्रीवृन्दावनके मञ्जुल निकुञ्ज और वीथियोंमें कलिन्दजा—श्रीयमुनाके अति सुरमणीय पावन पुलिनपर अवस्थित होकर वृन्दावन-नवनिकुञ्ज-विहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम रसपरब्रह्म सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्णके परम-प्रेमा-भक्तिरससुधारूप अगाधसिन्धुमें प्रतिपल निमज्जित-समुच्छ्वलित हो जिस परमानन्दरससारका दिव्यतम अनुभव किया है, उसीको अपनी ललित-कलित सरस पद्यमय व्रजवाणीमें आपूरित किया है और जिसका श्रीयुगल-रसरसज्ञ रसिक भगवज्जनोंद्वारा अपने अतिशय कमनीय कलकण्ठद्वारा निकुञ्जरसका अनुपम पान किया जाता है—

बिमल जुन्हइया जगमगी, रही बैंन धुनि छाय।
प्रेम-नदी तिय रगमगी, बृंदा-कानन आय॥
रुकी न कापैं तिय गईं, छाँड़ि काज गृह चाह।
मिल्यो स्याम रस सिंधु मन, सरिता प्रेम-प्रवाह॥

(श्रीनागरीदास-वाणी, रासरसलता, दोहा ५-६)

क्यौं नहिं करै प्रेम अभिलाष।
या बिन मिलै न नंददुलारौ, परम भागवत साख॥
प्रेम स्वाद अरु आन स्वाद यौं ज्यौं अकडोडी दाख।
नागरिदास हिये मैं ऐसैं, मन, बच क्रम करि राख॥

(श्रीनागरीदास वाणी, छूटक, पद-सं० १४)

दीजै प्रेम प्रेमनिधि स्याम।
गदगद कंठ नैंन जलधारा, गाऊँ गुन अभिराम॥
या छकि सौं सब छूटि जाय ज्यौं, और सबै कलमष कैं काम।
नागरिया तुव रंग रंग्यो फिरै, इहिं बृंदावनधाम॥

(श्रीनागरीदास-वाणी, छूटक, पद-सं० १२४)

देहु प्रेम हरि परम उदार।
बिना प्रेम जे भक्ति है नौधा, भई जात ब्यौहार॥
प्रेमहि कैं बस होत स्याम तुम, प्रेमहिं के रिझवार।
प्रेम हाथ अपनै नहिं नागर, ताको कहा विचार॥

(श्रीनागरीदास-वाणी, छूटक, पद-सं० १५२)

वस्तुतः प्रेमका स्वरूप ही अनिर्वचनीय है, उसका प्रख्यापन वाणी किंवा लेखनीका माध्यम नहीं। वह तो यथार्थमें श्रीसर्वेश्वर-कृपैकलभ्य है। इसी दिव्य भगवत्प्रेमका सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एवं तत्परम्परावर्ती पूर्वाचार्य एवं रसिक परम भागवत महापुरुषोंने विविधरूपसे निरूपण किया है, जो सर्वदा रसिक भगवज्जनोंको अपने निर्मल अन्तःकरणमें अवधारणीय है।

'भगवत्प्रेम'

(श्रीरामलखनजी सिंह 'मयंक', एम्०ए०)

परम तत्त्व है मानव-जीवनका इस जगमें भगवत्प्रेम।
प्रभु अनन्य प्रेमीका करते नित्य निर्वहन योगक्षेम॥
है अनन्यतम एक साधना और साध्य भी भगवत्प्रेम।
हर कर्मोंका उत्तम फल है प्राप्य एक बस भगवत्प्रेम॥
सदा हमारी अभिलाषा हो पानेकी बस भगवत्प्रेम।
हरि-प्रीत्यर्थ सभी साधित हों धर्म-कर्मसाधन-व्रत-नेम॥
सत्सुख नित्य प्रदान कर रहा है भक्तोंको भगवत्प्रेम।
हरिचरणोंके आश्रित जनका दृढ़ाधार है भगवत्प्रेम॥
है विपत्तिनाशक, तापोंसे त्राणप्रदाता भगवत्प्रेम।
रे मन मूढ़! 'मयंक' करो अर्जित सम्मनसे भगवत्प्रेम॥

भगवत्प्रेम

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

अखिल ब्रह्माण्डनायक, सकलाभीष्टदायक, वेद-गोविप्रसाधुजनसुखदायक, भक्तमनोरथपरिपूरक, लीलानट गोपालजीने लोकके कल्याणके लिये क्रीडाभाण्ड विश्वका निर्माण किया है।

उस विश्वमें भूलोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक—इन तीन लोकोंकी मर्यादा स्थापित की है। उसमें सप्तद्वीपवती पृथ्वी धन्य है। सात द्वीपोंमें जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपके नौ खण्डोंमें भारतखण्ड (वर्ष) श्रेष्ठ है। उसमें भी माथुर-मण्डल श्रेष्ठ है; क्योंकि मथुरापुरीमें अवतारी श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्ने अवतार लेकर निरुपम प्रेममयी दिव्य लीलाएँ की हैं, जिनका श्रवण-कीर्तन और स्मरण करनेसे जीवोंका उद्धार हो जाता है। चौरासी लाख योनियोंमें मानव-योनि ही भगवत्-प्रेयसी है; क्योंकि मनुष्य-योनि ही भगवत्सेवनके लिये उपयुक्त होती है। इसीलिये देवता भी मनुष्य-जन्मके लिये लालायित रहते हैं। ऐसा श्रीमद्भागवतजीमें यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रसिद्ध है—'**मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥**' (५।१९।२१)। मानव-शरीरमें पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा मन आदि अन्तःकरणोंसे भगवत्सेवन करना ही जीवका परम धर्म है। कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ उनकी सहायता करती हैं और दोनों इन्द्रियोंका नायक मन होता है। मनसे ही भगवत्प्राप्ति होती है—'**मनसैवेदमाप्तव्यम्**'। अतः स्वच्छ मनसे भगवत्सेवन करनेपर ही मनुष्य भगवत्प्रेम-पथका पथिक हो जाता है। जबतक मनमें दुर्वासना रहती है, तबतक भगवच्चरणोंमें अनुराग नहीं होता, मनकी स्वच्छताके लिये वर्णाश्रम-धर्मका पालन करना अत्यावश्यक है, अन्यथा भगवत्प्रसादकी प्राप्ति दुर्लभ है। मनु आदि स्मृतियोंमें चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) तथा चारों आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास)-के उपयुक्त धर्मका प्रतिपादन किया गया है। उसका यथाशक्ति पालन करनेसे आचार-विचार, रहन-सहन तथा आहार-विहार शुद्ध हो जाते हैं। ऐसा करनेपर ही मनकी स्वच्छता सम्भव है और तभी भक्तिमार्गमें चलनेका अधिकार प्राप्त होता है। भगवत्प्रेरणासे प्रेरित सज्जनोंका समागम पाकर सत्संगद्वारा भगवान्के प्रति प्रीतिभाव जाग्रत् होता है। यह बात श्रीमद्भागवतमें जहाँ-तहाँ सत्संग-प्रसंगमें वर्णित है—

'**सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता**'।

(११।११।२५)

जबतक मानसिक वृत्तियाँ भगवान्की ओर नहीं चलतीं, तबतक भगवत्प्रेमकी प्रवृद्धि नहीं हो सकती है। भगवान्के प्रति अनुरक्त होनेके लिये साधन-भक्तिकी साधना करणीय है। रासमें साधन-सिद्धा गोपियोंका बखान है *'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'* भक्ति जीवको भगवान्से मिलाती है। अतः भक्ति-भक्त-भगवन्त—ये तीनों समन्वित रहनेपर भगवत्साक्षात्कारका अधिकार प्राप्त हो जाता है। भगवान् प्रेमनगरमें वास करते हैं और वह प्रेमनगर अपना हृदय ही है। उसमें अष्टदल कमलकी मञ्जरीमें वासनारहित सुवासित स्थलमें मनसे ही भगवद्दर्शन होते हैं। उनके दर्शनार्थ जानेके लिये नवधा भक्तिरूपी गन्त्री (गाड़ी) प्रेम ही है। उस गन्त्रीका फाटक विश्वास है। उसका टिकट साधु-संतोंका उपदेश-पालन करना है। उन गन्त्रियोंके चालकदल निम्नलिखित प्रकारसे हैं—

श्रवण-भक्तिके राजा परीक्षित्, कीर्तनके शुकदेवजी, स्मरणके प्रह्लादजी, पादसेवनकी लक्ष्मीजी, पूजनभक्तिके पृथु महाराज, स्तुति-वन्दनके अक्रूरजी, दास्यभावके कपीश्वर हनुमान्जी, सख्यके अर्जुनजी एवं आत्मनिवेदनके राजा बलि। ये सभी प्रेमी विविध प्रेम-गन्त्रियोंके माध्यमसे श्रीकृष्णके चरणारविन्दके निकट पहुँच गये।

उपर्युक्त नवधा भक्तिरूप प्रेमगाड़ियोंमें हरिनामामृत मालाके सिवा और कुछ सामान ले जाना नहीं पड़ता और न ही किसी प्रपञ्ची साथीको वहाँ साथ ले जाया जा सकता है; क्योंकि प्रपञ्ची व्यक्ति सांसारिक कथा-कलापोंसे प्रेमगाड़ीको भ्रष्ट कर देता है। वैराग्य ही उस प्रेमगाड़ीका सफाई कर्मचारी होता है, जो विषयरूप कूड़ा झाड़कर साफ कर देता है तथा ज्ञानरूपी प्रकाशमय बत्तियाँ उसमें सर्वदा प्रकाश करती हुई अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करती रहती हैं। इसी कारण वह

गयी थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर और अपने कहलानेवाले पति-पुत्रादिकी भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी।

नारदजीने भक्तिसूत्र (६६, २१)-में स्पष्ट कर दिया है कि हरिसे ही प्रेम करे। **'प्रेमैव कार्यम्—यथा व्रजगोपिकानाम्'**।

पूर्वमें जिस प्रेमगाड़ीका वर्णन किया गया था, उसमें सूचना-पट्ट लगा रहता है। उस सूचना-पट्टमें बताये हुए नियमोंका पालन करना अनिवार्य होता है। नियम-विरुद्ध कार्य करनेपर उस गाड़ीसे निष्कासित हो जाना पड़ता है। वह नियमावली इस प्रकार है—

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्॥

(श्रीमद्भा०, माहात्म्य ४।८०)

अर्थात् स्वधर्मका पालन करो (भगवद्भजन ही सबसे बड़ा धर्म है),अन्य सभी लौकिक धर्मोंका आश्रय छोड़ दो, साधुजनोंकी सेवा करो, कामना (भोगोंकी लालसा)-का त्याग

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।'

(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

इस लक्षणसे स्वाभाविक ही मनकी सात्त्विकी वृत्ति निष्कारण श्रीकृष्णमें लगी हो तो वह प्रेमा-भक्ति कहलाती है। उस प्रेमरसमें सराबोर होनेपर प्रेमाश्रुकी छलकन, वाणीकी गद्गदता, चित्तका पिघल जाना, लज्जाविहीनता, ऊँचे स्वरसे भगवान्‌की लीलाके गुणोंका गायन, विरहावस्थापन्न होकर रोदन, संयोग होनेपर हास्य आदि चिह्न प्रकट हो जाते हैं। इस अवस्थामें देह-गेहकी सुध नहीं रहती तथा सभी कर्म-धर्म बिछुड़ जाते हैं। इसमें प्रत्यवाय नहीं बनता। अत: प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता भी नहीं रहती। जो लोग भक्तिके आभासमें कार्यका परित्याग करते हैं, उनपर विधि-निषेधात्मक नियम लागू होता है; अत: निषिद्ध कर्मका परित्याग करने, विहित निष्काम कर्म करने तथा काम्य कर्मोंका परित्याग करनेसे स्वर्ग-नरकमें नहीं जाना पड़ता है। भगवत्प्रीत्यर्थ समर्पण-बुद्धिसे स्वकर्म करनेसे अन्त:करण शुद्ध होता है और तभी भगवत्प्रेम

पानेकी योग्यता होती है। वासनावासित (प्रदूषित) मन भगवान्‌के प्रति नहीं लगता है।

श्रुतियोंमें इन्द्रियों तथा मनको पराङ्मुख बताया गया है, इसलिये ये अपने-अपने विषयोंके प्रति दौड़ते हैं। इन दुर्दम्य इन्द्रियादिको शम-दम आदि साधनोंसे स्वाधीन करके भगवान्‌की ओर मोड़ना ही अपना परम कर्तव्य है; क्योंकि वे स्वत: नहीं मुड़ सकती हैं।

मन जलके समान नीचे ही चलता है, उसे नाम-मन्त्ररूपी यन्त्रसे अभ्यासद्वारा ऊर्ध्वगामी बनानेपर ही भगवत्प्राप्ति होती है। अतएव जबतक अनन्य अव्यभिचारिणी भक्ति न प्राप्त हो, तबतक हम प्रभुको वशमें नहीं कर सकते हैं। प्रभुको तो प्रेमकी डोरीसे ही बाँधकर अपने हृदयरूपी भवनमें बंद किया जा सकता है। इस कार्यमें भावकी आवश्यकता है। भावानुसार भगवान्‌में प्रेम सिद्ध होनेपर वे हरिभक्तोंसे मिलते हैं तथा सकाम-निष्काम भावके अनुसार फल देते हैं। वे कल्पद्रुमके समान हैं, किंतु कुछ न माँगनेपर अपनेको प्रेमी भक्तके अधीन मानते हैं। जैसा कि राजा अम्बरीषके प्रति दुर्वासाके क्रूरकर्मसे रुष्ट होकर उनकी माँग उन्होंने ठुकरा दी थी और अपनेको भक्तके पराधीन बताया था—

अहं भक्तपराधीनः' (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

सभी कार्य मनकी एकाग्रतासे ही सफल होते हैं, इसलिये मनको निश्चल कर भगवत्स्वरूपमें प्रतिष्ठित करके ध्यानमें मग्न होकर प्रेमसे नाम-सुमिरन करे तो कभी-न-कभी भगवत्कृपासे अवश्य भगवत्साक्षात्कार हो सकता है।

उपासनाका यही स्वरूप भगवान्‌ने गीताके दसवें अध्यायके ८—१०वें श्लोकमें कहा है तथा भावनाके उत्थानके लिये साधन बताये हैं, इनमें भगवान्‌के निकट पहुँचनेका सरल उपाय सुझाया गया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

अर्थात् मैं ही सभीकी सृष्टि और सबका पालन आदि करता हूँ। मैं ही प्रवर्तक हूँ। यह जानकर विवेकी लोग भगवद्भावसे युक्त मेरा भजन करते हैं तथा मुझमें ही जिनका चित्त लगा है या मैं ही जिनके चित्तमें बसा हूँ, जिनकी इन्द्रियाँ मेरे प्रति लगी हैं, भक्त-मण्डलीमें परस्पर बोधन कराते हुए, मेरे नाम-लीला-गुणोंका व्याख्यान करते हुए जो संतुष्ट होते हैं तथा मेरे स्वरूपमें रमते हैं—ऐसे निरन्तर सोत्साह प्रेमपूर्वक भजनेवालोंको मैं अन्तकालमें बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरे निकट हो जाते हैं।

अतः भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो! अविवेकी जनोंकी जैसी अविच्छिन्न प्रीति विषय-भोगोंके सेवनमें होती है, वैसी ही मेरी प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो अर्थात् मेरे हृदयदेशमें आपके प्रति अखण्ड प्रीति बनी रहे—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥
(श्रीविष्णुपुराण १। २०। १९)

दमतक यार निबाहैंगे

चाहे कुछ हो जाय उम्र भर तुझीको प्यारे चाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैंगे॥

तेरी नजरकी तरह फिरेगी कभी न मेरी यार नजर!
अब तो यों ही निभैगी, यों ही जिंदगी होगी बसर॥
लाख उठाओ कौन उठे है, अब न छुटेगा तेरा दर।
जो गुजरैगी, सहैंगे, करैंगे यों ही यार गुजर॥
करोगे जो जो जुल्म न उनको दिलवर कभी उलाहैंगे।
सहैंगे सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैंगे॥

रुख फेरो, मत मिलो, देखनेको भी दूरसे तरसाओ।
इधर न देखो, रकीबोंके घरमें प्यारे जाओ॥
गाली दो, कोसो, झिड़की दो, खफा हो घरसे निकलवाओ।
कत्ल करो या नीम-बिस्मिल कर प्यारे तड़पाओ॥
जितना करोगे जुल्म हम उतना उलटा तुम्हें सराहैंगे।
सहैंगे, सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैंगे॥

—भारतेन्दु

भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जीवमात्र भगवान्‌का अंश है। गीतामें भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**' (१५।७)। भगवान्‌का अंश होनेके कारण जीवमें भगवान्‌के प्रति एक स्वतःसिद्ध आकर्षण है। वह आकर्षण भगवान्‌की तरफ होनेसे 'प्रेम' और नाशवान् पदार्थों तथा व्यक्तियोंके प्रति होनेसे 'राग' (काम, आसक्ति अथवा मोह) हो जाता है। राग तो जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए सम्पूर्ण जीवोंमें रहता है, पर प्रेम केवल भगवान् तथा उनके अनन्य भक्तोंमें ही रहता है*।

रागमें सुख लेनेका भाव रहता है, प्रेममें सुख देनेका भाव रहता है। रागमें लेना-ही-लेना होता है, प्रेममें देना-ही-देना होता है। रागमें जड़ताकी मुख्यता होती है, प्रेममें चिन्मयताकी मुख्यता होती है। रागमें पराधीनता होती है, प्रेममें स्वाधीनता होती है। राग परिणाममें दुःख देता है, प्रेम अनन्त आनन्द देता है। राग नरकोंकी तरफ ले जाता है, प्रेम भगवान्‌की तरफ ले जाता है। रागका भोक्ता जीव है, प्रेमके भोक्ता स्वयं भगवान् हैं।

भगवान्‌में भी प्रेमकी भूख रहती है। इसलिये उपनिषद्‌में आता है कि भगवान्‌का अकेलेमें मन नहीं लगा तो उन्होंने संकल्प किया कि 'मैं एक ही अनेक रूपोंमें हो जाऊँ।' इस संकल्पसे सृष्टिकी रचना हुई—

'**एकाकी न रमते।**' (बृहदारण्यक० १।४।३)

'**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (तैत्तिरीय० २।६)

'**तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति।**' (छान्दोग्य० ६।२।३)

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपने लिये अर्थात् प्रेमके लिये ही बनाया है। भगवान्‌ने मनुष्यकी रचना न तो अपने सुखभोगके लिये की है और न उसपर शासन करनेके लिये की है, प्रत्युत इसलिये की है कि वह मेरेसे प्रेम करे और मैं उससे प्रेम करूँ। तात्पर्य है कि भगवान्‌ने मनुष्यको अपना दास (पराधीन) नहीं बनाया है, प्रत्युत अपने समान (सखा) बनाया है। उपनिषद्‌में आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३।१।१; श्वेताश्वतर० ४।६)

इसलिये सम्पूर्ण योनियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्‌से प्रेम कर सकता है, उनको अपना मान सकता है। जैसे पुत्र मूढ़तावश अलग हो जाय तो माता-पिता चाहते हैं कि वह हमारे पास लौट आये, ऐसे ही भगवान् चाहते हैं कि संसारमें फँसा हुआ जीव मेरी तरफ आ जाय। भगवान्‌के इस प्रेमकी भूखकी पूर्ति मनुष्यके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। देवतालोग भोगोंमें लगे हुए हैं, नारकीय जीव दुःख पा रहे हैं और चौरासी लाख योनियोंके जीव मूढ़ता (अज्ञान, मोह)-में पड़े हुए हैं। एक मनुष्य ही ऐसा है जो अपनी मूढ़ता मिटाकर यह मान सकता है कि 'मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है' और 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं।'

मनुष्य तो संसारमें राग करके भगवान्‌से विमुख हो जाता है, पर भगवान् कभी मनुष्यसे विमुख नहीं होते। भगवान्‌का मनुष्यके प्रति प्रेम ज्यों-का-त्यों बना रहता है—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस उत्तर० ८६।४)। इस प्रेमके कारण ही भगवान् मनुष्यको निरन्तर अपनी ओर खींचते रहते हैं। इसकी पहचान यह है कि कोई भी अवस्था, परिस्थिति नित्य-निरन्तर नहीं रहती, बदलती रहती है। मनुष्य भगवान्‌के सिवाय जिस वस्तु या व्यक्तिको पकड़ता है, उसको भगवान् छुड़ा देते हैं। परंतु अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व अधिक होनेके कारण मनुष्य भगवान्‌के इस प्रेमको पहचानता नहीं। अगर वह भगवान्‌के प्रेमको पहचान ले तो फिर उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं!

मुक्ति तो उनकी भी हो सकती है, जो ईश्वरको नहीं

---

* 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहना ठीक नहीं है, प्रत्युत 'भगवान्‌में प्रेम है'—ऐसा कहना चाहिये। कारण कि 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा माननेसे भगवान् सीमित हो जाते हैं, जबकि भगवान् असीम हैं। प्रेम भगवान्‌की विभूति है। दूसरी बात, 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहनेसे ज्ञानकी प्रधानता रहेगी और प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होगा। अतः 'भगवान्‌में प्रेम' है और उस प्रेमको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् एकसे दो होते हैं।

मानते। परंतु प्रेमकी प्राप्ति सबको नहीं होती। प्रेमकी प्राप्ति भगवान्‌में आत्मीयता (अपनापन) होनेसे होती है। भगवान् मुक्त अथवा ज्ञानी महापुरुषके वशमें नहीं होते, प्रत्युत प्रेमीके वशमें होते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

ज्ञानीको प्रेम प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर प्रेमीको ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है—यह नियम है। यद्यपि प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, तथापि उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे, इसलिये भगवान् उसको अपनी तरफसे ज्ञान प्रदान करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

प्रेम ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञानमें उदासीनता है, प्रेममें मिठास है। जैसे, किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर केवल अज्ञान मिटता है, मिलता कुछ नहीं। परंतु 'वस्तु मेरी है'—इस तरह वस्तुमें ममता होनेसे एक रस मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तुके आकर्षणमें जो आनन्द है, वह वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। इसलिये ज्ञानमें तो 'अखण्ड आनन्द' है, पर प्रेममें 'अनन्त आनन्द' है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। भोगेच्छाका अन्त होता है, मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न अन्त होता है और न पूर्ति होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती रहती है—**'प्रतिक्षणवर्धमानम्'** (नारदभक्ति० ५४)।

जैसे धनी आदमीको सदा धनकी कमी ही दीखती है—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'* ऐसे ही प्रेमी भक्तको सदा प्रेमकी कमी ही दीखती है। यदि अपनेमें प्रेमकी कमी न दीखे तो प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होगा? अपनेमें प्रेमकी कमी मानना ही 'नित्यविरह' है। नित्यविरह और नित्यमिलन—दोनों ही नित्य हैं। इसलिये न तो प्रियतमसे मिलनकी लालसा पूरी होती है और न प्रियतमसे वियोग ही होता है—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

ज्ञानमें तो तृप्ति हो जाती है—**'आत्मतृप्तश्च मानवः'** (गीता ३।१७), पर प्रेममें तृप्ति होती ही नहीं—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३।१)

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८।४-५)

इसलिये मुक्त होनेपर भी स्वयंमें अनन्तरसकी भूख रहती है। भगवान् श्रीरामको देखकर जीवन्मुक्त एवं तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६।५)

'ब्रह्मसुख' में ज्ञानका अखण्डरस है और 'अति अनुराग' में प्रेमका अनन्तरस है। प्रेमकी जागृतिके विना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता।

मुक्त होनेसे पहले जीव और परमात्मामें भेद होता है, मुक्त होनेपर अभेद होता है और मुक्त होनेके बाद जब प्रेमकी जागृति होती है, तब जीव (प्रेमी) और परमात्मा (प्रेमास्पद)-में अभिन्नता होती है। मुक्त होनेसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण बाँधनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद अहम्‌का नाश होनेपर जो प्रेमी और प्रेमास्पदका भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भ०प्र० [illegible])

भक्तियोगमें तो साथ ही प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, पर ज्ञानयोगमें मुक्तिके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है—'**मद्भक्तिं लभते पराम्**' (गीता १८।५४)। ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता, ऐसे साधकको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी सन्तोष नहीं होता। अतः भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका कर देते हैं और अपने प्रेमके अनन्तरसकी प्राप्ति करा देते हैं। परंतु जिस साधकमें भक्तिके संस्कार नहीं होते और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, तिरस्कार, खण्डन करता है, वह सदा मुक्त ही रहता है। उसको प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

जिस साधनमें अपने उद्योगकी मुख्यता होती है, वह 'लौकिक' होता है और जिस साधनमें भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता होती है, वह 'अलौकिक' होता है। भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको 'लौकिक निष्ठा' बताया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३।३)

परंतु भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है। कारण कि जो भगवान्‌के आश्रित हो जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है। उसका साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। क्षर और अक्षर दोनों लौकिक हैं—'**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' (गीता १५।१६)। परंतु भगवान् अलौकिक हैं—'**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः**' (गीता १५।१७)। कर्मयोग 'क्षर' (जगत्)-को लेकर और ज्ञानयोग 'अक्षर' (जीव)-को लेकर चलता है, पर भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। प्रेमलक्षणा भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

लौकिक साधनावाले जो साधक मोक्षको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, उपेक्षा करते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको समझ ही नहीं सकते। परंतु अलौकिक साधनावाला शरीर तथा संसार 'पर' हैं और स्वयं तथा परमात्मा 'स्व' हैं। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं; अतः परमात्मा 'स्वकीय' हैं। स्वकीयकी अधीनतामें पराधीनता नहीं है, प्रत्युत असली स्वाधीनता है। जैसे, बालकके लिये माँकी अधीनता पराधीनता नहीं होती; क्योंकि माँ 'पर' नहीं है, प्रत्युत अपनी होनेसे 'स्वकीय' है। इसलिये माँकी अधीनतामें बालकका विशेष हित होता है और अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निर्भय और निश्चिन्त रहता है।

मुक्ति प्राप्त होनेपर मुक्त महापुरुषमें अहम्‌की एक सूक्ष्म गन्ध रहती है। अहम्‌की यह गन्ध मुक्तिमें बाधक नहीं होती, प्रत्युत मुक्त महापुरुषोंमें मतभेद पैदा करनेवाली होती है। परंतु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है, अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस उत्तर० ४९।६)

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है*। दोनोंके परिणाममें मनुष्य मुक्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणसे, सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है और स्वाधीन हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परंतु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं जीवन्मुक्तिके रसका आस्वादन करनेवाला होता है, पर प्रेम (परा भक्ति)-की प्राप्ति होनेपर वह रसका दाता हो जाता है! भगवान्‌को भी रस देनेवाला हो जाता है! जैसे कोई मनुष्य गङ्गाजलसे गङ्गाकी पूजा करे तो इसमें गङ्गाकी ही विशेषता हुई, मनुष्यकी नहीं। ऐसे ही भक्त भगवान्‌के दिये हुए प्रेमसे ही उनको रस देता है तो इसमें भगवान्‌की ही विशेषता हुई।

प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, योग्यता, विद्या, यज्ञ, तप आदि साधनोंसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌को अपना

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५।४-५)

माननेसे होती है। बल, योग्यता आदिके बदले जो वस्तु मिलेगी, वह बल, योग्यता आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनके बदले साध्य मिलेगा तो वह साधनसे तुच्छ ही होगा और ऐसा साध्य मिलकर भी हमें क्या निहाल करेगा? इसलिये भगवान्‌को अपना माने बिना प्रेम-प्राप्तिका दूसरा कोई साधन हो ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान् वास्तवमें अपने हैं। अपना वही होता है, जो कभी हमारेसे बिछुड़ता नहीं। एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो हमारेसे कभी बिछुड़ते नहीं, सदा हमारे साथ रहते हैं—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५)।

भगवान् भक्तके अपनेपन (आत्मीयता)-को देखते हैं, यह नहीं देखते कि यह कैसा है, बद्ध है या मुक्त? जैसे बालक माँको पुकारता है तो वह बालकके बल, योग्यता, विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमें ले लेती है। ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असंतुष्ट होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं।

जब जीव अपनेसे भी अधिक शरीर-संसारको महत्त्व देता है, तब वह बँध जाता है। जब वह शरीर-संसारसे भी अधिक अपनेको महत्त्व देता है, तब वह मुक्त हो जाता है। जब वह अपनेसे भी अधिक भगवान्‌को महत्त्व देता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त और भगवान् कभी दो हो जाते हैं, कभी एक हो जाते हैं। जब भक्त अपनी तरफ देखता है, तब 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् दो हो जाते हैं। जब भक्त भगवान्‌की तरफ देखता है, तब 'एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनों होनेसे ही प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, कभी पूर्णता नहीं आती।

प्रेमपन्थ

(पं० श्रीजानकीरामाचार्यजी)

मत मरम किसीसे कहना, जो आय पड़े सो सहना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप साकार हैं॥ १॥
प्रेम के कारण धरे विविध तन, सहे कष्ट प्रभु ने आकर।
विप्र-धेनु-सुर-संत-धर्म की, रक्षा की प्रभु ने आकर॥
मत मन में जरा हिचकना, विश्वास हृदय में धरना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ २॥
प्रेम के कारण शबरी के फल, खाये प्रभु ने बहुत बखान।
दुर्योधन-गृह त्याग सुमेवा, विदुर का केला छिलका पान॥
मत इसको कभी बिसरना, यह महिमा सदा सुमरना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ ३॥
प्रेम के कारण सखा विभीषण, अर्जुन औ सुग्रीव बने।
रावण-दुर्योधन-वाली को, प्रभु ने इनके हेतु हने॥
मत कभी किसीसे डरना, प्रभु-बलपर निर्भर रहना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ ४॥
प्रेम के कारण नामदेव-का, छप्पर प्रभु ने आ छाया।
नरसी मेहता की कन्या का, शुभ विवाह भी करवाया॥
मत यह सब झूठ समझना, 'श्रीरमण' प्रेमवश करना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार हैं॥ ५॥

अनुभव किया कि अलग-अलग प्रतीत होनेवाली प्राकृतिक शक्तियाँ वस्तुत: एक ही महाशक्ति या महासत्ताके विविध रूप हैं। वैदिक ऋषिने उदार घोषणा की—'**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।**' सत्ता तो एक ही है, किंतु विद्वान् उसकी भिन्न-भिन्न क्षमताओंके कारण उसे अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा आदि अनेकानेक नामोंसे पुकारते हैं। एक ओर वैदिक ऋषियोंने उस सत्ताको ईश, कवि, परिभू, स्वयम्भू आदि कहकर उसके महत्त्वके प्रति श्रद्धा व्यक्त की। दूसरी ओर उसे माता, पिता, सखा पुकारकर उससे अपना प्रेममय सम्बन्ध भी जोड़ा। भक्तिके मूलमें श्रद्धा और प्रेमका युगपत् अस्तित्व ही है। उस परमतत्त्वको सत्, चित्, आनन्दस्वरूप मानकर कर्मको सत्से, ज्ञानको चित्से और भक्तिको आनन्दसे जोड़ना भी सहज ही सम्भव हुआ।

कालान्तरमें भक्ति-साधकोंने अपनी-अपनी रुचि और प्रीतिके अनुरूप अपने-अपने इष्टदेव चुने। इष्टदेवोंकी बहुलताकी ओटमें जो सत्य प्राय: अनदेखा रह जाता है, वह यह है कि नाम, रूप, लीला, धामकी विविधताके बावजूद सभी इष्टदेवोंमें तात्त्विक एकता अन्तर्निहित है। सभी सच्चिदानन्दस्वरूप और सृष्टि, स्थिति एवं संहारके हेतु माने जाते हैं। इसी सचाईके कारण कहा जाता है कि सभी देवताओंके प्रति नमस्कार केशवरूप परमात्मातक पहुँचता है। अत: भारतीय भक्ति-साधना सभी देवी-देवताओंके प्रति समादर रखते हुए अपने इष्टदेवके प्रति अनन्यताका भाव पोषित करती है, संघर्षका नहीं अपितु समन्वयका पथ प्रशस्त करती है।

भक्ति शब्दके अर्थ भजन, भाग और भंजन—ये तीनों होते हैं। प्रस्तुत संदर्भमें पहला अर्थ ही मुख्य है, किंतु आचार्योंने अन्य दोनों अर्थोंकी उससे संगति बैठाते हुए कहा कि संसारके राग-द्वेष, माया-मोहको भंगकर अपनेको प्रभुके भागका मानकर भक्त भगवान्का प्रेमपूर्वक भजन हो सकता है और जगत्के किसी व्यक्ति, पदार्थ या शत्रुके प्रति भी। अत: (लौकिक) प्रेम भी भक्तिका बाह्य रूप ही ठहरा, किंतु उसका वास्तविक स्वरूप अमृतत्व है। जो प्रेम अमृत—शाश्वतके प्रति होता है और अमृतत्व प्रदान करता है, उसे ही भक्ति कहा जा सकता है। नश्वरके प्रति प्रेमको भक्ति नहीं माना जा सकता। इस अन्तरको दर्शानेके लिये ही भगवत्प्रेमको 'प्रेमा' पुकारा गया है और उसे ही परम पुरुषार्थ घोषित किया गया है—'**प्रेमा पुमर्थो महान्।**' भगवान्के प्रति सच्चा प्रेम अहैतुक होना चाहिये, उसका लक्ष्य प्रगाढ़तम भगवत्प्रेम ही हो सकता है, धर्म, अर्थ, कामकी तो बात ही नहीं उठती, मोक्षतक उसके समक्ष तुच्छ है। इसीलिये तुलसीदासजीने कहा है—'*साधन सिद्धि राम पग नेहू।*'

इससे भक्तिके दो रूप उभरते हैं—साधन भक्ति और साध्य भक्ति। भक्तिकी करण व्युत्पत्तिसे साधन भक्तिका अर्थ संकेतित होता है—'**भज्यते, सेव्यते भगवदाकारमन्त:करणं क्रियतेऽनया**' अर्थात् जिसके द्वारा भजा जाता है, सेवा की जाती है, अन्त:करणको भगवदाकार बनाया जाता है, वह साधन भक्ति है। इसीको गौणी भक्ति, वैधी भक्ति, नवधा भक्ति आदि भी कहते हैं। भक्तिकी भाव-व्युत्पत्तिसे फलरूपा भक्तिका अर्थ प्राप्त होता है। '**भजनमन्त:करणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति**' अर्थात् भजन—अन्त:करणकी भगवदाकारतारूपी भक्ति ही साध्य या फलरूपा भक्ति है। इसीको परा भक्ति, सिद्धा भक्ति, रागात्मिका भक्ति आदि भी कहते हैं। साधनकालमें भक्ति मनकी एक वृत्तिमात्र है जो सदा नहीं रहती, अन्य वृत्तियोंके प्रबल होनेसे दब जाती है, किंतु साध्यरूपमें भक्ति पूरे अन्त:करणका रूपान्तरण ही कर देती है, भक्तको भगवदीय बल्कि भगवान्से अभिन्न ही बना देती है, तभी—'*भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु चतुर नाम बपु एक*' की प्रतिज्ञा सिद्ध हो सकती है। परा भक्ति

जीवकी मनोवृत्तिमात्र न होकर भगवान्‌की अन्तरङ्गाह्लादिनी शक्तिका प्रतिफलन है, जो जीवको भगवान्‌से एक कर देती है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अनन्य भक्तिसे ही मुझे तत्त्वतः जान और देखकर मुझमें प्रवेश किया जा सकता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८। ५५)

भक्तिकी महिमा इससे भी समझी जा सकती है कि यह न केवल कर्ता-निरपेक्ष है, बल्कि क्रिया-निरपेक्ष भी है। भक्तिको इससे कुछ फ़र्क नहीं पड़ता कि उसे करनेवाला ब्राह्मण है या चाण्डाल, हिन्दू है अथवा मुसलमान या ईसाई, भारतीय है कि रूसी, जापानी, अमेरिकी। इसी तरह वह किसी क्रियाविशेषसे भी बँधी हुई नहीं है। जीवमात्र भक्ति कर सकते हैं, प्रत्येक क्रिया भक्तिका अङ्ग बन सकती है। भक्ति केवल उद्देश्य-सापेक्ष है अर्थात् भक्तिका लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होना चाहिये। प्रभुसे जुड़नेका आग्रह रखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति भक्त हो सकता है। ऐसी प्रत्येक क्रिया भक्तिका अङ्ग हो सकती है, जो प्रभुके लिये की जाय, प्रभुको समर्पित हो।

भक्तिका फल भक्तोंकी दृष्टिमें भक्ति ही है, यदि उसका कोई और फल हो भी तो भी भक्त उसे नहीं चाहते—'*तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ।*' किंतु इसी निष्कामताका जादू है कि भगवान् भक्तके अधीन हो जाते हैं। '**भगवान् भक्तभक्तिमान्**' और '**भक्तेः फलमीश्वरवशीकारः**' जैसी दिव्य घोषणाएँ इसी सत्यका निरूपण करती हैं। इस महामहीयसी भक्तिको समझनेकी विनम्र चेष्टा ही हम कर सकते हैं, उसे पाना तो किसीके भी अपने बलबूतेके बाहरकी बात है। वह क्रियासाध्य नहीं है, कृपासाध्य है। प्रभु या उनके भक्त ही कृपा करके हमें भक्ति प्रदान कर सकते हैं।
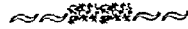
भगवत्प्रेम और मोक्षसाधना

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दसरस्वतीजी महाराज)

इस निखिल विश्वब्रह्माण्डके पीछे एक महान् शाश्वत तत्त्व विद्यमान है, जो सर्वथा निर्विशेष तत्त्व है। वह निर्विशेष तत्त्व ब्रह्म ही सविशेष बनकर अर्थात् मायाविशिष्ट होकर ईश्वरसंज्ञक बन जाता है, जो सृष्टि, स्थिति और लयका कारण बनता है। श्रुतिमें कहा है—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।'

(तै०उप० भृगुवल्ली प्रथम अनुवाक)

जिससे ये सम्पूर्ण भूत (प्राणी-समूह) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं और अन्तमें जिसमें विलीन हो जाते हैं—लयभावको प्राप्त हो जाते हैं; उसे जानो, वही ब्रह्म है। अन्यत्र भी कहा है—'**जन्माद्यस्य यतः**' (ब्रह्मसूत्र १।१।२)। अर्थात् इस जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं, वही ब्रह्म है।

श्रुति केवल ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादनमात्र ही नहीं करती, प्रत्युत उस ब्रह्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय अर्थात् साधन भी बतलाती है। इसीलिये वेद, दर्शन, उपनिषद्, पुराण तथा स्मृति आदि समस्त आर्ष-वाङ्मयमें ब्रह्मतत्त्व-प्रतिपादनके साथ-साथ ब्रह्मप्राप्तिके उपायभूत मोक्षसाधनाओंका भी दिग्दर्शन किया गया मिलता है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, उपासनायोग, राजयोग तथा मन्त्रयोग आदि इसी तथ्यके पूरक साधन हैं; परंतु यह भी सत्य है कि जिन परमेश्वरकी प्राप्ति हम चाहते हैं, उनके प्रति हमारी श्रद्धा, प्रेम तथा भक्ति भी अवश्य ही होनी चाहिये अन्यथा हमारी साधना कैसे सफल होगी अर्थात् नहीं हो सकती है, यह ध्रुव सत्य है। अतः प्रेमस्वरूप भगवान्‌के प्रति हमारा प्रेमभाव तथा भक्तिभाव अवश्य होना चाहिये और तभी साधनामें सफलता मिलनेकी सम्भावना है, अन्यथा नहीं।

परंतु इस संदर्भमें हम केवल प्रणव—ओंकारकी साधनापर ही किञ्चित् चर्चा करेंगे। श्रुतिमें प्रणव—ओंकारकी खूब महिमा गायी गयी है। जैसे कहा है—'**ओमित्येतदक्षरमिदꣲ सर्वं··· सर्वमोङ्कार एव**' (माण्डूक्य० १)। ओम् यह अक्षर ब्रह्म ही सब कुछ है। ऐसा कहा गया है। '**तस्य वाचकः प्रणवः**' (योग० १। २७)। उस परमेश्वरका वाचक या बोधक नाम प्रणव है, ओंकार है। नाम और नामीमें अभेद होता है। इसलिये शास्त्रमें कहा गया है कि '**ओमिति ब्रह्म**' ओंकार ही वह ब्रह्म है। 'ओङ्कार एवेदꣲ सर्वम्' (छान्दोग्य २। २३। ३)। 'यह सब ओंकाररूप ही

।' यह श्रुति सम्पूर्ण जगत्को ओंकारस्वरूप ही बतला रही है। उक्त प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वरका मुख्य नाम प्रणव—ओंकार ही है।

(१) प्रणवजप-साधना—अब यहाँपर उपनिषद् कथित प्रणवजप-साधनाका वर्णन किया जा रहा है। जैसे कि श्रुतिमें कहा है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेता० १।१४)

ओंकारके उपासकको चाहिये कि अपने शरीरको तो नीचेकी अरणि और प्रणवको उत्तरारणि अर्थात् ऊपरकी अरणि समझे। फिर ध्यानरूप मथानीसे दीर्घकालतक मन्थन अर्थात् जप और ध्यान करते रहनेसे काष्ठमें छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित हो उठनेके समान साधकके अन्तर्हृदयमें छिपे हुए चैतन्य ज्योति:स्वरूप परमेश्वरका वास्तविक स्वरूप भासमानके रूपमें दृष्टिगोचर होने लगता है अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। इससे साधक परमपद मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय यह है कि औपनिषदिक ऋषिने इस मन्त्रमें प्रणव-उपासनाको एक उपमालङ्कारके द्वारा समझानेका प्रयास किया है। जैसे बड़े-बड़े कर्मकाण्डी याज्ञिकलोग अग्निहोत्रादिक कर्म करनेवाले होते हैं, वे यज्ञकार्य-सम्पादनके लिये दो अरणि लेते हैं, जो विशेषरूपसे निर्मित दो काष्ठखण्ड होते हैं। उनमेंसे एकको नीचे और दूसरेको उसके ऊपर रखते हैं। फिर मन्थनदण्डपर रस्सी लपेटकर दधि-मन्थनके समान काष्ठखण्डका मन्थन करते हैं। मन्थन करते हुए जब उसमें उष्णता बढ़ जाती है, तब अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उस अग्निसे यज्ञादिक कार्य सम्पन्न करते हैं।

ठीक इसी प्रकारसे अपने शरीरको नीचेकी अरणि और प्रणव—ओंकारको उत्तरारणि समझकर ध्यानरूप मन्थन करे अर्थात् ध्यानाभ्यास ही मन्थन-कार्य है। अत: उस प्रणव-मन्त्रका मानसिक जप और ध्यानका अभ्यास दीर्घकालतक करते रहनेसे समय आनेपर जिस प्रकार काष्ठोंके रगड़से काष्ठमें छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित हो जाती है; उसी प्रकार शरीरके भीतर छिपी हुई ईश्वरीय सत्ता—चैतन्य ज्योति चन्द्रभास्करवत् भासमान होकर प्रत्यक्षगोचर होने लगती है और जिस साधकको वह अवस्था प्राप्त हो जाती है, उसका जीवन धन्य बन जाता है। अत: मुमुक्षु साधकको चाहिये कि प्रणव—ओंकारका जप और जगन्नियन्ता परमेश्वरके दिव्य ज्योतिष्मान् स्वरूपका ध्यान करता रहे। इससे शीघ्र ही ईश्वरदर्शन तथा मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसलिये शास्त्रमें कहा भी है—

यस्तु द्वादशसाहस्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्मप्रकाशते॥

(यतिधर्म-प्रकाश)

जो साधक एक वर्षतक नित्यप्रति बारह हजारकी संख्यामें प्रणव—ओंकार-मन्त्रका जप और ईश्वर-स्वरूपका ध्यान करता है उसे एक वर्षमें ही ब्रह्मदर्शन-लाभ हो जाता है। परंतु यह लाभ उत्तम अधिकारीके लिये है। मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारीके लिये विलम्बसे भी हो सकता है।

(२) ब्रह्मत्वलाभकी साधना—यह प्रसंग काठक श्रुतिका है। काठक श्रुतिमें धर्मराज (यम)-ने ऋषिकुमार नचिकेताको ब्रह्मानुभूति प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हुए एक सुन्दर रहस्यपूर्ण मोक्ष-मार्गका दिग्दर्शन कराया है, जो वस्तुत: सभीके लिये अनुकरणीय है। ध्यान-साधनाके द्वारा किस प्रकार उस मोक्षमार्गकी साधनामें सफलता प्राप्त की जा सकती है, उसके एक विशेष क्रमबद्ध उपायभूत साधनको प्रस्तुत किया है। आगे इसी विषयपर किञ्चित् चर्चा की जाती है। कठोपनिषद्में कहा है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

(१।३।१०-११)

इन्द्रियाँ दस हैं। दसों इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोंसे मन श्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है। मनसे भी बुद्धि पर है, श्रेष्ठ है। बुद्धिसे भी महत्तत्त्व श्रेष्ठ है अर्थात् उत्कृष्ट है। महत्तत्त्वसे भी अव्यक्त मूल प्रकृति या माया पर है, श्रेष्ठ है। अव्यक्त प्रकृति या मायासे भी पुरुष (ब्रह्म) पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है, हद है। परा याने उत्कृष्ट गति भी यही है।

उक्त मन्त्रमें इन्द्रिय तथा मन आदिको एककी अपेक्षा सूक्ष्म और पर बताया गया है। परका अभिप्राय सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर है और श्रेष्ठ है। कारण यह है कि प्रतिलोमक्रमसे साधनाके द्वारा इन्हीं तत्त्वोंको क्रमश: लाँघते हुए अन्तमें उस ब्रह्मतत्त्वतक पहुँचना होता है। परंतु जिस ब्रह्मतक हमें पहुँचना है, वह ब्रह्म तो अव्यक्त और निराकार बताया गया

है। ऐसी स्थितिमें उसका दर्शन या साक्षात्कार कैसे सम्भव हो सकता है? इस विषयमें श्रुति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

(कठोपनिषद् १।३।१२)

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह ब्रह्मतत्त्व प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है। गीता (७।२५)-में इसी बातको इस रूपमें कहा गया है—'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः**।' अर्थात् योगमायासे आवृत हुआ मैं सबके प्रति प्रकाशित नहीं होता।

इसलिये यमराजने नचिकेताके समक्ष कई स्तरोंसे युक्त एक सुन्दर और सुगम मोक्षमार्गको दर्शाया है, जो मुमुक्षुमात्रके लिये अनुकरणीय है। वे स्तर इस प्रकार हैं—इन्द्रियमण्डल, मनस्तत्त्व, बुद्धितत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृति या मायाका स्तर—ये पाँच स्तर हैं, परंतु साधनकालमें पाँच नहीं अपितु सात स्तर बन जाते हैं। यथा—(१) दस इन्द्रियमण्डल, (२) मनस्तत्त्वमण्डल, (३) बुद्धिमण्डल, (४) अहंमण्डल, (५) चित्तमण्डल, (६) महत्तत्त्वमण्डल और (७) अव्यक्त प्रकृति या मायाका स्तर। इन तत्त्वोंका प्रतिलोमक्रमसे या लयक्रमसे क्रमशः उपसंहार करते हुए चेतनाके स्तरतक पहुँचना होता है; क्योंकि अन्तिम लक्ष्य या ध्येय यही है। अब उपर्युक्त तत्त्वोंका किस क्रमसे उपसंहार या लय करना चाहिये, उसके क्रम-साधनको आगे बतलाते हैं। यथा—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठोपनिषद् १।३।१३)

इस मन्त्रका भाव नितान्त गूढ़तम है। फिर भी इस रहस्यको सरल भाषामें व्यक्त करनेका प्रयास किया जा रहा है। प्रथम इस लय-साधनाका या ध्यान-साधनाका अभ्यास करनेके लिये बाह्याभ्यन्तर शुद्ध—पवित्र होकर शान्त एवं एकान्त स्थानमें बैठे। ध्यानमें बैठकर सर्वप्रथम अपनी बहिर्मुखी दसों इन्द्रियोंका संयमपूर्वक आन्तरिक भावनाके द्वारा मनमें लय अर्थात् उपसंहार करे। इन्द्रियोंका इस प्रकारसे उपसंहार करे कि ये ध्यानाभ्यासकालतक पुनः बहिर्मुखी न होने पायें। इन्द्रियोंको मनमें लय कर पश्चात् फिर मनमण्डलको भी बुद्धिमण्डलमें लय [illegible] अर्थात् उपसंहार करे। उसके बाद बुद्धिमण्डलक[illegible] अहंमण्डलमें लय कर दे अर्थात् उपसंहार कर दे कालमें अहंके अतिरिक्त अन्य किसीका भी कार्य-[illegible] आदि न होने पाये। उसके अनन्तर अहंमण्डलक[illegible] चित्तमण्डलमें लय कर दे*। फिर उस चित्तमण्डलक[illegible] समष्टि महत्तत्त्वमण्डलमें लय कर दे। उस समय [illegible] समष्टि महत्तत्त्वका ही अनुभव करे, व्यष्टि-चित्तका [illegible] उसके बाद महत्तत्त्वको भी उस अव्यक्त प्रकृति या म[illegible] लयभावको प्राप्त करा दे अर्थात् उपसंहार करे। [illegible] अनन्तर अव्यक्त प्रकृति अर्थात् मायाको भी उस [illegible] प्रकाश ब्रह्ममें विलीन करके या लय करके उपसंहार और ब्रह्माकारवृत्तिमें स्थित हो जानेका प्रयास करे। श्रु[illegible] कहा भी है—'**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**' (मुण्डक० ३।२। ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। अतः पूर्णरू[illegible] ब्रह्मत्वभावका अनुभव करे। यही इस साधनाका अ[illegible] लक्ष्य या ध्येय है। क्योंकि अन्य श्रुतिमें स्पष्ट कहा है **'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥'** (क[illegible] १।३।११) अर्थात् पुरुष (ब्रह्म)-से परे और कुछ न[illegible] है। वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है। वही परा-सर्वोत्कृष्ट ग[illegible] है। गीता (१५।६)-में भी कहा है कि '**यद्गत्वा न निवर्त[illegible] तद्धाम परमं मम॥**' जिस परम पदको प्राप्त करके मनु[illegible] फिर इस संसारमें पुनः लौटकर नहीं आते, वही म[illegible] (परमात्माका) परम धाम है अर्थात् मोक्षपद है।

परंतु पूर्वोक्त यह मोक्ष-साधन एक बार अभ्या[illegible] करनेमात्रसे कुछ नहीं बनेगा, प्रत्युत पुनः-पुनः दीर्घकालत[illegible] इसका अभ्यास करना नितान्त आवश्यक होगा। दीर्घकाल अभ्याससे साधना दृढ़भूत बन जानेपर साधक स्वयं [illegible] अनुभव करेंगे कि—

एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्ताद[illegible] दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति॥

(छान्दोग्योपनिषद् ७।२५।१)

मैं ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायीं और बायीं [illegible] हूँ तथा मैं ही यह सब हूँ। यह इस साधनाकी परिपूर्णता है।

---

* उक्त चित्तमण्डलको भी शान्तात्मामें लय अथवा उपसंहार करके प्रत्यगात्मस्वरूपका अनुभव करे। यह व्यष्टि लय-साधना होगी। पर [illegible] प्रकार आत्मानुभूतिसे भी कैवल्य मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

दास्य-प्रेम

(आचार्य श्रीकृपाशंकरजी महाराज, रामायणी)

'**विष्णोर्दास्यम्**'—'**दासस्य भावः दास्यम्।**' मैं श्रीहरिका दास हूँ—इस प्रकारकी सुदृढ़ भावना और उसके अनुकूल आचरण करनेका नाम दास्य-भक्ति है। जो भी कर्म किया है, उसको श्रीहरिके श्रीचरणोंमें समर्पित कर देनेका ही नाम दास्य-भक्ति है—'**स्वस्मिन् तद् दासत्वभावनया तदनुकूलाचरणं कृतस्य कर्मणस्तस्मिन्नर्पणं च दास्यम्।**' श्रीभगवान्‌के साथ जुड़ना ही महान् सौभाग्य है। दास्यभावसे सम्बन्धित होना तो परम दुर्लभ है—'**हरेर्दास्यं सुदुर्लभम्।**' 'मैं श्रीविष्णु-भगवान्‌का दास हूँ'—इस प्रकारका मन्तव्य अर्थात् भाव रखते हुए भक्तिके अनुष्ठान करनेका नाम '**दास्य-भक्ति**' है। सहस्रों जन्मोंकी साधनाके परिणामस्वरूप '**श्रीवासुदेवका दास हूँ**'—इस प्रकारकी भावना समुत्थ होती है। ऐसा भगवान्‌का दास सम्पूर्ण लोकोंका भलीभाँति उद्धार कर देता है। श्रीनारदजी अपने भक्तिसूत्र (५०)-में कहते हैं—'**स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥**' अर्थात् भगवान्‌का दास स्वयं तो मायासे पार हो जाता है, दूसरोंको भी मायासे पार कर देता है।

इस प्रकार दास्य-भक्तिके लक्षण कहे गये हैं। भजन-साधन करनेकी बात तो दूर रही 'मैं श्रीहरिका दास हूँ'—केवल इस अभिमानसे ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है अर्थात् प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है। इस अभिप्रायसे ही नवधा भक्तिके वर्णनमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन तथा वन्दन—इन छः अङ्गोंके उल्लेखके पश्चात् दास्य-भक्तिका निर्देश किया गया है। आगे वर्णित '**जन्मान्तर०**' श्लोकके अन्तमें यह कहा गया है कि दास्य-अभिमानसे मानव समस्त जीवोंका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है और जो स्वयं भगवद्गतप्राण हैं, संयतेन्द्रिय हैं, दास्य-भक्ति उनका उद्धार कर देती है। इस विषयमें तो कहना ही क्या है? अर्थात् उनका उद्धार तो सुनिश्चित ही है।

श्रीप्रह्लादजीके द्वारा की गयी स्तुतिके '**तत् तेऽर्हत्तम**' इस पद्यमें तो नमस्कार, स्तुति, सर्वकर्मार्पण, परिचर्या-सेवापूजा, चरणकमलोंका चिन्तन और लीलाकथाका श्रवणरूप दास्य ही सदा कर्तव्य कहा गया है अर्थात् 'मैं दास हूँ' इस अभिमानमें ही समस्त अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे कृतकृत्यताका अनुभव होता है—अथ दास्यम्। तच्च **श्रीविष्णोर्दासं मन्यत्वम्।**

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वाँल्लोकान् समुद्धरेत्॥

इत्युक्तं लक्षणम्। अस्तु, तावद् भजनप्रयासः केवलं **तादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवतीति अभिप्रेत्यैवोत्तरत्रनिर्देशश्च तस्य। यथोक्तं जन्मान्तरेत्येतत्पद्यस्यैवान्ते, किम्पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रिया इति।** श्रीप्रह्लादस्तुतौ 'तत् तेऽर्हत्तम' इत्यादि **पद्ये तु नमःस्तुतिसर्वकर्मार्पणपरिचर्याचरणस्मृति-कथाश्रवणात्मकं दास्यं टीकायां सम्मतम्।** (जीवगोस्वामी)

तत् तेऽर्हत्तम नमःस्तुतिकर्मपूजाः
कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं
भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत॥

(श्रीमद्भा० ७।९।५०)

जीवमात्रका लक्ष्य श्रीठाकुरजीकी सेवा ही है। श्रीभगवान्‌के निज भक्तलोग श्रीहरिके दास्यभावकी ही अभिलाषा करते हैं। दासभक्त वृत्रासुर समराङ्गणमें युद्ध करते-करते अपने शत्रु देवराज श्रीइन्द्रसे ही अपने आराध्यकी सत्कृपाकी चर्चा करने लगे। हे इन्द्र! मेरे स्वामीकी मुझपर महती अनुकम्पा है। यदि इन्द्र यह कहें कि कृपा तो मुझपर है, यह प्रत्यक्ष है तो इसके उत्तरमें वृत्रासुर कहते हैं—हे देवेन्द्र! मेरे स्वामीकी अहैतुकी कृपाका अनुभव—भगवत्प्रसादका अनुभव सामान्य जन नहीं कर सकते, उसका अनुभव तो उनके अकिञ्चन भक्त ही कर सकते हैं। अकिञ्चनेतर लोगोंके लिये वह दुर्लभ है—

ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२३)

निष्ठाका वास्तविक परिचय तो विपत्तिकालमें किंवा विपरीत परिस्थितिमें ही मिलता है। इस परिस्थितिमें वृत्रासुरके इन वचनोंको श्रवण करके कदाचित् ...

इन्द्रजीके वज्रमें ही दर्शन देकर वृत्रको कृतार्थ करते हुए मानो कह रहे हैं—हे वृत्र! तुम्हारी जो भी अभिलाषा हो माँग लो। वृत्रासुर गद्गद हो गये। उन्होंने प्रसन्न होकर प्रार्थनापूर्वक याचना की—हे हरे! आपके मङ्गलमय श्रीचरणारविन्द जिनके एकमात्र आश्रय हैं, जो अनन्यभावसे आपके श्रीचरणसरसिजोंका ही एकमात्र सेवन करते हैं, आपके उन दासोंका अनुदासत्व ही मैं पुन: प्राप्त करूँ। यदि प्रभु प्रश्न करें कि समस्त दु:खोंका अत्यन्ताभाव ही जीवमात्रका लक्ष्य है, वह मोक्षके बिना सम्भव नहीं है, तब तुम दास्यभाव किंवा दासानुदासत्वकी क्यों याचना करते हो? तो इसके उत्तरमें वह '**हरे**' सम्बोधन करते हैं। भाव यह है कि दास्यभावकी उपासना करनेसे आप स्वयं ही अपने दासोंके त्रिविध एवं विविध दु:खोंका अपनोदन करते हैं।

फिर दूसरा प्रश्न है कि दास्यभावके स्थानपर तुम दासानुदास क्यों बनना चाहते हो? इसका उत्तर यह है—साक्षात् प्रभुके दास्यभावमें 'मैं सर्वोत्तम दास हूँ' इस प्रकारके अभिमान होनेकी सम्भावना हो सकती है और इस अभिमानसे अन्य भक्तोंके तिरस्कारकी—अपमानकी भी सम्भावना सम्भव है। इसके परिणामस्वरूप दासत्व भी समाप्त हो सकता है। इसका अनुभव मैंने पूर्वजन्ममें चित्रकेतुके रूपमें किया है, एतावता दैन्यसिद्धिके लिये दास-दासत्वकी याचना ही उचित है। निर्दिष्ट श्लोकमें आये हुए '**भूय:**' पदका भाव यह है कि पूर्वजन्ममें भी चित्रकेतुके रूपमें आपका ही दास था, अत: भविष्यमें भी दासत्व ही प्रदान करें। किंवा पूर्वजन्ममें चित्रकेतुके रूपमें भी मैं दासानुदास ही था। परम वैष्णव भगवान् गौरीनाथ चित्रकेतुकी श्लाघा करते हुए श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं—हे गिरिजे! अद्भुतकर्मा श्रीहरिके नि:स्पृह और महान् हृदयवाले दासानुदासोंकी महती महिमाका तुमने दर्शन किया, अनुभव किया?

दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मण:।
माहात्म्यं भृत्यभृत्यानां नि:स्पृहाणां महात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० ६।१७।२७)

वृत्रासुर कहते हैं—हे प्रभो! भविष्यमें भी हमें 'दासानुदासत्व' ही प्रदान करें।

इस प्रकार दासानुदासत्वकी प्रार्थना करके दास्यधर्मकी याचना करते हैं—हे स्वामिन्! मेरा मन अपने प्राणनाथका—आपका सदा चिन्तन करे। मेरी वाणी आपके गुणोंका सङ्कीर्तन करे। मेरा शरीर आपकी सेवा करे। सेवा उसे कहते हैं—जिस प्रकार स्वामीको सुख मिले, वह कर्म करे, अणुमात्र भी स्वार्थपरत्व न हो अर्थात् अपने सुखकी कामना न हो—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूय:।
मन: स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु काय:॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२४)

श्रीहरिका दास्य-कैङ्कर्य किस प्रकार करना चाहिये? इसके लिये आदर्शरूपमें राजर्षि श्रीअम्बरीषका चरित्र एवं उनकी कैङ्कर्यनिष्ठासे शिक्षा लेनी चाहिये। दास्यभावकी निष्ठाकी सुपरिपक्वताके लिये उनकी कैङ्कर्यनिष्ठाका ज्ञान आवश्यक है।

उन्होंने सबसे पहले अपने मनको श्रीकृष्णके मधुमय श्रीचरणारविन्दोंके मकरन्दरसका समास्वादन करनेवाला मधुप बनाया। भक्तको सर्वप्रथम अपने मनको ही नियन्त्रित करना चाहिये। मन यदि श्रीठाकुरजीके श्रीचरणारविन्दका दास बन गया तो और समस्त इन्द्रियाँ स्वयमेव दास्यभावसे प्रतिष्ठित हो जायँगी। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि राजर्षि अम्बरीषका मन भगवच्चिन्तनपरायण बन गया। उन्होंने अपनी वाणीको भगवद्गुण-वर्णनप्रवण कर दिया। अपने हाथोंको श्रीहरिके मन्दिरके मार्जन आदि व्यापारमें लगा दिया। 'आदि' शब्दका भाव है—पूजाके पात्रोंकी सेवा, उनको धोने आदिकी सेवा भी स्वयं अपने हाथोंसे करते हैं। अपने श्रोत्रोंको श्रीभगवान् अच्युतकी—संसारदु:खनिर्वर्तिकी कथामें लगा दिया अर्थात् कानोंसे सर्वकाल मनोहर भगवच्चरित्रोंको श्रवण करते थे। अपने नेत्रोंसे मुक्तिदाता भगवान् श्रीमुकुन्दके मन्दिर और अर्चाविग्रहके दर्शन करते थे। अपने उत्तमाङ्ग—मस्तकसे भगवद्भक्तोंके पावन चरणोंका अभिवादन करते थे। किसी संसारी व्यक्तिके परिष्वङ्गके लिये शरीरका उपयोग नहीं करते थे, अपितु सेवा करनेके लिये भगवद्भक्तोंके पावन गात्रका स्पर्श करते थे। नासिकासे भगवच्चरणारविन्दसंलग्न दिव्यातिदिव्य तुलसीजीका आघ्राण करते थे। अपनी रसनासे भगवान्को समर्पित नैवेद्य-प्रसाद

ग्रहण करते थे—रसतृष्णासे किसी पदार्थका सेवन नहीं करते थे।

भगवान् श्रीहरिके क्षेत्र—श्रीअयोध्या, वृन्दावन आदिमें अपने चरणोंसे बार-बार जाते थे। अपने मस्तकसे इन्द्रियोंके नियन्ता भगवान् श्रीहृषीकेशके पावन श्रीचरणोंकी वन्दना करते थे। राजर्षि अम्बरीषने माला, चन्दन आदि भोगसामग्रीको श्रीभगवान्‌की सेवामें समर्पित कर दिया था। भोगनेकी कामनासे नहीं, अपितु इसलिये कि इससे वह भगवत्प्रेम हमें मिल जाय, जो प्रेम उत्तमश्लोक श्रीहरिके भक्तोंमें ही निवास करता है। आशय यह है कि विषयकी कामनासे पुष्पमाला धारण नहीं किया, अष्टगन्धमिश्रित चन्दनका अनुसेवन नहीं किया। इससे यह निश्चित हुआ कि वे भगवान् श्रीवासुदेवमें परम भावको प्राप्त हो गये थे। उनके समस्त अनुष्ठान श्रीहरिके लिये थे। इस प्रकार श्रीहरिके दास्यभाव—कैङ्कर्यके वे मूर्तिमान् स्वरूप थे—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।१८—२०)

श्रीहरिके दास होनेके कारण राजर्षि अम्बरीषके गुण महान् थे। स्मरण रहे, संसारके दासत्वसे दोषका संग्रह होता है और श्रीहरिके दासत्वसे जीवनमें अनन्त गुणोंका समावेश हो जाता है। इसलिये जीवमात्रको श्रीभगवान्‌का दासत्व स्वीकार करना चाहिये।

महर्षि दुर्वासा जब सब ओरसे निराश होकर श्रीअम्बरीषकी शरणमें गये, तब राजाने श्रीहरिके तेजोमय चक्रसे प्रार्थना करके उनकी रक्षा की। अत्रिनन्दन दुर्वासा कृतकृत्य होकर श्रीअम्बरीषसे कहते हैं—अहो! नाम, रूप, गुणसे अनन्त भगवान् श्रीअनन्तके दासोंकी अनन्त महिमाका आज मैंने साक्षात् दर्शन किया। हे राजन्! मैंने आपको मार डालनेकी इच्छासे अपराध किया, परंतु आपने तो मेरा मङ्गल किया—श्रीहरिके सुदर्शनचक्रसे प्रार्थना करके अपनी साधनाको अर्पण करके मेरे प्राणोंकी रक्षा की। यह हरिदासोंका महत्त्व है। धन्य हैं, हरिदास!

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।
कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे॥

(श्रीमद्भा० ९।५।१४)

अनसूयानन्दन दुर्वासा पुनः कहते हैं—जिन श्रीहरिके मङ्गलमय नामोंके श्रवणमात्रसे जीव सर्वथा निर्मल हो जाता है—राग, द्वेष, लोभ, काम, क्रोध आदि विकारोंसे रहित हो जाता है। जो तीर्थपद हैं—श्रीगङ्गा आदि पुण्य तीर्थोंके परम आश्रय जिनके श्रीचरणारविन्द हैं, ऐसे ही श्रीहरिके चरणसरसिजोंके जो दास हैं—निष्ठापूर्वक जिन्होंने उनका दासत्व-कैङ्कर्य किया है, उनके लिये कौन-सा कर्तव्य अवशिष्ट रहता है अर्थात् समस्त कर्तव्य पूर्णतया सम्पन्न हो जाता है—

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मलः।
तस्य तीर्थपदः किं वा दासानामवशिष्यते॥

(श्रीमद्भा० ९।५।१६)

श्रीभगवान्‌के अनन्य दास उनकी मायाके ऊपर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसका प्रमाण हमें श्रीउद्धवजीके गम्भीर वचनोंसे प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके परम प्रिय सखा, विश्वस्त सलाहकार श्रीउद्धवजी श्रीहरिसे कहते हैं—हे स्वामिन्! आप हमारा परित्याग मत करें। हम आपके प्रेमी भक्त हैं, हम आपके बिना कैसे रहेंगे? हे प्रभो! हमें यह भय नहीं है कि आपके न रहनेपर हमें माया व्याप्त हो जायगी; क्योंकि आपकी मायाको जीतनेमें हम समर्थ हैं। इसका आशय यह है कि तुम्हें अपनी साधनाका महान् अभिमान है? नहीं, नहीं हमें अपने बलका, अपनी साधनाका, अपनी सामर्थ्यका किञ्चिन्मात्र भी गर्व नहीं है। हे अच्युत! हमें तो आपके जूठनका अभिमान है, आपके दासत्वका अभिमान है। आपकी माया आपके दासोंके ऊपर अपना

पराक्रम नहीं कर सकती है। हे मेरे परमाराध्य! हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने-आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले दास हैं। इसलिये हम आपकी मायाके ऊपर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। एतावता हमें आपकी मायाका भय नहीं है, हमें तो एकमात्र आपके दु:सह वियोगका ही भय है। आगेके श्लोककी व्याख्यामें आये हुए 'जयेम' शब्दका भाव यह है कि यदि वह माया हमारे प्रति आक्रमण करनेके लिये आयेगी तो भी आपके दासत्वके अस्त्रसे ही हम प्रबल होकर उसके ऊपर विजय प्राप्त कर लेंगे। ज्ञान-बलसे उसे नहीं पराजित कर सकेंगे—

जयेम इति सा यद्यस्मान् प्रतिविक्राम्यन्ती आयाति तर्हि एतैरेवास्त्रैः प्रबलीभूय तां जयेम न तु ज्ञानादिभिरित्यर्थः। (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती)

त्वयोपभुक्तस्त्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥

(श्रीमद्भा० ११।६।४६)

जीवमात्रका स्वाभाविक परिचय यह है कि वह श्रीरामजीका दास है। श्रीरामजी अनादिकालसे जीवमात्रके स्वामी हैं, सेव्य हैं और सर्वस्व हैं। जीव भी अनन्त कालसे श्रीरामजीका दास तथा सेवक है। श्रीरामजीका दासत्व-सेवा-कैङ्कर्य ही जीवका प्रधान कर्तव्य है। दास्य-भक्तिके परम आदर्श श्रीहनुमान्‌जी शत्रुकी नगरी लङ्कामें जाकर शत्रुओंके कानोंको विदीर्ण करते हुए यह घोषणा करते हैं—मैं अक्लिष्टकर्मा, परम समर्थ भगवान् श्रीरामका दास हूँ। श्रीहनुमान्‌जी राक्षसोंको देखकर अपनी विशाल पूँछको भूमिपर पटककर लङ्काको प्रतिध्वनित करते हुए गर्जना करने लगे। उस समय श्रीहनुमान्‌जी उच्चस्वरसे गर्जना करते हुए घोषणा करते हैं—

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥

(वा०रा० ५।४२।३३—३६)

इस घोषणाका एक-एक शब्द मन्त्रकी भाँति महत्त्वपूर्ण है। भक्तलोग यात्रामें मङ्गल प्राप्त करनेके लिये इन श्लोकोंका स्मरण करते हैं। अनेक लोग श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायणका पाठ करते समय सर्गके आद्यन्तमें इन श्लोकोंका सम्पुट लगाते हैं। अनेक लोग अनेक प्रकारके मनोरथोंको सिद्ध करनेके लिये अनेक विधानोंसे जप भी करते हैं। इन श्लोकोंमें श्रीहनुमान्‌जीके सहज स्वरूप, दास्यभाव, सहज निष्ठा, साहस और भगवत्कृपापर विश्वासका परिचय मिलता है। मैंने मूलरूपसे इन श्लोकोंके महत्त्वकी व्याख्या की है। श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त निष्ठा, उत्साह और स्नेहपूर्वक अपने परमाराध्यका जयघोष कर रहे हैं। इन श्लोकोंका भाव है—

अत्यन्त बलवान् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो! महाबलसम्पन्न श्रीलक्ष्मणजीकी जय हो! वालीका वध करके श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा संरक्षित वानरेन्द्र श्रीसुग्रीवजीकी जय हो। श्रीहनुमान्‌जी मङ्गलाचरण करके सबसे पहले अपना परिचय देते हैं। जीवका सहज परिचय क्या है? श्रीहनुमान्‌जी इसका उत्तर अनायासेन देते हैं—'**दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य**' अर्थात् *अक्लिष्टकर्मा कोसलेन्द्र श्रीरामजीका मैं दास हूँ, मेरा नाम हनुमान् है। मैं पवनदेवका पुत्र हूँ तथा शत्रुसेनाका मस्तक विदीर्ण करनेवाला हूँ। जब मैं हजारों वृक्षों एवं सहस्रों शिलाखण्डोंसे प्रहार करने लगूँगा, तब सहस्रों रावण समवेत होकर भी मेरे बलकी समानता नहीं कर सकते। मैं लङ्कापुरीको तहस-नहस कर डालूँगा और सबके देखते-देखते—चोरीसे नहीं, श्रीमिथिलेश-नन्दिनीके श्रीचरणोंमें अभिवादन करके जिस कार्यके लिये आया हूँ, उस कार्यको पूर्ण करके—सफलमनोरथ हो करके अपने आराध्य श्रीरामजीके पास चला जाऊँगा।* इस प्रकारकी श्रीहनुमान्‌जीकी गर्जना सुन करके समस्त राक्षस भयभीत और आतङ्कित हो गये।

संसार एवं संसारीका दास अपनेको दास कहनेमें नीचताका, लज्जाका अनुभव करता है और शीघ्र-से-शीघ्र

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥

(रा० च० मा० ४।१० छं० २)

'अब नाथ करि करुना बिलोकहु'—(क) वाली अतिशय स्नेहमयी वाणीमें कहते हैं—हे नाथ? मैंने मान लिया कि मुझसे भयंकर अपराध हो गया था, परंतु अब तो हमने आपके द्वारा प्रदत्त दण्ड प्राप्त कर लिया है। अभी-अभी आपने ही तो कहा था कि जो पापी राजाके द्वारा दण्ड प्राप्त कर लेता है, वह निर्मल हो जाता है और पुण्यात्मा साधुकी भाँति स्वर्गकी प्राप्ति कर लेता है—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥

(वा०रा० ४।१८।३१)

आपके इस वचनके अनुसार तो मैं अब निष्पाप हो गया हूँ, अतः *'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

(ख) जब प्रेमी-प्रियतम आपसमें किसी कारणसे नाराज हो जाते हैं तो एक-दूसरेसे कहते हैं—'अब बहुत हो गया, अब तो मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, अब तो मेरी ओर एक बार प्रसन्न होकर—मुसकराकर देख लो।' इसी भावसे वाली कहते हैं *'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

(ग) वाली बड़ी दीन वाणीमें अपनी अभिलाषा अभिव्यक्त करते हैं—हे नाथ! मरनेवालेपर तो सबके मनमें दयाका संचार होता है। हे प्रभो! अब तो मैं कुछ ही क्षणोंका मेहमान हूँ—अब तो कुछ ही क्षणोंमें मैं मर जाऊँगा, इसलिये इस म्रियमाणकी ओर अब तो पूर्ण कृपादृष्टिसे एक बार निहार लो—*'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

'करुना बिलोकहु' का भाव—यद्यपि मेरे द्वारा अनेक जघन्य अपराध हुए हैं। मैंने आपके दास—भक्त सुग्रीवको मारना चाहा था, मैंने आपके निर्मल वचनोंका प्रत्याख्यान किया एवं अपनी क्रूर वाणीसे आपको दुर्वचन कहा, मेरे अपराधोंका कोई प्रायश्चित्त तो है ही नहीं, फिर भी हे करुणासागर! आपकी करुणापूर्ण अवलोकनिमें बहुत बड़ी सामर्थ्य है, यह मैंने आज, अभी ही अनुभव किया है, अतः उसी कृपादृष्टिसे देखकर हमें कृतार्थ करें। मैं निहाल हो जाऊँगा, मेरे नाथ! *'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ'*—हे स्वामिन्! मैं जिस वरकी याचना करना चाहता हूँ, उसका मिलना आपकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है। सुतराम् कृपा करके मुझे ये वर दीजिये। *'जेहिं जोनि जन्मौं'*—मैं पुनः जन्म धारण करना चाहता हूँ। मुझे मुक्तिकी अपेक्षा नहीं है। मैं जन्म लेकर आपके श्रीचरणोंकी निष्ठापूर्वक भक्ति करना चाहता हूँ। इस जन्ममें मुझसे बड़ी-बड़ी भूलें हो गयी हैं, मैं जन्म लेकर उनको सुधारना चाहता हूँ। यह जन्म मैंने अभिमानी होकर बिताया है। इस जीवनमें मैंने किसी भक्तका साथ भी नहीं किया है। इस दृष्टिसे सुग्रीव मेरी अपेक्षा अधिक भाग्यवान् है। उसकी मित्रता महान् भक्त श्रीहनुमान्से है। यही मित्रता उसके उत्कर्षका कारण बन गयी। इसके विपरीत रावणकी मित्रता मेरे अपकर्षका कारण बन गयी। हे प्रभो! भविष्यके जीवनमें मैं इन त्रुटियोंको सुधारना चाहता हूँ। झूमकर श्रीरामभक्तोंका साथ—सत्सङ्ग करना चाहता हूँ। कामनारहित होकर आपकी भक्ति करना चाहता हूँ। आपकी भक्तिकी माधुरीका आनन्दमय आस्वादन जो कुछ क्षणोंके लिये मिला है, उसका जीभर आस्वादन करना चाहता हूँ। अतः मुझे इस देशमें पुनः जन्म दें। *'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ'* का भाव कि मेरा किसी विशेष योनिमें जन्म लेनेका दुराग्रह नहीं है। मेरा यह भी आग्रह नहीं है कि आप मुझे मनुष्य बना दें किंवा ब्राह्मणकुलमें जन्म दें। मेरे कर्मानुसार जो भी योनि मिलेगी वह मुझे स्वीकार्य है। परंतु हे नाथ! मेरी तो बस इतनी ही प्रार्थना है—इस जीवनकी सान्ध्यवेला—अवसानवेलामें आपने अपनी कृपादृष्टिसे जो भक्तिके संस्कार दिये हैं, वे नष्ट न हों। सम्प्रति आपके श्रीचरणारविन्दोंमें जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, वह दिनोत्तर जन्म-जन्मान्तरमें वृद्धिङ्गत हो, उसमें कमी न आने पाये, ऐसे स्थानमें उत्पन्न करें—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

(रा०च०मा० ४।१० छं० २)

श्रीरामसखा सुग्रीवके अग्रज वालीकी भावनासे श्रीअवधके श्रीरामसखाओंकी भावनामें कितना साम्य है—

जेहिं जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

(रा०च०मा० २।२४।५-६)

अर्थात् हे प्रभो! जीवके मनमें मरणकालकी वेलामें जो भावना होती है, उसीके अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है। हे स्वामिन्! इस समय मेरे मनमें मेरी पत्नी तारा नहीं

बाष्पसंरुद्धकण्ठस्तु वाली [illegible]
उवाच रामं सम्प्रेक्ष्य पङ्कलग्न इव द्विपः॥

(वा०रा० ४।१८।४९)

जिस समय वाली यह चर्चा कर रहे थे, उसी समय रोते हुए अंगद आकर वाल[illegible] खड़े हो गये। इसीलिये वालीने *'यह तनय* [illegible] का प्रयोग किया है। *'यह तनय'* मेरा यह पुत्र जो मेरे नेत्रोंके सामने खड़ा है, इसीमें मेरा राग है। हे प्रभो! मेरी इच्छा है कि यह पुत्रमोह भी मेरे मनसे निकल जाय तो मैं केवल आपके श्रीचरणारविन्दोंका ध्यान करता हुआ सर्वतोभावेन आपके स्वरूपमें अपनी चित्तवृत्ति संनिहित करके प्राण-त्याग करूँ।

'मम सम बिनय बल'—यह अंगद बल और विनयमें मेरी समानता करता है, परंतु किञ्चित् अन्तर है, मेरे बलमें उद्दण्डता थी, इसका बल अनुशासित है, विनयपूर्ण है, इसीलिये बलके पूर्व ***'बिनय'*** शब्दका प्रयोग है—***'यह तनय मम सम बिनय बल'***।

'कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ'—वाली कहते हैं—हे प्रभो! आप कल्याणप्रद हैं। आपकी तरह कल्याण कोई नहीं कर सकता है। हे स्वामिन्! आप अंगदको अपनी शरणमें स्वीकार करें। इसमें अंगदका तो कल्याण होगा ही, मेरा भी परम कल्याण सम्पन्न होगा। मेरा अवशिष्ट राग-ममता-मोह सब विनष्ट हो जायगा।

'गहि बाँह'—मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि रोते हुए अंगदको वालीने अपने अत्यन्त निकट बुलाकर और उसकी बाँहको स्नेहसे पकड़कर यह कहा—हे पुत्र! अब रुदन समाप्त करो। तुमको ऐसे महान् पिताकी गोदमें डालकर जा रहा हूँ, जो अविनाशी हैं, मरणधर्मा नहीं हैं। [illegible] इस प्राकृत पिताकी मृत्यु हो रही है, यह

उत्तरकाण्ड (रा०च०मा० १८।२) में श्रीअंगदने राजाधिराज महाराज श्रीरामचन्द्रजीसे यही कहा है—

मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली॥

इस प्रकार वालीने श्रीरामजीसे कहा—हे अशरणशरण! इस अंगदकी भुजा पकड़ लीजिये। हे प्रभो! जिसकी भुजा आप पकड़ लेंगे, उसका जीवन सुखी हो जायगा।

'आपन दास अंगद कीजिए'

(१) कुछ लोग कहते हैं—वालीने अंगदको श्रीरामजीके श्रीचरणोंमें इसलिये समर्पित किया कि सुग्रीव उसके ऊपर अन्याय न करें, किंवा यह किष्किन्धाके राज्यका उत्तराधिकारी हो जाय। सम्भव है यह भी भाव रहा हो, इस भावमें कोई दोष नहीं है, परंतु मेरे श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि वालीने अंगदको युवराज बनानेके लिये नहीं समर्पित किया है, उन्होंने तो स्पष्ट कहा है—हे प्रभो! इस अंगदको अपना दास बना लीजिये। वैष्णव बना लीजिये। वालीका आभ्यन्तर आशय यह है कि यदि मेरा पुत्र रामदास बन गया—वैष्णव बन गया—शरणागत हो गया—रामाश्रित हो गया तो मेरी अधोगति नहीं हो सकती; क्योंकि श्रीभगवान्‌ने सत्ययुगमें एक विधान बना दिया है कि जिस कुलमें एक रामभक्त उत्पन्न हो जायगा, उसकी इक्कीस पीढ़ियाँ तर जायँगी—

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।१८)

इस प्रकार परम चतुर वालीने अपने माता-पिताका, अंगदका और अपना भी कल्याण एक ही वरसे कर लिया। इसीलिये वालीने श्रीरामचन्द्रजीको **'कल्यानप्रद'** सम्बोधनसे

सम्बोधित किया है।

(२) वालीने कहा—हे रघुनन्दन! हमें ज्ञात है कि आपके दरबारमें दासोंका महत्त्व सर्वाधिक है। बड़े-बड़े राजा-महाराजाओंकी भी उतनी महत्ता नहीं है, *'मोरें अधिक दास पर प्रीती'* अत: हे प्रभो! आप तो इसे राजा बनानेकी अपेक्षा अपना दास बना लीजिये।

(३) राजाको अपनी चिन्ता स्वयं करनी पड़ती है, प्रजाकी भी चिन्ता करनी पड़ती है। उसके अनेक प्रकारके शत्रु-मित्र आदि होते हैं, उनकी भी चिन्ता होती है; परंतु भगवत्-दासको किसीकी चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। उसे तो मात्र भगवच्चिन्तन करना पड़ता है। दासकी चिन्ता उसकी सार-सँभार तो स्वयं श्रीठाकुरजी अर्थात् आप करते हैं, अत: वाली कहते हैं कि अंगदको अपना दास बना लीजिये।

(४) हे प्रभो! मैंने सुना है कि आप अपने अनन्याश्रय दासकी रक्षा उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार एक वात्सल्यमयी जननी अपने नन्हे-मुन्ने दुग्धमुख शिशुकी रक्षा करती हैं। जैसे नन्हा-सा बच्चा चमकीला खिलौना समझकर भयंकर सर्पसे खेलना चाहता है—मौतसे खेलना चाहता है, किंवा सुन्दर समझकर जाज्वल्यमान अग्नि-कणोंको उठाकर अपने मुखमें डालना चाहता है तो पुत्र-वत्सला माँ अपनी चिन्ता न करके उस अबोध शिशुको मृत्युके मुखसे निकाल लाती है। उसी प्रकार आप अपने अनन्याश्रय दासोंकी रक्षा करते हैं—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहिधाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥

(रा०च०मा० ३। ४३। ४—६)

वालीने कहा—मैं तो मर ही रहा हूँ, अब आप इस बालक अंगदको अपना दासत्व प्रदान करके हे भक्तवत्सल! स्वामी और माता दोनोंका वात्सल्य स्नेह प्रदान करें।

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

(रा०च०मा० ४। ३। ४)

(५) हमने आपके दरबारमें दासोंका महत्त्व अभी-अभी देखा है—आप अपनी परम प्रेमास्पदा, प्राणप्रिया, प्रियतमा, प्राणवल्लभा श्रीमिथिलेशनन्दिनीकी स्मृति विस्मृत करके भी अपने दास सुग्रीवका कार्य स्वयं सँवारते हैं। हे अपने दासोंके सर्वकार्यसाधक स्वामिन्! इस बालक अंगदको तो आप अपने श्रीचरणोंका मङ्गलमय दासत्व ही प्रदान करें।

(६) हे स्वामिन्! जीवनकी अवसान वेलामें समझ पाया कि सम्राट् स्वराट्की अपेक्षा श्रीराम-दासानुदासका महत्त्व अधिक है। हे अकिञ्चनधन! *'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा'*- का आपके द्वारा प्रदत्त उत्तर मेरे मनमें जम गया। यद्यपि उत्तरसे तो मैं पूर्ण संतुष्ट हो गया; परंतु पश्चात्तापमय असंतोष बढ़ गया। मैंने सोचा था कि आप सुग्रीवकी अपेक्षा मेरी मैत्रीको अधिक महत्त्व देंगे; क्योंकि मैं रावणको बाँधकर लानेमें सर्वथा समर्थ था, मैं सप्तद्वीप-वानराधिपति था; परंतु आपके सुग्रीव-प्रेममें तो स्वार्थकी गन्धबिन्दु भी नहीं थी। आपको तो समर्थकी अपेक्षा लौकिक दृष्ट्या असमर्थ अपना दास ही अधिक प्रिय है। जब आपने यह कहा—*'मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥'* तब मैं निरुत्तर हो गया और लगा सोचने कि जीवनमें भयंकर भूल हो गयी। यदि मैं आपका दास होता तो बात बन जाती; परंतु *'का बरषा सब कृषी सुखानें।'* हे भक्तवत्सल! हे दासप्रियरघुनन्दन! अब तो मेरे ममत्वके केन्द्रबिन्दु, इस रुदन करते हुए बालक अंगदको अपने श्रीचरणोंका दासत्व प्रदान करके मुझे कृतार्थ करें। इसे श्रीरामदास—श्रीवैष्णव हो जानेपर मेरे पश्चात्तापका प्रायश्चित्त हो जायगा—*'आत्मा वै जायते पुत्रः'* इस न्यायसे।

'अलं अलमिति' अब मुझे कुछ नहीं करना है, आप तो सर्वान्तर्यामी, सर्वान्तर्दर्शी हैं। मैं भी तो आपका दास हूँ। अब तो सप्तद्वीप-वानराधिपति और किष्किन्धाके राजा तो आपके भक्त सुग्रीव हैं। मैं तो सम्पूर्ण हृदयसे आपका अकिञ्चनदास हूँ। मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि''' इतना कहते-कहते वालीका कण्ठ आर्द्र हो गया और उसके लोचनभ्रमर श्रीराममुखकमलपर मँडराने लगे।
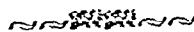
फलरूप (सिद्धि) प्रेम

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

मरूप भगवान् हमसे प्रेमका खेल खेलनेके लिये बहिरंगा शक्ति—माया (प्रकृति)-के द्वारा ब्रह्माण्डरूप खेलका मैदान बना लेते हैं। इस खेलमें भाग लिये प्रकृति हमें कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीररूप आवरण अनादिकालसे देती आ रही है। इसमें शरीर तो बहुत ही ठोस आवरण है। यह देवता, आदि दिव्य योनियोंमें प्राप्त नहीं होता और प्रेमके चार चाँद लगा देता है। चैतन्य महाप्रभुमें विरहको नी आग इतनी उद्दीप्त हो उठी थी कि उनकी के स्पर्शसे वह पत्थर भी पिघल गया था, जिसके वे भगवान् जगन्नाथके दर्शनोंके लिये खड़े होते से आज भी देखा जा सकता है।

इस सुहावनी आगने मीराजीके तीनों शरीरोंके कण-ो बदलकर उसे सन्मय, चिन्मय और आनन्दमय बना था। जैसी कि त्रिपादविभूतिमें लीलाकी आयोजिका नी-शक्तिके द्वारा आयोजित लीलाक्षेत्रमें प्रेमका खेल वालोंकी स्थिति होती है। यही कारण है कि मीराजी रणछोड़जीके श्रीविग्रहमें समरस हो गयीं, तब उनके प्रदत्त शरीरका कोई अङ्ग किसीको उपलब्ध न हुआ। वास्तविकताको लोगोंने तब समझा, जब देखा कि जीकी साड़ीका छोर रणछोड़जीके मुखमें फँसा है।

जिस समय विरहकी मधुमान लौसे मीराजीके प्रकृतिप्रदत्त आवरण जलकर चिन्मयरूपमें परिणत हो रहे थे, उस उनके छलकते प्रेमानन्दसे प्रकृतिका कण-कण आप्लावित ठा था। इस तरह प्रकृतिके द्वारा आयोजित यह लीलाक्षेत्र ुच सन्धिनी-शक्तिके द्वारा लीलाक्षेत्र ही बन गया था। कारण है कि इन प्रेमी भक्तोंको भगवान्ने अपनी आत्मा है—'**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**' (गीता ७। १८)। इसके १६वें श्लोकमें 'ज्ञानी च' कहा गया है। यहाँ 'च' पद निष्काम प्रेमी भक्तोंको ज्ञानी भक्तोंमें अन्तर्भाव करनेके है—'चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्य न्यन्तर्भावार्थः।' (गीता, मधुसूदनी ७। १६)

प्रकृति वञ्चना भी करती है

भगवान्की ओर बढ़ने नहीं देती और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयोंके क्षणिक सुखके भुलावेमें डालकर फँसा लेती है। प्रकृति जब देखती है कि कोई मानव पकड़में नहीं आना चाहता तो मायाके तीन गुणोंको जादुई छड़ीकी तरह प्रयोग कर उसे मोहित कर लेती है और हम वञ्चित मानव उसे ही भुला बैठते हैं, जो हमारा अपना है। इसीलिये संतोंने हमें चेताया है कि माया बहुत बड़ी ठगिनी है, इसके चक्करमें मत पड़ना। *'माया महा ठगिनि हम जानी'* (बीजक ५९)।

मायासे मोहित हो जानेपर मनुष्य विवश हो जाता है। वह उन्हीं कर्मोंको करता है, जिन्हें माया करवाती है। तब मनुष्य दुष्कर्म-पर-दुष्कर्म करता जाता है, उसका ज्ञानस्वरूप बिलकुल ढक जाता है और वह आसुरभावग्रस्त होकर इतना अधम बन जाता है कि भगवान्की शरण ग्रहण करनेकी बात भी सोच नहीं सकता (गीता ७। १५)।

फिर भी प्रेमरूप प्रभु हमें गले लगाता है

भगवान् तो प्रेमरूप हैं। वे हमारी अधमतापर कोई ध्यान नहीं देते, प्रत्युत हमारे तीनों शरीरोंके साथ प्रेमका खेल चालू रखते हैं—'**पुरत्रये क्रीडति।**' (कैवल्योपनिषद् १४)

जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्थामें हमारा मन अन्यासक्त रहता है, अतः स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरके साथ जो खेल होता है उसका सुख हमें नहीं ज्ञात हो पाता, किंतु सुषुप्ति-अवस्थामें हमारा मन पुरीतत नामक नाड़ीमें लीन रहता है, अतः इस अवस्थामें भगवान्के मिलनका सुख हमें मिलता है। सुषुप्तिमें अज्ञानके कारण हम यह नहीं जान पाते कि भगवान्से हमारा मिलन हुआ है, किंतु इतना तो अनुभव करते ही हैं कि खूब सुख मिला है—'**सुखमहमस्वाप्सम्।**' यही कारण है कि गाढ़ी नींदसे उठनेके बाद हम नयी शक्ति, नयी स्फूर्ति और नयी उमङ्गें पाते हैं।

इसलिये वेदान्तने सुषुप्ति-अवस्थाको 'आनन्दभोगावसर' कहा है—'**सुषुप्तिकाले**'—'**आनन्दभोगावसरे।**' (कैवल्योपनिषद् १३, स्वामी शङ्करानन्दभाष्य)

यही कारण है कि वेदान्तने सुषुप्ति और ...

आवृत रहता है और मोक्षमें आवरणरहित अपने ज्ञानस्वरूपमें परिनिष्ठित रहता है—

एतावान् सुषुप्तौ मोक्षे च समो न्यायः। को विशेषः ? एतावान् तु विशेषः (तमोऽभिभूतः) अज्ञानावृतः (सुखरूपम्) स्वप्रकाशमानमानन्दात्मस्वरूपम् (एति) गच्छति।

(कैवल्योपनिषद् १३ स्वामी शङ्करानन्दभाष्य)

यह है हमारे प्रति प्रेमी प्रभुकी प्रेमातुरता और दूसरी ओर है हमारी लज्जास्पद अधमता।

साधनरूप प्रेम

प्रेमी प्रभुने हम अधमोंको अपनानेके लिये भी पहलेसे ही उपाय कर रखा है, उस उपायका नाम है— साधन-प्रेम। इस तरह प्रेम फल है और उसको पानेका साधन भी प्रेम ही है—

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'

सदियों पहले बिल्वमंगल नामक ब्राह्मण-युवक था। ठगिनी माया—चिन्तामणि वेश्याने उसके मनको ऐसा आसक्त कर लिया कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सुहाता ही न था। पिता सख्त बीमार थे, मर भी गये। अन्धेको कुछ दीखता ही न था। बस, चिन्तामणिकी यादमें खोया रहता। पिताके श्राद्धका दिन आ पहुँचा। परंतु बिल्वमंगल चिन्तामणिकी यादमें ज्यों-का-त्यों खोया था। गाँववालोंने धर-पकड़कर उससे पिताका श्राद्ध कराया, किंतु वे उसके मनको कैसे पकड़ते? श्राद्ध पिताका हो रहा है और याद चिन्तामणिकी आ रही है। शामको श्राद्धसे उसका पिण्ड छूटा। अब वह लोगोंकी कैदसे छूटते ही चिन्तामणिके पास दौड़ा। अँधेरा हो आया था। घनघोर पानी बरसने लगा था। बिजली कौंध रही थी, पर उसे आँधीसे भरे रास्तेका डर नहीं था, काँटा-झाड़ी लाँघते-फाँदते वह भागा जा रहा था। रास्तेमें नदी मिली। उस आँधी-पानीवाली रातमें कोई नौका नहीं थी। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसे कोई उतराया हुआ मुर्दा मिल गया, उसीके सहारे उसने नदी पार की और चिन्तामणिके पास पहुँचा। आधी रातमें उसे अपने पास आया देख और आनेका ढंग सुन बेचारी चिन्तामणि उस ब्राह्मण-युवकका पतन देखकर आहत हो उठी। उसे सबसे बड़ा कष्ट यह जानकर हुआ कि वह अपने पिताके श्राद्धको जैसे-तैसे पूरा कर श्राद्धके दिन ही एक वेश्याके पास आ पहुँचा। श्राद्धके दिन वह अपने मृत पिताको रज-वीर्यके नरकमें डुबोनेके लिये उद्यत था। यह सोचकर बेचारी काँप उठी।

चिन्तामणि जिस तरह रूपकी रानी थी, उसी तरह संगीतकी भी रानी थी। संगीतने उसे भगवान्के सौन्दर्य आदि गुणों तथा लीलाओंसे परिचित करा दिया था। मन्दिरोंमें गा-गाकर वह जितना कमाती थी, उतना अपने शरीर-व्यापारमें भी उसको नहीं मिलता था। उसे ग्लानि हो आयी और उसने अपनी वेश्यावृत्ति छोड़ दी।

अब वह भगवान्के नाम-स्मरण, श्रवण और गुण-कीर्तनसे भगवान्की ओर बढ़ने लगी। आज ब्राह्मण-युवकके उस अधःपतनसे अत्यधिक व्यथित होकर वह रोने लगी और उसके पैरोंपर गिरकर बोली—तुम ब्राह्मण हो, किंतु हमसे भी ज्यादा गिर गये हो। मैं कीर्तनरूप श्रवण-गायनसे भगवान्की ओर बढ़ रही हूँ, तुम भी यही करो। भगवान्से प्रेम करके तुम मुझे और अपनेको भी बचाओ। संतके संकीर्तनने मुझे सुझाया है कि भगवान् तो सौन्दर्य-मार्दव आदिके सिन्धु हैं, उन सिन्धुके एक बिन्दुके किसी एक कतरेमें सारी दुनियाकी सुन्दरता, मृदुता और मधुरता है। मेरे बिल्वमंगल! तुम उधर बढ़ो और मेरा तथा अपना भी कल्याण करो। याद रखना, अब कभी वेश्या समझकर मेरे घरमें कदम मत रखना। तुम अभी जाओ और कभी यहाँ न आनेकी शर्त लेकर जाओ। मैं तुम्हारे पैरोंपर गिरती हूँ अपने साथ-साथ मेरा भी कल्याण करो।

इस श्रवण-साधनसे बिल्वमंगल फलरूप प्रेमको पा गया और चल दिया तथा उस अमररसमें डुबकी लगाकर उसने ऐसा सरस गीत गाया कि लाखोंको तार दिया। बिल्वमंगलके वे रस आज भी हमें रसासिक्त कर रहे हैं। उस संत बिल्वमंगलको शत-शत नमन।

प्रकृतिके रससे सराबोर क्रीडास्थली

प्रकृति भगवान्के मिलनमें सहयोग भी करती है। यह तो उन्हींको अपनेमें लिपटाये रखना चाहती है, जो भगवान्के स्मरण और उनके विहित कर्मको त्याग देते हैं। किंतु यदि वे ही लोग जप आदि साधनसे प्रेमपूर्वक भगवान्की ओर उन्मुख होते हैं तो यह उनको भगवान्से मिलनेमें सहयोग भी करती है।

माया (प्रकृति) ठगती उनको है, जो भगवान्का स्मरणतक नहीं करते। जो लोग भगवान्की ओर बढ़ते हैं, उनका तो यह सहयोग ही करती है। अधिक यह आनंद

उनके लिये अपनी क्रीडास्थलीको रससे सराबोर कर देती है। संत कबीरने कहा है कि ब्रह्माण्डमें इतना रस भरा है कि जहाँसे चाहे वहींसे निचोड़कर पीता जाय और छककर प्रेमका खेल खेलता जाय। जो महामानव प्रपञ्चसे परे हो गये हैं, उन्हें निचोड़नेकी भी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि उनके समक्ष यह रस निरन्तर चूता ही रहता है। जब चाहे तब प्याला-पर-प्याला चढ़ाता चला जाय और खेलका अनिर्वचनीय आनन्द लेता रहे—

अरधे उरधे भाठी रोपिन्हि ले कषाय रस गारी।
मूँदे नयन काटि कर्म कल्मख संतत चुअत अगारी॥

(बीजक १२।२)

लीलामें भाग लेनेके लिये मुक्त भी शरीर धारण करते हैं

प्रेमका खेल इतना सरस होता है कि इसमें भाग लेनेके लिये मुक्तलोग भी विग्रह धारण करते हैं—'**मुमुक्षवो मुक्ताश्च विग्रहं कृत्वा भजन्ति।**' (बृ०पूर्वता०उप० २।४)

'**ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रहं कृत्वा नमन्ति।**'

(बृ० पूर्वता० उप० शाङ्करभाष्य)

लीलाके लिये ब्रह्मका विग्रह-धारण

प्रेमका खेल खेलनेके लिये जब मुक्तलोग भी विग्रह धारणकर मञ्चपर उतर आते हैं, तब प्रेमरूप ब्रह्म जो नित्यलीलानुरागी है; वह सौन्दर्य और मार्दवका सागर जिसके एक बूँदके एक कणसे तीनों लोकोंकी सुन्दरता और मृदुलता बनी है, स्वयं विग्रह धारणकर इन्हें गलेसे लगा लेता है—

'**वर्ष्मणोप स्पृशामि**' (ऋग्वेद १०।१२५।७)

मायात्मकेन मदीयेन देहेन उपस्पृशामि। (सायण भाष्य)

स्वयं प्रेम जब शरीर धारणकर प्रेमी बन जाता है और अपने सुकोमल अङ्कमें भरकर प्रियको गले लगाता एवं सहलाता है, तब उस ब्रह्मानन्दमें जो उल्लास उठते होंगे उसकी कोई सीमा रहती होगी क्या?

भगवान्ने प्रेमी भक्त विभीषणसे कहा है कि तुम-सरीखे संत ही मुझे प्रिय हैं। तुमलोगोंके लिये ही मैं विग्रह धारण करता हूँ, अन्य किसी कारणसे नहीं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥

(रा०च०मा० ५।४८।८)

प्रेमी भक्त विभीषण प्रकृतिकी दी हुई अपनी इन्हीं आँखोंसे सौन्दर्य-सिन्धुको देखना चाहते थे और जब उन्होंने भगवान्को देखा तो एकटक देखते ही रह गये, पलकोंको गिरने न दिया—

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥

(रा०च०मा० ५।४५।३)

वे झट भगवान्के चरणोंमें लोट गये। भगवान्ने हर्षित होकर उन्हें अपनी विशाल भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया—

अस कहि करत दंडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥

(रा०च०मा० ५।४६।१-२)

इसके बाद भगवान्ने उन्हें अपने अधरसुधासिक्त वचनोंसे इतनी तृप्ति दी कि वे सुनकर अघाते ही नहीं थे।

इस तरह प्रेमी भक्त और प्रेमी बने प्रेमरूप प्रभु दोनों इस प्रकृतिकी क्रीडास्थलीको रस-सराबोर करते रहते हैं। जो ऋषि-मुनि प्रकृतिसे ऊपर उठकर निर्गुण स्वरूपमें स्थित हैं तथा विधि-निषेधकी मर्यादाको लाँघ चुके हैं, वे लोग भी भगवान्के रससिक्त गुणगणोंके वर्णनमें रमे रहते हैं—

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधतः।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः॥

(श्रीमद्भा० २।१।७)

इस तरह फलरूप-प्रेम ब्रह्मानन्दमें उल्लास-पर-उल्लास उठाता रहता है। भगवान्के सौन्दर्य आदि गुण भगवद्रूप ही होते हैं। जनकजी ब्रह्मानन्दमें निरन्तर निमग्न रहते थे—'**योगिनां जनकादयः।**' वे जीवन्मुक्त थे। उन्हें अपनी देहका भी भान नहीं होता था, अतः विदेह कहे जाते थे। बस, ब्रह्मके आनन्दमें डूबे रहते थे। जब श्रीरामजीका सौन्दर्य उनके सामने आया, तब उनके ब्रह्मानन्दमें उल्लास-ही-उल्लास उठने लगा। रामके सौन्दर्यने जनकको फलरूप प्रेमसे तर-बतर कर दिया था। तब उनका ब्रह्मानन्द मानो सौ गुना बढ़ गया—

अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौगुन किएँ॥

(जानकी-मङ्गल)

प्रेमानन्दमें उनका मन इतना भीग गया कि उसने ब्रह्मसुख त्याग ही दिया—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १।२१६।५)

यह है फलरूप प्रेम!

सत्सङ्ग और श्रद्धा—भगवत्प्रेमके मूल आधार

(श्रीनारायणदासजी भक्तमाली)

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यों लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥

शास्त्र एवं अनुभवी संत महानुभावोंका कथन है कि भगवान्‌में और प्रेममें कोई भी तात्त्विक अन्तर नहीं। ईश्वर प्रेममय है। ईश्वर ही प्रेम है तथा प्रेम ही ईश्वर है। यह जीवात्मा उसी ईश्वरका अंश है। अंशीका गुण अंशमें भी सहजभावसे दृष्टिगोचर होता है, यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। चूँकि ईश्वर प्रेममय है अतएव उनका अंश होनेके नाते जीवात्मा भी प्रेमस्वरूप है। यथा—'**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥**' (गीता १७। ३)

बाह्य जगत्‌में इस श्रद्धाकी अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरोंपर देखी जाती है। 'श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद' में प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने प्रिय सखा उद्धवको समझाते हुए कहते हैं—

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा॥

(श्रीमद्भा० ११। २५। २७)

अर्थात् श्रद्धा सबमें होती है किंतु गुण-भेदसे उसके चार स्तर बताये गये—

१-नहीं करने योग्य कर्मोंमें जिसका मन लगता है, उसकी श्रद्धा तमोगुणी कही गयी है।

२-करने योग्य कर्मोंमें जिसका मन लगता है, किंतु साथ-ही-साथ लौकिक फलाकाङ्क्षा भी जुड़ी हुई हो तो उस व्यक्तिकी श्रद्धा राजसीकी संज्ञा पाती है।

३-जो लौकिक फलाकाङ्क्षासे उपरत होकर आध्यात्मिक साधनाओंमें जुड़ा हुआ है, किंतु मुक्तिमात्रको अपना लक्ष्य बनाये हुए है, उसकी श्रद्धा सात्त्विकी कही गयी है।

आज हम जिस भगवत्प्रेमपर विचार करने बैठे हैं, उसका इन तीनों भूमिकाओंसे ऊपरका स्तर है। वह त्रिगुणातीत श्रद्धा (भगवत्प्रेम)-का मूल आधारस्वरूप है। यही त्रिगुणातीत श्रद्धा ही क्रम-क्रमसे परिमार्जित, परिपुष्ट एवं परिपक्व होकर भगवत्प्रेमका स्वरूप लेती है।

यथा—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु, पू०वि० ४। ६-७)

जैसे आमके वृक्षमें जब फलका अभ्युदय होना होता है तो उसके प्राथमिक स्वरूपको मञ्जरी अथवा बौर कहते हैं। फिर वही क्रम-क्रमसे टिकोरा, अमिया, आम तथा परिपक्व होनेपर रसालकी संज्ञा प्राप्त करता है, मञ्जरीसे रसालतकके सभी नाम एक ही तत्त्वके हैं, किंतु अवस्था-भेदसे ये सभी नाम अलग-अलग कहे जाते हैं। उसी तरहसे जीवके पास परमात्मासे पैतृक धरोहरके रूपमें प्राप्त श्रद्धा नामकी यह सम्पत्ति ही क्रम-क्रमसे श्रद्धा-निष्ठा-रुचि-आसक्तिभाव एवं प्रेमकी विभिन्न भूमिकाओंको पार करती हुई '**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्**' (ना० भ० सू० ५१)-के रूपमें उभड़कर जीवको धन्यता प्रदान करती है।

प्रेमकी वृत्ति सबमें होती हैं, किंतु जब उसकी धारा भौतिकताकी ओर मुड़ी हुई हो तो उसकी संज्ञा काम हो जाती है और वही धारा जब प्रभुकी ओर मुड़ जाय तो हृदयकी उस वृत्तिको प्रेम-भक्तिकी संज्ञा प्राप्त होती है। श्रीचैतन्यचरितामृतकार कहते हैं—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥

कभीका घोर विषयी कामी भी जब प्रभुकी ओर मुड़ता है तो उत्कृष्टतम भगवत्प्रेमीके रूपमें उमड़कर जगत्‌के सम्मुख आता है, यथा—चिन्तामणि नामकी वेश्याके प्रति अतिशय आसक्त बिल्वमंगल एवं हेमाम्बा नामकी वेश्याके प्रति अतिशय आसक्त पहलवान 'धनुर्दास', जिनका जीवनवृत्त गीताप्रेसके भक्तचरिताङ्कमें प्रकाशित है।

इसके विपरीत जो व्यक्ति यह दावा करता है कि मुझमें किसीके प्रति राग, अनुराग है ही नहीं, वह प्रेमका अधिकारी नहीं माना जाता है। जैसे—श्रीभक्तमाल ग्रन्थमें एक प्रसंग आता है—गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके चरित्रमें—

आयो कोउ शिष्य होन भेंट लायो।
लाखनकी, माखनकी चातुरी पै मेरी मति रीझियै॥

एक व्यक्ति लाखोंकी सम्पत्ति लेकर श्रीवल्लभाचार्यजीके पौत्र गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके पास आया और बोला कि मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ और यह सारी सम्पत्ति

दक्षिणाके रूपमें अर्पित करूँगा। दूसरा कोई अर्थलोलुप व्यक्ति होता तो तुरंत दीक्षा देनेको उद्यत हो गया होता, किंतु गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीने पूछा कि आप दीक्षा क्यों लेना चाहते हैं? तो उस व्यक्तिने कहा कि भगवत्प्रेमप्राप्त्यर्थ। श्रीगोस्वामिपादने पूछा कि पहलेसे कहीं प्रेम है क्या? उसने साफ इन्कार किया, बोला—कहीं प्रेम नहीं है। श्रीगोस्वामिपादने कहा कि कहीं-न-कहीं तो प्रेम होगा?

देह, गेह, पत्नी, पुत्र, पौत्र, सम्पत्ति, पद, प्रतिष्ठा, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी-न-किसीके प्रति तो राग अथवा ममत्वकी वृत्ति होगी ही। तथापि उसने अतिशय दृढ़तापूर्वक कहा—कहीं प्रेम नहीं है। श्रीगोस्वामिपादने कहा कि फिर तो मेरे वशकी नहीं है, जो आपके हृदयमें प्रेम उत्पन्न कर सकूँ, अतएव आप और कहीं जाकर दीक्षा ले लें। हमारे यहाँ प्रेम उत्पन्न नहीं किया जाता है, बल्कि पहलेसे विद्यमान प्रेमकी धाराको जगत्‌की ओरसे हटाकर जगदीशकी ओर कर दिया जाता है। जब आपमें वह अनुरागकी वृत्ति है ही नहीं तो मैं अथवा कोई और व्यक्ति प्रेम कहाँसे उत्पन्न कर सकेगा? वह व्यक्ति वापस चला गया। किसीने कहा भी है कि—

मुहब्बतके लिये कुछ खास दिल मख़सूस होते हैं।
ये वो नगमा है जो हर साज पै गाया नहीं जाता॥

हाँ, प्रभु सर्वसमर्थ हैं। वे चाहें तो '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्**' समर्थ होनेके नाते असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं—'**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।**' (मुण्डक ३। २। ३)

इस प्रेमदेवके आराधनकी दिशामें मनीषियोंके बड़े-बड़े विलक्षण उद्‌गार हैं—

प्रेम पन्थ ऐसो कठिन, सब कोउ निबहत नाहिं।
चढ़िके मोम तुरंग पर, चलिबो पावक माँहि॥

प्रेममें लेनेकी वृत्ति नहीं होती, इसमें तो अपने प्रेमास्पद प्रभुके श्रीचरणोंमें निजसहित अपना सर्वस्व समर्पणकी ही भावना होती है। इस मार्गमें 'मैं' के लिये तो कोई स्थान ही नहीं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

सच पूछा जाय तो मानव-जीवनकी वास्तविक सार्थकता इस भगवत्प्रेमोपलब्धिमें ही है, वैसे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष भी पुरुषार्थचतुष्टय कहलाते हैं, किंतु प्रेमके सम्मुख ये चारों भी साधन होकर रह जाते हैं, साध्यकी गिनतीमें नहीं आते। साध्य तो पञ्चम पुरुषार्थ कहलाकर—'**प्रेमा पुमर्थो महान्**' ही सिद्ध होता है।

यह दो तरहका बताया जाता है—एक तो रागात्मक, जो किन्हीं-किन्हीं अवतारी महानुभावोंमें सहजरूपसे विद्यमान होता है—यथा—महाभागा व्रजगोपिकाएँ, श्रीभरतलालजी, सुतीक्ष्णजी, चैतन्यमहाप्रभुजी, मीराबाई आदिके प्रेममें सहजता परिलक्षित होती है। इसे रागात्मक कहा गया है। दूसरा है रागानुग—इसमें साधक कोटिके महानुभाव साधन करते-करते उस भूमिकातक पहुँचनेका प्रयास करते हैं तथा पहुँचते भी हैं। यथा—देवर्षि नारदजीके शब्दोंमें—'**तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः**—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥

(ना०भ०सू० ३८)

श्रीरामचरितमानसके अनुसार सत्सङ्गमें जाते-आते, श्रीहरिकथा सुनते-सुनते मोहकी निवृत्ति होगी, फिर वही कथा एवं सत्सङ्ग भगवत्प्रेमके जननी-जनक हो जाते हैं। यथा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

तथा—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

अतः यदि भगवत्प्रेम-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा हो तो निष्कामभावसे केवल प्रभुके प्रसन्नतार्थ सत्सङ्ग और कथा-रसका पान करते रहें, इससे मोहकी निवृत्ति तथा भगवत्पदप्रेमकी प्राप्ति सहजरूपमें हो जायगी।

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। ११)

जन्मान्तरसहस्त्रेषु तपो ध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

अथवा—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

इसके लिये पूर्वके आदर्श प्रेमियोंका जीवनचरित्र पठन, श्रवण, मनन एवं अनुशीलन विशेषरूपसे परम उपयोगी होता है। जैसे—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २। ३२६)

प्रेम-दर्शन
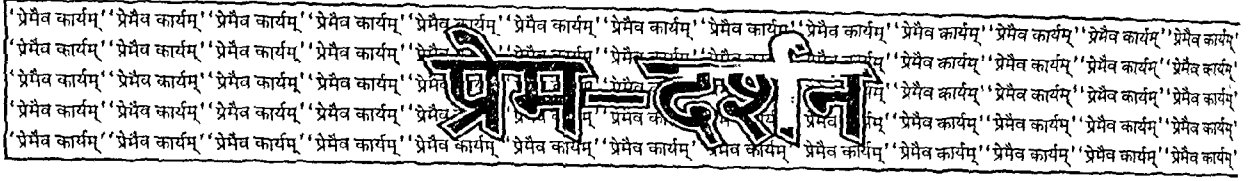
[प्रेम प्रभुका साक्षात् स्वरूप है। जिस प्राणीको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वास्तवमें उसे भगवत्प्राप्ति ह गयी — यह मानना चाहिये। इस प्रकार प्रेम 'साधन' और साधनका फल — 'साध्य' दोनों है। भगवान् स्वयं प्रेममय हैं। भगवा ही प्रेम करनेयोग्य हैं और भगवान्को प्राप्त करनेका साधन भी प्रेम ही है। अतः प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद स्वयं प्रभु ही हैं

प्रेमी भक्तोंने प्रेमास्पद प्रभुको किस रूपमें अपना प्रेम प्रदान किया है, इसके साथ ही यहाँ प्रभुकी प्रेम-लीला तथा प्रभुवे प्रगाढ़ प्रेमका निदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है—सं०]

प्रेम तथा प्रेम-पुजारियोंका दर्शन

प्रेम-प्रसंग

प्रेम! प्रेम!! ओहो, कितने कर्णप्रिय श्रुतमधुर शब्द हैं। इन दो अक्षरोंपर संसारकी सभी वस्तुएँ वारी जा सकती हैं। वन-वृक्ष, लता-पत्ता और कुञ्ज-निकुञ्ज सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम भरा है। जिस प्रकार दुग्धकी रग-रगमें घृत व्याप्त है, उसी प्रकार संसारके अणु-परमाणुमें सर्वत्र प्रेम रम रहा है। जिस प्रकार युक्तिद्वारा मथकर दुग्धमेंसे घृत निकाला जाता है, उसी प्रकार भावुकता, सहृदयता और अनुभूतिद्वारा इस प्रेमकी उपलब्धि होती है।

प्रेम एक बड़ी ही मीठी, मादक, मनोज्ञ और मधुर मदिरा है। जिसने इस आसवका एक भी प्याला चढ़ा लिया, वह निहाल हो गया, धन्य हो गया, मस्त हो गया। उस मतवालेकी भला कौन बराबरी कर सकता है? संसारके शाहंशाह उसके गुलाम हैं! त्रिलोकीका राज्य उसके लिये तृणके समान है। उसे किसीकी चिन्ता नहीं, हर्ष-शोक उसके पासतक नहीं फटकते। वह सदा मस्त रहता है। आनन्द ही उसका घर है, वह सदा उसीमें विहार करता रहता है। वह पागल है, सिड़ी है, मतवाला है, बावला है और है फाँकेमस्त। ऐसे फाँकेमस्तोंके दर्शन बड़े भाग्यसे होते हैं!

प्रेमकी समता किससे की जाय? जब उसकी बराबरीकी कोई दूसरी वस्तु हो, तभी तो तुलना की जा सकती है। वह अद्वितीय, अनिर्वचनीय और अनुपमेय है। उसके समान संसारमें आजतक कोई वस्तु न हुई, न है और न आगे होगी ही। वह अनादि, अनन्त, अजर और अमर है। आप कहेंगे कि ये सब विशेषण तो हरि भगवान्के ही हो सकते हैं? हम कहेंगे—हाँ, यह ठीक है, आप बिलकुल ठीक कहते हैं। किंतु प्रेमके प्रचण्ड पागल रसिव रसखानसे भी तो पूछिये। देखिये वे हरिमें और प्रेममें क्य भेद बतलाते हैं—

> **प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।**
> **एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥**

प्रेमका अलग अस्तित्व ही नहीं। प्रेम प्रभुकी परछाईं-मात्र है। परछाईं यथार्थ वस्तुकी ही तो होती है, प्रेम औ हरि दो नहीं हो सकते!

प्रेमके पागल बड़े ही निर्भीक और निडर होते हैं उन्हें प्रेमके सिवा और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। लो कहते हैं, जान-बूझकर आगमें कौन कूदे? किंतु ये पागल-लोग पतंगको ही अपना गुरु मानते हैं। यह जानते हुए भ कि *'यह प्रेमको पन्थ निरालो महा, तरवारिकी धार पै धावन है।'* उस धारकी कुछ भी परवा न करके उसके ऊपर चलने लगते हैं। जो जानकी कुछ भी परवा नहीं करेगा, वही तो प्रेमवाटिकाकी ओर अग्रसर हो सकेगा।

महाशय! टेढ़ी खीर है, दुर्गम पथ है, बिना डाँड़की नाव है, मदोन्मत्त हाथीसे बाजी लगानी है, विषधर भुजङ्गके दाँत निकालने हैं, मोमके तुरंगपर चढ़कर अनलकी सुरङ्गमें जाना है, कंकरीली पथरीली वन-वीथियोंमें होकर चलना है, पाथेय ले जानेकी मनाही है। धूप और छाँहकी परवा न करनी होगी। भूख और नींदको जलाञ्जलि देनी होगी, कलेजेकी कसक किसीसे कहनी भी न होगी, न मरना ही होगा, न भलीभाँति जीना ही होगा। जो प्रेमकी फाँसमें फँसना चाहता हो, उसे इन सब बातोंपर पहले भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये। खाली 'प्रेम' कह देनेभरसे ही काम न चलेगा। जबतक तू अपने पुराने मित्रका साथ नहीं

छोड़ता, तबतक यह तेरा नवीन मित्र तेरी ओर दृष्टि उठाकर भी न देखेगा और बेचारा देखकर करेगा भी क्या? तेरे हृदयकी कोठरी तो इतनी छोटी-सी है कि उसमें दोकी गुंजाइश ही नहीं। उसमें तो एक ही रह सकता है। एक प्रेमीका निजी अनुभव सुन लें—

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान।
एक म्यानमें दो खड़ग, देखी सुनी न कान॥

है हिम्मत? यदि हाँ, तो आजा मैदानमें। देर करनेसे काम नहीं चलेगा। यह बाजार दो ही दिनका है, अवसर चूकनेपर फिर कुछ भी हाथ नहीं आनेका। देख ये प्रेमके पागल हैं, इनकी गति निराली है, इनकी ओर खूब ध्यानपूर्वक देखना। अहा! कैसी बेकली है, शरीरकी सुध-बुधतक नहीं, नशेमें चूर हैं—

कहूँ धरत पग परत कहुँ, डिगमिगात सब देह।
दया मगन हरि रूपमें, दिन-दिन अधिक सनेह॥
हँसि, गावत, रोवत, उठत, गिरि-गिरि परत अधीर।
पै हरि रस चसको 'दया' सहै कठिन तन पीर॥

इतना ये सब क्यों सहते हैं? इन्हें उस अद्भुत रसका चस्का लग गया है। पुत्र-प्राप्तिके लिये पतिव्रताको भी पीर सहनी पड़ती है और वह उस पीरको प्रेमपूर्वक सहती है, फिर इनके आनन्दका तो पूछना ही क्या है। भगवान् जाने इसमें इन्हें क्या आनन्द मिलता है? न खाते ही हैं, न सोते ही हैं, संसारके सभी कष्टोंको प्रेमपूर्वक सहते हैं, परंतु अपने प्रणको नहीं छोड़ते। ये दुखिया सदा रोया ही करते हैं। इनसे तो संसारी लोग ही अच्छे। वे मौजसे खा-पीकर तान दुपट्टा सोते तो हैं—

सुखिया सब संसार है, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे॥

कबीरदासजी! तुम क्या रोते हो? हम तो इस मार्गमें जिसे भी देखते हैं, रोता हुआ ही देखते हैं। सभीको झींखते ही पाया, सभी छटपटाते ही नजर आये, सभी खीजकर अपने प्रेमीसे कहते हैं—

कै विरहिनिको मीचु दे, कै आपा दिखलाय।
आठ पहरको दाझनो, मो पै सहो न जाय॥

नहीं सहा जाता है तो उसकी बलासे। तुमसे कहा ही किसने था कि तुम आठो पहर दहा करो? तुम्हें ही पागलपन सवार हुआ था, अब जब आ बनी है तब रोते क्यों हो? तुम्हें तो मीराबाईने पहले ही सचेत कर दिया था, वह भी इस चक्करमें फँस गयी थी। भेद मालूम पड़नेपर उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया था—

जो मैं ऐसा जानती, प्रीति करैं दुख होय।
नगर ढिंढोरा पीटती, प्रीति करो मति कोय॥

संसारमें सैकड़ों उदाहरण हैं। रोज ही तो देखते हैं कि प्रीति करके आजतक किसीने भी सुख नहीं पाया। सभी दुःखी ही देखे गये हैं। इसका भेद सूरदासजीसे तो पूछिये! ये भी बड़े चावमें घूमते-फिरते थे। प्रेमके ही चक्करमें फँसकर तो ये आँखोंसे हाथ धो बैठे। अन्तमें अक्ल आयी तो सही, परंतु ***'अब पछिताये होत का जब चिड़िया चुग गई खेत'*** इस चक्करमें जो फँस गये सो फँस गये, इसके पास आकर फिर कोई लौटकर थोड़े ही जाता है? ***'जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखानि'*** बस, उम्रभरका झींखना ही हाथ रह जाता है। सो झींखा करो, उसे इससे कुछ भी सरोकार नहीं। अन्य प्रेमियोंकी भाँति सूरदासजी भी कुढ़कर कह रहे हैं—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतङ्ग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों सम्पति हाथ गह्यो।
सारङ्ग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाण सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधव सों, चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो, नैनन नीर बह्यो॥

यदि नैनन नीर बह्यो है तो बहाते रहो, खूब बहाओ, तुम्हारे नयनोंमें नीर बढ़ भी बहुत गया था, जिसे भी देखते हैं, उसे ही नीर बहाते ही देखते हैं। भगवान् जाने इन प्रेमियोंके नयनोंमें इतना नीर आ कहाँसे जाता है? इनके यहाँ जाड़ा-गरमीका तो नाम ही नहीं। बारहों महीने वर्षा—निरन्तर पावसकी-सी झड़ियाँ लगी रहती हैं। एक बात और भी अचरजकी है। जहाँ पानी होता है, वहाँ अग्नि नहीं रहती। यह संसारका नियम है। किंतु इनके यहाँ विचित्र ही दशा देखी। वर्षा होनेपर भी ये लोग सदा जलते ही रहते हैं और ऐसे जलते हैं कि इनकी आँचसे आस-पासके

पेड़-पत्तेतक स्वाहा हो जाते हैं। बेचारे पेड़की छाँहतकमें भी तो नहीं बैठ सकते। इसी जलनमें जलती हुई एक विरहिनि कहती है—

बिरह जलन्दी मैं फिरूँ, मो बिरहिनिको दुक्ख।
छाँह न बैठों डरपती, मति जलि उट्ठै रुक्ख॥

रूख तो जरूर ही जल उठेगा, उस बेचारेको क्यों बरबाद करती हो? तुम तो जल ही रही हो, तिसपर भी दूसरेकी इतनी चिन्ता? अहा, तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा! कलेजा काँप उठता है। कबीरदासजीने तुम्हें ही लक्ष्य करके सम्भवतः यह कहा है—

जो जन बिरही नामके, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदड़ी, अंग न जामे मासु॥

अङ्गमें मांस जमे कहाँसे? पापी बिरहा साथ लगा हुआ है न? रक्त-मांसको तो यही चट कर जाता है। यह पिंजर बना हुआ है, इसे ही गनीमत समझो। हाड़ तो शेष हैं? परंतु अब हाड़ भी शेष नहीं रहेंगे। अबके इनकी भी बारी है। वैरी बिरहा इन्हें भी न छोड़ेगा—

रक्त मांस सब भखि गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड़ चबान॥

इस कूकरको पहले पाला ही क्यों था? जब इसे खानेको कुछ भी न मिलेगा तो क्या यह भूखा रहेगा? बेचारे बड़ी विपत्तिमें पड़े। एक पल भी चैन नहीं। दयाबाई भी इस चक्करमें फँस गयी थी। उसे भी चैन नहीं मिलता था। उसकी भी करुण-कहानी सुनिये—

प्रेम-पीर अति ही बिकल, कल न परत दिन-रैन।
सुन्दर श्याम सरूप बिन, 'दया' लहत नहिं चैन॥

किस-किसकी सुनें। एक हो तो उसकी बातपर कुछ विचार भी किया जाय। यहाँ तो जिसे भी देखा उसे ऐसा ही देखा। जिसे पाया उसे रोता ही पाया। इससे तो हमीं अच्छे हैं कि इस झंझटसे बरी तो हैं। जब इस मार्गमें इतना दुःख है तो बैठे-ठालेकी कौन मुसीबत मोल ले? परंतु कबीरदासजी कुछ और ही अपना तानाबाना पूर रहे हैं। वे कहते हैं—'जिस घटमें प्रेम नहीं वह तो श्मशानके तुल्य है।' क्या खूब? यह भी कोई बात हुई? भला, श्मशानकी और हमारी क्या तुलना? श्मशान एक जड़ पदार्थ ठहरा और हम हैं चैतन्य। श्मशानको तो हमने कहीं साँस लेते नहीं देखा और हम तो सोते-जागते सदा साँस लेते रहते हैं। उस निर्जीवसे हमारी बराबरी कैसी? लीजिये इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

जा घट प्रेम न संचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान॥

भाई, बात तो बड़े पतेकी कही। किंतु प्रेम मिलेगा कहाँ और कितनेमें मिलेगा? इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

बस एक दाम! जिस दिन तुम इसके दरवाजेपर जाओगे, उसी दिन यह पोस्टर चिपका हुआ पाओगे। मतलब समझ गये? सीधे-सादे शब्दोंमें सुनना चाहते हो तो इसका मतलब यों है—'यहाँ उधारका व्यौहार नहीं, तुरंत दान महाकल्यान' हिसाब चुकता करो और सौदा लेकर चलते बनो। क्या यहाँ भी तुमने और बाजारोंकी-सी बात समझ रखी है? इतनी बात याद रखो—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

हाँ, इतनी हिम्मत हो तभी आगे बढ़ना। आवेशमें आकर दूसरोंसे उस मादक द्रव्यकी प्रशंसा सुनकर वैसे ही मत कूद पड़ना। एक प्यालेकी कीमत क्या है, जानते हो? ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, मूर्ख-पण्डित और पाधा-पुरोहित यहाँ किसीका भी भेद-भाव नहीं। खरी मजूरी चोखा काम। अंट्टीमेंसे टके निकालो और छककर पीओ! जो भी दक्षिणा दे सके वही प्यालेका अधिकारी है। यह देखो सामने दक्षिणाका नोटिस चिपका है। जरा खड़े होकर इसे पढ़ तो लो, तब आगे बढ़ना—

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेमका लेय॥

अहा! वे मनस्वी, तपस्वी और अलौकिक महापुरुष धन्य हैं, जिन्होंने इस प्रेमपीयूषका पान करके अपनेको कृतकृत्य बना लिया है। जिन्होंने प्रेम-सरोवरमें गोते मार-मारकर स्नान किया है। जिन्होंने प्रेमवाटिकामें भ्रमण किया है,

जिन्होंने प्रेमको ही अपना आराध्यदेव मानकर उसीकी अर्चा-पूजामें अपना समय बिताया है। जो निरन्तर प्रेम-सखाके ही साथ हास-विलास किया करते हैं, उनकी पदधूरिसे पापी-से-पापी प्राणी भी परम पावन हो सकता है। उनकी सुधामयी वाणीसे कठोर-से-कठोर हृदयमें भी कसक पैदा हो सकती है। क्यों न हो? जिन्होंने इतनी बहुमूल्य चीज देकर—अपनी सबसे प्यारी जान देकर उसके बदलेमें जो चीज प्राप्त की है, वह क्या कोई साधारण चीज हो सकती है?

हे प्रेमदेवके पुजारियो! संसारमें तुम धन्य हो। हे त्यागी महानुभावो! प्रेमके ऊपर जान लड़ा देना तुम्हारा ही काम है। हे प्रियदर्शन! संसारको त्याग और प्रेमका पाठ तुम्हीं पढ़ा सकते हो। तुम्हारी अनन्य भक्ति, अनुपम त्याग, अद्भुत लगन, सच्ची सहनशीलता और नैसर्गिक नम्रता श्लाघनीय ही नहीं, अपितु अनुकरणीय भी है।

हे त्रिविध तापोंसे तपे हुए संसारी प्राणियो! यदि तुम्हें लोभने आ घेरा है, यदि तुम जानकी बाजी नहीं लगा सकते हो, यदि तुममें शीश उतारनेकी शक्ति नहीं है, यदि तुम्हें अपनी जान अत्यन्त ही प्यारी लगती है और फिर भी तुम उस ओर जानेके इच्छुक हो तो उन प्रेमके पुनीत पुजारियोंकी दो-चार बातें ही सुनते जाओ। इन प्रेमियोंके जीवन-सम्बन्धी बातोंमें भी वह रस भरा हुआ है कि सदाके लिये नहीं तो एक क्षणके लिये तो वे तुम्हें मस्त कर ही देंगी। आओ! तुम्हें प्रेम-हाटकी सैर करा दें!

अहा! देखो न, इस हाटमें चारों ओर कैसी बहार है! धीमी-धीमी सुगन्ध मस्तिष्कको मस्त बनाये देती है। अब देर न करो, मेरे पीछे ही चले आओ।

प्रेम-हाट

प्रेमके हाटकी सैर करना चाहते हो? किस चक्करमें पड़ गये? अरे, इसे तुम कहाँतक देखोगे? इसका अन्त थोड़े ही है। चलते-चलते थक जाओगे। जिसके आदि-अन्तका ही पता नहीं, उसके पीछे व्यर्थमें मगज खपाना पागलपन नहीं तो और क्या है? ओहो! तुम यहाँतक तैयार हो? लोकलाजकी कुछ भी परवाह नहीं? हैं! इतनी निर्भीकता? बस, तब तो ठीक है। अच्छा तो चलो जितना देख सकें उतना ही सही। आदि-अन्तसे हमें क्या प्रयोजन? अच्छा तो जहाँ खड़े हो, वहींसे आरम्भ कर दो। तो, चलो पूर्वसे ही प्रारम्भ हो। पूर्व दिशाको शास्त्रकारोंने भी प्रथम कहा है। अहाहा! कैसी मनोहर करतल ध्वनि है? कोमल कण्ठ तो कोकिलाकी कुहू-कुहूको भी लज्जित कर रहा है। जरा क्षणभर ठहरकर इस सुमधुर रागको सुनते तो चलो। सुनो, देखो कैसा कमनीय कण्ठ है। अहा!

> चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं
> श्रेयः कैरवचन्द्रिका वितरणं विद्यावधूजीवनम्।
> आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
> सर्वात्मस्वपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्॥

अहा! धन्य! धन्य!! महाशय! ये रतिपतिके अवतार कमनीय कान्तिवाले युवक संन्यासी गायक हैं कौन? ये तो बड़े ही उदार दयालु और समदर्शी मालूम पड़ते हैं। हरे राम! रे राम। इतना जबर्दस्त त्याग! इतनी उदारता!! किसीसे कुछ मूल्य ही नहीं लेते। बिना किसी भेद-भावके ये तो सबको भर-भर प्याला पिला रहे हैं। न जाने क्यों, हमारे मनको ये हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं? तुम मुझे जल्दीसे इनका परिचय दो। हैं, क्या कहा? ये ही महाप्रभु **गौराङ्गदेव** हैं। अहोभाग्य! इनकी दूकानपर तो बड़ी भीड़-भाड़ है। मालूम पड़ता है इन्होंने कोई नूतन मादक आसव तैयार किया है। तभी तो गरीब, अमीर, पण्डित, मूर्ख, ब्राह्मण, चाण्डाल, आर्य और यवन—सभी-के-सभी एक ही पंक्तिमें बैठकर पान कर रहे हैं। कोई किसीका लिहाज ही नहीं करता। अरे! इनके पास यह मतवालेकी तरह कौन नाच रहा है? कोई विद्वान् पुरुष-सा ही मालूम होता है। नहीं यार! क्या न्याय-वेदान्त-सांख्य-मीमांसाके दिग्गज विद्वान् आचार्य वासुदेव सार्वभौम इस बेहूदेपनसे नृत्य कर सकते हैं? अरे! हाँ, मालूम तो वे ही पड़ते हैं, परंतु ये बड़बड़ा क्या रहे हैं! जरा कान लगाकर सुनें भी तो—

> परिवदतु जनो यथातथायं
> ननु मुखरो न ततो विचारयामः।
> हरिरसमदिरामदेन मत्ता
> भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः॥

हाँ, इस हरि-रसमें इतनी मादकता है? अरे! इस

मधुर मादक मदिराके वितरण करनेवाले महापुरुष तू धन्य है। भैया, मैं इसका एक बूँद भी पान करनेका अधिकारी नहीं हूँ। जब इतने बड़े-बड़े पण्डित अपने पाण्डित्यके अभिमानको त्यागकर—अमानी होकर पागलोंकी भाँति नृत्य करने लगते हैं तो न जाने मुझ अधमकी क्या दशा होगी? भैया, मुझसे तो इस प्रकार खुलकर नहीं नाचा जायगा। तुम जल्दीसे आगे बढ़ो, हमें तो अभी बहुत कुछ देखना है। बिना वासनाओंके क्षय हुए कोई भी मनुष्य इस अद्भुत आसवके पान करनेका अधिकारी नहीं हो सकता।

अरे, यह क्या? इतनी ही देरमें कायापलट! ये हैं कौन? तुम इन्हें अब नहीं पहिचान सकते। इन्होंने च्यवनप्राशका सेवन कर लिया है। तभी तो इनकी ऐसी कायापलट हो गयी है। तुमने इन्हें बहुत बड़ा देखा होगा! पहले तुमने इन्हें हजारों आदमियोंपर हुकूमत करते पाया होगा, फिर भला, अब तुम इन्हें कैसे पहिचान सकते हो? अब तो ये **'तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना'** हो गये हैं। ये गौड़ेश्वरके भूतपूर्व मन्त्री और सहोदर भाई **रूप** तथा **सनातन** हैं। देखते हो न, कैसे हो गये हैं? इन्हें भी उस प्यालेका चस्का लगा। रूप तो महाप्रभुसे मिलते ही *'नौ दो ग्यारह'* हुए। सनातन कारागारसे छिपकर भागे और वनों-जंगलों तथा पर्वतोंको पार करते हुए *'आमाय गौराचांद डाकि छे'* पुकारते हुए पैदल ही काशी आये और जबतक एक प्याला चढ़ा नहीं लिया, तबतक इन्हें चैन नहीं पड़ा। बस, तभीसे ये वृन्दावनवासी हो गये।

ये इनकी बगलमें कौन हैं? ये इनके भतीजे **जीव गोसाईं** हैं। पण्डित होनेपर भी ये भारी भक्त हैं। हैं तो इन लोगोंके भतीजे तथा शिष्य ही। इन दोनों भाइयोंके सदृश इनमें सादगी और सीधापन नहीं है। फिर भी इनके बाँके भक्त होनेमें संदेह नहीं। इनके पास ही यह युगल जोड़ी कैसी? ये दोनों भट्ट महोदय हैं। एकका नाम है **रघुनाथ भट्ट** और दूसरेका **गोपाल भट्ट**। इनकी भागवतकी कथा बड़ी ही मनोहर होती है।

ठहरो जरा, ऐसी जल्दी क्यों करते हो? वह देखो ढीली धोती पहने हाथमें जपकी थैली लटकाये ये कौन महोदय आ रहे हैं? ये हैं कृष्णपुरके प्रसिद्ध ताल्लुकेदार श्रीगोवर्धनदास मजूमदारके लाड़िले लड़ेते लड़के। इनका नाम है **रघुनाथदास**। घर-द्वार, कुटुम्ब-कबीला और जमीन-जायदाद सबपर लात मारकर ये हरि-भजन करने चले आये हैं। ये जातिके कायस्थ हैं, फिर भी निरामिषभोजी हैं। यह तुमने कैसी बिना सिर-पैरकी बात कह डाली? वैष्णव तो सभी ही निरामिषभोजी होते हैं। तुम समझे नहीं, इनके लिये यह कार्य बहुत ही प्रशंसनीय है। कहावत है कि *'गिलोय एक तो वैसे ही कड़वी थी तिसपर नीम चढ़ी।'* एक तो बंगाली और तिसपर भी कायस्थ। खैर, छोड़ो इस नीरस प्रसङ्गको। हाँ, तो ये बड़े भागवत वैष्णव हैं। प्रेमके पीछे इन्होंने सभी संसारी सुखोंको तृणवत् समझकर उन्हें सदाके लिये त्याग दिया है। ऐसे ही हरिरस-माते भगवद्भक्तोंके सम्बन्धमें तो दयाबाईने कहा है—

> **हरि रस माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध।**
> **त्रिभुवनकी सम्पति 'दया' तृन सम जानत साध॥**

अहा! देखो न, चारों ओर कैसी बहार है। चारों ओर भक्त-ही-भक्त दृष्टिगोचर हो रहे हैं। क्योंजी, ये इतने उत्कण्ठित-से क्यों हैं? भाई! ये सब सूरके दर्शनोंको लालायित हो रहे हैं। चलो जल्दीसे चलें, नहीं हमलोग पिछड़ जायँगे। वह देखो, ये जो सामने अपने सुमधुर गायनसे श्रोताओंको चित्रवत् बनाये हुए हैं, ये ही व्रज-साहित्य-गगनके सूर्य **सूरदासजी** हैं। हाथमें वीणा लिये प्रेममें पागल होकर कीर्तन कर रहे हैं। यही इनका रात-दिनका काम है। इन्होंने आँखें क्यों बंद कर ली हैं? अरे भाई! इस असार संसारकी ओरसे विना आँखें बंद किये कोई उस अमृतानन्दका पान नहीं कर सकता। आँखें मूँदकर ये उस अनिर्वचनीय आनन्दरूप अमृतत्वकी इच्छा कर रहे हैं।

भगवती श्रुति इनके ही सम्बन्धमें तो कह रही है **'आवृत्त चतुरमृतत्त्वमिच्छन्'** इन्हें जरा ध्यानपूर्वक देखो। इनकी परख करनेके लिये हृदय चाहिये हृदय! कैसा हृदय? जलता हुआ, विरह-व्यथामें तड़पता हुआ, वात्सल्य-प्रेममें सना हुआ। अहा, इनके वाक्यबाण प्रेमी हृदयोंमें

तो बड़े ही अमानी मालूम पड़ते हैं! ठीक ही है भाई, बिना अमानी हुए कोई हरिकीर्तनका अधिकारी भी तो नहीं हो सकता। इन्होंने अपनी सम्पूर्ण अवस्था व्रजमें रहकर कृष्णकीर्तन करते हुए ही बितायी है। इन्हें प्रतिष्ठाकी तनिक भी इच्छा नहीं। ये प्रतिष्ठाको 'सूकरीविष्ठा' के सदृश समझते हैं। कामिनी, काञ्चन और कीर्ति कुछ भी नहीं चाहते। ये तो खाली प्रेमके भूखे हैं। इनके मतसे प्रेमके समान 'ग्यान-जोग' कुछ भी नहीं है—

जो ऐसी मरजाद मेटि मोहनको ध्यावैं।
काहि न परमानन्द प्रेम पद पीको पावैं॥
ग्यान जोग सब करमते, प्रेम परे ही मांच।
यों यहि पटतर देत हौं हीरा आगे कांच॥
विषमता बुद्धि की।

सुना आपने? अरे यार, सुना तो सब कुछ, परंतु यह क्या? यहाँ तो स्त्रियाँ भी हैं! तो फिर इसमें आश्चर्यकी ही कौन बात है? यहाँ स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, राजा-रंक और मूर्ख-पण्डित किसीका भी भेदभाव नहीं है। यहाँ आनेको हिम्मत चाहिये। जिसमें हिम्मत हो वही आ सकता है। मालूम है कैसा बनकर इस बाज़ारमें कोई आ सकता है! अच्छा तो सुनो—

सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥

है तुममें सामर्थ्य! भैया, मुझे नहीं चाहिये। तुम यहाँसे आगे चलो। 'भाई, इतने क्यों घबड़ाते हो? यदि तुम सीस नहीं दे सकते तो जिन्होंने सीस समर्पित कर दिया है, उनके दर्शन तो कर ही सकते हो। देखो, ये चित्तौड़की महारानी हैं। अपने प्यारे गिरिधरलालके पीछे पगली बन गयी हैं। इनका नाम है **मीराबाई**। इन्होंने कलियुगमें भी गोपियोंके प्रेमको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है। ये अपनी धुनकी बड़ी पक्की हैं। अपने प्यारेके पीछे ये परिवारवालोंकी कुछ भी परवा न करके देश-परदेशमें मारी-मारी फिरती हैं। इनके प्रेमके प्रभावसे जहर अमृततुल्य हो गया, पिटारीका साँप भी शालग्राम बन गया! तो भी ये बड़े कष्टमें हैं। इनके दुःख-दर्दको भला कौन जान सकता है! सुनो इनकी मनोव्यथा, ये अपने-आप ही अपना दुखड़ा रो रही हैं—

हे री मैं तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणे जो कोइ घायल होय।
जौहरिकी गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिध सोवण होय।
गगन मँडल पर सेज पियाकी, किस बिध मिलणा होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटैगी जब बैद साँवलियाँ होय॥

भाई, बड़ा करुण-कण्ठ है। ऐसी करुण-कहानी तो मैंने आजतक नहीं सुनी। हृदयके अन्तस्तलके सजीव उद्गार हैं!

अहा, ये तो कोई गुजराती महाशय हैं! हाँ परम भागवत अनन्यवैष्णव स्वनामधन्य **श्रीनरसी मेहताजी** आप ही हैं। स्वयं श्रीहरि इनके सहायक हैं। इनके सभी काम वे अपने ही हाथोंसे करते हैं। ये परायी पीरको भी जानते हैं। इन्होंने वैष्णवकी परिभाषा ही यह की है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।

तुम परायी पीर जानते हो? भाई, कैसा बेढंगा प्रश्न कर देते हो। चलो आगे बढ़ो। ये तो पगड़ी बाँधे हुए हैं, कोई महाराष्ट्रके महापुरुष जान पड़ते हैं। हाँ भाई, ये महाराष्ट्रके प्रसिद्ध संत हैं। महाराष्ट्रमें कीर्तनके समय जिन सात महापुरुषोंका नाम लेकर कीर्तन आरम्भ किया जाता है, उनमें इनका भी नाम है। वे सात कौन-कौन हैं, जानते हो? 'निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई, एकनाथ, नामदेव और तुकाराम'। ये **तुकारामजी** महाराज ही हैं। इन्होंने विधिनिषेधका झंझट त्याग दिया है। वेदान्तियोंका तो कथन है कि सभी नाम-रूप मिथ्या हैं। उनके मतमें 'नाम' कोई सत् पदार्थ ही नहीं, किंतु इनकी बात निराली ही है। ये नामके ही पीछे पागल हुए फिरते हैं। जिसे देते हैं, उसे नामका ही उपदेश देते हैं। कुछ दुष्टोंने इन्हें गिरानेके लिये एक वेश्याको सिखा-पढ़ाकर इनके पास भेजा। गयी तो थी वह इन्हें रिझाने, वहाँ जाकर वह स्वयं ही रीझ गयी! इन्हें न गिराकर स्वयं ही इनके चरणोंपर गिर पड़ी और फिर ऐसी गिरी कि उठकर फिर नगरमें नहीं आयी। नामके अनन्त सागरमें घुल-मिलकर वह तद्रूप हो

है? फिर यार ये पोथे-के-पोथे रचे क्यों गये हैं? विश्वासके लिये। खाली 'राम' इन दो अक्षरोंके ऊपर बुद्धिवादियोंका सहसा विश्वास नहीं होता। इसलिये शास्त्रकार पहले बहुत-सी बातें बनाकर अन्तमें घुमा-फिराकर यही बात कह देते हैं 'विश्वास करो। भगवान्का नाम लो'। परंतु बिना उसका असली मर्म जाने कोई इस भेदको पा थोड़े ही सकता है? तुकारामजीने इस मर्मको जाना था। कैसे? शास्त्र-ज्ञानद्वारा! अजी नहीं, अपने अनुभव-ज्ञानसे, राम-नामके प्रतापसे, तभी तो ये निर्भय होकर कह रहे हैं—

अनुभवसे कहता हूँ, मैंने उसे कर लिया है बसमें।
जो चाहे सो पिये प्रेमसे, अमृत भरा है इस रसमें॥

भाई, इनकी बात तो कुछ-कुछ हमारी समझमें भी आती है। खाली मुखसे राम-राम ही तो कहना है, इसमें लगता ही क्या है? हाँ, यह मत समझना। ये भी किसीसे कम नहीं हैं। नामसनेही संत जानके बदलेमें मिलते हैं। *'तुका ह्मणें मिले जिवाचीये साटीं'* लगा सकते हो जीकी बाजी? चलो, चलो भाई, आगे चलो। यहाँ तो बिना जानके कोई बात ही नहीं करता। इन सबके मतसे मानो जानका कुछ मूल्य ही नहीं! कुँजड़ेका गल्ला समझ रखा है!

अच्छा इन्हें जानते हो! हाँ यार, इन्हें जानना भी कोई कठिन काम है, देखते नहीं हो! गलेमें कितनी मालाएँ पड़ी हैं, ठाट-बाटका चन्दन लगा हुआ है, सम्पूर्ण शरीरमें व्रजरज लिपटी हुई है, कोई परम भागवत वैष्णव हैं। अरे, यह तो कोई भी बता सकता है, यह बताओ, ये कौन जातिके हैं? भाई, वैष्णवोंकी भी कोई जाति होती है क्या? *'हरिको भजे सो हरिका होय, जाति पाँति पूछे ना कोय'* हरिजन ही इनकी जाति है; परंतु देखनेमें तो ये कोई उच्च कुलके पुरुष जान पड़ते हैं। तुमने अभी इन्हें पहिचाना नहीं। ये जातिके सैयद हैं। ये दिल्लीके शाही खानदानी राजवंशावतंस

मानुष हौं तो वही रसखानि,
बसौं व्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिको,
जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कालिंदी-कूल-कदंबकी डारन॥

यार, इनकी वाणीमें तो बड़ी माधुरी और प्रेम भरा है! कुछ पूछो मत। प्रेमका जैसा अद्भुत वर्णन इन्होंने किया है, वैसा वर्णन व्रजभाषामें बहुत ही कम कवियोंने किया है। लो तुम तो अनेक फूलोंका रस चखनेवाले भ्रमर हो न! लो थोड़ा इनके प्रेमपीयूषका भी स्वाद चखते चलो। अहा, क्या ही सुन्दर शब्द-विन्यास है! कैसा ऊँचा आदर्श है! कितनी स्वाभाविकता, सरलता तथा सरसता है—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नाहिं रसखान॥

भाई, मुझे यहाँसे जल्दीसे हटाओ। यदि मैं इसमें फँस गया, तब तो सभी गुड़ गोबर हो जायगा। मुझे तो अभी संसारमें बहुत-से काम करने हैं। यदि मैं इस चक्करमें फँस गया तो वे सब तो ज्यों-के-त्यों ही रह जायँगे। *'हे हरि, त्राहि मां! रक्ष मां!!'*

अच्छा तो लो आगे चलते हैं। इन्हें पहिचानते हो? खूब, लो इन्हें भी न जानूँगा? ये कृष्णगढ़ाधीश महाराजा जसवन्तसिंहजी हैं न? अरे, चुप, चुप! यहाँ भूलकर भी फिर इस नामको न लेना। लोग हँसी करेंगे। यहाँ इनका नाम है, महात्मा **नागरीदास**। राजा होकर भी ये प्रेमी हैं और सच्चे प्रेमी हैं। अपने प्यारेके ऊपर इन्होंने सब कुछ वार दिया है। राजपाट, धन-दौलत तथा स्त्री-बच्चे सभीको

छोड़-छाड़कर ये वृन्दावनवासी बन गये हैं। ***'सर्वसुके मुख धूरि दे सर्वसु कै ब्रज धूरि'*** बस, व्रजकी धूरि ही अब इनका सर्वस्व है। ये भक्त होनेके साथ कवि ही नहीं, सत् कवि भी हैं। वृन्दावन ही इनका सब कुछ है, कृष्ण ही इनका सखा है, उसके गुणगान करना ही इनका व्यापार है। *'नागरिया नन्दलाल सो निशिदिन गाइयै'* बस, यही इनकी टेक है। यह टेक अब टारी नहीं टरती। एक बारकी लगी लगन फिर छुड़ायेसे भी नहीं छूटती। इन्हें लगन लग गयी है और सच्ची लग गयी है। तभी तो ये वार-पार हो गये हैं। कबीरदासजीने इन्हींके सम्बन्धमें तो यह कहा है—

लागी लागी सब कहैं, लागी बुरी बलाय।
लागी तबही जानिये, जब वार पार ह्वै जाय॥

इधर ये दो बाई कौन हैं? इन बाइयोंकी बात क्या पूछते हो? ये दोनों बहनें हैं। ये दोनों ही महात्मा चरनदासजीकी चेली हैं। इनमेंसे एकका नाम तो है **सहजोबाई** और दूसरीका **दयाबाई**। इनकी उत्कट भक्ति और सच्ची लगनके सम्बन्धमें अब हम आपसे क्या कहें? सहजोबाई प्रेमीकी दशाका वर्णन करती हुई कहती हैं—

प्रेम दिवाने जो भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन॥

दयाबाईकी दीनता और विरह-वेदना बड़ी ही मर्मस्पर्शी है! सुनिये किस करुण-कण्ठसे प्रभुसे प्रार्थना कर रही हैं—

जनम जनमके बीछुरे, हरि अब रह्यो न जाय।
क्यों मनकूँ दुख देत हौ, बिरह तपाय तपाय॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवैं केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥

अब यहीं अटके रहोगे, कि आगे भी बढ़ोगे? अरे, यहाँ कहाँ ले आये? 'ये गङ्गाजीकी गैलमें मदारके गीत कैसे?' यहाँ तो सर्वत्र कारखाने-ही-कारखाने दीखते हैं। बाबा! यहाँ मुझे क्यों ले आये? ***'आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास'*** क्या भक्तोंकी हाट छोड़कर अब मिलोंमें पाट परखने चल रहे हो? भाई, जरा धैर्य धारण करो। जानते हो इस नगरका क्या नाम है? इसका नाम है कलकत्ता। यही पश्चिमी सभ्यताकी जीती-जागती तसवीर है। परंतु तुम इतने घबरा क्यों गये? कभी पहाड़की यात्रा की है या नहीं? जहाँ बिच्छूका पेड़ होता है, ठीक उसके नीचे ही उसकी दवा भी होती है। नगरसे निकल चलो तब तुम्हें पता चलेगा।

न जाने क्यों, इस स्थानमें मेरा मन स्वतः ही शान्त-सा हो रहा है? वृत्तियाँ अपने-आप ही स्थिर हो रही हैं! अजी, यदि ऐसा हो रहा है तो इसमें आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है? अभी थोड़े ही दिन हुए यहाँपर एक ऐसे महात्मा हो चुके हैं, जिनकी ख्याति भारतवर्षमें ही नहीं दूसरे-दूसरे देशोंतकमें फैल गयी है। इस स्थानका नाम है दक्षिणेश्वर। **परमहंस रामकृष्णदेवने** यहीं रहकर सिद्धि प्राप्त की थी और यहींपर रहते हुए अपनी वाक्-सुधाद्वारा वे संसारी तापोंसे संतप्त प्राणियोंकी परम पिपासाको शान्त करते रहे। वे कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे, किंतु तो भी अच्छे-अच्छे पण्डित उनके चरणोंमें बैठकर उनके मुख-निःसृत स्वाभाविक ज्ञानका बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ पाठ पढ़ते थे। उन्होंने व्याख्यान-मञ्चपर खड़े होकर न तो कभी व्याख्यान ही दिया और न लेखनी लेकर ग्रन्थोंका ही प्रणयन किया फिर भी उन्होंने सम्पूर्ण धर्मशास्त्रोंका मर्म कह डाला। कबीरदासजीने मानो इन्हें ही लक्ष्य करके यह बात कही थी—

मसि कागज तो छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिहु युग माहात्म्य तेहि, कहिकै जनायो नाथ॥

उन्होंने जबानी ही सब शास्त्रोंके उपदेश कह डाले। भाई, ये माताके प्रेममें सदा मग्न रहते थे, शरीरकी भी सुधि-बुधि नहीं! क्षण-क्षणमें समाधि! माताके साथ बातें करना ही इनका व्यापार था। इन्हें अपनी जननीके ऊपर दृढ़ विश्वास था। एक बार इन्होंने अपनी माताको लक्ष्य करके बड़ी ही दृढ़ताके साथ कहा था—

आमि दुर्गा दुर्गा वोले मा यदि मरि।
आखेरे से दिने ना तारे केमन जाना जावेगो शङ्करी॥

ठीक है महाराज, मातामें भला इतनी हिम्मत कहाँ जो वह तुम्हारी चुनौती स्वीकार कर ले? उसे तो तारना ही होगा। परमहंसदेवके सदुपदेशोंसे पश्चिमीय सभ्यताका घटाटोप

लीला-दर्शन—

नित्य-मिलन

श्याम आज बहुत प्रसन्न है। यह आनन्दकन्द है। इसके समीप पहुँचते ही दूसरोंका विषाद-खिन्न मुख खिल उठता है। जहाँ जाता है, हर्ष-आह्लादकी वर्षा करता चलता है; किंतु आज तो लगता है जैसे पूर्णिमाके दिन महासमुद्रमें ज्वार उठ रहा हो।

मैयाने शृङ्गार कर दिया है। सिरपर तेल-स्निग्ध घुँघराली काली सघन मृदुल अलकोंको थोड़ा समेटकर उनमें मोतियोंकी माला लपेट दी है और तीन मयूरपिच्छ लगा दिये हैं।

भालपर गोरोचनकी खौरके मध्य कुंकुमका तिलक है। कुटिल धनुषाकार सघन भौंहोंके नीचे अञ्जन-रञ्जित विशाल लोचन प्रसन्नतासे खिले हैं। कर्णोंमें पुष्परागके पीत कुण्डल झलमला रहे हैं। अतसी-कुसुम सुकुमार नासिकाके नीचे लाल-लाल पतले अधर बार-बार हास्योज्ज्वल हो रहे हैं और चमक-चमक उठती है उनके पीछे उज्ज्वल, पतली दन्तपङ्क्ति।

कण्ठमें प्रभातकी अरुणिमाका उपहास करनेवाला कौस्तुभ मणि, मुक्तामाल, वैजयन्ती माला और पटुकेके मध्य विकच सरोजके समान खिला है।

वक्षपर तनिक वामपार्श्वमें स्वर्णिम रोमराजिका श्रीवत्स-चिह्न, लहराती वनमालाके अङ्कमें छहर-छहर उठती मुक्तामालकी शोभा और उसके नीचे उदरकी त्रिवलीके मध्य नाभिका गम्भीर नन्हा गड्ढा। पतले चिकने उदरपर क्षीण कटिके सम्मुख यह नाभि लगती है जैसे शोभाकी राशिपर इन्द्रनीलमणि धर दी गयी हो।

भुजाओंमें रत्नाङ्गद हैं। कलाइयोंमें रत्नकङ्कण हैं। खिले हुए नवीन कमलके समान अरुण करोंमें पतली लाल-लाल अँगुलियाँ और उनके सिरेपर पाटलारुण ज्योति बिखेरते नख।

कटिमें पीत कछनीके ऊपर रत्नकिङ्किणी रुनझुन करती जाती है। चरणोंमें नूपुर हैं और वीरवधूटी भी क्या इतनी सुकुमार, अरुण होगी जितने इस व्रजराजकुमारके पादतल हैं।

अभी न इसने शृङ्ग लिया है, न वेत्र-लकुट। केवल मुरली कटिकी कछनीमें दाहिनी ओर लगी है। अभी तो सखा आनेवाले हैं। सब आ जायँगे तो सबके साथ कलेऊ करेगा और तब शृङ्ग, लकुट लेकर गोचारणके लिये निकलेगा।

वनमालाके अतिरिक्त शरीरपर और कोई पुष्प या पुष्पमाला नहीं है। यह शृङ्गार तो सखा वनमें पहुँचकर करेंगे। अभी तो अमल सुचिक्कन कपोलोंपर भी कोई चन्दन अथवा वनधातुकी पत्र-रचना नहीं है।

दाऊ दादा—नील वसन, एक कुण्डलधर दाऊका मैया अभी शृङ्गार कर रही हैं। उनको सम्मुख बैठाकर उनकी अलकें समेट रही है कि उनपर मुक्तामाल लगा दे। दाऊ शान्त बैठे हैं मैयाके समीप, मैयाकी ओर मुख करके।

माता रोहिणी कलेऊ सजानेमें लगी हैं। अभी सब बालक आयेंगे और सबके साथ ही उनके राम-श्याम कलेऊ करेंगे।

भद्रको कहींसे आना तो रहता नहीं। बाबाके समीप रहता है। बाबा ही इसे अपने साथ स्नान कराते हैं। बाबाके साथ गोदोहन करके गोष्ठसे भवनमें आ जाता है। आज जैसे ही भवनमें आया, कन्हाईने लगभग झपटकर दोनों भुजाएँ कण्ठमें डाल दीं और लिपट गया।

अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोम आनन्दसे खिला जा रहा है। हर्षोत्फुल्ल लोचन, आनन्द-तरङ्गायित सम्पूर्ण देहवल्ली। भद्रने भुजाओंमें भर लिया। बड़े स्नेहसे पूछा—'आज तू

'सबसों ऊँची प्रेम-सगाई'

प्रेमकी वेदीपर सर्वस्व समर्पण कर देना ही प्रेमीका एकमात्र ध्येय होता है। प्राण देकर भी यदि प्रेमास्पदके किसी काम आया जा सके तो इससे बढ़कर सौभाग्यकी और बात ही क्या हो सकती है? प्रेमी तो रात-दिन इसी चिन्तामें निमग्न रहता है कि उसे ऐसा कोई सुयोग मिले, जिससे वह इस सौभाग्यको उपलब्ध कर अपने जीवनको सार्थक बना सके। इसी व्यथाको लेकर वह रात-दिन छटपटाया करता है।

प्रेमास्पदके अमङ्गलकी थोड़ी-सी भी आशङ्कासे प्रेमी व्याकुल हो उठता है, तभी तो भरतको इतनी भारी सेना साथमें ले जाते देखकर वह भोला निषाद यह सोच बैठा कि अवश्य ही कैकेयी-सुवन भरत श्रीरामको मारनेके विचारसे जा रहे हैं। उसके निर्दोष अन्तस्तलमें तो निष्कपटता और सिधाईका ही एकच्छत्र साम्राज्य था, वह भला क्या जानता कि भरतका हृदय कैसा है? उस-सरीखे व्यक्तिसे तो ऐसी ही आशा की जानी चाहिये थी। पर इस विचारसे ही उसका माथा ठनकने लगा। प्रेमास्पदपर संकटकी आशङ्का देखकर ऐसा होना स्वाभाविक ही है। बस, कर्तव्यका निश्चय करनेमें उसे क्षणभरकी भी देर न लगी। 'मेरे रहते भरतकी यह हिम्मत कि वे गङ्गापार कर मेरे प्रियतमपर चढ़ाई कर दें! ऐसा नहीं हो सकता!' वह तुरंत ही अपने सारे साथियोंको एकत्र कर आज्ञा दे देता है—

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥

(रा० च० मा० २। १९०। १-२)

कितने सौभाग्यका विषय है—

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़ें भाग असि पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥

(रा०च०मा० २।१९०।३—६)

अरे, यहाँ तो 'Head I win, tail you lose.'—चित्त भी मेरी, पट्ट भी मेरी। सभी तरहसे अपने पौ बारह हैं। इस क्षणभङ्गुर शरीरद्वारा प्रियतमकी थोड़ी-सी सेवाका अवसर मिल गया है—इससे बढ़कर और क्या सौभाग्य हो सकता है!

आदेशका पालन होनेमें लेशमात्र भी विलम्ब नहीं हुआ। ऐसा था ही कौन, जिसके श्रीराम प्राण-प्रिय न थे? पलभरमें सारी सेना तैयार! पर, यहीं पर्दा पलट जाता है।

भरत लड़ने नहीं जा रहे हैं, भैयासे मिलने जा रहे हैं। उन्हें खबर लगती है कि श्रीरामका एक सखा उनसे मिलने आ रहा है। प्रियतमका एक सखा! हृदय गद्गद हो उठता है। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें—

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥

(रा०च०मा० २। १९३। ७-८)

पर श्रीरामका सखा और इतनी दूरसे मुझे प्रणाम करे? भरतका प्रेमी हृदय इस बातको कैसे सहन करता? बस, क्या था—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥
भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥

(रा०च०मा०२। १९३; १९४। १-२)

क्यों?—कारण स्पष्ट है—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

(रा०च०मा० २। १९४। ३-४)

पर—प्रेममें सब कुछ क्षम्य है!

× × ×

प्रतीक्षा, प्रतीक्षा और केवल प्रतीक्षा—साधनाका सारा सार तो इन्हीं तीन अक्षरोंके भीतर समाया हुआ है। प्रभु एक दिन आयेंगे और अवश्य आयेंगे—यह तो ध्रुव निश्चय है; पर जबतक वे नहीं आते, तबतक उनकी प्रतीक्षा अनिवार्य है। वे जबतक न आयें, तबतक उनका पथ देखते रहो, उनकी आशा लगाये रखो और रात-दिन उनकी स्मृतिकी पावन माला गूँथते रहो, यही तो है सारे शास्त्रों और धर्मोंका सार। सभी इस विषयमें एकमत हैं।

वह दुबली-पतली भूरे बालोंवाली बुढ़िया इस रहस्यको भली प्रकार जानती थी। तभी तो वह प्रतिदिन कुटियाके आस-पासके सारे मार्ग साफ कर डालती। एक भी कंकड़ मार्गमें पड़ा न रहने देती। कंकड़ यदि रह गया तो उसके परम प्रभुके पावन पदारविन्दोंमें चुभ न जायगा? प्रतिदिन वह फूलोंका हार गूँथती और इसी कल्पनामें मग्न रहती कि कब वे आयें तथा कब मैं इसे उनकी कोमल ग्रीवामें डालकर अपने जीवनको सफल करूँ। वह नित्य जंगलसे मीठे-से-मीठे बेर चुन लाती और प्रियतमके लिये रख छोड़ती।

पर, उसके प्रियतम नहीं आते।

हार मलिन पड़ जाते, हवा बहकर मार्गपर कंकड़ियाँ बिछा जाती, फल सूख जाते—पर उसकी आशा नहीं मिटती! उसकी प्रतीक्षामें निराशाका चिह्नतक न दीख पड़ता! उदास होना तो मानो वह जानती ही न थी। सारी बातें जो एक दिन पहले करती रही, दूसरे दिन फिर करती। आलस्य तो उसे छू भी नहीं गया था। अहा, कितनी पावन और मनोमुग्धकारी थी उसकी वह सतत साधना!

पत्ता खटकता और वह समझने लगती कि उसके परम कृपालु प्रभु आ रहे हैं, जरा-सा भी कहीं कुछ शब्द सुन पड़ता कि द्वारपर उसकी आँखें बिछ जातीं—'सम्भवत: मेरे श्रीराम आ रहे हैं।' पर उसकी आशा पूरी न होती।

दिन, सप्ताह, मास और वर्ष—सभी एक-एक कर बीतते चले जाते हैं, पर उस वृद्धा शबरीकी साधनामें कोई व्यतिक्रम नहीं पड़ता। वह सदैवकी भाँति उसी प्रकार अपने मार्गपर चलती जाती है। उसे इस बातका अवकाश ही नहीं कि कुछ सोच-विचार करे। अन्ततोगत्वा एक दिन उसकी साधना—अनन्त जन्मोंकी साधना—पूरी हुई। होती क्यों नहीं? प्रेमका कच्चा धागा भी मामूली नहीं होता। किसीके पास हो भी तो! फिर तो कच्चे धागेमें सरकार बँधे चले आते हैं!—

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥

(रा०च०मा० ३। ३४। ६-७)

अरे, यही तो है वह रूप, जो उसके गुरु महर्षि मतंग उसे बता गये थे! इसी मूर्तिकी तो वह इतने दिनोंसे अपने मानस-मन्दिरमें प्रतिष्ठा किये हुए निरन्तर पूजा करती आ रही है! आज उसकी चिरवाञ्छित अभिलाषा पूर्ण हुई—

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥

(रा०च०मा० ३। ३४। ८)

भोली प्रेमिन प्रभुके चरणकमलोंमें लोट गयी। आज उसके आनन्दका क्या ठिकाना!—

प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥

यात्रीने यह चिट्ठी भगवान्‌के श्रीचरणोंमें रख दी।

इधर लहुलमें कूर्मदास भगवान्‌की प्रतीक्षा कर रहे थे। जोर-जोरसे बड़े आर्तस्वरसे पुकार रहे थे—भगवान्! कब दर्शन देंगे? अभीतक क्यों नहीं आये। मैं तो आपका हूँ न! इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल हो पुकारने लगे। 'नाथ कब आओगे' की पुकार सुन स्वभाववश प्रेमाधीन भगवान् पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठल ज्ञानदेव, नामदेव और सावंता मालीके

साथ कूर्मदासके सामने आ खड़े हुए। कूर्मदास धन्य हो गये। अपलक विठोबाको निहारते ही रह गये। चेत आनेपर भगवान्‌के चरण पकड़ लिये। तबसे भगवान् विट्ठल जबतक कूर्मदास रहे, वहीं रहे। वहाँ जो विट्ठलनाथका मन्दिर है, वह इन्हीं कूर्मदासपर भगवान्‌का मूर्त अनुग्रह है। यह है भगवान्‌का प्रेमानुबन्ध।

प्रेमका यही स्वाद भक्तिमती जनाबाईने भी चखा है। भगवान् विट्ठलनाथकी अनन्य भक्त जनाको जब भी कामसे फुरसत मिलती मन्दिर चली जाती। रातको सबलोग जब अपने-अपने घर चले जाते, जनाबाई मन्दिरमें पहुँचती और एकान्तमें भगवान्‌का भजन करती, ध्यान धरती, हँसती, गाती तथा भाव-विभोर हो नृत्य करने लगती। एक दिन बड़ी विपद घटी। भगवान्‌के गलेका रत्न-पदक चोरी हो गया। मन्दिरके पुजारियोंको जनापर संदेह हुआ। इसने भगवान्‌की शपथ भी ली, लेकिन लोगोंको विश्वास नहीं हुआ। लोग इसे सूलीपर चढ़ानेके लिये चन्द्रभागा नदीके तटपर ले गये। सूलीकी ओर देखते हुए जनाने ए अत्यन्त विकल होकर आर्त स्वरसे भगवान्‌की गुहा देखते-ही-देखते सूली पिघल कर पानी हो गयी। भग और उसके रसास्वादनका इससे बड़ा उदाहरण औ होगा? तब लोगोंको पता चला कि भगवान्‌के द जनाका क्या स्थान है। कहते हैं कि नदीसे पानी लाते और चक्की चलाते समय स्वयं भगवान् मूर्तिमान् जनाका हाथ बँटाते थे। यह है प्रेमाधिकार, जहाँ भ स्वयं मूर्तिमान् होकर सखत्व स्वीकार करते हैं।

महाभारतका प्रसंग है। पितामह भीष्मने प्रतिज्ञा कि कल वे अर्जुनको मारेंगे। भीष्म पितामहकी प्रतिज्ञा नहीं जा सकती। सर्वत्र हाहाकार मच गया, लेकिन अ नित्यानुसार भगवच्चिन्तन करते हुए सो गये। नि भगवान् कृष्णको भी चिन्ता हुई—'कल मेरे अर्जुनका होगा?' वे अर्जुनको देखने उनके तम्बूमें आये। दे अर्जुन सोये हैं। उन्होंने उन्हें जगाया। जनार्दनने पूछा—' नींद कैसे आती है?' अर्जुनने सहज जवाब दिया—के आप मेरे लिये जाग रहे हैं फिर मुझे क्या चिन्ता हो सक है! वाह रे प्रेमाधिकार! जगत्‌के स्वामीको उसके मित्र बचानेकी चिन्ताने रातभर सोने न दिया और दूसरे दिन श धारणकर अपना वचनतक तुड़वा दिया। उन्हें अ अपकीर्तितकका भान न रहा। यह है ईश्वरका ईश्वरत्व प्रेमतत्त्व। इसी तत्त्वने इसी क्रियाके माध्यम अपने भीष्म पितामहकी भी प्रतिज्ञा पूर्ण करवा दी और प्रतिज्ञ भंगका दोष अपने माथे जड़ लिया—

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।

(श्रीमद्भा० १।९।३

अर्थात् मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं श्रीकृष्ण शस्त्र ग्रहण कराकर छोड़ूँगा, उसे सत्य एवं ऊँची करने लिये उन्होंने अपनी शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा तोड़ द उस समय वे रथसे नीचे कूद पड़े।

ईश्वर प्रेमके विवश हैं। प्रेमवश वह कुछ भी क सकते हैं। कहीं भी सहज उपलब्ध हो सकते हैं।

प्रेम आत्मपीड़क है, परपीड़क तो वह हो ही न सकता। आराध्यको कोई कष्ट हो, भक्तके लिये मरणां

हीं है। यही पुष्टि भक्ति है।

'श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आ रहे हैं'—यह बात महात्मा ग्दुरको ज्ञात होती है। आनन्दका पारावार न रहा। कल नके आराध्य पधार रहे हैं, जी-भर दर्शन करेंगे। उनका ाम-रोम पुलकित हो रहा है, रोमांचित हो रहा है। भक्तके ीवनका सर्वोत्तम क्षण! सुलभाजीने यह महसूस कर प्रश्न केया—क्या बात है, आज इतने पुलकित हैं! विदुरजी कहते हैं—कल द्वारकानाथ पधार रहे हैं। देवि! आपकी ापश्चर्याका फल कल मिलने जा रहा है। सुलभाजी पुनः ग्श्न करती हैं—स्वामी! भगवान्के साथ आपका कोई ारिचय है? विदुरजीका रोम-रोम पुलकित हो उठता है—जवाब देते हैं—हाँ देवि! मैं जब उन्हें वन्दन करता हूँ तो वे मुझे काका कहकर सम्बोधित करते हैं। ओह, कितना अपनत्व, कितना सुखकारक! धन्य है विदुरजीका वह रोमाञ्च। यह सुन सुलभाजी कहती हैं—तब तो देव! आप उन्हें अपने यहाँ आनेका आमन्त्रण तो देंगे न? विदुरजी कहते हैं—मैं आमंत्रण दूँ तो वे मना नहीं करेंगे, लेकिन इस झोपड़ीमें हम उन्हें बिठायेंगे कहाँ? भगवान् अपने घर पधारेंगे तो हमें तो आनन्द होगा, लेकिन उन्हें कष्ट होगा। वे छप्पन भोग आरोगते हैं। धृतराष्ट्रके यहाँ उनका स्वागत-सत्कार अच्छा होगा। अपने पास तो भाजीके सिवाय है भी क्या, जो उन्हें अर्पण कर सकें। देवि! अपने सुखके लिये उन्हें दुःख देना उचित नहीं है। यह है प्रेमका विशुद्ध, निर्विकार रूप।

सुलभाजीने कहा—मेरे घरमें और कुछ हो न हो कोई बात नहीं। मेरे हृदयमें प्रभुके प्रति अथाह प्रेम है। यही प्रेम मैं अपने परमात्माको अर्पित करूँगी। मैं गरीब हूँ तो इसमें मेरा क्या दोष? आपने कितनी ही बार कथामें कहा है कि भगवान् तो प्रेमके भूखे हैं, सुलभाजी विचार रही हैं कि पति संकोचवश आमन्त्रण नहीं दे रहे हैं, लेकिन मैं उन्हें मनसे आमन्त्रित कर रही हूँ। देखें वे कैसे नहीं आते हैं? यह है अनन्य प्रेमाधिकार।

दूसरे दिन प्रातः नित्यानुसार पति-पत्नी बालकृष्णकी सेवा कर रहे हैं। कृष्ण [illegible] रहे हैं। [illegible] करते हैं—

> रथारूढो गच्छन् पथि मिलितभूदेवपटलैः।
> स्तुतिप्रादुर्भावं प्रतिपदमुपाकर्ण्य सदयः॥
> दयासिन्धुर्बन्धुः सकलजगतां सिन्धु-सदयो।
> जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥*
>
> ([illegible])

प्रार्थना फलीभूत होती है। रथारूढ़ [illegible] विदुर-सुलभाकी ओर आँख उठाकर देखा—दोनों ओर प्रेम रिसा। आकण्ठ प्रसन्न। भगवान्ने हमें आँख दी।

धृतराष्ट्रने आग्रह किया—छप्पन भोग तैयार हैं। श्रीकृष्णने मना किया तो श्रीद्रोणाचार्यने अपने यहाँ आमन्त्रित किया। उन्हें भी भगवान्ने मना किया और कहा कि आज तो गङ्गातटपर एक भक्तके यहाँ जिमेंगे। द्रोणाचार्य समझ गये कि हम वेदशास्त्रसम्पन्न ब्राह्मण ही रह गये, धन्य हैं विदुरजी—

> नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
> मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

इधर झोंपड़ी बंदकर विदुर-सुलभा भगवन्नामकीर्तनमें तल्लीन हैं। उन्हें पता नहीं है कि वे जिनका कीर्तन कर रहे हैं, वे ही द्वारकानाथ बाहर खड़े द्वार खुलनेकी प्रतीक्षामें थक गये हैं। भगवान्ने व्यग्र हो द्वार खटखटाया—काका! मैं आया हूँ। विदुरजीने सुना, बोले—'देवि! लगता है श्रीद्वारकानाथ पधारे हैं। दरवाजा खोला तो हतप्रभ रह गये। चतुर्भुज नारायणके साक्षात् दर्शन हो गये। धन्य है विदुर-सुलभाजीका भगवत्प्रेम। हर्षातिरेकसे दम्पतिभाव-शून्य हो गये। निश्चेष्ट! स्तब्ध!! मूर्तिवत्!!!' वाह रे प्रेम, भगवान्ने अपने हाथोंसे दर्भासन लिया और विदुरजीको हाथ पकड़कर झँझोड़ा। अपने पास बिठाया। बोले—'मैं भूखा हूँ, मुझे कुछ खानेको दो।' यह है प्रेमकी शक्ति जिसने निष्कामको सकाम बना दिया। भगवान्को भूख लगती नहीं है, लेकिन भक्तके लिये भगवान्को खानेकी इच्छा हुई है। भगवान् आज माँगकर खा रहे हैं। क्या अलौकिक दृश्य होगा वह!

* जो रथयात्राके समय मार्गमें एकत्रित हुए भूसुरवृन्दोंके द्वारा किये हुए स्तवनको सुनकर पद-पदपर दयासे द्रवित होते रहते हैं, वे दयासागर निखिल ब्रह्माण्डोंके बन्धु एवं समुद्रपर कृपा करके उसके तटपर निवास करनेवाले श्रीजगन्नाथस्वामी मेरे नयनोंके अतिथि बनें। [illegible]

वाह परमात्मा तेरा सौख्य!

पति-पत्नीको कुछ सूझता नहीं है। विदुरजीको संकोच होता है, भाजी कैसे परोसूँ? भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे चूल्हेपरसे भाजी उतारी और अनन्य प्रेमसे आरोगी। सच है—वस्तुमें नहीं, मिठास प्रेममें है—*'सबसों ऊँची प्रेमसगाई।'*

परमात्मा प्रेमाधीन हैं। वे प्रेमके अतिरिक्त अन्य साधनोंसे न रीझते हैं न ही रह पाते हैं। श्रीकृष्ण मथुराके राजा हुए हैं। मथुरामें सर्वत्र ऐश्वर्य है। अनेक दास-दासियाँ हैं, छप्पन भोग हैं, श्रीउद्धवजीकी निजसेवा है। सब प्रकारका सुख है, तथापि श्रीकृष्ण व्रजवासियोंका प्रेम भूल नहीं पाये। रोज शामको महलकी अटारीपर बैठकर गोकुलका स्मरण करते हैं। मेरी मा आँगनमें बैठ मेरी प्रतीक्षा करती होगी। मथुरासे आनेवाले रास्तेपर टकटकी लगा मेरी राह देखती होगी। वह रोती होगी। मेरी गंगी गाय और अन्य गायोंका क्या हुआ होगा? वे मथुराकी ओर मुँह करके रँभाती होंगी। नन्दबाबा मुझे याद करते होंगे। गोप-बालक, गोपियाँ, वृक्ष और लताएँ सब कुछ याद कर कृष्णकी आँखें रिसती रहती हैं। रोज शामका यही क्रम। वाह रे व्रजका भाग्य! जिसके लिये स्वयं परब्रह्म अश्रुपात करें उसकी और क्या सानी? क्रन्दनके उस आनन्दका थाह कौन पाये!

आज उनतालीसवाँ दिवस है। जगन्नियन्ताने भोजन नहीं किया है। सायंकालका वही समय। प्रेममें सराबोर वृन्दावनकी ओर दृष्टि किये कन्हैया प्रेमाश्रु विसर्जित कर रहे हैं। उद्धवजीसे अब रहा नहीं गया। आत्मीयतासे वन्दन कर कहते हैं—नाथ! एक बात पूछनेकी मेरी इच्छा है। कृष्ण बोले—उद्धव! तुम मेरे अन्तरंग सखा हो, पूछो जो कुछ पूछना है। संकोच न करो। उद्धवजी कहते हैं—मैं अपनी बुद्धिके प्रमाणमें आपकी सेवा करता हूँ, लेकिन इससे आपको आनन्दित होते नहीं देखा। सेवक हैं, दास-दासियाँ हैं, फिर भी आप उदास रहते हैं, दुःखी दिखते हैं। आपका यह दुःख मुझसे देखा नहीं जाता।

उद्धव! मैं दुःखी हूँ, यह जानने और पूछनेवाला मथुरामें तुम्हारे सिवा और कोई नहीं मिला। उद्धव! वृन्दावनकी उस प्रेमभूमिको मैं छोड़कर आया हूँ जहाँ मेरा

हृदय है। मथुरामें सभी मुझे वन्दन करते हैं, सम्मान देते है, मथुरानाथ कहते हैं; पर कोई मेरे साथ बात नहीं करता, कोई मुझे प्रेमसे बुलाता नहीं। उद्धव! यह कृष्ण प्रेमका भूखा है उसे और किसी चीजकी जरूरत नहीं है। उद्धव! मुझे मानकी नहीं, प्रेमकी भूख है। परमात्माके ये उद्गार स्वतः ही प्रेमको परिभाषित कर रहे हैं, हम कोई और क्या विशेषण दें।

उद्धव! मा यशोदाका प्रेम मुझे मथुरामें मिलता नहीं है। मैं न खाऊँ तबतक मेरी मा खाती नहीं। उद्धव! मथुरा मेरे लिये छप्पन भोग बनाता है पर दरवाजा बन्द कर कहता है—'आरोगिये'। मैं ऐसे नहीं खाता। उद्धव! मैं तुमसे क्या कहूँ? गोकुल छोड़ मथुरा आनेपर मेरा खाना छूट गया है। मुझे कोई प्रेमसे न मनाये, मनुहार न करे तबतक मैं खाता नहीं हूँ। हजार बार मनुहार करनेपर मैं एक कौर ग्रहण करता हूँ। उद्धव! व्रजमें मेरी मा मुझे हजार बार समझाती, मनाती और खिलाती थी। उद्धव! मथुरामें मैं छप्पन भोग निहारता हूँ बस; खाता नहीं हूँ। यह कृष्ण भोगका नहीं प्रेमका भूखा है। मुझे प्रेम चाहिये, इसलिये मैं उद्विग्न रहता हूँ। उद्धव! मुझसे व्रज भूलता नहीं—*'ऊधो मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।'*

यह है प्रेमकी पराकाष्ठा। इस प्रेमका रसास्वादन वही कर सकता है जिसने प्रेम किया है।

प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व

आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन परात्पर पूर्णपरब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णके श्रीचरणोंमें एक बार किये गये प्रणामकी तुलना दस अश्वमेध-यज्ञोंसे की तो जा सकती है, परंतु कृष्ण-प्रणामकी विशेषता यह है कि दस अश्वमेध-यज्ञोंका कर्ता जहाँ पुनर्जन्मोंको प्राप्त करता रहता है, वहीं कृष्णके चरणारविन्दोंमें प्रणति निवेदन करनेवालेकी पुनर्जन्मसे सदाके लिये मुक्ति हो जाती है। अतः ऐसे प्रेमी प्रभुको बार-बार नमस्कार है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

ऐसे भगवान्के लिये जिनकी आँखोंसे अश्रुपात होते हैं, उनके एक अश्रुबिन्दुकी भी तुलना नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि भगवान्को पानेके लिये जिसके हृदयमें भगवत्प्रेमविरहकी अग्नि धधकती रहती है, वह दिन-रात रोता रहता है। उसे खाना-पीनातक नहीं सुहाता, नींद भी नहीं आती—नींद उड़ जाती है। ऐसे भावसे भावान्वित भगवत्प्रेमीके प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व और भगवत्प्रेमी भगवान्को कितना प्यारा होता है—इसका वर्णन तो असम्भव-सा ही है। उसकी तीव्र विरह-वेदनाका किञ्चित् अनुमान उसी विरही भक्तश्रेष्ठकी दर्शनाभिलाषाकी करुण पुकारसे लगाया जा सकता है—

तूँ छलिया छिप छिप बैठ्यो अखियाँ मटकावै रे।
बाला मैं थारे बिनु दुःखी फिरूँ तूँ मौज उड़ावै रे॥
दिन नहीं चैन रात नहीं निंदियाँ, जरा कह दो साँवरिये से आया करे।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल पीताम्बर झलकाया करे॥
यमुना तट पर धेनु चरावै, जरा वंशी की लटक सुनाया करे।
ललित किसोरी गउएँ लेकर मेरी गली नित आया करे॥

भगवत्-विरह जिसके हृदयमें प्रदीप्त हो उठा, उसको यहाँका कुछ भी नहीं सुहाता। भगवान्को पानेके लिये उसकी आँखोंसे अश्रुपात होता ही रहता है। भगवत्-विरहमें व्याकुल महाप्रभु चैतन्यके विषयमें कहा जाता है कि वे १८ वर्षोंतक जगन्नाथपुरीमें एक छोटी-सी कुटियामें बैठे हुए इतने रोते रहे कि उनके आँसुओंके जलसे कुण्ड-के-कुण्ड भर जाते। ऐसे ही परमोत्कृष्ट भगवद्भक्तोंके सम्बन्धमें कहा गया है कि उन मिलनातुर, विरहातुर परमात्माभिलाषियोंके लिये सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डकी किसी भी प्रकारकी दूरी और विघ्न-बाधाएँ उनके मार्गको बाधित नहीं करतीं—

मिलनेको प्रियतमसे जिसके प्राण कर रहे नित हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी कुछ भी दूरीको वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता किंचित् भी शत शत बाधा-विघ्नोंकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर बाँसुरी नंद किसोर॥

अहा! वह भक्त तो प्रेममें बावला हुआ कह ही बैठता है—प्यारे, यदि मुझे रुलानेमें ही आनन्द आता है तो मत आओ, मैं उसीमें सुखी हूँ—

तेरे सुखमें सुखिया हूँ मैं तेरे लिये प्राण रोवे।
पण प्यारा तेरी राजीमें है नित राजी मेरो मन।
प्राणाधिक दोनूँ लोकाँ को तूँ ही मेरा जीवन धन॥

यह है बावलापन और विरहाग्नि भगवत्प्रेमकी—

इन दुखिया अँखियानु कौं सुखु सिरज्यौई नाँहि।
देखैं बनै न देखतै, अनदेखैं अकुलाँहि॥

इन आँखोंके लिये विधाताने सुख रचा ही नहीं। जब वे कभी आते हैं तो ये मेरी निगोड़ी आँखें इतना अश्रु बहाती हैं कि मैं उन्हें देख भी नहीं पातीं और जब वे चले जाते हैं, तब भी विरहाग्निमें जलनेवाली आँखें वैसे ही बरसती रहती हैं। यह एकनिष्ठता एवं निरन्तरता है—भगवत्प्रेमकी। यहाँ किसी भी प्रकारकी अन्य जागतिक भावनाओं तथा पदार्थोंके लिये कोई स्थान भी नहीं; क्योंकि जैसे ज्ञान अथवा अज्ञान या प्रकाश अथवा अन्धकारका एक ही स्थानपर एक समयमें होना सम्भव नहीं, वैसे ही भगवत्प्रेमी भी कहलाता हो और जगत् भी सुहाता हो—यह द्वैत सम्भव ही नहीं। क्योंकि

भगवान् भला निष्ठुर कैसे हो सकते हैं? वे तो भगवत्प्रेमीकी आँखोंके आँसू देखनेके लिये उसके पासमें ही छिपे-छिपे रहते हैं बिलकुल पासमें ही। परंतु उसे भान नहीं कराते कि तूँ क्यों रोता है, मैं तो तेरे सम्मुख हो खड़ा हूँ।

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये रोना, आँसू बहाना भक्तका सर्वोपरि आनन्द है। जब भक्तकी ऐसी भावना—विरह-वेदना होगी, तब भगवत्प्रेमका मार्ग प्रशस्त होगा; क्योंकि भगवत्प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं—एक मिलन और दूसरा विरह। इन दोनोंके मध्य ही प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुरूपी प्रेमनदीकी धारा बहती रहती है।

गोपाङ्गनाओंके प्राणप्यारे श्यामसुन्दर जब मथुरा चले गये, तब वृन्दावनसे मथुरा अति निकट होनेपर भी प्यारेकी इच्छा बिना वे वहाँ नहीं जातीं। नन्दजी जब कन्हैयाको मथुरा पहुँचाकर वापस व्रजमें आये, तब यशोदा रानीने उनसे पूछा कि आप जीवित ही आ गये (यानी कन्हैयाको छोड़ते समय

यह है विशुद्ध भगवत्प्रेम—'तत्सुखे सुखित्वम्'। ऐसे भगवत्प्रेमीके लिये कहा गया है—'मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः' अर्थात् वसुन्धराके किसी भी भागपर उनके पदार्पणसे पितर प्रसन्न होते हैं और देवता नृत्य करने लगते हैं। यह तो है भगवत्प्रेमीका प्रेम और प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका महत्त्व। ऐसे भगवत्प्रेमी जितने दिन संसारमें रहते हैं, उनके द्वारा लाखों लोगोंका उद्धार होता रहता है। एक बार गङ्गाजीने ब्रह्माजीसे कहा—मेरेमें स्नान करके लोग अपने पाप धोकर चले जायँगे तो मैं पापसे भर जाऊँगी। ब्रह्माजी बोले—जब एक भगवत्प्रेमी तुम्हारेमें स्नान करने आयेगा, तब वह तुम्हारे सब पापोंको धो डालेगा। अहा! ऐसे प्रेमी भक्तोंको सब कुछ त्याग करनेपर क्या मिलता है? प्रेमकी प्रगाढ़तामें प्रेमाश्रुओंका प्रवाह! और इसीमें उसकी कृतकृत्यता है तथा इसीमें उसके जीवनका साफल्य।

[प्रेषक—श्री डी०एल० सैनी]

'कृष्ण-नाम रसखान'

कृष्ण-नाम अमृत जीवनका,
मधुर नाम है भक्त हृदयका।
दायक भक्ति मुक्ति निर्वान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

भाव भरा प्याला प्रभु नामका,
आनंद भवन ऋषि मुनि संतोंका।
श्रुतियाँ गाती हैं यह गान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

अधम अंध विष कूप पड़ेको,
पामर पशु अघ कीच पड़ेको।
है तारक मंत्र महा बलवान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

शंकरके मनका मन रंजन,
शेष शारदा करते वंदन।
नारद करत निरंतर गान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

—पं० शिवनारायण शर्मा

प्रेमका सागर—वृन्दावन

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

वृन्दावनका अन्तरङ्ग स्वरूप कल्पवृक्ष अथवा चिन्तामणि-जैसे गुणोंवाला है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि कल्पवृक्ष अथवा चिन्तामणि जहाँ सिर्फ भौतिक सुख-सुविधाओंसे सम्बन्धित आशा-अभिलाषाओंकी पूर्ति करता है, वहाँ वृन्दावन साधककी समस्त कामनाओंकी उपलब्धि करानेमें समर्थ है। मुक्ति भी यह देता है, भुक्ति भी यह देता है और भक्ति भी यह प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त वृन्दावन देता है—साधकको वह अतिशय अद्भुत परमोज्ज्वल परम माधुर्यपूर्ण प्रेम, जिसकी प्यासमें पपीहेकी भाँति आकुल-व्याकुल भगवान् प्रेमी साधकके पीछे-पीछे लगे फिरते हैं। वृन्दावनके इस अन्तरङ्ग स्वरूपका साक्षात्कार व्यक्तिकी ज्ञानेन्द्रियोंसे नहीं होता, न यह मनकी कल्पनाका विषय है, यह तो केवल आत्मानुभवगम्य है। अन्तरङ्ग वृन्दावनका दर्शन चूँकि आत्माका विषय है, इसलिये मनरहित समस्त इन्द्रियों तथा बुद्धिको निर्विकार करनेवाले परम्परागत समस्त उपाय इस सन्दर्भमें अधिक उपयोगी नहीं हैं। अतः वृन्दावनके अन्तरङ्गमें प्रवेश करनेके लिये किसी विधि-निषेधकी अपेक्षा नहीं है, केवल विशुद्ध अनुरागकी आवश्यकता है। प्रेम दिन, नक्षत्र और तिथि नहीं देखता, वह तो प्रेमीको देखता है। प्रेमी और प्रेमास्पदके बीचमें केवल प्रेम रहता है। प्रेमके अतिरिक्त और जितनी भी चीजें हैं, वे लोक अथवा वेदकी दृष्टिसे शुभ अथवा अशुभ हो सकती हैं, किंतु प्रेमके क्षेत्रमें तो वे सब अन्तराय ही हैं। द्वारकामें भी भगवान् श्रीकृष्णको जब गोपियोंके प्रेमका स्मरण हो आता था, तब उनके हृदयमें एक असह्य वेदना उठती थी, जिसके कारण वे बहुत देरतक अन्यमनस्क हो जाया करते थे। पटरानियोंने श्रीकृष्णसे कई बार इसका कारण पूछा श्रीकृष्णसे, किंतु वे हर बार टालते गये। एक दिन नारदजी राजप्रासादमें आये। पटरानियोंने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया, फिर श्रीकृष्णकी बेचैनीके बारेमें चर्चा करके उनसे प्रार्थना की कि 'उनकी बीमारीका पता लगाकर उसका कुछ उपचार कीजिये। आपकी बड़ी कृपा होगी।'

नारदजी श्रीकृष्णजीके पास गये। उनसे पूछा—भगवन्! क्या बात है कि आप प्रायः उदास रहते हैं, जिसे देखकर आपकी रानियाँ भी बहुत परेशान हो जाती हैं। आपकी इस बीमारीका कोई उपचार हो तो बताइये—

श्रीकृष्णने कहा—मुने! आपकी बात ठीक है, मेरे ठीक होनेका उपाय तो है, यदि आप वैसा कर सकें तो मेरा कष्ट दूर हो सकता है। नारदजी! आप जल्दीसे मेरे प्रेमीकी चरणरज लाकर मेरे वक्षपर मल दीजिये ताकि मैं कष्टसे बच सकूँ। आप अपने चरणोंकी रज ही मेरी छातीसे लगा दीजिये।

नारदजी बोले—नारायण, नारायण। यह दुष्कर्म मैं नहीं कर सकता। मैं तो आपके चरणोंकी रज अपने मस्तकपर धारण करता रहा हूँ, अपने पैरोंकी रज आपके वक्षपर लगानेकी बात तो मैं सोच भी नहीं सकता। जरा ठहरिये, किसी रानीके चरणोंकी धूल लाकर आपका उपचार करता हूँ।

नारदजी प्रत्येक रानीके पास गये और सारी बात कहकर उनसे उनके चरणोंकी रज माँगी, किंतु पापकी आशंका और नरक आदिके भयसे कोई भी ऐसा करनेको उद्यत न हुई। सबने एक-दूसरेपर टालनेकी नीति अपना ली।

नारदजी खिन्न मनसे श्रीकृष्णके पास लौट आये और बोले—अपना ऐसा प्रेमी भी बताइये प्रभो! जो आपके उपचारहेतु अपने चरणोंकी रज देनेको राजी हो जाय—यहाँ द्वारकामें तो कोई ऐसा करनेको तैयार ही नहीं है। श्रीकृष्णने कहा—नारदजी! कष्ट बढ़ता जा रहा है और आप अभी यहीं घूम रहे हैं। इधर कोई तैयार नहीं है तो आप तुरंत वृन्दावन चले जाइये। वहाँ मेरी प्रेमिका गोपाङ्गनाएँ यमुनातटपर मेरी लीलाओंका अनुकरण करके अपनी विरह-व्यथाका अपनोदन कर रही होंगी। वे आपको अपने चरणोंकी रज जरूर दे देंगी—आप जल्दी करें। यह सुनना ही था कि नारदजी शीघ्रतासे वृन्दावनकी ओर चल पड़े और वहाँ उन्हें श्रीकृष्ण-प्रेमोन्मादमें संतप्त गोपिकाओंकी विरह-व्यथाका नाद सुनायी पड़ा। गोपिकाएँ अपने प्रियतम श्रीकृष्णको

भगवान बालकृष्णका सख्य-प्रेम

गोपाङ्गनाओंकी प्रेम-विह्वलता

महाभागा शबरीकी प्रेमभक्ति

मीराँ

सूर

तुलसी

चैतन्य

महाभावमें निमग्न प्रेमीभक्त
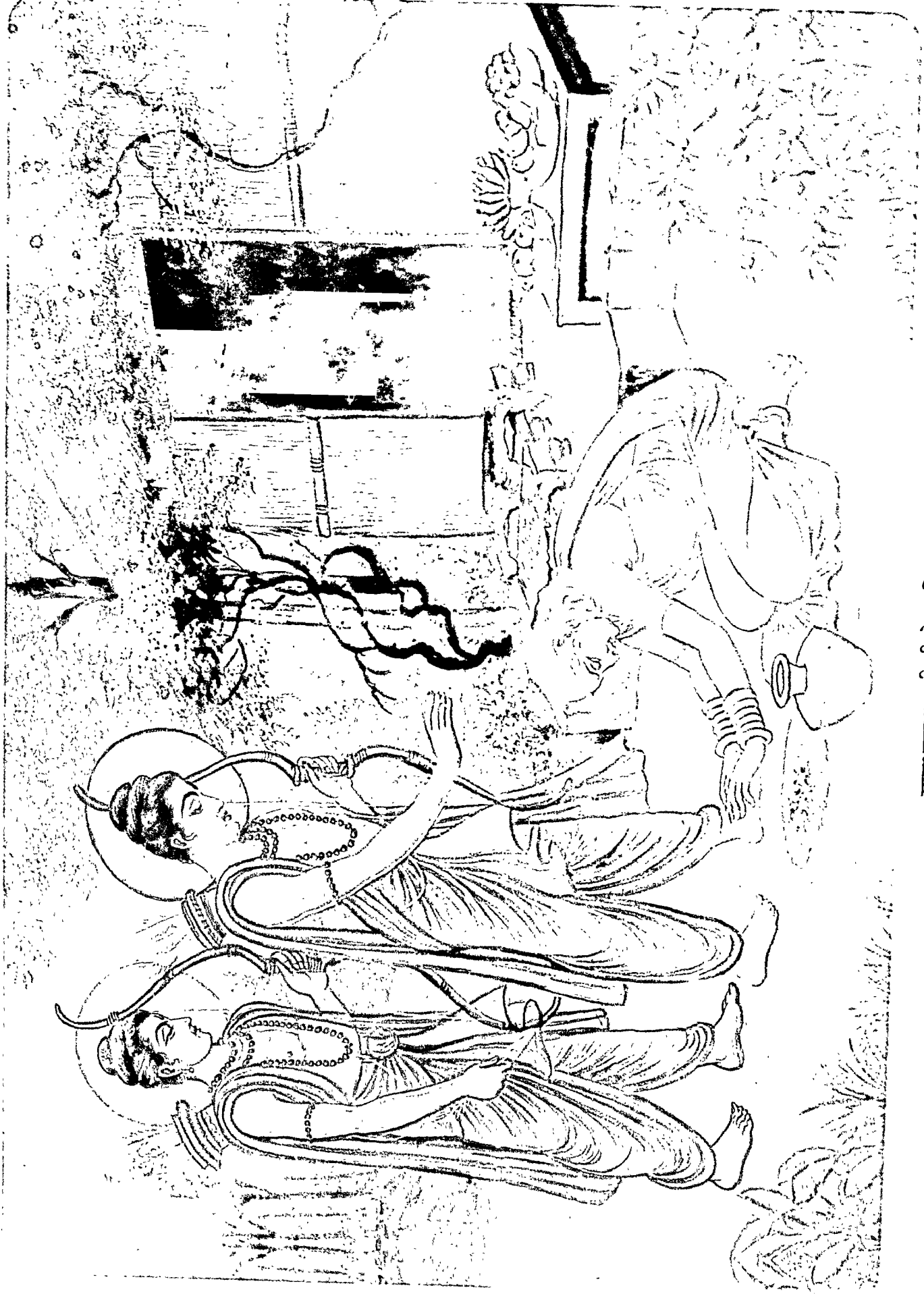
लक्ष्य कर विरहावेशमें इस प्रकार रुदन कर रही थीं—

> अटति यद् भवानह्नि काननं
> त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
> कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
> जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥
> (श्रीमद्भा० १०।३१।१५)

प्यारे! दिनके समय जब तुम वनमें विहार करनेके लिये चले जाते हो, तब तुम्हें देखे बिना हमारे लिये एक-एक क्षण युगके समान हो जाता है और जब तुम सन्ध्याके समय लौटते हो तथा घुँघराली अलकोंसे युक्त तुम्हारा परम सुन्दर मुखारविन्द हम देखती हैं, उस समय पलकोंका गिरना हमारे लिये भार हो जाता है तथा ऐसा जान पड़ता है कि इन नेत्रोंकी पलकोंको बनानेवाला विधाता मूर्ख ही है।

> रहसि संविदं हृच्छयोदयं
> प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम्।
> बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते
> मुहुरतिस्पृहा मुह्यते मनः॥
> (श्रीमद्भा० १०।३१।१७)

प्यारे! एकान्तमें तुम मिलनकी आकाङ्क्षा, प्रेमभावको जगानेवाली बातें किया करते थे, ठिठोली करके हमें छेड़ते थे, तुम प्रेमभरी चितवनसे हमारी ओर देखकर मुसकरा दिया करते थे और लक्ष्मी-निकेतन! हम तुम्हारा विशाल वक्षःस्थल देखती थीं। तबसे अबतक हमारी लालसा निरन्तर बढ़ती जा रही है। हमारा मन अधिकाधिक मुग्ध होता जा रहा है।

प्यारे! तुम्हारे जन्मके कारण वैकुण्ठ आदि लोकोंसे भी व्रजकी महिमा बढ़ गयी है। तभी तो सौन्दर्य और मृदुताकी देवी लक्ष्मीजी अपना निवासस्थान वैकुण्ठ छोड़कर यहाँ नित्य-निरन्तर निवास करने लगी हैं। इसकी सेवा करने लगी हैं। परंतु प्रियतम! देखो, तुम्हारी गोपियाँ, जिन्होंने तुम्हारे चरणोंमें ही अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं, वन-वनमें भटककर तुम्हें खोज रही हैं। हमारे प्रेमपूर्ण हृदयके स्वामी! हम बिना मोलकी तुम्हारी दासी हैं। तुम शरत्कालीन जलाशयमें सुन्दर सरसिज-कर्णिकाके सौन्दर्यको चुरानेवाले नेत्रोंसे हमको घायल कर चुके हो। हमारे मनोरथ पूर्ण करनेवाले प्राणेश्वर! क्या नेत्रोंसे मारना वध नहीं है? अस्त्रोंसे हत्या करना ही वध है? कमलनयन! तुम्हारी वाणी कितनी मधुर है। उसका एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर है। तुम्हारी उस वाणीका रसास्वादन करके तुम्हारी आज्ञाकारिणी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं।

प्यारे! एक दिन वह था, जब तुम्हारी प्रेमभरी हँसी और चितवन तथा तुम्हारी तरह-तरहकी क्रीडाओंका ध्यान करके हम आनन्दमें मग्न हो जाया करती थीं। उनका ध्यान भी परम मङ्गलदायक है और उसके बाद तुम मिले। तुमने एकान्तमें हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं, प्रेमकी बातें कहीं। हमारे कपटी मित्र! अब वे सब बातें याद आकर हमारे मनको क्षुब्ध किये देती हैं।

नारदजी वृन्दावनमें यमुनातटपर श्रीकृष्णलीलानुकरणमें दत्तचित्त गोपियोंकी ऐसी दशा देखकर आश्चर्यचकित हो गये और उनके समीप जाकर बोले—देवियो! तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण कष्टमें हैं, यदि कोई प्रेमी अपने चरणोंकी रज उनकी छातीपर लगानेको दे दे तो उनका कष्ट दूर हो। इतना सुनना था कि गोपिकाओंने अपने-अपने चरणोंकी रजके ढेर लगा दिये। वे कहने लगीं—जितनी चाहिये उतनी तुरंत ले जाओ और जल्दीसे हमारे प्राणप्यारेका कष्ट दूर करो।

नारदजी उनकी ओर आश्चर्यचकित दृष्टिसे देखते हुए कहने लगे—देवियो! श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, वे अखिल ब्रह्माण्डनायक हैं, सबके स्वामी हैं। अपने चरणोंकी धूल उनके वक्षःस्थलपर लगानेकी अनुमति देकर क्या तुम पापकी भागी नहीं बनोगी? खूब सोच-समझ लो, फिर अपने चरणोंकी रज देना। गोपियाँ आवेशमें बोलीं—हमें पाप लगेगा तो लगा करे, उसका दुष्परिणाम भोगनेको हम तैयार हैं, हम भले ही घोर नरकमें गिरें, भले ही घोर यन्त्रणा सहें, पर हमारे प्रिय श्रीकृष्ण प्रसन्न रहें, इसीमें हमारी प्रसन्नता है। हमें आपके ज्ञान-ध्यानकी बातें समझमें नहीं आतीं। हम तो प्रेमके उस मधुर आस्वादको ही जानती हैं, जिसकी एक चितवनसे कोटि-कोटि नरकोंकी यन्त्रणाएँ अद्भुत आनन्दसिन्धु बनकर थिरकने लगती हैं। नारदजीकी

आँखें तरल हो आयीं।

प्रेमकी ऐसी उज्ज्वलता जिसमें न पुण्यका भय है न पापकी आशंका, न नरककी विभीषिकाका डर है, न स्वर्गका लालच, न सुखकी कामना है, न दुःखका दर्द। नारदजीने आगे बढ़कर गोपियोंकी चरणधूलिसे पहले अपनी जटाओंको धूसरित किया और फिर पावन रजकी पोटली लेकर वे द्वारकाकी ओर चल दिये। ऐसा गोपियोंका प्रेम! नारदजी राजप्रासादमें पहुँचकर रज निकालनेके लिये पोटली खोलने लगे तो श्रीकृष्णने अधीर होकर उस पोटलीको उठा लिया और कभी उसे अपने वक्षःस्थलपर, कभी सिरपर, कभी आँखोंपर रखते हुए प्रेमावेशमें निमग्न हो गये। पंखा झलती हुई पटरानियाँ कौतूहलपूर्ण दृष्टिद्वारा नारदजीसे पूछ रही थीं कि बात क्या है? पर नारदजी मौन थे, चलते-चलते उन्होंने केवल इतना ही कहा कि हम सब प्रभुको सुख पहुँचानेकी कोशिश तो करते हैं, किंतु हमारा भाव गोपियोंके सामने अति तुच्छ है। सचमुच गोपियोंका प्रेम ही प्रेम कहलाने योग्य है। आज मैंने प्रेमका वह अद्भुत स्वरूप देखा है, जो अपने सुखके बारेमें रत्तीभर भी न सोचकर केवल प्रेमास्पदके सुखकी चिन्तामें ही सतत अचिन्तनीय आनन्दरसकी सृष्टि करता रहता है। श्यामसुन्दर उसी प्रेमामृत रसके स्वरूप हैं। वृन्दावन इस रसकी खान है और गोपिकाएँ इस रसकी महासिन्धु हैं। कृष्ण नित्य-निरन्तर वृन्दावनकी वीथियोंमें यहाँके कुञ्ज-निकुञ्जोंमें, यमुनातटपर वेणु बजाते रहते हैं और गायें चराते अपने रसिक भक्तोंको कृतार्थ करते रहते हैं।
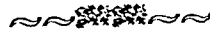
प्रभुसे अपनत्व

[प्रेम-सम्बन्ध]

आपने यह लोकोक्ति सुनी होगी—'*अपना काना-कुरूप लड़का भी माँको सुन्दर लगता है।*'

एक विद्वान्ने अपने प्रवचनमें कहा—'चन्द्रमा सबको अच्छा लगता है। सबको सुन्दर और सुखद लगता है; किंतु कोई चन्द्रमासे प्रेम नहीं करता; क्योंकि कोई चन्द्रमाको अपना अनुभव नहीं कर पाता।'

इसका अर्थ हुआ कि प्रेमके लिये अपनत्व होना आवश्यक है। प्रेमके लिये सौन्दर्य, सद्गुण होना उतना आवश्यक नहीं है। प्रतिवर्ष ही प्रायः विश्वसुन्दरीका चुनाव होता है। आप भले ही, उनमें किसीको देखते न हों किंतु चित्र तो देखनेको मिल जाते हैं। वासनात्मक उत्तेजनाकी बात छोड़ दी जाय तो क्या कभी इनमें कोई आपको अपनी पुत्री या बहिनके समान प्रिय लगी? यही बात गुणोंके सम्बन्धमें भी है।

प्रेमकी परिभाषा करते हुए देवर्षि नारदने अपने भक्ति-दर्शनमें कहा है—

'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्।'

सौन्दर्य और गुण आवश्यक भले न हों, ये प्रेमकी अभिवृद्धिमें सहायक होते हैं—ठीक बात; किंतु कब? जब उससे अपनत्व हो। आपके शत्रुमें या शत्रुके सहायकमें सौन्दर्य या गुण हों तो प्रेम बढ़ायेंगे या वितृष्णा—असूया उत्पन्न करेंगे?

यह सब न भी कहा जाय तो कुछ हानि नहीं; क्योंकि परम सौन्दर्यैकराशि, निखिल सद्गुणगणैकधाम कन्हाईसे अधिक सुन्दर, अधिक गुणवान् तो त्रिभुवनमें कभी कोई न हुआ, न होना सम्भव है। इस सौन्दर्य-सौकुमार्य महासिन्धुके सीकरका प्रसाद ही सृष्टिमें सौन्दर्य बनकर फैला है। इस गुणगणैकधामके गुणोंकी छायामात्रसे त्रिलोकीमें अनादिकालसे प्राणियोंको सद्गुण मिलते रहे हैं।

इतनेपर भी कन्हाईसे प्रेम नहीं है या अल्प है तो इसका कारण होना चाहिये। कारण केवल यह कि इस नन्द-तनयसे अपनत्व नहीं है या शिथिल है, अल्प है।

अपनत्व सहज भी होता है और स्थापित भी किया जाता है। इसमें सहज अपनत्व सुदृढ़ होता है। कदाचित् ही कभी किसीमें सहज अपनत्वके प्रति शैथिल्य दीखता है और जहाँ ऐसा है, वे हीनप्रकृतिके लोग हैं। माता-पुत्र,

रहे, यह आकाङ्क्षा की जाती थी, अब भी की जाती हैं और इसके बने रहनेका विश्वास किया जाता है।

अनेक नारियोंने विपत्तिमें किसीको राखी भेज दी और जिसे भेजी, उसने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया उस बहिनकी रक्षाके लिये। दत्तक पुत्र बनानेका तो शास्त्रीय विधान ही है। इस प्रकार धर्म भाई, धर्म बहिन, मित्र, पुत्र या पुत्री बनानेकी—अपनत्व स्थापित करनेकी परम्परा समाजमें खूब प्रचलित है। यद्यपि ऐसे सम्बन्धमें आजकल बहुत दोष आने लगे हैं, किंतु यह दोष कुपुरुषोंमें आते हैं। सत्पुरुष तो एक बार जिसे पुत्री कह देते हैं, उसके साथ पुत्रीका व्यवहार जीवनभर निभाते हैं।

कन्हाईको सम्बन्ध निभाना बहुत अच्छा आता है। इससे आप आशा नहीं कर सकते कि यह अपने साथ स्थापित सम्बन्धको अस्वीकार करेगा या उसके अनुसार व्यवहारमें शिथिलता लायेगा। केवल आपकी ओरसे शिथिलता नहीं आनी चाहिये। आपके भीतर सम्बन्धके प्रति उपेक्षा या उदासीनता नहीं होनी चाहिये।

कृत्रिम सम्बन्ध सम्बन्ध ही नहीं होता। अनेक लोग कहते हैं—'मैं तो आपका बालक हूँ।' ऐसा केवल मुखसे कहना कोई भी शिष्टाचार ही मानता है। तब कन्हाई ही कैसे उसे स्वीकार कर लेगा?

'कन्हाईसे क्या सम्बन्ध बनाया जाय?'

व्यर्थ प्रश्न है। ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं, जो इससे न

एक माताका इकलौता पुत्र मर गया। उसके दुःखकी सीमा नहीं। किसी संतने कह दिया—'यह कृष्ण तेरा पुत्र है।' उसने संतकी बात पकड़ ली। उसे तो पुत्र चाहिये ही था। उसने श्रीकृष्णको पुत्र बनाया। श्रीकृष्णमें दम है कि उसे मैया नहीं मानेगा? इस प्रकार अनेक स्त्री-पुरुष जो सन्तानहीन थे, कन्हाईके मैया-बाबा बन गये। श्यामको किसीका पुत्र बननेमें संकोच कहाँ।

अनेक विधवाओंने श्यामको पति बना लिया। अनेक कुमारियोंने कन्हाईको पति स्वीकार किया। कृष्णको 'ना' करना नहीं आता। सम्बन्ध जोड़नेवाला सच्चा है तो सम्बन्ध सुदृढ़। सम्बन्ध सुदृढ़ तो प्रेमकी प्राप्ति सुनिश्चित।

'मैं व्रजराजकुमारको जीजाजी बनाऊँगा।' ऐसे पुरुष भी मिले और कन्याएँ भी मिलीं। श्रीराधाको कोई बहिन बनाना चाहेगा तो वह भी कहाँ अस्वीकार करना जानती हैं।

'मैं इसे देवर बनाऊँगी।' एकने कहा—'इसे और कीर्तिकुमारीको भी मेरा रौब मानना पड़ेगा।'

किसके मुखमें हाथभरकी जीभ है और जो कह दे—'यह सम्बन्ध नहीं बन सकता।'

कन्हाई पिता भी बननेको प्रस्तुत और पुत्र भी। यह केवल स्वामी ही नहीं बनता, आपमें दमखम हो तो इसे सेवक बननेमें भी आपत्ति नहीं है।

तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।

यह बात है गोस्वामी तुलसीदासकी—एक विनम्र

सेवककी। 'जो आपको रुचे सो' यह बात सेवक ही कह सकता है। आवश्यक नहीं कि आप भी यही कहें। आपको जो रुचे वह बनाइये इस गोपकुमारको; किंतु पहले देखिये कि आपके हृदयमें सचमुच उस सम्बन्धकी माँग है या नहीं। आप उस सम्बन्धके प्रति सच्चे रहेंगे तो कन्हाई भी सच्चा रहेगा।

आप कन्हाईको पुत्र या छोटा भी कहें और मन्दिर मत्था टेकें, स्तवन करें, आशीर्वाद देनेमें हिचकें तो क आपका सम्बन्ध सच्चा है? कन्हाईको अपना कुछ बना लें और चिन्ता, भय एवं लोभ बचे रहें, सम्भव है?

आपको इससे प्रेम करना है तो इससे सम्बन्ध जोड़िये पर वह सम्बन्ध जिसे आप जीवनमें सच्चा बना सकें।

प्रेमनगरका प्रथम दर्शन

'सखी! आज तुम पहले-पहल इस प्रेमनगरमें आयी हो, इसलिये चलो तुम्हें यहाँकी कुछ बातें बताऊँ और भगवान्‌की कुछ लीलाएँ दिखाऊँ।'

'भगवान् तो लाड़िलीजीके साथ उस कुञ्जमें चले गये न? अब लीला क्या दिखाओगी? कुछ उनके प्रेमकी बात सुनाओ। मेरी बात सुनकर तुम हँसने क्यों लगीं? क्या कोई रहस्यकी बात है? यदि है और मैं उसे जानने, देखनेकी अधिकारिणी हूँ तो अवश्य बताओ—और दिखाओ।'

'सखी! भला, तुम किस बातकी अधिकारिणी नहीं हो? तुमपर युगल सरकारकी अपार कृपा है, अनन्त प्रेम है। इस प्रेमनगरमें केवल उनकी प्रेमाधिकारिणी आत्माओंका ही प्रवेश हो सकता है। आश्चर्य मत करो, प्रेमसे सुनो और देख-देखकर आँखें सफल करो। भगवान्‌की लीला बड़ी विलक्षण है, अद्भुत है। तर्क-युक्तियोंसे उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता। वह तो केवल कृपासाध्य है; अनुभवगम्य है। परंतु है और ऐसी ही है, जो कि अभी मैं तुम्हें दिखाऊँगी।'

'मुझे बड़ी उत्सुकता हो रही है। अब विलम्ब मत करो। जल्दी दिखाओ।'

'हाँ, हाँ, अब विलम्बकी क्या बात है? चलो, चलती चलें और बात भी करती चलें। देखो, इस प्रेमनगरकी बात ही निराली है। इसके विभिन्न भागोंमें भगवान् विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ करते रहते हैं। ये लीलाएँ अनादिकालसे अनन्तकालतक अर्थात् सर्वदा नित्य प्रवाहरूपसे चलती ही रहती हैं, कभी बंद नहीं होतीं। किसी प्रकारका प्रलय इस नगरका स्पर्श नहीं कर सकता। प्रत्युत ज्ञानके द्वारा प्रकृति और प्राकृत जगत्‌के प्रलयके पश्चात् किसी-किसी महापुरुषको भगवान् अपनी इस लीलाभूमिमें बुला लेते हैं। चलो, देखो, अभी मैं तुम्हें विभिन्न भागोंमें ले चलकर भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका दर्शन कराती हूँ। तुम देखोगी कि कहीं रासलीला हो रही है तो कहीं चीरहरण हो रहा है। कहीं पूर्वराग तो कहीं मानलीला और कहीं संयोग तो कहीं वियोग हो रहा है। तुम आश्चर्य क्या करती हो? यह भगवान्‌की लीला है न? जैसे अनिर्वचनीय भगवान् हैं, वैसी ही अनिर्वचनीय उनकी लीला है। यहाँ प्रकृति और प्राकृत गुणोंका प्रवेश नहीं, जडताका सञ्चार नहीं, यहाँ तो केवल चिन्मय-ही-चिन्मय है। भगवद्विग्रह चिन्मय, लीला चिन्मय और धाम चिन्मय है। यों भी कह सकती हो कि सब भगवान्-ही-भगवान् हैं। वे ही लीला, धाम, रमणीय और रमणके रूपमें हो रहे हैं।'

अच्छा तो अब चलो, तुम्हें कुछ कुमारियोंके दर्शन कराऊँ। परंतु उसके पहले एक बात और सुन लो। इस प्रेमनगरमें कालकी गति तो है ही नहीं, इसलिये एक ही समय कहीं वसन्त, कहीं वर्षा, कहीं शरद्, कहीं शिशिर और कहीं हेमन्त-ऋतु रहती है। युगल सरकारके विहारकुण्डमें तो ग्रीष्म-ही-ग्रीष्म चलती है। एक साथ ही कहीं सूर्योदय हो रहा है तो कहीं सन्ध्या। कहीं रात्रि है तो कहीं दिन। सब भगवान्‌की लीला है न?

और उनकी बात क्या सुनाऊँ? वे एक स्थानपर यशोदाकी गोदीमें बैठकर मन्द-मन्द मुसकराते हुए दूध पी रहे हैं तो दूसरे स्थानपर ग्वालबालोंके साथ खेल रहे हैं और तीसरे स्थानपर गोपियोंके साथ रास-विलास कर रहे हैं। उनकी लीला अनन्त है, उनके प्रेमरसके आस्वादनके भाग

अनन्त हैं। चलो, आज कुछ प्रेमभावोंका रसास्वादन किया जाय। हाँ, ध्यान रखना, आज पहला दिन है, किसी एक भावके दर्शनमें ही अटक मत जाना। सब कुछ देखती-सुनती मेरे पीछे-पीछे चली आना। समझी न?

'देखो, सायंकालका समय है, सूर्यकी रक्तिम रश्मियाँ हरे-भरे लताकुञ्जोंपर पड़कर दूसरा ही रंग ला रही हैं। कुञ्जोंके सामने कुछ नन्हीं-नन्हीं-सी सुकुमार कुमारियाँ बैठी हुई हैं। देख रही हो न? उनकी आँखें कितनी उत्सुकताके साथ किसीकी प्रतीक्षामें लगी हुई हैं। वे बार-बार उचक-उचककर वनकी ओर देख लेती हैं। कितनी लगन है, कितनी आतुरता है, कितनी बेकली है। बात यह हुई कि आज इन्होंने पहले-पहल बाँसुरीकी मधुर ध्वनि सुनी है। सुनते ही इनका हृदय वशमें न रहा। ये छटपटाने लगीं। क्यों न हो? जिसे सुनकर बड़े-बड़े मुनियोंसे लेकर शिवतक समाधिका परित्याग करके उसीके रसास्वादनमें लगे रहते हैं, भला उसे सुनकर ये भोली-भाली व्रजकुमारियाँ कैसे अपनेको सँभाल सकती हैं? हाँ, फिर इन्होंने जाकर अपनी बड़ी बहिनोंसे पूछा, यह किसकी ध्वनि है? जबसे उन्होंने श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका वर्णन करके उनके प्रेमिल स्वभाव, बाँसुरीवादन और नाना प्रकारके विहारोंकी बातें इन्हें बतायी हैं, तबसे इन्हें और कहीं चैन ही नहीं पड़ता। बड़ी व्याकुलताके साथ गौओंको चराकर लौटनेका मार्ग देख रही हैं।'

देखो, उधर देखो, इनकी लालसा पूरी करनेके लिये नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए इधरसे ही निकल रहे हैं। आगे-आगे झुण्ड-की-झुण्ड गौएँ हैं। पीछे-पीछे सखाओंकी भीड़। उन्हींके स्वर-में-स्वर मिलाकर गायन करती हुई, उन्हींको देख-देखकर प्रेमकी मस्तीमें छकी हुई चली आ रही है। काले-काले लम्बे घुँघराले बालोंसे जङ्गली फूल गिरते जा रहे हैं। कपोलोंपर, वनमालापर, पीतपटपर और बालोंपर भी गोरज पड़े हुए हैं। हाँ, वह देखो, बाँसुरी बजाते-बजाते एक बार मुसकराकर प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख लिया। बस, अब क्या? ये सदाके लिये उनके हाथों बिक गयीं। उनके हृदयमें प्रेमका बीज बो दिया गया। इसी अवस्थाका नाम 'उप्त' है।

श्रीकृष्ण चले गये। अब नन्दरानी दूरसे ही दौड़कर उन्हें गोदीमें उठा ले गयी होंगी। न जाने क्या-क्या करके वे अपने लाड़िलेलालकी दिनभरकी थकावट मिटाती होंगी। ये कुमारियाँ भी अब उन्हें पानेका यत्न करेंगी। अब आओ, हम दूसरे प्रदेशमें चलें।

देखो, अभी यहाँ सूर्योदय नहीं हुआ है। अरुणकी अनुरागभरी रश्मियोंसे प्राचीदिशाका मुँह लाल हो उठा है। उधर देखो, हेमन्त-ऋतुकी इस सर्दीमें कुछ छोटी-छोटी लड़कियाँ श्रीकृष्णके नामोंका मधुर संकीर्तन करती हुई यमुनाकी ओर जा रही हैं। अभी तो उनके सोनेका समय है। परंतु जिसे लगन लग गयी उसे नींद कहाँ? उसे भला अपने आत्माके प्राण मनमोहनको पाये बिना कल कैसे पड़ सकती है? इन्हें ठण्डककी परवा नहीं, शरीरकी सुध नहीं और गुरुजनोंकी लाज नहीं, ये तो प्रेमकी पगली हैं। जानती हो, ये क्या करती हैं? इस कड़ाकेकी ठण्डमें नंगे यमुनाजलमें स्नान करती हैं और बालूकी मूर्ति बनाकर कात्यायनीदेवीकी पूजा करती हैं। इनका मन्त्र, उफ़ कितना सीधा मन्त्र है? कैसी सरलताके साथ ये अपना मनोरथ देवीके सामने प्रकट करती हैं। जरा भी छल-कपट नहीं कहती हैं—'देवि! नन्दलाड़िले श्यामसुन्दर हमारे पति हो जायँ।' कितना सीधा मन्त्र है।

एक दिन हमारे मनमोहन सरकार इनपर कृपा करेंगे, इन्हें सर्वदाके लिये अपनायेंगे। उन्हें कोई चाहे और वे न मिलें, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। वे प्रेमपरवश हैं, दयालु हैं और हैं बड़े भक्तवत्सल। इस अवस्थाका नाम है-'यत'। इसमें भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना बड़ी लगनके साथ चलती है। देखो, वह देखो, कुछ गोपवधूटियाँ एकत्रित होकर आपसमें बातचीत कर रही हैं। चलो, पास चलकर सुनें। इस प्रेमनगरमें भगवत्प्रेमके अतिरिक्त और कोई बात होती ही नहीं। ये गोपियाँ तो श्रीकृष्णप्रेमकी मूर्ति हैं, इनकी बात सुननेमें बड़ा आनन्द है।

हाँ, सुनो, एक क्या कह रही है—

'सखी! यहाँकी हरिनियाँ कितनी भाग्यवती हैं, बिना किसी रोक-टोकके अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ—श्यामसुन्दरके पास जाती हैं और अपनी प्रेमभरी

चितवनसे उन्हें निहार-निहारकर अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंका लाभ लेती हैं और उनकी पूजा करती हैं। उनका वह जीवन कितना धन्य है! और हम, हम अपने पतियोंके साथ नहीं जा सकतीं। काश, हम भी उसी योनिमें होतीं! तब हमें कोई न रोकता। परंतु रोकनेसे क्या होता है? हम तो उन्हें निहारेंगी, अवश्य निहारेंगी। अब किसीके रोके नहीं रुकतीं।'

सभी बारी-बारीसे कुछ कह रही हैं, कितना प्रेम है। जीवनमें यदि ऐसी लालसा जग जाय तो क्या पूछना है? फिर तो सर्वदाके लिये भगवान्का सान्निध्य प्राप्त हो जाय। देखो, वह देखो, कई गोपियाँ अपने पतियोंके साथ विमानपर चढ़कर दर्शन करने आयी हुई देवाङ्गनाओंके सौभाग्यकी प्रशंसा करती हुईं यमुनाकी ओर बढ़ रही हैं। ये यमुनामें स्नान करने और जल भरने तथा दही-दूध बेचने आदिका बहाना बनाकर प्रायः ही इधर आया करती हैं और मोहनकी मोहिनीकी झाँकी किया करती हैं। इनका प्रेम धन्य है, इनके हृदयकी दशा अत्यन्त रमणीय है। इसका नाम है 'ललित'।

जब प्राण-प्रियतमके दर्शन होते हैं तब तो आनन्द-ही-आनन्द रहता है, परंतु यदि एक क्षणके लिये भी वियोग हो जाय तो असीम दुःख भी हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि श्रीकृष्ण कहीं तमालके वृक्षों, लताओं और कुञ्जोंमें छिप जाते हैं तथा गोपियाँ बिना पानीके मछलियोंकी भाँति तड़फड़ाने लगती हैं। देखो, हम तो देख ही रही हैं कि वह आड़में खड़े होकर मुसकरा रहे हैं और उधर उस गोपीकी बुरी दशा हो रही है। मुँह पीला पड़ गया है। सिर झुक गया है। आँसू बहाती हुई आँखें इधर-उधर चकपकाकर देख रही हैं। चुने हुए फूल गिर पड़े इसका तो क्या पता होगा, जब उसे अपने तनकी ही सुधि नहीं है। अब वह रोते-रोते मूर्च्छित ही होनेवाली है। पर भगवान् उसे मूर्च्छित थोड़े ही होने देंगे। आकर अभी-अभी उठा लेंगे। परंतु प्रेमकी यह दशा है बड़ी सुन्दर। इसे 'दलित' कहते हैं। जिसे यह प्राप्त हो जाय, उसीका जीवन सफल है।

जब दलित दशाका सच्चा प्रकाश होता है तभी भगवान् श्यामसुन्दर आकर मिल जाते हैं। उस दिनकी बात है—श्रीकृष्ण रासलीलासे अन्तर्धान हो गये। हम विकल होकर वन-वनमें भटककर उन्हें ढूँढ़ने लगीं। वृक्षों, लताओं और पशु-पक्षियोंतकसे पूछने लगीं। परंतु कौन बताता है, वह तो हमारा पागलपन था। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हम अपने-आपको भूल गयीं। बस, केवल रोना-ही-रोना अवशेष रहा। परंतु उसी रोनेके अंदर हमारे हृदयेश्वर प्रकट हो गये। कितना सुन्दर था वह क्षण! उन्हें देखते ही मानो मुर्देमें जान आ गयी हो, हम सब उठकर खड़ी हो गयीं। किसीने पीताम्बर पकड़ लिया, किसीने उनके हाथ कन्धेपर रख लिये और किसीने अपने हाथोंको उनके कन्धोंपर रखकर अपनी विशेष ममता प्रकट की। उस 'मिलित' दशाका वर्णन करना असम्भव है।

उस मिलनके पश्चात् तो हम सब भूल ही गयीं। विरहका दुःख भूल गया और विरह भी भूल गया। उनकी रूपमाधुरीका पान करके कोई मस्त हो गयी तो दूसरी हृदयके अन्तस्तलमें उनके शीतल स्पर्शसे समाधिस्थ हो गयी, परंतु यह समाधि योगियोंकी-सी समाधि नहीं थी। इसमें आँखें बंद तो थीं, परंतु इसलिये बंद थीं कि कहीं हृदयमें विहार करनेवाले प्राणवल्लभ इन आँखोंके मार्गसे निकल न जायँ। इस संयोगसुखकी मस्तीको ही प्रेमियोंने 'कलित' दशा बताया है।

हाँ, तो उस दिनकी बात स्मरण करके हमारा हृदय गद्गद हो रहा है। सारा-का-सारा दृश्य आँखोंके सामने नाच रहा है। कैसा सुन्दर वह दृश्य था! सुनो, सुनो, मैं कहे बिना रह नहीं सकती।

श्रीकृष्णके आनेपर सब गोपियाँ तो उनके अनुनय-विनयमें लगी हुई थीं, परंतु रासेश्वरी श्रीराधा? अरे, उनके प्रेमकी असीमता तो फूटी पड़ती थी। विशेष ममताके कारण प्रणयरोपका भाव प्रकट करती हुई वे दूर हो गयीं

वृद्धिके लिये रूठनेका-सा अभिनय कर बैठते हैं। उस समय हमें कितनी वेदना होती है, कह नहीं सकतीं। उस दिनकी बात है। उन्होंने रात्रिमें बाँसुरी बजायी और हम सव घर-द्वार छोड़कर निकल पड़ीं। हाँ, तो उस समय वे रूठे-से बन गये। कहने लगे, घर लौट जाओ। सखी! वह बात स्मरण करके आज भी हम व्याकुल हो उठती हैं। उस समय मनमें यही एकमात्र इच्छा थी कि अब इस शरीरको रखकर क्या होगा। इसे इसीलिये हम रखती हैं न कि यह प्रियतमके काम आये, परंतु जब उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया तो इसकी क्या जरूरत? उन्हींका ध्यान करते-करते, उन्हींके विरहकी आगमें जलकर हम मर जायँगी तो अगले जन्ममें तो उन्हें पा सकेंगी। यही सब सोचते-सोचते गोपियाँ उस समय विचलित हो गयी थीं। हमारे जीवनमें उस समय प्रेमकी 'चलित' दशाका पूर्णतः उदय हो आया था और उसी समय भगवान्‌ने हमें अपनाया। कितने प्रेमी हैं वे!

यह बात तो बीचमें आ गयी थी। भगवान्‌के मिलनेपर, उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेपर हमें जिस परमानन्दकी उपलब्धि हुई, कही नहीं जा सकती। यमुनाके कपूरके समान चमकीले विस्तृत पुलिनपर हमने अपनी-अपनी ओढ़नी बिछा दी। वे मुसकराते हुए उसपर विराजमान हुए। हम उन्हें घेरकर चारों ओर बैठ गयीं। किसीने उनके चरणोंको अपनी गोदीमें लेकर अपने हृदयसे लगा लिया। किसीने उनकी पूजा की। किसीने प्रश्न पूछे और वे बड़े प्रेमसे उत्तर देने लगे। हमारे उस सौभाग्यातिरेकको आकाशमण्डलमें ठिठके हुए चन्द्रमा निर्निमेष नयनोंसे देख रहे थे, श्याममयी कालिन्दी अपनी कल-कल ध्वनिद्वारा उसका गायन कर रही थी और हवा अधखिली कलियोंका सौरभ लेकर धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। उस समय हम सब कुछ अतिक्रमण कर गयी थीं। वह प्रेमकी 'क्रान्त' दशा थी।

'देखो, उस गोपीका दिव्य उन्माद तो प्रत्यक्ष हो रहा है न? एक ओर सन्देश लेकर आये हुए उद्धव स्तम्भित-से, चकित-से वैठे हुए हैं, दूसरी ओर यह भ्रमरोंकी गुनगुनाहटको ही भगवान्‌का सन्देश मानकर न जाने क्या-क्या वक रही है। इसके चित्र-विचित्र जल्प सुनते ही बनते हैं। सुनो, सुनो, क्या कह रही है? भौंरेको अपने पास फटकनेतक नहीं देती और उसे वार-वार डाँटती है कि तुम जाओ मथुरा, यहाँ तुम्हारी जरूरत नहीं। देखती नहीं हो क्या? चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी है। आँखोंकी खुमारीसे साफ जाहिर होता है कि उद्वेगके मारे इसे नींद नहीं आती। शरीर और कपड़ोंको धोनेकी याद ही नहीं। बार-बार बेसुध हो जाती है। मर-मरके जीती है और वह भी केवल इसी आशासे कि कभी-न-कभी प्राणप्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। इसके मनमें केवल यही बात है कि शायद मेरे मर जानेके बाद वे आयें और मुझे न पाकर दुःखी हों। बस, केवल उनके सुखके लिये ही जीवित है, नहीं तो न जाने कब यह इस संसारसे उठ गयी होती। इसका नाम है—'विहृत दशा'।

अरे देखो देखो, अब इसका हृदय न जाने कैसा हो गया! कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी मौन हो जाती है, मानो कोई पत्थरका टुकड़ा पड़ा हो। सुनो, क्या कह रही है—

'प्राणेश्वर! जीवनधन! आओ, एक बार, केवल एक बार आओ। देखो, यह वही यमुना है न, जिसमें तुम जलविहार करते थे? नाथ! यह वही कदम्ब, वही लताओंका कुञ्ज, वही रात, वही वृन्दावन और वही मैं; परंतु तुम, तुम कहाँ हो, आओ आओ—

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥

क्या तुम आओगे? सचमुच आकर मुझे उठा लोगे?

हाँ, तुम अवश्य आओगे, आये बिना रह नहीं सकते।'

देखो, कहते-कहते रुक गयी, अब बोला नहीं जाता। इसे प्रेमकी 'गलित' दशा कहते हैं, चलो पाससे चलकर देखें।

अरे यह क्या? इसका मुँह तो प्रसन्नतासे खिल उठा! एक ही क्षणमें इसकी दशा ही बदल गयी। अब तो यह संयोगसुखसे संतृप्त मालूम पड़ती है। मस्तीके साथ उठकर तमालको गले लगा रही है। सच है। सच्चे विरहमें भगवान् अलग रह ही नहीं सकते। अब इसके लिये सारा जगत् प्रियमय हो गया है। अब कभी एक क्षणके लिये भी इसे वियोगका अनुभव न होगा। अब **'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे'** की सच्ची अनुभूति इसे प्राप्त हो गयी।

'अब चलो, युगल सरकारके उस कुञ्जके पास चलें जहाँ छोड़कर हम प्रेमनगर देखने चली आयी थीं। जब युगल सरकार निकलेंगे तब हम उन्हें निहार-निहारकर निहाल होंगी। आओ, गाती हुई चलें'—

इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।
सखि! चलि वेगि प्रिया निकुञ्ज महँ युगलरासरस पीजिय॥
इन नयननु छबिधाम बिलोकिय।

लीला-दर्शन—

सखा-सत्कार

कन्हाईकी वर्षगाँठ है। इस जन्मदिनका अधिकांश संस्कार पूर्ण हो चुका है। महर्षि शाण्डिल्य विप्रवर्गके साथ पूजन-यज्ञादि सम्पन्न कराके, सत्कृत होकर जा चुके हैं। गोप एवं गोपियोंने अपने उपहार व्रजनवयुवराजको दे दिये हैं। अब सखाओंकी बारी है।

कन्हाईके सखा भी उपहार देंगे; किंतु ये गोपकुमार तो अपने अनुरूप ही उपहार देनेवाले हैं। रत्नाभरण, मणियाँ, बहुमूल्य वस्त्र, नाना प्रकारके खिलौने तो बड़े गोप, गोपियाँ—दूरस्थ गोष्ठोंके गोप भी लाते हैं; किंतु गोपकुमारोंका उपहार इन सबसे भिन्न है।

'कनू! मैं भी तुझे टीका लगाऊँगा।' यह आया भद्र। यह श्यामके जन्मदिनपर सदा ऐसे ही आता है—'मेरे समीप तो कुछ है नहीं; तेरी ही कामदाके गोबरका टीका लगा दूँ तुझे?'

'सच! लगा!' अब यह नन्दनन्दन तो मानो हर्षसे विभोर हो उठा है। इसे लगता है कि इतनी महत्त्वपूर्ण बात महर्षि शाण्डिल्यतकको स्मरण नहीं आयी और उसका भद्र कितना बुद्धिमान् है। भला, गोपकुमारका तिलक गोमयके बिना कैसे सम्पूर्ण हो सकता है?

आज कन्हाई सिरसे चरणोंतक नवीन रत्नाभरणोंसे सज्जित है। अलकोंमें अनेक रंगोंके रत्न-मणियोंकी माला है। रत्न-खचित नन्हा-सा मुकुट है। भालपर केसरकी खौरके मध्य महर्षिके द्वारा लगाया कुंकुम-तिलक है, जिसपर अक्षत लगे हैं। भद्रने अक्षतोंके नीचे ठीक भ्रूमध्यमें अपनी अनामिकासे एक छोटा बिन्दु गोबरका लगा दिया।

'बाबा! यह सब भूल ही गये थे।' कृष्ण अब बाबा, ताऊ, चाचा और मैया—सबको दौड़ा-दौड़ा दिखला रहा है—भद्रने लगाया है—मेरे भद्रने।

अब यह क्रम तो चल पड़ा। तोक कहींसे एक तिरंगी गुंजा लाया है—श्वेत, कृष्ण और अरुण तीनों रंग समान हैं इसमें तथा कन्हाई उसे करपर रखे सबको दिखलाता घूम रहा है। इसके नेत्र, इसका उल्लासभरा स्वर कहता है—'ऐसी अद्भुत वस्तु है कहीं किसीके समीप? कोई रत्न इसकी तुलना करनेयोग्य है?'

कोई नन्हा मयूरपिच्छ लाया है और कोई तीन-चार छोटे किसलय। सुबल कहींसे पाँच रंगोंसे अङ्कित श्वेत पुण्डरीक पा गया है। सब फल, पुष्प, पत्ते या पिच्छ ही लाये हैं, किंतु कन्हाई तो एक-एक सखाका उपहार पाकर ऐसा उल्लसित होता है, ऐसा उछलता और सबको दिखाने

भी हर्ष इसमें ला सका।

'लाल! आज मित्रोंका सत्कार करते हैं।' मैयाने बड़े स्नेहसे कहा—'तुम अपने सखाओंको भी तो उपहार दो!'

'हाँ!' कन्हाई प्रसन्न, दौड़ आया उस राशिके समीप जो मैयाने सजा रखी है। इस बार मैयाने बाबाको बहुत सावधान किया था कि उनका नीलमणि अपने सखाओंको ऐसी-वैसी वस्तु नहीं देना चाहेगा। बाबाने कई महीने लगाये हैं इन वस्तुओंके चयनमें। बहुत प्रयत्न करके दूर-दूरसे मँगाया है।

मैया ठिठकी खड़ी रह गयी। बाबा भी स्तब्ध देखते रह गये। इस बार भी वही हुआ जो पिछली वर्षगाँठोंको होता आया है। कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। कुछ भी तो कृष्णको ऐसा नहीं लगता है, जो वह अपने किसी सखाको दे सके।

कन्हाई कोई चमकता मणि, कोई रत्नाभरण, कोई वस्त्र प्रत्येक वर्षगाँठपर यही होता है। दाऊ ही आगे अनुजका समाधान करते हैं—'कनूँ! अपने सखाको देकर सन्तुष्ट हो सके, ऐसी कोई वस्तु कैसे हो सकती है?'

सचमुच कोई वस्तु त्रिभुवनमें कैसे हो सकती है, जो सखाको देनेयोग्य प्रतीत हो सके कन्हाईको। तब?

एक क्षण सिर झुकाकर सोचता है और फेंके-बिखरे रत्नाभरणों, मणियों, वस्त्रोंके मध्यसे आगे कूद आता है, 'भद्र!' दोनों भुजाएँ गलेमें डालकर कन्हाई लिपट गया है। वाणी नहीं कह पाती; किंतु इसका रोम-रोम कहता है… 'मैं तेरा! मैं तेरा!'

'तोक! सुबल! श्रीदाम! वरूथप! अब एक-एक सखाके कण्ठसे कन्हाई भुजाएँ फैलाकर लिपट रहा है। इसका अङ्ग-अङ्ग मानो पुकार रहा है—'मैं तेरा! मैं तेरा!' चल रहा है यह सखाओंका सत्कार!

~~~~~~

व्रजाङ्गनाओंका भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज')

परब्रह्मके प्रेमरूपका दर्शन व्रजमें ही सम्भव है। सर्वव्यापक गुणातीत ब्रह्मका स्वरूप ही व्रज है। व्रजमें कृष्णकी आत्म-परमात्ममिलनकी लीला सदासे होती रही है और कबतक होगी—यह कहना सम्भव नहीं है। कृष्णकी आत्मा राधा हैं। राधा कृष्ण हैं और कृष्ण ही राधा हैं तथा इन दोनोंका प्रेम वंशी है। यहाँ प्रेमकी धारा अनवरत रूपसे प्रवाहित होती रहती है।*

आत्मामें रमण करनेवाले परमात्माकी यह प्रेमलीला कृष्ण और राधाके रूपमें दर्शित होती है। प्रेमी और रसिक ही इस रसका आस्वादन करके आनन्दित होते हैं। प्रेमका रस गूँगेके गुड़के समान अकथनीय है। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है। पद्मपुराणमें वर्णन है कि इस प्रेमरसको प्राप्त करनेके लिये भगवान् शंकरने जब व्रजाधिपति श्रीकृष्णसे प्रार्थना की तब उन्होंने उन्हें द्वापरयुगमें व्रज आनेकी सलाह दी तदनुसार गौरीशंकर निर्दिष्ट समयपर व्रजमें राधाकृष्णका दर्शन करके प्रेममग्न हुए।

* इसीलिये तो कबीरदासजीने कहा है—

कबिरा धारा प्रेम की सदगुरु दई लखाय। उलटि ताहि जपिये सदा प्रियतम संग मिलाय॥
~~~~~~

सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णका सच्चिदानन्दमयी गोपिका-नामधारिणी अपनी ही छायामूर्तियोंसे जो दिव्य अप्राकृत प्रेम था उसका वर्णन कौन कर सकता है? प्रेमरूपा गोपियाँ ही इस रसको प्राप्त करनेकी अधिकारिणी हैं; क्योंकि आत्मा और परमात्माकी एकताको न जाननेके कारण ही जगत्‌की उत्पत्ति-स्थिति और प्रतीति होती है। स्वरूपमें स्थित होनेपर प्रभुको जीवरूपमें देखा ही नहीं जा सकता। इन्द्रियोंके वेगको रोककर ही गोपी बना जा सकता है। सदा अधिष्ठान—चिंतन और अधिष्ठानरूपमें स्थित रहना ही गोपीभाव है।

गोपियोंके प्राण और श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके प्राण एवं गोपियोंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। वे परस्पर अपने-आप ही अपनी छायाको देखकर विमुग्ध होते हैं और सबको मोहित करते हैं। गोपियोंने अपने मनको श्रीकृष्णके मनमें तथा अपने प्राणोंको श्रीकृष्णके प्राणोंमें विलीन कर दिया था।[1] गोपियाँ इसीलिये जीवन धारण करती थीं कि श्रीकृष्ण वैसा चाहते थे। उनका जीवन-मरण, लोक-परलोक सब श्रीकृष्णके अधीन था। उन्होंने अपनी सारी इच्छाओंको श्रीकृष्णकी इच्छामें मिला दिया था।

व्रजमें श्रीकृष्णका मन और लीला ही सर्वोपरि थी। इसका अनुभव तब होता है जब ब्रह्माजीके द्वारा गायों और ग्वाल-बालोंका अपहरण हो जाता है। उस समय '**वासुदेवः सर्वम्**' की उद्घोषणाको साकार करके श्रीकृष्ण गाय, बछड़े, ग्वाल-बाल आदिके रूपमें एक वर्षतक रहकर गोपियोंको आनन्दित करते हैं। प्रभुकी इस लीलाको देखकर स्वयं बलभद्रजी भी चकित हो जाते हैं।

विषयानुराग काम है तथा भगवदनुराग प्रेम है। यह प्रेम बढ़ते-बढ़ते जब प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्‌का प्रतिबिम्ब बना देता है, तभी प्रेम पूर्णताके समीप पहुँचता है; क्योंकि समर्पण ही वास्तविक प्रेमका रूप है। यही अनन्यता है। अनन्यताकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४।३)

विशुद्ध अन्तःकरण ही गोपीप्रेम-रसका आस्वाद कर सकता है। भगवान् शंकर भगवती सतीसे कहते हैं—'विशुद्ध अन्तःकरणका नाम ही 'वसुदेव' है; क्योंकि उसी भगवान् वासुदेवका अपरोक्ष अनुभव होता है। उस शुद्ध चित्तमें स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवको ही मैं नमस्कार किया करता हूँ।'[2] परम भक्त उद्धव ज्ञानी थे। उन ज्ञानके रूपको प्रेमसागरमें निमग्न करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गोपियोंको अपना सन्देश सुनानेके लिये व्रजमें भेजा। उद्धवने गोपियोंको सन्देश सुनाते हुए कहा—मैं सबका उपादान कारण होनेसे सबका आत्मा हूँ, सबमें अनुगत हूँ, इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे संसारके सभी भौतिक पदार्थोंमें आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचों भूत व्याप्त हैं, इन्हींसे सब वस्तुएँ बनी हैं और ये ही उन वस्तुओंके रूपमें हैं; वैसे ही मैं मन, प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय और उनके विषयोंका आश्रय हूँ। वे मुझमें हैं, मैं उनमें हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूपमें प्रकट हो रहा हूँ।[3]

गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश अपनी बुद्धि और प्रेमके अनुरूप ग्रहण किया, पर भ्रमरगीतके रूपमें प्रेमकी अकथनीय प्रेमधारामें ज्ञानको बहाकर उद्धवजीको स्वयं अपने प्रेमके रूपमें निमग्न कर गोपीभाव समझनेको बाध्य कर दिया। परिणामस्वरूप उद्धव स्वयं गोपी बनकर श्रीकृष्णके पास पहुँचे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गोपीके रूपमें देखकर उनके समर्पणके भावको समझ गद्‌गद होकर तथा गोपीनाथ बनकर उन्हें हृदयसे लगा लिया। जिस तरह माता जानकीके क्षणभरके सत्संगसे जटायु मैया जानकीके समान[4] भगवच्चरणोंका चिन्तन[5] करने लगे थे। उसी प्रकार उद्धवजी ज्ञान-वैराग्य भूलकर गोपियोंके समान प्रेममग्न हो

---

१. गोपियोंने तभी तो उद्धवजीसे कहा है—

ऊधौ मन न भए दस बीस। एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग, को अवराधै ईस॥

२. श्रीमद्भागवत ४।३।२३

३. श्रीमद्भागवत १०।४७।२९

४. निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन॥ (रा०च०मा० ५।८)

तथा—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥ (रा०च०मा० ५।३०)

तथा—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥ (रा०च०मा० ३।३०।१८)

५. आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥ (रा०च०मा० ३।३०।१८)

गये। जिस तरह काले रंगपर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता, उसी तरह श्रीकृष्णप्रेमका नशा जिसे एक बार चढ़ गया, उसे सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण दिखायी देते हैं। गोपियोंने तभी तो उद्धवजीसे कहा है—

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधौ हमें स्याम ही सों काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही हैं प्रानपति,
स्याम सुखदाई सों भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भए बौरे पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखैं यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

अनात्म प्रेम, भौतिक प्रेम और शारीरिक प्रेम भगवत्प्रेमके आगे फीके पड़ जाते हैं। कृष्णप्रेमके रंगमें रँगी आँखें किसी दूसरेको नहीं निहारतीं। प्रेमी चाहता है कि आँखें सर्वत्र उसे ही देखती रहें, परम प्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोंके सामने रहें। वे आँखें ही न रहें जो तदन्यको देखना चाहें, वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय जिसमें तदन्यका भाव, चिन्तन हो। अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्य देव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्यकी नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ है भी तो नहीं!

गोपियाँ भी भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें आकण्ठ डूबी हुई थीं। तभी तो भगवान्ने उद्धवजीसे कहा—उद्धव! और तो क्या कहूँ, मैं ही उनकी आत्मा हूँ। वे नित्य-निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं।[1] इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण तो यहाँतक कहते हैं—उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मस्वरूप शंकर, सगे भाई बलरामजी, स्वयं अर्धांगिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है।[2]
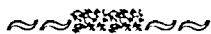
प्रेमकल्पलता श्रीराधाजीका महाभाव

(श्रीहरनारायण सिंहजी सिसोदिया, एम्०ए०)

वन्दे राधापदाम्भोजं ब्रह्मादिसुरवन्दितम्।
यत्कीर्तिकीर्तनेनैव पुनाति भुवनत्रयम्॥

(ब्र०वै०पु० श्रीकृष्ण० ९२।६३)

मैं श्रीराधाके उन चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो ब्रह्मा आदि देवताओंद्वारा वन्दित हैं तथा जिनकी कीर्तिके कीर्तनसे ही तीनों भुवन पवित्र हो जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्दको प्रेमविग्रहोंके रूपमें दर्शाते हैं और स्वयं ही उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधाजी हैं। राधाका यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमोंका एकीभूत समूह है। आनन्दसारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधाजीका कभी विछोह नहीं होता। वे एक-दूसरेके बिना अपूर्ण हैं। श्रीराधाजी श्रीकृष्णजीकी जीवनरूपा हैं और श्रीकृष्णजी श्रीराधाजीके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससार विग्रह होनेसे ही राधिका महाभावरूपा हैं, जो उनके प्रियतम श्रीकृष्णको सदा सुख प्रदान करती रहती हैं।

श्रीश्याम-राधिकाकी बाल्यावस्थाके प्रथम-मिलनका सूरदासजीने अपने एक पदमें कितना मार्मिक एवं स्वाभाविक वर्णन किया है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहतिं आपनी पौरी।
सुनत रहतिं स्त्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥

(सूरसागर पद १२९१)

कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी लाखों अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्तिमती होकर प्रतिक्षण सखी, मंजरी, सहचरी, दूती आदि रूपोंमें श्रीराधा-कृष्णकी सेवा किया करती हैं। उन्हें सुख

१. श्रीमद्भागवत १०।४६।६ २. श्रीमद्भागवत ११।१४।१५

पहुँचाना तथा प्रसन्न रखना ही इन गोपीजनका मुख्य कार्य होता है। श्रीकृष्णने राधाके लिये कहा है—'जो तुम हो वही मैं हूँ।'

श्रीकृष्ण तथा राधा दोनों एक ही हैं—अभिन्न हैं। श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके संग रहती हैं। अपने विचित्र विभिन्न भाव-तरंगरूप अनन्त सुखसमुद्रमें श्रीकृष्णको राधाजी नित्य निमग्न रखनेवाली महाशक्ति हैं। वे एकमात्र अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी सुख-विधाता हैं। वे त्यागमयी, मधुर स्वभाववाली हैं। गुणोंकी अनन्त आकर होकर भी अपनेको गुणविहीन मानती हैं। प्रेममूर्ति होकर भी अपनेमें प्रेमका अभाव देखती हैं। सौन्दर्यनिधि होकर भी अपनेको सौन्दर्यरहित मानती हैं अर्थात् निरभिमानी हैं।

राधाजीका समस्त शृंगार अपने प्रियतम श्रीकृष्णके लिये ही होता है। उनका खाना-पीना, दिव्य गन्ध-सेवन, सुन्दरताका दर्शन, संगीत-श्रवण, सुख-स्पर्श, चलना-फिरना और सभी व्यवहार अपने लिये नहीं, वरन् अपने प्रिय श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेहेतु होता है। उनके प्रेमका लक्ष्य होता है, श्रीकृष्णके आनन्दविधानकी ओर। उनका प्रेम अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है, परम विशुद्ध तथा उज्ज्वल है। श्रीराधाका प्रेम सहज और परमोच्च शिखरपर आरूढ़ है। इसी राधा-प्रेमका दूसरा नाम अधिरूढ़ महाभाव है, जिसमें प्रियतमका सुख ही सब कुछ है।

अपने मनकी अति गोपनीय स्थिति दर्शाती हुई श्रीराधा अपनी सखीसे कहती हैं—मेरा जो कुछ भी था सब प्रभुको समर्पित हो गया। सब ओरसे अपनी ममता सिमटकर केवल प्रभुमें ही रह गयी। सभी सम्बन्ध टूट गये, केवल प्रभुसे ही प्रगाढ़ सम्बन्ध रह गया है। सरस सुगन्धित सुमनोंसे छद्म रूपसे सदा प्रभुकी पूजा करती हूँ ताकि इसका प्रभुको पता न लगे। जहाँ भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, इस पूजाका अन्त न हो। इस पूजामें मैं सदा आनन्दलाभ करूँ, इसीमें मेरी रुचि है। यह पूजा सदा बढ़ती रहे। इस पूजामें नित्य प्रियतम श्रीकृष्णके मनमोहन रूपको देखती रहूँ। पर मेरे प्रियतम कभी मेरी पूजा देख न पायें। अन्यथा यह एकांगी भाव न रह सकेगा। कितने निश्छल भावसे राधा-रानीने अपने ये भाव अपनी प्रिय सखीसे कहे—

रह नहीं पायेगा फिर यह एकांगी निर्मल भाव।
फिर तो नये नये उपजेंगे प्रियसे सुख पानेके चाव॥

प्रेमभक्तिका चरम स्वरूप श्रीराधाभाव है। इस भावका यथार्थ स्वरूप श्रीराधिकाजीके अतिरिक्त समस्त विश्वके दर्शनमें कहीं नहीं मिलता। वे शंका, संकोच, संशय, सम्भ्रम आदिसे सर्वथा शून्य परम आत्मनिवेदनकी पराकाष्ठा हैं। रति, प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और भाव—इस प्रकार बढ़ता हुआ परम त्यागमय पवित्र प्रेम अन्तमें जिस रूपको प्राप्त होता है, वही महाभाव श्रीराधाजीमें है।

वे इस महाभावकी प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति हैं। श्रीश्यामसुन्दर ही श्रीराधाके प्रेम-आलम्बन हैं। श्रीराधाजी इस मधुररसकी श्रेष्ठतम आश्रय हैं। वे कभी प्रियतमके संयोगसुखका, कभी वियोगवेदनाका अनुभव करती हैं। उनका मिलनसुख और वियोगव्यथा दोनों ही अतुलनीय तथा अनुपम हैं।

जब श्रीकृष्णजी मथुरा जाते हैं तब श्रीराधा, समस्त गोपीमण्डल, सारा व्रज वियोगसे अत्यन्त पीडित हो जाता है, पर श्रीश्यामसुन्दर माधुर्यरूपमें सदा श्रीराधाके समीप रहते हैं। श्याम अपने सखा ब्रह्मज्ञानी उद्धवजीको व्रजमें जाकर नन्दबाबा, यशोदा मैयाको सान्त्वना देने तथा गोपाङ्गनाओं एवं राधारानीको उनका स्नेहसंदेश सुनाने भेजते हैं, तब राधाजी उनसे कहती हैं—

उद्धव! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा संदेश?
भुला रहे क्यों मिथ्या कहकर? प्रियतम कहाँ गये परदेश?
देखे बिना मुझे, पलभर भी कभी नहीं वे रह पाते!
क्षणभरमें व्याकुल हो जाते, कैसे छोड़ चले जाते?
मैं भी उनसे ही जीवित हूँ, वे ही हैं प्राणोंके प्राण।
छोड़ चले जाते तो कैसे, तनमें रह पाते ये प्राण?

(पद-रत्नाकर ३४३)

श्रीराधा तथा अन्य गोपाङ्गनाओंको ब्रह्मज्ञान देकर उद्धव समझानेकी चेष्टा करते हैं पर उनका समस्त ब्रह्मज्ञान उनके निश्छल कृष्णप्रेमके आगे असफल हो जाता है। उनके प्रेम-प्रभावमें उद्धवजीका चित्त आप्लावित हो जाता है। गोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को अवराधै ईस॥
इंद्री सिथिल भई केसो बिन ज्यों देही बिनु सीस।
आसा लगी रहत तनु खासा जीजो कोटि बरीस॥
तुम तो सखा स्यामसुंदरके सकल जोगके ईस।

सूरदास वा रसकी महिमा जो पूँछैं जगदीस॥

(भजन-संग्रह १८२)

तथा—

ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कह जानै, कैसें ध्यान धराहीं॥
तेई मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।
स्त्रवन चीरि सिर जटा बँधावहु, ये दुख कौन समाहीं।
ऐसी कथा कपट की मधुकर हम तैं सुनी न जाहीं॥
चंदन तजि अँग भस्म बतावत, बिरह अनल अति दाहीं॥
जोगी भ्रमत जाहि लगि भूले, सो तो है अप माहीं।
'सूर' स्याम तैं न्यारी न पल छिन, ज्यौं घट तैं परछाहीं॥

(सूरसागर पद ४५४१)

तत्पश्चात् राधा बोलीं—देखो नन्दकिशोर तो यहीं हैं।

देखो—वह देखो, कैसे मृदु-मृदु मुसकाते नन्द-किशोर।
खड़े कदम्ब-मूल, अपलक वे झाँक रहे हैं मेरी ओर॥
देखो, कैसे मत्त हो रहे, मेरे मुख को पंकज मान।
प्राण-प्रियतम के दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रस-पान॥
भ्रुकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे वे संकेत।
अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राण-निकेत॥
कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर?
क्या तुम नहीं देख पाते? या देख रहे हो प्रेम-विभोर?

(पद-रत्नाकर ३४३)

राधारानी कभी वियोग, कभी संयोगका अनुभव करती हुई उद्धवको यह बताती हैं कि उनके घनश्याम तो कहीं नहीं गये। अपने चित्तकी स्थिति कहते-कहते राधाजी स्तब्ध हो जाती हैं। राधाके प्रेमसुधा-रससमुद्रकी विचित्र तरङ्गोंको उद्वेलित देख उद्धव अत्यन्त विमुग्ध हो उठते हैं। उनके सभी अङ्ग विवश हो जाते हैं। उनके हृदयमें भी श्रीकृष्णप्रेमकी बाढ़-सी आ जाती है। जिसका कहीं ओर-छोर नहीं, वे आनन्दमग्न हो भूमिमें लोटने लगते हैं। उस भूमिकी धूलमें जिसे राधाजी तथा गोपाङ्गनाओंके चरणोंका स्पर्श प्राप्त हुआ है। पवित्र प्रेमसे परिपूरित व्रजकी धूलि उद्धवके लिये अनुपम हो उठती है—

भू-लुण्ठित तन धूलि-धूसरित शुचि, उद्धव आनन्द-विभोर॥

गोपाङ्गनाओंके कृष्णानुरागको देख व्रजकी धूलिको पावन समझकर उन्होंने उसे शिरोधार्य किया। इस प्रकार वे ब्रह्मज्ञानी उद्धव श्रीकृष्णमय होकर मथुरा लौटे।

राधाजीके लिये कहा गया है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता।
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा॥

श्रीकृष्णकी सेवारूपा क्रीडाकी नित्य निकुञ्जेश्वरी होनेके कारण या श्रीकृष्णनेत्रोंको अनन्त आनन्द देनेवाली द्युतिसे समन्वित परमा सुन्दरी होनेके कारण श्रीराधा 'देवी' हैं।

जहाँ-कहीं भी दृष्टि जाती है या राधाका मन जाता है, वहीं राधाजीको श्रीकृष्ण दीखते हैं। इनकी इन्द्रियाँ सदा-सर्वदा श्रीकृष्णका संस्पर्श प्राप्त करती रहती हैं। अतः ये कृष्णमयी हैं।

श्रीकृष्णकी प्रत्येक इच्छापूर्ति करनेके रूपमें राधाजी तन, मन तथा वचनसे उनकी आराधनामें अपनेको व्यस्त रखती हैं, अतः ये 'राधिका' हैं।

सभी देव, ऋषि-मुनियोंकी पूजनीय, सभीका पालन-पोषण करनेवाली और अनन्त ब्रह्माण्डोंकी जननी होनेके कारण 'श्रीराधाजी' परदेवता हैं।

श्रीकृष्णकी प्राणस्वरूपा मूलरूपा होनेके कारण ये 'सर्वलक्ष्मीमयी' हैं।

सर्वशोभासौन्दर्यकी अनन्त खान, समस्त शोभाधिष्ठात्री देवियोंकी मूल उद्भवरूप एवं नन्द-नन्दन श्रीकृष्णजीकी समस्त इच्छाओंकी साक्षात् मूर्ति होनेके कारण ये 'सर्वकान्ति' हैं।

श्रीश्यामसुन्दरकी भी मनमोहिनी होनेके कारण ये 'सम्मोहिनी' हैं तथा श्रीकृष्णकी परमाराध्या, परम प्रेयसी, पराशक्ति होनेके कारण राधाजी 'परा' कही जाती हैं। इन्हीं पराशक्तिसे शक्तिमान् होकर श्रीकृष्ण सम्पूर्ण दिव्य लीलाओंको सम्पन्न करते रहते हैं—

अनन्त गुण श्रीराधिकार पंचिस प्रधान।
सेइ गुणेर वश हय कृष्ण भगवान्॥

श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधारानी परम प्रियतम

होता है। जीवगत विकार मायाशक्तिके द्वारा जीवको सतत खींच रहा है और इसीसे विषयोंके सुखकी आशामें नित्य दु:खोंके भँवरमें पड़ा जीव गोते खाता रहता है। इस मायाशक्तिके आकर्षणसे मुक्त होनेके लिये राधा या उनकी किसी सखी-सहचरीके अनुगत होकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। जिससे श्रीराधा-माधवके विशुद्ध प्रेमकी ओर वे हमें खींच सकें—

अब बिलम्ब जनि करो लाडिली, कृपा दृष्टि टुक हेरो।
जमुन पुलिन गलिन गहवर की विचरूँ साँझ सेवेरो॥
निशि दिन निरखों जुगल माधुरि रसिकन ते भट मेरो।
ललितकिसोरी तन मन व्याकुल श्रीबन चहत बसेरो॥

ललितकिशोरीजीने इस प्रकार राधाजीसे प्रार्थना की है।

श्रीकृष्ण परम देव हैं। उनके छहों ऐश्वर्योंकी मूलरूपा श्रीराधा उनकी सतत आराधना करती रहती हैं। वृन्दावनके एकमात्र स्वामी परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं और श्रीराधा भी श्रीकृष्णके द्वारा आराधिता हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही शरीर हैं। लीलाहेतु पृथक् बन गये। श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण ईश्वरी हैं, सनातनी विद्या हैं। उनके प्राणोंकी अधिष्ठात्री हैं। एकान्तमें चारों वेद उनकी स्तुति करते हैं। उनकी महिमा श्रीब्रह्मा भी वर्णित नहीं कर सकते। श्रुतियाँ राधाजीका इन अट्ठाइस नामोंसे स्तुतिगान करती हैं—राधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्णमन्त्राधिदेवता, सर्वाद्या, सर्ववन्द्या, वृन्दावनविहारिणी, वृन्दाराध्या, रमा, अशेषगोपीमण्डलपूजिता, सत्या, सत्यपरा, सत्यभामा, श्रीकृष्णवल्लभा, वृषभानुसुता, गोपी, मूल प्रकृति, ईश्वरी, गन्धर्वा, राधिका, आरम्या, रुक्मिणि, परमेश्वरी, परात्परतरा, पूर्णा, पूर्णचन्द्रनिभानना, भुक्तिमुक्तिप्रदा और भवव्याधिविनाशिनी।

श्रीराधाजीको इन नामोंसे भजनेवाले मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाते हैं, व्रती हो जाते हैं, वायुसे भी पवित्र एवं वायुको पवित्र करनेवाले तथा सब ओर पवित्र एवं सबको पवित्र करनेवाले हो जाते हैं। वे राधा-कृष्णके प्रिय हो जाते हैं। जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँतक वे सबको पवित्र कर देते हैं।

'अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस'

(डॉ० श्रीराधानन्द सिंह, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, एल्-एल्०बी०, बी०एड्०)

परब्रह्म परमात्माके प्राकट्यका प्रमुख अधिष्ठान है—प्रेम। श्रीरामजी परात्पर परब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं। वे ब्रह्मा, विष्णु और महेशद्वारा सेवित तथा पूजित हैं। वे निर्गुण, निराकार, अचिन्त्य, अनन्त शक्तिसम्पन्न कल्प-कल्पान्तरमें भक्तप्रेमवश सगुण साकाररूपसे मनुष्यावतार धारण करते हैं। उनके अवतारके हेतु अनेक और एक-से-एक विचित्र होते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें अवतार-हेतुओंका उल्लेख करते हुए कहा है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥

(रा०च०मा० १।१२१।६—८, दोहा १२१; १।१२२।१)

श्रीरामचरितमानसमें वर्णित अवतार-प्रयोजनके सम्यक् अनुशीलनसे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकी स्थापना और राक्षसोंका विनाश—अवतारके केवल बाह्य निमित्त हैं। ये सब प्रभुकी इच्छामात्रसे सहज सम्भव हैं।

अस्तु, अवतार-प्रसंगके उपसंहारकी चौपाई *'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं'* ही श्रीरामके अवतारका मुख्य हेतु है।

यही कारण है कि श्रीरामचरितमानसमें तुलसीदासजीने आरम्भमें ही निर्गुण ब्रह्मके सगुणरूपमें अवतरणके मुख्य प्रयोजनको स्पष्ट करते हुए कहा है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥

(रा०च०मा० १।१३।३—५)

अर्थात् जो परमेश्वर इच्छारहित, अरूप, अनाम, अजन्मा, सच्चिदानन्द और परमधाम है तथा जो व्यापक एवं विश्वरूप है, उसी भगवान्ने दिव्य शरीर धारण करके नाना प्रकारकी लीला की है। वह लीला केवल भक्तोंके हितके लिये ही है; क्योंकि भगवान् श्रीराम परम कृपालु और

शरणागतके प्रेमी हैं। यहाँ प्रयुक्त शब्द 'भगत-हित' ही अवतार-प्रयोजनको सिद्ध करता है।

मानसमें ही रामावतरणके सन्दर्भमें कहा गया है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥

(१।५१ छन्द)

यहाँ भी व्यापक ब्रह्मके *'भगत हित'* अवतरणकी बात कही गयी है।

श्रीरामकथाके आदिवक्ता भगवान् शिव श्रीरामरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं कि जो ब्रह्म निर्गुण, निराकार, अव्यक्त और अजन्मा है, वही भक्तोंके प्रेमवश होकर सगुणरूप हो जाता है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

(रा०च०मा० १।११६।२)

अन्यत्र भी भगवान् शिवजीकी उक्ति ऐसी ही है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

(रा०च०मा० १।१८५।५, ७)

ऐसी ही दिव्योक्ति काकभुशुण्डिजीकी है—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जब जब अवधपुरीं रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥
तब तब जाइ राम पुर रहऊँ। सिसुलीला बिलोकि सुख लहऊँ॥

(रा०च०मा० ७।७५।२-३; ११४।१२-१३)

इस प्रकार दैन्यघाटके वक्ता गोस्वामी तुलसीदासजी, कर्मकाण्डघाटके वक्ता याज्ञवल्क्यजी, ज्ञानघाटके वक्ता भगवान् शिवजी तथा उपासनाघाटके वक्ता काकभुशुण्डिजी अपने-अपने श्रोताओंकी शंकाको दूर करते हुए एकमतसे उद्घोषित करते हैं कि जो ब्रह्म अगुण, अरूप, अव्यक्त, अज और निराकार है, वह भक्तोंके प्रेमके वशीभूत हो निर्गुणसे सगुण, अरूपसे रूपवान्, अव्यक्तसे व्यक्त, अजसे देहधारी तथा निराकारसे नराकार हो जाता है।

श्रीरामकथाके आदिरचयिता श्रीवाल्मीकिजी मानसमें ऐसा ही कहते हैं—

नर तनु धरेहु संत सुर काजा।

(रा०च०मा० २।१२७।६)

तीर्थराज प्रयागमें श्रीभरद्वाजजी श्रीभरतजीके सम्मुख श्रीदशरथजीकी सराहना करते हुए कहते हैं कि उनके समान संसारमें कोई दूसरा नहीं है, जिनके प्रेमवश श्रीराम इस धराधामपर प्रकट हुए--

दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥
जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।

(रा०च०मा० २।२०९।८, दोहा २०९)

श्रीदशरथजीके प्रति ऐसी ही उक्ति कुलगुरु वसिष्ठजीकी भी है—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥

(रा०च०मा० २।४।७-८)

परात्पर श्रीरामको वनमें भूमिशयन करते हुए देख जब निषादराज विषादसे भर गये तो श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान, विराग और भक्तिपूर्ण वचनोंसे श्रीरामके रहस्यको प्रकट करते हुए कहते हैं—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

(रा०च०मा० २।९३।७-८, दोहा ९३)

यहाँ भी मनुजतन धारण करनेमें प्रथम हेतु *'भगत'* का हित ही है। इस प्रकार न केवल मानसके चारों दिव्य वक्ता वरन् श्रीवाल्मीकिजी, श्रीभरद्वाजजी, श्रीवसिष्ठजी, श्रीलक्ष्मणजी आदि भी ब्रह्म श्रीरामके अवतरणका प्रमुख हेतु 'भक्त-प्रेम' ही मानते हैं।

मानसके इन दिव्य पुरुषोंके वचनोंकी सम्पुष्टि भगवान् श्रीराम स्वयं अपने वचनोंसे करते हैं। विभीषणजी जब प्रभु श्रीरामके शरणागत होते हैं तो भगवान् कहते हैं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥

(रा०च०मा० ५।४८।८)

यहाँ भगवान् श्रीराम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि विभीषण-सरीखे संत जो सगुणोपासक, परहितनिरत, नीतिनिरत और द्विजपदप्रेमी हैं, वे मेरे अतिशय प्रिय हैं और मात्र ऐसे

ही संतोंके लिये मैं देह धारण करता हूँ।

मानसके सारे भक्त भक्तवत्सल राघवेन्द्रके प्रति अपनी अभिन्न और विभिन्न प्रेमनिष्ठाका परिचय देते हैं, यथा— श्रीदशरथजीमें 'सत्यप्रेम', श्रीकौसल्याजीमें 'वात्सल्यप्रेम' श्रीअहल्याजीमें 'धीरप्रेम', श्रीजनकजीमें 'गूढ़प्रेम', श्रीसीताजीमें 'तत्त्वप्रेम', श्रीभरतजीमें 'अगमप्रेम', श्रीलक्ष्मणजीमें 'अनन्य-प्रेम' श्रीकेवटजीमें 'सहजप्रेम', वनवासियोंमें 'सरलप्रेम', जटायुजीमें 'दरसप्रेम', श्रीशबरीजीमें 'परमप्रेम', श्रीविभीषणजीमें 'चरणप्रेम' और श्रीहनुमान्‌जीमें 'निर्भरप्रेम' की पूर्ण प्रतिष्ठा है। मानसमें ऐसे ही अनेक भक्तोंके उद्धारके लिये भगवान् श्रीराम प्रतिबद्ध थे, जिनके कारण वे देह धारण कर धराधामपर आये।

मानसमें ब्रह्मके सगुणरूपमें अवतरणकी भूमिका मनु-शतरूपाकी तपस्यामें मिलती है। उनकी भी अभिलाषा ऐसी ही है—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥

(रा०च०मा० १।१४४।६—८)

अर्थात् यह श्रुतिवचन है कि भगवान् *'भगत हेतु'* देह धारण करते हैं। इसी भावमें उनकी अभिलाषा भी पूरी हुई। श्रीराम सगुणरूपमें आये। शाण्डिल्यसूत्र (४९)-में भी कहा गया है—

'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्'।

करुणानिधान श्रीरामके अवतारमें उनकी करुणा ही कारणतत्त्व है।

भगवान् शिव मानसके प्रारम्भमें श्रीरामस्वरूपका निरूपण करते हुए उनके अवतरणमें प्रेमविवशता ही बताते हैं—

सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

(रा०च०मा० १।११८)

यहाँ भी सर्वसमर्थ सर्वेश्वर *'भगत हित'* दशरथसुत बनकर आते हैं।

श्रीरामचरितमानसके अनेक प्रसंगोंसे यह सिद्ध होता है कि दशरथनन्दन श्रीराम अपने दिव्य चरितसे भक्त-प्रेमके कारण—*'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना'* (रा०च०मा० १।११८।५) आदिकी निर्गुण लीला भी करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

(रा०च०मा० १।१९८)

'प्रेम भगति बस' कौसल्याकी गोदमें विराजमान श्रीराम अद्भुत लीला करते हैं। माता कुलपूज्यकी पूजाके समय बालक श्रीरामको पलनेपर और कुलपूज्यके सामने एक साथ देखकर चकित हो गयीं—*'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा।'* (रा०च०मा० १।२०१।७) यहाँ पलनेके श्रीराम कुलपूज्यके पास पहुँचकर *'बिनु पद चलइ'* की लीला कर रहे हैं। मानसके अन्य अनेक प्रसंगोंसे श्रीरामके *'कर बिनु करम करइ बिधि नाना'* (रा०च०मा० १।११८।५) आदिकी पुष्टि होती है। उत्तरकाण्डमें श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥

(रा०च०मा० ७।७२ क)

अर्थात् भगवान् श्रीरामने *'भगत हेतु'* सामान्य नरकी तरह अनेक परम पावन चरित किये। परम पावन चरित वह होता है, जो स्वयं पवित्र होता है और दूसरेको पवित्र करता है। भगवान् श्रीरामका यही परम पावन चरित श्रीरामचरितमानसमें आद्योपान्त वर्णित है, जिसमें प्रेमकी अद्भुत छटा दिखायी पड़ती है। भक्तप्रेमवश अवतरित ब्रह्म राम वनवासियोंसे प्रेमपूर्ण सरल-सहजरूपमें मिलते हैं तथा बात करते हैं—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥
रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

(रा०च०मा० २।१३६; २।१३७।१)

अर्थात् भक्तप्रेमके कारण अवतरित श्रीरामके प्रेमपूर्ण परम पावन चरितको प्रेमसे ही जाना जा सकता है; क्योंकि वे प्रेमस्वरूप हैं और उन्हें केवल प्रेम ही प्यारा है। अतः ऐसे प्रेममय भगवान् श्रीरामके चरणारविन्दोंमें प्रेमपूर्ण शरणागतिसे ही जीव परम विश्राम पा सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामके प्राकट्यके बारेमें सच ही कहा है—

अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥

(रा०च०मा० २।२१९।६)

प्रेमकी प्रतिमूर्ति सीताजीका हार्दिक अनुराग

(श्रीसुधाकरजी ठाकुर)

मैथिल-कोकिल विद्यापतिकी अनुवर्तिनी गायिका 'स्नेहलता' का एक विवाहगीत अत्यन्त लोकप्रिय है और अभी भी गाया जाता है—

मोहि लेलकै सजनी मोरा मनुआ पहुनमा राघो।
अब हो पहुनमा राघो सिया के सजनमा राघो॥ मोहि...
नैनों में काजर कारी, ओठों में पान क लाली।
मुस्कैते स्यामल बरनमा, पहुनमा राघो॥ मोहि...
डांड़े बिहौती धोती, चपकन सुन्दर लगनौती।
हाथों में आम के कगनमा पहुनमा राघो॥ मोहि...
धन धन किशोरी मोरी, लयलन्हि 'सिनेहिया' जोरी।
तरे तरे तिरछी नजरिया, पहुनमा राघो॥ मोहि...

कवयित्री 'स्नेहलता' की कल्पनामें बसी एक सखी दूल्हा श्रीरामकी मोहक छवि देखकर अपनी किशोरीजीको धन्य-धन्य कहकर भावविभोर हो जाती है। किशोरीजी भी अपनी तिरछी नजरोंसे उनको निहारकर सनाथ हो जाती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी किशोरीजीकी रूपमोहिनी श्यामसुन्दर श्रीरामपर निछावर करते हैं—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥

किशोरीजीकी एक सखी श्याम-सलोनेको देखकर पुलकित गात, नयनोंमें जल भरे किशोरीजीके पास आती है। अन्य सखियोंने उससे पूछा—

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥

तुम इतनी उन्मत्त क्यों? कौन-सी अलौकिक वस्तु प्राप्त हुई है? इसपर सखीने तत्क्षण कहा—

देखन बागु कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

सखीके वचन सुन किशोरीजी साँवरे रूपका सुधापान करने चल पड़ीं, उनके नेत्र अकुला उठे—

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥
चली अग्र करि प्रिय सखी सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥

नारदजीके वचन स्मरण करके किशोरीजीके मनमें पवित्र प्रेम जाग्रत् हो गया—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥

किशोरीजीके रूप-लावण्यसे अभिभूत श्रीराम उनकी सराहना करते हैं—

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी॥

किशोरीजीके नेत्र मृगशावककी तरह चंचल ही नहीं, सभीत भी हैं—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

किशोरीजी अनन्य अनुरागमें डूब जाती हैं, नेत्रमार्गसे उन्हें हृदयमें स्थित करके पलकोंको बंद कर लेती हैं—

लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

गौरीपूजनको जाते हुए मुड़-मुड़कर श्याम-सलोनेको बार-बार निहारती हैं—

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥

धनुष टूटनेपर किशोरीजीकी प्रसन्नताके लिये गोस्वामीजीने दुर्लभ उपमान प्रस्तुत किया—

सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥
तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ़ प्रेमु लखि परइ न काहू॥

विवाहमण्डपमें जानकीजी तथा साँवरे-सलोने कुँअर श्रीरामजीकी छविका अंकन गोस्वामीजी नहीं कर पाते। कविकी कल्पना और लेखनी ठहर-सी जाती है—

सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसें करै॥

वनगमनके पूर्व जानकीजीकी चिन्ता स्वाभाविक है—

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥

श्रीराम उन्हें वनके कष्टोंको समझाते हुए कहते हैं—*'हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू'* जिसके उत्तरमें सीताजीका

सटीक उत्तर श्रीरामको निरुत्तर कर देता है—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥
प्राननाथ करुनायतन सुंदर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥

पतिकी अनुपस्थितिमें भोग—रोगके समान, गहने भारस्वरूप और संसार नरककी पीड़ाके समान है। पुरुषके बिना नारी जलविहीन सरिताके समान है—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

श्रीराम उन्हें अपने संग ले जानेमें हिचक रहे हैं; किन्तु वनके कठोर क्लेशों और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनोंको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती हैं। अध्यात्मरामायण (२।४।७८-७९)-के अनुसार सीताजीने स्पष्ट कह दिया—

अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥
यदि गच्छसि मां त्यक्त्वा प्राणांस्त्यक्ष्यामि तेऽग्रतः।

यदि आप मुझे छोड़कर जाते हैं तो मैं अभी आपके सामने ही अपने प्राणोंका त्याग करूँगी—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अन्ततः सीताजीके प्रेमकी विजय हुई। वे प्रेमकी प्रतिमूर्ति हैं। उन्हें श्रीरामसे अलग रखनेकी कल्पना ही व्यर्थ है। वनमार्गमें थककर वृक्षकी सुखद छायामें श्रीरामको ठहरनेके निवेदनका गोस्वामीजीने प्रीतिपूर्ण शब्दोंमें इस प्रकार वर्णन किया है—

जलको गए लक्खनु, हैं लरिका,
परिखौ, पिय! छाहँ घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं,
अरु पाय पखारिहौं भूभुरि-डाढ़े॥
(कवितावली २।१२)

अपने प्रियतमका पसीना पोंछना, विश्राम और गर्म बालुकासे तप्त पैरोंको धोनेका आग्रह सीताजीके अतिशय प्रेमका परिचायक है। ग्रामवधुएँ सीताजीसे प्रेमपूर्वक पूछ ही बैठीं—

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥

ग्रामवधुओंको इस भोले-भाले प्रश्नका उत्तर—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥

—इस प्रकार देकर ग्रामवधुओंकी तरह अपना चन्द्रमुख आँचलसे ढककर नारीसुलभ संकेतमात्रसे उन्हें आनन्दित कर दिया—

बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
(रा०च०मा० २।११७।६)

तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली।
(कवितावली २।२२)

सीताजीका अपने साँवरे सलोनेके प्रति समर्पण उपर्युक्त कथनमें मुखर हो उठा है। गोस्वामीजीने अद्भुत चित्र प्रस्तुत किया है।

अशोकवाटिकामें सीताजी अपने श्रीरामको क्षणभरके लिये भी भूल नहीं पातीं। विरहविदग्धा श्रीसीताजी दोनों हाथ जोड़कर त्रिजटासे अनुनय करती हैं—

तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई॥
आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥

अपनी प्रीतिको सत्य करनेके लिये वे आकाशके तारों और अशोकवृक्षसे अग्निकी भिक्षा माँगती हैं—

देखिअत प्रगट गगन अंगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हत भागी॥
सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥

वे हनुमान्‌जीसे पूछती हैं—

कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥

श्रीहनुमान्‌जीके मुखसे प्रभु श्रीरामका यह संदेश मिलनेपर—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥

श्रीसीताजी प्रेममग्न होकर देहकी सुध-बुध भूल जाती हैं—

प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

लङ्का-दहनके पश्चात् चूड़ामणि देते हुए हनुमान्‌जीको कहती हैं—

कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरनकामा॥
दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥

श्रीरामकी प्रियतमा सीताजीका वर्णन वाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डमें अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। रावणके सम्मुख सीताजी केलेके पत्तेकी तरह काँप रही हैं। उनकी देह सूखकर काँटा बन चुकी है। आँखोंसे अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित हो रही

है। मन्त्रमुग्धा सर्पिणीकी तरह उनका शरीर छटपटा रहा है। उपवास, शोक, चिंता और भयके कारण वे मात्र जल ग्रहण कर अपने प्राणोंको संजोये हैं। रावणके अनेक प्रलोभनोंका उत्तर वे निडर होकर देती हैं—मैं पतिव्रता हूँ, उच्च कुलकी नारी हूँ, सती हूँ। मैं सूर्यकी प्रभाकी भाँति अपने स्वामीसे अलग नहीं हो सकती। श्रीरामजी शरणागतवत्सल हैं, वे तुझे क्षमा कर देंगे—

विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥
प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम्।

(वा०रा० ५।२१।२०-२१)

रावण-वधके पश्चात् अग्निपरीक्षाके लिये प्रस्तुत सीताजी प्रज्वलित अग्निको प्रणाम करते हुए कहती हैं—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥

(वा०रा० ६।११६।२५)

'यदि मेरा हृदय कभी एक क्षणके लिये भी श्रीरघुनाथजीसे दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें।'

अग्निप्रवेश करनेपर अग्निदेव स्वयं प्रकट हुए। सीताजीको गोदमें लेकर श्रीरामके प्रति अर्पित करते हुए बोले—

एषा ते राम वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्ध्या न चक्षुषा।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्यं न त्वामत्यचरच्छुभा॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।

(वा०रा० ६।११८।५-६, १०)

'श्रीराम! यह आपकी धर्मपत्नी विदेहराजकुमारी सीता है। इसमें कोई पाप या दोष नहीं है। उत्तम आचारवाली इस शुभलक्षणा सतीने मन, वाणी, बुद्धि अथवा नेत्रोंद्वारा भी आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषका आश्रय नहीं लिया। इसने सदा सदाचारपरायण आपका ही आराधन किया है। इसका भाव सर्वथा शुद्ध है। यह मिथिलेशनन्दिनी सर्वथा निष्पाप है। आप इसे सादर स्वीकार करें।'

सीताजीको निर्जन वनमें छोड़कर लक्ष्मणजी जा रहे हैं। श्रीसीताजी फूट-फूटकर रोती हुई अपना संदेश श्रीरामजीको भेजती हैं—

अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ॥
यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः॥
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः।

(वा०रा० ७।४८।१६—१८)

'पुरुषोत्तम! मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी चिन्ता नहीं है। रघुनन्दन! जिस तरह पुरवासियोंके अपवादसे बचकर रहा जा सके, उसी तरह आप रहें। स्त्रीके लिये तो पति ही देवता है, पति ही बन्धु है, पति ही गुरु है। इसलिये उसे प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विशेषरूपसे पतिका प्रिय करना चाहिये।'

पाताल-प्रवेशके पूर्व अश्वमेधयज्ञके प्रसंगमें महर्षि वाल्मीकि जनताके समक्ष सीताकी पवित्रताका प्रमाण देते हुए कहते हैं—'मैंने हजारों वर्षोंतक तप किया है, मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता अपवित्र है तो मेरे तपके सम्पूर्ण फल नष्ट हो जायँ। मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिसे विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है।'

सीताजीकी स्तुति करते हुए गोस्वामीजी नतमस्तक होकर कहते हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

प्रेममूर्ति श्रीभरतजीका भ्रातृ-प्रेम

(स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास')

पुजारीके बिना मूर्तिकी क्या महत्ता? श्रोताके बिना वक्ताका क्या प्रयोजन? शिष्यके बिना गुरुका क्या अर्थ? भक्तके बिना भगवान्‌का क्या विशेषत्व? इसी प्रकार बिना भक्तराज श्रीभरतजीके चरित्रके मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका रामत्व भी पूर्ण तथा प्रकाशित नहीं होता। भरतजीका अबाध समर्पण, अपूर्व निष्ठा एवं अनन्य प्रेम किंवा भक्तिभाव ही भगवान् श्रीरामके अलौकिक, अद्वितीय और अभिराम रामत्वका पोषक है; उन्हींके पूर्ण समर्पणने जन-जनमें रामत्वकी दिव्य भावना जगाकर उन्हें राममय बना दिया। श्रीराम, लक्ष्मण एवं जानकीके वनगमनके पश्चात् जिस समय अयोध्याकी प्रजा किंकर्तव्यविमूढ़ अचेत-सी हो रही थी, भरतजीने आकर उसमें फिरसे एक नयी राम-चेतनाका सञ्चार कर दिया।

परम पूज्य कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी भरतजीद्वारा सर्वोपरि ऐश्वर्यशालिनी अयोध्याके देदीप्यमान राजसिंहासनके परित्याग एवं श्रीरामके प्रति असीम अनुरागने जन-जनके मनमें राम-प्रेमका विशेष प्रसार कर दिया। सभीके हृदयमें श्रीरामसे मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठी। सब-के-सब भक्तराज भरतके नेतृत्वमें चित्रकूट-स्थित श्रीरामजीसे मिलने चल देते हैं, उस समय भरतजी किस तरह जा रहे हैं, श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें देखिये—

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥

(रा०च०मा० २।२२२)

—और इस महान् त्यागके पश्चात् अनुपम प्रेमका जो स्वरूप है, उसका दर्शन तीर्थराज प्रयागवासियोंको कैसे हुआ? देखिये—

भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥

(रा०च०मा० २।२०३)

प्रेममूर्ति भरतजी *'राम सिय' 'राम सिय'* कहते हुए अनुरागकी उमङ्गमें उमगे पड़ रहे हैं। यहीं वह प्रसङ्ग आता है, जिससे ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीरामके रामत्वकी लोक-प्रतिष्ठामें भैया भरतलालजीका कितना बड़ा हाथ है, देखिये—

श्रीभरद्वाज मुनिका आश्रम आ गया है। मुनिवर भरद्वाजजी भरतजीका दर्शन प्राप्त करते हैं, तब उनके मुखारविन्दसे सहसा निकल पड़ता है—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥

अनेक योग, साधन, आराधन, जप, तप, व्रत और स्वाध्यायका यह सुन्दर फल मिला कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताके दर्शन प्राप्त हुए। तत्पश्चात् वे कहते हैं—*'तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥'* (रा०च०मा० २।२१०।६) उसी फलका यह फल हुआ कि तुम्हारा (भरतजीका) दर्शन प्राप्त हुआ। श्रीप्रयागराजके साथ हमारा बड़ा भारी सौभाग्य है। प्रश्न यह है कि भरतलालजीके दर्शनमें श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीके दर्शनकी अपेक्षा क्या विलक्षणता है? वस्तुतः त्यागी, तपस्वी भरद्वाज मुनिने श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीका दर्शन प्राप्त तो किया, किंतु उस दर्शनका पूर्ण रस एवं आनन्द उन्हें भक्तशिरोमणि, परम प्रेमस्वरूप भैया भरतलालजीके दर्शनसे ही प्राप्त हो सका। जिस समय उन्हें श्रीरामके प्रेममें सराबोर नहीं! नहीं!! जिनके रोम-रोमसे श्रीराम प्रेमका अनिर्वचनीय, अलौकिक, अनुपम प्रकाश छिटका पड़ रहा था, ऐसे भरतजीके दर्शन हुए; उस समय उन्हें उनके श्रीराम-प्रेमकी उच्चतम स्थिति एवं आनन्दका ज्ञान हुआ। भरतजीका दिव्य प्रेमभाव उनके निर्मल अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर, वहाँ भी हलचल मचाने लगा और उस भव्य भावोत्कर्पमें उन्हें भैया भरतलालके साथ वह श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीकी मधुर मनोहर मूर्ति अद्भुत आनन्द-आभा-आलोक-आवेष्टित दीखने लगी। निःसंदेह भरतजीके भव्य भक्ति-प्रेममय स्वरूपने ही एक महान् तपस्वीसे लेकर जन-जनके मनमें राम-चेतनाका सञ्चार किया। आगे कहा गया है कि—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥

(रा०च०मा० २।२१७।१-२)

प्रेमस्वरूप भरतका दर्शन करके ही लोग भव-रोगसे छुटकारा पाकर परम पदके अधिकारी हो गये। 'मानस' में ही अन्यत्र तुलसीदासजी लिखते हैं—

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
(रा०च०मा० ७।२१।४)

और यह रामभक्ति मिलती कैसे है? ऐसे कि *'भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥'* (रा०च०मा० ३।१६।४) यही कारण है कि संतशिरोमणि भक्तप्रवर श्रीभरतलालके दर्शनसे जड़-चेतन—सभीमें तत्काल रामभक्तिकी प्रतिष्ठा हो गयी और उन सभीको परमपदका अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार जन-जनके मनमन्दिरमें श्रीभरतजीने श्रीरामकी प्रतिष्ठा कर भगवान् श्रीरामके रामत्वको सार्थक किया।

चौदह वर्षकी अवधि बीतनेमें जब एक दिन शेष रह गया तो प्रभु श्रीरामभद्रने अञ्जनीकिशोरको भैया भरतलालका हाल जाननेके लिये अवधमें भेजा। हनुमान्‌जीने वहाँ जाकर श्रीभरतजीको जिस रूपमें देखा, उसे देखकर उन्हें लगा कि यह तो ऋषिस्वरूपमें श्रीराम-प्रेम ही मानो मूर्तिमान् होकर विराजमान है। यथा—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात॥
(रा०च०मा० ७।१ (ख))

यह पूर्ण भक्तिका स्वरूप श्रीरामानुरागियोंको रामभक्तिके उत्कृष्ट रूपका दर्शन कराता हुआ उत्तरोत्तर अपनी भक्ति विवर्धमान करनेकी प्रेरणा प्रदान करता है। श्रीभरतजीको मूर्तिमान् प्रेमस्वरूप बतलाया गया है। भरद्वाजजीके शब्दोंमें—*'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥'* श्रीरामचरितमानसका यह परम पावन भरत-चरित्र-दर्शन भक्त सुजनोंको यही प्रेरणा प्रदान करता है—

अष्टयाम यह लगन लगी हो, मिटे चाह अभिराम नहीं।
मधुर मिलन कब होय नाथ का, पाय हृदय विश्राम नहीं।
गद्‌गद कंठ अश्रु दृग बरसें, व्याकुल रटन पपीहा-सी,
छूट जाय सब कुछ पर छूटे, रसना से हरि नाम नहीं॥

—और जब ऐसी राम-लुभावनी लगन लगेगी तो परिणाम भी कितना सुन्दर निकलेगा, देखिये—

पूर्ण होय सुख स्वप्न मिलन का, रहें दूर श्रीराम नहीं।
पा पद-पद्म-पराग प्रसादी, मन अलि तजे सुधाम नहीं।
हो नामांकित स्वाँस सुधामय, प्रति पल कहे पुकार यही,
छूट जाय सब कुछ पर छूटे, रसना से हरिनाम नहीं॥

संसारमें रहकर भी निरासक्त, निर्लेप रहनेका आदर्श भरत-चरित्रसे प्राप्त होता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
(रा०च०मा० २।३२४।६-७)

सुरेन्द्रके राज्य और कुबेरके धनको भी लज्जित करनेवाले राज्य-वैभवके मध्य भी भरतजी ऐसे रहते हैं, जैसे चम्पाके बगीचेमें रहकर भी भौंरा चम्पाके पुष्पोंसे दूर ही रहता है। अयोध्याके अतिशय रम्य राज्य-भोगोंसे विरक्त रहकर वे सर्वदा भगवान् श्रीराम राघवेन्द्रके चारु चरणारविन्दोंके चिन्तनमें ही तल्लीन रहते हुए मधुर मनभावन श्रीरामनामामृतका निरन्तर पान करते रहते हैं। इसीलिये भुवन-पावन श्रीभरत-चरित्रके अन्तमें, इसकी फलश्रुति इस प्रकार बतायी गयी है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥
(रा०च०मा० २।३२६)

संत सचिव सुमन्त्रका श्रीरामप्रेम

(डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

सचिव सुमन्त्रजी भगवान् श्रीरामकी नर-लीलाके मुख्य सहचर रहे हैं। ये अयोध्या-सम्राट् महाराज दशरथके बालमित्र, सखा तथा निजी सारथि थे। कोसलसाम्राज्यके महामन्त्री भी श्रीसुमन्त्रजी ही थे। ये सभी राज्य-सेवकोंके अध्यक्ष भी थे। महाराज दशरथ राज्यके सभी महत्त्वपूर्ण कार्य इनकी ही सम्मतिसे किया करते थे। श्रीराम तथा महारानियाँ भी सुमन्त्रजीका यथोचित सम्मान करती थीं तथा सुमन्त्रजीका भी श्रीरामके प्रति अत्यन्त प्रेम था। भगवान् श्रीरामके वनगमनके अवसरपर सम्पूर्ण प्रकृति—क्या स्वजन, क्या परिजन, क्या प्रजाजन, क्या चेतन-अचेतन प्राणिसमूह—सभी शोकाभिभूत होकर हाहाकार कर उठे थे!

उन्हीं श्रीरामके प्रिय चार अश्वोंको रथमें जोतकर उसपर लक्ष्मण और सीताके साथ पुरजन-प्रियजनोंकी आशा-आकाङ्क्षाओं, माताओंके अगाध स्नेह तथा महाराज दशरथके प्राणोंको ही मानो श्रीरामरूपमें आरूढ़ कर सुमन्त्र वनको लिये जा रहे थे। अयोध्याकी उस विषम परिस्थितिको सँभालनेका गुरुतर उत्तरदायित्व एकमात्र सुमन्त्रपर ही था। वे महाराजके अंतरङ्ग सखा थे और श्रीराम उन्हें पिताकी तरह सम्मान देते थे।

महाराजको आशा थी कि उनके सखा सुमन्त्रकी निरपेक्ष, स्नेहासिक्त वाणी उनके प्राणधन श्रीरामको लौटा लानेमें समर्थ हो जायगी; किंतु हाय री विडम्बना! सत्यसन्ध श्रीराम नहीं लौटे, नहीं ही लौटे। सुमन्त्रके समस्त प्रयत्न निष्फल हो गये और वे गङ्गाजीके तटपर निश्चेष्ट खड़े-खड़े सजल नेत्रोंसे श्रीराम-लक्ष्मणको बड़के दूधसे मुनियोंकी तरह जटाएँ बनाते तथा नावपर बैठकर गङ्गापार होते देखते रहे। वे सोचने लगे अब उन्हें सूना रथ लेकर लौटना है, जिसे देखकर सम्पूर्ण अयोध्यावासी हाहाकर कर उठेंगे, माताएँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ेंगी और उनके प्राणप्रिय सखा महाराज दशरथ तो तड़प-तड़पकर अपने प्राण ही त्याग देंगे। परसंतापसे सहज ही द्रवीभूत हो उठनेवाला उनका नवनीतसे भी कोमल संतहृदय व्यग्र हो उठा! अपने प्राणप्रिय मित्रके भावी विनाशकी आशंकासे वे कम्पित हो गये। श्रीरामको लौटा सकनेकी असमर्थता, स्वयं रिक्त रथ लेकर अयोध्या लौट जानेकी विवशता और वहाँके विषादाक्त अदर्शनीय दृश्यकी कल्पनामात्रने उन्हें किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया!

श्रीराम गङ्गा पार कर दृष्टिसे ओझल हो गये। सुमन्त्र उसी दिशामें खोये-से, लुटे-से पाषाणप्रतिमा बने अपलक नेत्रोंसे देखते रहे। उनके हृदयोदधिमें कैसा विक्षोभ हो रहा था, बडवाग्निकी तरह कितना असह्य अन्तर्दाह था वहाँ! वे खाली हाथ लौटने लगे, उस वणिक्‌की तरह जिसने अपनी सारी पूँजी गँवा दी हो—

फिरेउ बनिक जिमि मूर गवाँई॥

रथ हाँकते हैं, किंतु घोड़े पीछे अयोध्याकी ओर खाली रथ लेकर लौटना नहीं चाहते! वे बार-बार श्रीरामकी ओर देखकर हिनहिनाते हैं—

रथु हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।

जिनके विरहमें पशु भी इतने विकल हो रहे हैं, उनके बिना प्रजाजन और माता-पिता कैसे जियेंगे—

जासु बियोग बिकल पसु ऐसें। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसें॥

—इसकी कल्पनामात्रसे उनका मन सिहर उठा—

राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी॥

श्रीरामवियुक्त अश्वोंकी शोकाकुलता उनकी व्याकुलताको और भी घनीभूत करने लगी—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥

नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।

निषादने उन्हें किसी तरह रथपर बैठा तो दिया, किंतु वे रथ हाँक नहीं पाते। उनके हृदयमें श्रीरामके विरहकी पीर रह-रहकर कसक रही है, इसलिये वे स्वयंको सँभाल नहीं पाते! घोड़े भी श्रीरामके वियोगमें तड़प रहे हैं, रथ लेकर चल नहीं पाते, मानो किसीने वनके हरिणोंको लाकर रथमें जोत दिया हो। वे आगे बढ़नेका प्रयत्न करते हैं, किंतु लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं और पीछे मुड़कर देखते हैं कि कहीं उनके प्राणधन आ तो नहीं रहे हैं! जो श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके नाम लेता, उसकी ओर वे हिकर-हिकर कर आशाभरी अस्फुट ध्वनिके साथ ताकने लगते—

विशेषरूपसे उन सरल हृदय संत सुमन्त्रकी मनोदशा तो और भी वर्णनातीत है, जिन्हें इस घटना-चक्रका नियामक तथा सूत्रधार बनाकर भेजा गया हो!

हर्ष-विषादकी अतिशयता हमें निश्चेष्ट और मूक बना देती है। दूसरोंके काम न आ सकने या किसी भी रूपमें उनके विषाद (यहाँ तो विनाशकी ही पूरी आशंका है)-का कारण बननेपर प्रकृति-सुकुमार संतहृदयमें कैसा अनुताप, कितना पश्चात्ताप, कैसी ग्लानि होती है, उसकी अनुभूति तो अपने हृदयकी निर्मलता, सरलता और उदारतासे उस उच्चतम भाव-भूमिपर प्रतिष्ठित कोई तुलसी-जैसा महामानव ही कर सकता है! सुमन्त्र श्रीरामसे वियुक्त होकर अपने जीवनको धिक्कारने लगे—

अरे! यह निकृष्ट शरीर तो एक दिन कालके गालमें ही जानेवाला है, फिर आज श्रीरामके बिछुड़ते ही निष्प्राण होकर इसने अमर कीर्ति क्यों न प्राप्त की? मेरे प्राण अपयश और पापके भागी बन गये; क्योंकि लोग मुझे देखकर धिक्कारभरे स्वरमें कहेंगे कि यही वह सुमन्त्र है जो हमारे प्राणप्यारे श्रीरामको वनमें छोड़ आया। महाराजकी मृत्युका पाप और कलंक तो मेरे माथेपर होगा ही। फिर ये प्राण निकल क्यों नहीं जाते? किस सुखकी आशामें अटके हैं ये? हाय! यह हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाता? अयोध्या जाकर मैं क्या देखूँगा, कौन-सा सुख लूटूँगा? यही न कि जब श्रीरामके वियोगमें व्याकुल अयोध्याके नर-नारी, माताएँ सुमित्रा और कौसल्या दौड़-दौड़कर मुझसे श्रीरामके बारेमें पूछेंगी तो मैं हृदयपर वज्र रखकर उन्हें यह मर्मघाती उत्तर दूँगा कि मैं श्रीराम, लक्ष्मण और सीताको वनमें सकुशल पहुँचा आया! और महाराज! यातनाएँ तो भोगता है, किंतु निष्प्राण नहीं होता—

हृदउ न विदरेउ पंक जिमि विछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह विधि यहु जातना सरीरु॥

(रा०च०मा० २।१४६)

सुमन्त्रकी शोकातुरता, पश्चात्ताप और ग्लानि उनमें घनीभूत है मानो वे कोई जघन्य कृत्य करके लौट रहे हों। इसीलिये वे किसीको अपना मुँह दिखानेका भी साहस नहीं कर पाते, समाचार सुनानेकी बात तो दूर रही। एक एकान्त वृक्षके नीचे बैठकर वे दिन बिताते हैं और रातके अन्धकारमें अयोध्यामें प्रवेश करते हैं ताकि कोई उन्हें देख न पाये—

बैठि बिटप तर दिवसु गवाँवा। साँझ समय तब अवसरु पावा॥
अवध प्रबेसु कीन्ह अँधिआरें। पैठ भवन रथु राखि दुआरें॥

(रा०च०मा० २।१४७।४-५)

काश, सुमन्त्र श्रीरामको लौटा पाते! काश, वे अपने मित्रके प्राणोंकी रक्षा कर सके होते!

पर दैवकी प्रबलताको कौन रोक सकता है! महाराज दशरथजीने शरीर त्याग दिया। अयोध्या अनाथ हो गयी। ऐसेमें सुमन्त्र धैर्य धारण न करें तो उनके हृदयधन श्रीरामका साम्राज्य व्यवस्थित कैसे रहे? अत्यन्त धैर्यपूर्वक उन्होंने चौदह वर्षतक सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था सँभाली। अन्तमें अयोध्याके स्वामी श्रीराम जब अयोध्या लौटे तब उनका राज्याभिषेक सम्पन्न कराया।

प्रेमी सुमन्त्रजीके भाग्यकी क्या सराहना की जाय! जिन्हें श्रीरामने सदा पिताकी भाँति ही आदर दिया और उन्हींको अपने साम्राज्यके महामन्त्रीपदपर प्रतिष्ठित किया। सुमन्त्रजीका प्रेम अमर है।
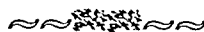
लीला-दर्शन—

श्रीकृष्णका प्रथम गोचारण-महोत्सव

उस समयकी बात है जब गोपेन्द्र नन्दका व्रजपुर बृहद्वनमें बसा था। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दाकानन नहीं पधारे थे। कलिन्दकन्याके उस पार ही लीलारसका प्रवाह सीमित था। पुर-सुन्दरियोंके प्राङ्गणमें ही वे खेला करते थे। स्वभावमें चञ्चलता अवश्य आ चुकी थी।

अचानक एक दिन जब भुवनभास्कर वृक्षोंसे ऊपर उठ आये थे, वे खेलते हुए अपने गोष्ठमें जा पहुँचे। वहाँ अभी गोदोहन समाप्त नहीं हुआ था। पंक्तिबद्ध गायोंके थनोंसे क्षरित दुग्धका 'घर-घर' नाद उन्हें आकर्षित करने लगा। कौतूहलभरी दृष्टिसे देखते हुए वे दूर—बहुत दूरतक चले गये। एक वृद्ध गोप गाय दुह रहा था। साथ ही मन्द-मन्द स्वरमें उनके ही बालचरितके गीत उसके कण्ठ-निर्झरसे झर-से रहे थे। पर अब गाय सहसा चिहुँक उठी। नीलसुन्दरको देखकर हम्बारव करने लग गयी। वृद्ध गोपने भी पीछेकी ओर दृष्टि डाली। नन्दनन्दन उसे भी दीख गये। फिर तो गोदोहन हो सके, यह सम्भव ही कहाँ था। बस, निर्निमेष नयनोंसे वह नन्दनन्दनकी ओर देखता ही रह गया।

यह गोप व्रजराजका बालसखा है। ब्याह इसने किया नहीं। आजीवन नन्दरायके साथ ही इसके दिन बीते तथा व्रजेशने भी आदर्श प्रेम निभाया। मित्रके रूपमें तो क्या, सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताके समान ही वे इसे सम्मानका दान करते आये हैं। पर नन्दनन्दनके जन्म-दिनसे ही यह अर्द्धविक्षिप्त-सा रहने लगा था और व्रजेन्द्रको इसकी स्नेहोचित चिन्ता-सी लग गयी थी। गोसेवाकार्य तो इसके द्वारा ज्यों-के-त्यों सम्पन्न हो जाते थे। पर इसके अतिरिक्त उसे अपने शरीरका भान नहीं-सा ही है, ऐसा ही लगता था। अस्तु, नन्दनन्दन उसीके पास आकर बैठ गये। इतना ही नहीं, अपने हस्तकमलोंसे उसके स्कन्ध एवं चिबुकका स्पर्श कर बोले—'ताऊ! मुझे भी दुहना सिखा दो।'

वृद्धके कर्णपुटोंमें पीयूषकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके इस मधुभरे कण्ठस्वरका उन्मादी प्रभाव देखने ही योग्य था। दूधसे आधी भरी हुई दोहनी हाथोंसे छूटकर पृथ्वीपर जा गिरी तथा नन्दनन्दनको भुजपाशमें बाँधकर वह गोप बेसुध हो गया! और जब चेतना आयी—कहना कठिन है कि बाह्यदृष्टिमें दो ही क्षण बीतनेपर भी सचमुच वह कितने समयके पश्चात् जागा—उस समय भी उसकी प्रेमविवश आँखें झर रही थीं तथा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी छोटी-छोटी अँगुलियोंसे उसके नेत्र पोंछते हुए कह रहे थे—'क्यों ताऊ! मुझे नहीं सिखा दोगे?'

किंतु आज तो अबतक सभी गौएँ दुही जा चुकी थीं। गोपके ध्यानमें एक भी गाय दुहनेको अवशिष्ट नहीं। गोदोहनकी शिक्षा आज सम्भव नहीं। गद्गद कण्ठसे गोपने कहा—'मेरे लाल! कल सिखा दूँगा।' अब भला, श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका कहना ही क्या था! आनन्दविह्वल-से हुए वे बोल उठे—'ताऊ! बाबाकी सौंह है, कल अवश्य सिखला देना, भला! मेरे आनेतक कम-से-कम एक गाय बिना दुहे अवश्य रखना।' गोपने नीलसुन्दरके इस प्रेमिल आदेशका कोई उत्तर न दिया। उसकी वाणी अश्रुके आवेशमें रुद्ध थी। स्थिर पलकोंसे वह देख रहा था अपने प्राणधन नन्दनन्दनकी ओर ही। श्रीकृष्णचन्द्र पुनः बोले—'ताऊ! अब तो मैं सयाना हो गया! अपनी गायें अपने-आप दुह लूँगा!' गोप प्रस्तरमूर्तिकी भाँति निश्चल रहकर सुनता जा रहा था और श्रीकृष्णचन्द्र तनिक-सा रुककर फिर कहने लगे—'अच्छा, ताऊ! आज संध्याको सिखा दो तो कैसा रहे?' तब तो वृद्ध गोपके प्राण बरबस मचल-से उठे नीलसुन्दरके इस प्रस्तावका उत्तर दे देनेके लिये। किंतु ओह! उमड़े हुए स्नेहाश्रुको भेदकर वाणी कण्ठसे बाहर आ जो नहीं पाती थी। विचित्र-सी दशा हो गयी उसकी। इतनेमें व्रजराजनन्दनने चटपट स्वयं ही अपना समाधान कर लिया, वे बोल उठे—'नहीं ताऊ! सायंकाल तो मैया आने नहीं देगी, कल ही सिखा देना। कल तुम गोशाला गायें दुहने जब आओ, तब मुझे पुकार लेना।'—यह कहकर वे कुछ सोचने-से लग गये तथा फिर बोले—'नहीं, पुकारनेकी आवश्यकता नहीं, मैं अपने-आप ही आ जाऊँगा, पर तुम भूलना मत, ताऊ!'—इस बार अपनी सारी शक्ति बटोरकर गोपने उन्हें पुचकारमात्र दिया। पुचकारके द्वारा ही उसने सिखा देनेकी स्वीकृति दे दी और श्रीकृष्णचन्द्र

भोर दुहौ जिन, नंद दुहाई, उन सौं कहत सुनाय॥
बड़ौ भयौ, अब दुहत रहौंगौ, अपनी धेनु निबेरि।
सूरदास प्रभु कहत सौंह दै, मोहि लीजियै टेरि॥

इसके दूसरे दिन, जितना शीघ्र सम्भव हो सका, वे उस गोपके समीप पहुँचे। आज उनके साथ बलराम भी थे। आते ही उन्होंने गोपकी दोहनी थाम ली और बड़ी उत्सुकतासे बोले—'चलो, ताऊ! गाय कहाँ है? सिखा दो।'—तथा अग्रज श्रीरोहिणीनन्दन भी अपने अनुजका अनुमोदन करने लगे—'हाँ, हाँ, ताऊ! इसे आज अवश्य सिखा दो।'

वृद्धका रोम-रोम एक अभिनव विशुद्ध स्नेहावेशसे पूरित हो उठा। नीलसुन्दरको अपने स्निग्ध हृदयसे लगा लिया उसने, मानो वात्सल्यमसृण हृदयकी प्रथम भेंट समर्पण कर दी। तदनन्तर उसने उनके हस्तकमलोंमें एक छोटी-सी दोहनी दे दी। नीलसुन्दर भी उसी गोपका अनुकरण करते हुए दुहनेकी मुद्रामें गायके थनके पास जा बैठे। गोपकी शिक्षा आरम्भ हुई। श्रीकृष्णचन्द्रकी अँगुलियोंको अपनी अँगुलियोंमें धारण कर उसने थनको दबाना सिखाया। थनसे दुग्ध तो तभी क्षरित होने लगा था, जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र गायके समीप आकर बैठेमात्र थे और अब तो दूधकी धारा बड़े वेगसे निकलने लगी थी। अवश्य ही वह दोहनीमें न गिरकर गिर रही थी कभी तो नीलसुन्दरके उदर-देशपर और कभी पृथ्वीपर। बड़ी तत्परतासे वे दोहनीको कभी पृथ्वीपर रख देते, कभी घुटनोंमें दबा लेते तथा इस चञ्चल प्रयासमें एक-दो धार दोहनीमें गिरती, एक-दो नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका अभिषेक करती तथा एक-दो धरतीपर बिखर जा रही थी। फिर भी कुछ दूध तो दोहनीमें एकत्र होकर ही रहा। श्रीकृष्णचन्द्रके हर्षका पार नहीं। दोहनी लेकर वे उठ खड़े हुए। नाच-नाचकर वे अपने दाऊ दादाको यह दिखा रहे थे—'देखो, मैं दुहना सीख गया।'

दै मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया।
माखन खाएं बल भयौ, तोहि नंद दुहैया॥
सेंदुरि काजरि धूमरी धौरी मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ तुरतहिं तबै, मोहि कर दै धैया॥
ग्वालन की सँग दुहत हौं, बूझौ बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति बलैया॥

व्रजरानीने समझाया, शत-शत मनुहारके द्वारा अपने नीलमणिको आप्यायित करके इस गोदोहनके प्रस्तावको भुला देनेकी चेष्टा की, 'अरे, मेरा नीलमणि तो अभी निरा अबोध शिशु है, किसी गायने दुहते समय लात मार दी तो?'—इस भावनासे भयभीत हुई जननीने बहुत कुछ कहा, किंतु हठीले मोहन बात पकड़ लेनेपर छोड़ना जानते जो नहीं। बाध्य होकर जननीने अन्तिम निर्णय यह दिया—'मेरे प्राणधन नीलमणि! पहले अच्छी तरह बाबाके पास जाकर दुहना सीख ले, तब मैं दोहनी दूँगी और तू दूध दुह लाना!' ठीक है, बाबाकी शिक्षा भी सही! श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रके समीप चले आये, उनसे बारम्बार हठ करने लगे—

बाबा जू! मोहि दुहन सिखाऔ।
गाय एक सूधी सी मिलवौ, हौहुँ दुहौं, बलदाउ दुहाऔ॥

महाराज नन्दने किसी शुभ मुहूर्तमें सिखा देनेका वचन दिया। पर इतना धैर्य नन्दलाडिलेमें कहाँ! वे तो गोदोहन करेंगे और इसी दिन, इसी समय करेंगे। आखिर उपनन्दके परामर्शसे यह निश्चित हुआ कि नारायणका स्मरण करके नीलमणिकी साध पूरी कर दी जाय। अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उमंगमें भरकर जननीके पास दोहनी लेने आये—

तनक कनक की दोहनी मोहि दै री, मैया।
तात दुहन सिखवन कह्यौ मोहि धौरी गैया॥

मुखचन्द्रपर स्वेदकण झलमल कर रहे थे एवं

नेत्रसरोजोंमें भरी थी—दोहनी लेकर गोष्ठमें पहुँच जानेकी त्वरा। जननीने अञ्चलसे मुख पोंछा, हृदयसे लगाया, फिर छोटी सुवर्णकी दोहनी हाथमें दे दी और स्वयं साथ चल पड़ीं। उनके पीछे यूथ-की-यूथ व्रजपुरसुन्दरियाँ एकत्र हो गयीं—नीलसुन्दरकी गोदोहनलीला देखनेके लिये। जो हो, अपने इष्टदेव नारायणका स्मरण करके व्रजेन्द्रने पुत्रका सिर सूँघा और फिर गोदोहनकी शिक्षा—शिक्षाका अभिनय सम्पन्न हुआ। गोपेन्द्रतनय गौ दुहने बैठे—

हरि बिसमासन बैठि कै मृदु कर थन लीनौ।
धार अटपटी देखि कै ब्रजपति हँसि दीनौ॥
गृह गृह ते आयीं देखन सब ब्रजकी नारी।
सकुचत सब मन हरि लियौ हँसि घोषबिहारी॥

उस दिन व्रजेशके आदेशसे नन्दप्रासाद सजाया गया था। मङ्गलगान, मङ्गलवाद्यसे सम्पूर्ण व्रजपुर निनादित होने लगा था। मणिदीपोंसे उद्भाषित हुई व्रजपुरकी वह रजनी दिन-सी बन गयी थी।

इस प्रकार चार-पाँच दिनोंके लिये बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीड़ामन्दाकिनीका यह नवीन स्रोत प्रसरित होता रहा। पर सहसा मानो उनके अद्भुत शैशवकी चञ्चल लहरियोंने, नवनीत-हरणलीलाके प्रबल प्रवाहने इसे आत्मसात् कर लिया और वे इस गोदोहनके खेलको कुछ समयके लिये भूल-से गये, इस ओर उनका आकर्षण नहीं रहा। अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने उद्देश्यविशेषसे—आगे पौगण्ड आ जानेपर उनकी गोचारण-लीलाकी भूमिका प्रस्तुत करनेके लिये—इसपर एक क्षणिक आवरण डाल दिया।

अस्तु, यह हुआ बृहद्वनमें विराजित रहते हुए व्रजराजकुमारकी उल्लासमयी गोदोहनक्रीड़ाका एक संक्षिप्त चित्र और अब इस समय तो वे वृन्दावनविहारी हैं। उनकी आयुका प्रवाह भी आगेकी ओर बढ़कर कौमारकी सीमाको पार कर चुका है, वे पौगण्डवयस्‌में अवस्थित हैं। तदनुरूप ही मेधा एवं बलका विकास हो चुका है। वक्षःस्थल पहलेकी अपेक्षा विस्तीर्ण हो चुका है। नेत्रसरोजोंमें एवं महामरकतश्याम शरीरके समस्त अवयवोंमें पौगण्डोचित चिह्न स्पष्ट परिलक्षित होने लगे हैं। स्वभावका सूक्ष्म परिवर्तन भी स्वयं व्रजमहाराज्ञी यशोदामैयासे छिपा न रह सका। उस दिनकी बात है, श्रीअभिनन्दपत्नी आकर मैयासे बोलीं—

कृष्णमातरद्य सद्यः प्रातरेव कुत्र वा भवज्जातः प्रयातः।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'कृष्णजननि! आज अत्यन्त प्रातःकाल ही आपके लाल कहाँ चले गये?'

इसका उत्तर मैयाने हँस-हँसकर कह दिया—

हन्त! तदेतद् वर्तमानसमयपर्यन्तं तस्योद्वर्तनस्नानपरिधानमयानि कर्माणि मया निर्मीयन्ते स्म। सम्प्रति मदपि लज्जामासज्जन् स्वकसवयःसेवकप्रियः पृथगेव कृततत्तत्क्रियः स मा समया समायाति। आगत्य च प्रत्यहं मां पितरं यथायथमितरं च गुरुजनं पुरुगौरवं नमस्कारेण पुरस्करोति। किंच तदवधि यदा संध्यायां मया ध्यायमानागमनः सहवत्सः समागच्छति तदा तदुपरि वारि वारत्रयं भ्रामयित्वा पिबन्ती जीवन्ती भवामि स्म। सम्प्रति तु सशपथमेधमानयत्नवता तत्प्रतिषेधता तेन मम हस्तौ विहस्तौ क्रियेते। एवमेव रौहिणेयश्चेति।

(श्रीगोपालचम्पूः)

'अजी! क्या कहूँ, अबतक तो उसके उबटन, स्नान, वस्त्रपरिधान आदि कार्योंको मैं स्वयं अपने हाथों किया करती थी; पर इधर वह मुझसे भी लजाने लगा है और इस कारण अपनी आयुके सेवकोंसे बहुत ही हिल-मिल गया है तथा अलग ही इन नित्यकर्मोंका समाधान कर लेनेके अनन्तर निश्चित समयपर मेरे पास आता है। आकर प्रतिदिन ही मुझे, अपने बाबाको तथा यथायोग्य अन्य गुरुजनोंको अतिशय गम्भीरतापूर्वक प्रणाम करके संमानित करता है। इतना ही नहीं, और सुनो; पहले तो यह बात थी—संध्या होने लगती, मैं उसके वनसे लौटनेकी प्रतीक्षामें रहती और जब गोवत्सोंके साथ वह आ जाता, तब उसपर तीन बार जल औंछकर पी लेती तथा मुझमें नवजीवनका संचार हो जाता। किंतु अब तो वह मुझे शपथ दे डालता है, उत्तरोत्तर अनेक उपाय रचकर ऐसा करनेसे रोक देता है; उसके द्वारा मेरे दोनों हाथ इस क्रियाके लिये अक्षम कर दिये जाते हैं और मैं वह संजीवन जल पी नहीं पाती! तथा ठीक यही दशा रोहिणीनन्दन बलरामकी भी हो गयी है।'

जननीका यह उत्तर सुनकर अभिनन्दपत्नी तथा वहाँ उपस्थित अन्य पुरवनिताएँ हँसने लगीं। इधर व्रजेशकी दृष्टि

भी श्रीकृष्णचन्द्रमें आयी हुई इन अस्फुट संकोचवृत्तियोंको भाँप लेती है। एक दिन राजसभामें मन्द-मन्द हँसते हुए वे भी सन्नन्द एवं नन्दनसे बोले—

भो! आयुष्मन्तावद्यजात इव युष्मद्भ्रातृजातः स यथा सम्प्रति युवां प्रति वर्तते न तथा मामिति लक्ष्यते। यतः किंचित्संकुचितविलोचनेन मामवलोकयन्नालोच्यते। युवाभ्यां सह तु मधुरवार्त्तां वर्त्तयन्नेव दृश्यते। (श्रीगोपालचम्पूः)

'मेरे आयुष्मान् लघु भ्राताओ! तुम्हारे बड़े भाईका यह पुत्र (श्रीकृष्णचन्द्र)—सच पूछो तो—ऐसा ही लगता है कि मानो आज ही उत्पन्न हुआ हो। पर देखो सही, आजकल तुम दोनोंके प्रति जैसी उसकी निर्बाध चेष्टाएँ होती हैं, वैसी अब मेरे प्रति नहीं—ऐसा प्रतीत हो रहा है; क्योंकि जब वह मेरे समक्ष आता है, तब उसके नेत्रोंमें कुछ संकोच भरा होता है, किंचित् संकुचित नेत्रोंसे ही वह मेरी ओर देखता है। पर तुम दोनोंके साथ तो वह अभी भी उसी प्रकार मधुर वार्ता—मीठी बातें करता रहता है—मैं ऐसा ही देखता हूँ।'

व्रजेन्द्रकी यह उक्ति गोपसदस्योंको हर्षोत्फुल्ल बना देती है। नीलसुन्दरके दोनों पितृव्य (चाचा) तो उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगते हैं। सब सुन लेनेके अनन्तर व्रजराजने पुनः प्रेममसृण स्वरमें कहना आरम्भ किया—'भैया सन्नन्द एवं नन्दन! अहो! परसोंकी ही तो बात है। तुम दोनों जा रहे थे एवं तुम्हारे पीछे थे राम-श्याम। जब मेरे उन दोनों पुत्रोंने यह देख लिया कि अब एकान्त है, तब तुमसे प्रार्थना-सी करने लगे। अहा! उनकी सुन्दर आँखोंमें दीनता भरी थी और वे दोनों बार-बार—प्रातःसे आरम्भ कर न जाने कितनी बार—तुमसे कुछ निवेदन-सा कर रहे थे। मैं बहुत दूरसे चारों ओर घूम-घूमकर उन दोनोंको देख रहा था। वह क्या बात थी, हो! बताओ तो सही—

भवन्तावेकान्तमनुभवन्तावनुगम्य तौ रम्यकानराक्षि-प्रान्तावसकृत् प्रातरारभ्य प्रार्थितवन्तावित ह्यः पूर्वेऽहनि समन्ताद्भ्रातरावतिदूराददृक्षाताम्; तत्किमुच्यताम्?

(श्रीगोपालचम्पूः)

तथा लघुभ्राता श्रीनन्दनगोपने भी व्रजराजकी इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार किया—

तदानीमेवेति किं वक्तव्यम्। किंतु चिरादेव तयोस्तदभिरुचितमुपचितमस्ति। संकुचितभावाभ्यामावाभ्यां तु भवत्सु न श्रावितम्।

'यह केवल उस समयकी ही बात थोड़े है, यह तो उन दोनोंकी चिरकालीन लालसा है, जो निरन्तर बढ़कर दृढ़-दृढ़तर हो चुकी है। हम दोनोंको ही संकोच घेर लेता है और इसीलिये आपको अबतक सूचित न कर सके।'

फिर तो महाराज नन्दने स्पष्टतया जान लेना चाहा तथा उपयुक्त अवसर देखकर श्रीसन्नन्दने भी मन्द-मन्द मुसकाकर बात खोल दी—

स्वयमेव गवां सेवनमिति यत्।

'और तो क्या, वे दोनों समस्त गायोंकी सेवा स्वयं ही करना चाहते हैं।'

परम गम्भीर उपनन्दजीके पूछनेपर सन्नन्दने इतना और कह दिया कि राम-श्याम कहते हैं—

आवयोः प्रथमवयोऽतीतयोस्तातचरणानां स्वयं गोचारणमनाचारतामाचरतीति।

'अब जब हम दोनोंकी प्रथम आयु—कौमारका अवसान हो चुका है, तब स्वयं पितृचरणोंके द्वारा गोचारणका कार्य सम्पादित होते रहना अनुचित है।'

अपने पुत्रोंकी यह भावना सुनकर व्रजेशका मुख विस्मयसे पूर्ण हो उठता है। वे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देते, मौन हो जाते हैं; किंतु उपस्थित गोपसमाज उल्लासमें भरकर कहने लग जाता है—

यद्यप्यद्यजाताविव सुजातावमू तथापि क्रमं विना बुद्धिनिष्क्रमस्य बलसंवलनस्य च सद्भावादस्माकं विस्मापकावेव भवतः। इतस्तु न विस्मापकौ भवतस्तपःप्रभाव एव खल्वेवं भावमावहतीति। न खलु तत्तत्खलानां यत्परिमलनं जातं तत्र सहायतानां सहायता काचिदपि परिचिता। तस्मान्मङ्गलमेव संगतं भविष्यतीति।

'व्रजराज! यद्यपि ये दोनों सुकुमार बालक सचमुच लगते तो ऐसे हैं कि मानो आज ही इनका जन्म हुआ है, फिर भी इनमें—क्रमशः नहीं, बिना किसी क्रमके ही—कुछ ऐसी विलक्षण बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, इतने बलका

संचार हो गया है कि ये दोनों हम सभीको आश्चर्यमें भर दे रहे हैं। एक दृष्टिसे तो यह बात है। उधर पुनः विचारनेपर इनको लेकर कोई आश्चर्य भी नहीं होता; क्योंकि निश्चितरूपसे यह तो आपके तपका ही प्रभाव है, जो ऐसा सम्भव हो गया है। देखिये न, उन-उन दुष्ट राक्षसोंका जो संहार हुआ है, उसमें इन अगणित साथियोंकी कोई भी सहायता ली गयी हो, यह बात भी नहीं है। इसलिये आगे भी मङ्गलके ही दर्शन होंगे।'

यह कहकर गोपमण्डलने नीलसुन्दरके प्रस्तावका प्रकारान्तरसे अनुमोदन कर दिया। अवश्य ही गोपराज तो मौन ही रहे। इसके दो-तीन दिन पश्चात् महाराजने एकान्तमें व्रजरानीसे भी इस प्रस्तावपर मन्त्रणा की; पर व्रजदम्पतिका वात्सल्य-रस-यन्त्रित हृदय इसे सहजमें ही स्वीकार कर ले, यह कहाँ सम्भव है। दोनोंने मिलकर यही स्थिर किया कि अवसरविशेषकी प्रतीक्षा की जाय—

निजगृहिण्यापि सह रहसि श्रीव्रजराजस्य स एष प्रस्तावविशेष आसीत्। यत्र च तौ पुत्रप्रेमयन्त्रिततया तदेतन्मन्त्रितवन्तौ। पश्यामः समयविशेषमिति।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको अब इसमें अधिक विलम्ब अपेक्षित नहीं है। अतएव उन्होंने तो उपक्रम कर ही दिया—सर्वथा स्वाभाविक ढंगसे ही। जिस असंख्य गोवत्सराशिका संचारण आरम्भ हुआ था, नन्दलाल वत्सपाल बनकर गोपशिशुओंके साथ वनमें जिसे ले जाया करते थे, वह वत्सश्रेणी अबतक अधिकांशमें नवप्रसूता गौएँ जो बन चुकी हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा, दोहन आदि कार्य तो राम-श्यामके द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। भला, जिसने अपने शैशवमें नीलसुन्दरके करपल्लवोंसे चयन किये हुए हरित सुकोमल तृणराजिका ग्रास पाया है, जिसके अङ्ग सदा सम्मार्जित होते आये हैं नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलोंसे ही, जिसका अबतक सतत संवर्द्धन हुआ है व्रजेशतनयके रसमय संरक्षणमें ही, मूकवाणी व्यक्त न कर सके, इससे क्या—पर जिसके अन्तस्तलमें व्रजराजकुमारके द्वारा पाये हुए प्यारकी असंख्य स्मृतियाँ सुरक्षित हैं—वह वत्सराशि आज अपने प्रथम यौवनके उन्मेषमें स्वयं भी वत्स प्रसव करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रके अतिरिक्त किसी अन्य गोपकी सेवा स्वीकार कर ले, यह भी कभी सम्भव है? उन-उन नवप्रसूता गायोंने किसी गोपसेवकको अपने शरीरका स्पर्शतक करने नहीं दिया है। अपने पार्श्वमें किसी भी गोपको देखते ही वे बिझुक जातीं तथा जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र आये कि 'हम्बारव' से गोष्ठको निनादित करने लगतीं, उनके थनसे दूध बरसने लगता; दोहनी नीचे रख भर देनेकी बात थी, क्षणोंमें वह कण्ठतक पूरित हो जाती और फिर एक सुन्दर धवल प्रवाह नीचेकी ओर बह चलता। सुरभि-थनमें इतना दुग्ध कहाँसे संचित हो जाता—इसे कौन बताये और वह अभी-अभी व्रजपुरमें भूमिष्ठ हुआ वत्स भी तो भूल जाता अपनी जननीको। वह तो सरल भोली चितवनसे केवल नीलसुन्दरकी ओर देखता रहता। अपने करपल्लवमें वत्सका मुख लेकर नन्दलाल उसे थनसे सटा देते, फिर भी वह दृष्टि फेर लेता; नन्दलाड़िलेके श्यामल अङ्गोंमें ही उसकी आँखें उलझी रहतीं। यदि अघटन-घटनापटीयसी योगमायाके अञ्चलकी छाया यथासमय उनकी स्मृतिको आवृत न कर लेती तो कोई वत्सतर अपनी जननीका स्तनरस पान कर सके, यह नवीन धेनुसमूह श्रीकृष्णचन्द्रका सङ्ग त्याग सके—यह सर्वथा असम्भव है। जो हो, इस प्रकार इनकी सेवा तो एकमात्र राम-श्यामके द्वारा ही होने लगी है। इन्हें तृणदान आदिका भार रोहिणीनन्दन रामपर है और दोहनकी क्रिया सम्पन्न होती है नीलसुन्दरके द्वारा। कौमारका वह गोदोहन-खेल—लीलासुरधुनीका वह सुन्दर स्रोत इतने कालतक मूलके विभिन्न प्रवाहोंमें ही विलीन रहकर अब पुनः पृथक् होकर प्रसरित होने लगा है—व्रजेशका ध्यान आकर्षित करनेके लिये, उन्हें सूचित कर देनेके लिये कि 'वजेश्वर! अब विलम्ब मत करो, नीलसुन्दरकी योग्यताका इससे अधिक प्रमाण और क्या चाहते हो? अपने संरक्षणमें अवस्थित इस अपार नवीन गोधनका तनिक-सा भी बिझुके बिना ही दोहनकर्म समाधान कर लेनेकी कलामें निज तनय नीलमणिकी निपुणता देख लो। अब क्यों नहीं इन्हें अपने राजकुलके अधिकृत समस्त गोधनके ही संरक्षणका भार सौंप देते? लीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलाषा पूर्ण हो जाती!' पर व्रजराजके श्रीकृष्णरसभावित प्राणोंमें तो झंकृति

है—'**पश्यामः समयविशेषम्**'—अवसरविशेषकी बाट देखें। वे गोपोंसे सुनते हैं, स्वयं देखते भी हैं, अनुभव करते हैं—'सचमुच मेरे पुत्रकी योग्यता—गोसंरक्षणकी कुशलता गोपवंशकी परम्परामें अद्वितीय ही है।' फिर भी उनका वात्सल्यपरिभावित हृदय विलम्ब करनेमें ही रस ले रहा है और इसलिये वे इस प्रश्नपर मौन ही रह जाते हैं।

आखिर सीमा आ गयी, लीलाशक्तिका निर्धारित क्रम सामने जो आ गया। अबतक श्रीकृष्णचन्द्र वन जाते थे उन अपने अधिकृत नवीन गोधनको लेकर ही। उनमें कुछ गोवत्स थे, कुछ प्रथम-प्रसवोन्मुख गौएँ थीं और अधिकांश थीं नवीन-वत्सवती। गोवत्स इसलिये कि समय-समयपर मुक्तस्तन्य वत्स श्रीकृष्णचन्द्रके संरक्षणमें सम्मिलित होते आये हैं और वत्सवती तो श्रीकृष्णचन्द्रका संरक्षण परित्याग करनेसे रहीं। गोपरक्षकोंने अथक चेष्टा की कि भले ही गोष्ठमें इनकी सेवा राम-श्याम कर लें, गोदोहन आदि भी वे ही करें; पर इनका संचारणकार्य तो हम सबोंके ही द्वारा हो, ये सब भी वयस्क गोधनकी टोलीमें ही परिगणित हो जायँ। किंतु वे सर्वथा असफल रहे। ये गायें किसी भी परिस्थितिमें श्रीकृष्णचन्द्रके बिना वन जानेको प्रस्तुत न हुईं। अतएव सदासे आया हुआ दो विभाग अबतक चलता ही रहा। गोपरक्षक अपने अधिकृत व्रजेशके अपार गोधनका संचारण करते एवं श्रीकृष्णचन्द्र उसीके अंशभूत अपने अधिकृत गो-गोवत्समिश्रित समूहका। अस्तु, आज सहसा प्रातःकाल एक विशेष घटना घटी। उपक्रम तो कल ही हुआ था, आज सबोंने प्रत्यक्ष देख लिया। वनसे लौटते हुए गोचारकवर्गके दोनों ही दल कल मिल गये। अन्यथा इससे पूर्व रक्षकोंका वर्ग तो श्रीकृष्णचन्द्रसे पूर्व ही प्रस्थान कर जाता एवं श्रीकृष्णचन्द्र लौटते थे उस वर्गके गोष्ठमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर। विगत संध्याके समय गोपरक्षकोंने गायोंकी उस अभूतपूर्व प्रेमसम्पुटित आर्ति—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अद्भुत आकर्षणको देखा अवश्य, पर देखकर भी वे रहस्यभेद न कर सके। किंतु आज प्रातःकाल वह स्पष्ट हो गया—इस अपार समस्त गोधनराशिने वन जाना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। वे वनकी ओर तभी चलीं जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हें आगे खड़े होकर पुकारने लगे। व्रजेशकी राजसभामें आज चर्चाका विषय बस एकमात्र यही था। गोपवर्गने विस्मयसे पूर्ण होकर यह सूचना व्रजेन्द्रको दे दी—

सर्वं गोजातं न तु भवज्जातमन्तरा पदमपि पदः प्रददाति। कथंचित्तेनैवाग्रावस्थितेनाद्य ताः प्रस्थापिताः सन्ति॥

'व्रजराज! देख लें, समस्त गायोंकी ही यह दशा हो गयी है कि आपके पुत्रके बिना वे अब एक पद भी वनकी ओर अग्रसर नहीं होतीं। आज जब वह स्वयं उनके आगे जाकर खड़ा हो गया, तब कहीं—उसकी सहायतासे ही वे किसी प्रकार वनमें भेजी जा सकी हैं।'

गोपेश सुनकर आश्चर्यमें भर गये। उन्होंने इस आकस्मिक परिवर्तनका कारण जानना चाहा। फिर तो समस्त सभासद् एक स्वरसे पुकार उठे—

भवत्पुत्रः कुत्रचिद्यत्र स्नेहं व्यञ्जयति तत्र सर्वत्र चैवं दृश्यते।

'यह तो जानी हुई बात है, व्रजेश्वर! जहाँ कहीं जिसके प्रति भी आपका पुत्र प्रेम प्रदर्शित करता है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र यही परिणाम सामने आता है।'

उस दिन अनेक युक्तियोंसे गोपमण्डलने व्रजेशको समझा-बुझाकर नीलसुन्दरपर ही समस्त गोसंरक्षणका भार सौंप देनेके लिये उन्हें बाध्य कर दिया। सबकी एक ही राय, एक ही माँग थी—

तस्माद्भवताद्भवतामनुज्ञा।

'अतएव, अब आपकी आज्ञा हो जाय।'

तथा व्रजराजने भी—वाणीसे तो नहीं—अपनी हर्षभरी दृष्टिसे ही प्रस्तावका समर्थन कर दिया। उपनन्दजी तुरंत ही ज्योतिर्विदोंका परामर्श ले आये। उन सबोंने भी संनिकट योगका ही आदेश किया—'पण्डितजनोंके कर्णपुटोंके लिये सुखप्रद, मङ्गलयशपूर्ण, बुधवार श्रवण-नक्षत्र-विशिष्ट कार्तिक शुक्लपक्षकी अष्टमी गोपालनके लिये परम सुन्दर मुहूर्त है।'—

तैरपि बुधश्रवणसुखप्रदमङ्गलश्रवणसंगतबुधश्रवण-विशिष्टायामबहुलबाहुलाष्टम्यां बहुलापालनं बहुलमेतदिष्ट-मित्यादिष्टम्।

अस्तु, अंशुमाली जब उस दिन प्राचीको रञ्जित करने आये, क्षितिजकी ओटसे व्रजपुरके आकाशको झाँककर

देखने लगे, उस अष्टमीके दिन व्रजेन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रथमगोचारण-महोत्सवके उपलक्ष्यमें वहाँ क्या-क्या हुआ, इसे कौन बताये। वाग्वादिनी स्वयं विथकित जो हो रही हैं। लीलादर्शीकी रसनाके अन्तरालमें हंसवाहिनीके प्राणोंकी इतनी-सी झंकृति कोई भले ही सुन ले—'अरे! इस महा-महोत्सवका वर्णन करना चाहते हो? नहीं, नहीं कर सकोगे। सुनो, एक नहीं, इसके लिये अनेक वक्ता चाहिये। उनमें प्रत्येक वक्ताके ही अयुत—दस सहस्र मुख हों, सभीकी आयु सर्वदा बनी रहे, कभी क्षय न हो, वे निरन्तर गाते ही रहें—तब वर्णन करनेका विचार करना, भला!'

एकस्यैकस्य चेद् वक्तुर्वक्त्राणि स्युः सदायुतम्।
तदा तद् वक्तुमिच्छन्तु यद्यायुः सर्वदायुतम्॥

इससे पूर्व नीलसुन्दरकी कौमारवयस्में—शिशिर-वसन्तकी संधिपर—होनेवाले वत्सचारण-महोत्सवकी शोभा भी निराली ही थी, प्रायः उसके कार्यक्रमका ही अनुसरण आज इस गोचारण-प्रसङ्गमें भी हुआ है। अट्टालिका, गृहतोरण, गृह-द्वार, अलिन्द, वीथी, चतुष्पथ—इन सबका साज-शृङ्गार एवं देवपूजन आदि शास्त्रीय कर्म भी उस पूर्वकी अनुक्रमणीके साँचेमें ही ढले हैं; पर आजका रागरंग, पारावारविहीन आनन्दसिन्धुका यह अभूतपूर्व उद्वेलन—ओह! किसीके श्रीकृष्णचरणनखचन्द्रसे आलोकित दृगोंमें भले ही यह क्षणभरके लिये झलमल कर उठे, पर वाणी तो इसे व्यक्त करनेसे रही। केवल दिग्दर्शनमात्र सम्भव है—'देखो, श्रीकृष्णचन्द्र 'गोपाल' बननेके योग्य नवीन वेषभूषासे सुसज्जित हैं, उनका रक्षा-विधान सम्पन्न हुआ है, ब्राह्मण एवं गुरुजनोंके आशीर्वादसे उनके श्रीअङ्ग सिक्त हो चुके हैं; पुण्याहवाचन कर्म भी साङ्गोपाङ्ग समापित हो चुका है। व्रजरानी, श्रीरोहिणी एवं असंख्य व्रजरामाओंके द्वारा इनका वनगमनोचित नीराजनका मङ्गलकृत्य भी पूरा हो गया। अरे! सुन लो—असंख्य पुरसुन्दरियोंके कण्ठसे निर्गत मङ्गलगानकी सुमधुर ध्वनि; दुन्दुभि, ढक्का, पटह, मृदङ्ग, मुरज, आनक, वंशी, संनहनी, कांस्य आदि वाद्यसमूहोंका दिग्दिगन्तव्यापी नाद; आनन्दमत्त गोपोंके, गोपबालाओंके नर्तनकी झंकार—'नन्दकुलचन्द्रकी जय! रोहिणीनन्दन बलरामकी जय!! राम! राम! श्याम! श्याम! चिरं जीव! चिरं जीव!' आदिका तुमुल घोष। और अब देखो, अहा! वे चले अप अग्रज बलरामसे संवलित श्रीमान् गोपमहेन्द्रतनय श्रीकृष्णच गायोंके पीछे-पीछे। ओह! कैसी अनिर्वचनीय शोभा है

गोपालोचितनव्यवेषवलनै रक्षाविधानैर्द्विजा-
द्याशीर्भिः सुदिनादलभ्यरचनैर्व्रज्यार्हनीराजनैः।
संगानान्वितवाद्यनृत्यनिकरैः शश्वज्जयाद्यारवैः
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्गामेण धेनूरनु॥

'ओह! बलिहारी है श्रीकृष्णचन्द्रके इस अप्रतिम सौन्दर्यकी।'

सखा साथ, बल भैया साथ। राजत रुचिर मंगली माथ।
बीच अछत सु कवन छबि गनौं। मोती जमे चंद मधि मनौं॥

'अरे! धेनुसमूहका शृङ्गार, चमक-दमक देखो—

गाइन की छबि नहिं कहि परै। रूप अनूप सब के हिय हरै॥
कंचन भूषन सब के गरै। घनन घनन घंटागन करै॥
उज्जल बरन सु को है हंस। कामधेनु सब जिन कौ अंस॥
दरपन सम तन अति दुति देत। जिन मधि हरि झाँईं झुकि लेत॥

'ओह! केवल दो अक्षिकोणोंमें, अत्यन्त लघु युग्म कर्णरन्ध्रोंमें एक साथ दिग्दर्शनमात्र विवरणको भी सम्पूर्णतया कैसे धारण कर सकोगे? इसलिये ऊपर दृष्टि डालो, अन्तरिक्षचारी अमरवृन्दके नेत्र-गोलकोंमें समाकर देखो, वे इस समय क्या देख रहे हैं। अहा, उनके दृगञ्चलमें अभी भी वह चित्र वर्तमान है—श्रीकृष्णचन्द्र उस अपार गोधनके समीप गये हैं। उन्होंने पाद्य आदि अर्पण करके प्रत्येककी ही अर्चना की है। तृण, यवस एवं मोदक आदिके मधुर ग्राससे सबको परितृप्त किया है। उनका स्तवन किया है, अपने कुञ्चित कुन्तलराशिमण्डित मस्तकसे उनके खुरोंका स्पर्श करके अभिवन्दना की है। उनका मानवर्द्धन किया है। अनन्तर ब्राह्मणों एवं पुरोहितकुलको अपरिमित दान-दक्षिणा समर्पण करके उन्हें अक्षय आनन्दमें निमग्न कर दिया है। पितृचरण एवं गुरुजनवर्गको अपने मञ्जु-अञ्जलिपुटोंके संकेतसे उन्होंने पुरोभागमें विराजित किया है और स्वयं उनकी ओर मुखारविन्द किये अपने अग्रज बलरामके सहित अवस्थित हो रहे हैं। व्रजराजने एक मणिमय लकुटी उनके हस्तकमलमें दे दी है—

'धेनूः संनिधाय ताश्च पाद्यादिभिरर्चिता विधाय

मधुरग्रासैस्तासां समग्राणां तृप्तिमाधाय तासु नतिप्रभृतिभिर्मानमुपधाय पुनश्च प्रदानदक्षिणाभिः पुरोहितादीनक्षीणानन्दान् संधाय श्रीमत्पितृचरणादीन् मञ्जुलाञ्जलिवलितमग्रतो निधाय स्थितवति साग्रजे तस्मिन्नवरजे श्रीमांस्तत्पिता व्रजराजस्तावन्मणिमयलकुटीं तत्करे घटयामास।'

'अहो! जननी यशोदाका प्रेमावेश तो देखो! वे पुकार रही हैं—बलराम! बेटा! तू नीलमणिके आगे हो जा। अरे सुबल! तू मेरे लालके पीछे हो जा। अरे ओ श्रीदाम! ओ सुदाम! पुत्रो! तुम दोनों इसके दोनों पार्श्वमें अवस्थित हो जाओ। अरे शिशुओ! सुनते हो, देखो, तुम अपने इस आत्मीय सुहृद् नीलसुन्दरको सब ओरसे आवृत करके चलो! इस भाँति स्नेहविह्वल मैया प्रत्येक शिशुका हाथ पकड़कर आदेश दे रही हैं, साथ ही प्रत्येकको यथायोग्य श्रीकृष्ण-सेवासम्बन्धी उन-उन कार्योंका निर्देश करके सौभाग्य दान कर रही हैं और यह सब करते समय भी उनकी आँखें निरन्तर झर-झर बरसती रहती हैं।'

राम! प्रागस्य पश्चाद्भव सुबल! युवां श्रीलदामन्! सुदामन्
दोःपार्श्वस्थौ भवेतं दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीयबन्धोः।
इत्थं हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता
तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नेत्रनीरैरसिक्ता॥

बस, इससे अधिक वाणीकी सामर्थ्य नहीं जो और कह सके।

इस प्रकार पौगण्डवयस्क बलराम एवं नीलसुन्दर वृद्ध गोपोंका अनुमोदन पाकर आज वत्सपालसे गोपाल बन गये हैं और अब वे असंख्य सखाओंके साथ गोचारण करते हुए जा रहे हैं वृन्दाकाननकी ओर। काननके उस भूभाग—वनस्थलीके प्रत्येक अंशपर ही अबसे—किसी अन्य पशुपालका नहीं—एकच्छत्र इन अनोखे गोपालका ही साम्राज्य है। और इसीलिये आज वनभूमि उनके ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्न-समन्वित पदाङ्कोंसे पूर्वकी अपेक्षा भी अत्यधिक समलङ्कृत हो रही है—

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदै-
र्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥

(श्रीमद्भा० १०।१५।१)

जब पौगण्ड अवस्था आई। पसु पालन संमत दोउ भाई॥
निज गोधन लै भ्रात समेता। सखन संग नृप कृपा-निकेता॥
बन-बन धेनु चराइ प्रबीने। बृंदाबन भू पावन कीने॥
निज पद अंकित करि जदुनंदा। महापुन्यतम छिति सुखकंदा॥

भगवत्प्रेमकी निवासभूता—वंशी

(श्रीसीतारामजी शर्मा)

भगवान् जब धरापर अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमें जितनी भी वस्तुएँ होती हैं, सभी दिव्य एवं भगवत्-स्वरूप होती हैं। इसी कारण प्रभुकी वाणीमें इतनी सरसता होती है कि उसको सुनते मन नहीं अघाता। श्रीकृष्णके साथ नाद या शब्द अथवा ध्वनिका भी पूर्ण अवतरण हुआ था। श्यामकी वंशीका मधुर निनाद ही नादावतार था। इसीसे उस वंशी-ध्वनिने प्रेममय व्रजधाममें जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना डाला।

महात्मा सूरदासजी बताते हैं कि जब श्यामसुन्दरने वंशी बजायी, तब स्थिर पदार्थ द्रवित होने लगे और चेतन स्थिर हो गये। पवनकी गति बंद हो गयी, यमुनाजलने प्रवाहित होना बंद कर दिया, पक्षी मोहित हो गये, हिरणोंके समूह दौड़ना छोड़ वंशी-ध्वनिका श्रवण करने लगे। गायें मुग्ध हो दाँतोंमें तृण पकड़े रह गयीं—

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहै, जमुना जल न बहत॥
खग मोहैं, मृग जूथ भुलाहीं, निरखि मदन छबि छरत।
पसु मोहैं, सुरभी बिथकित, तृन दंतनि टेकि रहत॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १४५)

श्रीकृष्णने जब वृन्दावनमें वंशीकी तान छेड़ी, तब

है। इस नादसे ही बिन्दु उत्पन्न होता है। यह बिन्दु ही प्रणव—ओऽम् है और इसीको बीज कहते हैं। बिन्दुनादसे व्यक्त और अव्यक्त शब्द प्रकट हुए। व्यक्त शब्द ही श्रुति-सम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म बना। आदि नादरूप बीजसे पञ्चतत्त्वकी उत्पत्ति बतायी गयी। पञ्चभूतोंमें सबसे प्रथम महाभूत आकाश गुण शब्द बना। योगी लोग इसी नाद-साधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, परम ब्रह्मको पाते हैं। अनाहत नाद योगियोंका परम ध्येय होता है। नादको शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन माना गया है। नादसे सारे संसारकी रचना हुई। शब्द ही परमात्माकी रचनात्मक शक्ति है। शब्द ही परमात्मा है। कबीरने कहा—

कहै कबीर तें सबद को परखि ले, सबद ही आप करतार भाई।

ईश्वरकी तरह नाद या शब्द भी प्रत्येक स्थानपर मौजूद है।

सुरत नाम सुनै जब काना। हंसा पावै पद निरबाना॥

नाद या शब्द परमपिता परमात्माकी सर्वव्यापी शक्तिधारा है। इसका अनुभव अभ्यासी अपने अंदर एक सुरीली धुनके रूपमें करता है। संतोंने इसे शब्द, नाद, धुन, अनाहत नाद, अनहद नाद, वाणी, हुकुम आदि अनेक नामोंसे पुकारा है। सभी संतोंने शब्दके अभ्यासको सब करनीका सार कहा है—नाम या शब्द जिसे सन्तोंने अनहद शब्द भी कहा, अपने-आप ध्वनित हो रहा है। इसके उत्पन्न होनेका कोई स्थूल कारण नहीं। संसार, मन और मायाकी सीमाके परे चेतन-मण्डल धुरधामसे यह आ रहा बताया गया है। यह आत्माको परमात्मासे जोड़नेवाला तार है। इसके अभ्याससे मन पवित्र होता है। आत्मा सब आवरणोंसे मुक्त होकर शब्द-धुनमें लीन हो जाता है। शब्द उसे अपने मूल स्रोत परमात्मामें मिला देता है। नाम या शब्दका सम्बन्ध आत्मासे होता है। आत्माके सुननेकी शक्तिको संतोंने सुरत और देखनेकी शक्तिको निरत कहा है। मीराने कहा—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥

× × ×

मेरा पिया मेरे हीय बसत हैं ना कहुँ आती जाती॥

× × ×

सुरत निरतको दिवलो जोयो मनसाकी कर ली बाती॥

संत पलटूने भी गाया—

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥

× × ×

सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥

× × ×

पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।

भगवान् श्रीकृष्णने इसी शब्दरूपी नादको, वंशी-ध्वनिद्वारा अपनेमें प्रीति रखनेवाले वृन्दावनके प्रत्येक आबाल वृद्ध गोप-गोपियोंमें, पशु-पक्षियोंमें, स्थावर-जंगममें, पत्र-पत्रमें, कण-कणमें और अणु-अणुमें भर दिया। श्रीकृष्णके साथ नाद या शब्द अथवा ध्वनिका पूर्ण अवतार उनके वेणुरूपमें हुआ था। उसी वेणु-निनाद अथवा वेणु विनिर्गत ब्रह्म-नादामृतका पान करके वृन्दावनके सभी जीव चर-अचर साक्षात् रसराजकी रसधारामें प्लावित हो गये। उस वंशी-ध्वनिने धरा लोकको ही नहीं, अपितु तीनों लोकोंको प्रभावित किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उससे अछूते नहीं रहे। तभी तो कृष्णकी वंशी भगवत्प्रेमकी निवासभूता कही गयी।
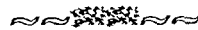
'जिनको भगवान्से प्रेम हो गया है और जो अपने उस परम प्रेमीके चिन्तनमें ही सदा चित्तको लगाये रखते हैं, वे सारे त्रैलोक्यका वैभव मिलनेपर भी आधे क्षणके लिये भी चित्तको प्रियतमके चिन्तनसे नहीं हटाते।'

'जो भगवान्के प्रेमी हैं, उन्हें यदि भगवत्प्रेमके लिये नरक-यन्त्रणा भी भोगनी पड़े तो उसमें भी उन्हें भगवदिच्छा जानकर आनन्द ही होता है। उन्हें नरक-स्वर्ग या दुःख-सुखके साथ कोई सरोकार नहीं। वे तो जहाँ, जिस अवस्थामें अपने प्रियतम भगवान्की स्मृति रहती है, उसीमें परम सुखी रहते हैं।'
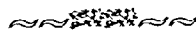
विरहयोग

विरह एक अति विलक्षण योग है। एक विषकी घूँट है, नीमका चबाना है, कुनैनका फाँकना है। परंतु हाय रे! यह विष कितना मधुर है! कितना सरस है! कितना अमरत्व रखता है! जाकर पूछो उन गोपियोंसे, उद्धवने क्या कुछ कम प्रयत्नोंद्वारा ज्ञानामृतकी धाराओंसे उनके तप्त अन्त:करणको शीतल करना चाहा। परंतु गोपियोंका विरहरूप विषम ज्वर तो उससे उलटा उग्र रूप ही धारण करता चला गया। विरहकी वायु बेकाबू होकर भड़क उठी। तीनों दोषोंका संनिपात हो गया। गोपियाँ आँय-बाँय बकने लगीं। परिणाम यह हुआ कि वह विरहका संक्रामकरोग उद्धवपर भी सवार हो गया। उद्धवको भी अपनी कुछ सुध-बुध न रही। उनके ज्ञान-मिक्सचरकी शीशीकी डॉट न जाने कब निकल गयी! उन विरह-सर्प-दंशित गोपियोंकी मस्तीकी झूमने उद्धव-जैसे ज्ञान-गारुड़ीको भी मतवाला बना दिया।

विरह एक जादू है, जो सिरपर सवार होकर बोलता हैं। विरह एक नशा है, जो नेत्रोंद्वारा दूसरेके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। विरह परमात्माकी एक दैन है, जो किसी विशिष्ट कृपापात्रपर ही उतरती है। वह श्यामसुन्दर जिसपर विशेष प्रसन्न होता है, उसीको अपना विरह-पुरस्कार प्रदान करता है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते जदुबीर।
रोना-धोना सिसकना, आहोंकी जागीर॥

वास्तवमें विरह एक अलौकिक जागीर है, जो किसी भाग्यवान्‌के भाग्यमें बदी होती है। सच्चा विरही अपने प्रेमपात्रको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके विरहमें व्याकुल होता हुआ रो-रोकर!

जो मज़ा इंतज़ारीमें देखा। न वह मज़ा वस्ले यारीमें देखा॥

उसे रोनेमें जो आनन्द आता है, वह न शुष्क ध्यानके लगानेमें आता है और न खाली मालाकी मणियाँ निकालनेमें! उसे जितना आनन्द वाष्पपूर्ण कण्ठसे गद्गद होकर चुप रह जानेमें मिलता है, उतना आनन्द किसी भी सुरीले कण्ठसे स्तोत्रके गानेमें नहीं मिलता। उसे जितना आनन्द परोक्षस्थ अपने प्रियतमको खरी-खोटी सुनानेमें मिलता है, उतना उसको अपनी हितकाम्य प्रार्थना करनेमें नहीं।

जिन्हें है इश्क़ सादिक़ वे कहाँ फ़रियाद करते हैं।
लबोंपर मुहर ख़ामोशी दिलोंमें याद करते हैं॥
मुहब्बतके जो क़ैदी हैं न छूटेंगे वे जीते जी।
तड़पते हैं, सिसकते हैं, उसीको याद करते हैं॥

विरह एक जंजीर है, जो अपने प्रियतमके कण्ठमें पड़कर अपने हृदयकी खूँटीसे बँधी रहती है। यह जंजीर ज्यों-ज्यों खिंचती है, त्यों-त्यों ही उस अलौकिक वेदनाकी हूलें उठा करती हैं। जब किसी पुण्यवान् व्यक्तिके महान् जप-तप और यम-नियमादि साधन फलीभूत होते हैं, तब भगवान् उनके फलस्वरूप साधकके हृदयमें अपने विरहकी आग भड़का देते हैं और आप दूर खड़े तमाशा देखा करते हैं। वह तो 'हाय, जला रे जला' पुकारता है और आप खड़े-खड़े हँसते हैं! उस विरहकी उग्र आगमें पाप-ताप तो कहाँ बचने थे, स्वयं जप-तप भी ईंधन बनकर जलने लगते हैं।

मीरा गिरधरलालका नाम लेनेके लिये गि····र··· ही कह पाती है कि पहले ही आँसू गिर पड़ते हैं। मुँहके आगे डॉट आ जाती है, मानो स्वयं गिरधरने मुँह बंद कर दिया हो। यह सब विरहदेवकी करतूत है। जब विरहका पारा रोम-रोममें पसर जाता है तो आँखें अपलक हो जाती हैं और जिह्वा काष्ठजिह्वा! जब यह कच्चा पारा हृदयकी नस-नसमें भर जाता है तो मनमृग भी चौकड़ी भरना भूल जाता है। यदि कहीं अधिक परिमाणमें चढ़ गया तब तो मीराकी भाँति प्राणोंका स्पन्दन ही बंद हो जाता है। तड़प-तड़पकर प्राण देना ही तो विरहीका ध्येय होता है। उसे इस तड़पमें ही मज़ा मिलता है। वह मौजी इस मज़ेकी आगमें जलकर ख़ाक हो जानेमें ही सब कुछ भर पाता है!

विरही तो विरहानलमें इतना जल जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती—

बिरह अगिन तन मैं तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव महँ, मौत ढूँढ फिरि जाय॥

(कबीर)

विरह किसी पोथीके पढ़नेसे नहीं प्राप्त हो सकता। विरहयोगका दाता कोई गुरु भी नहीं है। विरह कोई विश्वविद्यालयोंमें सीखने-सिखानेका विषय भी नहीं है। विरह तो अपना शिक्षक, अपना गुरु और अपना शास्त्र आप ही है। विरहका अर्थ है—अपने प्रियतमके प्रेमपर मर मिटनेकी लगन!

उरमें दाह, प्रवाह दृग, रह-रह निकलें आह।
मर मिटनेकी चाह हो, यही विरहकी राह॥

विरहयोग सुगम-से-सुगम और कठिन-से-कठिन है। सुगम तो यों है कि इसमें न तो किसी उपकरणविशेषकी आवश्यकता है और न कोई विधि-विधान ही है। एक लगन ही इसका प्रबल साधन है। कठिन यों है कि यह भगवत्कृपा बिना किसी साधनविशेषसे कदापि प्राप्त होनेयोग्य नहीं। जिस प्रकार मरनेकी क्रिया नकली नहीं हो सकती, उसी प्रकार विरह-दशा भी नकली नहीं हो सकती।

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उग्र तपस्याएँ कर-कर धूलिमें मिल-से गये। परंतु उन भोली-भाली गोपकन्याओंके चरणोंकी धूलिकी भी समता वे नहीं कर सके। ऋषियोंने अनेक नूतन योगोंका आविष्कार किया; परंतु गोपियोंकी विरहदशाको देखकर वे लज्जित हो गये। वास्तवमें विरहयोगके सामने कोई योग ठहर नहीं सकता। भगवान् एक फौलादका टुकड़ा है, जो साधारण अग्निसे नहीं गल सकता। उसको पानी बनानेके लिये कितने ही उपाय निकाले गये; परंतु उन सब उपायों (योगों)-में एक-से-एक बढ़कर कठिनता पेश आयी। एक विरहयोग ही सुगम-से-सुगम उपाय सूझा, जिसके तापसे भगवान् तत्क्षण पानी-पानी हो चलते हैं। अन्य जितने भी योग हैं, उन सबमें किसी-न-किसी अंशमें अहंकार लिपटा ही रहता है। एक विरह ही ऐसा योग है कि जिससे अहंकार कोसों दूर रहता है और जहाँ अहंकार नहीं है, वहीं वह प्यारा यार बसता है।

अनेक भक्त महात्माओंने विरहके नशेको भरपेट पिया है। वे उसकी मस्तीमें जो कुछ बोले हैं वह सुननेकी एक चीज है।

चरनदासजी

महात्मा चरनदासजीने विरहके जो फोटो लिये हैं, वे देखते ही बनते हैं—

मुख पियरो सूखैं अधर, आँखैं खरी उदास।
आह जो निकसै दुखभरी, गहिरे लेत उसास॥
वह बिरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजै छेद॥
अपने बस वह ना रही, फँसी बिरहके जाल।
चरनदास रोवत रहै, सुमर-सुमर गुन ख्याल॥
वै नहिं बूझैं सार ही, बिरहिनि कौन हवाल।
जब सुधि आवै लालकी, चुभत कलेजै भाल॥

महात्मा चरनदासजीने विरहयोगपर जो अपना दो टूक फैसला दे दिया है, वह रिकार्डकी एक चीज है।

पी पी कहते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान।
बिरहिनके सहजै सधै, भगति जोग तप ग्यान॥

दयाबाई

साध्वी श्रीदयाबाई रो-रोकर अपने मनमोहनसे कहती है—

बिरह ज्वाल उपजी हिये, रामसनेही आय।
मनमोहन! सोहन सरस, तुम देखणदा चाव॥
बिरह-बिथासूँ हूँ बिकल, दरसन कारण पीव।
'दया' दया की लहर कर, क्यों तलफावो जीव॥

महात्मा कबीरने विरहके बाण सहे हैं, वे इस अग्निसे खेले हैं, इस सर्पसे दंशित हुए हैं। इसका उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन किया है। वास्तवमें विरह-वेदनासे निकली हुई जो कबीरजीकी आहें हैं, वे किस पाषाण-हृदयको नहीं पिघला देती हैं?

हौं हिरनी पिया पारधी, मारे शब्दके बान।
जाहि लगै सो जानही, और दरद नहिं जान॥
मैं प्यासी हौं पीवकी, रटत सदा पिव पीव।
पिया मिलै तो जीव है, सहजै त्यागों जीव॥
पिय कारन पियरी भई, लोग कहैं तन रोग।
छः छः लंघन मैं करे, पिया मिलनके जोग॥
बिरह बड़ो बैरी भयो, हिरदा धरै न धीर।
सुरत सनेही ना मिलै, तब लगि मिटे न पीर॥

(कबीर)

आह! विरहका काँसा हाथमें लेकर ये वैरागी नयन प्यारेकी छविकी भीख पाकर मस्त रहते हैं—

बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
माँगैं दास मधूकरी, छके रहैं दिन रैन॥
बिरह भुअंगम पैठि कै, किया कलेजै घाव।
बिरही अंग न मोड़िहै, ज्यों भावै त्यों खाव॥
कै बिरहिनको मीच दै, कै आपा दिखलाय।
आठ पहरका दाझना, मोपै सहा न जाय॥

विरहार्थियोंको श्रीकबीरजी उपदेश करते हैं—

बिरहा सेती मत अड़ै, रे मन! मोर सुजान।
हाड माँस सब खात है, जीवत करै मसान॥
'कबीर' हँसना दूर कर, रोनेसे कर चीत।
बिन रोये क्यों पाइये, प्रेमपियारा मीत॥
हँस हँस कंत न पाइयाँ, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेलै पिव मिलै, कौन दुहागिन होय॥
रक्त माँस सब भख गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड चबान॥

वाहवा! वाहवा!! क्या यह विरहका कूकर शरीरकी अस्थियोंको भी चबा डालता है? परंतु कबीरजी महाराज! यहाँ तो हमारे-जैसे विरही कहलानेवाले दिनमें तीन बार तुलते हैं कि कहीं वज़न कम न हो जाय!

विरहकी ज्वालामें जले बिना, उसमें ख़ाक हुए बिना इस हृदयकी फौलादका कुश्ता हो ही नहीं सकता—

बिरह अगिन तन जालिये, ग्यान अगिन दौं लाइ।
'दादू' नख सिख पर जलै, राम बुझावै आइ॥
बिरह जगावै दर्दको, दर्द जगावै जीव।
जीव जगावै सुरतिको, पंच पुकारैं पीव॥
जब बिरहा आया दई, कड़ुवे लागैं काम।
काया लागी काल है, मीठा लागा नाम॥
जो कबहूँ बिरहिन मरै, सुरत बिरहनी होय।
'दादू' पिव पिव जीवताँ, मुआँ भी हेरै सोय॥

(दादूदयालजी)

'सुन्दर' बिरहिनि अधजरी, दुःख कहै मुख रोइ।
जरि बरि कै भसमी भई, धुवाँ न निकसै कोइ॥
ज्यों ठग मूरी खाइ कै, मुँह नहिं बोलै बैन।
टुगर टुगर देख्यो करै, 'सुन्दर' बिरहा ऐन॥

(सुन्दरदासजी)

एक उर्दू कवि कहता है—

ज़बानी हाल यूँ कहना तू जाकर नामावर पहले।
हमारी आहें गिरियाँकी तु कर देना ख़बर पहले॥
तेरी उल्फ़तके कूचेमें नफ़ा पीछे ज़रर पहले।
अक़्ल जाती है इस कूचेमें ए 'जामिन' गुज़र पहले॥

वास्तवमें विरहके कूचेमें अक़्ल नहीं रहती। विरह-जैसी बीमारीको पाकर ही वास्तवमें नीरोग होना है। इस विरहने सब संत-भक्तोंको रुला-रुलाकर मारा है और जो इससे वञ्चित रह गया तो समझ लो अमृतके समुद्रमें मुँह बंद करके ही उसने गोते लगाये हैं, उसमें गुचकियाँ नहीं खायीं। उसे हिलकियाँ नहीं आयीं और उसने सुबकियोंका स्वाद नहीं चखा। दरिया साहब कहते हैं—

'दरिया' हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
बिरहा ब्यापा देहमें, किया निरन्तर बास।
तालाबेली जीवमें, सिसके साँस उसास॥

अलबेला साधु बुल्लेशाह कहता है—

कद मिलसी मैं बिरहों सताई नूँ॥
आप न आवै, न लिखि भेजै, भट्ठि अजे ही लाई नूँ।
तौंजेहा कोइ होर नाँ जाणा, मैं तनि सूल सवाई नूँ॥
रात-दिनें आराम न मैंनूँ खावै बिरह कसाई नूँ।
'बुल्लेशाह' धृग जीवन मेरा जौंलग दरस दिखाई नूँ॥

'सौ सयानोंका एक मत' इस लोकोक्तिके अनुसार विरहका अनुभव, सब महात्माओंका समान उतरता है। वास्तविक वर्णन तो विरहीकी दशा ही कर सकती है।

लीला-दर्शन—

कन्हाईकी तन्मयता

यह कन्हाई अद्भुत है, जहाँ लगेगा, जिससे लगेगा, उसीमें तन्मय हो जायगा और उसे अपनेमें तन्मय कर लेगा। श्रुति कहती है—'रूपः रूपं प्रतिरूपो बभूव।'

(बृहदा० २।५।१९)

वह परमात्मा ही जड़-चेतन, पानी-पत्थर, पेड़-पौधे, अग्नि-वायु-आकाश, पशु-पक्षी, कीड़े-पतंगे, सूर्य-चन्द्र-तारे सब बन गया है, किंतु मैं उस किसी अलक्ष्य, अगोचर, अचिन्त्य परमात्माकी बात नहीं करता हूँ। मैं करता हूँ इस अपने नटखट नन्हे नन्द-नन्दनकी बात। यह केवल स्वयं तन्मय नहीं हो जाता, दूसरेको भी अपनेमें तन्मय कर लेता है।

ऐसा नहीं है कि यह केवल श्रीकीर्तिकुमारी या दाऊ दादामें तन्मय—एकरूप हो जाता हो। यह क्या अपनी वंशी अधरोंपर रखता है तो स्वरसे कम एकाकार होता है? अथवा किसी गाय, बछड़े-बछड़ीको दुलराने-पुचकारने लगता है तो इसे अपनी कोई सुध-बुध रहती है। यह सखाओंसे ही नहीं, मयूर-मेढक-कपि, शशकसे भी खेलमें लगता है तो तन्मय। गाने, नाचने, कूदनेमें ही नहीं, चिढ़ानेमें भी लगता है तो तन्मय ही होकर। इसे आधे मनसे कोई काम जैसे करना ही नहीं आता है।

रही दूसरोंकी बात, सो मैया यशोदाका लाडला सामने हो तो क्या किसीको अपने शरीरका स्मरण रह सकता है? यह तो आते ही सबको अपनेमें खींचता है, अपनेसे एक करता है, अन्ततः कृष्ण है न!

अब आजकी ही बात है, कन्हाई यमुनातटपर अकेला बैठा गीली रेतसे कुछ बनानेमें लगा था। बार-बार नन्हे करोंसे रेत उठाता था और तनिक-तनिक बहुत सँभाल कर धरता था! पता नहीं कैसी रेत है कि टिकती ही नहीं। गिर-गिर पड़ती है रेत; किंतु कन्हाई कहीं ऐसे हारनेवाला है, वह लगा है अपने महानिर्माणमें। लगा है—तन्मय है।

पता नहीं, सखा कब चले गये, दाऊ दादा भी चला गया। सबने पुकारा, बुलाया, कहा; किंतु जब यह सुनता ही नहीं तो सब खीझकर चले गये कि अकेला पड़ेगा तो स्वयं दौड़ा आयेगा; किंतु इसे तो यह भी पता नहीं कि आसपास कोई सखा नहीं है, यह अकेला है।

मैया पुकारती रही, पुकारती रही और अन्तमें समीप आ गयी यह देखने कि उसका लाल कर क्या रहा है। क्यों सुनता नहीं। अन्ततः अब आतपमें कुछ प्रखरता आने लगी है। इस धूपमें तो इस सुकुमारको नहीं रहने दिया जा सकता।

कटिमें केवल रत्नमेखला और कटिसूत्र है। कछनी तो इसे उत्पात लगती है। उसे आते ही खोलकर फेंक दिया था। कुछ पीछे रेतपर पड़ी है वह पीतकौशेय कछनी। बार-बार ढीली होनेवाली कछनीको यह कबतक सँभालता?

चरणोंमें मणि-नूपुर हैं। करोंमें कंकण हैं। भुजाओंमें अंगद हैं। कण्ठमें छोटे मुक्ताओंके मध्य व्याघ्रनख है। कौस्तुभ है गलेमें। भालपर बिखरी अलकोंके मध्य कज्जल-बिन्दु है। थोड़ी अलकोंको समेटकर उनमें मैयाने एक मयूरपिच्छ लगा दिया है। बड़े-बड़े लोचन अञ्जन-मण्डित हैं।

दोनों करोंमें गीली रेत लगी है। दोनों चरण आगे अर्धकुञ्चित किये बैठा है। पूरे पदोंपर, नितम्बपर गीली रेत चिपकी है। स्थान-स्थान और वक्षपर, कपोलपर भी रेतके कण लगे हैं।

पुलिनपर बहुत-से बालकोंके पदचिह्न हैं। गीली रेतपर—सूखी रेतमें भी शतशः बालकोंके खेलनेके चिह्न हैं। रेत कहीं एकत्र है, कहीं कर-पदोंसे फैलायी अथवा बिखेरी गयी है। गीली रेतपर कहीं छोटे गड्ढे हैं अथवा रेतकी ढेरियाँ हैं। मैया इनके मध्यसे ही चलती आयी है। उसने समीप आकर कन्धेपर कर रखकर पूछा है—'तू अकेला यहाँ क्या कर रहा है?'

'मैं?' चौंककर कन्हाईने मुख उठाया—नेत्र हर्षसे

चमक उठे—'अरे, यह तो मैया है!'

मुख धूपसे कुछ अरुणाभ हो उठा है। भालपर, कपोलोंपर नन्हें स्वेद-कण झलमला उठे हैं। मैयाको देखकर यह झटपट उठ खड़ा हुआ है।

'तू अकेला यहाँ कर क्या रहा है?' मैया किञ्चित् स्मितके साथ पूछती है।

'अकेला?' श्याम एक बार सिर घुमाकर आसपास देखता है। उसे अब पता लगता है कि वह अकेला है। ये सब सखा—दाऊ दादा भी उसे छोड़कर … अकेला वह कैसे रह सकता है; किंतु अब … समीप आ गयी है। दोनों भुजाएँ मैयाकी गोद … उठा देता है।

'तू कर क्या रहा था?' मैया हँसती है। अब कहाँ स्मरण है कि वह क्या बना रहा था … मुख झुकाकर गीली रेतकी उस नन्ही ढेरीको … और फिर मैयाके मुखकी ओर देखता है दो… फैलाये।

श्यामके नेत्रोंमें उलाहना है, खीझ है— मैया है कि स्वयं समझ नहीं लेती कि उसका … बना रहा था। जब वह इतनी तन्मयतासे इस म… लगा था तो दुर्ग-ग्राम, गाय-बैल, कपि-गज… बना ही रहा था। अब उसे तो स्मरण नहीं … मैयाकी गोदमें चढ़ना है और मैया हँसती है। और पूछती है।'

यह भी कोई बात है कि मैया उसे गोदमें … और पूछती है। अब यह खीझनेवाला है। … भावनामें तन्मय, अब तो मैयाकी गोद और … उसका अमृतपय ही इसे स्मरण है।

भगवान्‌को प्रेम कैसे दें ?

(डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति)

प्रेम देनेका आशय—प्रेम देनेका अर्थ है—अपने प्रभुको प्रसन्नता देनेकी भावना रखना। अपने शरीर, इन्द्रिय, वाणी, व्यवहार और बाह्य वस्तुओंके द्वारा उन्हें भरपूर प्रसन्नता देना। उनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने बड़े-से-बड़े सुखको छोड़ देना, उनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक बड़े-से-बड़े दुःखको झेल लेना, उनको प्रसन्नता देनेके बदलेमें अपने सुखके लिये उनसे कुछ नहीं माँगना। यह सोचनातक नहीं कि मैं उन्हें प्रसन्नता दूँगा तो वे मुझे वापस प्रसन्नता देंगे, केवल यही सोचना और माँगना कि मुझे ऐसी शक्ति दीजिये कि मैं आपको प्रसन्नता देता

प्रेम कितनी देरतक दें—आपके पास प्रतिदि… घंटेका समय रहता है, चौबीसों घंटे भगवान्‌को प्रेम … आप अपना समय दो प्रकारसे व्यतीत करते हैं

१-**निवृत्तिमें**—कुछ समय आप अकेले … अपनी साधना करते हैं, जैसे भगवान्‌की पूज… उपासना, पाठ, जप, कीर्तन, भजन, स्वाध्याय त… आदि। इसे 'निवृत्तिकाल' कहते हैं। इसमें आप स… आधा घंटेसे तीन-चार घंटेका समय व्यतीत क…

२-**प्रवृत्तिमें**—कुछ समयतक आप अपने श… परिवार …

सामान्यतया चौदह-पंद्रह घंटे व्यतीत करते हैं। शेष समय नींदमें व्यतीत हो जाता है।

निवृत्तिकालमें प्रेम देनेकी विधि—इस विधिके मुख्य अङ्ग इस प्रकार हैं—

(क) भाव रखें—जब आप भगवान्‌की पूजा करें, उन्हें चन्दन लगायें, पुष्प चढ़ायें, जल चढ़ायें, फल चढ़ायें, प्रसाद अर्पित करें, आरती उतारें, चरणामृत लें, प्रणाम करें, तब अपने मनमें यह सोचें कि इन सबसे मेरे प्रभुको प्रसन्नता मिल रही है। ये सब कार्य भगवान्‌की प्रसन्नताके उद्देश्यसे ही करें।

(ख) निर्णय लीजिये—आप अपने लिये निम्नलिखित निर्णय लीजिये—

आपका है—सोचिये, आपके पास क्या है? इस विशाल संसारमें आपको जो 'मेरा' मालूम होता है, वही आपके पास है। अपना शरीर, निकट परिवारजन (पति, पत्नी, संतान, माता-पिता आदि) और निजी वस्तुएँ तथा सम्पत्ति आपको मेरी मालूम होती हैं। इसलिये निर्णय कीजिये कि हे प्रभो! मेरे पास जो कुछ है, वह आपका है, उसके मालिक आप हैं। हे प्रभो! शरीर, परिवारजन, सम्पत्ति आपकी है। इन तीनोंके मालिक आप हैं।

सँभालना—हे प्रभो! जबतक आपकी सौंपी हुई वस्तुएँ तथा सम्पत्ति मेरे पास हैं, तबतक मैं आपकी हर वस्तु एवं सम्पत्तिको सँभाल कर रखूँगा और हितकी भावनासे शरीर, परिवारजन एवं जनसमाजके लिये उनका उपयोग करूँगा।

प्रसन्नता देना—हे प्रभो! जबतक आपद्वारा सौंपा गया शरीर तथा परिवारजन मेरे पास हैं, तबतक इन्हें मैं आपका मेहमान मानकर इनका हित सोचूँगा, हित करूँगा, हितभावसे इनको सुख, सुविधा, सम्मान तथा प्रसन्नता दूँगा। इनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपना सुख छोड़ दूँगा। इनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक बड़े-से-बड़ा दुःख झेल लूँगा।

जो चाहे सो करें—हे प्रभो! मैं अपनी तरफसे आपकी वस्तुओंको पूरी सावधानीपूर्वक सँभाल लूँगा। आपने नौकरी, व्यापार, घर-परिवार आदिका जो श्रीदायित्व मुझे सौंपा है, उसे मैं अपना पूरा समय, शक्ति, बल, बुद्धि, योग्यता तथा अनुभव लगाकर पूरी सावधानीसे करूँगा। आपके कार्यमें कणमात्र भी लापरवाही नहीं करूँगा और आपके मेहमानोंको भरपूर प्रसन्नता दूँगा। आप इनके साथ वही करना जिसमें आपकी प्रसन्नता हो। मैं इनके सम्बन्धमें आपपर मनसे भी किसी प्रकारकी ऐसी शर्त नहीं लगा रहा हूँ कि आप इन वस्तुओंको मेरे पास रखें ही। मेरी नौकरीको बनाये रखें ही, व्यवसायमें लाभ दें ही, परिवारजनों और शरीरको बनाये ही रखें आदि। मेरी कोई शर्त नहीं है, आप इनके साथ जो आपकी इच्छा हो वही करें, जिसमें आपकी प्रसन्नता हो, वैसा ही करें। मैं तो आपकी प्रसन्नता चाहता हूँ, बस। आपकी प्रसन्नता ही मेरे जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, मेरी केवल एक ही इच्छा है कि आप प्रसन्न रहें। इसके अलावा मेरी कोई इच्छा नहीं है।

आनन्दविभोर हो जाना—हे प्रभो! आप अपनेद्वारा सौंपे गये शरीर, परिवारजनों और सम्पत्तिको जहाँ-जैसे, जिस अवस्थामें रखेंगे, मैं उसमें पूर्ण संतुष्ट और अत्यन्त प्रसन्न रहूँगा। जब आप इनको वापस लेंगे, तब भी मैं आनन्दित रहूँगा। मैं यह सोचकर आनन्दविभोर रहूँगा कि मेरे प्रभुकी प्रसन्नता इसीमें है।

प्रवृत्तिकालमें प्रेम देनेकी विधि—इस विधिके मुख्य अङ्ग इस प्रकार हैं—

प्रवृत्तिकालमें प्रभुका स्वरूप—निवृत्तिकालमें आपके प्रभुका स्वरूप वह है, जिनकी आप पूजा करते हैं। आप उनका कोई भी स्वरूप और नाम रख सकते हैं। प्रवृत्तिकालमें आपके प्रभुका स्वरूप है—'जगत् या संसार'। ज्ञानकी दृष्टिसे संसार नाशवान् है। जो जन्मता है, बढ़ता है, बदलता है, बिगड़ता है और अन्तमें मर जाता है, उसे संसार कहते हैं। भगवत्प्रेमकी दृष्टिसे जगत् प्रभुका स्वरूप है। जो साधक जगत्‌को प्रभुका स्वरूप मानकर इसे प्रेम देता है, उसे जगत्‌के कण-कणमें परमात्माके दर्शन होते रहते हैं। श्रीरामचरितमानस (१। १८४। ५)-में भगवान् शङ्करकी वाणी है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

अर्थात् मैं तो यह जानता हूँ कि भगवान् सब जगह

समानरूपसे व्यापक हैं, प्रेमसे वे प्रकट हो जाते हैं।

मानें, बोलें एवं निश्चय करें—साधनाके आरम्भमें आपको जगत्‌में प्रभुके दर्शन नहीं होंगे। कोई चिन्ताकी बात नहीं। भगवान्‌की वाणीमें विश्वास करके आप मनमें यह सोच लें, मान लें, निश्चय कर लें कि मेरे प्रभुने ही जगत्‌का वेष बनाया है और मुझे इनको प्रेम देना है। प्रेमसे मेरे प्रभु प्रकट हो जायँगे अर्थात् दिखने लग जायँगे। अपनी वाणीसे इस वाक्यको दिनमें सैकड़ों-हजारों बार बोलें और अपने कानोंसे सुनें—हे प्रभो! जगत्‌के रूपमें आप स्वयं पधारे हैं, इसलिये कि मैं प्रवृत्तिकालमें आपको प्रेम दे सकूँ।

आरम्भ करें—अपने परिवारके प्रत्येक सदस्यको प्रभुका स्वरूप मानकर मनमें इस प्रकार प्रणाम करें—हे प्रभो! आप ही मेरे पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी, माता, पिता, भाई, बहन बनकर पधारे हैं, आपके इस रूपको मेरा प्रणाम। प्रातःकाल उठते ही आप वाणीसे बोलकर सबको बारी-बारीसे अपने कमरेमें बैठे-बैठे ही प्रणाम कर लें। शनैः-शनैः इस कार्यको बढ़ायें। हर घंटे-आधे घंटेके बाद प्रणाम करें।

जबतक परिवारजनोंमें प्रभुके दर्शन न हों, तबतक निम्नलिखित प्रकारसे प्रेमकी साधना करें—

दुःख न दें, क्षमा माँग लें—किसी भी प्रकारसे कभी भी उन्हें दुःख न दें, उनका अपमान न करें। उनका अपमान साक्षात् प्रभुका ही अपमान है, उन्हें दुःख देना साक्षात् अपने प्रभुको ही दुःख देना है। उनकी निन्दा, आलोचना, तिरस्कार न करें; उन्हें कटु वचन न बोलें, उनके साथ मिथ्या न बोलें, उनपर क्रोध न करें, उनकी निन्दा न सुनें, उनके दोष दीखनेपर क्रुद्ध न हों, करुणित हों, उनके साथ किसी भी प्रकारकी बुराई न करें, उनका बुरा न सोचें, अपने मनमें भी उनको बुरा न समझें। अपने व्यवहार अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे उनका अपमान न करें।

यदि वे आपको दुःख दें, हानि पहुँचायें, अपमानित करें, आपकी निन्दा, निरादर करें तो भी आप उन्हें बदलेमें दुःख न दें। आपमें उन्हें दुःख न देनेकी शक्ति तब आयेगी, जब आप इस सत्यको स्वीकार करेंगे कि मुझे कोई दुःख नहीं दे सकता। मेरे दुःखका मूल कारण मेरे अपने ही कर्म हैं अथवा मेरी अपनी ही भूल है। वह भूल है—पराधीनता।

प्रतिज्ञा कीजिये कि प्रवृत्तिकालमें आप उन्हें दुःख नहीं देंगे। प्रतिज्ञा करनेके बाद भी यदि आप भूलसे उन्हें दुःख दे दें तो उनसे क्षमा माँग लें और पुनः दुःख न देनेकी प्रतिज्ञा कर लें।

उनके विशुद्ध हित, कल्याण और वास्तविक भलाईके लिये करुणापूर्ण हृदयसे आप उन्हें दुःख देनेका अभिनय कर सकते हैं। यहाँसे भगवत्प्रेमकी साधना आरम्भ होती है—

सुख-सुविधा, सम्मान एवं प्रसन्नता दें—कुल, परिवार, समाज और शास्त्रकी मर्यादाका पालन करते हुए आप अपनी शक्तिके अनुसार परिवारके सदस्योंको सुख-सुविधा, सम्मान एवं प्रसन्नता दीजिये, उनकी आवश्यकताएँ पूरी कीजिये, उनको सब प्रकारका सहयोग दीजिये, उनका हित कीजिये। विभिन्न प्रकारसे उनकी भरपूर सेवा कीजिये।

त्यागकी शक्ति—यदि आप प्रेमकी उपर्युक्त साधना करेंगे तो प्रभु आपको ऐसी विचित्र शक्ति देंगे कि परिवारजनोंकी प्रसन्नताके लिये आप प्रसन्नतापूर्वक अपने सुखका त्याग कर देंगे, प्रसन्नतापूर्वक बड़े-से-बड़ा दुःख झेल लेंगे। भगवत्कृपासे समाज और संसारको प्रेम देनेकी शक्ति आपमें स्वतः आ जायगी। स्मरण रहे, समाज और संसारके साथ किसी भी प्रकारकी बुराई न करना ही इनको प्रेम देना है।

कुछ न चाहें—प्रेम देनेके बदले आप कुछ न चाहें—न भोग (सांसारिक सुख) न मोक्ष, न अभी, न कभी, न परिवारसे, न समाज एवं संसारसे और न संसारके मालिक भगवान्‌से। यदि आप अपने लिये कुछ भी चाहेंगे तो आपका प्रेम स्वार्थमें बदल जायगा।

शरीरको प्रेम दें—स्थूल शरीरको 'मैं' और 'मेरा' न मानें, इसे प्रभुका मेहमान मानकर श्रमी, संयमी, सदाचारी और स्वावलम्बी रखें, प्रभुके द्वारा वापस लेनेपर प्रसन्नतापूर्वक लौटा दें—यही 'स्थूल शरीर' को प्रेम देना है। ममता, कामना, राग-द्वेष, दीनता और अभिमानकी भावना न रखें—यही 'सूक्ष्म शरीर' को प्रेम देना है। बुराई न करें,

स्वतः होनेवाली भलाईके कर्ता न बनें, न उसका फल चाहें, 'मैंपन' को मिटा लें—यही 'कारण-शरीर' को प्रेम देना है।

सम्पत्तिको प्रेम दें—आपके पास जो भी चल-अचल सम्पत्ति है, उसे प्रभुकी दी हुई धरोहर मानकर हितभावनासे शरीर, परिवारजन, निकटवर्ती जनसमाजके लिये उसका उपयोग करें। जब भी प्रभु उन्हें वापस लें तो उन्हें उनकी धरोहर प्रसन्नतापूर्वक लौटा दें। यही सम्पत्तिको प्रेम देना है।

प्रवृत्तिको पूजा बनायें—प्रवृत्तिका अर्थ है—कार्य। आप दिनभर जो भी कार्य करें, जैसे—शौच, स्नान, व्यायाम, भोजन, विश्राम आदि शरीरके कार्य तथा घर, परिवार, ऑफिस, व्यापार, नौकरी आदि समाजके कार्य—इनको करते समय यह सदैव याद रखें कि ये मेरे प्यारे प्रभुके कार्य हैं, इनको पूरी सावधानीसे करना मेरे प्रभुकी पूजा है। इन कार्योंको करनेसे मेरे प्रभुको प्रसन्नता मिलेगी। इस भावनासे सब कार्योंको करना ही प्रभुको प्रेम देना है। इस बातका विशेष ध्यान रखें कि आप अपने सुखके उद्देश्यसे कोई भी कार्य न करें, परहितकी भावनासे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही सब कार्य करें।

इस प्रेमसाधनासे प्राणिमात्रमें आपको अपने प्रभुके दर्शन होंगे, कण-कणमें प्रभुकी झाँकी दिखेगी। आपको अनुभव होगा कि कोई और नहीं है, कोई ग़ैर नहीं है, केवल प्रभु ही हैं, प्रभुके अलावा कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, कुछ भी नहीं है। यही इस जीवनकी सर्वोच्च सफलता एवं पूर्णता है।
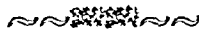
'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'

(डॉ० श्रीजगेशनारायणजी शर्मा, मानसमराल)

पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिये एक अद्भुत विलक्षण सूत्र दिया है। गोस्वामीजीकी मान्यता है कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रेमका होना अनिवार्य है। प्रेम ही सम्पूर्ण साधनाओंका सार तत्त्व है और यही भक्तिका प्राण भी है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥

(रा०च०मा० २।१३७।१)

जप, तप, शम, दम और नियम चाहे जितने भी साधन कर लिये जायँ, लेकिन यदि प्रभुपदमें प्रेम नहीं हो तो उपर्युक्त सारे प्रयास निष्फल चले जायँगे।

भगवान् आशुतोष भोले शंकरने भी दुःखी देवताओंको यही समझाया। ब्रह्माजीने बताया कि हमारी समस्याका एकमात्र समाधान प्रभु श्रीराम हैं, किंतु उनको कहाँ पाया जाय? किसीने कहा कि वैकुण्ठलोकमें जाना होगा, किसीने कहा कि क्षीरसिन्धुमें उनका निवास है। इस प्रकार देवसमूहमें अनिश्चितताकी स्थिति व्याप्त हो गयी। तब ब्रह्माजीने भगवान् शंकरसे कहा कि आप उचित समाधान दें। भगवान् शंकरने कहा कि कहीं आने-जानेकी जरूरत नहीं है। सभी प्रेमभावसे यहीं प्रार्थना करें तो प्रभु यहीं प्रकट हो जायँगे—

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥
पुर बैकुंठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
तेहिं समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १।१८५।१-२, ४-५)

—और हुआ भी यही, सभी देवोंने जैसे ही प्रेमपरिपूर्ण होकर आर्तभावसे प्रार्थना की, वैसे ही वाणीरूपसे भगवान् प्रकट हो गये। आकाशवाणी हुई—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बंस उदारा॥

(रा०च०मा० १।१८७।१-२)

शंकरजीके कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रेममें ही परमात्माको प्रकट करनेकी असीम शक्ति है, निराकारको नराकार बनानेकी शक्ति है। प्रेमके अभावमें सारी योग्यताएँ धरी-की-धरी रह जाती हैं। भगवती श्रुति भी इसी सिद्धान्तका अनुमोदन करती हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥

(कठोपनिषद् १।२।२३)

यहाँ आत्माका अर्थ परमात्मा लेना चाहिये अर्थात् परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न शास्त्र-श्रवणसे प्राप्त किया जा सकता है। बल्कि जिसको यह स्वीकार कर लेता है, उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और ये स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनको पानेके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके प्रेमके लिये छटपटाते रहते हैं। इसी निःस्वार्थ प्रेमपर वह परमात्मा रीझ जाता है। पुनः कृपापूर्वक वह अपने प्रेमी भक्तको अपना लेता है।

संत नानकदेवने भी यही कहा था कि जो उस परमात्मासे प्रेम करता है, वही उसे पा सकता है—

'जिन प्रेम कियो तिनहि हरि पायो।'

कबीर साहब तो ढाई अक्षरके प्रेमको ही ज्ञानकी पराकाष्ठा मानते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रेमके बिना शास्त्रका कोरा ज्ञान बोझ ढोनेके समान है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेमका पढ़ै सो पंडित होइ॥

प्रेम-जैसा अमूल्य पदार्थ पाकर प्रभु भक्तोंके अधीन हो जाते हैं। शबरी, निषाद, गोप-गोपी, वनवासी, रीछ, बंदर आदिने प्रेमसे ही परमात्माको अपने अधीन कर लिया।

शबरीके प्रेमसे खिंचकर रामजी उसकी कुटियामें आये। अचानक श्रीराम-लक्ष्मणको अपनी कुटियामें देखकर शबरी घबरा गयी, अब कैसे इनकी पूजा करूँ, कैसे स्वागत करूँ? मैं तो कुछ भी नहीं जानती। अधम नारीको पूजा करनेका अधिकार भी तो नहीं है। तुलसीदासजीने उसकी भावदशाका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

पानि जोरि आगें भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी॥

(रा०च०मा० ३।३५।१-२)

शबरीके घरमें पदार्थोंका नितान्त अभाव है, परंतु अपने रामका दर्शन करते ही वह प्रेमसे पुलकित हो जाती है। गोस्वामीजीके शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

'प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥'

(रा०च०मा० ३।३५।१)

प्रीतिकी पराकाष्ठा देखकर स्वयं भगवान् ही शबरीकी पूजा करने लगे। भगवान्ने भक्तिका रहस्य शबरीके समक्ष खोलकर रख दिया—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥

(रा०च०मा०३।३५।४—६)

यहाँ भक्तिको प्रीतिका पर्याय मानना चाहिये। प्रेम जब परमात्माके प्रति समर्पित हो जाता है, तब उसीका नाम भक्ति हो जाता है। शबरी अत्यन्त श्रद्धासे प्रभुको कन्द-मूल-फल आदि समर्पित करती है। प्रभु बड़े प्रेमके साथ उन फलोंको ग्रहण करते हैं। केवल ग्रहण ही नहीं करते, बल्कि बारम्बार उन फलोंके स्वादका बखान भी करते हैं—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(रा०च०मा० ३।३४)

गोस्वामीजी कहते हैं कि उन कन्द-मूल-फलोंमें केवल रस ही नहीं भरा है, बल्कि वे 'सुरस' हैं। सांसारिक सभी रसोंसे जब उपरति (विरति) हो जाती है, तब जीवनमें 'सुरस' का आधान होता है। शबरीका जीवन तो केवल 'रामरस' से भरा है। यही कारण है कि शबरीद्वारा अर्पित कन्द-मूल-फल 'सुरस' हैं। उन्हें बारम्बार माँगकर खानेमें भी प्रभुको तृप्ति नहीं मिलती है—

'केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात॥'

(गीतावली ३।१७।६)

उन सुरस फलोंमें प्रभुको इतना अधिक आनन्द आया कि जहाँ-कहीं भी जाते हैं, वहीं शबरीके आतिथ्यकी बड़ाई करते हैं—

घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे, भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥

(विनय-पत्रिका १६४।४)

अपने घरमें, गुरुगृहमें, मित्रोंके घरमें तथा ससुरालमें जहाँ-कहीं भी भोजनका प्रसंग आया तो श्रीरामने शबरीके

कन्द-मूल तथा फलोंकी बड़ाई की। किसीने तुलसीदासजीसे पूछा कि भगवान्‌की ऐसी रीति क्यों है? भोजन तो किसी औरके घरमें करें और बड़ाई किसी औरकी करें तो गोस्वामीजीने बहुत सुन्दर उत्तर दिया—

जानत प्रीति-रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।
रन पर्‌यो बंधु बिभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई॥
× × ×
तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जो न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुनता गँवाई॥
(विनय-पत्रिका १६४)

वस्तुतः भगवान्‌को पुरुपार्थ, प्रभाव अथवा वैभवसे नहीं पाया जा सकता, बल्कि वे तो निःस्वार्थ प्रेमके बन्धनमें स्वयं बँध जाते हैं—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
× × ×
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन परमात्माका वेदोंने 'नेति-नेति' कहकर वर्णन किया है तथा जो मुनियोंके लिये भी अगम हैं, उन्हें एकमात्र प्रेमके ही बलपर प्राप्त किया जा सकता है। वे प्रभु प्रेमसे भरे किरात बालकोंकी गँवारू बातोंको पितृवत्सल-भावसे यदि सुन रहे हैं तो इसका प्रमुख कारण है उनका निश्छल प्रेम—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥
(रा०च०मा० २।१३६)
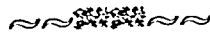
लीला-दर्शन—

कण्व ब्राह्मणपर अद्भुत कृपा

मधुवनके उस शान्त आश्रमकी ओर किसीका भी ध्यान आकर्षित न होता था। सघन वनश्रेणी उसे अपने अन्तर्हृदयमें छिपाये रखती थी। अभेद्य कण्टक-जाल क्षीण पगडंडियोंके द्वार रोके सर्वत्र फैले हुए थे, किसीको भी सहसा प्रवेश नहीं करने देते थे। इसीलिये आश्रमके एकमात्र अधिवासी कण्व नामक ब्राह्मणकी तपस्यामें कोई विघ्न उपस्थित न हुआ। पाँच वर्षोंसे ब्राह्मणकी नारायण-अर्चना निर्बाध चल रही थी।

कण्व जब शिशु थे, उस समय भी उनकी शैशव-क्रीडामें नारायण सने हुए थे। जब गृहस्थाभार सँभाला, तब वहाँ भी प्रत्येक चेष्टामें नारायण भरे थे और अब तो अवस्था ढल गयी थी। एकमात्र नारायणका ही अवलम्बन किये हुए ब्राह्मणदेव सर्वथा एकान्तसेवी होकर नारायणमें लीन-से हो रहे थे। समीपका अरण्य जो कुछ भी कन्द-मूल-फल उन्हें देता, उसीको लेकर वे नारायणको अर्पित कर देते, अर्पित प्रसाद पाकर स्वयं भी तृप्त हो जाते। आश्रमसे दस हाथपर ही झर-झर करता हुआ एक जलस्रोत बहता था, वह कभी सूखता न था। अतः जलके लिये भी उन्हें दूर जानेकी आवश्यकता न थी।

इससे पूर्व कण्व और तो कहीं नहीं, केवल व्रजेश्वर नन्दके घर जाया करते थे। व्रजराज एवं व्रजरानी—दोनोंकी ही कण्वके प्रति बड़ी श्रद्धा थी। दोनों अपने हृदयकी बातें कण्वको बताया करते। कण्वकी गृहस्थीका निर्वाह भी व्रजेश्वरके द्वारा दिये हुए अयाचित दानपर ही अवलम्बित था, किंतु पाँच वर्ष हो गये, भजनानन्दमें जगत्‌को भूले हुए कण्व व्रजेश्वरके घर भी न गये। इसीलिये नन्दनन्दनके प्रकट होनेकी बात भी कण्वको ज्ञात नहीं। आज द्वादशीके दिन इष्टदेवपूजनके निमित्त पुष्पचयन एवं कन्द-मूल आहरण करते हुए वे अचानक कालिन्दी-तटपर—गोकुलके घाटपर आ निकले। वहाँ कुछ ग्वालिनें व्रजपुरकी ओरसे आयी हुई थीं, मधुपुरी जा रही थीं, परस्पर श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहर बाल्यचेष्टाओंकी चर्चा कर रही थीं। ईशप्रेरित उनके कुछ शब्द कण्वके कानोंमें प्रवेश कर गये। वर्षोंसे कण्वने ग्राम्यचर्चा सर्वथा नहीं सुनी थी। ग्रामवासियोंके दर्शनतक उन्होंने इने-गिने बार ही किये थे। पर आज ग्वालिनोंके कण्ठसे निकली हुई वह स्फुट ध्वनि कर्णरन्ध्रोंमें बरबस

कण्वका अङ्ग-प्रत्यङ्ग नाच उठा। रत्नसिंहासनसे वे हठात् उठ खड़े हुए। व्रजेश एवं व्रजरानी ब्राह्मणकी मुखमुद्रा देखकर किञ्चित् आश्चर्यमें पड़ गये हैं; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दपर पुनः एक मुसकान छा जाती है तथा तत्क्षण ही ब्राह्मणका भाव बदल जाता है। वे पूर्ववत् आसनपर बैठ जाते हैं। यह नन्दपुत्र अप्रतिम सुन्दर है, यह वृत्ति तो अभी भी स्पन्दित हो रही है; पर इसके अतिरिक्त कण्वकी अन्य अनुभूतियोंपर मानो किसीने यवनिका गिरा दी।

'तो व्रजेश! अब चलता हूँ, मध्याह्न उपस्थित है; ओह! आज बड़ा ही अतिकाल हो गया', पुनः आसनसे उठते-उठते कण्वने कहा। किंतु व्रजरानीने चरण पकड़ लिये और बोलीं—'देव! आज द्वादशीका पारण यहीं करनेकी कृपा करनी पड़ेगी। इतने दिनोंके पश्चात् तो आप पधारे हैं और इतना विलम्ब हो गया है; आज तो मैं पारण किये बिना कदापि जाने न दूँगी।' यह कहकर व्रजरानीने कण्वके चरणोंमें अपना सिर रख दिया। ब्राह्मणने स्वयं आहरण किये हुए वन्य कन्द-मूलोंसे उदरपूर्ति करनेका पाँच वर्षोंसे व्रत ले रखा था; पर विशुद्ध श्रद्धाकी ही जय हुई, उन्होंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

यशोदारानीने तुरंत अतिशय शीघ्रतासे पहले स्वयं स्नान किया, फिर नन्दोद्यानसे संलग्न एक गोशालामें गयीं। गोशालाके एक निर्वात अंशमें गोबरका चौका लगाया, चूल्हेका निर्माण किया, गोबरसे लीपकर चूल्हेका भी संस्कार किया; फिर स्वर्णकलशीमें यमुनाजल भर ले आयीं, नवीन पवित्र सुन्दर मृत्पात्रमें पद्मगन्धिनी गायका दूध दुहकर रख दिया; स्वर्णथालमें शालितण्डुल, रत्नजटित हेम-कटोरेमें शर्करा, मणिनिर्मित कटोरीमें कर्पूर भरकर ले आयीं; घृत, एला, लवङ्ग, केसर, शुष्क सुगन्धित काष्ठ, करछी आदि समस्त रन्धनसामग्री वहाँ एकत्र कर दीं। आधी घड़ी समाप्त होते-न-होते कण्वके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं और भोजन बनानेके लिये प्रार्थना करने लगीं।

कण्व व्रजरानीके पीछे-पीछे चलकर रन्धनशालामें चले आये। आ तो गये, पर मनकी विचित्र दशा है। जितनी देर व्रजेश्वरी रन्धनकी व्यवस्था कर रही थीं, उतनी देर वे निर्निमेष नयनोंसे श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य, उनकी मनोहर बाल्यभङ्गिमा निहारते रहे हैं। उनकी आँखोंमें नन्दनन्दनका अतुल सौन्दर्य सब ओरसे भर गया है। कण्वको रन्धनशाला नन्दनन्दनमयी प्रतीत हो रही है। उन्हें चूल्हा नहीं दीखता, चूल्हेके स्थानमें अधरोंपर मन्द मुसकान लिये नन्दनन्दन खड़े दीखते हैं। स्वर्णकलशी, स्वर्णथाल, दुग्धपात्रमें नन्दनन्दन भरे प्रतीत हो रहे हैं; गोशालाकी भित्तिमें अगणित नन्दनन्दन नाचते दीख रहे हैं, द्वारको रुद्ध किये नन्दनन्दन खड़े हैं, गवाक्षरन्ध्र शतसहस्र नन्दनन्दनसे परिपूरित हैं। कण्वके हृदयमें एक रसमय झंझावात चल पड़ता है। वे सोचने लगते हैं—'मेरी ऐसी दशा क्यों हो गयी? मेरी आँखोंमें क्या हो गया?'

जबतक श्रीकृष्णजननी रन्धनशालामें उपस्थित थीं, तबतक रह-रहकर वे तो दीख जाती थीं। किंतु मर्यादाकी रक्षाके लिये—ऐसे पवित्र ब्राह्मणके भोजनपर मेरी छाया न पड़े, इस भावनासे जब वे कण्वको प्रणाम कर चली गयीं, तब केवल नन्दनन्दनकी छबि ही बच रही। यहाँतक कि जब कण्व अपनी तलहथी उठाकर आँखोंके सामने करते तो तलहथीमें भी नन्दनन्दनकी छबि अङ्कित दीखती; अपने उत्तरीय एवं कटिवस्त्रमें भी नन्दनन्दनका सजीव प्रतिचित्र झलमल-झलमल कर रहा था। इसीलिये कुछ देरतक तो कण्व किंकर्तव्यविमूढ़-से हुए शान्त जडवत् बैठे रहे। पर उसी समय मानो हृदयकी इष्टमूर्ति एक बार पुनः बोल उठी—'कण्व! भोग अर्पण नहीं करोगे? अतिकाल हो रहा है, मुझे क्षुधा लग रही है।' इस प्रकार किसी अचिन्त्य प्रेरणासे जगाये हुए-से कण्वका यह आवेश किंचित् शिथिल हुआ और वे रन्धनमें लगे। अग्नि प्रज्वलित कर, उन्होंने उक्त द्रव्योंसे सुन्दर स्वादु खीर प्रस्तुत करके खीरको स्वर्णथालमें ढाल दिया। तालवृन्तकी बयार देकर वे उसे शीतल करने लगे। भोजनके योग्य शीतल होते ही उसपर तुलसीमञ्जरी रख दी तथा विधिपूर्वक इष्टदेवको भोग समर्पित कर, सामने वस्त्रका आवरण डालकर अपने नेत्र मूँद लिये—

'घृत मिष्टान्न खीर मिस्रित करि परुसि कृष्ण-हित ध्यान लगायो।'

(सूरदास)

किंतु मानसिक भावना समाप्त होनेपर जब कण्वने आँखें खोलीं और देखा तो वे अवाक् रह गये—

भी किंचित् रोषका आभास-सा छा गया। गम्भीर स्वरमें उन्होंने पुकारा—'व्रजेश्वरि! इधर आओ।'

इधर, ब्राह्मणकी व्यवस्था करके व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रके पास चली गयी थीं। श्रीकृष्णचन्द्र तो खेलमें उन्मत्त हो रहे थे। अतः व्रजरानी—जैसा दान व्रजेशने पुत्रके जन्मोत्सवपर प्रति ब्राह्मणको दिया था, उससे अधिक कण्वको देनेका आदेश देने, उन-उन वस्तुओंको स्वयं अपने हाथों सहेजने—चली गयीं। यह कार्य करके वे पुनः श्रीकृष्णके समीप आयीं! पर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ न मिले। अतिशय शीघ्रतासे पूछकर गोशालाकी ओर अग्रसर हुईं; क्योंकि उसी ओर अभी-अभी कुछ क्षण पहले दासियोंने श्रीकृष्णचन्द्रको जाते देखा था। इधर वे द्वारपर आयीं और उधर कण्वने पुकारा। कण्वके रूक्ष स्वरको सुनते ही नन्दरानीका हृदय धक्-धक् करने लगा। दौड़कर भीतर प्रवेश कर गयीं। उनके आते ही कण्व ग्लानिपूर्ण स्वरमें बोल उठे—'यशोदारानी! तुम्हारे पुत्रने क्या किया है, देख लो।'

'नीलमणि! नीलमणि! मेरे लाल! तुमने यह क्या अनर्थ कर डाला'—घटनासे अत्यन्त व्यथित व्रजरानी इससे अधिक बोल न सकीं। पर श्रीकृष्णचन्द्र ऐसी सरल दृष्टिसे जननीकी ओर, ब्राह्मणकी ओर देख रहे हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस भोली चितवनसे कण्वका रोषाभास तो उड़

व्रजेश्वरी रो पड़ीं। कण्वके समक्ष घुटने टेककर, हाथ जोड़कर रोती हुई बोलीं—'देव! इस बालकने जो अपराध किया है, उसका यत्किंचित् मार्जन तभी सम्भव है, जब आप पुनः खीर बनाकर मेरे घर पारण कर लें। अन्यथा मुझ अभागिनीके भाग्यमें न जाने क्या लिखा है·····।' व्रजरानीके इस निष्कपट क्रन्दनके आगे परम भागवत कण्व पुनः झुक गये। पुनः रन्धनव्यवस्था कर देनेकी अनुमति कण्वसे नन्दरानीने ले ही ली।

व्रजेश्वरीने पुनः स्नान किया। पार्श्ववर्ती एक अन्य गोशालाका सम्मार्जन कर पुनः नवीन स्वर्णकलशीमें वे जल भर लायीं। फिरसे शालितण्डुल, स्वर्णथाल, दुग्ध, शर्करा, केसर, घृत आदि समस्त सामग्री एकत्रित कर ब्राह्मणको वहाँ ले गयीं। कण्व भी खीर प्रस्तुत करनेकी योजनामें लगे। पर उन्हें नन्दनन्दनका खीरसे सना मुखारविन्द भूल नहीं रहा था। कितनी बार कण्वने चेष्टा की कि इस ओरसे वृत्ति समेटकर इष्टचिन्तनमें तन्मय कर दें, पर मन इस झाँकीसे बँधा प्रतीत होता था। इसीलिये रन्धनकार्यमें भी व्यतिक्रम हो रहा था। तण्डुल-निक्षेपसे पूर्व उन्होंने दुग्धमें शर्करा डाल दी, फिर उसमें घृतपात्र उड़ेल दिया। अब स्मरण आया कि 'अरे! तण्डुल छोड़ना तो भूल ही गया, खीर बनेगी कैसे। यह सोचकर आवश्यकतासे

अधिक तण्डुल डाल दिये। फिर भी जैसे-तैसे खीर बन ही गयी एवं जगन्नियन्ताकी इच्छासे परम सुन्दर—सुस्वादु ही बनी। खीरकी सुवाससे गोशाला सुवासित होने लगी। कण्वने पहलेकी ही भाँति विधिपूर्वक भोग धराया और भोग धरकर वे इष्टचिन्तनमें निमग्न हो गये।'

इधर नीलमणिसे अतिशय शङ्कित होकर जननी यशोदा उन्हें गोशालासे बाहर ले आयी थीं, तोरणद्वारके समीप अलिन्दपर आम्रकी सुशीतल छायामें नीलमणिको गोदमें लिये बैठी थीं। निश्चय कर चुकी थीं कि जबतक ब्राह्मणका पारण न हो लेगा, तबतक इसे छोड़कर मैं कहीं जाऊँगी ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी जननीकी गोदमें शान्त होकर बैठे थे। सामने कुछ मयूर नृत्य कर रहे थे, उन्हींकी ओर वे देख रहे थे। एक-दो बार मयूरोंको पकड़नेके उद्देश्यसे उठ खड़े हुए, पर जननीने जाने न दिया। किंतु कुछ ही देर बाद शीतल वायुके स्पर्शसे वे अलसाङ्ग होने लगे। देखते-ही-देखते जननीकी गोदमें निद्रित हो गये। नीलमणिको निद्रित देखकर जननी निश्चिन्त हो गयीं। मैयाने भी रात एकादशीका जागरण किया था तथा अलिन्दपर झुर-झुर करता हुआ सुखद शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन प्रवाहित हो रहा था। अतः जननीके नेत्र भी निमीलित होने लगे। जिस क्षण कण्व गोशालामें भोग समर्पित कर इष्टचिन्तनमें निमग्न हुए, ठीक उसी क्षण जननी श्रीकृष्णचन्द्रको वक्षःस्थलपर धारण किये तन्द्रामें—नहीं, नहीं हृद्देशमें नित्य विराजित अपने नीलमणिमें—लीन हो गयीं।

विशेष नहीं, कुछ ही क्षणोंका अन्तर रहा। पर पहले जागे श्रीकृष्णचन्द्र तथा जबतक जननीकी तन्द्रा टूटी, तबतक श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी दृष्टिसे उस पार गोशालामें—कण्वकी रन्धनशालामें पुनः प्रविष्ट हो चुके थे। अस्त-व्यस्त हुई जननी दौड़ी अवश्य, पर अब तो विलम्ब हो चुका था।

कण्वने अष्टोत्तरशत जप-संख्या पूर्ण होनेपर, इष्टदेवको मानसिक आचमनीय अर्पण करके आँखें खोलीं। खोलते ही पूर्वानुभूत दृश्य ही सामने दीख पड़ा, अवश्य ही इस बार शतगुणित माधुर्य लिये। ओह! अरुणाभ नयनाम्बुज हैं, पद्मरागनिबद्ध-व्याघ्रनखभूषित ग्रीवा है, मणिकिङ्किणीविभूषित कटिदेश है, नूपुर-शोभित चरणारविन्द हैं, प्रफुल्ल-नीलोत्पलविनिन्दित अङ्गकान्तिसे रन्धनशालाको उद्भासित करते हुए नन्दनन्दन पहलेकी भाँति ही आसनपर विराजित होकर खीर खा रहे हैं। कण्व मौन रहकर इस शोभाराशिकी ओर एकटक देखते ही रह गये।

यशोदारानीने भी देखा। पर वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं। एक बार ब्राह्मण-कोपानलसे रक्षा हो गयी, बार-बार थोड़े ही होगी—जननीके नेत्रोंके सामने अन्धकार-सा छा गया। इतनेमें व्रजेश्वर वहाँ आ पहुँचे। पुत्रके प्रथम अपराधकी बात वे नन्दरानीसे सुन ही चुके थे। इसीलिये भर्त्सना करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर बढ़े। पर आगे बढ़कर कण्वने उन्हें रोक दिया, साथ ही अत्यन्त मृदुल स्वरमें वे कहने लगे—'व्रजेश! इस बालकको कुछ भी कहनेसे मुझे मार्मिक पीड़ा होगी। सुनो! विश्वनियन्ताकी रुचि पूर्ण होने दो; वे नहीं चाहते कि तुम्हारे घर मेरा पारण हो। अब मुझे जाने दो, क्योंकि दिनका चतुर्थ प्रहर आरम्भ हो गया है; दिवाकर अस्ताचलगामी हों, इससे पूर्व आश्रममें मुझे पहुँच जाना चहिये, अन्यथा आज अरण्यमें पथ पा लेना असम्भव हो जायगा। तुम जानते ही हो, मैं कभी असत्यभाषण नहीं करता; मैं किंचित् भी रुष्ट नहीं हूँ। मेरे कारण तुम्हारे पुत्रका कोई भी अमङ्गल न होगा, तुम विश्वास करो।'

कहाँ तो मेरे नीलमणिका इतना गुरु अपराध और कहाँ ब्राह्मणदेवकी इतनी उदारवृत्ति—व्रजमहिषीके हृदयमें एक साथ हर्ष एवं विषादकी दो धाराएँ फूट निकलीं, वे सिसक-सिसककर रोने लगीं। उन्हें सिसकते देखकर कण्वने फिर कहा—'नन्दगेहिनी! मैं अन्तर्हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारे पुत्रका मङ्गल-ही-मङ्गल होगा और यदि तुम्हारे मनमें कहीं यह ग्लानि हो रही है कि ब्राह्मण विना पारण किये जा रहे हैं, तो लाओ, दहीके किंचित् कण मेरे हाथपर रख दो; आचमन करके, प्रभुको निवेदन कर उसीसे मैं व्रतका पारण किये लेता हूँ।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर नन्दरानीके मनमें साहस आ गया। वे बोलीं—'देव! किस मुँहसे निवेदन करूँ, पर आप मेरे स्वभावसे परिचित हैं। मैं जीवनभर इस दुःखको भूल न सकूँगी कि आप विना भोजन किये मेरे घरसे चले गये।' यह कहते-कहते व्रजरानीके नेत्रोंसे अनर्गल अश्रुप्रवाह चल चलता है। इसी समय कण्वकी दृष्टि मुखमें खीर लपेटे

यह धारणा ही नहीं कर सकतीं कि जगत्‌की जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य-तेज-इन्द्रियबल-मनोबल-शरीरबलसे युक्त हैं, क्षमासे सम्पन्न हैं, सौन्दर्य-लज्जा-विभूतिसे समन्वित हैं, सुन्दर-असुन्दर अद्भुत वर्णवाली हैं—वे सब-की-सब मेरे नीलमणिके ही रूप हैं।* उन्हें यह भान ही नहीं होता कि मेरी गोदमें रहते हुए ही ठीक उसी क्षण मेरा यह नीलमणि इन अनन्त रूपोंमें भी अवस्थित है, क्रीड़ा कर रहा है। उनके वात्सल्यरस-सुधासागरके अतल-तलमें डूबे हुए अपरिसीम ऐश्वर्यके रजःकण कभी ऊपर आते ही नहीं। आते होते तो भले वे जान पातीं कि व्रजेन्द्रके द्वारा यह निरोध व्यर्थ है, यहाँ निरुद्ध रहकर भी नीलमणि तो भीतर प्रकट है। वे तो सदा इस भावनासे ही भरी रहती हैं कि मेरा नीलमणि मेरा गर्भजात शिशु है, अबोध है। इसीलिये आज वे फूली नहीं समा रही हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें अभी-अभी व्रजेन्द्रने चञ्चल नीलमणिको रोक लिया और एक महान् अनर्थ होनेसे रक्षा हो गयी। अस्तु,

इधर इस बार जब कण्वके नेत्र खुले, तब दृश्य तो वही था—नन्दनन्दन भोग आरोग रहे हैं। पर इस बार कण्वके नेत्र, मन, बुद्धिपर लगा हुआ अनादि आवरण सर्वथा छिन्न-भिन्न हो चुका था। वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमें अब उन्हें संशय नहीं रहा। कण्व वहीं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें लोट गये। उनके नेत्रोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगा, इस निर्झरवारिसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरणयुगल प्रक्षालित होने लगे।

मानो किसी परम दिव्य वीणाके तार झंकृत हो उठे हों, इतने मधुर कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'कण्व! तुम मुझे देखनेके लिये अनेक जन्मोंसे लालायित हो। इसीलिये इस बार जब मैं यहाँ प्रकट हुआ, तब तुम्हारा भी इसी ब्रह्माण्डमें—इस मधुपुरीमें जन्म हो गया। मेरी माता, मेरे पिता तुम्हारे दृष्टिपथमें आ गये, इसीलिये तुम मेरा यह बाल्यरूप, बाल्यलीला देख सके।' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्रकी वह कमनीय झाँकी अन्तर्हित हो गयी। उसके बाद भी कण्व न जाने कितनी देर स्वेद, कम्प, स्तम्भ, पुलक आदि दर्शनजन्य सात्त्विक भावोंके प्रवाहमें बहते रहे। भावावेश जब किंचित् शिथिल हुआ, तब कण्वने श्रीकृष्ण अधरामृतसिक्त उस खीर-प्रसादको पहले अपने सिरसे लगाया, फिर कुछ अंश मुखमें रखा। इसके पश्चात् सारे अङ्गोंमें उस खीरको चुपड़ लिया। फिर जो अवशिष्ट रहा, उसे अपने उत्तरीय वस्त्रमें बाँध लिया तथा द्वार खोलकर बाहर चले आये।

व्रजेशने देखा—ब्राह्मणके अणु-अणुसे आनन्द झर-सा रहा है। दिव्योन्मादके लक्षण भी उनमें प्रत्यक्ष परिलक्षित हो रहे हैं। हाथ जोड़कर व्रजेन्द्र पूछते हैं, 'देव! पारण हो गया?' कण्व गद्गद कण्ठसे कहते हैं—'हाँ व्रजेश! हो गया, मैं अनन्त कालके लिये परितृप्त हो गया।' यह कहकर फिर वे कुछ बड़-बड़ करने लगते हैं। नन्द-दम्पति कुछ नहीं समझ पाते कि ब्राह्मण क्या कह रहे हैं। हाँ, इतना तो वे जान गये हैं कि कण्वको प्रसाद अर्पण करते समय प्रेमावेश हो गया है; उन्होंने इसीलिये अर्पित खीर अङ्गोंमें चुपड़ ली है। जो हो, ब्राह्मणकी उन्मत्तता उत्तरोत्तर बढ़ने लगती है। वे वहीं नन्दप्राङ्गणमें बारम्बार लोट-लोटकर अस्फुट स्वरमें आवृत्ति करने लगते हैं—

सफल जन्म, प्रभु आजु भयौ।
धनि गोकुल, धनि नन्द-जसोदा, जाकैं हरि अवतार लयौ॥
प्रगट भयौ अब पुन्य-सुकृत-फल, दीनबंधु मोहिं दरस दयौ।
बारंबार नंद कें आँगन, लोटत द्विज आनंदमयौ॥
मैं अपराध कियौ बिनु जानें, को जानें किहिं भेष जयौ।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत-बस, जसुमति-गृह आनन्द लयौ॥

---
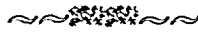
* स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः। आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मानं संयच्छति च पाति च॥
विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम्। सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम्॥
आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य कालः स्वभावः सदसन्मनश्च। द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्नः॥
अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च। स्वर्लोकपालाः खगलोकपाला नृलोकपालास्तललोकपालाः॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथाः।
ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्राः। अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशाः॥
यत्किं च लोके भगवन्महस्वदोजःसहस्वद्बलवत्क्षमावत्। श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम्॥
(श्रीमद्भा० २।६।३८-३९, ४१-४४)

है, इस तथ्यको लोग जल्दी स्वीकार नहीं करते। सभी लोग अपने-अपने प्रेमकी चर्चा करते हुए प्रश्न कर बैठते हैं कि यदि प्रभु प्रेमसे प्रकट होते हैं तो हम उन्हें प्रेमसे बुलाते हैं, फिर भी वे हमारे सम्मुख क्यों नहीं आते? क्या हमारा प्रेम प्रेम नहीं है? आखिर वह प्रेम कैसा है, जिसके द्वारा प्रभु प्रकट हो जाते हैं? वे उस प्रेमकी परिभाषा पूछ बैठते हैं, जिसके द्वारा प्रभुका प्राकट्य सम्भव होता है।

विभिन्न आचार्यों और संतोंने भक्तोंकी इस जिज्ञासाका यथाशक्ति समाधान करनेका प्रयास किया है। प्रेमका शाब्दिक अर्थ जितना आसान है, उसका भावनात्मक अर्थ उतना ही कठिन है। प्रेमको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि प्रियका भाव ही प्रेम है। अमरकोषमें—'**प्रेमा-प्रियता-हार्दम्**' और स्नेह शब्दको प्रेमका पर्यायवाची कहा गया है। मेदिनीकोशमें नर्मको प्रेमका पर्याय कहा गया है।

भावनाके स्तरपर प्रेम अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार गूँगा फलके आस्वादका वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रेमको भी परिभाषित नहीं किया जा सकता। प्रेमका आस्वाद अनुभवगम्य है। प्रेमभाव वात्सल्य, दास्य तथा सख्य आदि भावोंसे भिन्न और विलक्षण है। संतोंने तो यहाँतक कहा है कि प्रेम भगवान्का साक्षात् स्वरूप है। भगवान् स्वयं प्रेममय हैं और प्रेम करने योग्य हैं तथा भगवान्को प्राप्त करनेका साधन भी प्रेम ही है। इस प्रकार प्रेम साधन और साध्य दोनों ही है। भगवान् ही प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद हैं।

गोस्वामीजीसे भक्त पूछते हैं कि श्रीरामके चरणोंमें प्रेम

यद्यपि प्रेम अनिर्वचनीय है, तथापि प्रेमका स्वरूप क्या है, इसे यत्किञ्चित् समझानेका प्रयास गोस्वामीजीने श्रीरामजीसे श्रीसुतीक्ष्णजीके मिलनके समय प्रस्तुत किया है—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई॥

(रा०च०मा० ३।१०।१, ३, १०—१३)

भगवत्प्रेमके चिह्नोंको श्रीमद्भागवतमें भी दर्शाया गया है। भगवान्के परम प्रिय भक्त श्रीप्रह्लादजी अपने साथी असुर बालकोंको भगवत्प्रेमका स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—'जब भगवान्के लीलाशरीरोंसे किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुपम एवं अद्भुत गुण और चरित्रोंको सुन करके अत्यन्त आनन्दके उद्रेकसे मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, आँसुओंके मारे कण्ठ गद्गद हो जाता है और वह संकोच छोड़कर जोर-जोरसे गाने-चिल्लाने तथा नाचने लगता है।

जिस समय वह ग्रह-ग्रस्त किसी पागलकी तरह कभी हँसता है, कभी करुण-क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे लोगोंकी वन्दना करने लगता है, जब वह भगवान्में ही तन्मय हो जाता है, बार-बार लम्बी साँस खींचता है और संकोच छोड़कर हरे! जगत्पते! नारायण! कहकर पुकारने लगता है, तब भक्तियोगके महान् प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं एवं

भगवद्भावकी ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मृत्युके बीजोंका खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लेता है। इस अशुभ संसारके दलदलमें फँसकर अशुभमय हो जानेवाले जीवके लिये भगवान्‌की यह प्राप्ति संसारके चक्करको मिटा देनेवाली है। इसी वस्तुको कोई विद्वान् ब्रह्म और कोई निर्वाण-सुखके रूपमें पहचानते हैं। इसलिये मित्रो! तुम लोग अपने-अपने हृदयमें हृदयेश्वर भगवान्‌का स्मरण करो।'*

यह प्रेम कैसे उत्पन्न होता है? इसे समझाते हुए भक्त-शिरोमणि प्रह्लादजी कहते हैं कि गुरुकी प्रेमपूर्वक सेवा, अपनेको जो कुछ मिले वह सब प्रेमसे भगवान्‌को समर्पित कर देना, भगवत्प्रेमी महात्माओंका सत्सङ्ग, भगवान्‌की आराधना, उनकी कथा-वार्तामें श्रद्धा, उनके गुण और लीलाओंका कीर्तन, उनके चरणकमलोंका ध्यान तथा उनके मन्दिर-मूर्तिका, दर्शन-पूजन आदि साधनोंसे भगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है—

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥
श्रद्धया तत्कथायां च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभिः॥

(श्रीमद्भा० ७।७।३०-३१)

प्रेमसे ही भक्ति आती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि भक्तिके लिये विश्वास आवश्यक है। बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती और बिना भक्तिके श्रीराम द्रवित नहीं होते तथा श्रीरामकी कृपाके बिना जीवको विश्राम (मोक्ष) नहीं मिलता—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(रा०च०मा० ७।९० (क))

भक्त काकभुशुण्डिजीसे श्रीरामचन्द्रजी अपने सिद्धान्त बतलाते हैं कि यद्यपि समस्त चराचर जीव मेरे द्वारा उत्पन्न किये हुए हैं, तथापि मुझे मनुष्य सर्वाधिक प्रिय हैं और मनुष्योंमें भी वे अपने दास सर्वप्रिय हैं, जिन्हें मेरे सिवाय कोई दूसरी आशा नहीं है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(रा०च०मा० ७।८६।४, ७, १०)

भक्ति और प्रेमके भाव तथा अभाव दोनोंको एक ही स्थानमें उपस्थित करनेवाला प्रसङ्ग महाभारतकालमें कौरवोंके दरबारमें उपस्थित होता है। युद्ध टालनेके लिये मध्यस्थरूपसे आये हुए भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधनादिके मधुर पक्वान्नोंकी उपेक्षा करते हुए भक्तराज विदुरके घरमें शाकका भोजन ग्रहण करते हैं। दुर्योधनके कारण पूछनेपर भगवान्‌ने कहा—'भोजन दो स्थितियोंमें किया जाता है या तो जहाँ प्रेम हो वहाँ या जब भूखके मारे प्राण जाते हों तब। प्रेम तो आपमें है ही नहीं और भूखा मैं हूँ नहीं'—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(महाभारत उद्यो० ९१।२५)

भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उन्हें तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल अथवा जल या जो भी वस्तु साधारण मनुष्योंको बिना किसी परिश्रम, हिंसा और व्ययके अनायास ही मिल सकती है, वह वस्तु मुझे अर्पण की जा सकती है। केवल उसमें प्रेमका भाव होना चाहिये। जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र-पुष्प, फल और जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि निष्कामप्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ—

---

* निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभिः कृतानि। यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गदं प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्। मुहुः श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रपः॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृतिः। निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मनः शरीरिणः संसृतिचक्रशातनम्। तद् ब्रह्म निर्वाणसुखं विदुर्बुधास्ततो भजध्वं हृदये हृदीश्वरम्॥
(श्रीमद्भा० ७।७।३४—३७)

अर्पण की जाय भगवान् उसे स्वीकार नहीं करते। भगवान्ने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार कर शुद्धभाववाले विदुरके घरपर जाकर भोजन ग्रहण किया। सुदामाके चिउड़ोंका बड़ी रुचिके साथ भोग लगाया और कहा कि हे सखे! आपके द्वारा लाया हुआ चिउड़ोंका यह उपहार मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। ये चिउड़े मुझको और मेरे साथ ही समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे—

नन्वेतदुपनीतं मे परमप्रीणनं सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः॥

(श्रीमद्भा० १०।८१।९)

भगवान्ने द्रौपदीकी बटलोईमेंसे बचे हुए सागके पत्तेको खाकर दुर्वासा एवं उनके शिष्योंसहित समस्त विश्वको तृप्त कर दिया था।

इसी प्रकार भगवान्ने गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये गये पुष्पको स्वयं वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया। रन्तिदेवके जलको ग्रहण करके उसे कृतार्थ किया। शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए फलोंका भोग लगाया। शबरीके

तव तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥

([illegible])

देवी गौरीकी आराधनाहेतु जनकपुरमें सीताजीने अनुरागका ही आश्रय लिया था और उतनेसे ही भगवती पार्वतीने प्रसन्न होकर जानकीजीको मनोभिलषित वर प्राप्त होनेका आशीर्वाद दिया था—*'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा', 'विनय प्रेम बस भई भवानी.....', 'मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो।'* (रा० च० मा० १। २२८ से २४६ तकका प्रसंग)

भगवान्की सर्वव्यापकता और प्रेमसे प्राकट्यके अनेक उदाहरण पुराणोंमें भरे पड़े हैं।

इस प्रकार सर्वव्यापक भगवान्की प्राप्तिका प्रेम ही एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। प्रेममें समर्पण है, उत्सर्ग है। प्रेमका रास्ता जितना सुगम जान पड़ता है, वास्तवमें उतना सुगम है नहीं। यह अत्यन्त कठिन मार्ग है। प्रेमकी साधनासे अनन्त जन्मोंके पापोंका समूल विनाश हो जाता है। गीताके अनुसार निष्काम कर्म ही भगवत्प्रेमका मूलाधार है।

लीला-दर्शन—

कन्हाईका पक्षी

आज एक पक्षीवाला आ गया नन्दग्राममें। एक ही पक्षी था इसके पास; किंतु इतना सुन्दर पक्षी तो इधर दीखता नहीं। मयूरकी कलँगीसे भी अत्यन्त सुन्दर कलँगी और सुरंग पक्षी। बालकोंके समान मधुर भाषामें छोटे-छोटे शब्द मानवभाषाके बोल लेता है। पक्षीवाला कहता था—'यह बहुत शुभ पक्षी है और अनेक बार इसकी भविष्यवाणियाँ सर्वथा सत्य होती हैं। यह आगम-ज्ञानी पक्षी है।'

पक्षीवाला ही कहता था कि यह हिमालयके बहुत ऊपरी भागमें—हिमक्षेत्रमें होता है। इसने भी यह पक्षी किसी दूसरेसे क्रय ही किया है। पक्षीके पतले छोटे पदोंमें पक्षीवालेने पतली कौशेयकी काली रज्जु बाँध रखी थी। पक्षी उसके करपर शान्त बैठा था। सम्भवतः उसे अपने बन्धनका आभास था। वह जानता था कि उड़नेका प्रयास व्यर्थ है।

शिशिरमें आज पर्वका दिन है। बालक आज गोचारणको नहीं गये हैं। सब गोप भी प्रायः एकत्र हो गये हैं व्रजराजके चौपालमें पक्षीको देखने तो फिर बालक घरोंमें कैसे रह सकते हैं।

कन्हाई अभी-अभी दौड़ा-दौड़ा आया है भवनमेंसे और बाबाके अङ्कमें बैठ गया है। दाऊ और भद्र बाबाके दाहिने-बायें सटे बैठे हैं। दूसरे भी शतशः बालक व्रजराजके ही समीप हैं।

'आप जो पूछेंगे, यह उसका उत्तर देगा।' पक्षीवालेने अपना दाहिना हाथ लम्बा किया, जिसपर पक्षी बैठा है।

'कनूँ! बेचारा पक्षी बँधा है।' देवप्रस्थने कन्हाईके कानोंके समीप मुख ले जाकर कहा—'दुःख पाता होगा।'

'बाबा! मैं पक्षी लूँगा।' कन्हाईने बाबाके मुखकी ओर मुख किया और उनकी दाढ़ीमें अपने दाहिने करकी अँगुलियाँ नचाता हुआ बड़े आग्रहसे बोला।

'तुम व्रजराजकुमारको अपना पक्षी दे दो!' बाबाके बोलनेसे पहले ही नन्दन चाचाने विचित्र अटपटे वेशवाले पक्षीवालेसे कहा—'तुम जितना चाहो, इसका मूल्य ले लो।'

'यह हिमप्रदेशका पक्षी है।' पक्षीवाला बोला—'यहाँ वसन्तमें ही मर जायगा।'

'नहीं मरूँगा!' पक्षी बोल उठा—'जिऊँगा, खूब जिऊँगा। मुझे विक्रय करो।'

'यह आगम-ज्ञानी है।' पक्षीकी ओर देखकर पक्षीवाला बोला—'यही जाना चाहता है तो कुमार इसे लें।'

कन्हाई बाबाकी गोदसे कूदकर दौड़ गया पक्षीवालेके पास। पक्षी उड़कर श्यामके करपर आ बैठा। पक्षीवालेने रज्जु पकड़ा दी। पक्षीवाला स्वप्नमें भी न सोच सकता हो इतने रत्न नन्दन चाचा भर लाये, गायको चारा देनेको जैसे लाये हों, उसी बड़े टोकरेभर चमकते रत्न। पक्षीवाला तो आँख फाड़े देखता रह गया। उसकी तो कई पीढ़ी बैठी खायँ इतना धन—व्रजराज-पौरिपर आकर भी कोई कंगाल रहा करता है!

'आप इसे छोड़ोगे तो उड़ जायगा।' पक्षीवालेने कन्हाईकी ओर देखकर कहा। श्यामने दाऊ दादाके करपर पक्षी बैठा दिया है और स्वयं उसके पैरकी रज्जु खोलने लगा है। बालक सब कन्हाईको घेरे खड़े हैं।

'नहीं भागूँगा!' पक्षी ही बोला—'ये बाँधे रहें तो, और खोल दें तो, मैं इनके पास ही रहूँगा। कइयोंके बन्धनमें पता नहीं कबसे हूँ। अब ये बाँधे रहें तो मुझे सुख ही है।'

'नहीं, बाँधूँगा नहीं तुझे।' कन्हाईने कहा। कृष्णका स्वभाव बाँधना नहीं है। यह बन्धन खोलता ही है—'तू रोटी खायगा?'

'यह केवल फल खाता है।' पक्षीवालेने बतलाया।

'खाऊँगा, तुम जो खिलाओ वही खाऊँगा।' पक्षीने पक्षीवालेको डाँट दिया—'अब तुम चुप रहो। जाओ! मैं इनका पक्षी हूँ।'

पक्षी रज्जु खुलते ही दाऊके करपरसे उड़कर श्यामके वाम स्कन्धपर बैठ गया। तोक दौड़कर रोटीका टुकड़ा लाया तो उसके हाथपर बैठकर नन्हीं चोंचसे तनिक-तनिक रोटी खाने लगा।

'मैया तेरे लिये स्वर्णपिंजरा लटका देगी। रातमें उसमें सो जाना और दिनमें मेरे साथ वनमें चलना।' कन्हाई पक्षी पाकर उसीमें तल्लीन है—'वनमें बहुत फल हैं—खूब मधुर फल। तू बच्चा देगा?'

'बच्चा!' पक्षी चौंका—'वह तो मेरी चिरैया अण्डा देती है। उसमें बच्चा निकलता है, बहुत दूर हिमालयमें कहीं होगी?'

'तू उसको बुला ला!' कन्हाईने कह दिया—'हम उसको भी रोटी देंगे, फल देंगे।'

'मैं जाऊँ?' पक्षीका स्वर उदास लगा—'मार्गमें पता नहीं कितने व्याध जाल बिछायेंगे। पता नहीं कितने लकड़ियोंमें गोंद लगाकर मुझे पकड़नेकी घात लगायेंगे। तुम मेरा ध्यान रखोगे? मैं तुम्हारा हूँ।'

'हाँ रखूँगा!' कन्हाईके नेत्र भी गम्भीर हो गये—'तू जा! अपनी चिरैयाको बुला ला।'

पक्षीने पंख फैलाये, फिर समेट लिये। फिर फैलाये, फिर समेट लिये। बारम्बार पंख फैलाता-समेटता रहा। उसका जी यहाँसे उड़कर कहीं अन्यत्र जानेका नहीं; किंतु इन व्रजराजकुमारका आदेश—इसे टाला भी तो नहीं जा सकता।

पक्षी उड़ा—बहुत देरतक वहीं फुर्र-फुर्र उड़ता रहा। दाऊ, कन्हाई, भद्र—सभी बालकोंके, बाबाके, गोपोंके सिरोंके पास उड़ता रहा। बड़ी देरमें वह ऊपर उठा और गगनमें जाकर सीधे उत्तर उड़ चला। उसे कोई फँसा पायेगा। वह कन्हाईका पक्षी है। कनूँ तो उसके अदृश्य होनेपर भी उसी दिशामें देख रहा है।

जतन अनेक किये सुख-कारन, हरिपद-बिमुख सदा दुख पायो।

(विनय-पत्रिका २४३।४)

नित्य रहनेवाला वास्तविक सुख तो प्रभु-चरणोंमें अनुराग रखनेसे ही मिलेगा। यही मानव-जीवनका परम लाभ है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने बताया भी है—

पावन प्रेम राम-चरन-कमल जनम लाहु परम।

(विनय-पत्रिका १३१।१)

प्रभुके ऐसे कृपापात्र भक्तोंको जिनका एकमात्र लक्ष्य प्रभु-चरणोंमें प्रेमकी प्राप्ति है और इसीके लिये जिनकी साधना है तथा जिनके लिये *'साधन सिद्धि राम पग नेहू'* ही सर्वोपरि साधन है, उन्हें श्रीरामचरितमानस (४।२३।७)-में बड़भागी कहा गया है। यथा—

सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।

रामकथाकी फलश्रुतिके सम्बन्धमें गोस्वामीजीकी उक्ति है—

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥

(रा०च०मा० १।१५।१०-११)

रघुकुलगुरु महर्षि वसिष्ठके अनुसार मानव-जीवनका परम लक्ष्य प्रभुपद-प्रीतिकी प्राप्ति है—

तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

(रा०च०मा० ७।४९।४)

इसीलिये वे श्रीरामसे यही एक वर माँगते हैं—

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

(रा०च०मा० २।१०२।७-८)

ऐसे ही भक्तोंके सम्बन्धमें भगवान् शिव जगत्-जननी पार्वतीसे कहते हैं—

धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥

(रा०च०मा० ७।१२७।२)

रामपदानुरागी मुनिश्रेष्ठ भरद्वाज भी इसी प्रकारकी प्रार्थना प्रभुसे करते हैं—

अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥

(रा०च०मा० २।१०७-८)

गोस्वामीजीकी दृष्टिमें एक ओर प्रभु-चरणोंमें स्नेह सकल सुमङ्गलोंका मूल है तो दूसरी ओर रामपद-प्रेमके अभावमें दारुण भवजन्य विपत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नहीं—

सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

(रा०च०मा० २।१८२, २०७)

तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

(विनय-पत्रिका ८१)

पुण्यपुञ्ज महाराज दशरथको भगवान् रामके पिता होनेका गौरव प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने पूर्वजन्ममें मनुरूपमें प्रभुसे *'सुत बिषइक तव पद रति होऊ'* के साथ *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥'*—का वरदान माँगा था। परिणामस्वरूप दशरथरूपमें

'सत्य प्रेम जेहि राम पद' की उपलब्धि हुई और एतदर्थ उन्हें *'सब प्रकार भूपति बड़भागी'* कहा गया। श्रीराम-चरणोंसे बिछुड़नेपर उन्होंने तृणवत् अपना प्रिय तन त्याग दिया—*'प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ'*। इस प्रकार उन्होंने *'नेह निबाहि देह तजि'* द्वारा अचल कीर्ति प्राप्त की। ऐसे धर्मपरायण प्रेमी पितासे भी अधिक ममता और पितृभावका प्रदर्शन प्रभुने अपने प्राणसहित स्वयंको प्रभु-चरणोंमें उत्सर्ग करनेवाले जटायुके लिये किया—

ऐसेहु पितु तें अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई॥
बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक-समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी॥

(विनय-पत्रिका १६४, १६६)

महान् भाग्यशाली दशरथका देह-त्याग तो पुत्र-वियोगमें हुआ, पर महान् भक्त जटायुने अपने शरीरको रामकार्यके लिये नि:स्वार्थभावसे त्याग दिया। इसलिये अंगदके शब्दोंमें यह बड़भागियोंमें परम श्रेष्ठ हो गया—

राम काज कारन तनु त्यागी। हरि पुर गयउ परम बड़ भागी॥

(रा०च०मा० ४।२७।८)

युवराज अंगद श्रीराम-चरणोंके अनन्य प्रेमी थे। अयोध्यामें राज्याभिषेकके बाद जब भगवान् अपने सखाओंको विदा करने लगे तो प्रभुपादपद्मोंसे बिछुड़नेकी भावी आशंकासे अंगद प्रभु-चरणोंमें ही बैठे रहे—

अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला॥

(रा०च०मा० ७।१७।८)

सभीके प्रस्थानोपरान्त अंगदने प्रभुसे विनती की—

मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥

(रा०च०मा० ७।१८।४)

नि:संदेह वालितनय श्रीअंगद बड़भागी हैं—

बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥

(रा०च०मा० ६।११।७)

प्रभु श्रीरामके चरणोंकी सेवामें सतत लीन, प्रभुके श्रेष्ठ दूत और अनन्य सेवक तथा बड़भागी हनुमान्‌जीका स्थान रामपदानुरागी भक्तोंमें सर्वोपरि है—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥

(रा०च०मा० ७।५०।८)

संतोंने और स्वयं श्रीहरिने मुक्तकण्ठसे उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

(रा०च०मा० ७। ५०। ९; १।१७)

किमि बरनउँ हनुमान की काय कांति कमनीय।
रोम रोम में रमि रहा, राम नाम रमनीय॥

हनुमान्‌जी प्रभुको अपने हृदयसे एक क्षणके लिये भी विस्मृत नहीं होने देते थे। प्रभुसे उन्होंने कहा था—*'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'* एतदर्थ वे सदैव सावधान और सचेष्ट रहते थे। श्रीरामके आदेशानुसार जब वे सीताजीकी खोजके लिये चले तो उन्होंने प्रभुको अपने हृदयमें बिठा लिया—*'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा॥'* मार्गमें अनेक विघ्न-बाधाओंसे जूझते हुए अपने हृदयमें रामको सँभालकर रखा—*'बार बार रघुबीर सँभारी'*। लङ्कासे लौटनेपर प्रभुने न केवल उन्हें पुत्ररूपमें स्वीकार किया, बल्कि उनके ऋणी भी हो गये—*'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'* हनुमान्‌जीकी नि:स्वार्थ सेवापर रीझकर श्रीरघुनाथजी अपने श्रीमुखसे उनके यशका बखान करते हैं—

महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना॥

(रा०च०मा० १।१७।१०)

श्रीरामचरितमानसमें गोस्वामीजीने बड़भागी भक्तोंकी जो शृंखला प्रस्तुत की है, उनमें सर्वाधिक अग्रणी श्रीभरतजी एवं श्रीलक्ष्मणजी हैं। जहाँ श्रीलक्ष्मण प्रभुके नित्यसांनिध्यमें रहकर श्रीरामपादारविन्दोंकी सेवा करते हैं—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥
जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा॥

और एकमात्र प्रभुके आश्रयपर ही भरोसा करते हैं—

मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

(रा०च०मा० २।७२।३—६)

वहीं श्रीभरतलालजी प्रभुसे अलग रहते हुए भी उनके चरणकमलोंको नित्य हृदयमें धारण कर उनकी सेवामें सतत संलग्न रहते हैं। भगवान्‌का स्वभाव तो कल्पवृक्षकी तरह है। वे भक्तकी इच्छाके अनुरूप उसके मनोरथको उसी रूपमें पूर्ण करते हैं।

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥

ऐसे श्रेष्ठतम भाग्यशाली भक्तके दर्शनसे प्रेम-विभोर हो मुनि कह उठते हैं—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

श्रीरामचरणोंमें अनुराग और तदर्थ खड्गधाराव्रतका निर्वाह भरतचरित्रमें जैसा मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विनय-पत्रिका (पद ३९)-में आता है—

जयति विबुधेश-धनदादि-दुर्लभ-महा-
राज-संम्राज-सुख-पद-विरागी।
खड्ग-धाराव्रती-प्रथमरेखा प्रकट
शुद्धमति-युवति पति-प्रेमपागी॥

ऐसे आदर्श भगवच्चरणानुरक्त विरक्त भक्तके पावन चरित्रको नियमपूर्वक सादर सुननेवाले प्राणीको सीय-रामपद-प्रेमकी प्राप्ति अवश्य होगी और भवरससे विरक्ति भी अवश्य होगी, ऐसी उद्घोषणा गोस्वामीजी करते हैं—

प्रभु श्रीरामके जिन चरणकमलोंकी धूलके स्पर्शसे पाषाणमूर्ति अहल्या छविमय देह धारण कर अतिशय बड़भागिनी हो गयी—

रामपद-पदुम-पराग परी।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छविमय देह धरी॥

(गीतावली १।५७)

अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥

(रा०च०मा० १।२११ छं०)

—वे ही परम पावन श्रीहरिचरण हम जीवोंकी जड़ता दूर कर हमें चैतन्य प्रदान करें। इस निमित्त हम संतशिरोमणि तुलसीदासजीके स्वर-में-स्वर मिलाकर श्रीरघुनाथजीसे प्रार्थना करें—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जड़ताई॥
चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥

(विनय-पत्रिका १०३)

प्रेमी जादूगर

एक विचित्र जादूगर है। सुना है, वह अन्य जादूगरोंसे भिन्न विलक्षण खेल दिखाता है। बड़ा मनोरम, अतीव आकर्षक। और शुल्क क्या लेता है उसका? बस, प्रेम! रुपये-पैसे तो वह पहचानता ही नहीं। इसीलिये कोई जादू-कम्पनी भी वह नहीं चलाता। वह ढूँढ़-ढूँढ़कर केवल अपने प्रेमियोंको ही जादू दिखाता है। बड़ा प्रेमी है वह; बड़ा सुन्दर है। मोह लेता है अपने प्रेमसे, अपने सौन्दर्यसे।

जी हाँ, उसमें सौन्दर्य है और प्रेम है। यही उसका मन्त्र है। इसीसे वह जादूका खेल करता है। सौन्दर्य ऐसा कि उसकी कल्पना भी आप न कर सकेंगे। और प्रेम? प्रेम तो ऐसा कि विषसे भी दाहक, किंतु अमृत-तुल्य।

विषसे आपको डर लगता है क्या? डरिये नहीं। इससे आपके प्राणोंको भय नहीं। बहुत हुआ तो आपको उस क्रीड़ा-प्रेमीके प्रेममें उन्मत्त हो नाचना पड़ेगा या सब कुछ रहते हुए भी उसके वियोगमें तड़पना पड़ेगा। किंतु इससे क्या? यह तो आपके लाभके लिये ही करेगा वह। इससे आप उसे अधिक-से-अधिक चाहेंगे और वह भी आपको अधिकाधिक अपनायेगा।

यह सब जादूका खेल क्यों खेलता है वह? जानते हैं? आपको अपनानेके लिये और अपनोंकी सँभाल करनेके लिये। वह हर आदमीको अपनाना चाहता है। इसके लिये उसका सान्त्वनापूर्ण आमन्त्रण भी है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

और उसकी शरण भी बड़ी ही सुखदायिनी है—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

(रा०च०मा० ४।१७।१)

तो क्या, आप भी उसकी शरण जाना चाहते हैं? बता दूँ? उसके नाम लिख लीजिये, कागजपर या हृदयपर। बहुत-से नाम हैं उसके। बहुत ही छोटे-छोटे। सभी-के-सभी एकशब्दी। याद करनेकी भी सुविधा। लीजिये, तो नोट कर लीजिये—दो-चार नाम—राम, कृष्ण, हरि, विष्णु, शिव। जी हाँ, यही उसके नाम और यही उसके पूरे पते हैं। चाहे जिस नाम-पतेसे आप उसके पास जा सकते हैं या उसे खुद अपने ही पास बुला सकते हैं।

और हाँ, एक बात याद रखें। जादू देखनेकी अभिलाषासे आप उसके पास न जायँ। इससे तो आपको जादूसे प्रेम होगा, उस जादूगरसे नहीं। फिर, जबतक आप उस जादूगरसे प्रेम नहीं करेंगे, तबतक वह आपसे मिलेगा ही नहीं। जादूके प्रेमियोंको वह नहीं मिलता, परंतु अपने प्रेमियोंको तो वह सदासे दर्शन देता आया है—उनसे बड़े प्रेमसे मिलता आया है, उन्हें रंग-बिरंगे खेल दिखलाता आया है। कभी धन्नाके खेतमें बिना बीज गेहूँ उगाया, तो कभी दुर्वासाके शिष्योंकी बिना भोजन किये ही उदर-पूर्ति की। कभी सुदामाकी मड़ैयाको महल बनाया, तो कभी पत्थर-शिलाको सुन्दरी अहल्या बनाया। उधर प्रह्लादके लिये अग्निको हिम बना दिया, तो इधर मीराके लिये विषको भी अमृत कर दिया।

जी, तो बड़े ही मनोरम खेल हैं उसके। किंतु देखनेको मिलेंगे ये खेल उसको ही, जो खेलसे प्रेम नहीं करता, उस खिलाड़ीसे ही प्रेम करता है। वह अपने प्रेमियोंको तो प्रेमानुरूप खेल दिखाता ही रहता है।

वह बालक-रूपमें था। माता कौसल्याने उसे पालनेमें सुला दिया और खुद कुलदेवकी पूजामें बझ गयी। किंतु यह क्या? कुलदेवके लिये बनाया गया पकवान तो बैठकर 'राम' उड़ा रहा था। माने दौड़कर देखा तो उसका राम पालनेमें ही सो रहा था। वह आश्चर्यमें पड़कर सोचने लगी—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा॥

(रा०च०मा० १।२०१।७)

किंतु यह तो उस जादूगरका साधारण खेल था। इसी तरह माता यशोदाने भी उसे शान्त रखनेके लिये ऊखलसे बाँधना चाहा; पर वह कब शान्त रहा है? क्रीड़ाके बिना उसे चैन कहाँ? उसने ऊखलको लुढ़काकर वृक्षोंसे टकरा दिया, जिससे वृक्ष भी धराशायी हो गये और उनमेंसे दो देवता निकल आये!

अपने प्रेमीको कौन नहीं रिझाना चाहता? सभी चाहते हैं, वह भी चाहता है। एक दिन शृङ्गार-सुसज्जित राधिका

भी उसे रिझाने निकली थी; किंतु उस नटवरने सौन्दर्यका कैसा जादू किया?—भिखारीदास लिखते हैं—

जेहि मोहिबे काज सिंगार सज्यो
तेहि देखत मोह में आइ गई।
न चितौनि चलाइ सकी, उनहीं की
चितौनि के घाय अघाइ गई॥
बृषभानु-लली की दसा सुनो दास जू
देत ठगौरी ठगाइ गई।
बरसाने चली दधि बेचिबे को
तहँ आपु हि आपु बिकाइ गई॥

इसमें आश्चर्य ही क्या है? जादूगर तो जादूगर ही है। विश्वविमोहन कामदेव भी मात खाता है उसकी सुन्दरतापर। वह बहुरूपिया भी है। सुन्दरताका स्वाँग क्या वह नहीं रच सकता? अरे, वह क्या-क्या रूप नहीं बना सकता! वह सब कुछ बना सकता है, सब कुछ बन सकता है। तुलसीका चौकीदार, विद्यापतिका कमकर, नरसीके लिये सेठ और भगवानप्रसादके लिये डिप्टीसाहब बननेमें उसे जरा भी देर नहीं लगती। एक साथ अनेक रूप भी बना सकता है; उससे मिलनेके लिये प्रेमियोंकी भीड़ चाहिये।

अयोध्याकी प्रजा प्रेमोन्मत्त होकर उससे मिलनेके लिये दौड़ी तो उसने सबमें मिलनोत्कण्ठा देखकर एक खेल किया—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहिं कृपाला॥
कृपा दृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥

अपने प्रेमियोंकी भीड़में हर एकसे मिलनेके लिये, हर एक प्रेमीकी प्रेम-पीड़ा शान्त करनेके लिये वह अमितरूपमें प्रकट होकर एक ही साथ सबसे मिल लिया। सबके मनमें एक ही समान प्रेम जो उमड़ रहा था। और उसकी तो प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

वह भी सबसे मिलनेके लिये उतावला हो उठा। अतः जितने प्रेमी, उतने ही वह।

प्रेमी कब किस जगह पुकार देगा उसे—इसके लिये वह चौकन्ना रहता है, प्रकट होनेके लिये तैयार रहता है। नामदेवजीने जो कुत्तेके पीछे उसकी पुकार लगायी तो कुत्ता भी भगवान् बन गया। पर कुत्ता तो सजीव था, वह तो काठ-पत्थरके खम्भेसे भी निकल आता है। और वह भी क्या, वह तो आपके शरीरके वस्त्रसे भी प्रकट हो सकता है। द्रौपदीका चीरहरण हो रहा था। उसने अपने पतियोंको पुकारा, सम्बन्धियोंसे सहायता माँगी, परंतु उसे सबसे निराशा मिली। अन्तमें उसने करुणानिधान द्वारकाधीशको पुकारा और करुणानिधानका तो यह व्रत ही ठहरा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

करुणासागरने शीघ्र ही जादूका खेल किया। साड़ीका ढेर लग गया और दुःशासनकी दस हजार हाथियोंकी ताकतवाली बाँहें पस्त पड़ गयीं, पर न साड़ीका अन्तिम छोर मिला, न चीरहरण हो सका!

तो देखा आपने? कैसा है वह जादूगर! वह प्रेमी है, 'प्रेम' ही है वह, प्रेम ही उसका जीवन है। चाहे जिस बहाने, जिस नाते प्रेम चाहिये उसे। आप भी उससे प्रेम करें, वह आपका बन जायगा। बस, मात्र आपका प्रेम पाकर ही वह अपनी जादुई बाँसुरी अपने होठोंपर रख लेगा। फिर तो आपका जीवन ही धन्य कर देगा वह अपने जादूसे; किंतु इसके लिये आप उससे प्रेम कीजिये, कोई नाता जोड़िये। गोस्वामीजीने कितने नाते जोड़े थे—उस प्रेमी जादूगरसे!—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

(विनय-पत्रिका ७९)

[प्रेषक—श्रीप्रशान्तकुमारजी सैनी]

रामु पुनीत प्रेम अनुगामी

(डॉ० श्रीवीरेन्द्रजी शर्मा)

भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासके दिव्य ग्रन्थ श्रीरामचरितमानसमें भगवती पार्वतीको परब्रह्म परमेश्वरके अवतार श्रीरामकी कृपा प्राप्त करनेके लिये अनन्य प्रेमकी महिमा बताते हुए भगवान् शंकर कहते हैं कि नाना प्रकारके योग, जप, दान, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करनेपर भी श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते जैसी कि वे निश्छल प्रेमसे द्रवित होकर करते हैं—

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
(रा०च०मा० ६। ११७ ख)

इसी बातको प्रकारान्तरसे सम्पुष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
(रा०च०मा० ७।६२।१)

रघुकुलगुरु वसिष्ठ मुनिने अयोध्यानरेश दशरथको यही रहस्य समझाते हुए बताया है कि अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीराम पवित्र प्रेमके अनुगामी हैं। इसीलिये तो वे प्रेमके वशीभूत होकर दशरथनन्दनके रूपमें अवतरित हुए हैं—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥
(रा०च०मा० २।४।७-८)

महाराज जनकने श्रीरामके स्वरूपका गुणगान करते हुए कहा है—हे रघुनाथजी! सुनिये, मेरे सौभाग्य और आपके गुणोंकी कथा कितनी ही कही जाय, समाप्त नहीं हो सकती। मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह केवल अपने इस विश्वास-बलपर कि आप थोड़े प्रेमसे ही प्रसन्न हो जाते हैं—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥
सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥
(रा०च०मा० १।३४१।४ से ३४२।४ तक)

श्रीरामने स्वयं अपने श्रीमुखसे कहा है कि जिस क्षण भी प्राणीका मन मेरी ओर आकर्षित हो जाता है, उसी उसके जन्म-जन्मान्तरोंके समस्त पापोंका नाश हो जाता मुझे मनकी पवित्रता और निश्छल प्रेम प्रिय हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तब
पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न का
जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सो
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भाव
(रा०च०मा० ५।४४।२-

जब भक्तके हृदयमें सात्त्विक, पवित्र भावोंका उद होता है, उसके मनमें इष्टदेवके प्रति निश्छल प्रेमव पारावार उमड़ता है, तब वह मनसा, वाचा, कर्मणा प्रेमम हो जाता है। उसका शरीर पुलकित और रोमाञ्चित हो उठत है, वाणी अवरुद्ध हो जाती है, नेत्र सजल हो जाते हैं त अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। भक्तकी पूरी देह शिथि हो जाती है, उसे अपनी सुधि नहीं रहती, पूर्ण आत्म विस्मृति हो जाती है।

यहाँ श्रीरामचरितमानसके कतिपय उन संदर्भों संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है, जिनमें अनुरागी भक्तों ऐसी ही भावपूर्ण स्थितिका चित्रण है—

(१) अहल्याजीका प्रभुप्रेम—श्रीरामजीके पावन चरण कमलोंका स्पर्श पाते ही, शापवश शिला बनी हुई ऋ गौतमकी पत्नी अहल्या तत्काल अपने वास्तविक रूप प्रकट हो गयी। अतिशय प्रेम और आनन्दके कार वह अधीर हो गयी। उसका शरीर पुलकित हो उठा। कण भर आया, मुखसे शब्द नहीं निकले और दोनों नेत्रों जलधारा बहने लगी—

भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥

(रा०च०मा० १।२१५।७-८; २१६।५; २१७।५)

(३) जनकपुरीके बालकोंका प्रेमभरा कौतुक— जनकपुरीमें ही जब बालकोंने श्रीरामको देखा तो प्रेमानन्दमें मग्न होकर वे धनुषयज्ञशाला दिखानेके बहानेसे बार-बार प्रभुजीके अङ्गोंका स्पर्श करने लगे। उनके शरीरमें रोमाञ्च और मनमें प्रीतिभाव समा गया—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥
सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥
सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥

(रा०च०मा० १।२२४।८ से २२५।१-२ तक)

(४) ग्रामवासियोंका प्रेममें अधीर होना—वनगमनके समय सीताजी और लक्ष्मणजीसहित श्रीरघुनाथ जब किसी गाँवके निकट पहुँचते हैं तब उनके आगमनकी बात सुनकर सभी ग्रामवासी—बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष—अपने-अपने कार्योंको छोड़कर उनके दर्शनके लिये दौड़ पड़ते हैं। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीके स्वरूपको देखकर सभीके मनमें हर्षोल्लास भर जाता है। उनके नेत्रोंमें आँसू छलक

भरतजीके साथ जब पूरा समाज श्रीरामजीसे मिलनेके लिये चित्रकूटकी ओर जा रहा था, तब सभी स्नेह-सुधामें छककर शिथिल हो रहे थे, चलते हुए उनके पग डगमगा रहे थे। वे प्रेमसे अधीर हुए विह्वल वचन बोल रहे थे—

भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू॥
करत मनोरथ जस जियँ जाके। जाहिं सनेह सुराँ सब छाके॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहवल बचन पेम बस बोलहिं॥

(रा०च०मा० २।२२५।२—४)

(५) भरतजीके नेत्रोंसे अश्रुधाराका प्रवाह—जब केवटने भरतजीको उस स्थानकी ओर संकेत किया जहाँ श्रीरामजीकी कुटिया थी और जहाँ सीताजी तथा लक्ष्मणजीद्वारा लगाये गये तुलसीके पौधे सुशोभित थे, तब भरतजीके नेत्रोंमें जल उमड़ आया। उनके अनिर्वचनीय प्रेमको देखकर सभी जड़ और चेतन प्रेममग्न हो गये। स्वयं केवट भी प्रेममें अधीर होकर मार्ग भूल गया। ऐसा था भरतजीके हृदयमें श्रीरघुनाथजीके प्रति निर्भर और निश्छल प्रेम—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥
सखहि सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरषहिं फूला॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे॥

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥
(रा०च०मा० २।२३८।१—८)

(६) **सुतीक्ष्णमुनिका प्रेममय सात्त्विक भाव**—ऋषि अगस्त्यके शिष्य सुतीक्ष्णमुनिको जब यह समाचार मिलता है कि उनके इष्टदेव श्रीराम वनमें आनेवाले हैं तो वे प्रेमानन्दमें ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उनकी उस भावमय दशाका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्हें न तो दिशाएँ सूझ रही हैं और न ही उनको मार्गका कोई ज्ञान है—उन्हें यह भी ध्यान नहीं रहा कि मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ। वे कभी पीछेकी ओर चल देते हैं, फिर तुरंत लौटकर आगे बढ़ने लगते हैं, कभी प्रभुजीके गुण गा-गाकर नाचने लगते हैं, कभी शान्त हो जाते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
(रा०च०मा० ३।१०।१०—१२)

(७) **शबरीका प्रभुप्रेम**—सीताजीकी खोज करते हुए जब श्रीराम और लक्ष्मणजी तपस्विनी शबरीके आश्रममें पहुँचे, तब वह दोनों भाइयोंको देखकर उनके चरणोंमें लिपट गयी। उसके हृदयमें प्रेमका सागर उमड़ पड़ा। वह आनन्दमग्न हो गयी। उसके मुखसे वचन नहीं निकल सके—

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥
सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुंदर आसन बैठारे॥

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

पानि जोरि आगें भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥
(रा०च०मा० ३।३४।८ से ३५।१ तक)

(८) **हनुमान्‌जीकी प्रेमनिष्ठा**—हनुमान्‌जी पहली बार विप्रवेषमें दोनों भाइयोंसे मिले थे। बादमें उनका परिचय पाकर वे अपने इष्टदेवको पहचान गये। फिर तो उनका हृदय गद्गद हो गया। वे प्रभुजीके चरणोंमें गिर पड़े, शरीर पुलकित हो गया, मुखसे वचन नहीं निकल पाये, फिर किसी प्रकार धैर्य धारण करके हनुमान्‌जीने प्रभुजीकी स्तुति की—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदयँ निज नाथहि चीन्ही॥
(रा०च०मा० ४।२।५—७)

रावण-वधके पश्चात् हनुमान्‌जीने जब भरतजीको श्रीरामजीके अयोध्या लौटनेका शुभ समाचार सुनाया, तब भरतजीने तत्काल उठकर हनुमान्‌जीको आदर और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया। भरतजीके मनमें इतना आनन्दोल्लास था कि वह हृदयमें नहीं समा सका। नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी, शरीर पुलकायमान हो गया। धैर्य धारण करके वे कहने लगे—पवनसुत! तुम्हारे दर्शनसे मेरे समस्त दुःखोंका अन्त हो गया। तुम्हारे समाचारकी संजीवनीसे मुझे ऐसा लग रहा है मानो श्रीरामजीके ही दर्शन हो गये—भरतजी बार-बार श्रीरामजी, सीताजी और लक्ष्मणजीके बारेमें पूछने लगे। वे बार-बार हनुमान्‌जीसे गले मिलकर भावविह्वल हो रहे थे—

मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥
(रा०च०मा० ७।२।१०—१५)

(९) **सनकादि मुनियोंद्वारा प्रभुकी प्रेममय छविका दर्शन**—सनकादि मुनियोंने अयोध्यामें आकर जब श्रीरामकी अनुपम छविके दर्शन किये, तब वे निर्भर प्रेममें आत्म-विस्मृत हो गये। वे (मुनिलोग) निर्निमेष देखते ही रह गये और प्रभुजी हाथ जोड़े हुए नमन करते रहे—

मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुंदरता मंदिर भव मोचन॥
एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरें सीस नवावहिं॥
(रा०च०मा० ७।३३।२—४)

प्रेमास्पद प्रभु श्रीरामका प्रेम-दान

भक्तवत्सल, करुणानिधान भगवान् श्रीराम प्रीतिकी रीतिको भलीभाँति जानते हैं। वे अन्य सम्बन्धोंको छोड़कर केवल प्रेम और भक्तिका ही सम्बन्ध मानते हैं—

जानत प्रीति-रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई॥

(विनय-पत्रिका १६४)

भला, संसारमें श्रीरघुनाथजीके समान शील और स्नेहका निर्वाह करनेवाला और कौन है—

को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥

(रा०च०मा० २।२४।४)

श्रीरघुनाथजी सहज स्नेह और करुणाकी मूर्ति हैं। दूसरोंका दु:ख देखकर वे स्वयं द्रवित हो जाते हैं—

करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥

(रा०च०मा० २।८५।२)

हनुमान्‌जीके अनन्य प्रेम और उनकी भक्तिभावनाको देखकर श्रीरामजीने उन्हें तुरंत हृदयसे लगा लिया। प्रभु श्रीराम ऐसे भावविभोर हो गये कि हनुमान्‌जीको प्रेमाश्रुद्वारा पूरी तरह भिगो दिया—

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

(रा०च०मा० ४।३।६)

इसीलिये सनकादि मुनियोंकी प्रेमविह्वल दशा देखकर श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंमें भी प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। उनका शरीर पुलकित हो गया। प्रभुजीने हाथ पकड़कर मुनियोंको बैठाया और अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की—

तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्त्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे॥
आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरें दरस जाहिं अघ खीसा॥

(रा०च०मा० ७।३३।५—७)

इसी प्रकार सुग्रीव, जाम्बवन्त, नल, नील, अंगद, हनुमान्, विभीषण आदिके निश्छल प्रेमको देखकर श्रीरामने अयोध्या जाते हुए उन सभीको भी पुष्पकविमानमें बैठा लिया—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥

(रा०च०मा० ६।११९।१)

चित्रकूटमें वास करते हुए श्रीरघुनाथजीको जब यह संकेत मिला कि भरतजी मिलने आये हैं और प्रणाम कर रहे हैं। बस, श्रीरघुनाथजी ऐसे प्रेमनिमग्न हो गये कि तुरंत उठ खड़े हुए। उन्हें इस बातका भी ध्यान नहीं रहा कि वस्त्र कहाँ गिर गया, तरकस कहाँ गिरा, बाण कहाँ गिरे, धनुष किधर जा पड़ा—वे अधीर हो गये, उन्होंने स्नेहपूर्वक भरतजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजीकी इस भेंटको देखकर सभी अपनी सुध-बुध भूल गये—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

(रा०च०मा० २।२।२४०।८, दोहा २४०)

स्वयं भगवान् श्रीरामने अपने श्रीमुखसे अपने सहज स्नेही, करुणानिधान स्वभावके सम्बन्धमें बताया है कि उन्हें अपने सेवक परमप्रिय हैं—

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥
सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।६—८)

परम कृपालु, भक्तवत्सल श्रीरामके प्रति निश्छल प्रेम एवं पूर्ण समर्पण समस्त कल्याणराशिका आगार है। अत: जीवनमें सच्ची सुख-शान्ति एवं परमार्थप्राप्तिके लिये अनन्य प्रेमका आश्रय लेकर उनका सतत स्मरण करते रहना चाहिये। अनन्य भाव, अनन्य गतिका निहितार्थ है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४। ३)

श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं—अनन्य वही है जिसकी ऐसी अटल बुद्धि है कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर जगत् मेरे स्वामीका ही रूप है। अत: सभीके प्रति सादर, सविनय प्रणाम—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(रा०च०मा० १। ७ ग)

श्रीचैतन्योपदिष्ट प्रेमदर्शन

(डॉ० आचार्य श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी शास्त्री, काव्यपुराणदर्शनतीर्थ, आयुर्वेदशिरोमणि)

जिस समय भारतीय भूभागका विस्तृत अंश विदेशी आक्रान्ताओंके निरन्तर आक्रमणोंसे ग्रस्त हो रहा था, धर्मोन्मत्तता दिनोंदिन बढ़ती ही जा रही थी, निर्दोष मानवोंकी हत्याएँ सामान्य बात हो गयी थीं, वर्णाश्रम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती जा रही थी, प्रतिष्ठित जन अपमानित हो रहे थे, उस समय प्रेमावताररूपमें भागीरथीके सुरम्य तटस्थ नवद्वीपमें श्रीचैतन्यदेवका आविर्भाव हुआ। उस समय हिन्दू जाति, जातिगत अनेक वर्ग-भेदोंमें विभाजित थी, उसके एकत्रीकरणके लिये श्रीचैतन्यदेवने श्रीहरिनाम-कीर्तनकी योजना प्रारम्भ की। वे घर-घर जाकर बिना किसी वर्गभेदके हरिनामका प्रचार-प्रसार करने लगे। इसके प्रभावसे ब्राह्मण और चाण्डाल एक-दूसरेको गले लगाकर हरिनाम-कीर्तन करने लगे थे। यद्यपि श्रीचैतन्यदेव चौबीस वर्षकी अल्पावस्थामें ही सांसारिक माया-बन्धनका परित्याग कर पारमार्थिक पथके पथिक बन गये तो भी उन्होंने अपने लक्ष्य—संकीर्तनके माध्यमसे जागतिक जनोंको प्रेम-संदेश दिया। जिनके मुखसे कभी श्रीकृष्णनाम नहीं निकला था, उनको भी उन्होंने कृष्णनाम-सुधारस पिलाकर उन्मत्त कर दिया। नामके प्रभावसे पर्वतोंमें स्पन्दन, लताओंमें मधु-निर्झरण और हिंसक पशु-पक्षियोंमें जातिगत वैरभाव समाप्त हो गया तथा वे हरि-हरि कहकर नाचने लगे। यह था श्रीचैतन्यका प्रेम-प्रसाद। श्रीचैतन्यदेवने साधकोंको इस साध्य-सार प्रेमकी वास्तविक उपलब्धिके अनेक साधन बतलानेका अनुग्रह किया।

साध्य तत्त्व

साध्य वह तत्त्व है जिसकी प्राप्ति होनेके बाद किसी अन्य वस्तुकी अभिलाषा नहीं रहती। साध्यात्मक ज्ञान शास्त्रोंके प्रमाणके बिना सर्वथा असम्भव है। साधारणतः जीवकी काम्य वस्तु ही साध्य है। अभिलाषाके अनुसार यह पुरुषार्थ-चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार भागोंमें विभाजित है। इनमेंसे यद्यपि मोक्षमें वास्तविक सुखका अनुभव होता है और दुःखसे निवृत्ति भी होती है, तथापि यह भी परम पुरुषार्थ नहीं है। कारण, मोक्षप्राप्त जीवोंके हृदयमें भगवद्भजनकी उत्कण्ठा दिखायी देती है। अतः भजनद्वारा उत्पन्न भगवत्प्रेम ही साध्य तत्त्व है। जिसके द्वारा नित्य सुखकी प्राप्ति तथा दुःखोंकी निवृत्ति होती है।

प्रेमका स्वरूप

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४। १)

अर्थात् भाव अथवा रति जब प्रगाढ़ता प्राप्त करती है और उसके कारण चित्त भलीभाँति द्रवित होकर श्रीकृष्णके प्रति अतिशय ममतासम्पन्न होता है, तब उसे प्रेम कहते हैं।

इसीलिये श्रीमन्महाप्रभुने प्रेमको परम पुरुषार्थके रूपमें परिगणित किया है—**'प्रेमा पुमर्थो महान्'**।

प्रेमके साधन

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४। ६-७)

उपर्युक्त श्लोकोंमें प्रेमके साधन-क्रमको दर्शाया गया है जो इस प्रकार है—

श्रद्धा—शास्त्रानुमोदित वाक्योंमें श्रद्धा।

साधुसङ्ग—सर्वार्थसिद्धिप्रदायक साधुसङ्ग।

भजन—श्रवण-कीर्तनोंका अनुष्ठान।

अनर्थनिवृत्ति—भजन सम्पन्न होनेपर अनर्थोंकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है।

निष्ठा—भक्तिकी दृढ़ता होनेपर निष्ठा होती है।

रुचि—निरन्तर आराधनासे रुचि उत्पन्न होती है।

आसक्ति—भक्तिकी प्रगाढ़तासे आसक्ति उत्पन्न होती है।

भाव—आसक्तिकी प्रगाढ़तासे भाव उत्पन्न होता है।

प्रेम—भावकी परिपक्वतासे आस्वादनीय प्रेमरस उत्पन्न

होता है।

हृदयमें प्रेमकी उत्पत्तिके लिये साधकोंके प्रयोजनार्थ ये क्रम निर्धारित किये गये हैं।

प्रेमभावका पाँच भागोंमें विभाजन

यह प्रेम-तत्त्व दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—इन पाँच रूपोंमें विभाजित है। श्रीचैतन्यदेवने मधुर रसके अन्तर्गत कान्ताभावको सर्वोत्तम प्रेमका उद्भवस्थान माना है।

कान्ताभाव—इसमें व्रजगोपियोंका सर्वोत्तम स्थान है। व्रजगोपियोंको अपने सुखकी कामना नहीं रहती, अपितु उनका सुख श्रीकृष्णके सुखमें निहित है—

निजेन्द्रिय सुखवांछा नहि गोपिकार।
कृष्णसुख दिने करे संगम विहार॥

यह कान्ताप्रेम सुख-साध्यकी चरम सीमा है—

सम्पूर्ण कृष्ण प्राप्ति एई प्रेम हइते।
एई प्रेमवश कृष्ण कहे भागवते॥

श्रीमद्भागवतके अनुसार इसी प्रेमके द्वारा जीव श्रीकृष्णचरणाश्रय प्राप्त करता है और भगवान् सदाके लिये भक्तके प्रेमबन्धनमें बँध जाते हैं।

श्रीराधाप्रेम

इहार मध्य राधार प्रेम सर्वसाध्य शिरोमणि।

किंतु इससे भी अधिक सर्वश्रेष्ठ प्रेम आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा महाभावमयी श्रीराधाका है। श्रीमहाप्रभुने श्रीराधाके प्रेमकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। यदि श्रीचैतन्यदेव अवतरित न होते तो हम पामरोंकी क्या गति होती? श्रीमती राधिकाकी माधुर्य-सीमाको संसारमें कौन बतलाता?

गौरांगना हइत के मन हइत केमन राखि ताम देहरे।
राधार महिमा प्रेम रससीमा जगते जानातो के हे॥

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्दोंमें—प्रेमका परम पुरुषार्थ रूप क्या किसीने सुना है? नाममहिमाको क्या कभी किसीने जाना है? श्रीवृन्दावनमाधुरीमें क्या किसीका प्रवेश कभी सुना है? महाभावस्वरूपा श्रीराधाकी महिमाको क्या कोई जानता था? यह सब श्रीचैतन्यदेवकी कृपासे सांसारिक जीवोंको उपलब्ध हुआ है।

सर्वश्रेष्ठ भक्तिके पाँच अङ्ग

श्रीमन्महाप्रभुने साधन-भक्तिके चौंसठ अङ्गोंमें साधु-संग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण, मथुरामण्डलमें वास और श्रीमूर्ति-सेवनको सर्वश्रेष्ठ साधन माना है—

साधुसंग, नाम कीर्तन, भागवतश्रवण,
मथुरा वास, श्रीमूर्ति श्रद्धाय सेवन।
सकल साधन श्रेष्ठ एई पाँच अंग,
कृष्ण प्रेम जन्माय, ऐई, पाँचेर अल्पसंग॥

मथुरामण्डलमें श्रीवृन्दावनको सर्वोत्तम कहा गया है। राय रामानन्दसे श्रीमन्महाप्रभुने पूछा कि सब त्यागकर जीवको कहाँ रहना चाहये—'सर्वत्यजि जीवेर कर्तव्य कहाँ वास?'

तब उन्होंने उत्तर दिया—'श्रीवृन्दावन भूमि जहाँ लीलारास।'

सारे माया-बन्धनोंको त्यागकर जीवको सच्चिदानन्द-घनस्वरूप, माया एवं कालसे अतीत, श्रीकृष्णका नित्य विहारस्थल, जहाँ नित्य रास-विहार चलता रहता है, उस श्रीवृन्दावनमें निवास करना चाहिये और वहाँ जीव सकल साधनोंमें सर्वोत्तम इन पाँच अङ्गोंकी अल्पकालीन आराधनासे सहज ही रागानुगारीतिमार्गद्वारा श्रीराधाकृष्णका श्रीचरणाश्रय प्राप्त कर लेता है।
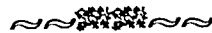
सोइ रसना जो हरिगुन गावै।
नैननकी छबि यहै चतुरता, ज्यों मकरंद मुकुंदहि ध्यावै॥
निर्मल चित तौ सोई साँचो, कृष्ण बिना जिय और न भावै।
स्त्रवननकी जु यहै अधिकाई, सुनि हरि-कथा सुधारस प्यावै॥
कर तेई जे स्यामहि सेवै चरननि चलि बृंदाबन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके, जो हरिजू सों प्रीति बढ़ावै॥

(भजन-संग्रह पद १९८)

लीला-दर्शन—

माखन-चोरी

उमड़-घुमड़कर काले मेघ बरस चुके हैं। इन्द्रधनुष उदित हो आया है, मानो वर्षा-सुन्दरीने व्रजपुरके क्षितिजपर रत्नोंकी बंदनवार बाँधी हो! ग्रीष्म एवं पावसकी संधिपर श्रीकृष्णचन्द्रकी मणिस्तम्भलीला—प्रथम नवनीतहरण-लीलाकी झाँकीसे उन्मादिनी हुई वर्षा-सुन्दरी व्रजमें घूम रही है; वन-उपवन, नद-नदी, ह्रद-सरोवर—जहाँ जाती है वहीं हृदय उमड़ पड़ता है, नाचने लगती है, परिधानका कृष्णवर्ण अञ्चल उड़ने लगता है। नृत्यके आवेशमें वह सुदूर आकाशमें उड़ गयी, अंशुमालीकी किरणोंने उसके गलेमें रत्नोंका हार पहना दिया; किंतु अब आभूषण धारण करनेकी उसे लालसा जो नहीं है। अब तो वह श्रीकृष्णचन्द्र-चरणाङ्कित व्रजपुरका आभूषण स्वयं बन जाना चाहती है, अपने अङ्गका अणु-अणु व्रजपुरमें विलीन कर देना चाहती है; इसीलिये उसने किरणोंके उपहार—रत्नोंके हारको तोड़ डाला तथा उन सात रंगोंके रत्नोंके द्वारा व्रजेन्द्रकी पुरीको सजानेके उद्देश्यसे क्षितिजको छूती हुई बंदनवार बाँध दी। श्रीकृष्णचन्द्र इसी बंदनवार—आकाशमें उदित इन्द्रचापकी ओर देख रहे हैं। नन्दोद्यानकी तमालवेदिकापर अपने सखा वरूथपकी गोदमें सिर रखकर, अर्धशायित हुए उस रत्न-धनुषकी शोभा निहार रहे हैं, इन्द्रचापका सौन्दर्य-वर्णन करके सखाओंको सुना रहे हैं पर स्वयं उनके श्रीअङ्गोंका सौन्दर्य कितना मोहक है, इसे वे स्वयं नहीं अनुभव करते। ओह! वह सघन कुन्तलराशि, मुखचन्द्रपर बिखरी हुई अलकावलीकी लटें, वे विशाल नेत्र, वह मृदु बोलन, वह मधुस्रावी अधरयुग्म, ललित वदनारविन्द, वे चञ्चल चेष्टाएँ—इन्हें जो निहार सके, उसे ही भान होता है कि इस सौन्दर्यमें कितनी मादकता भरी है—ऐसी मादकता जो मन-प्राण-इन्द्रियोंको विमोहित कर दे; श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष वर्तमान रहनेपर भी उनकी रूपसुधामें नेत्रोंके नित्य निमग्न रहनेपर भी चित्त हाहाकार कर उठे कि हाय! श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन मुझे कब होंगे—

चिकुरं बहुलं विरलं भ्रमरं मृदुलं वचनं विपुलं नयनम्।
अधरं मधुरं ललितं वदनं चपलं चरितं च कदानुभवे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

अस्तु, इसी समय एक व्रजसुन्दरी वहाँ आयी। आकर बोली—'नीलमणि! व्रजेश्वरी तुम्हें बुला रही हैं, मेरे साथ घर चलो।'

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रको अवकाश कहाँ कि जननीके आह्वानका उत्तर भी दे सकें। वे तो उस सुन्दर धनुषके अरुण, नारङ्ग, पीत, हरित, उज्ज्वल, नील और अरुणिम नीलवर्णोंका विश्लेषण करके सखाओंको दिखा रहे हैं, रंगोंकी गणना कर रहे हैं, व्रजसुन्दरी भी मुग्धभावसे श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बाल्यमाधुरीका रस लेने लगती है। कुछ क्षण पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र उसकी ओर देखते हैं, तब उसे यह ज्ञान होता है कि 'मैं केवल देखने नहीं, मैं तो बुलाने भी आयी हूँ।' अतः स्मरण होनेपर वह पुनः श्रीकृष्णचन्द्रसे चलनेके लिये कहती है। इस बार श्रीकृष्णचन्द्रने उत्तर दे दिया—'अभी तो मैं खेल रहा हूँ, नहीं जाऊँगा।'

यह गोपसुन्दरी नन्दभवनमें आयी थी। इसने अन्य पुर-रमणियोंके मुखसे श्रीकृष्णचन्द्रके मणिस्तम्भमें अपने प्रतिबिम्बसे भ्रमित होनेकी लीला तथा—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन आपु भजे ब्रज खोरी॥

—इसका विस्तृत वर्णन सुना। सुनकर प्रेममें डूब गयी, उसी क्षण व्रजेश्वरीके पास पहुँची। गद्गदकण्ठसे पूछा—'व्रजरानी! नीलमणि किधर है?' उत्तरमें यशोदारानीने उद्यानकी ओर संकेत कर दिया तथा बोलीं—'बहिन! तू उधर जाय तो उसे कह देना कि मैया बुला रही है और अपने साथ ही लेती आना।' बस, वह मन्त्रमुग्धा-सी अविलम्ब उद्यानकी ओर दौड़ पड़ी। तमालवेदीपर गोपशिशुओंके कोलाहलने उसे श्रीकृष्णचन्द्रका पता बता दिया और वह वहाँ जा पहुँची।

जब श्रीकृष्णचन्द्रने घर लौटना अस्वीकार कर दिया, तब वह वहीं बैठ गयी। उसके नेत्र छल-छल करने लगे। इसलिये नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्र घर क्यों नहीं चल रहे हैं, उसके हृदयकी तो वेदना ही दूसरी है। वह सोच रही है—'हाय! मैं अभागिनी नन्दभवनसे इतनी दूर क्यों बसी; जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उस ग्वालिनके घर गये, माखन खाया, वैसे इतनी दूर मेरे घर आनेकी, मेरा माखन आरोगनेकी तो सम्भावना ही नहीं है।' ये भाव गोपसुन्दरीके प्राणोंमें टीस उत्पन्न कर रहे थे। इसीलिये उसके नेत्र भर आये। वह अपने भावोंको संवरण करना चाहती है, किंतु कर नहीं

नहीं, पर व्रजेन्द्रनन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको सब कुछ ज्ञात है। वे ही तो यशोदाके वात्सल्य-सुधा-सागरपर संतरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी चेष्टाओंका नियन्त्रण करती हैं। वात्सल्यकी कौन-सी पयस्विनी इस सागरसे मिली है, कहाँपर संगम है, कौन-सी वात्सल्यधारा मिलने आ रही है, कहाँ संगमित होगी, किस संगमपर, किस वात्सल्यतीर्थपर श्रीव्रजेशपुत्रको आज स्नान कराना है—इन सबकी पूरी सूची उन्हींके पास तो है। अपने इच्छानुसार, अपने निर्दिष्ट क्रमसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको लहरोंपर बहाती हुई किसी संगमपर ले जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ स्नान करते हैं, अञ्जलिमें भरकर वात्सल्यसुधारसका पान करते हैं, एक-दो छींटे किनारेपर बिखेर देते हैं, इन्हीं बिन्दुओंसे प्रपञ्च-जगत्के वात्सल्य-स्रोतमें रसका संचार सदा होता रहता है, स्रोत कभी सूखता नहीं। अतः लीलामहाशक्तिको व्रजसुन्दरीके हृदयकी धाराका पूरा पता है। वे जानती हैं कि यह धारा भी इसी सागरसे मिलने आ रही है। इन्हें तो प्रत्येकके संगमपर श्रीकृष्णचन्द्रको अवगाहन—प्रत्येककी पवित्र सुधाका मुक्त आस्वादन कराना है। इसीलिये ये क्रमशः सबके लिये द्वार खोलती रहती हैं। अतः इसके लिये भी कपाट उन्मुक्त करने चलीं।

श्रीकृष्णचन्द्र उसी प्रकार वरूथपके अङ्कमें विराजित हैं। परस्पर पावसके अनुरूप विविध क्रीड़ाकी चर्चा चल रही है। अब सुबल क्रीड़ाकी नयी योजना रख रहा है तथा है। उस रसकी उपयुक्त पात्रा ये व्रजवासिनी गोपिकाएँ हैं तुम्हारा दान लेने, तुम्हें रस देनेके लिये प्रस्तुत बैठी हैं। नाथ! व्रजके अतिरिक्त अन्य सभी लीलाओंमें तुम्हारा ऐश्वर्य तुम्हारे परिकरोंको आवृत किये रहता है, सम्भ्रमरहित विशुद्ध रसका आस्वादन तुम्हें कहीं प्राप्त नहीं होता। पर यह तो तुम्हारा अपना व्रज है। व्रजवासी तुम्हारे निजजन हैं। यहाँ तुम यशोदाके लिये उनके गर्भजात नीलमणि हो, गोपसुन्दरियोंके लिये भी यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रमात्र हो। ऐसा बानक अन्यत्र कहाँ। वाञ्छाकल्पतरो! इन सबके मनोरथ पूर्ण करो। रस देकर, रसास्वादन कर इन वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको वात्सल्यपयोनिधिमें डुबा दो नाथ!....।' श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा गयी। उन्होंने लीलाशक्तिकी इस प्रार्थनाका अनुमोदन ही किया—

मन में यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब कें माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं, ये मेरे ब्रज-लोग॥

नन्दनन्दन उठ बैठे। हँसकर सखाओंसे बोले—'भैयाओ! माखन खानेका खेल खेलोगे?' 'माखनका खेल!!' दो-चारने एक साथ आश्चर्यमें भरकर कहा। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रने नवनीतहरणलीलाकी अपनी विस्तृत योजना सखाओंके समक्ष रख दी। किस प्रकार, हमलोग छिपकर प्रत्येक गोपीके घरमें जायँ, मैं माखनकी मटकी

उठा लाऊँ और फिर हम सब मिलकर खायँ, दूसरे पशु-पक्षियोंको खिलायें, गिरायें, माखनकी कीच मचायें—ये सारे विचार श्रीकृष्णचन्द्रने गोप-सखाओंको समझाये। सुनकर गोप-शिशुओंके आनन्दका पार नहीं। ताली पीट-पीटकर वे उस तमालवेदीपर नाचने लगे। व्रजेश्वरकी सौंह खाकर सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी बुद्धिकी प्रशंसा करने लगे—

करैं हरि ग्वाल संग बिचार।
चोरि माखन खाहु सब मिलि, करहु बाल-बिहार॥
यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कन्हाइ।
हँसि परस्पर देत तारी, सौंह करि नँदराइ॥
कहाँ तुम यह बुद्धि पाई, स्याम चतुर सुजान।
सूर प्रभु मिलि ग्वाल-बालक, करत हैं अनुमान॥

अब भुवनभास्कर अस्ताचलकी ओर जा रहे थे। व्रजेश्वरी अपने नीलमणिको लेने आ गयी थीं। अत: श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनकी ओर चल पड़े। जाते समय अपनी मोहिनी चितवनके संकेतसे सखाओंको कार्यक्रमकी बात बताते गये। भवनमें जाकर जननीके परम ललित लाड़से सिक्त होकर शीघ्र ही वे सो गये। जब दूसरे दिन प्रभातके समय जागे तो सखामण्डली उन्हें घेरे खड़ी थी।

यशोदारानीने विधिवत् उबटन-स्नान-शृङ्गार आदिसे श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गोंको सजाया, सखाओंको साथ बैठाकर सबको समानभावसे कलेवा कराया, जल पिलाया, ताम्बूल खिलाया। फिर खेलने जानेकी अनुमति दे दी। तुमुल आनन्दनाद करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एवं गोपशिशु बाहरकी ओर दौड़ पड़े। आगे-आगे श्रीकृष्णचन्द्र हैं, उनके पीछे गोपबालक। गोपशिशु नहीं जानते कि कहाँ जाना है, वे तो नन्दनन्दनका अनुसरण कर रहे हैं; तथा नन्दनन्दन बिना रुके, सीधे उस गोपसुन्दरीके घर जा रहे हैं, जो उन्हें कल तमालवेदीपर बुलाने गयी थी। देखते-ही-देखते उसके गृहके निकट जा भी पहुँचे।

गोपसुन्दरी उस समय दधिमन्थन कर रही थी। पर उसे अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं है, किसी और ही भावमें वह तन्मय हो रही है—मन्थनक्रियासे यह स्पष्ट झलक रहा था। सखासहित श्यामसुन्दर उपयुक्त अवसरपर ही नवनीतहरण—माखन-चोरीके लिये पधारे हैं तथा गवाक्ष-रन्ध्रसे व्रजसुन्दरीका दधिमन्थन देख रहे हैं—

सखा सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पंथ है, मथति एक दधि भोरी॥

आकाशपथसे अमर, किंनर, विद्याधर, गन्धर्व आदि इस परम मनोहारिणी मोहिनी लीलाके दर्शन कर कृतार्थ हो रहे हैं। नवनीतहरण करने—माखन चुराने कौन आया है? वे आये हैं; जिनके प्रत्येक रोमकूपमें—जैसे आकाशमें वायुसंचारित क्षुद्र रज:कण उड़ते रहते हैं, वैसे उत्तरोत्तर दसगुणित सप्तावरणसमन्वित असंख्य ब्रह्माण्ड एक साथ घूमते रहते हैं, जिनका अन्त स्वर्गादि-लोकाधिपति ब्रह्मा, इन्द्रप्रभृति नहीं जानते, नहीं जान सकते; जो इतने अनन्त हैं कि अपना अन्त स्वयं नहीं जानते; जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन श्रुतियाँ भी नहीं कर सकतीं; स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध करते-करते—

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।*

वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है; उसमें न अन्तर है, न बाहर है—इस प्रकार निरसन करते-करते श्रुतियाँ जिनमें जाकर समाप्त हो जाती हैं, अपनी सत्ता विलीन कर सफल हो जाती हैं—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।४१)

जो इस विश्वका संकल्प करते हैं; जो विश्वके आदि, मध्य तथा अन्तमें स्थित हैं; जो प्रकृति-पुरुषके स्वामी हैं; जो विश्वका सृजन करके जीवके साथ इसमें प्रविष्ट हो गये हैं; जिन्होंने जीवभोगायतन शरीरसमूहकी रचना की है; जो इन शरीरोंका नियन्त्रण करते हैं; जिन्हें प्राप्तकर जीव—जैसे सुषुप्तिमें निमग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसंधान छोड़ देता है, वैसे—मायापाशसे मुक्त हो जाता है; जो नित्य अच्युतस्वरूपमें अवस्थित हैं; जिन्हें माया तिलमात्र भी स्पर्श नहीं कर

* बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।८

बिना, जिसकी अनुपस्थितिमें वे वस्तु ग्रहण करें? जब—

नान्यद् भगवतः किंचिद् भाव्यं सदसदात्मकम्॥

(श्रीमद्भा० २।६।३२)

—भाव या अभाव, कार्य या कारणरूपमें कोई वस्तु नहीं जो श्रीकृष्णसे भिन्न हो, तब वे कब, कहाँ, किसकी, किसलिये, कौन-सी वस्तु चोरी करेंगे? तो फिर यह क्या है? यह है वात्सल्य-रस-वितरणकी एक प्रकृष्ट प्रक्रिया, वात्सल्य-रसास्वादनकी एक पवित्र प्रणाली, भक्तमनोरथपूर्तिकी एक मधुर मनोहर सुन्दर योजना, बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यावेशकी एक अप्रतिम झाँकी। इस झाँकीकी जय हो! जय हो!! जय हो!!!

अस्तु, दधिमन्थन करनेवाली उस गोपसुन्दरीके गृहके समीप जाकर सखाओंके सहित श्रीकृष्णचन्द्र छिप रहे। उसने भी बिलोना स्थगित कर दिया। उसे अब दीख रहा था कि नवनीत ऊपर आ गया है। नवनीत कभीका ऊपर आ गया था, पहरभर रात्रि शेष थी, तभी उसने मन्थन आरम्भ किया था। तबसे बिलो रही है पर उसका चित्त यहाँ हो तब तो। वह तो मन-ही-मन नन्दभवनमें जा पहुँची थी, श्रीकृष्णचन्द्रको नवनीत आरोगनेका मूक निमन्त्रण दे रही थी। उसने भले न जाना; पर उसका यह मूक निमन्त्रण

आइ गई कर लिऐं कमोरी, घर तें निकसे ग्वाल
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल

गोपसुन्दरी मनोरथपूर्तिके महान् आनन्दसे वि[illegible] गयी। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह स्वप्न दे[illegible] है। किंतु सहसा उसके स्मृतिपटलपर किसीने तूलि[illegible] दी, वह यह बात सर्वथा भूल गयी कि उसने क[illegible] इच्छा की थी कि नीलमणि मेरे घर आकर मेरा [illegible] आरोगें। अतीतके उत्कण्ठामय संस्मरण सर्वथा वि[illegible] गये। अब उसे इतना ही भान है कि सखाओंको सा[illegible] नीलमणि मेरे गृहतोरणके पास खड़े हैं, उनका मुखारविन्द माखनसे सना है। सरलतासे वह पूछ[illegible]

कहँ आए ब्रज-बालक सँग लै, माखन मुख लपट[illegible]

उत्तरमें श्यामसुन्दर कुछ कहने लगे, पर उन्[illegible] कहा, ग्वालिन सुनकर भी कुछ सुन न सकी। उनके माखनसने मुखकी मन्द हँसीमें उसकी चेतना सहस[illegible] होने लगी। इतनेमें श्यामसुन्दरने अपने सखा एक गो[illegible] भुजा पकड़ ली तथा वे व्रजकी गलीमें चल पड़े। निर्निमेष नयनोंसे उनकी ओर देख रही है। अन्धक[illegible] तो दूसरी बात थी। दिनके उज्ज्वल प्रकाशमे[illegible] श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरीका मन हरणकर—चित्त

चले गये और वह ठगी-सी खड़ी रह गयी—

भुज गहि लियौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज कीं खोरि।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि॥

अपने द्वारपर स्वर्णपुतली-सी खड़ी वह उस ओर देखती रहती है जिधर श्रीकृष्णचन्द्र गये हैं। जब मध्याह्न होने लगता है तब कहीं वह अन्तर्गृहमें प्रवेश करती है। नवनीतकी रिक्त मटकी देखकर सोचती है कि माखनभरे पात्रको मैं सम्भवत: कहीं अन्यत्र रख आयी हूँ, इधर-उधर उसे ढूँढ़ती फिरती है। इतनेमें दीख पड़ता है—घरके जितने स्वर्ण, रौप्य, काँस्य, मृण्मयपात्र थे, वे सभी छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। श्यामसुन्दरकी चञ्चल चेष्टाओंसे वह परिचित अवश्य है, पर अब उसके पास मन जो नहीं रहा। निर्णय कौन करे? मनके स्थानपर तो श्यामसुन्दरका रस भरा है—

देखै जाइ मटुकिया रीती, मैं राख्यौ कहुँ हेरि।
चकित भई ग्वालिनि मन अपनें, ढूँढ़ति घर फिरि फेरि॥
देखति पुनि-पुनि घर के बासन, मन हरि लियौ गोपाल।
सूरदास रस भरी ग्वालिनी जानै हरि कौ ख्याल॥
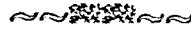
प्रेम-साधन

(पं० श्रीनरहरिशास्त्री खरशीकर)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक त्रिभुवनसुन्दर श्रीभगवान्‌की प्राप्ति ही मनुष्य-जन्मका इतिकर्तव्य है, यही सब शास्त्र और संत बतलाते हैं। परंतु भगवान्‌की प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं है। अनेक जन्मोंके अनेक साधनोंसे भी भगवान्‌का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जप, तप, उपासना, यज्ञ-याग, नित्य-नैमित्तिक कर्म, अष्टाङ्गयोग, तीर्थयात्रा, दानधर्म आदि नानाविध साधनोंको निष्कामभावसे करते चलो, कभी-न-कभी तो भगवान् मिलेंगे ही—इसी प्रकारका आशावाद प्राय: देख पड़ता है। इन सब साधनोंको करके भी यदि अनेक जन्मोंके बाद भी भगवान् न मिलें तो अपने सञ्चितको कारण जानकर आगे प्रयत्न करते रहो—यही तो बतलाया जाता है। परंतु यह साधन-क्रम बतलानेवाले लोग यह भी तो जानते ही हैं कि ब्रह्म पूर्ण है—'**पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**' चराचर जगत्‌में उस ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जब सर्वत्र भगवान् ही हैं, तब साधनोंके द्वारा उन्हें प्राप्त करना भी तो एक बड़ा विकट प्रश्न है। इस प्रश्नका ही उत्तर इस छोटे-से लेखमें देनेका प्रयत्न किया जायगा।

'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**' (नारदभक्तिसूत्र) प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम ही भगवान् है और यह दृश्य जगत् उन्हीं अव्यक्त भगवान्‌का व्यक्त रूप है। प्रेम सब प्राणियोंमें सहजभावसे है। पशु-पक्षियोंमें ही क्यों, वृक्षादि योनियोंमें भी जो सहज प्रेम है, उसे अनुभव किया जा सकता है। फिर मनुष्यों और देवताओंकी तो बात ही क्या है!

गेहूँका एक दाना जमीनमें बोया जाता है। वर्षाके होते ही वह स्वयं गायब हो जाता है—गायब हो जाता है यानी अङ्कुरित होकर हजारों दानोंके रूपमें प्रकट होता है। ऐसे ही अव्यक्त परमात्मा अपनी आत्यन्तिक रुचिसे प्रियत्वमें आते हैं। उस आनन्दसागरमें आनन्दके ही कल्लोल उठते हैं। उन्हींको प्रेम कहते हैं। ये अनेक देख पड़नेपर भी परमात्मसिन्धुरूपसे एक ही, अखण्ड और पूर्ण हैं। ये अनेक कल्लोल ही अनेक जीव हैं। सोनेके गहने बनते हैं। गहने बननेपर भी सोनेका सोनापन नष्ट नहीं होता, बल्कि सोना, सोना रहकर ही गहने बनता है। वैसे ही परमात्मा, परमात्मा रहते हुए स्वयं ही नाम-रूपात्मक जगत् बनते हैं, पर इससे उनके परमात्मत्वमें रंचमात्र भी न्यूनता नहीं आती। परमात्मा और जगत् शब्द दो हैं, पर वस्तुत: वे एक ही हैं। यही श्रीज्ञानेश्वरादि सब संतोंने कहा है और अन्य सिद्धान्ती भी इसे स्वीकार करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि परमात्मा ही चराचर विश्व हैं तो किसकी प्राप्तिके लिये किसको साधन करना है?

देवदत्त नामक एक मनुष्यको यह भ्रम हो गया कि 'मैं खो गया हूँ।' इस खो जानेपर वह बहुत रोया, चिल्लाया और खोये हुए अपने-आपको जहाँ-तहाँ जिस-तिससे पूछता हुआ भटकता रहा। पर इस तरह इसे देवदत्त

क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० २।४।१७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥
(गीता ११।४८)

अर्थात् इन तप, यज्ञ अथवा वेदाध्ययनादि साधनोंसे भगवान् नहीं मिलते, प्रत्युत भगवत्कृपासे ही मिलते हैं— **'मुख्यतस्तु भगवत्कृपयैव।'** सर्वत्र श्रीहरि ही प्रेमकल्लोल कर रहे हैं, वे ही रम रहे हैं—यह भावना जब गुरुकृपासे उदय हो जाती है, तब किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती।

माता अपनी संतानके कारण ही माता कहलाती है। सन्तान अपनी माँको जब माँ कहकर पुकारती है, तब उसे अपने माता होनेकी प्रतीति होती है। संतानके कारण ही उसका मनोगत अव्यक्त वात्सल्य व्यक्त होता है और इसका सुख भी उसे ही मिलता है। संतानसे माताका मातृत्व पूर्ण है, अन्यथा वह अपूर्ण है। संतान माताका जो स्तनपान करती है, उससे माताको ही अत्यन्त सुख होता है। बच्चा जब भूखसे रोता है, तब माताका हृदय स्तनको भेदकर दूधके रूपमें बाहर निकलता है और बच्चेको तृप्त करनेके कारण माताको वह संतोष होता है, जिसकी कोई उपमा नहीं। यह सही है कि बच्चेके रोनेसे माताके दूध निकल पड़ता है, पर रोना कहाँसे आता है? माताके हृदयमें अपने बच्चेको अपना सार-सर्वस्वरूप दूध पिलाकर परम सुखी होनेकी जो लालसा रहती है, उसीका जो संस्कार बच्चेके मनपर होता है, वही रुदनरूपसे प्रकट होता है अर्थात् बात जब ऐसी है, तब माता अपनी संतानसे क्या कभी यह कह सकती है कि मैं अपने जीवनका सार निकालकर तुझे पिलाती हूँ, इसलिये तू भी उसकी कुछ कीमत दे, इसके लिये कुछ साधन कर, कोई माता ऐसा नहीं कह सकती। यदि कहे तो बच्चा भी उसे यह उत्तर दे सकता है कि 'तूने मुझे जन्म दिया, यही तो मेरे अनन्त साधनोंका फल है। अब यदि विना साधन कराये तू मुझे दूध नहीं पिलाना चाहती तो रहने दे। तेरा दूध तेरे ही पास। इससे मेरा जो होना होगा, होगा। मैं मर जाऊँगा तेरे दूधके बिना, पर इससे क्या तुझे सुख होगा? तब यह दूध तू किसे देगी? तेरी देहमें यह जमकर तुझे ऐसी पीड़ा देगा जो तुझसे नहीं सही जायगी और मुझे न देखकर तेरी क्या अवस्था होगी? मेरे बिना तू कैसे जीयेगी? तेरे दूधका अधिकारी तो मैं ही हूँ।' बच्चेके ये शब्द सुनकर माँकी आँखोंसे आँसू छलक-छलक कर गिरने लगेंगे! माँ-बेटेका सम्बन्ध साधनपर नहीं निर्भर करता। माँ ही तो संतान बनकर वात्सल्यको अनुभव कर रही है।

आनन्दको आनन्दका स्वानुभव न होनेसे उसने द्विधा होनेकी इच्छा की, **'एकोऽहं बहु स्याम्'**। इस द्विधा होनेको ही प्रेमविकास कहते हैं। इस प्रेमरूपका ही नाम जीव है। यह जीव मूल आनन्दसे कभी पृथक् नहीं रहता। जीवके नेत्रेन्द्रियमें सारा विश्व समाया रहता है। उसके मस्तिष्कमें अखिल ब्रह्माण्डकी कल्पनाएँ भरी रहती हैं। ब्रह्माण्ड उसकी इन्द्रियोंमें लीन होता है। इन्द्रियाँ ज्ञानमें, ज्ञान आनन्दमें, आनन्द जीवत्वमें और जीवत्व प्रियत्वमें मिल जाता है अर्थात् प्रियत्व ही अखिल विश्वका कर्ता, स्वामी है। यह प्रिय कल्लोल परमात्मसिन्धुसे मिलनके लिये तब कौन-सा साधन करे? तरङ्ग किस साधनसे जलको पा ले?

अलङ्कार किस साधनसे सुवर्ण बने? सूर्य-किरण किस साधनाके द्वारा सूर्यको प्राप्त हो? परमात्ममय जीव भी उसी प्रकार परमात्माको पानेके लिये किस साधनका आश्रय ग्रहण करे?

कर्मदृष्टिसे देखें तो भगवान् और भक्त भिन्न हैं, गुरु और शिष्य भिन्न हैं; पर प्रभुके प्रिय प्रकाशमें दोनों अभिन्न हैं।

इस प्रकार प्रियत्वरूप प्रभुके कल्लोल-तरङ्गरूप जीवके लिये परमात्माकी प्राप्तिके अर्थ किसी साधनके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु इस प्रकारकी धारणाका होना श्रीसद्गुरु-कृपाके बिना असम्भव है। जबतक ऐसी धारणा न हो ले, तबतक त्रिविध कर्म, तीन अवस्था, त्रिगुण—इन सबकी प्रतीति होती ही है। सूर्यके प्रकाशसे मृगजल भासता है; सूर्यास्त होनेपर मृगजलको भगानेका कोई यत्न नहीं करना पड़ता, सूर्यास्तके साथ वह अपने-आप ही हट जाता है। पर सूर्यके रहते भी जो मृगजल देख पड़ता है, वह भी सूर्यप्रकाश ही होता है, मृगजल नहीं। इसी प्रकार जीवके कर्म, अविद्या, अज्ञान आदिको मान लें तो उनसे भी पूर्णता अपगत नहीं होती और इन अवस्थाओंसे निकलनेके लिये यदि साधन किये जायँ और उसी प्रकारकी विपरीत धारणा न हो तो वे साधन भी साधन नहीं, बल्कि भगवत्प्रेमके दिव्य रूप ही प्रतीत होंगे।

जीवकी प्रत्येक सत्तामें, उसकी नस-नसमें भगवान्‌की ही सत्ता है। ऐसा होते हुए भी जीव उसे भूलकर भगवान्‌को साधनोंके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयास करता है! परंतु परमात्मा प्रयाससाध्य नहीं हैं। परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं; फिर भी वह नहीं हैं—यह जो धारणा हो जाती है, इसीको हटाना है। इसे भगवान् ही हटा सकते हैं, इसलिये हम उन्हींसे प्रार्थना करें—भगवन्! आप सर्वत्र होते हुए भी क्यों अपने-आपको विस्मृतिका परदा डालकर छिपाये हुए हैं? आप हैं तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र, सब अवस्थाओंमें, सब प्रकारसे; तब जैसे भी आप हैं, मुझे दर्शन दीजिये। प्रार्थनासे अनुकम्पित होकर भगवान् सर्वाङ्गमें उदय होने लगते हैं। उनके उदय होनेका लक्षण यही है कि सारा तन-मन-प्राण उन्हींके प्रेममें डूब जाता है, शरीरपर अष्ट सात्त्विक भाव उदय होते हैं, नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगते हैं और मुखसे 'राम' या 'राम, कृष्ण, हरि' अथवा 'माँ, माँ' की पुकार होने लगती है। अव्यक्त परमात्माके व्यक्त होने अथवा दर्शन-साक्षात्कार होनेके लिये ही भगवत्कृपासे ऐसी अवस्था हुआ करती है। इससे भक्त और भगवान् दोनों ही प्रसन्न होते हैं और दोनोंका द्वयभाव नष्ट होकर केवल प्रेम ही रह जाता है।

माता ही संतान बनकर यह प्रेमसुख लाभ करती है, भगवान् ही भक्त होकर अपने प्रेमका आनन्द उठाते हैं। संतानसे ही मातृत्वकी सिद्धि होती है और भक्तसे ही भगवान्‌की भगवत्ता प्रकट होती है। भगवान् भक्तकी अवस्थामें यदि न आयें तो वे अपनी भगवत्ताको नहीं अनुभव कर सकते।

बालकके लिये माँको 'माँ' पुकारनेके अतिरिक्त और किसी साधनकी जरूरत नहीं। माँ बच्चेकी पुकार सुनकर आप ही दौड़ आती है। भक्त भी भगवान्‌को माता समझकर 'माँ' कहकर पुकारे तो सही, फिर देखिये करुणामय भगवान् अपने मङ्गलमय स्वरूपसे कैसे भक्तके समीप चले आते हैं। माहुरवासी, देवी रेणुकाके परम भक्त, भगवतीके गलेके हार श्रीविष्णुदास महाराज कहते हैं—'किसी साधन-धनका काम नहीं, स्तवन-गानका कुछ दाम नहीं; सच्ची पुकार 'माँ' की है तो बेड़ा पार है।' भगवान्‌को 'माँ' कहकर सभी संतोंने पुकारा है। माताकी अपने हृदयगत स्तन्य-अमृतका पान करानेकी इच्छा ही बच्चेको रुलाती है और जब माता इस अमृतका पान कराती है, तब माता और बच्चा दोनों ही एक-दूसरेकी ओर अनिर्वचनीय प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए परम सुखी होते हैं। यही भक्त और भगवान्‌की बात है।

विस्मरणका कारण

पैठणके परम भगवद्भक्त श्रीएकनाथ महाराज सब भूतोंमें भगवान्‌को देखा करते थे। परंतु इनके घर श्रीखण्डिया नामक जो ब्राह्मण पानी भरा करता था, उसमें इन्हें कभी भगवद्बुद्धि नहीं हुई। पर किसी अन्य भक्तको यह स्वप्न हुआ कि पैठणमें जाओ, वहाँ श्रीएकनाथ महाराजके यहाँ श्रीखण्डियाको देखनेसे तुम्हें भगवत्साक्षात्कार होगा। वह भक्त पैठण पहुँचा, श्रीएकनाथ महाराजके घर आया, श्रीखण्डियाके उसने भक्तिभावसे दर्शन किये और श्रीकृष्ण उसके सामने प्रकट हुए। पर उसी क्षण श्रीखण्डियाका रूप अन्तर्धान हो गया। एकनाथ महाराजको तब यह ध्यान हुआ कि श्रीखण्डिया मेरा नौकर नहीं, उसके रूपमें मेरे नाथ श्रीकृष्ण ही थे। मुझसे उन्होंने यह कपट क्यों किया? एकनाथ महाराजको इस बातका बड़ा अनुताप हुआ कि मैं

हृदयके प्रेमसे भगवान्‌को पूजिये

चातुर्मासका आरम्भ हो गया है। प्रत्येक घर और मन्दिरमें पूजार्चना और व्रतोपवासका पवित्र कार्य हो रहा है, परंतु यह कार्य हृदयसे होना चाहिये। प्राय: कई जगह ऐसा देखा जाता है कि सड़ी सुपारी, खराब चावल और पान तथा दुर्गन्धयुक्त घृत तो पूजार्चना और यज्ञ-हवनके काममें लाया जाता है और बहुत बढ़िया सुपारी, काश्मीरका चावल, महोबेका पान तथा ताजे स्वादिष्ठ मक्खनसे निकाला हुआ शुद्ध घी अपने खानेके लिये बरता जाता है! इस कृत्रिमता और ओछेपनसे मनुष्य भगवान्‌को ठगना चाहता है, पर भगवान् ठगाते नहीं। सड़ा भोग लगानेवालेको भगवान्‌की ओरसे आशीर्वादमें फल भी सड़ा ही मिला करता है। मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि बुद्धिके अनुसार फल प्राप्त होता है। नीचता और असत्य जड़से ही बुरे हैं, फिर अन्तर्यामी भगवान्‌के साथ असत्य व्यवहार करनेकी बुराईमें तो आश्चर्य ही क्या है?

एक अधिकारीको, जँवाईको या मित्रको दावत देते समय जो मनोभाव प्रकट किया जाता है, कम-से-कम उतना प्रेमभाव तो भगवान्‌को दिखलाना ही चाहिये। मनुष्यके साथ व्यवहार करनेमें जो सचाई दिखायी जाती है, कम-से-कम उतनी सचाई तो भगवान्‌के प्रति किये जानेवाले आचरणमें दिखलाइये। भगवान् तो भावके भूखे हैं। उन्हें ऊपरका ढोंग नहीं सुहाता। जैसा भाव होता है, फल भी वैसा ही मिलता है। भाव मिथ्या तो फल भी मिथ्या। शुद्धभावसे अर्पित किया हुआ एक शाकका पत्ता भी भगवान्‌को बड़ा प्रिय है। समर्थ गुरु रामदासजी कहते हैं—

'जिसके पास जैसा भाव है, उसके लिये भगवान् भी वैसे ही हैं। वे अन्तर्यामी प्राणिमात्रके हृदयके भावोंको जानते हैं। उनके साथ छलका भाव होगा तो वे भी महाछली होंगे। जिसका शुद्धभाव होगा, उसके साथ वे भी प्रेम करेंगे, क्योंकि वे तो 'जैसे-को-तैसे' हैं। जो जिस प्रकार भजन करेगा, उसका वह वैसा ही समाधान करेंगे। भावमें जरा-सी भी न्यूनता होगी तो वे दूर रहेंगे। जिस भावका प्रतिबिम्ब हृदयमें है, भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। जो उनका जैसा भजन करता है, भगवान् उसे वैसा ही फल देते हैं।' (दासबोध द० ३।१०)

'जैसा भाव वैसा भगवान्' संतोंकी यह उक्ति सत्य है। भगवान्‌के साथ झूठा व्यवहार करनेवाला मनुष्यके साथ सचाईका बर्ताव क्यों करेगा? अतएव सारी कृत्रिमताको त्यागकर सचाईसे—हृदयके प्रेमभावसे भगवान्‌को भजना चाहिये। अन्तस्तलकी भावनासे भगवान्‌का कर्म करना

चाहिये। श्रुति कहती है—

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११)

बाहरी उपचारसे, बहिरंग भजनसे भगवान् कभी नहीं प्रसन्न होते। श्रीज्ञानेश्वरजी कहते हैं—'हे अर्जुन! मुझमें अपनापन किये बिना सुरसता नहीं है, मैं किसी भी बाह्य आडम्बरसे नहीं ठगाता।' (ज्ञानेश्वरी अ० ९)

संत तुकारामजी भी इसीका समर्थन करते हैं—

'मनमें कुछ भाव होगा तो वहाँ भगवान् अवश्य आयेंगे। जनाबाई साधारण स्त्री थी, परंतु भगवान् उसके घर पानी भरते थे। शुद्धभाव देखकर ही भगवान् हृदयमें वास करते हैं। तुकारामजी कहते हैं—हे भगवन्! मुझे अपने चरणोंमें शरण दो।'

ढोंग, पाखण्ड, मिथ्या व्यवहार और दिखावटी प्रेमसे मनुष्य भी नहीं ठगाता, पशु-पक्षी भी नहीं फँसते, फिर वह अन्तर्यामी प्रभु कैसे फँस सकता है? अतएव भगवान्के सभी कार्य मन लगाकर सद्भावसे करने चाहिये, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर उचित पुरस्कार देंगे।

अब भगवान्की पूजार्चनाका समय है, अत: सब कार्य ऐसे लगनसे करने चाहिये, जिसमें भगवान्को संतोष हो। बेगार चुकानेके भावसे नहीं करना चाहिये। उसमें अर्थ-स्वार्थ कुछ भी नहीं है। जो वस्तु हमें हृदयसे अच्छी लगे, वही भगवान्के अर्पण करनी चाहिये। झूठसे तो एक बच्चा भी संतुष्ट नहीं होता, फिर प्रेममूर्ति आत्माराम परमात्मा कैसे संतुष्ट होगा? उसको तो प्रेम चाहिये। एक ही फूल या एक ही तुलसीपत्र हो, परंतु सुगन्धित पत्र-पुष्प ही चढ़ाना चाहिये निर्मल हृदयसे। फूलको 'सुमन' कहते हैं, सुमन यानी मनको शुद्ध करके भगवान्को अर्पण करना चाहिये। समर्थ श्रीरामदासजीने कहा है—

'भगवान्से परम सख्य स्थापित करके उन्हें प्रेमके बन्धनसे बाँधना चाहिये, यही सख्य-भक्तिका लक्षण है।' (दासबोध ४।८)

भगवान्को जो बात प्रिय हो, हमें वही करनी चाहिये, इसीसे हमारी भगवान्के साथ सख्यता हो जायगी। उनको प्रिय क्या है? 'भक्तिभाव और भजन, उनका निरूपण तथा उनके कथा-कीर्तनका प्रेमसे भक्तिपूर्वक गान करना।'

भगवान् सत्यस्वरूप हैं, इसलिये उनको सत्य ही प्रिय है। मन, वाणी और कर्ममें पूर्ण सत्य होना भगवान्को प्यारा लगता है। असत्यके अन्धकारमें भगवान् दर्शन नहीं होंगे। भगवान्के कर्म निर्मल सत्यतापूर्व करनेका अभ्यास हो जायगा तो फिर व्यवहारमें मनुष्य असत्यका आचरण नहीं हो सकेगा। व्यवहारका सत्य अलग, राजनीतिका सत्य अलग और परमार्थका सत्य अलग, इस तरह सत्यके नानाविध रूप नहीं हैं। सत्य सत्य ही है। त्रिकालाबाधित सत्य, सभी काल, सभी देश और सभी अवस्थाओंमें एक ही शाश्वत सत्य है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस प्रकार परमात्माका स्वरूप सत्य है, ज्ञानमय और अनन्त है, ऐसा श्रुति कहती है। भगवान् सत्य हैं तो भक्त भी निश्चय सत्य है। सत्य नहीं होगा तो भक्त ही कहाँ होगा? भक्त सच्चा प्रेम करता है, इसीलिये उसके निकट असत्य, कृत्रिमता और ढोंग नहीं होते, वहाँ तो एक लगन होती है।

हमें भगवान्के साथ सचाईका व्यवहार करनेकी आदत डालनी चाहिये। जब हम हृदयसे अपने भगवान्की पूजा करने लगेंगे, तब भगवान् भी हमारा ध्यान रखेंगे। वह तो हृदयकी लगन देखते हैं, इसके अतिरिक्त उन्हें कोई वस्तु प्रिय नहीं है। आजकल 'भावका अकाल' पड़ता जा रहा है। अतएव भाग्यवान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने भावकी रक्षा करे, उसे बढ़ाये और इस लोक तथा परलोकको साधकर कृतकृत्य हो जाय।

व्यर्थ तर्क-वितर्क करनेकी आदत बहुत बुरी है। ऐसी आदत कभी न पड़ने दे। भगवान्के मार्गमें तर्कको स्थान नहीं है। गीतामें भगवान् कहते हैं—श्रद्धावान्को ज्ञानकी प्राप्ति होती है (**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**, ४।३९)। तार्किकके भाग्यमें भक्तिभावका मधुर सुख नहीं है। तर्क, वाद-विवाद और संशय—इन तीन दैत्योंने परमार्थके मार्गको रोक रखा है, अतएव इनको तनिक-सा भी मनमें न रहने देकर जिस भक्तिभावसे मनमें सदा उल्लास बना रहे, उसीको ग्रहण करना चाहिये। भगवान्को जो अनुकूल हो उसका स्वीकार और उनके जो प्रतिकूल हो उसका त्याग कर देना चाहिये। भगवान् मधुर हैं, भगवान् दयालु हैं, भगवान् वत्सल हैं, भगवान् अपने जनोंकी सब प्रकारसे रक्षा करते हैं, ऐसी बढ़नेवाली श्रद्धा और बढ़नेवाले प्रेमको ही सर्वथा अपनाना चाहिये।
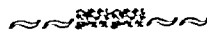
है—पहली वैधी और दूसरी रागानुगा। पहलीको वैधी इसलिये कहा जाता है कि उसमें प्रवृत्तिकी प्रेरणा शास्त्रसे मिलती है जिसे 'विधि' कहते हैं। शास्त्रज्ञ, दृढ़ विश्वासयुक्त, तर्कशीलबुद्धिसम्पन्न और निष्ठावान् साधक ही वैधी भक्तिका अधिकारी है। दूसरी भक्ति रागातिशयके कारण ही उत्पन्न होती है। वस्तुतः रागात्मिका भक्ति और कुछ नहीं स्वाभाविक आसक्तिका नाम है। इस आसक्तिको आदर्श मानकर जो भक्ति की जाती है, उसे 'रागानुगा' (राग—आसक्तिका अनुगमन करनेवाली) कहते हैं। रागात्मक भाव प्रगाढ़ हो जानेपर प्रेम कहलाने लगता है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के रचयिता श्रीरूपगोस्वामीजीने भक्तिको तीन प्रकारका माना है—१-साधनभक्ति, २-भावभक्ति (साध्य भक्ति या नैसर्गिक भावावेशकी स्थिति) तथा ३-प्रेमाभक्ति। साधनभक्तिकी अपेक्षा भक्तिके अवान्तर दोनों भेद अधिक प्रशस्त माने जाते हैं।

भक्ति कर्म और ज्ञानसे मूलतः भिन्न है। प्रेमके शाश्वत बन्धनद्वारा भक्त आदिसे अन्ततक निज व्यक्तित्वको स्वतन्त्र बनाये रखता है अर्थात् वह एकात्माकी कल्पनासे दूर रहकर अपने प्रेमीके प्रेममें निमग्न रहनेको ही जीवनकी सार्थकता मानता है।

प्रेमाभक्ति पाँच प्रकारकी है—१-शान्त, २-दास्य, ३-सख्य, ४-माधुर्य तथा ५-वात्सल्य। दूसरे शब्दोंमें कहा जा सकता है कि प्रेमी भक्त सम्पूर्ण कामनाओं, अर्चा-विधियों तथा ज्ञान और कर्मको त्यागकर जब पूर्णतः ईश्वर अथवा श्रीकृष्णमें अनुरक्त हो जाता है तभी वास्तविक भक्तिभावना प्रकट होती है। जिसका आश्रय पूर्वोक्त दास्यादि रूप होते हैं।

प्रेमाभक्तिको मोक्षसे भी बढ़कर तथा रसरूपा कहा गया है। परमपुरुषकी रसरूपता श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है।[६] लौकिक आनन्द अथवा रसमें भी उन्हीं रसस्वरूप प्रभुकी आंशिक अभिव्यक्ति होती है।[७] रसके विषय एवं आश्रयकी मलिनतासे शुद्ध रसमें भी मालिन्यकी प्रतीति होती है। परंतु भगवद्विषयिणी रति (भगवत्परक प्रेम) पूर्णतः रसरूप होनेके कारण तुच्छ कान्तादि विषयक रतिसे उसी प्रकार बलवत्तरा है, जिस प्रकार खद्योतजनित प्रकाशसे आदित्यप्रभा।[८] विषय (भक्ति) और आश्रय (भगवान्) दोनों अथवा दोनोंमेंसे कोई एक भी रसात्मक हो तो रति (प्रेम) भी विशुद्ध रसरूपा होती है। समष्टिरूपमें कहा जा सकता है कि भक्ति उस रसमय रससिन्धुकी परिचायिका होनेके कारण न केवल रसरूपा है, अपितु रागात्मक रूप धारण कर प्रेमरूपमें प्रकट हो प्रेमकी महत्ताकी परिचायिका बन जाती है।

नारदभक्तिसूत्रमें भक्तिको ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा प्रतिपादित करते हुए प्रेम और भक्तिमें अभेद दर्शनका प्रयास किया गया है।[९] दूसरे शब्दोंमें भगवान्‌में अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीतामें मन और बुद्धिको भगवदर्पण कर अर्थात् चेतना और चिन्तनके स्रोतोंको भगवदभिमुखी बना देनेवालोंको भगवान्‌ने अपना प्रिय या प्रेमास्पद माना है।[१०] यह प्रेमाभक्ति अमृतस्वरूपा कही गयी है।[११] इसे पाकर मानव सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त (पूर्णकाम) हो जाता है।[१२] इसकी उपलब्धि हो जानेपर मानव न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी पदार्थ-विशेषमें आसक्त होता है और न विषयादिके प्रति आसक्ति ही उसके मनमें उत्पन्न होती है।[१३] इसे पाकर व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है, शान्त हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।[१४]

वस्तुतः प्रेमाभक्तिकी महिमा अपूर्व है। यद्यपि इसके भक्त किसी वस्तुकी कामना नहीं करते, तथापि विभिन्न सिद्धियाँ तथा मुक्तियाँ इस भक्तिका दास्य स्वीकार कर इस

---

६. रसो वै सः (तै० उ० २।७।२)
७. किञ्चिन्न्यूनां च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात्॥ (भक्तिरसायन १।१३)
८. परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः। खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥ (भक्तिरसायन २।७६)
९. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ (ना० भ० सू० २)
१०. मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ (गीता १२।१४)
११. अमृतस्वरूपा च॥ (ना० भ० सू० ३)
१२. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥ (ना० भ० सू० ४)
१३. यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ (ना० भ० सू० ५)
१४. यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (ना० भ० सू० ६)

भक्तिके आश्रयकी सेवाके लिये आतुर रहती हैं। परंतु भक्त इन सबको तुच्छ मानकर इनपर दृष्टिपाततक नहीं करता; क्योंकि वह जानता है कि हर्ष, शोक और द्वेष आदिसे रहित, शुभाशुभका त्यागी, प्रेमरूपा भक्तिमें ही सतत प्रव्रजन करनेवाला भक्त ही भगवान्को प्रिय होता है।

भगवत्प्रेम हृदयमें प्रकट होते ही मनुष्यको उन्मत्त बना देता है। अत: प्रेमी भक्त सदैव प्रेमकी मादकता (नशे)-में चूर होकर प्रभुके गुणगान करने-सुनने तथा उसीके चिन्तनमें निमग्न रहता है। उसे इसके अतिरिक्त अन्य बातें अच्छी ही नहीं लगतीं। वह पूर्णत: शान्त होकर आत्माराम बन जाता है और अपने प्रियसे इस प्रकार तादात्म्य स्थापित कर लेता है कि भौतिक मृगतृष्णा उसे भ्रमित ही नहीं कर पाती।[१५]

प्रेम अथवा प्रेमाभक्तिमें अनन्यता सर्वोपरि है। अनन्यता क्या है? इस सम्बन्धमें देवर्षि नारदका कथन है कि अपने प्रिय (भगवान्)-को छोड़कर दूसरे आश्रयोंके त्यागका नाम ही अनन्यता है।[१६]

प्रेमपूर्ण अथवा प्रेमाभक्तिको सर्वाधिक समादृत किया गया है। अतएव उसके लक्षणोंका परिज्ञान भी आवश्यक है। भगवान् वेदव्यास भगवान्के अर्चन तथा पूजन आदिमें अनुस्यूत अनुराग अथवा प्रेमको ही वास्तविक प्रेमाभक्ति मानते हैं।[१७] विष्णुरहस्यमें भी इसी कथनकी पुष्टि है।[१८] श्रीगर्गाचार्यने भगवत्कथादिमें अनुरागको ही भक्ति माना है।[१९] महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग ही प्रेमाभक्ति है।[२०] श्रीशंकराचार्यजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है।[२१] देवर्षि नारदके अनुसार अपने सब कर्मोंको भगवदर्पण करना और भगवान्का निमिषमात्र-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल हो जाना ही प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति है।[२२]

नारदोक्त इन्हीं लक्षणोंको भक्तियोगीमें गठित कर भगवान् कृष्णने उसे सर्वोत्कृष्ट बताया है।[२३] वास्तवमें व्रजगोपिकाओंकी प्रेमातिशयता ही प्रेमाभक्तिका सर्वोत्तम रूप है। उनके प्रेममें अनन्यता, वियोगकी असहनीयता, आकुलता और प्रियविरहकातरता तथा विरहकी समस्त दशाओंका जो उन्मेष है, वह अन्यत्र नहीं उपलब्ध होता। माहात्म्यज्ञान विना स्त्रियोंके द्वारा किसी पुरुषके प्रति किया जानेवाला प्रेम जारोंका-सा प्रेम होता है।[२४] परंतु सर्वार्पणकी भावना तथा स्वार्थहीनता केवल भगवत्प्रेममें ही होती है और वह गोपियोंके पूरे जीवनपर छायी हुई है। इसके अतिरिक्त जार-प्रेममें प्रियके सुखसे सुखी होना भी सम्भव नहीं। परंतु सच्चा प्रेमी स्वयं दु:ख सहकर भी प्रियके सुखमें सुखका ही अनुभव करता है।[२५]

प्रेमरूपा भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योगसे श्रेष्ठतर एवं फलरूपा है।[२६] प्रेमरूपा भक्ति सब साधनोंका फल है।[२७] इसकी सिद्धिके लिये अभिमानसे द्वेष और दैन्यसे प्रेम आवश्यक है; क्योंकि भगवान्को स्वयं अभिमानसे द्वेष और दैन्यसे प्रेम है।[२८] मोक्षकामियोंको भक्तिका आश्रय ही सर्वात्मना ग्रहण करना चाहिये।[२९] परंतु प्रेमी भक्त मुक्तिकी

---

१५. न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति॥ (श्रीशिवमहिम्न:स्तोत्र ८)

१६. (अ) अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता॥ (ना० भ० सू० १०)

(ब) उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥ (रा०च०मा० ३।५।१२)

(स) प्रीतम-छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आप फिरि जाय॥ (रहीम)

१७. पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य:॥ (ना० भ० सू० १६)

१८. श्रीविष्णोरर्चनं ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि। ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम्॥ (विष्णुरहस्य)

१९. कथादिष्विति गर्ग:। (ना० भ० सू० १७)

२०. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य:॥ (ना० भ० सू० १८)

२१. मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयत॥ (तत्त्वबोध १८)

२२. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ (ना० भ० सू० १९)

२३. तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:॥ (गीता ६।४६-४७)

२४. तद्विहीनं जाराणामिव॥ (ना० भ० सू० २३)

२५. नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्। (ना० भ० सू० २४)

२६. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥ फलरूपत्वात्॥ (ना० भ० सू० २५-२६)

२७. जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥ (रा०च०मा० ७।१२६।७)

२८. ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥ (ना० भ० सू० २७)

२९. तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभि:॥ (ना० भ० सू० ३३)

ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।[३०]

यह तो हुई प्रेमाभक्तिकी बात, अब लिया जाय प्रेमको। भक्तिसे पहले जुड़कर अर्थात् प्रेमाभक्तिको सर्वश्रेष्ठ भक्तिका रूप प्रदान कराते हुए और स्वयं अपनी महत्ता भी उसके साथ ख्यापित करते हुए यद्यपि प्रेम अपने सम्बन्धमें बहुत कुछ बता जाता है, तथापि उसके स्वरूप ज्ञानकी पिपासा शमित करनेके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि प्रेमका स्वरूप गूँगेके लिये गुड़के स्वादकी भाँति अनिर्वचनीय होता है।[३१] वह प्रेम किसी विरल पात्रमें ही प्रकट होता है।[३२]

प्रेम गुणरहित, कामनारहित, सतत वर्धमान, विच्छेदरहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप होता है अर्थात् प्रेमको केवल अनुभवद्वारा ही जाना जा सकता है। अन्य कोई उपाय उसे जाननेका नहीं है।[३३] इस प्रेमको पाकर प्रेमी प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन और चिन्तन करता है।[३४] इस प्रकार परिणाम यह होता है कि प्रेमी और प्रिय (भक्त और भगवान्) दोनों एक-दूसरेके लिये प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[३५]

गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिके भेदसे तीन प्रकारकी मानी जाती है। प्रेमाभक्तिको परा अथवा मुख्या कहा गया है और इसे गौणीकी अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही उसके सम्बन्धमें कहा गया है कि अन्य सभी भगवत्प्राप्तिपरक उपायोंकी अपेक्षा प्रेमाभक्ति अधिक सुलभ है। वह स्वयं न केवल प्रमाणस्वरूपा है, अपितु शान्ति तथा परमानन्दरूपा है।[३६]

देवर्षि नारदके अनुसार प्रेमाभक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकारकी होती है—१-गुणमाहात्म्यासक्ति, २-रूपासक्ति, ३-पूजासक्ति, ४-स्मरणासक्ति, ५-दास्यासक्ति, ६-सख्यासक्ति, ७-कान्तासक्ति, ८-वात्सल्यासक्ति, ९-आत्मनिवेदनासक्ति, १०-तन्मयतासक्ति तथा ११-परम विरहासक्ति।[३७] आसक्ति किसी भी प्रकारकी और किसी भी रूपमें क्यों न हो, उसमें अनन्यता और उत्कटता होगी तो परमेश्वरको रीझना ही पड़ेगा।

चैतन्यमतमें तो प्रेमिकाकी रागमयी आसक्तिको ही भक्त-हृदयमें सँजोनेका संदेश दिया गया है, जिसकी स्वल्पतम अनुगूँज वृत्रासुरके कथनमें उपलब्ध होती है।[३८]

---

३०. अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥ (रा०च०मा० ७। ११९। ३-४, ७)

३१. (अ) अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ॥ मूकास्वादनवत्॥ (ना० भ० सू० ५१-५२)
(ब) तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥ (रा०च०मा० ५। १५। ६-७)
(स) डूबै सो बोलै नहीं, बोलै सो अनजान। गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥
(द) गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूड़े जहाँ हजारु। वहै सदा पसु नरनु कौं प्रेम-पयोधि पगारु॥

३२. प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ (ना० भ० सू० ५३)

३३. (अ) गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (ना० भ० सू० ५४)
(ब) बिनु जोबन गुन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि। सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥ (रसखान)

३४. (अ) तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥ (ना० भ० सू० ५५)
(ब) लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल। (कबीर)
(स) यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्॥ (छान्दोग्य० ७। २४। १)

३५. यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६। ३०)

३६. (अ) गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ (ब) उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ (स) अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ।
(द) प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्॥ (इ) शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च॥ (ना० भ० सू० ५६—६०)

३७. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति। (ना० भ० सू० ८२)

३८. अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्। (श्रीमद्भा० ६। ११। २६)

वस्तुतः प्रेम अलौकिक महिमान्वित पदार्थ है। विश्वका सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु भी उससे विरहित नहीं है। विश्वके प्राच्य और अर्वाच्य सभी विद्वानोंने इसके महत्त्वके सामने नतमस्तक हो इसका गुणगान किया है। संस्कृतमें श्रीमद्भागवतके अतिरिक्त इस (प्रेम)-का गुणानुवाद करनेवालोंमें देवर्षि नारद, भवभूति और रूपगोस्वामी आदि सुप्रसिद्ध हैं।[३९] हिन्दीमें कबीर, उस्मान, रसखान, सत्यनारायण कविरत्न तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि,[४०] उर्दूमें ग़ालिब एवं रेहाना तैयबजी आदि[४१] तथा अंग्रेजीमें टैपर, किंग्सफोर्ड और हर्बर्ट स्पेंसर आदि प्रसिद्ध हैं। इन सबने प्रेमको केन्द्रीय शक्ति तथा ईश्वरकी प्रथम सृष्टि आदि उत्कृष्ट रूपोंमें प्रतिपादित किया है, परंतु प्रेमकी उपलब्धि सहज नहीं, उसके लिये बलिदान आवश्यक है और वह भी स्वयंके प्रियतम प्राणोंका ही।[४२] इस बलिदानके पश्चात् ही प्रेम अथवा मधुरा या प्रेमाभक्तिकी सिद्धि होती है। यह सिद्धि होनेपर प्रियका सर्वाङ्गीण स्वरूप ही माधुर्यमें परिसिक्त होकर साधकके सामने आ जाता है और उसे अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी अनुभूति करा देता है।[४३]

प्रेम हृदयका विषय है। जहाँ हृदय आकर्षित [illegible] प्रेम हुआ।[४४] सूरने प्रेमके इसी रूपको प्रस्तुत कर प्रेम[illegible] अनन्यता और असाधारणताका परिचय दिया है।[४५] महा[illegible] सूरने स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया है कि प्रेमी [illegible] प्रेमोपलब्धिके पश्चात् न अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा र[illegible] है न कामना।[४६] महाकवि सूरने अपने काव्यमें प्रेमके [illegible] रूपका प्रतिपादन किया है, वह वेदान्तियोंका शुष्क [illegible] नहीं, अपितु ऐसा प्रेम है जो माधुर्य रससे परिप्लावित [illegible] यही कारण है कि सूरसागर रस-सागर बन गया है। [illegible] ही नहीं, सूरदासजीका प्रेम क्रमशः विकसित हो[illegible] विश्वप्रेममें पर्यवसित हुआ है। सूरदासजीके द्वारा व[illegible] प्रेममें जो अनन्यता, अधीरता, मधुर वेदना और निःस्वा[illegible] अनुस्यूत है, वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। समष्टि[illegible] सूरदासजीद्वारा प्रतिपादित-पोषित प्रेमके सम्बन्धमें [illegible] कहा जा सकता है कि विश्वकी विभिन्न प्रेमानुभूतियों[illegible] सार ही सूरदासजीमें सरस रस बनकर आ समाया है[illegible]

प्रेमाभक्तिका आधार तो प्रेम है ही, मधुर रस[illegible]

---

३९. (अ) अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ (ना० भ० सू० ५१)

(ब) सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥ (भ०र०सि० १।४।१)

(द) अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद् विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥ (उत्तररामचरितम् १।३९)

४०. (क) जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान॥—कबीर

(ख) आदि प्रेम बिधिने उपराजा। प्रेमहि लागि जगत सब साजा॥—उस्मान-चित्रावली।

(ग) प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम-स्वरूप। एक होय द्वै यों लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥ (रसखान)

(घ) उलटा-पलटी करहु निखिल जग की सब भाषा। मिलहि न पै कहुँ एक प्रेमपूरन-परिभाषा॥ (कविरत्न सत्यनारायण)

(ङ) जाको लहि कछु लहनकी चाह न हियमें होय। जयति जगत-पावन-करन प्रेम बरन यह दोय॥ (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

४१. (अ) शायद इसीका नाम मुहब्बत है शेफ़ता। एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई॥ (ग़ालिब)

(ब) हिन्दी-कवि घनानन्दजीने इसी भावको इस रूपमें व्यक्त किया है—
जबतें निहारे घन आनँद सुजान प्यारे, तबते अनोखी आगि लागी रही चाहकी॥

४२. (क) यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं। सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

(ख) प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट विकाय। राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय॥ (कबीर)

४३. अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम्। हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥ (मधुराष्टकम्)

४४. दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरेव। तस्य तु तदेव मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

४५. ऊधौ! मन माने की बात।

× × ×

'सूरदास' जाकौ मन जासौं सोई ताहि सुहात॥

४६. भक्त वृत्रासुरने भी यही बात कही है—न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ (श्रीमद्भा० ६।११।२५)

(भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—) सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका एकच्छत्र राज्य और योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।

आधार भी प्रेम ही है। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं जिस प्रकार ऋग्वेदमें **'स ब्रह्मा, स विष्णुः, स रुद्रः'** कहकर त्रिदेवोंमें अभेद स्थापित करते हुए प्रकारान्तरसे एक ही ईश्वरकी सत्ता सिद्ध की गयी है। ठीक उसी प्रकार प्रेमाभक्ति, मधुर रस तथा प्रेम—तीनोंको पृथक् बताकर भी प्रेमको आधाररूप अथवा आत्मतत्त्वके रूपमें निरूपित कर **'प्रेमैव कार्यम्'** उद्घोषद्वारा उसीको महत्ता दी गयी है।

प्रेमाभक्तिके सम्बन्धमें पहले कहा जा चुका है। यहाँ मधुर रसका यत्किञ्चित् परिचय प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है। प्रेमी सत्पुरुषोंके हृदयमें भगवान्के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभावानुभावादिद्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। श्रीमद्भागवतमें इस रसका अगाध पयोधि उर्मिल होता परिलक्षित होता है। वहाँ इस रसके आलम्बन हैं श्रुतियोंके रसरूप प्रेमात्मा श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। इस रसमें सात्त्विक भावका चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है। वस्तुतः मधुर रति ही विकसित होकर क्रमशः प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावरूपमें परिणत होती है। प्रेम सर्वाधिक व्यापक होनेसे इस रसका मुख्य प्रतिपाद्य है।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ अनिर्वचनीय हैं तथापि भागवतोक्त अवस्थाएँ तो इतनी अलौकिक हैं कि उनकी समता कठिनतासे ही अन्यत्र मिल सकती हैं। प्रेमको अमृतस्वरूप, श्रेष्ठरस और आनन्द-रसकी चरम सीमा बताते हुए भागवतमें इसे 'महाभाव' के रूपमें अभिहित किया गया है। इसमें प्रेमी प्रियरूप दर्शनमें बाधक पलकोंको कोसता है।[४७] प्रियको किसी भी चेष्टासे कष्ट न हो, इस विचारसे शंकाकुल रहता है[४८] तथा प्रिय-दर्शन बिना उसका एक-एक पल युग-सा बीतता है।[४९] इस अवस्थामें पहुँचा हुआ प्रेमी सांसारिक समस्त सुखों, लोकोत्तर भोगों और मुक्तिको भी सर्वथा नगण्य समझता है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इसकी उत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है।[५०]

यह मधुरभावरूपा परिपुष्ट मधुर रति ही मधुररस, उज्ज्वलरस अथवा दिव्य शृंगाररसके नामसे अभिहित की जाती है। शृंगारके अन्तर्गत संयोग-वियोग दोनोंका वर्णन होता है, परंतु श्रीमद्भागवतके अनुसार इस अवस्थामें प्रिया-प्रियतमका वियोग सम्भव नहीं।

भगवान्का संयोग-सुख अवर्णनीय है। वास्तवमें मधुर रसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। संयोग ही रसराजकी सरस अवस्था है। यह शृंगार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमें जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं।

दूसरे शब्दोंमें लोकपक्षका शृंगार ही भक्तिपक्षमें मधुर रस (भाव) कहलाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथजीने 'शृंगार-मण्डन' नामक ग्रन्थमें इस रसका प्रतिपादन किया है। उन्होंने इस ग्रन्थमें भक्त (प्रेमी)-मनको ऐन्द्रिय विषयोंसे हटानेका शृंगार या मधुर रस (भक्ति)-को अमोघ उपाय माना है एवं आत्मसमर्पण तथा अनन्यभावको मधुर रसकी अनुभूतिके लिये अनिवार्य माना है। महाकवि सूरने अपने सूरसागरमें इसे सर्वोत्कृष्टरूपमें तरङ्गायित किया है। सूरकी 'दानलीला' मधुर रतिकी परम परिणति कही गयी है।

समष्टिरूपमें भगवत्परक प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति वह साधन है जो प्रेमीको प्रियसे न केवल मिलाता है, अपितु द्वैतको तिरोहित कर उस रस-सागरमें इस प्रकार निमज्जित कर देता है कि संत कबीरका कथन सार्थक हो उठता है—

बूँद समानी समद मैं सो कत हेरी जाइ॥

---

४७. यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृतं शपन्ति। (भा० १०।८२।४०)

४८. भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु। (भा० १०।३१।१९)

४९. त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्। (भा० १०।३१।१५)

५०. हलदि नीर सार अंशतार प्रेमनाम। आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परभुसार महाभाव जानि। सेइ महाभाव रूपा राधा ठाकुरानी॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित। कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभावह्य चिन्तामणि सार। कृष्ण वाँछापूर्ण अरे एइकार्य यार॥
महाभाव चिन्तामणि राधार स्वरूप। ललितादि सरवीयार कायव्यूह रूप॥ (पृ० १३२)

भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानमें आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।

जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत—नियम ले लेता है, उसके हृदयमें अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-संकीर्तनमें अनुरागका—प्रेमका अङ्कुर जाग उठता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। वह सामान्य लोगोंकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोगोंकी मान्यताओं, धारणाओंसे परे हो जाता है और दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसने लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है, कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोंका गान करने लगता है और कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्रोंके सामने अनुभव करता है तो उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है। यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, वनस्पति, नदी और समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं, सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं—ऐसा समझकर वह जो कोई भी उसके सामने आ जाता है, चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी, उसे अनन्यभावसे—भगवद्भावसे प्रणाम करता है।*

ऐसा प्रेमी भक्त सर्वत्र और सर्वदा अपने प्रेमास्पद प्रभुके दर्शन करता है। ऐसे ही भक्तके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

अर्थात् जो सम्पूर्ण भूतोंमें मुझ वासुदेवको व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं कभी ओझल नहीं होता तथा मेरे

प्रेम लग्यो परमेस्वर सौं, तव भूलि गयो सव ही घरवार।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैकु रही न सरीर सँभार॥
साँस उसास उठैं सव रोम, चलै दृग नीर अखंडित धार।
'सुंदर' कौन करै नवधा विधि, छाकि पर्यो रस पी मतवार॥
न लाज कानि लोक की, न वेद को कह्यो करै।
न संक भूत प्रेत की, न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कान और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न कछू और वात, भक्ति प्रेम लच्छना॥

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विलक्षण बात है कि प्रेमी भक्तका भगवान्‌के साथ दुतरफा रिश्ता है, इकतरफा नहीं। भक्ति किस प्रकार की जाय, उसमें क्या विधि-निषेध पालन करने पड़ते हैं; इस विषयमें शास्त्रोंमें जितने विस्तारसे चर्चा की गयी है, भगवान्‌की तरफसे इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, उसका शास्त्रोंमें उतने विस्तारसे वर्णन नहीं मिलता है।

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं, जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही चिन्तन-मननमें तल्लीन रहता है और जो राग-द्वेष छोड़कर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं यह सोचकर निरन्तर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोंकी धूलि उड़कर मेरे शरीरपर पड़े और मैं पवित्र हो जाऊँ।

तीनों लोकोंके स्वामी परब्रह्म परमात्माने अपने भक्तको कितना आदर दिया है, कितना प्यार और सम्मान दिया है, यह सोचा भी नहीं जा सकता। वाह रे प्रभु!

* एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः। हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४०-४१)

आपके प्रेमकी लीला अचिन्तनीय है—

चेष्टा विभूम्नः खलु दुर्विभाव्या।

(श्रीमद्भा० ४। ११। १८)

कभी-कभी भक्त समझता है कि मैं ही भगवान्‌का ध्यान करता हूँ, परंतु सच बात तो यह है कि भगवान् भी भक्तका ध्यान करते हैं। एक बार राजा युधिष्ठिरने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण ध्यानमें बैठे हुए हैं। भगवान् जब ध्यानसे उठे तो युधिष्ठिरने उनसे पूछा—भगवन्! सारा संसार तो आपका ध्यान करता है, परंतु आप किसका ध्यान कर रहे थे? भगवान्‌ने उत्तर दिया—युधिष्ठिर! मैं शर-शय्यापर पड़े हुए अपने भक्त भीष्मका ध्यान कर रहा था कि वे कैसे हैं?

इसलिये यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि भगवान्‌से हमारा रिश्ता दुतरफा है। हम उनका जिस प्रकार और जैसा ध्यान-भजन करते हैं, वैसा ही वे भी हमारा ध्यान-भजन करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(४। ११)

जो भक्त मुझे जिस प्रकारसे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकारसे भजता हूँ (फल देता हूँ)। हे अर्जुन! किसी भी ओरसे मनुष्य अन्तमें मेरे ही मार्गमें आ मिलते हैं।

श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही कहा गया है—

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥

(१।१।२)

पुण्यात्मा पुरुष यदि इस श्रीमद्भागवतमहापुराणकी कथा सुननेकी इच्छा करे तो उसकी इस इच्छामात्रसे भगवान् श्रीकृष्ण उसके हृदयमें बंदी बनकर बैठ जाते हैं।

महान् प्रेमी भक्त, ज्ञानी संत कबीरदासजीने अपने स्वयंके अनुभवको कितनी दृढ़तासे कहा है—

'आगे पीछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर।'

जैसे कोई पिता अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रके साथ आगे-पीछे चलकर उसको अत्यन्त प्यारसे पुकारता है, वैसे ही कबीर साहब कहते हैं—मेरे 'पिव' मेरे साथ आगे-पीछे चलते रहते हैं और अत्यन्त प्रेमसे पुकारते हैं—बेटा कबीर! बेटा कबीर!

वस्तुतः भगवान् तो भक्तके प्रेमके वशमें रहते हैं। बस; प्रेमसे उन्हें पुकारने, उनका नित्य स्मरण रखने और उनके वियोगमें विकल रहनेकी आवश्यकता है, उन्हें रीझते देर नहीं लगती, कोई पुकार करके तो देखे!

प्रेमतत्त्व-मीमांसा

(डॉ० श्रीकैलाशनाथजी द्विवेदी, एम्०ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

पृथ्वीके प्रत्येक प्राणीमें प्रेम प्रकृत्यैव परिलक्षित है। 'प्रेम' शब्दका अर्थ है—प्रीति, स्नेह, अनुराग एवं अनुग्रह आदि। वस्तुतः प्रेम हृदयका एक मधुर भाव है, जिसकी अभिव्यक्ति और प्रतीति जीवनमें हम प्रायः पाते रहते हैं। जब कोई प्राणी किसीके विलक्षण लक्षणों, गुणों या विशेषताओंसे आकृष्ट अथवा प्रभावित होता है तो उसके प्रति प्रीति, स्नेह अथवा आदरपूर्ण अनुरागकी स्वाभाविक उत्पत्ति हृदयमें हो जाती है।

आचार्य रूपगोस्वामीने इस प्रेम अथवा प्रीतिका लक्षण विविध रूपोंमें इस प्रकार निरूपित किया है—

(१) सम्भ्रमप्रेम—जब प्रभुताके ज्ञानके कारण चित्तमें आदरपूर्ण कम्प उत्पन्न होता है, तब इससे ऐक्यभावको प्राप्त प्रीति 'सम्भ्रम' कही जाती है—

सम्भ्रमः प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादरः।
अनेनैक्यं गता प्रीतिः सम्भ्रमप्रीतिरुच्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिम २।४०)

(२) गौरवप्रेम—जब देह-सम्बन्धी मात्राओंसे गुरुबुद्धि प्रेमपात्रसे तन्मय होकर गौरवमय प्रीतिका अनुभव करती है, तब उसे 'गौरवप्रीति' कहा जाता है—

देहसम्बन्धितामात्राद् गुरुधीरत्र गौरवम्॥
तन्मयी लालके प्रीतिर्गौरवप्रीतिरुच्यते।

(भक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिम २।७६-७७)

(३) प्रेमवैचित्त्य—जब प्रियके समीप रहते हुए प्रेमके उत्कर्षसे अपनेमें वियोगबुद्धिद्वारा भ्रमसे पीड़ा होने लगती है तो उसे 'प्रेमवैचित्त्य' कहा जाता है—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः।
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥

(उज्ज्वलनीलमणि, शृङ्गारभेद, १३४)

प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव क्रमशः विकसित और परिपूर्ण होकर 'प्रेमाभक्ति'-कोटिमें पहुँच जाते हैं। प्रेमके प्रादुर्भावके लिये साधकमें क्रमशः श्रद्धा, सत्संग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव (श्रीकृष्णविषयक रति)-का परिपक्व होना परमावश्यक है। जैसा कि कहा गया है—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४।६-७)

प्रेमकी अभिव्यक्तिमें स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय-जैसे सात्त्विक विकार स्वाभाविकरूपसे प्रायः परिलक्षित होते हैं—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः॥
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।

(साहित्यदर्पण ३।१३५-१३६)

प्रेमसम्पुटकारने प्रेमतत्त्वको कामतत्त्वसे अभिन्न माना है; क्योंकि इसकी प्रतीति कभी-कभी बाह्य विकारोंसे ही परिलक्षित होती है। कलावान् श्रीकृष्ण इससे आनन्दित होते हैं। किसी-किसी जनमें यह प्रेम-सा ही दृष्टिगत होता है। जैसा कि कहा गया है—

प्रेमा हि काम इव भाति बहिः कदाचि-
त्तेनामितं प्रियतमः सुखमेव विन्देत्।
प्रेमैव कुत्रचिद् वेक्ष्यत एव कामः
कृष्णस्तु तत् परिचिनोति बलात् कलावान्॥

(प्रेमसम्पुट ५८)

कविकुलगुरु कालिदासने प्रेमको भावरूपमें स्थिर जन्म-जन्मान्तरका सौहार्द बताया है, जो अनजाने ही कभी रम्यरूप और मधुर शब्दों (संगीत)-को सुनकर जाग्रत् हो जाता है तथा उसकी स्मृति आ जाती है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५।२)

वस्तुतः चित्त ही प्राणियोंके जन्मान्तरके अर्जित प्रेमको जानता है और पहचान लेता है। जैसा कि 'कथासरित्सागर' में कहा गया है—'**चित्तं जानाति जन्तूनां प्रेम जन्मान्तरार्जितम्**'

इस लेखकको इस तथ्यका साक्षात् दृष्ट अनुभव है, जिसने पड़ियासहित एक नयी दुधारू भैंस जिस गाँवसे खरीदी, वहाँसे भैंसके साथ एक कुतिया भी सहेली-सी चली आयी। बंद बाड़ेमें दिनमें खुले किवाड़ पाकर कुतिया भैंसके पास नित्य आकर बैठती, सूँघती, चाटती और प्रेम प्रकट करती। प्रायः भगानेपर भी वहाँसे नहीं भागती। वह उस गाँवको भी नहीं लौटी, जहाँसे भैंसके साथ आयी थी। कुछ मासके बाद रातमें किसीने चारेमें विष डालकर भैंसको मार डाला। सद्यःप्रसूता कुतिया अपने पिल्लोंको छोड़कर भैंसके शवविच्छेदन-स्थलतक करुण चीत्कार करती गयी और उसने खाना-पीना भी बंद कर दिया। दो दिन बाद प्रेमव्याकुल वह स्वयं भी दिवंगत हो गयी। इन दो भिन्न वर्गोंके पशुओंमें परस्पर पूर्वजन्मका अनुराग भावरूपमें स्थिर अवश्य रहा होगा, जिसमें स्वार्थ, वासना, लिप्सा आदि विकार हम नहीं पाते।

श्रीसीतारामके आदर्श अद्वैत दाम्पत्यप्रेमके माध्यमसे प्रेमकी अनिर्वचनीयता, व्यापकता और विलक्षणता भवभूति इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

(उत्तररामचरितम् १।३९)

अर्थात् सुख-दुःखमें, सभी अवस्थाओंमें जो सच्चा प्रेम अद्वैत—एक-सा रहता है, जो हृदयका विश्राम है और वृद्धावस्थामें भी जो अनुराग कम नहीं होता, जिसका रस नष्ट नहीं होता। समय बीत जानेपर संकोच आदि आवरणके हट जानेसे प्रगाढ़ और प्रबल प्रेम स्थिर रहता है। ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-प्रेमकी प्राप्ति सौभाग्यसे ही किसीको होती है।

हिन्दीके मध्ययुगीन भक्त कवियोंने प्रेमतत्त्वकी स्वानुभूतिमयी सुन्दर मीमांसा अपनी सीधी-सपाट भाषामें की है, जिनमें गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, संत कबीर, दादूदयाल, रैदास, मीरा, रज्जबके अतिरिक्त प्रेममार्गी (सूफी) संत कवि जायसी, कुतुबन, मंझन आदि विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। इन भक्त कवियोंने प्रेमको परमात्मस्वरूप,

अतिव्यापक, अलौकिक और अद्वैत बताया। यथा—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं ज्यौं सूरज अरु धूप॥

प्रेम सहज (स्वाभाविक), अमूल्य और सर्वव्यापी है। स्वार्थरहित होकर त्याग (स्वत्व समर्पण)-की विशुद्ध भावनासे जो इसे ग्रहण करना चाहता है, वह इसे पा लेता है। जैसा कि कबीरने कहा है—

प्रेम न खेतौं नींपजै, प्रेम न हाट बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥

जिसे पाकर प्राणीको अन्य प्राप्तव्य अथवा काम्य नहीं रहता, वह परम पावन दो अक्षरोंका प्रेम (प्रीति) संसारमें सर्वातिशायी होकर परम श्रेयस्कर है—

जाकों लहि कुछ लहन की चाह न हिय में होय।
जयति जगत पावन करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

वस्तुत: *'ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सुपंडित होइ'* उक्तिके माध्यमसे ज्ञानकी अपेक्षा प्रेम और भक्तिकी श्रेष्ठता सभी संत कवियोंने स्वीकार की है। इस निश्छल प्रेममार्गमें द्वैत नहीं, कुटिलता और विषमता नहीं है। द्विविधा छोड़कर अकेले चलकर वृन्दावनकी साँकरी प्रेमगलीमें काँकरी गड़नेका भी भय नहीं रहता; क्योंकि ***'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥'*** हिन्दीके सुकवि घनानन्दने इस अद्वैतभावको इस प्रकार प्रभावीरूपमें प्रकट किया है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

(घनानँदकवित्त ८२)

मीन-जैसे जलचरोंमें भी प्रेम प्रेरणामय प्राणाधाररूपमें परिलक्षित है। अटपटे प्रेमकी रीति एवं चित्त-मनकी दशा सर्वथा अनिर्वचनीय है, जिसमें अप्राप्ति और अतृप्तिसे अकुलाहट एवं निपट निराशा है। घनानन्दके ही शब्दोंमें इस तथ्यको देखें—

हीन भएँ जल मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि-समानै।
नीर-सनेही कौं लाय कलंक, निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै॥
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानैं परे को प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै॥

पावन प्रेममग्न प्राणीका हृदय अपने प्रियतमके वियोगके कारण चिन्ता, उद्वेग, संताप, अश्रु, अनिद्रा आदिके द्वारा सरलतासे पहचाना जा सकता है। विरहव्यथित उस प्रेमिककी जीवनदशा बड़ी विचित्र और विषादजनक हो जाती है। यथा—

अंतर उदेग-दाह, आँखिन प्रवाह-आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हो, हँसिबो न रोइबो हू,
खोय खोय आप ही मैं चेटक-लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनंदघन,
बिरह बिषम दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन, जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें वर्णित लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियोंका निश्छल प्रेम अलौकिक है। सखा उद्धवके माध्यमसे अपना प्रेमसन्देश भेजनेवाले श्रीकृष्णके प्रति प्रेम प्रकट करती विरहाकुल गोपियोंकी व्याकुलतापूर्ण अव्यक्त अभिव्यक्ति कवि 'रत्नाकर'के शब्दोंमें कितनी सशक्त एवं सजीव लगती है—

बिरह बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीन सौं।
कहै 'रत्नाकर' बुझावन लगे ज्यौं कान्ह,
ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीन सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम पर्‍यो चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥

(उद्धवशतक)

रासेश्वरी श्रीराधाका नि:स्वार्थ त्यागमय पावन प्रेम विश्वबन्धुत्वके व्यापक, विराट् क्षितिजको छू लेता है। व्रजसे चले जानेपर पुन: प्रेमिक व्रजेश्वरके न लौटनेपर राधा अपना अनन्य अनुराग प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति 'हरिऔध'के शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

'प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें।'

(प्रियप्रवास)

आज भौतिकताकी आँधीमें हमारा अनास्थामय जीवन परस्पर अविश्वास, घृणा, स्वार्थ, असहिष्णुता आदि दुर्गुणोंसे

परिपूर्ण हो गया है। फलस्वरूप समाजमें सर्वत्र हिंसा और अशान्तिमय वातारण व्याप्त है। सामाजिक सम्बन्धोंमें सहजता, निश्छलता और मृदुलता लुप्तप्राय-सी हो गयी है। पूज्य गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा, सम्मान, समवयस्क एवं छोटोंके प्रति प्रेम-स्नेह शनैः-शनैः समाप्त होता जा रहा है। संयुक्त परिवार विघटित होकर विखर रहे हैं। नित्यके कलह, लोभ और लिप्सासे मधुर दाम्पत्यजीवन कटुतापूर्ण क्रोधरूपी सर्पदंशसे विषाक्त होकर विच्छिन्न हो रहा है। ऐसी परिस्थितिमें लोकजीवनको पावन भगवद्भक्ति और प्रेमके प्रति आकर्षित करना, प्रीतिकी प्रतीति वढ़ाना तथा अलौकिक अनुरागकी आस्था जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है।

वस्तुतः व्यापक प्रेम धर्म, जाति, क्षेत्र, [illegible] आदिकी संकीर्ण सीमाओंसे परे है। परस्परको [illegible] त्याग, सहिष्णुता और समर्पणकी उदात्त मानवीय भावनासे ही जन-जनमें प्रीति-प्रतीतिका प्रादुर्भाव होगा तथा निश्छल स्नेह-सद्भावसे परस्पर अविश्वास, अशान्ति एवं वैमनस्य समाप्त होगा।

विश्वमैत्री, विश्वबन्धुत्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं **'विश्वमेकं भवेन्नीडम्'**—स्वरूपको पानेके लिये, आतंकवाद और उग्रवाद-जैसे हिंस्र दुर्भावोंको समाप्त करनेके लिये भगवद्भक्तिके साथ ही प्रेमतत्त्वको भी हमें हृदयङ्गम करते हुए इसका आचरण अवश्य करना चाहिये।
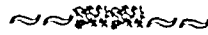
~~~

'प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप'

(श्रीकृष्णानन्दजी जायसवाल)

भक्ति-काव्यका केन्द्रीय तत्त्व है—प्रेम।

प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। यह प्रेम अवर्णनीय है तथा अपने अद्भुत आकर्षणमें सबको बाँधे रहता है। जीवनको चमत्कृत किये रहता है। अपनी रहस्यमयतासे सबको मुग्ध करनेवाला यह प्रेमतत्त्व जिसे प्राप्त है समझो, उसे सब कुछ मिल गया है।

प्रेम अत्यन्त व्यापक वस्तु है—मनुष्यमें ही नहीं, अपितु समस्त प्राणियोंमें इसका वास है। अच्छा लगना, आकर्षण महसूस करना, निकटताकी कामना करना तथा वियोगमें और अधिक घनीभूत होना—प्रेमकी पहचान है।

मनुष्यके लिये आनन्दप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमें प्रेम श्रेष्ठतम है। इस आनन्दमें चरम संतोष और तृप्ति होती है। प्रेम जीवनके उन क्षणोंकी उपलब्धि है, जहाँ सुख या आनन्द ही सब कुछ है। यह प्रेम वहाँ लीलामय स्वरूप धारण कर लेता है और तब वह लीला साधन एवं सिद्धि दोनों बन जाती है। वहाँ वियोगभाव भी उसी लीलाके अन्तर्गत होनेके कारण दुःखद नहीं होता। वैसे भी संयोग और वियोग उसी प्रेम-आनन्दके अन्तर्गत हैं—प्रेम-लीलाके अंश हैं।

कबीरदासजी वताते हैं कि मैं धूपमें जल रहा था तो छायाके लिये मैंने पेड़की तरफ देखा। पेड़से छाह माँगी, पर पेड़से निकली ज्वाला। यह ज्वाला कहाँ, कैसे बुझेगी? जंगलमें लगी आग बुझानेके लिये शीतल जलकी तलाशमें दौड़ता हूँ; किंतु जलसे भी आग ही निकले तो फिर कहाँ जाऊँ?

> धूप दाह्य तें छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ।
> तरवर माँहे ज्वाला निकसै, तो क्या लेइ बुझाऊँ॥
> जे वन जलै तो जलकू धावें मति सीतल जल होइ।
> जल ही माँहि अगनि जब निकसै और न दूजा कोइ॥

सच तो यह है कि प्रेम और भक्तिकी [illegible] सहजता-उदारता तथा सात्त्विक विचारोंके समन्वयमें ही सम्भव है। जब भगवान्‌के सहज स्वभाव और उसकी लीलाओंमें भगवान्‌के अलौकिक गुणोंकी अनुभूति तथा *'ईश्वर अंस जीव अबिनासी'* का लक्ष्य रखा जाता है, तभी प्रेमका प्रादुर्भाव हो सकता है। निःसंदेह भक्ति और प्रेमकी एकरूपता प्रेममें ही पर्यवसित है।

~~~

पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेमकी अनिवार्यता

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

यह भारत-वसुन्धरा वह ऋतम्भरा एवं विश्वम्भरा है, जहाँ धनसे अधिक धर्मको, भोगसे अधिक योगको तथा साधना, आराधना और उपासनाके क्षेत्रमें भगवत्प्रेमको सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह भारतभूमि वह ज्ञानभूमि है, जहाँके आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, अमलात्मा, शुद्धात्मा, महात्मा महामनीषियोंने अपने भगवत्प्रेम-समन्वित तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण संसारका मार्गदर्शन, पथप्रदर्शन एवं दिशा-निर्देशन किया है। इतना ही नहीं, यह वह धर्मभूमि और कर्मभूमि है, जहाँ भगवत्प्रेममय धर्म तथा भगवत्प्रेममय कर्मकी रक्षाके लिये अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, परात्पर, परब्रह्म, परमात्मा, सर्वात्मा विश्वात्मा स्वयं विविध रूप धारण कर इस भगवत्प्रेमके पथको प्रशस्त करनेके लिये उपस्थित होता है।

शास्त्रोंमें सुख-शान्ति, गति-प्रगति-उन्नति, रति और विरति (निर्वेद)—इन सबके स्फुरण और जागरणका मूल कारण भगवत्प्रेमको ही माना गया है। इसीलिये अद्वैतवादी भगवान् आद्यशङ्कराचार्यने भी भगवत्प्रेमकी सार्थकता और अनिवार्यताका पक्षपोषण करते हुए **'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी'** कहकर भगवत्प्रेमकी गरिमा-महिमा, सत्ता-महत्ता, उपयोगिता एवं आवश्यकताको विशेषरूपसे स्वीकारा है।

उनके मतानुसार इस भगवत्प्रेमका ऐसा प्रभाव है कि मुक्तपुरुष भी भगवत्प्रेमका रसास्वादन और समास्वादन करनेके लिये लीलामात्रसे मनुष्यरूप धारण कर परमात्माका भजन करते हैं—**'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा तं भजन्ते'**।

यही निर्मल, विमल, धवल और उज्ज्वल भगवत्प्रेम सबको भक्ति, मुक्ति, शक्ति तथा शान्तिके सहित अक्षय आनन्दप्राप्तिकी राह दिखाता है। यह सत्य प्रेम ही लोगोंको अनाचार, अत्याचार, पापाचार और दुराचारसे दूर हटाकर सदाचार, सद्विचार, समता तथा मानवताका पाठ पढ़ाता है। यह दिव्य प्रेम ही हमें कर्मठता और कार्यकुशलताका मन्त्र सिखाता है। यह पावन प्रेम ही हमें देश, राष्ट्र और समाजके सर्वतोमुखी अभ्युदयके लिये सर्वस्व समर्पणकी प्रेरणा प्रदान करता है तथा यह अलौकिक प्रेम ही हमारे रहन-सहन, आचार-विचार, संयम-साधना, भाषा-भाव, सभ्यता-संस्कृतिको ऊर्ध्वमुखी एवं ऊर्जावान् बनाता है।

सच्चे भगवत्प्रेमीको बड़े-से-बड़ा प्रलोभन भी पथच्युत नहीं कर पाता। मृत्युकी भयावह विभीषिका भी उसे उसके लक्ष्यसे विचलित नहीं कर पाती। वह अपनी शास्त्रसम्मत भगवत्प्रेममयी रीति-नीति और विचार-व्यवहारमें पूर्ण आस्थावान् बनकर अचल, अटल और आरूढ़ रहता है।

यह पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेम ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टयकी उपलब्धि और सिद्धिका हेतु है। इसलिये इसकी अनिवार्यता स्वतःसिद्ध है।

अजन्माका जन्म लेना, अव्यक्तका व्यक्तीकरण और निर्गुण-निराकार-निर्विकारका सगुण-साकार विग्रह धारण करना—ये सब इस भगवत्प्रेमके ऐसे चमत्कार हैं, जिन्हें श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों तथा काव्यग्रन्थोंमें अनेक प्रकारसे सविस्तार बताया गया है।

यह भगवत्प्रेम ही भोगीको योगी, स्वार्थीको परमार्थी, कृपणको उदार और नीरसको सरस बनाकर मानव-जीवनके चरम लक्ष्यका भी बोध बड़ी सरलता, सरसता और सुगमतासे करा देता है।

भगवत्प्रेमके अभावमें न तो भगवत्कथाओंका ही समुचितरूपसे रसास्वादन या समास्वादन किया जा सकता है और न इस मानव-जीवनको ही उन कोटि-कोटि कन्दर्पदर्प-दलन नवजलधर श्यामसुन्दर अनन्त सौन्दर्यमाधुर्यामृतसार-सर्वस्व भुवनविमोहन भगवान्‌की रूपमाधुरीकी सरितामें अवगाहन कराकर सफल एवं सार्थक बनाया जा सकता है।

यह भगवत्प्रेम ही द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, विशुद्धाद्वैती, द्वैताद्वैती आदि सभी पन्थानुयायियोंको पुलकित, प्रफुल्लित, हर्षित और आनन्दित कर उन सभीके जीवनको रसाप्लावित, भावाप्लावित तथा करुणाप्लावित करके कृतकृत्यता, ज्ञातज्ञातव्यता एवं प्राप्तप्राप्तव्यताके शिखरपर पहुँचा देता है। इसीलिये शैव, शाक्त, वैष्णव, कबीर, दादू, नानक आदि सभी पन्थावलम्बी इस भगवत्प्रेममें अहर्निश आकण्ठ समाहित रहनेकी कामना करते हैं।

उस अनन्तका अन्त कौन जान सकता है? उस अवाङ्मनसगोचरका वर्णन कैसे किया जा सकता है? उस **'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'** सर्वसमर्थको सर्वसुलभ और सर्वग्राह्य कैसे बनाया जा सकता है?

ये सभी प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते, यह अद्भुत पहेली अज्ञात और अनबूझी ही बनी रहती, यदि शास्त्रों और आचार्योंके द्वारा भगवत्प्रेमके रहस्यका समाधान प्रस्तुत न किया गया होता।

इस भगवत्प्रेमका सौन्दर्य-माधुर्य इतना अधिक है कि उस आनन्दका अनुभव बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र, त्यागी-विरागी-वीतरागी सनकादि, शुकादि, नारदादिके लिये भी दुर्लभ माना जाता है।

जो सुख-सौभाग्य इन्द्रादिक, ब्रह्मादिक तथा सब प्रकारके अर्थ-अधिकारोंसे सम्पन्न देवताओंको भी सुलभ नहीं हो पाता, वह सुख, शान्ति, भक्ति, अनुरक्ति, दिव्यानन्द, और परमानन्द भगवत्प्रेमसे ओत-प्रोत प्रेमरसरसिक भगवत्प्रेम-पथके पथिकको सहजमें ही प्राप्त हो जाता है। तभी तो रसखान-जैसे भगवत्प्रेमियोंने आठों सिद्धियों और नवों निधियोंका परित्याग करके भी भगवत्प्रेममें सदा-सर्वदा निमग्न रहनेका अपना अन्तर्भाव प्रकट किया है।

तत्त्वनिष्ठा और भगवत्प्रेमके सामञ्जस्यका अद्भुत उदाहरण हमें अद्वैतसिद्धिके रचयिता श्रीमधुसूदन सरस्वतीके जीवनमें देखनेको मिलता है। भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनोंसे उनमें ऐसे अलौकिक तथा अद्वितीय भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव—प्राकट्य हुआ, जिसका वे स्वयं बड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। यथा—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

अर्थात् अद्वैत-मार्गपर चलनेवाले पथिकोंके आराध्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वाराज्यसिंहासनारूढ हम-जैसे आत्मज्ञानी, तत्त्वज्ञानीको व्रजाङ्गनाओं एवं गोपाङ्गनाओंके प्रेमी किसी शठने बलात्-हठात् अपना दास बना लिया है अर्थात् हमें **'सोऽहम्'** से **'दासोऽहम्'** कहनेके लिये बाध्य कर दिया है।

इसके पश्चात् वे वेदान्तकेसरी भक्तिरसायनकी रचना करके श्रीकृष्णके भगवत्प्रेममें इतना ओत-प्रोत और रच-पच जाते हैं कि अब उनके मुखसे विवश होकर निम्नलिखित श्लोक बाहर आ जाता है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभा-
त्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

अर्थात् जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नील-नीरद सुन्दर है, पीताम्बर पहने है, जिसके बिम्बफलके समान लाल-लाल हैं। जिसका मुखम पूर्णचन्द्रके सदृश और जिसके नेत्र कमलवत् हैं, श्रीकृष्णसे परे कोई तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानत

प्रायः सभी प्रकारके ज्ञान-विज्ञान, साधनाएँ-उपा तथा सभी सत्कर्म एवं धर्मानुष्ठान इसी भगवत्प्रेमकी ग होकर ही अपने गन्तव्यकी ओर आगे बढ़ते हैं। इसीलिये मा जीवनके सर्वतोमुखी त्राण-कल्याण, अभ्युदय-उत्थान विकास-प्रकाशका आधार इस भगवत्प्रेमको ही माना जात

भगवत्प्रेमीका जीवन गङ्गाजलवत् पवित्र होता उसके रग-रगसे, रोम-रोमसे, अणु-परमाणुसे और श्व प्रश्वाससे दिग्दिगन्त सुवासित हो जाते हैं। उसके जीवनसे लोकको एक नयी शिक्षा, नयी दीक्षा, नया उप नया आदेश, नया संदेश, नयी स्फुरणा, नयी प्रेरणा नयी चेतना प्राप्त होती है।

जैसे अपार जलराशिवाला सिन्धु बिन्दु बनकर ही लोग पिपासा शान्त कर पाता है, जैसे सर्वव्यापी महाकाश घटा या मठाकाश बनकर ही लोगोंको सुख-सुविधाएँ प्रदान क है, उसी प्रकार वह सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान्, स्वयं प्रकाश सर्वव्यापी, सर्वाधार, अनादि और अनन्त शुद्धबुद्ध-मुक्तस्व परब्रह्म भी इस प्रेमसे प्रभावित होकर ही अपनी अघटि घटनापटीयसी मायाशक्तिके द्वारा अनेक लो कल्याणकारी रूप धारण कर सबका योगक्षेम वहन करता

धन्य है वह देश, धन्य है वह प्रदेश, धन्य है वह ध और धन्य है वह संस्कृति, जहाँ भगवत्प्रेमको ब्रह्मान सहोदर माना जाता है तथा पञ्चम पुरुषार्थके रूपमें आदरसा जिसके सम्बन्धमें निम्नलिखित उद्‌गार प्रकट किया जाता है

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्मक्रीडामृगीकृतम्॥

तात्पर्य है कि कोई निर्गुण-निराकार-निर्विकार ब्रह्म और कोई सगुण-साकार ब्रह्मको भजते हैं; किंतु मैं भगवत्प्रेमबन्धनको भजता हूँ, जिससे बँधकर अन प्राणियोंको मुक्ति देनेवाला नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म स्व भगवत्प्रेमियोंके हाथका खिलौना बन जाता है।
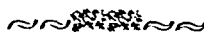
भगवत्प्रेमका स्वरूप

(शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

प्रेम भौतिक हो अथवा अभौतिक, उसे अनुभवैक-वेद्य ही माना गया है। उसे शब्दोंमें समेटकर व्यक्त कर पाना वैसा ही दुरूह कार्य है जैसा किसी गूँगेके लिये मधुर पदार्थको चख लेनेके बाद अपने अनुभूत आनन्दको वाणीद्वारा व्यक्त कर पाना। भक्ति एवं प्रेमके परमाचार्य महाभागवत देवर्षि नारदके—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

तथा

मूकास्वादनवत्।

—इन भक्तिसूत्रोंका यही स्वारस्य है। तथापि कतिपय बाह्य लक्षणों एवं आन्तर परिवर्तनोंको, अथ च प्रेमियोंके व्यवहारोंको आधार बनाकर सुधी आचार्योंने भौतिक तथा अभौतिक प्रेम-स्वरूपका विश्लेषण किया है और दोनोंका तारतम्य भी स्पष्ट किया है। यहाँ अभौतिक प्रेमसे हमारा अभिप्राय भगवत्प्रेम है और तदतिरिक्त वस्तुओंसे प्रेम भौतिक प्रेम-शब्दवाच्य समझना चाहिये।

हम कामिनी और काञ्चन आदि जागतिक पदार्थोंके प्रति उनके बाह्य आकार-प्रकार अथवा उनके अनुपम रूप किंवा उनकी व्यावहारिक उपयोगिताके आधारपर उनके प्रति आकर्षणका अनुभव करने लगते हैं और अहर्निश उन्हींके चिन्तनमें व्यग्र रहने लगते हैं। यह आकर्षण प्रारम्भमें इतना दुर्निवार होता है कि हमारा हृदय प्रबल मोहावेशसे भर जाता है। उस मोहपाशकी जकड़नसे स्वयंको मुक्त कर पाना हमारे लिये यदि असम्भव नहीं तो अशक्य अवश्य हो जाता है।

परंतु समस्त सांसारिक पदार्थ प्रकृतिजन्य होनेसे परिवर्तनशील एवं परिणामतः विनाशशील होते हैं तो फिर उनके प्रति हमारा प्रेम भी चिरस्थायी किंवा विकाररहित कैसे हो सकता है? अतः अपने प्रेमास्पद पदार्थमें परिवर्तनका आभास मिलते ही शारीरिक किंवा मानसिक स्तरपर पहुँचा हुआ भौतिकप्रेम आवेगशून्य होकर शनैः-शनैः क्षीण होने लग जाता है। अब पारस्परिक आत्मतुष्टिकी वह पहलेवाली गम्भीर भावना भी विलीन होने लगती है। भौतिक प्रेम अन्ततः अरुचिकर होते हुए अन्यमनस्कता एवं उपालम्भोंकी धूप-छाँवमें अपना वास्तविक स्वरूप विकृत कर लेता है। कारण बहुत स्पष्ट है, इस स्तरका प्रेम प्रायः प्रतिदानकी आकाङ्क्षा रखता है और समुचित प्रतिदान न मिलनेपर उसका कपूरकी भाँति शून्यमें विलीन हो जाना स्वाभाविक ही है।

भगवत्प्रेमका वैलक्षण्य

कामनाकी गन्धके सम्मिश्रणसे भौतिक प्रेम स्थायी आत्मतुष्टिका हेतु नहीं बन पाता है। ऐसी स्थितिमें परिच्छिन्न एवं नश्वर सांसारिक पदार्थोंसे विरत होकर अथवा कहिये एक सीमातक खिन्न होकर, भावुक साधक ***'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल'*** की बारम्बार गुहार लगाता हुआ अपने परम आदर्श-आराध्य श्रीभगवान्‌की ओर उन्मुख होता है। प्राणोंके सम्पूर्ण वेगके साथ जीवात्माका परमात्माके प्रति यह सहज आकर्षण ही जो अवर्णनीय रूपमें मधुर, सूक्ष्म, आनन्दोद्रेकसम्पन्न अथ च परम आत्मतृप्तिका मूल होता है, भगवत्प्रेमका द्योतक है। शुद्ध, निरपेक्ष आत्मदान इसकी शैली है और एकत्व उसका ध्येय है। इसमें प्रतिदानकी कामनाका लेश भी नहीं रहता है। सर्वात्मभावेन श्रीभगवान्‌के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही इसमें लक्ष्य होता है।

भगवत्प्रेममें प्रत्यक्षतया आराध्य एवं आराधकका द्वैत दृष्टिगत होता है, परंतु जब वह प्रेम पराकोटिमें पहुँच जाता है तब दोनोंका भावाद्वैतमें अवस्थित हो जाना सहज हो जाता है। द्वैताद्वैतकी इस विलक्षण स्थितिको सर्वथा अनिर्वचनीय एवं स्वानुभवैकवेद्य कहा गया है। निर्विकार भावसे एकरसता तथा शाश्वतता भगवत्प्रेमके महनीय गुण हैं, इसमें प्रायः सभी तत्त्वज्ञ एकमत हैं। इतना ही नहीं, इस अनिर्वचनीय परम प्रेमसे समुज्जृम्भित भक्तिके समक्ष ब्रह्मानन्द भी कोई मूल्य नहीं रखता, ऐसा भी अनेक भावुक आचार्योंका अभिमत है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्धगुणीकृतः॥
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अर्थात् यदि ब्रह्मानन्दको परार्धगुणा कर लिया जाय तब भी वह भक्ति (प्रेम)-रसके सागरके एक परमाणुके बराबर भी आनन्ददायक नहीं हो पायेगा।

भाव और प्रेम

कहा गया है कि सांसारिक विषयोंमें आसक्त चञ्चल मनका निग्रह वैसा ही दुष्कर कर्म है जैसा वायुको रोक पाना। अनुभवशील आचार्योंका इस संदर्भमें यह मत है कि मनको बलात् नहीं रोका जा सकता, प्रेमके बन्धनमें बँधकर वह स्वयं रुक जाता है। भ्रमरको देखिये, सूखे काष्ठको भी काट देनेकी सामर्थ्य रखनेवाला वह अपने-आपको कमलकी कोमल पंखुड़ियोंके भीतर कैद किये रहता है। क्यों भला? केवल प्रेमबन्धनके कारण। अन्यथा पंखुड़ियोंको काटकर वह कभी भी बाहर जा सकता है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणो हि षडङ्घ्रिर्बन्धकी भवति पङ्कजकोशे॥

इसलिये परमानन्दकन्द भगवान्के प्रेमका आस्वाद यदि मनको दे दिया जाय तो वह निश्चितरूपसे रुक जायगा और रुककर वहीं लीन भी हो जायगा, ऐसा बड़े-बड़े अनुभवी आचार्योंका अभिमत है। परंतु किसीको बिना जाने उससे प्रेम हो ही नहीं सकता, इसलिये भगवान्का माहात्म्य जाने बिना उनसे भी प्रेम कैसे हो पायेगा? तो सर्वप्रथम भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी-ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्ट्यादि चान्यथा॥

अर्थात् भगवान्का माहात्म्य जानकर उनमें सबसे अधिक दृढ़ प्रेम होना ही भक्ति है और उसीसे मुक्ति होती है। मुक्तिका इसके अतिरिक्त कोई और उपाय नहीं है।

इस जन्ममें अथवा किसी पूर्व जन्ममें भगवदनुरागी भक्तोंके संगके फलस्वरूप सर्वप्रथम हृदयमें भगवन्निष्ठाका उदय होता है। निष्ठाका उदय होनेपर फिर शनैः-शनैः रुचिका आविर्भाव होता है। यह रुचि ही क्रमशः आसक्तिमें परिणत हो जाती है। गाढ़ आसक्तिका नाम ही भाव है, जिसे प्रेमकी प्रथमावस्था माना गया है। निष्कर्ष यह है कि भगवान्के दिव्य स्वरूप, अलौकिक सामर्थ्य, अप्रतिम सौन्दर्य, अनन्यसदृश ऐश्वर्य प्रभृति अनन्त गुणगणनिलयका माहात्म्य जान लेनेपर परमानन्दपरिप्लुत शुद्ध सत्वात्मिका चित्तवृत्ति ही भाव है। भगवान्को प्राप्त करनेकी तीव्र अभिलाषा, उनकी सेवाकी उत्कट लालसा एवं उनके सौहार्द-लाभकी प्रबल उत्कण्ठासे समुत्पन्न भाव चित्तको मसृण कर देते हैं। चित्तके सम्यक्रूपसे मसृण (द्रवीभावसम्पन्न) हो जानेपर आनन्दोद्रेकसे घनीभूत भाव ही परिणामतः फिर प्रेमरूपमें परिणत हो जाता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

यद्यपि भावुक साधकके मनके अनुसार भावोदयमें तारतम्यका होना स्वाभाविक ही है, परंतु भगवत्प्रेममें सांसारिक पदार्थोंसे विरति किंवा निःस्पृहताकी भावना भावुक साधकमें निरन्तर जाग्रत् रहती है।

भगवत्प्रेमीका जीवन धन्य है

कभी पराई वस्तुपर मत ललचाओ चित्त। सोचो कभी न हरणकी बात अशुचि पर-वित्त॥
सदा पराई वस्तुको भारी विष-सम जान। बचे रहो उससे, सदा मृत्युदायिनी मान॥
नित्य तुम्हारे सुहृद जो सर्वेश्वर भगवान। स्वाभाविक सर्वज्ञ जो सर्वशक्ति-बलवान॥
उन प्रभूने कर दिया जो उचित समझ, सु-विधान। समुद करो स्वीकार सो मान सुमंगल-खान॥
संस्पर्शज सब भोग हैं नहीं सिर्फ निस्सार। दुःखयोनि बंधन-जनक नरक-कष्ट-आगार॥
रहते इनसे, इसीसे, बुधजन सदा विरक्त। मधुकर ज्यों हरि-पद-कमल रहते जो अनुरक्त॥
भगवत्पद-रति-रँग रँगे मानव नित्य अनन्य। सहज भोग-उपरति-हृदय उनके जीवन धन्य॥

प्रेमकी भगवदीयता और भक्तनिष्ठता

(आचार्य श्रीरामनाथजी सुमन)

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्तके शब्दोंमें—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग तो जलता ही है दीपक भी जलता है॥

प्रेमका सम्बन्ध भगवान् और भक्त दोनोंसे है। भगवान्का भक्तसे और भक्तका भगवान्से अटूट प्रेम होता है। अन्तर केवल इतना है कि भक्तके प्रति भगवान्का प्रेम आशीर्वादात्मक अथवा वरप्रदानात्मक होता है। जबकि भगवान्के प्रति भक्तका प्रेम श्रद्धामूलक अथवा भक्तिपरक रहता है। इस सम्बन्धमें कठोपनिषद्का कहना है—परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति लच्छेदार भाषामें प्रवचन करनेवाले, तर्कशक्तिका प्रयोग करके अपनी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करनेवाले अथवा बहुश्रुत होनेका दम्भ भरनेवाले प्रेमविहीन प्राणीको नहीं होती, प्रत्युत उस प्रेमीका वरण करके परमात्मा उसे ही अपने दर्शनोंसे लाभान्वित करते हैं जिसका प्रेम अनन्य होता है तथा प्रभुको पानेकी जिसमें उत्कट लालसा होती है। उपनिषद्के मूल वचन इस प्रकार हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्॥

(कठोपनिषद् १।२।२३)

ऐसे ही नररूप अर्जुनके प्रति नारायणस्वरूप श्रीकृष्णने अपने प्रेमका प्रदर्शन करते हुए कहा—'अर्जुन! तू मुझे बहुत अधिक प्रिय है। मैं तुझे गोपनीय-से-गोपनीय बात बता रहा हूँ। तेरे हितकी बात तुझसे मैं कहूँगा। तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो जा, मेरी पूजा कर और मुझे ही नमस्कार कर। ऐसा करके तू मुझे ही प्राप्त कर लेगा। तू मुझे बहुत प्रिय है इसलिये मैं सत्यप्रतिज्ञा कर रहा हूँ'—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(गीता १८।६४-६५)

'इष्टोऽसि मे दृढम्' तथा **'प्रियोऽसि मे'** भगवान्के ये वचन जहाँ अपने भक्तके प्रति प्रेमका परिचय दे रहे हैं, वहीं भक्त अर्जुन भी विनम्रभावसे अपनी श्रद्धा-भक्तिमयी प्रेमभावनाका परिचय देनेमें पीछे नहीं रहता। श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायके ३८—४४ श्लोकोंमें जहाँ उसने पुराणपुरुष परमेश्वरको आदिदेव, विश्वके परम निधान, वेत्ता, वेद्य, अनन्तरूप आदि शब्दोंमें महनीय महिमाका अद्भुत वर्णन किया है, वहीं मित्र मानकर की गयी अपनी धृष्टताकी भी क्षमा माँगनेमें कोई चूक नहीं की है। इतना ही क्यों? जैसे कोई पिता पुत्रकी, मित्र मित्रकी और प्रेमी अपने प्रियकी त्रुटियोंकी ओर ध्यान न देकर उन्हें क्षमा कर देता है, वैसे ही आप भी मुझे क्षमा कर दें। यह कहकर भक्त अर्जुन भक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाता है। यह है प्रेमकी प्रकृष्ट भक्तनिष्ठता।

भक्तवत्सल भगवान् नृसिंह और भक्तप्रवर प्रह्लादके प्रेमका दिव्य वर्णन श्रीमद्भागवतमें देखनेको मिलता है। अनेकविध विपत्तियोंको सहकर भी भगवान्में अगाध श्रद्धाभक्तिमय प्रेम रखनेवाला प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकशिपुसे जब यह सुनता है कि मूढ़! जिस मेरे क्रुद्ध होनेपर तीनों लोक अपने स्वामियोंसहित काँप जाते हैं, उस मेरी आज्ञाको किसके बलपर तू नहीं मान रहा? तो प्रह्लाद निःसंकोच कह देता है कि राजन्! मेरा और आपका ही वह बल नहीं, संसारभरके बलशालियोंका भी वह परमेश्वर बल है, जिसका मुझे भरोसा है। यह पूछनेपर कि वह कहाँ रहता है, प्रह्लाद कहता है—वह सर्वत्र विद्यमान है। वह तेरा परमात्मा इस स्तम्भमें क्यों नहीं दिखायी देता? अपने भक्तके कथनकी सत्यता और सर्वभूताधिवासको सिद्ध करनेके लिये सभामें ही स्तम्भमेंसे परमात्माका नृसिंहरूपमें अवतार भक्तके भगवत्प्रेमका ही परिचायक है—यह कहनेकी प्रेमी समाजके समक्ष कोई आवश्यकता नहीं—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥

(श्रीमद्भा० ७।८।१८)

भक्त प्रह्लादकी निःस्वार्थ प्रेमप्रधान भगवद्भक्तिका उस समय विशेषरूपसे प्राकट्य होता है, जब भगवान् अपने कामपूरक रूपका परिचय देकर उससे वर माँगनेको कहते

हैं। प्रह्लाद स्पष्ट कह देता है कि भगवन्! अपनी भक्तिके बदले आपसे जो वर माँगता है वह भक्त नहीं, व्यापारी है—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।४)

फिर भी हे वरप्रदान करनेवालोंमें श्रेष्ठ प्रभो! यदि आप कामनाओंकी पूर्तिके हेतु वर देना ही चाहते हैं तो कृपया ऐसा वर दीजिये, जिससे हृदयमें कामनाओंका उदय ही न हो—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।७)

अपने प्रभुको किसी प्रकारका भी कष्ट न देना प्रेमी भक्तका ही लक्षण है।

निशाचरवंशमें जन्म लेकर भी भगवान् श्रीरामको अपना आराध्य माननेवाला प्रभु-प्रेमी भक्त विभीषण भगवान्के उन वरेण्य भक्तोंमें उत्तम श्रेणीमें गिना जाता है, जिन्हें प्रेमी भक्तसमाज अपना आदर्श मानता है। भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने—'*नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिग्यान निधाना॥*' विभीषणको विष्णुभक्त कहकर उसके जन्मका वर्णन किया है। इतना ही नहीं, बड़े भाई रावणको कल्याणका मार्ग बताते हुए वह श्रीरामकी भगवत्तासे भलीभाँति परिचित रहकर कहता है—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥

(रा०च०मा० ५।३९।१-२)

यही कारण है कि वह अपने कुलकी रक्षा तथा बड़े भाईकी मङ्गलकामनाके लिये विनम्र होकर प्रार्थना करता है—

देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥

(रा०च०मा० ५।३९।६)

रावणसे अपमानित होकर विभीषण प्रभुप्रेमपराधीन होकर श्रीरामकी ही शरणमें जाकर अपनी दीनता और उनकी दयालुताका बखान करने लगता है—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बंस जनम सुरत्राता॥
सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥
श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(रा०च०मा० ५।४५।७-८, ५।४५)

भक्तकी भगवान्के प्रति ऐसी प्रेमभावना अन्यत्र कहाँ मिलेगी? कहीं नहीं। भगवान् श्रीराम भी विभीषणको दीनवचन सुनकर उसे हृदयसे लगाकर लङ्केश कहकर, सपरिवार-कुशलमङ्गल पूछकर अपनी प्रेमभावनाका परिचय देनेमें संकोच नहीं करते। इतना ही नहीं, किसी कविने भी भगवान् श्रीरामकी भगवत्ता और प्रेमपरिपूर्णताका परिचय देते समय लक्ष्मण-मूर्च्छाके समय श्रीरामके मुखसे कहलाया है कि मुझे तातकी, माताकी, सीताकी तथा अयोध्याके राज्यपरित्यागकी इतनी चिन्ता नहीं जितनी विभीषणको दिये गये राजतिलककी है। लक्ष्मण! तुम्हारे बिना यह चिन्ता कैसे दूर होगी?

ह्वैहै कहा विभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥

भगवान् एवं भक्तके इस अनूठे प्रेमका उदाहरण भारतीय संस्कृतिके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिल पायेगा। धन्य है यह संस्कृति!

वैवस्वत मनुके पुत्र नभगके पुत्र नाभागके आत्मज प्रभुप्रेमी भक्त अम्बरीषका आख्यान भगवान् और भक्तके आत्यन्तिक प्रेमका अनूठा उदाहरण है। सप्तद्वीपा पृथ्वीका एकच्छत्र शासन, अक्षय राजलक्ष्मी, अनुपम वैभव तथा सर्वाङ्गसम्पन्न परिवारसुख पाकर भी अम्बरीष दारा-सुतबन्धुयुक्त कुटुम्ब ही नहीं, अक्षयरत्नराशिमण्डित कोषागारको भी स्वप्नकी भाँति मिथ्या मानकर प्रभुके प्रेममें ही आस्था बना लेता है। प्रेमभावसे प्रसन्न होकर भगवान् उसे अपना सुदर्शनचक्र सभी बाधाओंके शमनहेतु प्रदान करते हैं। साधु-महात्माओं तथा पुण्यशील ब्राह्मणोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला प्रेमी भक्त एकादशीव्रतके उपरान्त पारणाके लिये प्रवृत्त होनेवाला ही है कि स्वभावसे नितान्त क्रोधी मुनि दुर्वासा अतिथिरूपमें वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। वे स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये यमुना चले जाते हैं। पारणाका समय बीतता जानकर अम्बरीष जल पीकर पारणा कर लेते हैं। यमुनासे लौटनेपर मुनिराजको जब अम्बरीषके जल पी लेनेका पता चलता है तो वे क्रुद्ध होकर अपनी एक जटा उखाड़कर कालाग्निसदृश कृत्याका निर्माण करते हैं। भक्तवत्सल भगवान्का सुदर्शनचक्र उस कृत्याका संहार कर देता है। अपने प्रयत्नको निष्फल देखकर दुर्वासामुनि वहाँसे भाग निकलते हैं। ब्रह्माजी एवं शंकरभगवान्के पास जानेपर

भी चक्र उनका पीछा नहीं छोड़ता। अन्तमें भगवान् विष्णुके समीप जाकर वे अपनी रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। भगवान्के ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३, ६८)

अर्थात् 'हे मुनिवर! मैं भक्तोंके अधीन होनेसे स्वतन्त्र नहीं हूँ। प्रेमी भक्तजन मुझसे इतना प्यार करते हैं कि मेरा हृदय उनके अधीन है। साधु पुरुष अपना हृदय मेरे लिये और मैं अपना हृदय उनके लिये दिये हुए हूँ। वे मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त तनिक भी कुछ नहीं जानता। इसलिये तुम प्रेमी भक्त अम्बरीषके पास ही जाओ, वहीं तुम्हें शान्ति मिलेगी।' सब ओरसे निराश होकर दुर्वासाजी वापस लौटकर भक्तराज अम्बरीषके चरण पकड़ लेते हैं। प्रार्थना किये जानेपर सुदर्शनचक्र शान्त होता है। दुर्वासामुनि भक्त अम्बरीषकी प्रशंसा करते हुए ब्रह्मलोकको प्रस्थान करते हैं। धन्य है भगवान् और भक्तकी परस्पर प्रेमभावना तथा प्रीतिका अनुपम निदर्शन।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

अर्थात् जिस शरीरका श्रीरामसे प्रेम होता है, सज्जन उस शरीरका बहुत आदर करते हैं। यही कारण है कि भगवान् शङ्करजीने अपना शरीर छोड़कर हनुमान्—वानरका रूप धारण कर लिया। श्रीरामसे प्रेम करनेवाले वानररूप हनुमान्का आज भी बड़ा आदर होता है। वस्तुतः भगवान् श्रीराम और उनके प्रिय भक्त हनुमान्के इस युगलमें जो परस्पर प्रीति है, उसकी संसारमें कोई तुलना नहीं। हनुमान्जीके उपकारको भगवान् नहीं भूलते और हनुमान्जी अपने सभी दिव्य भव्य क्रियाकलापका एकमात्र कारण प्रभुके प्रतापको मानते हैं। प्रेमकी भगवदीयता एवं भक्तनिष्ठाका एक उदाहरण देखिये—लङ्कादहनके उपरान्त भगवती जानकीजीकी वेदनाका वृत्त सुनकर प्रभु कह रहे हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

(रा०च०मा० ५।३२।५—८)

आदिकवि वाल्मीकिने भी भगवान् श्रीरामके मुखसे कहलाया है—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

हे हनुमन्! जो उपकार तुमने मुझपर किया है, मैं उसे अपने शरीरके साथ ले जाना चाहता हूँ; क्योंकि आपत्ति आनेपर ही प्रत्युपकारोंकी पात्रता प्राप्त होती है। मैं नहीं चाहूँगा कि तुमपर कभी कोई आपत्ति पड़े।

प्रेमकी भगवदीयताके उपरान्त प्रेमकी भक्तनिष्ठा देखें—भगवान्के यह पूछनेपर कि रावणपालित लङ्काको तुमने कैसे जलाया?

हनुमान्जी कहते हैं कि प्रभो—

नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

(रा०च०मा० ५।३३।८-९)

समुद्रका लाँघना, लङ्काका जलाना, राक्षसोंका मारना और अशोकवाटिका उजाड़ना आदि कर्म मैंने अपनी शक्तिके सहारे नहीं किये। यह सब आपका ही प्रताप है। यह है प्रेमकी भक्तनिष्ठाका अनुपम आदर्श।

इस प्रकार विविध दृष्टान्तोंके माध्यमसे हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि भगवान्का प्रेम भक्तमें अटूट रूपसे रहता है। भगवान् भक्तके अधीन रहकर *'हम भगतनके भगत हमारे'* सूक्तिको सदा चरितार्थ करते हैं और भक्त भी भगवान्को ही अपना जीवन-सर्वस्व मानकर अनन्यभावसे उनकी आराधना करनेमें अपनी इतिकर्तव्यता मानता है। भक्तकी दीनता और भगवान्की दयालुता सदा-सर्वदा बनी रहती है। प्रेमकी भगवदीयता और भक्तनिष्ठा सर्वथा अक्षुण्ण है।
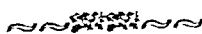
भगवत्प्रेमकी महत्ता

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, बी०एस्-सी०, एल्-एल्०बी०, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

प्रेम मानव-जीवनका स्वभाव है। यह स्वभाव जबतक अविद्यासे आवृत है, तबतक घृणा और द्वेषसे व्याप्त रहता है। आज सम्पूर्ण विश्वमें द्वन्द्व तथा द्वेषकी जो अग्नि प्रज्वलित है उसका मूल कारण है कि मनुष्य स्वसुखवाञ्छामें निमग्न है और अपने शुद्ध प्रेमरूपको भूल गया है, किंतु सैद्धान्तिकरूपसे यह सत्य है कि मानव-जीवनमें प्रेमकी सत्ता शाश्वत है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानव प्रेमपाशमें बँधा हुआ है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो सर्वप्रथम वह माके सम्पर्कमें आता है, तदुपरान्त शनैः-शनैः अवस्थाके साथ-साथ वह संसारके अन्य लोगोंसे भी जुड़ता जाता है। उसका यह जुड़ाव (लगाव) या रागात्मक सम्बन्ध एक प्रकारसे इन लोगोंके प्रति प्रेम ही है, किंतु जब उसमें ज्ञान-विवेकके अङ्कुर फूटने लगते हैं, सत्-असत्, हित-अहित और सार-निःसारका नीर-क्षीरवत् विवेक उद्भूत होने लगता है तो अन्ततः जगत् उसे नश्वर प्रतीत होने लगता है तथा ईश्वर-प्रेमके प्रति उसकी आस्था जग उठती है। उसका लगाव जगत्के व्यामोहसे हटकर ईश्वरपर केन्द्रित हो जाता है।

इस प्रकार प्रेमके दो रूप होते हैं—१-लौकिक प्रेम और २-अलौकिक प्रेम। लौकिक प्रेम संसारी मनुष्योंका परस्पर-प्रेम है, अहंकार एवं स्वार्थसे आबद्ध आकर्षण है, जबकि अलौकिक प्रेम भक्तद्वारा ईश्वरसे किया गया परिष्कृत, निर्मल तथा विशुद्ध प्रेम है, दिव्य आकर्षण है। यानी भक्त अपने आराध्य या भगवान्से प्रेम करनेमें जब प्रवृत्त होता है, तब उसका प्रेम अलौकिक या दिव्य हो जाता है। अलौकिक या दिव्य प्रेम ही भगवत्प्रेम है। इस भगवत्प्रेममें भगवान्के प्रति जो अनुरक्ति है उसमें पूज्य भावना होती है। उसमें लौकिक प्रेमकी तरह क्षुद्र वासना नहीं, परिष्कृत साधनाकी प्रधानता रहती है। चेतनाके शुद्ध एवं अपरिवर्तित भाव विद्यमान रहते हैं। उसमें श्रद्धा, प्रेम इत्यादि कई चित्तवृत्तियोंका संयोग होता है। वास्तवमें भगवत्प्रेम परम प्रेमरूप और अमृतस्वरूप है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य सिद्ध, अमर तथा तृप्त हो जाता है। यथा—

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥' (नारदभक्तिसूत्र ४)।

भगवत्प्रेममें मनुष्य भगवान्के साथ तादात्म्य अर्थात् व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित करनेका परम पुरुषार्थ करता है। वह भगवान्के प्रेममें इतना सराबोर हो जाता है कि जगत्के सारे क्रिया-कलाप उसे सुहाते ही नहीं। उसकी चित्तवृत्तियाँ प्रभुके प्रेममें समा जाती हैं। उसे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि प्रभु मेरे रोम-रोममें समा गये हैं, घट-घट, कण-कणमें बसे हुए हैं। ईशावास्योपनिषद्का वह मन्त्र उसे अनुभूत होने लगता है, जिसमें कहा गया है कि जगत्में जो भी है, सब ईश्वरसे भरा हुआ है। कोई चीज ईश्वरसे रिक्त नहीं है। संसारमें केवल उसीकी सत्ता है, वही एक मालिक है। मेरा तो कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब ईश्वरका ही है। यथा—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

भगवत्प्रेममें लीन रहनेवालेकी स्थिति तो मीराबाईकी तरह हो जाती है। मीरा भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममें इतनी डूब जाती है कि वह जगत्के प्रत्येक पदार्थमें, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें भगवान्की ही छवि निहारती है। वह केवल एक ही राग अलापती हुई दिखायी देती है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥

प्रभुके प्रति उसका विश्वास, श्रद्धा, समर्पण और प्रेम-भक्ति-साधना इतनी सघन तथा अटूट है कि विष भी अमृत बन जाता है। जो निश्छल, निःस्वार्थ और निष्कामभावसे सहजरूपमें अपना तन, मन, धन एवं बुद्धि अर्थात् सर्वस्व प्रभुपर न्योछावर कर देता है, प्रभु भी अपनी लीलाओंसे दर्शन देकर उसे भावविभोर कर देते हैं। भक्त प्रभुकी असीम अलौकिक शक्तियों और चमत्कारिक लीलाओंसे ज्यों-ज्यों प्रभावित होता जाता है, त्यों-त्यों भक्तका प्रभुके प्रति आकर्षण बढ़ता जाता है। उसका यह बढ़ता हुआ आकर्षण भगवत्प्रेममें प्रगाढ़ता लाता है। श्रीमद्भागवत

(३।२९।१५—१९)-में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'निष्काम-भावसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका पालन कर हिंसारहित पूजा-अर्चा आदि अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणोंके श्रवणमात्रसे ही मुझमें लीन हो जाता है।'

भगवत्प्रेम कोई साधारण प्रेम नहीं है। वह एक प्रकारका अलौकिक प्रेम है; क्योंकि उस प्रेममें मनुष्यके मनका मैल पूर्णत: मिट जाता है, चित्तकी शुद्धि हो जाती है। उसके सारे राग, आकर्षण तथा विकर्षण सब ओरसे खिंचकर प्रभुपर ही केन्द्रित हो जाते हैं। भक्तकी दृष्टि विराट् हो जाती है। उसे यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उसमें भावात्मक शक्ति इतनी प्रबल और जटिल हो जाती है कि वह अपने आराध्यपर अपना अधिकार समझने लगता है। इसी भावावेशमें वह अपने प्रभुको अनेक उलाहने भी देने लगता है, पर उसके उलाहनोंमें भी प्रेम समाया रहता है। प्रभु-प्रेममें कोई किसी भी प्रकारका न स्वार्थ होता है और न लाग-लपेट। सारी वक्रताएँ विलीन हो जाती हैं और सरलता-सहजता विस्तार पा जाती है। मन और वाणी कर्मणा एकरूप हो जाते हैं। भक्तका अन्तरङ्ग निर्मल हो जाता है। निर्मल मनवाला ही प्रभुसे शुद्ध प्रेम कर सकता है तथा प्रभुका सांनिध्य पा सकता है। प्रभुसे किया गया प्रेम भक्तको परम शान्ति एवं विश्रान्ति तो दिलाता ही है, साथ-ही-साथ गूँगेके स्वादकी भाँति अनिर्वचनीय आनन्दकी अनुभूति भी कराता है।

भगवत्प्रेमकी साधना जितनी सरल है उतनी ही कठिन है। कठिन इसलिये कि भगवान् और भक्तके बीचमें जो दीवार है, वह दीवार मायाकी है। मनुष्य जगत्‌से इतना संश्लिष्ट है कि मायाको त्यागना उसके लिये सहज और सरल नहीं है तथा मायाको त्यागे बिना वह प्रभुतक कैसे पहुँचे? इसलिये भगवत्प्रेमकी साधना जीवनसे मायाको हटानेकी एक प्रक्रिया है। मायाके हटते ही सारे भेद अभेदमय हो जाते हैं। जब सारे भेद अभेदमें परिणत हो जाते हैं, तब भक्तमें श्रद्धा एवं समर्पणकी स्थिति बनती है। कुम्भके बाहर और भीतरका जल तभीतक भिन्नता लिये हुए है, जबतक कुम्भकी दीवार टूट नहीं जाती। इसके टूटते ही सारा जल एक हो जाता है, फिर कहीं कोई भिन्नता नहीं दिखायी देती।

मनुष्य-मनुष्यमें जो भिन्नता आज दिखायी दे रही है, उसका मूल कारण है मायाका जीवनसे जुड़ना। माया जीवनसे कैसे हटे? इसके लिये कहा गया है कि मनुष्य सबसे पहले अहंका त्याग करे। यही भक्तको भगवत्प्रेमसे रोकता है। यह उसके प्रेममें सबसे बड़ी बाधा उत्पन्न करता है। समस्त विकारों और अज्ञानताकी जड़ यह अहंकार ही है। इसके वशीभूत मनुष्यको 'मैं' की प्रतीति तो रहती है, किंतु भगवान्‌के यथार्थरूपसे वह सर्वथा वञ्चित रहता है। जिसके कारण उसे भगवान्‌का साक्षात्कार, सांनिध्य तथा तादात्म्यकी अनुभूति नहीं हो पाती।

अहंकारके विसर्जनसे मनुष्यमें मार्दव परिव्याप्त हो जाता है। मार्दवकी प्रकृष्टता ही भक्तको भगवत्प्रेमकी ओर आकृष्ट करती है। भगवत्प्रेमकी साधनामें मनुष्य सर्वप्रथम मोह-मायासे मुख मोड़ता है। सहज स्थितिमें आनेका उपक्रम करता है; क्योंकि जो जितना सहज—ऋजु होता है, वह उतना ही प्रभुके संनिकट होता है। भगवत्प्रेममें सहजता है, सरलता है और आर्जव-मार्दवकी चरम स्थिति है। कहीं कोई बाँकपन नहीं, कपट नहीं, छल नहीं और काम, क्रोध, घृणा, द्वेष, लोभ, मोह एवं अहंकार आदि विकार भी नहीं हैं।

भगवत्प्रेमकी साधनासे मनुष्य एक ओर जहाँ अपनी आत्माका उत्थान कर प्रभुका अभिदर्शन करते हुए सामीप्य पाता है तो दूसरी ओर उसे अनगिनत लौकिक, अलौकिक, मानसिक, शारीरिक, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ और शक्तियाँ स्वत: प्राप्त हो जाती हैं जिसकी उसे किञ्चित् भी चाह नहीं होती, ये सब उसके लिये निष्प्रयोजन ही होती हैं।

वास्तवमें भगवत्प्रेमकी साधनासे बढ़कर और कोई साधना नहीं है। यह जीवनकी सबसे बड़ी साधना है, जो भक्तको संसाररूपी अरण्यमें भटकनेसे रोकती है। यह वह ज्योतिष्पुञ्ज है जो भक्तको भव्यता और दिव्यता प्रदान करता है।

भगवत्प्रेमका वास्तविक रूप

(श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंह)

यथार्थ प्रेमका स्वरूप, अपने प्रेमपात्रकी निर्हेतुक सेवामें प्रवृत्त हो जाना है, जैसे उसके निमित्त कष्ट सहना, परम इष्ट पदार्थका भी त्याग करना और सतत परिश्रम करना आदि। किंतु ये सब इस भावसे करना कि कष्टके बदले परम आनन्दका अनुभव हो। इस परम त्यागका उद्देश्य प्रेमपात्रकी तुष्टि अथवा प्रीति प्राप्त करना भी नहीं रहता; क्योंकि ऐसा होनेसे भी स्वार्थ आ जाता है। वस्तुत: प्रेम-यज्ञमें प्रेमिकको देनेमें ही प्रसन्नता होती है, वह प्रेमपात्रसे बदलेमें कदापि कुछ नहीं चाहता। प्रेमपात्रसे कुछ भी मिलनेकी आशा रखनेपर प्रेमका लोप हो जाता है और वह खरीद-विक्रीका व्यापार बन जाता है। श्रीशङ्कराचार्यजीने गीताके भाष्यमें ठीक लिखा है कि भक्तको केवल ईश्वरार्थ ही कर्म करना चाहिये, स्व-प्रीत्यर्थ नहीं।

युधिष्ठिरने द्रौपदीसे वनवासमें ठीक ही कहा था कि मैं भगवान्‌से कोई प्रार्थना करना नहीं चाहता, क्योंकि ऐसा करना वाणिज्यपन है। 'तत्त्वचिन्तामणि'* के श्रद्धेय लेखकने ठीक लिखा है कि 'यदि श्रीभगवान् कुछ देना चाहें तो उसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिये' और यदि यह बोध भी हो जाय कि न स्वीकार करनेसे श्रीभगवान् अप्रसन्न हो जायँगे तथापि स्वीकार करना ठीक नहीं। क्योंकि प्रेमका उद्देश्य भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करना नहीं, बल्कि नि:स्वार्थ सेवा करना है और प्रेममें नि:स्वार्थ सेवाका सम्पादन ही परम फल है, अन्य कुछ नहीं। नि:स्वार्थ सेवाके निमित्त त्याग करनेसे ही भगवान्‌की प्रसन्नता और उसके उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है, उसे इस सेवाके सिवा अन्य कुछ भी गरज नहीं रहती।

सांसारिक व्यवहारमें भी देखा जाता है कि प्राय: माता अपने पुत्रके लिये, मित्र मित्रके लिये तथा पतिव्रता स्त्री अपने पतिके कारण ऐसा त्याग करती है, जिससे त्यागकर्ताको सिवा त्यागके कोई लाभ नहीं तथापि ऐसा त्याग, प्रेमके कारण सहर्ष किया जाता है। इस प्रकार सांसारिक भावोंमें भी नि:स्वार्थ त्याग केवल शुद्ध तथा निर्हेतुक प्रेमके कारण देखा जाता है, तब जगदाधार जगत्पालक श्रीभगवान्‌के निमित्त नि:स्वार्थ प्रेम करना तो प्रत्येक जीवात्माका परम कर्तव्य और धर्म है। श्रीभगवान् अपने आदि संकल्प 'एकोऽहं बहु स्याम्' की पूर्तिके लिये अपनी अपरिच्छिन्नताको मायासे बद्ध करके परिच्छिन्न बन नामरूपात्मक जगत्‌में आविर्भूत होकर उसके आधार और पालक बनते हैं तथा अपनेको नाना अंशोंमें विभक्त कर जीवात्माका उद्भव करते हैं।

ऐसा करनेका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवात्मा उनके दिव्य गुण, ऐश्वर्य, शक्ति और सामर्थ्यको प्रकृतिका पराभव करके अपनेमें प्रकाशित करे। श्रीभगवान्‌को प्रकृतिके साथ युद्धमें जीवात्माको विजयी बनानेके लिये—सिवा लोक-हितके, इस संसारके उद्भवके अतिरिक्त कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है। श्रीभगवान् प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें बन्दीकी भाँति वास करते हैं, जिसमें जीवात्मा उनकी अनुमतिको जानकर उनकी शक्तिके द्वारा जीवनमें युद्ध करे और मायाके बन्धनसे मुक्त होकर ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी प्राप्ति करे। इस लोकहित संकल्पकी पूर्तिमें जब बहुत बड़ी बाधा आ पड़ती है तो श्रीभगवान् अवतार लेकर इस मर्त्यलोकमें प्रकट होनेका कष्ट और त्याग सहर्ष स्वीकार करते हैं; ऐसे परम दयालु परमात्माके निमित्त यदि नि:स्वार्थ प्रेम-यज्ञ नहीं किया जाय और उलटा उनके संकल्पकी पूर्तिमें बाधा डालनेका कार्य किया जाय तो इससे अधिक निन्दनीय और जघन्य दूसरा कौन-सा कर्म हो सकता है? श्रीभगवान्‌के इस आदि संकल्पकी पूर्तिमें स्वार्थ-साधन, अहङ्कार, ममत्व और विषय-लिप्साका व्यवहार परम बाधक है। श्रीभगवान्‌के परम त्याग एवं कारुणिकताका विचार कर उनपर प्रेम रखते हुए उनके निमित्त नि:स्वार्थ त्याग ही सबके लिये परम श्रेयस्कर है।

अब विचारणीय यह है कि जीवात्मा यदि मोक्षके समान उत्तम स्वार्थभाव भी नहीं रखे तो उसके जीवन और कर्मका क्या उद्देश्य होना चाहिये? उत्तर यह है कि प्रेमके नाते श्रीभगवान्‌की सेवा करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये तथा वह सेवा भी नि:स्वार्थ और निरहङ्कार होनी चाहिये; क्योंकि किसी उच्चस्वार्थका भी लेश होनेसे वह प्रेम-सेवा न होकर स्वार्थ-सेवा हो जायगी। ऐसे प्रेमिककी प्रत्येक भावना, वचन और कर्मका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ भी पानेका न होकर केवल श्रीभगवान्‌के

---

* 'तत्त्वचिन्तामणि' गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्राप्य है।

निमित्त सेवा करना रहता है।

जिस कर्मका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ पाना है, चाहे वह प्राप्ति परम शुद्ध ही क्यों न हो, वह कर्म उसका अपना हो जाता है। उस कर्मको ईश्वरकी सेवा कदापि नहीं कह सकते। इस प्रकार सिद्धिकी इच्छा, पुण्य-प्राप्तिकी इच्छा, वैकुण्ठवासकी इच्छा और भगवान्‌के दर्शनकी इच्छातकका स्वार्थ—कामनाके अन्तर्गत है तथा इनके निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वे बहुत ही उच्च और उत्तम होनेपर भी जीवात्माके अपने निमित्त कर्म हैं, वे भगवान्‌के निमित्त नहीं कहे जा सकते और न इस प्रकारकी सेवा ही भगवत्सेवा कहला सकती है। उपर्युक्त उद्देश्यसे जो त्याग किये जाते हैं, कष्ट सहे जाते हैं एवं अध्यवसाय किये जाते हैं वे सब परमोच्च स्वार्थ हैं, पर निर्हेतुक भगवत्सेवा नहीं। इनके फलस्वरूप सिद्धि, यश और पार्थिव ऐश्वर्य मिलेंगे, भगवद्दर्शन भी होंगे, किंतु भगवत्प्रेम या यथार्थ भक्तिका प्राप्त होना कठिन है। जब यथार्थ भक्ति ही नहीं तो यथार्थ भगवत्प्राप्ति कहाँ? भक्ति बाजारमें बिकनेवाली वस्तु नहीं है, जिसको साधनारूपी कीमत देकर खरीद लिया जाय!

अतएव साधनाका एक उद्देश्य यह है कि साधक साधना करते-करते थककर जब समझ जाय कि उसकी साधनाद्वारा—चाहे वह परम कठिन और दीर्घव्यापी ही क्यों न हो—भगवत्प्राप्ति न होगी तथा ऐसा समझकर जब एकमात्र श्रीभगवान्‌पर भरोसा कर निःस्वार्थ सेवा करना प्रारम्भ करे एवं किसी बातकी इच्छा न रखे, तभी श्रीभगवान्‌की कृपा होती है, जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है। अतएव ऐसा सोचकर जप करना कि इतने जपसे और इस प्रकारकी साधनासे भगवद्दर्शन होंगे, यथार्थ भगवत्सेवा नहीं है तथा उसके कारण यदि कोई दर्शन भी मिले तो वह साधनाकी कीमत है, भगवत्प्रसाद नहीं। इसमें न वास्तविक भक्ति है, न प्रेम; क्योंकि जिस साधनके फलस्वरूप दर्शन मिले उसका उद्देश्य स्वार्थ था, वह *भगवदर्थ* नहीं किया गया था। श्रीमद्भागवतमहापुराणका वचन है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(३।२९।१३)

श्रीभगवान्‌का वचन है कि 'मैं सालोक्य-मुक्ति, सार्ष्टि-मुक्ति, सामीप्य-मुक्ति, सारूप्य-मुक्ति तथा एकत्व-मुक्ति भी देता हूँ, तथापि मेरे प्रियजन मेरी सेवाको छोड़कर मेरी दी हुई किसी मुक्तिको भी अङ्गीकार नहीं करते।' जब बिना माँगे एकत्व-मुक्ति मिलनेपर भी भक्त उसको स्वीकार नहीं करते तो वे अपनी सेवाका उद्देश्य भगवद्दर्शन ही क्यों रखेंगे? एक यथार्थ भक्तकी उक्ति है कि 'श्रीभगवान् यह भी नहीं जानें कि मैं उनकी सेवा-भक्ति करता हूँ।' भाव बहुत ठीक है।

अर्जुन तो प्रायः श्रीभगवान्‌के साथ ही रहते थे; किंतु एक सङ्ग रहनेपर भी गीतोपदेशके पहले उनको यथार्थ ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई। अब प्रश्न यह है कि कौन-सी यथार्थ भगवत्सेवा है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिस कार्यमें प्रभु नियुक्त हों, उसी कार्यमें सेवकको भी योग देना यथार्थ सेवा है। श्रीभगवान् संसारके हितके निमित्त धर्मके प्रचार और अधर्मके ह्रास करनेके कार्यमें नियुक्त हैं (गीता ४।७-८)। क्योंकि सर्वात्मा होनेके कारण प्राणियोंका दुःख उनका दुःख और सुख उनका सुख है, अतएव जो पराये दुःख-सुखको अपना मान (गीता ६।३२) भगवन्नाम-प्रचार आदिद्वारा धर्म-प्रचार तथा अधर्मके ह्रासमें भगवत्सेवाकी भाँति श्रीभगवान्‌की शक्तिका आश्रय करके निरहङ्कार होकर नियुक्त हैं, वे ही यथार्थ सेवक हैं। भक्तको अपने लिये तो कुछ नहीं चाहिये; किंतु उन्हें संसारके दुःसह कष्टको अपना मान उसके ह्रासके यत्नमें सदा प्रवृत्त रहना चाहिये। इस भावका परमोत्तम प्रमाण श्रीप्रह्लादजीकी उक्ति है—

'नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः ।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान् ॥
प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ॥

(श्रीमद्भा० ७।९।४३-४४)

हे भगवन्! मुझे वैतरणी आदि नरककी यातनाका भय नहीं है, क्योंकि मेरा चित्त तुम्हारे परम चरित्रके अनुशीलनमें मग्न है; किंतु मुझको उन अज्ञानी लोगोंके लिये सोच है जो तुमसे विमुख होकर इन्द्रियोंके सुखमें लिप्त रहनेके कारण पापका बोझा ढोते हैं। बड़े-बड़े देवता और मुनि लोग प्रायः अपनी मुक्तिकी चिन्तामें निमग्न रहते हैं, दूसरेकी भलाईकी परवा नहीं करते। जंगलमें चले जाते हैं और किसीसे नहीं बोलते। किंतु जो तुमसे विमुख दीन हैं, उनको त्यागकर मैं केवल अपनी मुक्ति नहीं चाहता; क्योंकि तुम्हारी शरण आये बिना संसृतिमें भ्रमण करनेवालोंके कल्याणका कोई अन्य उपाय नहीं है।

श्रीभगवान्की सेवाका ठीक आदर्श श्रीप्र॰ वचनमें है। श्रीप्रह्लादजीके कथनानुसार यथार्थ भक्त न॰ जो अपनी मुक्तिकी इच्छा अथवा अपने लिये कुछ भ॰ इच्छा कदापि न रखकर संसारके दीनजनोंके दुःखको अ॰ दुःख मान स्तुति, जप, स्मरण, ध्यान, योग, यज्ञ और आदि जो कुछ भी करे, उनका उद्देश्य केवल यही हो॰ जनसमूह भगवद्विमुख होनेके बदले ईश्वरोन्मुख हो॰ जिससे उनका दुःख छूटे और यथार्थ कल्याण हो। भक्तके जीवनका एकमात्र मुख्य उद्देश्य है और निःस्वार्थ प्रेम-सेवा है जो स्वयं श्रीभगवान्का कार्य
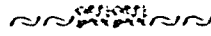
प्रेमतत्त्व-मीमांसा

(आचार्य श्रीआद्याचरणजी झा)

प्रेमैव माऽस्तु यदि चेत् पथिकेन नैव
तत्रापि चेद् गुणवता न समं कदापि।
तत्रापि चेद् भवतु माऽस्तु कदापि भङ्गः
भङ्गश्च चेद् भवतु वश्यमवश्यमायुः॥

उपर्युक्त श्लोकमें रहस्यमय 'प्रेम' की चरमोत्कर्षता व्यक्त की गयी है। कवि कहता है कि 'प्रेम' करो ही नहीं—हो ही नहीं! यदि हो ही जाय तो पथिकसे प्रेम मत करो और यदि यह भी हो जाय तो गुणी पथिकसे प्रेम मत करो तथा यदि गुणवान् पथिकसे प्रेम हो जाय तो वह कदापि टूटे नहीं, भङ्ग नहीं हो एवं यदि भङ्ग होनेकी स्थिति आ जाय तो आपकी अपनी आयु आपकी वशवर्तिनी (मुट्ठीमें) हो।

तात्पर्य यह है कि प्रेम तो केवल एकपक्षीय भगवान्से ही होता है, किया जाता है और किया जाना चाहिये। यही परिपूर्ण प्रेम है। लौकिक प्रेम तो लोकवत् क्षणभङ्गुर है, अशाश्वत है, अनित्य है। भगवत्प्रेम नित्य, शाश्वत, अनुदिन प्रवर्धमान है। फिर भी यदि संयोगवश किसीसे लौकिक प्रेम हो ही जाय तो पथिकसे मत करो; क्योंकि हम सभी पथिक हैं और अपनी ट्रेनकी प्रतीक्षामें संसाररूपी प्रतीक्षालयमें बैठे हुए हैं। जिसके आवागमनमें क्षणमात्र भी आगे-पीछे नहीं होता है।

यदि गुणवान्, पथिक और प्रेम—ये तीनों एकत्र ही जायँ तो वह भङ्ग नहीं हो, टूटे नहीं। यदि भङ्ग ह॰ टूटनेकी स्थिति आ ही जाय तो अपनी आयु आपके (मुट्ठी)-में होनी चाहिये। रहस्य यह कि प्रेम टूटनेसे प॰ आप स्वतः स्वेच्छासे प्राण-त्याग कर लें।

प्रेमकी व्युत्पत्ति—'प्रियस्य भावः प्रेम' (पुँल्लि॰ नपुंसक) उभय लिङ्गी। प्रिय शब्दसे **'पृथ्वादिभ्य इमनि॰** (पाणिनि सूत्र ५।१।१२२)-से 'इमनिच्' प्रत्यय ॰ **'प्रिय स्थिरेति'''** (पा॰ सूत्र ६।४।१५७)-से प्रियको आदेश और आद्गुण (पा॰ सू॰)-से गुण करके 'प्रेम' ॰ बनता है। इसका अर्थ है सौहार्द, स्नेह, भक्ति तथा स॰ समर्पण आदि। इसीका पर्यायवाची शब्द है 'प्रेमा'। 'इमनिच्' या 'मनिन्' प्रत्ययसे बनता है। इसका प्र॰ प्रधानतः पुँल्लिङ्गमें **'प्रेमा' 'प्रेमाणौ' 'प्रेमाणः'** रूप बनता

'प्रेम' शब्दका प्रयोग—रस-सिद्धान्तके विलक्षण ग्र॰ 'उज्ज्वलनीलमणि' में प्रेमाभक्तिके आचार्य रूपगोस्व॰ भक्तिरसको ही रसराज सिद्ध करते हुए स्थायिभा॰ प्रकरणमें 'प्रेमा' को परिभाषित करते हुए कहते हैं-

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।
यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥
विलम्बादिभिरज्ञातचित्तवृत्तौ प्रिये जने॥
इतरः क्लेशकारी यः स प्रेमा प्रौढ उच्यते।

(५७, ६०-६१)

तात्पर्य यह है कि प्रेमके ध्वंस होनेके कारणोंके रहते हुए भी जो ध्वंस—नष्ट नहीं हो, वही प्रेम (प्रेमा) अविनाशी है तथा प्रियजनके विलम्ब आदिसे अज्ञात चित्तमें अन्य कोई बात क्लेशदायी हो, उसे 'प्रौढ़-प्रेमा' अर्थात् प्रगाढ़ प्रेम कहा जाता है। उस तादात्म्यचित्त-वृत्तिमें विषयान्तरका प्रवेश भी सम्भव नहीं है; क्योंकि वहाँ तो प्रेम-प्रेमी-प्रेमास्पदोंमें साधारणीकरण हो चुका है।

शब्दब्रह्म—इसी प्रेमस्वरूप ब्रह्म-विद्या-क्रममें महावैयाकरण भर्तृहरिने 'वाक्यपदीयम्' में कहा है—

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥

अर्थात् यह शब्द ब्रह्म ॐकार ही सिद्धमार्गके सोपानकी पहली सीढ़ी है और यही वाक्-वाणी-ब्राह्मी मोक्षकामियोंका सरल राजमार्ग है।

हिन्दी-व्रजभाषा आदिमें प्रेम-प्रयोग—चन्द्र-चकोर, चाँद-कुमुदिनी, सूर्य-कमल आदि प्रेमके शतशः उदाहरण प्रत्यक्ष हैं। सूफी कवियोंसे लेकर भक्तिकालीन तथा आधुनिक हिन्दीके कवियों और अन्य मैथिली, बँगला, तमिल, तेलुगु प्रभृति भाषाओंके लेखकोंने प्रेमको अलौकिक सिद्ध किया है। प्रेमका प्रतिदान शीश—मस्तकदान है। सोना-हीरा उसका मूल्य नहीं है। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं—

(१) **यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।**
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

(२) अलौकिक प्रेमके सम्बन्धमें रसखानजीकी इस एक पंक्तिकी तुलना तथा व्याख्या क्या सम्भव है?

ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछियाभरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(३) भक्तशिरोमणि बिन्दुजी महाराजका कहना है—

परम प्रेम के पाले पड़कर प्रभु का नियम बदलते देखा।

(४) मैथिलकोकिल महाकवि विद्यापतिके गोपी-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धी शृङ्गार कितने रहस्यपूर्ण और प्रेममय हैं, इसके उदाहरणके रूपमें केवल दो पद्यांश इस प्रकार हैं—

(१) **लोचन धाए फेधायेल हरि नहिं आयल रे।**
शिव शिव जिवओ न जाए आस अरुझाएल रे॥

[राधाजी कहतीं हैं]—अपलक नेत्रोंसे देखते-देखते आँखें चौंधिया गयीं, हरि आये नहीं, हे शिव! हे शिव!! मैं तो जिऊँगी नहीं; परंतु मेरा प्रेम कहाँ जायगा?

(२) **सुतलि छलहुँ हम घरबा रे गरबा मोतिहार।**
राति जखनि भिनुसरुवा रे पिया आएल हमार॥
कर कौसल कर कपइत रे हरवा उर टार।
कर पंकज उर थपइत रे मुख चंद निहार॥
केहिन अभागिलि बैरिन रे भागलि मोर निन्द।
भल कए नहिं देख पाओल रे गुनमय गोबिन्द॥
विद्यापति कबि गाओल रे धनि मन धरु धीर।
समय पाए तरुबर फर रे कतबो सिचु नीर॥

उक्त शृङ्गाररस-परिपूर्ण पदका अन्तिमांश मोक्षमार्गका प्रदर्शक है; क्योंकि मेरे प्रिय भोर होनेके समय स्वप्नमें आये और भोरका स्वप्न सच होता है, ऐसा शास्त्रीय विचार है। सहसा उस प्रेमिका गोपीकी अभागिनी वैरिन नींद टूट गयी और अच्छी तरह गुण परिपूरित 'गोविन्द' परमात्माको वह देख नहीं सकी। यहाँ विद्यापतिजी कहते हैं कि हे धन्ये! मनमें धैर्य रखो, कितना भी सिञ्चन करो, वृक्षमें फल समयपर ही होगा।

यहाँ रहस्य यह है कि आत्मा-परमात्माके मिलनरूपी मोक्षके अवसरमें कुछ देर है। धैर्य रखो और प्रेम-रससे सींचते रहो। समय आ रहा है, फल मिलेगा।

(५) श्रीमद्भगवद्गीताके अध्याय दसके प्रथम श्लोकमें—

'यत्तेऽहं प्रीयमाणाय' तथा इसी अध्यायके दसवें श्लोकमें **'भजतां प्रीतिपूर्वकम्' 'प्रीयमाणाय'—'प्रेमास्पदाय'** तथा **'प्रीतिपूर्वकम्',—'प्रेमपूर्वकम्'** कहकर प्रेमाभक्तिका स्पष्ट दिग्दर्शन किया गया है।

(६) समग्र श्रीमद्भागवत प्रेमभावाभिव्यक्तिमय है। उसमें भी 'दशम स्कन्ध' विश्ववाङ्मयका अद्वितीय कथानक है, उसमें भी 'भ्रमरगीत' अद्वितीय है। उसीमेंसे केवल दो दिव्य प्रेमप्रसूनोंको उद्धृत किया जा रहा है—

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥
क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥*

(श्रीमद्भा० १०।४७।२१, ४८)

प्रेमके वशीभूत गोपियाँ कृष्णके समान काले रंगवाले और उनके पीत उत्तरीय वस्त्रके समान चिह्नवाले भौंरेसे पूछती हैं कि आर्यपुत्र कृष्ण क्या अभी मधुपुरमें हैं? क्या अपने पैतृक गृह गोकुल और अपने प्रिय बन्धु गोपगणोंका स्मरण करते हैं? क्या वे कभी अपनी दासियों (हमलोगों)-का स्मरण करते हैं? वे अपनी भुजाओंके अगरकी सुगन्ध हमारे मस्तकोंपर क रखेंगे, इन सबकी याद उन्हें आती है क्या?

रोम-रोममें कृष्णसे रमी कृष्णमय गोपियाँ मन गयी हैं कि वे एक कीट-पतंग—भ्रमरसे बात कर रही यहाँ एकान्त वेद्यान्तर स्पर्शशून्य ब्रह्मस्वादमय भगवत्प्रेम चरमोत्कृष्टता प्रदर्शित है।

अन्तमें गोपियाँ कहती हैं कि उस उत्तम श्लोक अर्थात् गुणयुक्त व्यक्तिकी एकान्त-वार्ताको कौन छोड़ सकता जिनके हृदय—उरसे श्रीशोभा कभी च्युत नहीं होती है।

परिणामत: प्रेम-भगवत्प्रेम छूटता नहीं है। प्रेम, प्रे और प्रेमास्पद—ये तीनों एकाकार हो जाते हैं। य 'सायुज्य'-मुक्ति है।
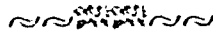
भगवत्प्रेमका स्वरूप

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा, पूर्व रीडर)

प्रेम मनकी अत्यन्त पवित्र वृत्ति है। जहाँ जितनी ही अधिक समीपता, जितनी ही अधिक अन्तरङ्गता और जितनी ही अधिक प्रत्यक्षता होती है; इस प्रेमका वहाँ उतना ही अधिक प्राकट्य होता है। इसीलिये अत्यन्त समीप, अत्यन्त अन्तरङ्ग और अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा (परमात्मा)-में ही सर्वाधिक प्रेम होना स्वाभाविक है; परंतु मनुष्य सांसारिक वस्तुओंमें आसक्त होकर उनसे प्रेम करने लगता है। यह सब अज्ञान और मोहके कारण होता है, अन्यथा परमात्मासे ही सर्वाधिक प्रेम होना चाहिये; क्योंकि वही सबसे अधिक समीप, अन्तरङ्ग तथा प्रत्यक्ष हैं। वास्तवमें भगवान्‌के प्रति प्रेम ही सच्चा प्रेम है। इसके लिये मनुष्यको सभी प्रकारके विकारों—अहंकार आदिका त्याग करना पड़ता है, तभी भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। संत कबीरने इस सम्बन्धमें ठीक ही कहा है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

प्रेमकी विलक्षणता

प्रेम बड़ी विलक्षण वस्तु है। जब यह परिपक्व जाता है तब प्रेमीको प्रेमास्पदके अतिरिक्त अन्य किसी स्मरण नहीं रहता। हर क्षण उसे प्रियतमकी याद बनी र है। शास्त्रोंके अनुसार हमारी अन्तरात्मा अत्यन्त अभि स्वरूप होनेके कारण निरतिशय प्रेमकी पात्र है। अत: सबसे अधिक अपनी अन्तरात्मासे प्रेम होता है। इस बात समझनेके लिये हमें श्रीमद्भागवतके इस प्रकरणपर वि करना चाहिये—जब ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णके गा बछड़ों और ग्वालोंका अपहरण कर लिया, तब श्रीकृ ही सब कुछ बनकर उन-उन घरोंमें चले गये। इस प्र सभी गोप-गोपियों और गायोंको श्रीकृष्णका संस्पर्श-

---

* अच्छा, हमारे प्रियतमके प्यारे दूत मधुकर! हमें यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण गुरुकुलसे लौटकर मधुपुरीमें अब सु तो हैं न? क्या वे कभी नन्दबाबा, यशोदारानी, यहाँके घर, सगे-सम्बन्धी और ग्वाल-बालोंकी भी याद करते हैं? और क्या हम दासियोंकी कोई बात कभी चलाते हैं? प्यारे भ्रमर! हमें यह भी बतलाओ कि कभी वे अपनी अगरके समान दिव्य सुगन्धसे युक्त भुजा हमारे सिरोंपर रखे क्या हमारे जीवनमें कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा? हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने, जिनकी कीर्तिका गान बड़े-बड़े महात्मा करते रहते हैं, ह एकान्तमें जो मीठी-मीठी प्रेमकी बातें की हैं, उन्हें छोड़नेका, भुलानेका उत्साह भी हम कैसे कर सकती हैं? देखो तो उनकी इच्छा न हो भी स्वयं लक्ष्मीजी उनके चरणोंसे लिपटी रहती हैं, एक क्षणके लिये भी उनका अङ्ग-सङ्ग छोड़कर कहीं नहीं जातीं।

स्वतः ही मिल गया, जिससे उनका प्रेमभाव असीम हो गया। उस स्थितिमें सभी गायों और गोपियोंको श्रीकृष्ण ही पुत्रके रूपमें प्राप्त थे। फिर तो उनके प्रेममें निःसीम वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। राजा परीक्षित्‌द्वारा इसका कारण पूछे जानेपर श्रीशुकदेवजीने कहा कि 'हे राजन्! संसारमें प्राणिमात्रको अपनी आत्मामें सर्वाधिक प्रेम होता है; स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, धन और मित्र आदिमें इतना प्रेम नहीं होता। देहात्मवादी भी जितना प्रेम देहमें करते हैं, उतना देहानुगामी वस्तुमें नहीं करते। पुत्र, धन, स्त्री आदिमें जो प्रेम होता है, वह केवल आत्मप्रेमकी अभिव्यक्तिमात्र है।' उपनिषदोंका भी यही उद्‌घोष है—'**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।**' (बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५) अर्थात् आत्माके लिये ही सम्पूर्ण वस्तुओंमें प्राणिमात्रका प्रेम होता है। यही प्रेमकी विलक्षणता है।

आत्मप्रेम ही भगवत्प्रेम

दार्शनिकोंके अनुसार आत्माके सुखके लिये ही संसारकी सभी वस्तुएँ प्रिय होती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मासम्बन्धी प्रेम होनेके कारण भगवत्प्रेम होना स्वाभाविक है; क्योंकि आत्मा और भगवान् भिन्न न होकर अभिन्न ही हैं। इसीलिये श्रीराम-श्रीकृष्णमें सब लोगोंको अधिक प्रेम हुआ; क्योंकि ये दोनों प्राणिमात्रके अन्तरात्मा थे। दोनों ही अपनी अचिन्त्य एवं दिव्य लीला-शक्तिसे सगुण, साकार और अनन्तकल्याणगुणयुक्त होकर मनोहररूपमें प्रकट हुए थे। रामायणमें भगवान् श्रीरामकी जो दिव्य लीलाएँ वर्णित हैं, उनसे भक्तजनोंको जो निरतिशय आनन्द प्राप्त हुआ, उन सबकी अभिव्यक्ति उनके प्रति लोगोंके सर्वाधिक प्रेममें हुई। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं, वे ही सबकी अन्तरात्मा हैं एवं वे ही सभी वस्तुओंमें ओत-प्रोत हैं। अतः उनसे सहज, स्वाभाविक एवं उत्कट प्रेम किये बिना नहीं रहा जा सकता। वस्तुतः जब मनुष्यकी भगवान्‌से प्रेमकी लौ लग जाती है, तब उसे अन्य कुछ नहीं सुहाता। वह हर समय उसीका चिन्तन करता रहता है। किसी कविने ठीक ही कहा है—

> लव लागि तब जानिये छूटहि कबहु न जाये।
> मिठो कहा अंगारमें जाहि चकोर चबाये॥

जाने-अनजाने भगवत्प्रेम

क्योंकि भगवान् ही निरतिशय, निरुपाधिक एवं सर्वोत्कृष्ट प्रेमके आस्पद होनेसे सबकी अन्तरात्मा हैं; अतः उन्हींसे सभीको सच्चा प्रेम करना चाहिये, परंतु अज्ञान, मोह और आसक्तिके कारण कभी-कभी प्रेमकी सहजता, स्वाभाविकता तथा उत्कटता प्रकट नहीं होती है। वास्तवमें सभी प्राणी जाने-अनजाने भगवत्प्रेमकी ओर अग्रसर हैं। सभी ज्ञान अथवा अज्ञानपूर्वक अपने जीवन-धन भगवान्‌के ही प्रेमी हैं। इसलिये स्वामी विवेकानन्दका कहना है कि 'हमें ज्ञानपूर्वक ही भगवान्‌से प्रेम करना चाहिये, जिससे शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सके।' प्रेमीके लिये धन, ऐश्वर्य और बल आदिका कुछ भी महत्त्व नहीं होता। भगवती जनकनन्दिनी सीताजीने लङ्कामें रहते हुए कभी रावणके ऐश्वर्यकी ओर नहीं देखा, बल्कि रावणके दुष्कर्मके लिये वे उसे बराबर फटकारती रहीं। व्रजबालाओंके सामने जब अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीमन्नारायण प्रकट हुए तो उन्होंने प्रणाम करके उनसे यही माँगा कि हमारे प्राणेश्वर मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रसे हमें मिला दो। वे उन नारायणकी ओर तनिक भी आकर्षित नहीं हुईं। इसीलिये गोपियोंका श्रीकृष्ण-प्रेम आदर्श प्रेम माना जाता है। ऐसा ही अनन्य प्रेम हम सबका भगवान्‌के प्रति होना चाहिये।

प्रेमका स्वरूप

प्रेम अनन्य होना चाहिये। प्रेमास्पदका कोई विकल्प नहीं होता। प्रेम परिपक्व होकर भक्तिमें परिणत हो जाता है। धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिसुधा' में 'भगवान् और प्रेम' विषयपर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि प्रेम स्वाभाविक होता है। उसका निषेध करने या उसमें रुकावट डालनेसे वह उत्कट रूप धारण कर लेता है। अतः भगवत्प्रेममें विधि-निषेधका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। यही कारण है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने प्रेमीकी दशाको इस रूपमें व्यक्त किया है—

> **कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।**
> **तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥**
>
> (रा०च०मा० ७।१३०, ख)

अर्थात् हे रघुनाथ श्रीराम! जैसे कामुक व्यक्तिकी स्त्रीमें और लोभी व्यक्तिकी धनमें प्रीति होती है, उसी प्रकारकी मेरी प्रीति सदा आपमें बनी रहे। वस्तुतः भगवान और प्रेम दोनों एक ही वस्तु हैं। कुछ विचारकोंके अनुसार

पदार्थोंपर! तो चेतन प्रेमियोंपर कैसा होता होगा? साँवरे-सलोने! नेक सोचो तो सही।

पर एक बात है—मीराजीकी विरह-वेदना तो वही बनी रही।

'नहीं', आश्वासनके स्वरमें वे स्वरकुशल बोले—'यह वैसी विरह-वेदना नहीं है। यह तो सर्वथा भिन्न प्रकारकी है मधुर है, मधुरातिमधुर है। इसमें मिलनकी सुखद अनुभूति बनी रहती है, हिय—प्राणोंमें दिव्यानन्द संचरित रहता है। 'मैं साथ रहता हूँ, साथ होता हूँ'—यह प्रतीति उसे बनी रहती है, यह प्रतीति ही तो उसकी जीवनदायिनी शक्ति है, तभी तो इतना पर्यटन, इतना परिभ्रमण कर पाती है मेरी मीरा।'

कहीं यह सब आश्वासनमात्र ही तो नहीं?

(उत्तरमें) दृश्य-परिवर्तन—मेघमालाओंके मध्यसे झाँकता नील नभ, प्रकृतिका परम मनोहर सुन्दर दृश्य, स्वतः निविड़ निभृत निकुञ्जोंका निर्माण, सघन वृक्षोंके मध्य झूमता एक हिंडोला—

अकस्मात् मीराजीके पीछेसे आते हैं उनके प्राण-प्रियतम—अङ्कमें, अङ्गमें, समाहित कर लेते हैं उन्हें। बरजोरी अपने साथ उस हिंडोलेमें बिठाते हैं। इस सम्मिलन-सुखमें शेष सब अशेष हो जाता है, विस्मृत हो जाता है। युगोंकी तृषाका शमन हुआ, एक बार फिर प्राण सुशीतल रससे सिंचित हुए।

तो फिर—

लाड़ली किशोरी श्रीराधाको भी विरहमें मिलन-सुख प्रतीत होता है और मिलनमें विरह-वेदनाका दु:ख भी शून्य—न्यून नहीं होता।

कैसा मोहक है यह प्रेम-वैचित्त्य।

अहैतुक बन्धो! क्या कभी हमें इसकी छांयाका भी स्पर्श प्राप्त होगा? [प्रेषिका—अरुणिमा]

अव्यक्त प्रेम

(श्रीवियोगी हरिजी)

हिरदै भीतर दव बलै, धुआँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥

(कबीर)

लगनकी आगका धुआँ कौन देख सकता है। उसे या तो वह देखता है, जिसके अंदर वह जल रही है या फिर वह देखता है, जिसने वह आग सुलगायी है। भाई, प्रेम तो वही जो प्रकट न किया जाय। सीनेके अंदर ही एक आग-सी सुलगती रहे, उसका धुआँ बाहर न निकले। प्रीति प्रकाशमें न लायी जाय। यह दूसरी बात है कि कोई दिलवाला जौहरी उस प्रेम-रत्नके जौहरको किसी तरह जान जाय। वही तो सच्ची लगन है जो गलकर, घुलकर, हृदयके भीतर पैठ जाय; प्यारेका नाम मुँहसे न निकलने पाये, रोम-रोमसे उसका स्मरण किया जाय। कबीरदासजीकी एक साखी है—

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुखकी सरधा नाहिं॥

प्रेम-रसके गोपनमें ही पवित्रता है। जो प्रेम प्रकट हो चुका, बाजारमें जिसका विज्ञापन कर दिया गया, उसमें पवित्रता कहाँ रही? वह तो फिर मोल-तोलकी चीज हो गयी। कोविद-वर कारलाइल कहता है—

Love unexpressed is sacred.

अर्थात् अव्यक्त प्रेम ही पवित्र होता है। जिसके जिगरमें कोई कसक है, वह दुनियामें गली-गली चिल्लाता नहीं फिरता। जहाँ-तहाँ पुकारते तो वे ही फिरा करते हैं, जिनके दिलमें प्रेमकी वह रस-भरी हूक नहीं उठा करती। ऐसे बने हुए प्रेमियोंको प्रेमदेवका दर्शन कैसे हो सकता है? महात्मा दादूदयालजी कहते हैं—

अंदर पीर न ऊभरै, बाहर करै पुकार।
'दादू' सो क्यों करि लहै, साहिबका दीदार॥

किसीको यह सुनानेसे क्या लाभ कि मैं तुम्हें चाहता हूँ, तुमपर मेरा प्रेम है? सच्चे प्रेमियोंको ऐसी विज्ञापनबाजीसे क्या मिलेगा? तुम्हारा यदि किसीपर प्रेम है तो उसे अपनी हृदय-वाटिकामें ही अंकुरित, पल्लवित, प्रफुल्लित और परिफलित होने दो। जितना ही तुम अपने प्रियको

छिपाओगे, उतना ही वह प्रगल्भ और पवित्र होता जायगा। बाहरका दरवाजा बंद करके तुम तो भीतरका द्वार खोल दो। तुम्हारा प्यारा तुम्हारे प्रेमको जानता हो तो अच्छा और उससे बेखबर हो तो भी अच्छा। तुम्हारे बाहरके शोर-गुलको वह कभी पसंद न करेगा। तुम तो दिलका दरवाजा खोलकर बेखबर हो बैठ जाओ। तुम्हारा प्यारा राम जरूर तुम्हें मिलेगा—

सुमिरन सुरत लगाइकै, मुखतें कछू न बोल।
बाहरके पट देइकै, अन्तरके पट खोल॥

(कबीर)

प्रीतिका ढिंढोरा पीटनेसे कोई लाभ?

जो तेरे घट प्रेम है, तौ कहि कहि न सुनाव।
अंतरजामी जानिहैं, अंतरगत का भाव॥

(मलूकदास)

तुम तो प्रेमको इस भाँति छिपा लो, जैसे माता अपने गर्भस्थ बालकको बड़े यत्नसे छिपाये रहती है, जरा भी उसे ठेस लगी कि वह क्षीण हुआ—

जैसे माता गर्भको राखै जतन बनाइ।
ठेस लगै तौ छीन हो, ऐसे प्रेम बुराइ॥

(गरीबदास)

प्रेमका वास्तविक रूप तुम प्रकाशित भी तो नहीं कर सकते। हाँ, उसे किस प्रकार प्रकाशमें लाओगे? प्रेम तो गूँगा होता है। इश्कको बेजुबान ही पाओगे। ऊँचे प्रेमियोंकी तो मस्तानी आँखें बोलती हैं, जुबान नहीं। कहा भी है—

Love's tongue is in the eyes.

अर्थात् प्रेमकी जिह्वा नेत्रोंमें होती है। क्या रघूत्तम रामका विदेह-नन्दिनीपर कुछ कम प्रेम था? क्या वे मारुतिके द्वारा जनकतनयाको यह प्रेमाकुल संदेश न भेज सकते थे कि 'प्राणप्रिये! तुम्हारे असह्य वियोगमें मेरे प्राण-पक्षी अब ठहरेंगे नहीं; हृदयेश्वरी! तुम्हारे विरहने मुझे आज प्राणहीन-सा कर दिया है।' क्या वे आजकलके विरह-विह्वल नवल नायककी भाँति दस-पाँच लम्बे-चौड़े प्रेम-पत्र अपनी प्रेयसीको न भेज सकते थे? सब कुछ कर सकते थे, पर उनका प्रेम दिखाऊ तो था नहीं। उन्हें क्या पड़ी थी जो प्रेमका रोना रोते फिरते! उनकी प्रीति तो एक सत्य, अनन्त और अव्यक्त प्रात था, हृदयमें धधकती हुई प्रीतिकी एक ज्वाला थी। इससे उनका सँदेसा तो इतनेमें ही समाप्त हो गया—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा० च० मा० ५। १५। ६-७)

इस 'इतनेमें' ही उतना सब भरा हुआ है, जितनेका कि किसी प्रीति-रसके चखनेहारेको अपने अन्तस्तलमें अनुभव हो सकता है। सो, बस—

'जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥'

प्रीतिकी गीति कौन गाता है, प्रेमका बाजा कहाँ बजता है और कौन सुनता है, इन सब भेदोंको या तो अपना चाह-भरा चित्त जानता है या फिर अपना वह प्रियतम। इस रहस्यको और कौन जानेगा?

सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त॥

(कबीर)

जायसीने भी खूब कहा है—

हाड़ भये सब किंगरी, नसें भई सब ताँति।
रोम-रोम तें धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥

प्रेम-गोपनपर किसी संस्कृत कविकी एक सूक्ति है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिर्गतश्चेत्
निर्वाति दीपमथवा लघुतामुपैति॥

दो प्रेमियोंका प्रेम तभीतक निश्चल समझो, जबतक वह उनके हृदयके भीतर है। ज्यों ही वह मुखद्वारसे बाहर हुआ अर्थात् यह कहा गया कि 'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ', त्यों ही वह या तो नष्ट हो गया या क्षीण ही हो गया। दीपक गृहके भीतर ही निष्कम्प और निश्चल रहता है। द्वारके बाहर आनेपर या तो वह क्षीणज्योति हो जाता है या बुझ ही जाता है। वास्तवमें पवित्र प्रेम एक दीपकके समान है। इसलिये चिराग़ेइश्क़को भाई, जिगरके अंदर ही जलने दो। उस अँधेरे घरमें ही तो आज उँजेलेकी जरूरत है।

उस प्रियतमको पलकोंके भीतर क्यों नहीं छुपा लेते?

उसे भला एक बार धीरेसे यह कहकर बुलाओ तो—

आओ प्यारे मोहना! पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मैं देखौं और कों, ना तोहि देखन देउँ॥

आँखोंकी तो एक सुन्दर कोठरी बनाओ और पुतलियोंका वहाँ पलंग बिछा दो । द्वारपर पलकोंकी चिक भी डाल देना। इतनेपर भी क्या वह हठीले हज़रत न रीझेंगे? क्यों न रीझेंगे—

नैनोंकी करि कोठरी, पुतली-पलँग बिछाय।
पलकोंकी चिक डारिके, छिनमें लिया रिझाय॥

(कबीर)

जब वह प्यारा दिलवर इस तरह तुम्हारे दर्दभरे दिलके अंदर अपना घर बना लेगा, तब तुम्हें न तो उसे कहीं खोजना ही होगा और न चिल्ला-चिल्लाकर अपने प्रेमका ढिंढोरा ही पीटना होगा। तब उस हृदय-विहारीके प्रति तुम्हारा प्रेम नीरव होगा। वह तुम्हारी मतवाली आँखोंकी प्यारी-प्यारी पुतलियोंमें जब छुपे-छुपे अपना डेरा जमा लेगा, तब उसका प्यारा दीदार तुम्हें ज़र्रे-ज़र्रेमें मिलेगा। घट-घटमें उसकी झलक दिखायी देगी। प्रेमोन्मत्त कवीन्द्र रवीन्द्र सुनो, क्या गा रहे हैं—

My beloved is ever in my heart
That is why I see him everywhere.
He is in the pupils of my eyes
That is why I see him everywhere.

अर्थात्—

जीवन-धन मम प्रान-पियारो सदा बसतु हिय मेरे,
जहाँ बिलोकैं; ताकैं ताकों कहा दूरि कह नेरे।
आँखिनकी पुतरिनमें सोई सदा रहै छवि घेरे,
जहाँ बिलोकैं, ताकैं ताकों कहा दूरि कह नेरे॥

(कृष्णविहारी मिश्र)

अपने चित्तको चुरानेवालेका ध्यान तुम भी एक चोरकी ही तरह दिलके भीतर किया करो। चोरकी चोरके ही साथ बना करती है। जैसेके साथ तैसा ही बनना पड़ता है। कविवर बिहारीका एक दोहा है—

करौ कुबत जगु कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगी लाल॥

संसार निन्दा करता है तो किया करे, पर मैं अपनी कुटिलता तो न छोड़ूँगा। अपने हृदयको सरल न बनाऊँगा क्योंकि हे त्रिभंगी लाल! तुम सरल (सीधे) हृदयमें बसते हुए कष्ट पाओगे। टेढ़ी वस्तु सीधी वस्तुके भीतर कैसे रह सकती है? सीधे मियानमें कहीं टेढ़ी तलवार रह सकती है? मैं सीधा हो गया तो तीन टेढ़वाले तुम मुझमें कैसे बसोगे? इससे मैं अब कुटिल ही अच्छा! हाँ, तो अपनी प्रेम-साधनाका या अपने प्यारेके ध्यानका कभी किसीको पता भी न चलने दो, यहाँकी बात जाहिर कर दो, यहाँके पट खोल दो, पर वहाँका सब कुछ गुप्त ही रहने दो, वहाँके पट बंद ही किये रहो। यह दूसरी बात है कि तुम्हारी ये लाचार आँखें किसीके आगे वहाँका कभी कोई भेद खोलकर रख दें।

प्रेमको प्रकट कर देनेसे क्षुद्र अहङ्कार और भी अधिक फूलने-फलने लगता है। 'मैं प्रेमी हूँ'—बस, इतना ही तो अहङ्कार चाहता है। 'मैं तुम्हें चाहता हूँ'—बस, यही खुदी तो प्रेमका मीठा मजा नहीं लूटने देती। ब्रह्मात्मैक्यके पूर्ण अनुभवीको '**सोऽहम् सोऽहम्**' की रट लगानेसे कोई लाभ? महाकवि ग़ालिबने क्या अच्छा कहा है—

क़तरा अपना भी हक़ीक़त में है दरिया लेकिन,
हमको तक़लीदे तुनक ज़र्फ़िये मंसूर नहीं।

मैं भी बूँद नहीं हूँ, समुद्र ही हूँ—जीव नहीं, ब्रह्म ही हूँ—पर मुझे मंसूरके ऐसा हलकापन पसंद नहीं। मैं 'अनलहक़' कह-कहकर अपना और ईश्वरका अभेदत्व प्रकट नहीं करना चाहता। जो हूँ सो हूँ, कहनेसे क्या लाभ। सच बात तो यह है कि सच्चा प्रेम प्रकट किया ही नहीं जा सकता। जिसने उस प्यारेको देख लिया, वह कुछ कहता नहीं और जो उसके बारेमें कहता-फिरता है, समझ लो, उसे उसका दर्शन अभी मिला ही नहीं। कबीरकी एक साखी है—

जो देखै सो कहै नहिं कहै सो देखै नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं, रसना दृग श्रुति काहिं॥

इसलिये प्रेम तो प्यारे, गोपनीय ही है।

अथातः प्रेम-मीमांसा

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य, पूर्वकुलपति)

प्रेम, प्रेमा[१] तथा प्रियता—इन समानार्थक शब्दोंके मूलमें एक ही 'प्रिय' भाव है। '**प्रीणातीति प्रियः**'[२], इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो प्रीति-आमोदको दे, उसे 'प्रिय' कहते हैं। '**प्रियस्य भावः प्रेम**'[३]। प्रेमा, प्रियत्व[४], प्रियता आदि शब्द प्रियके उस भाव अर्थात् अस्तित्व-निष्पादक धर्मको बतलाते हैं, जिसके विद्यमान रहनेपर ही 'प्रिय' प्रिय हो सकता है और उसे प्रिय कहा जा सकता है। प्रेमकी विद्यमानतामें ही 'प्रिय' शब्दका अर्थ चरितार्थ होता है।

निष्कर्षतः प्रेम वह तत्त्व है जो प्रिय-प्रेमाश्रयको असाधारण सुख देता है। 'प्रेमसे प्रियको असाधारण सुख मिलता है।' इस तथ्यके मुख्यतः चार रहस्य हैं—

(क) '**प्रियसुखसुखित्वम्**'—प्रेम केवल प्रियतमके सुखके लिये ही होता है।

(ख) '**प्रियानुकूलाचरणम्**'—प्रेममें केवल प्रियके ही अनुकूल आचरण होता है।

(ग) '**प्रियसुखकामातिरिक्तकामराहित्यम्**'—प्रिय-सुख-कामनाके अतिरिक्त प्रेममें स्व-काम बिलकुल नहीं होता है।

(घ) '**वाचामगोचरत्वम्**'—प्रेम वाणीके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है, वह मूकास्वादवत् अनिर्वचनीय होता है।

'यह मेरा है, मैं उसका हूँ', इस प्रकारका पक्षपात—विशेष प्रेममें हो जाता है। उपर्युक्त चारोंके अभावमें प्रेम प्रेम न होकर 'काम' हो जाता है। उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट करनेके पूर्व प्रेमकी तरह व्यवहृत 'प्रणय', 'परिचय' तथा 'राग' आदि शब्दोंके अर्थोंको स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रणय—परस्पर अवलोकन आदिसे जो प्रेम प्रकर्ष प्राप्त हो जाता है, जिसमें किसी एकके अनेक अपर करनेपर भी प्रेममें कमी नहीं आती है, उस प्रकार अविरल प्रेमको 'प्रणय[५]' कहते हैं।

परिचय—अधिक समयतक साथ रहनेसे जो प्रणय दृढ़ता होती है, उसे 'परिचय[६]' कहते हैं।

राग—प्रिय वस्तुके प्रति मनमें होनेवाला अनुकू भाव 'राग[७]' कहलाता है।

मल्लीनाथने शिशुपालवध महाकाव्य (४।५६)-व व्याख्यामें कहा है—'**अभिमतविषयाभिलाषः रागः**।' अथ मनोऽनुकूल विषयको प्राप्त करनेकी अभिलाषा राग है

वैष्णवाचार्य रूपगोस्वामी अपने प्रसिद्ध ग्र 'उज्ज्वलनीलमणि' में लिखते हैं—

दुःखमप्यधिकं चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

अर्थात् दुःख भी सुखरूपमें ही चित्तको अधि भासता है। चूँकि प्रणयका उत्कर्ष भी रागसे होता इसलिये इसे राग कहते हैं। इस तरह प्रणयको सुदृ करनेके कारण राग या अनुराग प्रेम प्रणय एवं परिचय भी एक सोपान और ऊपर चढ़ जाता है। इस भावको व्य करते हुए महाकवि भवभूतिने 'मालतीमाधव' नाटक मालतीकी प्राप्तिके लिये श्मशान-साधना करनेवाले माधव पूर्वरागको निम्न प्रकारसे प्रस्तुत किया है—

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।

---

१. प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः। (अमरकोश १।७।२७)

२. 'प्री' तर्पणे धातुसे 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (पा०सू० ३।१।१३५)-से 'क' प्रत्यय होनेपर 'प्रिय' शब्द निष्पन्न होता है।

३. 'पृथ्वादिभ्यः इमनिज्वा' (पा०सू० ५।१।१२२) प्रिय+इमनिच् प्रत्यय, 'प्रिय स्थिर' इत्यादि सूत्र (पा०सू० ६।४।१५७)-से प्रिय स्थानमें 'प्र' आदेश होनेसे 'प्रेमन्' शब्द बनता है, जिससे प्रेम, प्रेमा आदि रूप होते हैं।

४. तस्य भावस्त्वतलौ (पा०सू० ५।१।११९)-से 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होता है।

५. प्र+णीप्रापणे धातुसे 'एरच्' (पा० सू० ३।३।५६)-से 'अच्' 'प्रत्यय' करनेसे 'प्रणय' शब्द निष्पन्न होता है।

६. परि+चि+अप्=परिचय।

७. रञ्जनम् रागः 'रञ्जसे भावे घञ्।' रज्यते अनेन इति रागः। करणे घञ्।

यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः॥

अर्थात् उस सुन्दर नयनोंवाली मालतीकी प्रेमसे सनी हुई, प्रणयका स्पर्श करनेवाली तथा परिचयके कारण उद्गाढ़ अनुराग भरी हुई उस प्रकारकी वे भावपूर्ण चेष्टाएँ मेरे प्रति हों, जिनकी कल्पना करनेपर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियोंको व्यापारशून्य बना देनेवाला अन्तःकरणका आनन्दमें लय-सा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन चेष्टाओंकी कल्पनामात्रसे सुध-बुध भूलकर मन आनन्दसागरमें निमग्न हो जाता है, उसे राग या अनुराग कहते हैं।

इस तरह प्रेमसे प्रणयमें, प्रणयसे अधिक परिचयमें और परिचयसे अधिक अनुरागमें प्रीतिका उत्कर्ष दिखलाया गया है।

इसी प्रसंगमें यह भी जान लेना आवश्यक है कि राग या अनुरागका एक दूसरा पक्ष भी है, जिसमें फँसनेपर सुख-मरीचिकामें पश्चात्ताप होता है। जब सांसारिक विषयोंके उपभोगमें राग होता है तो उसका परिणाम 'शोक' होता है, जो जन्म-मृत्युका कारण बनता है। इसी रागसे विनिर्मुक्त तथा राग-जन्य भय, क्रोधसे रहित महात्माको 'स्थितधी' कहा गया है—

'वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥' (गीता २। ५६)

जब अनुराग भगवच्चरणारविन्दमें होता है, तब उस रागका फल अमृत होता है और जब सांसारिक अनित्य विषयोंमें होता है तो उसका फल शोक होता है।

मिथिलाकी हृदय-स्थली मङ्गरौनी (मधुबनी) ग्राम निवासी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र म० म० पं० गोकुलनाथ उपाध्याय महाभागने इस विषयका विश्लेषण करते हुए अपनी पुस्तक 'शिवस्तुतिमाला' में सुन्दर वर्णन किया है—

प्रसरति विषयेषु येषु रागः
परिणमते विरतेषु तेषु शोकः।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते
रुचिपरिपाकशुचामगोचरोऽसि ॥

जिन सांसारिक विषयोंमें राग होता है, उन विषयोंका विनाश अवश्यम्भावी होनेसे विषयानुरागका परिणाम शोक ही होता है। अतः निरतिशय सौन्दर्यशाली सच्चिदानन्द परमात्मामें ही राग समुचित है; क्योंकि केवल भगवद्-विषयक रागका ही परिणाम शोक नहीं होता है। फलतः केवल परमेश्वर-विषयक प्रेमानुराग सुखप्रद है और जगद्विषयक राग दुःखप्रद है। इसी सांसारिक रागका योगदर्शनके—**'अविद्याऽस्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाःक्लेशाः'**—इस सूत्रमें निर्दिष्ट पाँच क्लेशोंमें भी परिगणन है।

प्रणय, परिचय और अनुराग—इन सबका मूल आधार प्रेम ही है, अतः प्रेमका अत्यन्त महत्त्व है।

प्रेम और भक्ति—प्रेम और भक्तिके तारतम्य-विवेचनमें कहीं प्रेमको भक्तिका कारण माना गया है और कहीं भक्तिको प्रेमका फल कहा गया है—

अनन्य ममता विष्णौ ममताप्रेमसम्प्लुता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः॥

(नारदपाञ्चरात्र)

प्रह्लाद, उद्धव और नारद भगवान्‌के परम भक्त हैं। इनके कथनानुसार भक्तकी आत्मीयता भगवान्‌के प्रति जब प्रेम-रससे ओत-प्रोत होती है तब उसे भक्ति कहते हैं। यहाँ प्रेमको भक्तिका उत्कर्षक माना गया है। इसीलिये श्रवण-कीर्तन आदि नवधा-भक्तिसे प्रेमाभक्तिका माहात्म्य अधिक है। वस्तुतः प्रेम और प्रेमाभक्ति दोनोंमें तत्त्वतः तारतम्य नहीं है। अतएव इस प्रसंगमें निश्चित मत है—

प्रेमभक्तेश्च माहात्म्यं भक्तेर्माहात्म्यतः परम्।
सिद्धमेव यतो भक्तेः फलं प्रेमैव निश्चितम्॥

(नारदपाञ्चरात्र)

वस्तुतः भक्ति और प्रेममें प्रेम भक्तिसे अधिक प्रेयस्कर और श्रेयस्कर है। भक्तिमें उपास्य-उपासक भाव होनेसे भक्त और भगवान्‌में दूरी बनी रहती है। किंतु प्रेममें तादात्म्य हो जानेसे दोनोंमें ऐक्य हो जाता है। प्रियका सुख-दुःख प्रेमीका अपना ही सुख-दुःख बन जाता है। इसीलिये प्रेमी जो कुछ भी करता है, वह केवल प्रियके लिये ही करता है। प्रिय और प्रेमीका भाव-बन्धन जब अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोंमें अटूट रहता है, तब उस भाव-बन्धनको प्रेम कहते हैं।

उज्ज्वलनीलमणिकार लिखते हैं—

सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे।

यद्भावबन्धनं यूनोः स प्रेमा परिकीर्तितः॥

उपर्युक्त मीमांसाके निष्कर्षसे सिद्ध होता है कि प्रेमीका वह असाधारण हार्दिक भाव प्रेम है, जिसमें प्रियतमका सुख ही प्रेमीका अपना सुख है। प्रियतमके लिये अनुकूल परिस्थिति ही प्रेमीकी अनुकूल परिस्थिति है। प्रेमीका निजी—अपना कोई 'काम' है ही नहीं।

निष्काम भावनासे प्रियतमकी सुख-कामनामात्रसे ही प्रेम 'सकाम' माना जाता है। इसी दृष्टिसे प्रेम 'निष्काम काम' है।

इसी निष्कामरूप सकाम अनिर्वचनीय प्रेमका दृष्टान्त यहाँ एक रोचक कथाके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है—

व्रज और मथुराकी लीला प्रकट कर द्वारकाधीश आनन्दकन्द देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र द्वारावतीमें विराजमान हैं। विश्वकर्माके विशेष कौशलसे द्वारावतीमें भव्य हर्म्य बनाये गये हैं। अमरावतीसे पारिजात यहाँ आकर स्वाभीष्ट फल दे रहा है। इन्द्रादि देव अपनी-अपनी समृद्धिके द्वारा द्वारावतीको समृद्ध करनेमें अपना सौभाग्य मान रहे हैं। इच्छामात्रसे सभी पदार्थ 'आत्माराम' को आराम देनेमें अहमहमिकया प्रयास कर रहे हैं। महादेवी रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, नाग्नजिती (सत्या), भद्रा और लक्ष्मणा—सभी आठों पटरानियाँ अहर्निश महाप्रभुकी सेवामें आनन्दविभोर हैं। सर्वत्र आनन्दका साम्राज्य है। लीलापुरुष अनिर्वचनीय प्रेम-दर्शन-लीला करना चाहते हैं। गोपिकावल्लभ व्रजराज अकस्मात् अस्वस्थ-से दीखते हैं। मानसिक और शारीरिक पीड़ाएँ होने लगती हैं। अन्यमनस्क-से प्रियतमको देख सभी पटरानियाँ व्याकुल हो उठती हैं और जिज्ञासा करती हैं। महाप्रभु मौन हैं, पीड़ित हैं। सभी राजवैद्य आते हैं, परस्पर परामर्श भी करते हैं; परंतु कोई निदान नहीं निकल पाता। सभी उदास लौट जाते हैं। महादेवी रुक्मिणी साश्रुनयन विह्वल हो बोलती हैं—नाथ! क्या हो रहा है? कुछ तो बतलाइये। आपकी यह पीड़ा हमलोगोंके लिये असहनीय हो रही है।

आह भरते हुए महाप्रभुने कहा—इस रोगकी दवा तो मेरे पास है, परंतु इसका 'अनुपान' मेरे पास नहीं है। उस अनुपानके बिना यह दवा कारगर नहीं होती। अनुपान मिल जाय तो रोग दूर हो जाय। पटरानियोंने कुछ प्रसन्नताकी मुद्रामें उत्सुकतासे कहा—आप कृपया कहें तो, आदेश तो दें! लीलाधर बोले—कोई मेरा प्रेमी अपना थोड़ा-सा चरण-रज इस दवामें मिलाकर मुझे दे तो मैं तुरंत स्वस्थ हो जाऊँ। सभी महादेवियाँ एक-दूसरेकी ओर देखने लगीं। मैं जगन्नियन्ता द्वारकाधीश महाप्रभुको चरण-रज कैसे खिला सकती हूँ। मैं अपना नरक-मार्ग भला कैसे प्रशस्त करूँ—सभी किंकर्तव्यविमूढ़ हो गयीं।

उसी समय परम भक्त देवर्षि नारद वहाँ अचानक आ पहुँचे। सभी देवियाँ अपलक उनकी ओर देख इस विकट समस्याके समाधानके लिये 'अनुपान' मिलाकर दवा खिलानेकी उनसे प्रार्थना करने लगीं। 'नारायण! नारायण!! ऐसा अपराध भला मैं कैसे कर सकता हूँ' कहकर देवर्षि खड़े हो गये। इस तरह सबोंको चिन्तित देख प्रभुने कहा—देवर्षि! आप मनोजव हैं। शीघ्र व्रज जाकर व्रजबालाओंसे चरण-रजकी याचना करें और मेरी व्यथाको स्पष्ट कर दें। देवर्षिने उसी क्षण व्रज पहुँचकर गोपिकाओंसे प्रार्थना की। सुनते ही, प्रियतमकी पीड़ासे आहत, भोली-भाली व्रजबालाओंने अपना-अपना चरण-रज देकर उनसे अतिशीघ्र द्वारका जानेका आग्रह किया। देवर्षि उस विशिष्ट अनुपानको पाकर द्वारावती पहुँचे। उन्होंने प्रभुको दवा दी। महाप्रभु स्वस्थ एवं प्रसन्न हो गये, हँसने लगे। प्रेमतत्त्वको सबोंने समझा।

देवर्षि नारदने 'भक्तिसूत्र' की रचना की। '**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥**' '**यथा व्रजगोपिकानाम्॥**' आदि सूत्रोंके द्वारा प्रेम-तत्त्वको सुस्पष्ट किया। निष्कर्षतः निष्काम भावनासे केवल प्रिय-सुखकी कामना तथा तदनुकूल आचरण ही सच्चा प्रेम है।

प्रेम ही ईश्वर है

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

'शैतानसे घृणा करो' एक दूसरे फकीरने राबियासे कहा।

'मैं घृणा कर ही नहीं सकती; क्योंकि घृणा मेरे पास है ही नहीं। जबसे प्रभुसे प्यार हुआ है, तबसे अन्य सब वृत्तियाँ समाप्त हो गयी हैं—केवल प्यार ही बच रहा है। अब तो मैं प्यार ही कर सकती हूँ।' राबियाने उत्तर दिया।

सच तो यह है कि यदि जीवका 'साधन-धाम' प्रियतमके 'नितनव-रस' से ओत-प्रोत है तो प्रेमाद्वैतकी अवस्थामें आनेमें देर नहीं है। इस 'नितनव-रस' का स्वाद लेनेके लिये ही तो भरत *'जनम जनम रति राम पद'* (रा०च०मा० २।२०४)-की याचना करते हैं। उनका यह रूप तो प्रेमकी पराकाष्ठा ही है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

(रा०च०मा० २।३२६।१)

तुलसी इस प्रेमाभक्तिको 'निर्भरा भक्ति' कहते हैं तथा भगवान् श्रीरामसे इसीकी कामना भी करते हैं—

भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥

(रा०च०मा० ५ श्लोक २)

महापुरुष ईसाका कथन है कि 'प्रेम ही ईश्वर है।' संत इमर्सनकी वाणी है—'परमात्माका सारतत्त्व प्रेम है।' महात्मा कबीरका कहना है—जो इस *'ढ़ाई आखर'* को समझ लेता है वही पण्डित है—*'ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।'* शास्त्रकारका कथन है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४१)

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, जीवजन्तु, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ, समुद्र तथा जो कुछ भूतजात है, वह सब परमात्माका ही शरीर है। अतएव सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे। तुलसीदासजी कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।८।२)

अथवा—*'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥'* (रा०च०मा० १।७ ग)-में भी उपर्युक्त भावका ही विस्तार है। यह अनुभव करते हुए हमें विराट् ब्रह्मकी असीम चेतना अपने चारों ओर फैली देखनी चाहिये तथा सबके साथ सहृदयतापूर्ण प्रीतिका व्यवहार करना चाहिये और सबमें प्रेमरूप भगवान्‌का दर्शन करना चाहिये।

महात्मा कबीर कहते हैं—

साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।
का पर दाया कीजिये, का पर निर्दय होय॥

जब सभी उसी ईश्वरके अंश हैं तब कौन अपना, कौन पराया—सभी करुणा, ममता तथा स्नेहके पात्र हैं। इस रहस्यको जो जान लेता है, वही श्रेष्ठ है। करुणा, सहृदयता तथा सद्भावनाकी त्रिवेणीमें अवगाहन करके ही व्यक्ति प्रेमी ईश्वरकी निकटताका अधिकारी होता है।

वस्तुतः लोकाराधन ईश्वरकी सच्ची आराधना है। दुखियोंपर दया करना, सबसे मैत्रीका व्यवहार करना, मीठी वाणी बोलना तथा दूसरोंका दुःख दूर करना भगवान्‌की परम आराधना है।

भगवान्‌की घोषणा है कि जो सब कालमें सब प्राणियोंपर दया करता है और अहंकारसे रहित है, उसपर मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ—

यो दयावान् द्विजश्रेष्ठ सर्वभूतेषु सर्वदा।
अहंकारविहीनश्च तस्य तुष्टोऽस्म्यहं सदा॥

(पद्मपुराण ७।१९।८७)

सबके प्रति दयाका भाव रखा जाय, प्रेमका भाव रखा जाय, सबके साथ उदारताका व्यवहार किया जाय तथा वाणीमें कटुताका लेश भी समावेश न होने पाये तो इससे भगवत्प्रीति प्राप्त होती है। सच तो यह है कि असली सुख-शान्ति दूसरेके सुखमें ही सुखी होनेमें है—

जो तू चाहे शान्ति-सुख, पर दुख कभी न चाह।

पर सुख से नित रह सुखी, निज सुख बेपरवाह॥

अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियोंपर दया, क्षमा, शम (शान्ति), दम (मनका निग्रह), ध्यान तथा सत्य—ये भगवान्‌की पूजाके पुष्प हैं।* इसलिये हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि हम अपनेमें इन गुणोंको विकसित करें तथा इनके माध्यमसे अपने प्रभुको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करें। हमारा यह प्रयत्न ही सच्ची उपासना है।

उपासना वैदिकी, गौणी तथा अनुरागात्मिका—ये तीन प्रकारकी होती हैं। 'वैदिकी' में भक्त वेद-शास्त्रकी विधिके अनुसार अपनी कुल-परम्पराका स्मरण करते हुए इष्टदेव या कुलदेवका पूजन करता है। 'गौणी' में प्रधानतया भगवान्‌के गुण और प्रभावपर दृष्टि रहती है तथा 'अनुरागात्मिका' भक्ति भगवान्‌की माधुर्य भक्ति है, जो भगवान्‌में अत्यन्त अनुराग—प्रेम होनेपर सबसे पीछे आती है। बड़ी विचित्र रीति है इस 'अनुरागात्मिका' भक्ति की। इस मार्गके पथिक तो 'बंद' आँखोंसे प्रियके दर्शन करते हैं—

उलटी ही चलते हैं दीवानगाने इश्क,
करते हैं बन्द आँखों को दीदार के लिये।

अपने सुख-दु:खमें तो सभी लोग रोते हैं, किंतु प्रेम-भरी आँखोंसे जो आँसू निकलते हैं, अन्तमें वही मोती बनते हैं—

यूँ अश्क तो बहते हैं आँखों से सुबहो-शाम,
उस आँख में जो आए वही मोती होता है।

सच तो यह है कि उपासनाकी तभीतक आवश्यकता है जबतक हरिका नाम लेते ही आनन्दाश्रु न बहने लगें। ये आनन्दाश्रु ही भगवान्‌के विश्व-उद्यानको अधिकाधिक सुरम्य, समुन्नत तथा सुसंस्कृत बनानेकी प्रेरणा प्रदान करते हैं।

प्रेम संसारका सर्वोपरि आकर्षण है। यही संसारका स्थायी सत्य है। प्रेमका ग्रहण ही परमात्माकी प्राप्ति है। इसीलिये महात्मा ईसाने कहा है—'हमें एक-दूसरेसे प्रेम करना चाहिये; क्योंकि प्रेम ही परमात्मा है। ईश्वरको वही जानता है, जो प्रेम करता है।' प्रेम परमात्माकी उपासनाका भावनात्मक रूप है।

प्रेमका स्वस्थ स्वरूप समर्पणमें है, त्याग प्रियसे प्रतिदानकी आशा उसे दूषित कर देती है करनेका उद्देश्य अपनी आत्माको प्रेम-रससे र करना है। उसका और कोई प्रतिफल नहीं। इस अनुसरण जहाँ एक ओर *'तरवारि की धार पै धाव* वहीं *'अति सूधो'* भी है। यहाँ रंचमात्र भी कपटा लिये गुंजाइश नहीं है। इस मार्गपर तो वे ही सकते हैं, जो सर्वथा नि:शंक हैं तथा जिन्होंने अप तकका परित्याग कर दिया है। इसमें तो सर्वस्व ही कृतार्थता है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक न
तहाँ साचे चलै तजि आपनपौ, झझकै कपटी जे निसाँक न

(घ

तुलसी जिस प्रेमपर बल देते हैं, उसकी सीमित नहीं है। उसका परिपाक आध्यात्मिक प्रेममे है। इसीसे भगवान् प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं

(रा०च०मा० १।१८

प्रेमका यह प्रभाव था कि मीराको जब यमुनामें गया तो उसकी साँवली धारा उसे श्यामकी गोद पिटारीमें उसके पास साँप भेजा गया तो वह शालिग्रामके रूपमें दिखायी दिया तथा हलाहल पीनेको दिया गया तो उस हलाहलके श्याम रंगमे साक्षात् श्यामसलोनेके दर्शन हो गये।

ऐसे ही प्रेम-साधककी संज्ञा प्रेमयोगी है, जो जगत्‌में फैली आत्माकी एकताको हृदयङ्गम कर स सक्षम है। गीताकी वाणी है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन:॥

(६

वह योगी सभी भूत प्राणियोंमें अपनी ही समायी हुई देखता है, इसीलिये सभीको सम देखता हुआ सभीके साथ प्रेम करता है। इसी समत्वभ आचरणका विषय बनानेपर बल देनेके उद्देश्यसे शास्त्रने निर्देश दिया है—**'आत्मन: प्रतिकूलानि परे**

---

* अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रह:।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च। शमस्तु पञ्चमं पुष्पं दम: षष्ठं च सप्तमम्॥
ध्यानं सत्यं चाष्टमं च ह्येतैस्तुष्यति केशव:॥
(पद्मपुराण ५।८४।५६—५८)

समाचरेत्' अर्थात् जो कार्य हमें अच्छा नहीं लगता है, वह दूसरोंको भी अच्छा नहीं लगता। इसलिये कोई ऐसा कार्य न किया जाय जो दूसरोंको अन्यथा प्रतीत हो। वास्तवमें यही विचार-सम्पदा भारतीय संस्कृतिका बीज-मन्त्र है।

प्रेम-साधनाके द्वारा मनुष्य लौकिक जीवनका पूर्ण रसास्वादन करता हुआ पारमार्थिक लक्ष्यकी सिद्धि करता है। इसलिये मनुष्य-जीवनमें प्रेमसे बड़ी और कोई उपलब्धि नहीं। प्रेमीको प्रियके दोष भी गुणसदृश प्रतीत होते हैं। चातक तथा स्वाति नक्षत्रके मेघके उदाहरणद्वारा तुलसी प्रेम-पयोधिको अमाप सिद्ध करते हुए कहते हैं—

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥

(दोहावली २८१, २८३-२८४)

प्रेमपूर्वक व्यवहारका ही दूसरा नाम प्रार्थना है, भगवत्प्रेममें ही वह घटित होती है। इसलिये भक्तका अर्थ हुआ जगत्को जिसने व्यक्तित्व दिया, जगत्को जिसने भगवान् कहा। वह अपने लिये नहीं, वरन् सबके लिये जीता है। सबके हितमें अपना हित, सबके सुखमें अपना सुख—यदि इन उदार भावनाओंके द्वारा चरित्रका गठन न हुआ तो आत्मसमर्पण अधूरा है। समर्पणका अर्थ है—पूर्णरूपेण प्रभुको हृदयमें स्वीकार करना, उनकी प्रेरणाओंके प्रति सदैव जागरूक रहना और जीवनके प्रत्येक क्षणमें उसे परिणत करते रहना। जीवनमें हर साँस, हर धड़कनमें हम प्रभुकी इच्छाको ही प्रधान समझें। भगवान्के निरन्तर चिन्तनमें दो बातें सहायक हैं—१-भगवान्के नामका जप तथा २-सत्सङ्ग। जप तथा सत्सङ्गका ही यह प्रभाव है कि भगवच्चर्चा चलनेपर मन उसमें रम जाता है, कण्ठ गद्गद्र हो जाता है तथा नेत्रोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। ऐसे भक्तोंके लिये ही भगवान् कहते हैं कि *'तात निरंतर बस मैं ताकें॥'* उद्धवको सम्बोधित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'**क्रीतोऽहं तेन उद्धव**' मैं तो आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तोंके हाथ बिक जाता हूँ, उनका क्रीतदास हो जाता हूँ। तुलसीकी इस प्रतिज्ञाके मूलमें भी यही समर्पण-भाव है—

श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं॥
नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं।

(विनय-पत्रिका १०४)

मीराकी भी यही प्रतिज्ञा है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।

जिन आँखोंमें भगवान्की छवि बस जाती है, उनमें अन्य वस्तुओंके लिये स्थान ही कहाँ? संत रहीमका विश्वास है—

जिन नैनन प्रीतम बस्यौ, तहँ किमि और समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

इसीलिये हमें चारों ओर बिखरी हुई अपनी सांसारिक वृत्तियोंको समेटकर प्रेममय भगवान्में लगा देना चाहिये।

प्रेम जब जड़ जगत्तकको प्रभावित करता है, तब फिर चेतनजगत् उसका अपवाद कैसे हो सकता है? बस आवश्यकता है जन-जनतक उसके आलोकको विकीर्ण करने की।

जिव जबतें हरितें बिलगान्यो। तबतें देह गेह निज जान्यो॥
मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमतें दारुन दुख पायो॥
पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख-लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
भव-सूल, सोक अनेक जेहि, तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो॥
बहु जोनि जनम, जरा, बिपति, मतिमंद! हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़! बिचारु, लखि पायो कहीं॥

(विनय-पत्रिका)

प्रेमयोग और भावतत्त्व

(डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्०डी०)

योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है। यह प्रेम वर्णनातीत होता है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥**' जीव स्वभावत: किसी वस्तुकी अपेक्षा न करके जब आनन्द-सागरमें मग्न होना चाहता है और जब अपने प्रेमास्पदके लिये व्याकुल हो उठता है, तभी सच्चे प्रेमका उदय होता है। इस प्रेमका उदय हो जाना प्रेमयोग कहलाता है। प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका नितान्त अभाव रहता है। विशुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोसे परेकी वस्तु है। प्रेमको रागके नामसे भी जाना जाता है। उसके तीन भेद माने गये हैं—१-पूर्वराग, २-मिलन और ३-विरह। रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने इस सम्बन्धमें आठ विकारोंकी चर्चा की है। वे इस प्रकार हैं—१-स्तम्भ, २-कम्प, ३-स्वेद, ४-वैवर्ण्य, ५-अश्रु, ६-स्वरभङ्ग, ७-पुलक और ८-प्रलय। प्रेमके लिये इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति नित्य वर्धमान कहा गया है। अनुराग जब बढ़ते-बढ़ते अपनी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता है तो उसे 'भाव' कहते हैं। भावकी अन्तिम परिणतिको ही 'महाभाव' कहते हैं। महाभावके दो भेद बताये गये हैं—(१) रूढ़ महाभाव तथा (२) अधिरूढ़ महाभाव। अधिरूढ़ महाभावके भी दो रूप हैं—१-मोहन (मोदन) और २-मादन। मादन महाभाव ही मोहनके रूपमें परिणत होकर दिव्योन्मादको प्रकट करता है। दिव्योन्माद ही प्रेमयोगकी अन्तिम अवस्थाको प्रकट करता है। यह दिव्योन्मादका महाभाव राधिकाजीके शरीरमें सम्यग्रूपसे उत्पन्न हुआ था।

भावोंकी चार दशाएँ मानी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भावशाबल्य तथा (४) भावशान्ति।

विशुद्ध प्रेमयोगकी दशा बड़ी विलक्षण होती है। जब एक बार अपने प्रियतमसे लगन लग जाती है और जब वह हृदयमें बस जाता है तो नित्य-निरन्तर उसीके भाव प्रेमीके मनको बाँधे रहते हैं। फिर तो सभी प्रकारके भाव और सात्त्विक विकार एवं विरह-दशाएँ स्वत: उदित होने लगती हैं।

प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके विरहमें रोने-धोनेके अतिरि[illegible] कुछ सुहाता ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव भी अप[illegible] श्यामसुन्दरके विरहमें रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(शिक्षाष्टक ६

अर्थात् 'हे प्रभो! तुम्हारा नाम लेते-लेते कब मेरे दो[illegible] नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चलेगी? कब हम गद्‌गद कण्ठ[illegible] तुम्हारा प्यारा नाम रटते हुए पुलकित हो उठेंगे?'

वस्तुत: श्रीचैतन्यमहाप्रभुने तो नाम-संकीर्तनके सा[illegible] अपनी सारी साध पूरी कर ली और प्रेमतत्त्वके सभी भा[illegible] एवं विभिन्न स्थितियोंके साथ ही अखण्ड प्रेमानन्द भी प्रा[illegible] कर लिया।

प्रेमीके विरहमें ही उसके प्रेमकी परिपक्वता होती [illegible] विरह प्रेमकी जाग्रत्-गति और सुषुप्ति मिलन है। विरह बिना प्रेमका असली स्वाद कहाँ? अपने प्रियतम श्यामसुन्द[illegible] विरहमें तड़पनेवाली गोपियोंकी दशापर जरा विचार करें, प्रेम-बावरी बनकर कहती हैं—

बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई बिषम ज्वालकी पुं[illegible]
बृथा बहत जमुना खग बोलत, बृथा कमल फूलैं अलि गुं[illegible]

परमज्ञानी उद्धवजीने अपने निर्गुण ज्ञानकी ग[illegible] प्रेमयोगिनी—गोपिकाओंके समक्ष खोल तो दी, उनका विरह-विषमज्वर शान्त होनेके बदले और भ[illegible] उठा। उनके विरहका संक्रामकरोग उद्धवपर भी स[illegible] हो गया।

विरह तो परमात्माकी एक विलक्षण देन है, जो वि[illegible] विरले भाग्यवान् कृपापात्रको ही प्राप्त हो पाता है। कविने तभी तो कहा है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते यदुवीर।
रोना-धोना सिसकना, आहों की जागीर॥

सचमुच विरह तो एक अनोखी जागीर है, जो [illegible]

भाग्यशालीको ही नसीब होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमास्पदको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके वियोग—विछोहमें आँसू बहाकर होता है।

विशुद्ध भगवत्प्रेमकी विरहाग्निमें तो सारे जप-तप ईंधन बनकर राख हो जाते हैं। विरही उस विरहानलमें जलकर ऐसा राख बन जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती। इसीलिये तो कबीरजीने कहा—

बिरह अगिन तनमें तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिय पीव महँ, मौत ढूँढ़ फिरि जाय॥

ऋषियोंने अनेकानेक योग-साधनोंका मार्ग प्रशस्त किया, किंतु नटनागरके प्रेममें अपनी सुध-बुध खो बैठनेवाली गोपियोंके प्रेमके समक्ष उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। चरनदासजीने तो विरहकी महिमाके सामने सारे योग, जप, तप तथा ध्यानको भी नगण्य माना है—

पी पी कहते दिन गया, रैन गयी पिय ध्यान।
विरहिन के सहजै सधै भगति जोग तप ज्ञान॥

परानुरक्ति और परम प्रेम

(आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी)

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'**। रक्ति शब्दका अर्थ है 'राग' या 'आकर्षण'। अनुरक्तिका अर्थ है किसी सत्ताको समझकर उसके प्रति राग रखना या आकर्षण-बोध। ईश्वर-प्रेम परानुरक्तिका विषय है। साधकोंकी अनुरक्ति जब ईश्वरमें हो जाती है तो उसे भक्ति कहते हैं।

इस संसारमें सबका अस्तित्व आकर्षणके नियमपर ही टिका हुआ है, चाहे वह जड़ सत्ता हो अथवा चेतन। फूलकी ओर भ्रमर और ग्रह-उपग्रह अपने केन्द्रीय ग्रहकी ओर उसी नियमके अनुसार आकर्षित होकर अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखते हैं। विज्ञान आकर्षण-शक्तिके आधारपर ही जगत्की मर्यादा स्थापित करता है। मनुष्य सर्वोच्च चेतन सत्ता है। अतः उस प्रेमरूप परब्रह्मकी ओर, उस परम केन्द्रकी ओर उसका आकर्षित होना सहज स्वाभाविक है। ज्ञात अथवा अज्ञातरूपमें मनुष्य उस अनन्त सत्ताको ही पाना चाहता है। उसे सीमित धन, सीमित शक्ति या सीमित यशसे संतोष नहीं होता। वह अधिक और अधिककी खोज तथा प्राप्तिकी प्रचेष्टामें आजीवन रत रहता है। उसकी यह प्रचेष्टा ही परम केन्द्रीय सत्ता ईश्वरीय आकर्षणका प्रतीक है।

प्रश्न तब यह उठता है कि यदि उसके अंदर अनन्तकी प्यास है और उसके प्रति वह सर्वदा चेष्टावान् भी है तो आजीवन प्रयासके बावजूद उसकी यह प्यास मिटती क्यों नहीं? वास्तवमें इसी प्रश्नके उत्तरमें ईश्वरको जाननेकी इच्छा और प्रयासका जन्म होता है।

मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे जड़ जगत्के जड़ उपादानोंसे ही सम्पर्कित होता रहा है। उसकी इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी गति रखती हैं। इसलिये उसे इन्द्रियगम्य ज्ञान और अनुभवपर ही भरोसा होता है। उसे इन्द्रियातीत बोध प्रायः अविश्वसनीय ही लगता है। ईश्वर-सम्बन्धी अनुभूतियोंके लिये इन्द्रियातीत बोध ही आधार होता है। कृत्कर्मोंके सुफल—सुख और कुफल—दुःखके घात-प्रतिघातके परिणामस्वरूप चित्तकी कठोरता समाप्त होनेके उपरान्त वह मसृणताकी अवस्था प्राप्त करता है। यह मसृणता किंवा सूक्ष्मता ही 'भाव' नामसे जानी जाती है। श्रीरूपगोस्वामीने इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हुए कहा है—

शुद्धसत्त्वविशेषाद्वा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

अर्थात् जिसके द्वारा चित्त शुद्ध और सत्त्वगुण प्रधान होता है, प्रेमरूपी सूर्यके प्रकाशसे अंदर और बाहर सर्वत्र ज्योति फैल उठती है, ईश्वरके प्रति रुचि किंवा 'अनुरक्ति' उग्ररूपमें जनमती है, चित्तकी वह मसृणता ही भाव है। जब यह भावावस्था प्राप्त होती है तो मनुष्यके अंदर जो आकर्षिणी शक्ति काम करती है, वह उसे ईश्वरोन्मुख बना देती है। वही आकर्षण अज्ञानकी अवस्थामें मनुष्यको विषयोन्मुख बनाता है और जब जीवनके अनुभवों तथा जन्म-जन्मान्तरके घात-प्रतिघातसे ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो उसे वैराग्यका अनुभव होता है। तब उसके मनमें उस अनन्त सत्ताको जानने और पानेकी प्यास उत्पन्न होती है।

वह समझने लगता है कि विषयके प्रति आकर्षण—'वासना' और ईश्वरके प्रति आकर्षण—'प्रेम' कहा जाता है। अध्यात्मविद् जब उसे संकेत देता है अर्थात् जब वह साधना प्रारम्भ करता है, तब उस अज्ञात या अल्पज्ञात तत्त्व ईश्वरके प्रति प्रेमका जन्म होता है। यह प्रेम ईश्वर-प्राप्तिकी साधना या प्रयासमें रूपान्तरित हो जाता है।

यह ईश्वरोन्मुखी प्रयास भी प्रथमतः बहिर्मुखी होता है। मनुष्य ईश्वरको या उस अज्ञात सत्ताको अपनेसे बाहरकी सत्ताओंमें ढूँढ़ता है, किंतु उसकी यह बहिर्मुखी गति एक बार फिर उसमें संघर्षकी स्थिति पैदा कर देती है। सत्सङ्ग, स्वाध्याय और विवेक-बलसे एक दिन उसे लगता है कि मैं जिस सत्ताको बाहर खोज रहा था वह तो मुझमें ही छिपी हुई है। जिस क्षण ऐसा अवबोध होता है वह उसके जीवनके परम सौभाग्यका क्षण है। फिर कभी अंदर, कभी बाहरके इस प्रयोग और परीक्षणमें वह उस अवस्थामें पहुँच जाता है जिसे '**वासुदेवः सर्वमिति**' या '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' कहा गया है। अनुरक्तिके अंदर निहित भाव इन्हीं प्रयासोंके प्रथम चरणकी ओर संकेत करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्राप्त प्रेम-प्रवाहमें अपना सब कुछ खो जाता है और वह कह उठता है—*'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल। लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल॥'* यह '**वासुदेवः सर्वमिति**' की अवस्था भी दो प्रकारके अभ्यास किंवा साधनासे उपलब्ध होती है। पहला अभ्यास है सबमें प्रेमरूप ईश्वरका अनुभव और दूसरा है अपनेमें ईश्वरका अनुभव। अपनेमें ईश्वरके अनुभवके प्रयासका संकेत है, '**अहं ब्रह्मास्मि**' अथवा '**सोऽहम्**' और सबमें ईश्वरके अनुभवके प्रयासका संकेत है '**सर्वं ब्रह्ममयं जगत्।**' सम्पूर्ण साधनामें इन दोनों प्रयासोंका उपयोग एक साथ ही किया जाता है।

इस प्रकार अपरासे परा और परासे परात्पराकी यह गति मनुष्यके अंदर स्वतः स्फूर्त आकर्षणका ही परिणाम है। अंदर और बाहर—रूप और रूपातीतकी संतुलित अवस्था ही उस 'साम्यावस्था' के नामसे जानी जाती है जिसे योगमें समाधि या तैलधारावत् ध्यानकी सतत अवस्था कहा जाता है। इस अवस्थाको प्राप्त साधक सिद्ध जब देखता है कि एक कुत्ता उसकी थालीमेंसे रोटी लेकर भाग रहा है तो वह कुत्तेके पीछे-पीछे कहता हुआ दौड़ पड़ता है कि 'हे मेरे इष्ट! मैं तो घी लगाकर खाता-खिलाता हूँ। ठहरो मुझे उस रोटीमें तो लगा लेने दो।' स्वतः स्फूर्त यह भाव ही भक्ति चरमावस्था है और इसी अवस्थामें भक्ति 'साधन' 'साध्य'में बदल जाती है, 'जीव-प्रेम' 'ईश्वर-प्रेम' बदल जाता है, 'करुणा' 'कृपा'में बदल जाती है।

भावकी यह यात्रा, आकर्षणका यह प्रवाह प्रेमका यह पथ प्रधानरूपसे दो प्रकारकी भक्तिके जाना जाता है, प्रेमरूपासक्ति तथा गौणीभक्ति। गौणीभ गुण-भेद अथवा आर्तादिभेदसे तामसिक भक्ति, राज भक्ति और सात्त्विकी भक्ति अन्तर्हित है। इसके अति भक्तिका दूसरा रूप है—ज्ञानमिश्रा अथवा केवला प्रेमाभक्ति। यह केवला भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-भा सर्वश्रेष्ठ भगवत्प्रेमका रूप है। इसे ही देवर्षि ना 'परमप्रेमरूपा' कहते हैं। तामसिक, राजसिक और सात्त्वि यह त्रिविधा भक्ति वैधी या गौणी भक्ति कही जात क्योंकि इसमें सेव्य-सेवक भाव, कुछ देने-लेनेका भा ही जाता है। शुद्ध रूपमें ईश्वर-प्राप्ति या ईश्वर-प्रेम नहीं रहता। जब शुद्ध रूपमें मात्र ईश्वरके लिये व्या होने लगती है तभी होता है 'परम प्रेम' अर्थात् 'भगव

श्रीमद्भागवत (३।२९।८—१०)-के अनुसार-

हिंसा, दम्भ या मात्सर्य आदिकी प्रेरणासे जो भगवदुपासना करते हैं, उनकी वह भक्ति 'तामसी' है जागतिक वस्तुओं या मान-प्रतिष्ठा-जैसी मानसिक लिये भक्ति करते हैं, उनकी वह भक्ति 'राजसी' जायगी और जो भक्ति पापनाशके उद्देश्यसे सब कर्मफ भगवान्में समर्पण करनेके रूपमें अथवा जिसमें करना कर्तव्य यह समझकर भेद-दृष्टिसे पूजा की ज वह भक्ति 'सात्त्विक' भक्ति कही जाती है।* इनमें प्रकारकी भक्ति साधनामें तात्कालिक कामनाकी

---

* अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा। संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा। अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्। यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥

होनेके बावजूद यदि साधक अपने इष्टको न भूलकर उनकी उपासना करता रहता है तो उसे क्रमशः उच्चसे उच्चतर भाव प्राप्त होते रहते हैं और वह तामसिकसे राजसिक तथा राजसिकसे सात्त्विक भावकी यात्रामें बढ़ता रहता है। अन्ततः उसमें जब केवल प्रभुस्वरूप भगवान्‌को पानेकी प्यास रह जाती है, तब उस भावावस्थाको 'मुख्याभक्ति'—'निर्गुणाभक्ति' कहते हैं; क्योंकि उसमें प्रकृतिके तीनों गुणोंका प्रभाव नहीं रह जाता, रह जाता है मात्र शुद्ध भगवत्प्रेम।

निर्गुणाभक्तिमें प्रतिष्ठित साधकसे यदि पूछा जाय कि वह ईश्वरसे प्रेम क्यों करता है, उसका उद्देश्य क्या है? तो वह कहेगा—'मैं नहीं जानता कि मैं उन्हें क्यों और किसलिये प्रेम करता हूँ। बस, यही जानता हूँ कि उनको प्रेम किये बिना रहा नहीं जाता।' इस अवस्थाकी चरम परिणति होती है, उस भाव-दशामें, जिसमें फिर उस इष्टके अतिरिक्त अन्य किसीकी चर्चा या परिचर्चामें मन लगता ही नहीं।

सात्त्विक भक्ति इष्टके प्रति अनुराग बने रहनेके परिणामस्वरूप ज्ञानमिश्राभक्तिमें परिणत हो जाती है। गौणीभक्ति तब प्रधानाभक्तिमें परिणत हो जाती है। किंतु इस ज्ञानमिश्राभक्तिमें साधकको ज्ञानका अहंकार प्रच्छन्नरूपमें रह जाता है। यद्यपि यह गौणीभक्तिकी पूर्णावस्था है, फिर भी यह केवलाभक्ति नहीं है। केवलाभक्ति निर्गुण भक्तिकी परिपक्वावस्था है। वह ज्ञानात्मिका हो सकती है, किंतु ज्ञानमिश्रा नहीं।

सामान्यरूपसे भावके विकास-क्रममें इस निर्गुणाभक्ति या केवलाभक्तिको प्राप्त करनेमें अनेक जन्म लग जाते हैं, किंतु भगवत्कृपाका लेशमात्र प्राप्त होनेसे यह अवस्था सहज ही मिल जाती है। इसीलिये कहा गया है, **'महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥'** (नारदभक्ति० ३८) अर्थात् वह प्रेमाभक्ति महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त हो जाती है। जिसकी कृपासे हम मनुष्य-शरीर पाते हैं, उनके कृपाकणको प्राप्त करके क्षणभरमें हम भगवत्प्रेमकी सर्वोच्च भावभूमिमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह भगवत्स्वरूपकी प्रकट सत्ता दुर्लभ अवश्य हो सकती है, किंतु अलभ्य नहीं। गोस्वामीजी स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं—*'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'* '*मैं जाना*' शब्द विशेषतः द्रष्टव्य है; क्योंकि यह एक प्रतीति है, विश्वास है।

वैष्णवतन्त्रमें केवलाभक्तिको रागात्मिकाभक्ति किंवा राधाभाव और उसकी पूर्वावस्था अर्थात् रागानुगाभक्तिको गोपीभाव कहते हैं। वैष्णवतन्त्र इस अवस्था-क्रमको तीन भागोंमें बाँटते हैं—व्रजभाव, गोपीभाव और राधाभाव। ये तीनों स्थितियाँ उसकी अन्तर्यात्राके तीन चरण हैं। उसमें योग और शैवतन्त्रकी कुण्डलिनीको ही 'राधा' कहते हैं। यह राधा-शक्ति प्रत्येक मनुष्यकी जीव-चेतनाका प्रोज्ज्वल स्वरूप है, जो मूलाधार-चक्रसे लेकर मणिपूरचक्रतक उठने-गिरनेपर व्रजभाव, मणिपूरसे आज्ञाचक्रतककी अवस्थामें गोपीभाव और आज्ञाचक्रसे ऊपर उठनेपर राधाभाव नामसे अभिहित है। आज्ञाचक्रसे ऊपर उठनेपर प्रत्येक मनुष्यके सहस्रारमें वंशी बजाते भगवान् श्रीकृष्णसे उस जीव-चेतनाकी चरमावस्था राधाका मिलन हो जाता है—शिव और शक्ति एक हो जाते हैं—राधा और कृष्ण एक हो जाते हैं। तब अनुभव होता है—*'राधा भई कृष्ण'* और *'कृष्ण भये राधा।'* सृष्टिकी यह सम्पूर्ण यात्रा ही वृन्दावनमें चल रही रासलीलाका आभ्यन्तरिक स्वरूप है।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कोई भी पथ हो—ज्ञान हो, कर्म हो, योग हो, तन्त्र हो या भक्ति हो, 'परम प्रेम' के बिना ईश्वर-प्राप्ति मात्र आकाश-कुसुम है। इसका कारण यह है कि भाव-साधना किंवा प्रेममार्गसे ही अहंकार विसर्जित होता है और अहंकारके पूर्ण विसर्जन अथवा समर्पणके बिना भगवत्प्राप्तिकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। साधना और सद्गुरु इस अहंकारको तोड़नेमें सहायक होते हैं। एकमात्र भगवान् ही जीवोंके प्रेमास्पद हैं, क्योंकि उन्होंने ही दुर्लभ मानव-शरीर दिया है और वे ही समय-समयपर विभिन्न नाम-रूपोंके माध्यमसे मनुष्यका परित्राण करनेके लिये आविर्भूत होते हैं तथा वे ही हममें भक्ति-भाव एवं परम प्रेमकी सरिता प्रवाहित करते हैं। उनकी कृपा-वर्षा आज भी उसी प्रकार हो रही है, जिस प्रकार पूर्वकालमें होती थी और भविष्यमें भी होती रहेगी। हमें केवल अहंकारकी छतरी अपने सिरसे उतारनेकी साधना करनी है। जिस क्षण यह छतरी उतर जायगी, उसी क्षण कृपावारिसे

करके अपनानेपर बड़ी ही सुखद और शान्तिदायक होनेके साथ ही ऊँचा उठानेवाली है।

सृष्टिकी सुरक्षा और सुचारुरूपसे संचालनके लिये प्रेमका बन्धन मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियोंमें भी समानरूपसे पाया जाता है। चिड़िया स्वयं भूखी रहकर भी अपने शावकके लिये दाना लाती है। कौआ भोजनकी टोह पाते ही काँव-काँव करते हुए अपने सजातियोंको बुलाने लगता है। गाय और सूकर किसी एकको विपत्तिमें पड़ा देखकर एकजुट होकर उसे उस विपत्तिसे छुटकारा दिलानेके लिये प्रयत्न करते हैं। माँ अपनी संतानकी सुरक्षाके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देती है। यह सब प्रेमके कारण ही तो है। इसे आप ममता भी कह सकते हैं। वैसे यह प्रेमका संकुचित क्षेत्र है। हमारा अपनेपनका दायरा जितना विस्तृत होता जाता है, प्रेमका व्यापकत्व भी उतना ही बढ़ते हुए **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** तक हो जाता है। कहना न होगा कि यही विश्वप्रेम गीता(६। ३२)-में भगवत्प्रेममें परिणत होते हुए इस प्रकार बताया गया है—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।'

जो अपनी आत्माके समान ही सब प्राणियोंमें सर्वव्यापक आत्माका ही अंश देखता और—

'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते'—सभी भूतोंमें स्वयंको तथा स्वयंमें सभी भूतोंको देखता है।

साथ ही यह मानता है कि सभी प्राणियोंमें परमात्माका वही अंश विद्यमान है जो मुझमें है। इस प्रकार सर्वभूतात्मभूतात्मा होकर **'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।'** जो सभी प्राणियोंमें निवास करनेवाले भगवान्‌का ही अनन्यभावसे चिन्तन—भजन करता है; वह स्वयं ब्रह्ममय हो जाता है। यही भगवत्प्रेम और विश्वप्रेमकी पराकाष्ठा है। *'श्रीदुर्गासप्तशती'* में मेधा ऋषि संकुचित परिवार-प्रेमके दायरेसे उच्चतर स्तरपर ले जाते हुए शक्तिके—जगन्माताके आँचलतक सुरथको पहुँचाकर उसे मन्वन्तराधिप और समाधि वैश्यको मोक्षका अधिकारी बना देते हैं। डिण्डिमभाष्यकार रामकविके अनुसार मधु, कैटभ, महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ और निशुम्भ जो कि क्रमशः काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन अरिषड्वर्गके प्रतीक हैं, उनपर विजय प्राप्त करके ही तो मुक्तिका—भगवत्कृपाका पात्र बनना सम्भव होता है।

पातञ्जलयोगके अनुसार साधनाका प्रथम सोपान पाँच यमोंसे प्रारम्भ होता है जिसमें कहा गया है—**'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥'** (योगसूत्र २। ३०)। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। इनमें सर्वप्रथम अहिंसाका नाम आया है। हिंसाका अर्थ किसीको मारना ही नहीं होता। उसके तीन प्रकार हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। किसीके शरीरको चोट पहुँचाना कायिक हिंसा है। कठोर वचन कहकर किसीको मर्माहत करना वाचिक हिंसा है। जैसे कि द्रौपदीके द्वारा 'अन्धोंके अन्धे ही होते हैं'—दुर्योधनसे इस प्रकार कहना महाभारत युद्धका एक कारण बन गया। मानसिक हिंसा सबसे भयंकर और हानिकारक है। मनसे किसीके प्रति बुरा सोचनेसे अपना मन दूषित होनेके साथ ही वातावरणमें मनकी दूषित तरङ्गोंका प्रभाव द्वेषका प्रचार-प्रसार करता है। जैन और बौद्ध धर्ममें अहिंसाको प्रमुखता दी गयी है। उसका लक्षण जीव-हिंसासे बचना मात्र नहीं है। हृदयमें अपने और पराये सभीके प्रति प्रेम, दया, ममता तथा दुःखियोंके प्रति करुणाका भाव रखना भी अहिंसाके अन्तर्गत आता है। जहाँतक योगसाधनाका प्रश्न है तो उसके लिये यह भी बता दिया गया है कि अहिंसाकी साधनाकी कसौटी क्या है। कहा गया है—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥'

(योगसूत्र २। ३५)

अर्थात् साधक जब अहिंसाका सच्चा आचरण करने लगता है तो उसके निकट परस्पर वैरभाव रखनेवाले प्राणी भी निर्भय होकर वैरका त्याग करके रहने लगते हैं। प्राचीन कालमें ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें हिरण और हिंस्र-जन्तु एक साथ रहते आये हैं। कविवर विहारीने क्या ही अच्छा कहा है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥

विश्व त्रिगुणात्मक है। यहाँ सदासे तीनों प्रकारके—सात्त्विक प्रकृति-प्रधान, राजसी और तामसी प्रकृतिवाले रहते आये हैं और रहेंगे। प्रेमके प्रभावसे ही उनमें परस्पर सहिष्णुता और सहनशीलता एवं संवेदनाका संचार सम्भव है।

अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द

(डॉ० श्रीवागीशजी शास्त्री, वाग्योगाचार्य)

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका अंश होनेपर भी जीवात्मा माया-यवनिकाके कारण अज्ञानवश स्वयंको माया-परिच्छिन्न मानता हुआ अपने स्वरूपका विस्मरण कर बैठता है। यद्यपि जीवात्मा परब्रह्म परमात्माकी भाँति पिण्डविशिष्ट स्वयंकी चिरकालिक सत्ताको अनुभवगम्य नहीं बना पाता, तथापि '**आत्मा वै जायते पुत्रः**' इस श्रुतिवचन तथा '**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥**' इस योगसूत्र (१।२६)-के प्रमाणानुसार परम्परया उसे अपने चिरकालिक सत्स्वरूपका भान तो हो ही जाता है। जीवात्माकी चेतनता उसे आजीवन आप्यायित करती रहती है। परमात्मा परब्रह्मके चिद्घनत्वका साक्षात्कार जीवात्माको होता रहता है। वह '**अस्ति**' एवं '**भाति**' के त्रिकालाबाधितत्वको परम्परया अनुभूत करता रहता है। जीवात्मा जिसे अनुभूतिपथका निरन्तर, निरवच्छिन्न पथिक नहीं बना पाता है, वह है अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द। कभी-कभी झलकभर मिल जाती है इनकी उसे। '**सजूः**' प्रिय या अनुरक्त नहीं बन पाता है यह चेतनाकी भाँति।

प्रकृतिमें अनवरतरूपसे जायमान षड्भाव विकारोंके चक्रपरिवर्तनकी भाँति एक व्याक्रिया रहती है। जीवात्माका जिसके प्रति सांसारिक राग, आसक्ति या प्रेम प्रकाशित होता है, रागी या प्रेमीमें उसके अपायकी आशंकासे ही द्वेष आविर्भूत हो जाता है। राग और द्वेष एक ही सिक्केके दो पटल हैं। इन्हींका नाम द्वन्द्व है। जीवात्मा राग या प्रेमसे सुख तथा द्वेषसे दुःखकी अनुभूति करता है। ये दोनों ही स्थिर नहीं हैं। दुःख सुखमें और सुख दुःखमें परिवर्तित होता रहता है। न चिरस्थायी दुःख है और न चिरस्थायी सुख। जीवात्मा जिस पक्षसे सुखप्राप्तिकी मान्यता निर्धारित करता है, उसके प्रति मित्रभाव या प्रेमभाव और जिस पक्षसे दुःखप्राप्तिकी मान्यता निर्धारित करता है, उसके प्रति इसका शत्रुभाव बन जाता है। इसी प्रकार जीवात्माको प्रकृति जय-पराजय, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्वोंकी चपेटमें धर दबाती है। फलतः बेचारा जीवात्मा सुखकी अजस्र अनुभूतिसे वञ्चित रह जाता है। यद्यपि राजा-महाराजाओंके निकट सुख प्रदान करनेवाले साधनोंका प्राचुर्य रहता है, तथापि त्रिकालाबाधित सुख तो उनके लिये भी खपुष्पायित बनकर रह जाता है। इसी त्रिकालाबाधित सुखका नाम है अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द। इसे प्राप्तकर जीवात्मा धन्य-धन्य हो जाय, किंतु वह तो भ्रान्तिवश द्वन्द्वात्मक सुखके अन्वेषणद्वारा आत्मतृप्ति करना चाहता है। फलतः कालान्तरमें सुखका प्रतिद्वन्द्वी भाव दुःख उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। महाकवि कालिदासने दुःख एवं सुखके निरन्तर परिवर्तनकी उपमा चक्रके अरोंकी गतिके साथ दी है, जो समानभावसे ऊपर या नीचे स्थिर नहीं रह पाते—'**चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च।**' परब्रह्म परमात्मा परम प्रेममय और आनन्दमय हैं। आनन्दका कोई प्रतिद्वन्द्वी भाव नहीं बनता। यह त्रिकालाबाधित है। यह प्राकृतिक सम्पदाओंसे अप्राप्य है। यह इन्द्रियानुभव-गम्य नहीं है। कोई क्षण ऐसा आता है जव जीवात्मा इसकी अनुभूति सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे जुड़कर कर लेता है। दोनोंके मध्य माध्यम बनती है उसकी आह्लादिनी शक्ति परा चेतना कुण्डलिनी।

इसी अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्दको पानेके लिये जीवात्मामें बाल्यावस्थासे लेकर मरणपर्यन्त व्याकुलता वनी रहती है। इसकी प्राप्तिके लिये वह सुन्दर क्रीडनक, रूपवती भार्या एवं अतुल सम्पत्तिमें अनन्य प्रेम और आनन्दानुसन्धान करता फिरता है। अनेक जन्म-संसिद्ध साधकोंको ही अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्दप्राप्तिका सत्य मार्ग दृष्टिपथमें आता है। प्रत्येक जीवात्मा अपनेमें किसी अज्ञात न्यूनता एवं असंतोषका निरन्तर अनुभव करता रहता है। यही कारण है कि वह एक श्रेष्ठ-सी लगनेवाली वस्तुको छोड़ श्रेष्ठतर दूसरी वस्तुका अवलम्बन लेनेहेतु युग-युगोंसे प्रयत्नशील रहता आया है। शिशुपीडाकी भाँति उसे विदित नहीं हो पाता कि उसकी तड़प कहाँ और किसके लिये है। वह कौन-सा तत्त्व है जिसे वह पाना चाहता है, जिसे पाकर उसकी सभी अपूर्णताएँ समाप्त होंगी और वह पूर्णताका संस्पर्श कर आप्यायित हो सकेगा।

जीवात्मा परमात्माका ही अंश है। आनन्दाम्बुधि परमात्माका विछोह ही उसकी तड़पन या अनन्य प्रेमप्राप्तिका हेतु है। योगीजन आनन्दमय परमात्माके साक्षात्कारके लिये ध्यानावस्थित होते हैं। ऋषि-मुनिजन तपस्याद्वारा उसका दर्शन करना चाहते हैं, किंतु वह इन्द्रियातीत, निर्गुण, निराकार परमात्मा उनको दृष्टिगोचर कैसे हो सकता है? द्वन्द्वावस्थामें उस आनन्द-विग्रहका साक्षात्कार कैसे सम्भव है?

त्रेतायुगमें ऋषियोंने अनन्त सौन्दर्यधाम भगवान् श्रीरामका दर्शन किया था। ऐहिक जीवनमें प्राकृतिक इन्द्रियोंद्वारा ही सौन्दर्य-विग्रह भगवान् श्रीरामका सांनिध्य पानेकी ललक जाग उठी उनके अन्तःकरणोंमें। द्वापरयुगमें वे अवतीर्ण हुए—गोपिकाओंके रूपमें, त्रिकालाबाधित आनन्दपारावारमें निमज्जनोत्कण्ठित। मानो सोलह हजार श्रुतियाँ ही साक्षात् विग्रह धारण कर आनन्दकन्दकी सेवामें उपस्थित हो गयी हों वेणु-माधुरी रसपानके निमित्त। नाभिजन्मा परमेष्ठीका मुखभूषण भले ही वे बन गयी हों, पर अनाहत नाद-श्रवणसे नितान्त वञ्चित रह गयी थीं। भले ही वे उस आनन्दधामका स्वाभाविक निःश्वसित रह आयी हों, किंतु हिरण्यगर्भके समीप पहुँचकर चिर विरहाग्निके संतापसे संतप्त थीं। अस्तु, श्रुतिरूपी गोपियोंने हृदयेशके चरणारविन्दमें स्वकीय प्राण समर्पित कर दिये और अनन्तशक्ति-माधुर्यमें समाविष्ट हो गयीं।

परमात्माके अनुग्रहसे उनके जागतिक क्रियाकलाप निपुणतापूर्वक सम्पन्न होते थे, तन्मनस्क जो हो गयी थीं वे। जगन्मोहनके मनमें उन्होंने अपना मन मिला दिया था। प्राणवल्लभके चरितालापके अतिरिक्त उनकी वाणीका कोई व्यापार ही शेष नहीं रह गया था। उनकी चेष्टाओंकी अनुकृति किया करती थीं वे। अधिक क्या कहें, अपने प्राणाधिक प्रियतमकी आत्मामें अपनी आत्मा ही मिला दी थी उन्होंने। वे 'तदात्मिका' बन गयी थीं। बस हो गया पूर्ण भावसे समर्पण परमात्मामें जीवात्माका। तब क्यों नहीं वरण कर लेते उस शरणापन्नका वे परम करुणावरुणालय श्यामसुन्दर मदनमोहन। कठोपनिषद् (१।२।२३)-में बताया गया है कि परमात्माकी कृपाप्राप्तिके लिये प्रवचन, मेधा और वेदविद्यामें निष्णात होना आवश्यक कल्प नहीं है। परमात्माका अनन्य प्रेम तो उसे ही मिलता है जिसे वे स्वयं वरण कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

यह परमात्मा षड्रसोंसे विलक्षण सर्वोत्कृष्ट रस है। गोपियोंने इसे सर्वसंन्यासपूर्वक अनन्यप्रेमके द्वारा पाया था। भगवान् श्रीकृष्णने धर्मका पक्ष लेकर परीक्षाके लिये अपने निकट गोपियोंके आगमनका निषेध किया था; किंतु गोपियाँ तो अनन्यप्रेमके शाश्वत आनन्दकी उस द्वन्द्वातीत भावभूमिपर पहुँच चुकी थीं, जो प्राकृतिक धर्म एवं मर्यादाके नियमोंकी पकड़से सर्वथा बाह्य थी। आत्माराम नन्दनन्दनने गोपियोंका प्रस्ताव अङ्गीकृत कर सामूहिक रासकी व्यवस्था की, किंतु परमात्म-साहचर्यके कारण वे सांसारिक वनिताओंकी भाँति आत्मीय श्रेष्ठताको कूतने (मापने) लगीं। परमात्माको छोड़ **'अहम्'** और **'इदम्'** पर दृष्टिक्षेप करना अनन्यप्रेम या परानुरक्तिमें बाधक बनता है।

गोपियाँ जब परमात्माके साथ विहार करते-करते अपने **'अहम्'** का स्मरण करने लगीं, तब रास (रससमूह)-में विघ्न उपस्थित हो गया। **'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** के पूर्व योगेश्वरने **'मच्चित्तः सततं भव'** तथा **'अथ चेत् त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि'** का प्रतिपादन किया है कि मच्चित्तका पूर्ण अभ्यास होनेपर अहंकारभावसे मुक्ति मिलती है। जीवोद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके गर्व एवं मानका परिमार्जन करनेके लिये उनके मध्यसे अन्तर्हित हो गये।

ऐसी स्थितिमें भगवद्विरहव्याकुला गोपियाँ श्रीकृष्णकी लीलाओंका अभिनय करने लगीं—**'तद्विचेष्टाः'**। तरु-गुल्मलताओंसे अपने हृदयेश्वरका पता पूछती फिरीं। किंतु श्रीराधारानीके कहनेपर उन्होंने हृदयेश्वरके अन्वेषणका प्रयत्न छोड़ दिया कि जैसे-जैसे हम उनकी ओर जायँगी, वे भागेंगे और हमारे प्रियतमको कष्ट होगा। प्रियतमको सुख प्रदान करनेके लिये आत्मीय सुखका विसर्जन अनन्य प्रीतिकी कसौटी है। वे यमुनातटपर एकत्र हो गीत गाने लगीं—**'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः।'** उनका यह गीत 'श्रीमद्भागवतमहापुराण'का प्रसिद्ध गोपीगीत है, जो कनकमञ्जरी छन्दमें निबद्ध है। गोपियोंके विलाप करनेपर दयार्द्र भगवान् प्रकट हो गये—**'तीव्रसंवेगानामासन्नः'** (अधिमात्र उपायवाले योगियोंके लिये समाधि-लाभ निकटतम होता है)। वे तो गोपियोंके मध्य ही अवस्थित थे, अहंकी यवनिकासे आच्छन्नभर हो गये थे। अहं विगलित होते ही प्रकाशित हो गये। गोपियोंकी ओढ़नी (यवनिका)-निकरसे निष्पन्न आसनपर विराजमान कला-निकेतन नन्दनन्दनने उन्हें परमानन्दमय रससे संतृप्त कर दिया। 'श्रीमद्भागवतमहापुराण'के अन्तर्गत पाँच अध्यायोंमें वर्णित जीव-विश्वात्मा-मिलनके अनन्यप्रेममय शाश्वत आनन्दका यह अपूर्व वर्णन 'रासपञ्चाध्यायी'के रूपमें प्रसिद्ध है।

भगवान्‌की प्रेमपरवशता

(धर्मरत्न डॉ० श्रीपुरुषोत्तमदासजी कानुगो)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

(गीता ७।१७)

नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे भी अत्यन्त प्रिय है।

आचार्य श्रीरामानुजजी गीताके ७वें अध्यायपर प्रवचन कर रहे थे तो एक नवयुवक आया और उनसे दीक्षा लेकर ईश्वरप्राप्तिका मार्ग पूछने लगा। आचार्यजीने उससे सीधा-सा प्रश्न किया कि तुमने किसीसे प्रेम किया है? युवकने उत्तर दिया कि मेरा किसीसे प्रेम नहीं है, संसारसे कोई राग नहीं है, मैं किससे प्रेम करूँ? मैं तो भगवान्‌को पाना चाहता हूँ। तब मधुर वाणीसे आचार्यजीने समझाया कि भगवत्प्राप्तिकी एक ही कसौटी है, वह है प्रेम। जिसके हृदयमें प्रेमकी प्यास नहीं, कसक नहीं वह परमात्माको नहीं पा सकता।

'मैं तो प्रेम दीवानी' कहकर मीरा नाचती थीं। मीराकी सखियाँ कहतीं—अरी साँवरी! अरी बाँवरी! तू तो बेसुध होकर गा रही है। पर वह तेरा साँवरा कितना निष्ठुर है, जो कभी तेरे पास आता ही नहीं। सखियोंसे मीरा कहती, अरी सखियो! मेरे गोपाल तो मेरे साथ ही नाचते हैं। *'सखी री मेरे संग संग नाचे गोपाल'*। भला, सखियाँ मीराके अन्तःस्थ-प्रेमकी दिव्यताको कैसे समझ सकतीं! लौकिक दृष्टिसे अलौकिक परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते। उस सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् प्रेममय प्रभुको तो प्रेमकी भाषा ही समझमें आती है तथा वह प्रेमसे ही रीझता है। यह दिव्य प्रेम न तो किसी वैभवसे खरीदा जा सकता है और न प्रेमके बिना इसका मूल्य ही समझमें आ सकता है। यह भगवत्प्रेम मिट्टी, कण-कण और परमाणुमें छिपा हुआ स्पन्दन है, अमृतत्वकी प्रेरणा है, जड़में चेतनताकी अनुभूति करानेवाला परम तत्त्व है।

प्रेम अलौकिक एवं अनुभवगम्य है। भक्तिमय प्रेम तो शर्करावगुण्ठित होता है। इसकी मिठास अनुदिन बढ़ती जाती है। प्रेम मानव-जीवनकी सर्वोच्च प्रेरणा है, आत्मानन्दका आधार है। मानवको महामानव और पुरुषको पुरुषोत्तम बनानेकी शक्ति भगवत्प्रेममें ही है। प्रेममें आत्मसाक्षात्कारकी, हृदयमें निष्काम निष्ठा जाग्रत् करनेकी और आत्मासे परमात्माकी अनुभूति करानेकी एक महान् शक्ति होती है। सत्यरूपसे प्रकट हुआ प्रेम ईश्वरीय प्रकाश है। ऐसे पावन प्रेमका रसास्वादन जिसने नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ है। इसीलिये इस दिव्य प्रेमकी सर्वत्र भावना करनेका संदेश हमें गीता देती है और बताती है कि सभी प्राणियोंमें एक ही प्रेमरूप आत्मा समायी हुई है, अतः सभीको समभावसे देखते हुए सभीके साथ प्रेम करना चाहिये—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६।२९)

जिसके हृदयमें प्रेमका प्रवाह हिलोरें लेता है, उसके कण्ठसे प्रेमके गीत फूट पड़ते हैं और उसका सहज गान प्रभुके लिये ही होता है तथा उसका प्रभाव भी विलक्षण ही होता है। एक बार सम्राट् अकबरने तानसेनसे पूछा कि तुमसे अधिक श्रेष्ठ संगीतका आनन्द स्वामी श्रीहरिदासजीके गायनमें क्यों मिलता है? तानसेनने अकबरसे कहा—जहाँपनाह! मैं आपको खुश करनेके लिये गाता हूँ और मेरे गुरुदेव उन परमात्माको रिझानेके लिये गाते हैं।

परमात्मा सुन्दर है और प्रेमरूप है—ऐसा जिसको विश्वास हो गया वह भक्ति करता है तथा संसार सुन्दर है—ऐसा जो समझता है, वह भक्तिसे विमुख रहता है; विषय-भोगोंकी अतृप्त पिपासामें डूबता-उतराता रहता है। उसे भगवत्प्रेमका आभासतक भी नहीं हो पाता। वह राग-द्वेष, छल-छद्मके आवरणोंसे आबद्ध हो जाता है। निष्कपट हृदय ही परमात्माको पा सकता है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रा०च०मा० ५।४४।५)

प्रभुको केवल भक्तका प्रेम ही प्यारा है, उसका शरणागत भाव ही प्यारा है—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥

× × ×

प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥

परमात्मा प्रेम चाहते हैं। प्रेममें पागल बने बिना वे मिल नहीं सकते। जिन भक्तोंका जीवन प्रभुमय हो, रोम-रोममें भगवान्‌का प्रेम बहता हो, वे भक्त प्रेममय प्रभुकी माधुर्यमयी, वात्सल्यमयी, करुणामयी और कृपामयी गोदमें बैठनेके अधिकारी बनते हैं।

चैतन्य महाप्रभु प्रेमसे कृष्ण-नाम लेते हुए तदाकार हो गये। रामके नामसे कई जीव भवसागर तर गये।

संकेतमें, उपहासमें, अवमाननामें या व्यर्थ प्रलापमें अर्थात् किसी भी प्रकार उस प्रभु श्रीरामका या बाँकेबिहारी श्यामका नाम मुखसे निकल जाय तो सभी प्रकारके पापोंका नाश हो जाता है। भगवान् तन नहीं मन देखते हैं। वे सचमुच दीनदयाल हैं—

तुलसी अपने राम को रीझ भजो या खीझ।
भूमि पड़े उपजेंगे ही उलटे सीधे बीज॥

भगवान्‌की प्रेमपरवशताको बताते हुए प्रेमी बिल्वमङ्गलजी कहते हैं—

हाथ छुड़ाये जात हौ, निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे, सबल बदौंगो तोहि॥

और कबीर भी प्रेमी भगवान्‌को अपने पीछे-पीछे दौड़ाने लगते हैं—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।
पाछै लागो हरि फिरहि कहत कबीर कबीर॥

अतः हम भी उन करुणानिधान प्रेमास्पद भगवान् श्रीरामसे उनका प्रेम प्राप्त करनेकी प्रार्थना करें—

चाहे जितनी भी पीड़ा हो मन में भी हो व्यथा अपार।
संकटपर संकट भी आवे, टूटे नहीं धैर्यका तार॥
यही प्रार्थना है, प्रभो! तुमपर ही है मेरा भार अपार।
छूटे नाते रिश्ते सारे छूटे कुल, छूटे परिवार॥
सब छूटे तो छूटे प्रभुवर! तुम ना छोड़ना प्राणाधार।
नहीं चाहिए धन या वैभव, नहीं चाहिए पद अधिकार॥
यही चाह है पाऊँ प्रभुवर! सदा तुम्हारा अनुपम प्यार॥

प्रेमतत्त्व और प्रिय

(चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी)

मनके राग या अनुरागरूप भावका नाम प्रेम है, जिसका व्यापक रूप प्रेमतत्त्व है। प्राणिमात्रका स्वभाव है कि वह किसी-न-किसीसे प्रेम करता है। हिंसक सिंह आदि जन्तु भी अपने बच्चेसे प्रेम करते ही हैं। लौकिक रागकी भावना अपनी अनुकूलतापर निर्भर रहती है। अतः तन-धन-जनमें राग होना स्वाभाविक है, किंतु परमात्मामें अनुरागात्मक प्रेम होता है, जिससे नित्य आनन्दकी अनुभूति होती रहती है। यद्यपि परिवर्तनशील लौकिक विषयोंका प्रेम चिरस्थायी नहीं होता, फिर भी क्षणिक तृप्तिके लिये लोग उनसे प्रेम करते हैं।

प्रेम और प्रियका सम्बन्ध सहज है। प्रेमके लिये प्रिय और प्रियके लिये प्रेम अपेक्षित है। एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता। बात यह है कि दोनोंकी प्रकृति एक ही है। प्रेमरूप साधनका प्रयोजन प्रियकी प्राप्ति है; क्योंकि प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे प्रेमी तृप्त होता है। अतः तृप्ति प्रदान करनेवाला प्रिय है। किसकी अपेक्षा कौन अधिक प्रिय होता है, इसका निर्देश स्वामी श्रीविद्यारण्यजीने अपने 'पञ्चदशी' ग्रन्थमें इस प्रकार किया है—**वित्तात् पुत्रः प्रियः पुत्रात् पिण्डः पिण्डात् तथेन्द्रियम्। इन्द्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः॥**

(आत्मानन्द प्रक० ६०)

अर्थात् धनकी अपेक्षा पुत्र प्रिय होता है, पुत्रसे प्रिय अपना शरीर और शरीरसे प्रिय इन्द्रिय, इन्द्रियसे प्रिय प्राण तथा प्राणसे भी परमप्रिय आत्मा होता है, जिसकी प्रियताके कारण ही सभी लौकिक वस्तुएँ प्रिय होती हैं। जिसका उद्घोष बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।५)-में भी श्रीयाज्ञवल्क्यजीने—'**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' के रूपमें किया है। अतः अत्यन्त प्रिय होनेके नाते आत्मा प्रेयान् है और शेष वस्तुएँ प्रिय हैं—'**आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषः।**' (पञ्चदशी)

प्रेष्ठ, प्रेयान् तथा प्रियतम—ये पद अत्यन्त प्रियके लिये प्रयुक्त होते हैं, जैसा कि गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णको—'**प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा**' (श्रीमद्भा० १०।२९।३२) कहा है। अर्थात् पति, पुत्र, भाई-बन्धु आदि सभी शरीरधारियोंके सुहृद् आत्मा—परम प्रिय आप ही हैं। अतः केवल आपकी अनुरक्तिसे सबका प्रेम सार्थक हो जाता है। इसीलिये श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षितजीसे

कहा है—

देहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः।
यज्जीर्यत्यपि देहेऽस्मिञ्जीविताशा बलीयसी॥
तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५३-५४)

भाव यह है कि देहके गलित होनेपर भी जीनेकी जो आशा बनी रहती है, वह आत्माकी प्रियताके कारण ही है; क्योंकि चराचर जगत्का प्रिय आत्मा ही है।

प्रेमके द्वारा प्रियतम—परमात्माकी उपलब्धि होनेपर प्रेमी भी प्रियमें मिल जाता है। उसकी स्वतः सत्ता नहीं रहती। तभी तो कहा गया है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

तात्पर्य यह है कि स्वार्थहीन प्रेमकी अति ऊँची अवस्थामें देह-गेह तथा मनका अलग भान नहीं होता। जैसा कि श्रीरामजीके प्रेम-संदेशको सुनाते हुए श्रीहनुमान्जीने कहा है—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥

(रा०च०मा० [illegible])

क्योंकि उन्होंने यही कहा है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

निष्कर्ष यह है कि परमप्रिय परमात्माकी अनुभूतिका परम सरस साधन प्रेम ही है। अतः स्वार्थरहित प्रेमसे प्रियकी उपलब्धिके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।
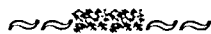
~~~

प्रेममें आदान नहीं, प्रदान है

(श्रीजगदीशप्रसादजी, एम्०ए० (द्वय), साहित्यरत्न)

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

अथवा

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

—ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे पता चलता है कि प्रेमकी दुनियामें प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके आगे अपने सभी मान-सम्मान, गर्व-अहंकारको तिलाञ्जलि देकर सर्वतोभावेन अपने-आपको अकिञ्चनके रूपमें प्रस्तुत करना होता है। शीश उतारने या शीश देकर सौदा करनेका मतलब अपने-आपको परम विनीत और निरीह बनाना होता है। ऐसा करनेपर ही प्रेमका प्रसाद मिल सकता है।

दूसरे शब्दोंमें प्रेम बलिदानकी भूमि है, उत्सर्गकी भूमि है तथा न्योछावरकी भूमि है। इसमें सिर्फ दान है। यहाँ ग्रहणकी कोई गुंजाइश नहीं है। प्रेम केवल निःस्वार्थ होता है। जहाँ स्वार्थकी बात आयी, वहाँ सच्चा प्रेम नहीं रहता। वह तो सौदेबाजी हो जाती है। माताका शिशुके प्रति वात्सल्य, बहनका भाईके प्रति प्रेम या एक सच्चे देशभक्तका अपनी मातृभूमिके प्रति जो प्रेम होता है, वह नितान्त निष्कपट और स्वार्थहीन होता है। यहाँ सिर्फ देनेकी बात होती है, कुछ लेनेकी नहीं।

ऐसे निःस्वार्थ प्रेमकी उत्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेषके रूप, गुण और व्यवहारके प्रति आकृष्ट होनेपर होती है यह बात नहीं है। यह प्रेम तो अहेतुक होता है, अन्तरङ्ग होता है।

प्रेमके आविर्भावमें इन पाँच अवस्थाओंका विशेष महत्त्व है—१-आकर्षण, २-रुचि, ३-ममत्व, ४-लगाव और ५-प्रेम। आचार्योंने प्रेमकी तीन विशेष स्थितियाँ बतायी हैं—१-पूर्वराग, २-मिलन और ३-विछोह।

(१) पूर्वराग—इसमें अपने प्रेमास्पदके रूप, गुण, शौर्य, औदार्य आदि सद्गुणोंके बारेमें जानकर या सुनकर उसमें रुचि उत्पन्न होती है। इसे प्रेमकी प्रथम स्थिति अर्थात् पूर्वराग कहते हैं। पूर्वरागकी इस स्थितिमें प्रेमी अपने प्रेमास्पदके विषयमें सोचते हैं। उसका सांनिध्य प्राप्त करना चाहते हैं। अपने मनश्चक्षुओंसे उसके दर्शन करते हैं, उससे सम्भाषण करते हैं, आदि।

(२) मिलन—मिलनको आचार्योंने प्रेमकी स्थितियोंमें तीसरे स्थानपर रखा है। हालाँकि विकास-क्रममें मिलनका
~~~

दूसरा स्थान है, पर महत्त्व और तीव्रताकी दृष्टिसे यह तीसरे दर्जेका है। मिलनमें प्रेमकी तीव्रता नहीं होती है। इसमें अविच्छिन्नरूपमें निरन्तर बढ़ना नहीं होता है। यहाँ तो मानो उफनती नदियोंका समुद्रमें समा जानेपर अपना अस्तित्व गँवा देने-जैसी बात होती है।

(३) विछोह—विछोहकी स्थितिको आचार्योंने प्रेमका पहला स्थान प्रदान किया है। इस विरहमें मिलनकी जो तीव्र इच्छा होती है, वही प्रेमकी वास्तविक स्थिति होती है। यह उत्कट अभिलाषा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यह मिलनकी इच्छाकी तीव्रता बढ़ते-बढ़ते व्याकुलताकी स्थितिमें बदल जाती है और इस विछोहके आनन्दमें प्रेमी-भक्त डूबता-उतराता रहता है।

महाकवि सूरदासने 'भ्रमरगीत' में, नन्ददासने 'भ्रमरगीत' में और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अपने 'उद्धवशतक' में भगवान् श्रीकृष्णके विरहमें गोपियोंकी मनःस्थितिका जैसा निरूपण किया है, वैसा शायद अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। सूरदासकी गोपियाँ तो विरह-तापसे इतनी अधिक उत्तप्त हैं कि कृष्णद्वारा भेजे पत्रको जल जानेके डरसे छूती भी नहीं—

नैन सजल कागद अति कोमल कर अंगुरी अति ताती।
परसत जरत बिलोकत भींजत दुहुन भाँति दुख छाती॥

अन्यत्र सूरदासने राधाकी विरह-दशाका वर्णन करते हुए लिखा है कि राधाने श्रीकृष्णके विरहमें अपनी सुध-बुध ही खो दी है—

अति मलीन बृषभानु कुमारी।
हरि स्रम जल भींज्यौ उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी॥
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि-सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।

जब श्रीराम सीता-हरणके बाद तरुओं, लताओं तथा वनके पशु-पक्षियोंसे सीताका पता पूछते हैं, तब उनके हृदयकी व्याकुलता सीताके प्रति उनके प्रेमको ही प्रकट करती है—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

प्रेमका स्वरूप

प्रेमकी इदमित्थं कोई परिभाषा नहीं है। इसे किसीको समझाया-बुझाया नहीं जा सकता। इसका अनुभव तो उसीको होता है, जो इसमें पड़ा हो। इसीलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥** (ना०भ०सू० ५१-५२) जैसे गूँगा गुड़ खाकर उसके मिठासका अनुभव स्वयं करता है। उसे किसीको बता नहीं सकता, ठीक उसी तरह प्रेमकी भी कोई व्याख्या या परिभाषा नहीं हो सकती है। सच्चे, निश्छल और निःस्वार्थ प्रेममें न तो प्रेमास्पदमें किसी विशेष गुणकी अपेक्षा होती है तथा न ही प्रेमी अपने प्रेमास्पदसे किसी वस्तुकी कामना करता है। यदि गुणकी अपेक्षा और किसी वस्तुकी कामना की गयी तो वहाँ प्रेममें स्वार्थ आ जायगा। तब तो प्रेम सापेक्ष हो जायगा कि प्रेमास्पदमें यह या वह गुण होगा तभी उससे प्रेम होगा। इसीलिये तो प्रेमको—**'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्'** (ना०भ०सू० ५४) कहा गया है। परम रसिक कवि रसखानने इसका क्या ही काव्यमय अनुवाद किया है। वे कहते हैं—

बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥
अति सूच्छम कोमल अतिहि, अति पतरौ, अति दूर।
प्रेम कठिन सबतें सदा, नित इकरस भरपूर॥
रसमय स्वाभाविक बिना स्वारथ अचल महान।
सदा एकरस सुद्ध सोइ, प्रेम अहै रसखान॥

प्रेमके बीजके हृदयमें अङ्कुरित होनेके बाद वह दिनों-दिन बढ़ता जाता है। यहाँतक कि विरहकी चरमावस्थाको प्राप्त करनेपर भी पिया-मिलनकी प्यास लगी रह जाती है—

कागा चुनि चुनि खाइयो, सब अंगन कौ मांस।
दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस॥

प्रेममें परितृप्ति नहीं होती। यहाँ प्रेमीका हृदय अपने प्रेमास्पदके लिये दिन-रात तड़पता रहता है। यह तड़प ही प्रेम है। यह विरह ही प्रेमको जीवित रखता है। जहाँ यह तड़प नहीं, प्रभुमिलनकी तीव्र इच्छा नहीं, वहाँ प्रेम कहाँ?

‘साधो! प्रेम बिना सब झूठा’

(श्रीभगवन्नामलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

हमलोग ‘प्रेम’ शब्दका अपभ्रंशमें उपयोग किया करते हैं। बोलचालकी भाषामें बोल दिया करते हैं कि मुझको अमुक व्यक्तिसे, अमुक वस्तुसे और अमुक स्थानसे बहुत प्रेम है। मिष्टान्नप्रिय व्यक्ति कहा करते हैं—मुझे तो लड्डूसे बड़ा प्रेम है, पर लड्डू खाते-खाते पेट भरनेपर स्वयं कहते हैं कि अब नहीं खायेंगे—यहाँसे हटाओ, यह प्रेम कहाँ हुआ? परिवारप्रिय कहा करते हैं कि मुझको स्त्रीसे बड़ा प्रेम है, पर यदि उसी स्त्रीने मनके प्रतिकूल कार्य कर दिया, भोजन अनुकूल नहीं बनाया तथा विपरीत बातें कह दीं तो उसपर बरस पड़ेंगे, यह प्रेम कहाँ हुआ? ‘प्रेम’ शब्दका उपयोग तो हमलोग खूब करते हैं, पर उसका अर्थ नहीं जानते, उसका भाव नहीं जानते। सामान्यरूपसे प्रेमका भाव है—जिस चीजका प्रारम्भ तो हो, पर उसका अन्त न हो।

प्रेम खरीद-बिक्री या लेन-देनकी चीज नहीं है, यह तो भगवत्प्रदत्त है। कारण कि हमको संसारसे कभी भी प्रेम नहीं हो सकता और न ही संसार हमसे कभी प्रेम कर सकता है।

जो संसारसे विमुख हो गये, जिनकी संसारसे सर्वथा आसक्ति हट गयी ममता हट गयी है, वही प्रेम पानेका पवित्र पात्र हो सकता है।

प्रेमका श्रीगणेश तो दोसे होता है, पर उसकी इतिश्री एकपर ही होती है। प्रारम्भमें ‘मैं’ और ‘तू’ रहता है, परंतु अन्तमें केवल तू-ही-तू रहता है।

परमात्मप्राप्तिके लिये, परम शान्तिके लिये तथा परमानन्दके लिये मुख्यतः तीन साधन या मार्ग ही हमारे धर्मग्रन्थोंमें बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। उसमें भी इस कलिकालके लिये प्रमाणित प्रस्थानत्रयी ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत और श्रीरामचरितमानस—ये तीनों कर्म, ज्ञान तथा भक्तिसे परिपूर्ण हैं। परंतु ये तीनों ग्रन्थ भक्तिकी पराकाष्ठा हैं, प्रेमके द्योतक हैं एवं हमलोगोंको भक्तिमार्गपर चलनेकी आज्ञा देते हैं। इसलिये भक्तियोग ही हमलोगोंके लिये उपयुक्त और आवश्यक है। तभी हम प्रेमलीलाकी अनुभूति कर सकते हैं, प्रेमयोगी हो सकते हैं।

कर्म, ज्ञान और भक्तिको सरलतासे समझें तो सेवा, त्याग तथा प्रेम। कर्मयोगमें सेवा प्रधान है, ज्ञानयोगमें त्याग प्रधान है और भक्तियोगमें प्रेम प्रधान है। यदि तीनोंको गहराईसे लें तो तीनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तीनों एक-दूसरेके पूरक हैं। इन तीनोंके बिना कोई रह नहीं सकता। यदि हम तीनोंमेंसे किसी एक साधनको लेकर चलें तो आगे चलकर शेष दोनों साधन अपने-आप आ जायँगे।

सेवा—बिना त्यागके सम्भव नहीं है और प्रेमके बिना सेवा क्यों करेगा?

त्याग—जबतक हममें सेवाभाव नहीं होगा, तबतक हम उसके प्रति त्याग कैसे कर सकते हैं। सेवामें त्याग करना ही पड़ता है और त्याग हम तभी कर सकते हैं, जब उसके प्रति प्रेम हो।

प्रेम—सेवा तभी हो सकती है जब उसके प्रति प्रेम हो और प्रेममें त्याग करना पड़ता हैं, अपने-आपको न्योछावर करना ही पड़ता है।

अब तीनोंमें अर्थ तो सरल लगता है, पर प्रयोगमें सेवा और त्याग अत्यन्त ही कठिन हैं। सेवाको लेंगे तो शारीरिक बल चाहिये, धन चाहिये, पुरुषार्थ चाहिये। सेवामें मेरा कुछ नहीं है सब संसारका है, यहाँतक कि मेरा शरीर भी अपना नहीं है संसारका ही है। सेवामें अपने-आपको तन, मन और धनसे पूर्णरूपेण समर्पित कर देना पड़ता है, जो कि अत्यन्त कठिन है।

ज्ञानयोगमें त्यागकी प्रधानता है, शरीरको भी ब्रह्मके लिये त्याग करना पड़ता है। यहाँतक कि कर्मका भी त्याग करना पड़ता है। मैं शरीर नहीं हूँ, यह ज्ञान परिपक्व मस्तिष्कवालोंके लिये ही सम्भव है। जब ऐसा दृढ़ ज्ञान हो जायगा, तब उस ज्ञानरूपी अग्निमें सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जायँगे।

कर्म और ज्ञानका मार्ग हम अल्पबुद्धि एवं अल्पायुवाले मनुष्योंके लिये कठिन है। तभी तो भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें सबसे सरल, सरस, सुलभ, समझमें आनेवाला तथा सस्ता मार्ग भक्तियोगको ही कहा है और भक्तियोगमें प्रेमकी प्रधानता है। भक्तिकी पराकाष्ठा प्रेम है। प्रेम प्रेमास्पदको

दीवाना बना देता है—

देह गेह को सुधि नहीं छुट गयी जग प्रीत।
नारायण गावत फिरे प्रेम भरे संगीत॥
मन में लागी चटपटी कब निरखउँ घनस्याम।
नारायण भूल्यो सभी खान-पान बिश्राम॥

तुलसीदासजी, कबीरजी, रसखानजी, रहीमजी, तुकारामजी, नरसीजी एवं कर्माबाई, सुखुबाई, मीराबाई आदि सभी प्रेमदीवाने ही तो थे। भक्तियोगमें परमात्माको छोड़कर दूसरा कोई है ही नहीं। अपना मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, दसों इन्द्रियाँ और शरीरतक परमात्माका ही है। संसार और ब्रह्माण्ड भी परमात्माका ही है—*'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥'* जब सब कुछ परमात्माका है तो इसमें करना क्या है? वह जो करायेगा वही करना है अर्थात् उसको करवाना होगा करा लेगा, जो खिलाना होगा खिला देगा, जहाँ सुलाना होगा वहाँ सुला देगा और जहाँ घुमाना होगा वहाँ-वहाँ घुमाता रहेगा। उसकी इच्छा ही अपनी इच्छा हो जायगी। हम उसकी मर्जीमें अपनी मर्जी मिला दें, बस फिर बाकी कुछ नहीं करना। पूज्यपाद स्वामी रामतीर्थजी कहा करते थे—

गर यार की मर्जी हुई सर जोड़ के बैठे,
घर-बार छुड़ाया तो वहीं छोड़ के बैठे।
मोरा जिधर मुँह वहीं मुँह मोर के बैठे,
गुदरी ओढ़ा दी तो वही ओढ़ के बैठे।
साल ओढ़ा दी तो उसी साल में खुस हैं,
पूरे हैं वे मर्द जो हर हाल में खुस हैं।

परमात्माकी प्रत्येक लीलामें हम प्रसन्न रहें, प्रत्येक विधानको हम मङ्गलमय ही मानें ऐसा विचार दृढ़ करना पड़ेगा।

परम शान्तिकी प्राप्ति न कर्म करनेसे, न ज्ञानसे और न ही भक्ति करनेसे मिलेगी। जबतक करना लगा रहेगा परमात्मा हमसे दूर रहेगा और जब करना समाप्त हो जायगा तब परमात्मा सामने खड़ा मिलेगा। परमात्मा साधन-साध्य नहीं है साधनसे परे है, वह तो स्वयंसिद्ध है।

भगवत्प्रेम पानेके लिये हमें अबोध बच्चा बनना पड़ेगा। मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है और मैं कुछ भी जानता नहीं हूँ अर्थात् 'मैं', 'मेरा' को सदाके लिये भूल जाना होगा। जैसे बिल्लीका बच्चा, बिल्लीको देखते ही आँखें बंद कर लेता है और बिल्ली बच्चेको मुँहसे पकड़कर सुरक्षित स्थानमें ले जाकर रख देती है। बिल्ली मुँहसे चूहेको पकड़ती है तो वह मर जाता है, परंतु बच्चेका बाल भी बाँका नहीं होता। इसी प्रकारसे हमलोगोंको परमात्माकी हाँ-में-हाँ मिला देना है। बिल्लीके बच्चेकी तरह आँखें बंद कर लें, अज्ञानी हो जायँ, गरीब हो जायँ तो पूरी तरहसे जिस प्रकार मा अपने बच्चेकी रखवाली करती है, उसी प्रकार वे हमारी रक्षा करेंगे एवं हर आवश्यकताकी पूर्ति करते रहेंगे—*'जिमि बालक राखइ महतारी॥'*

कर्मयोगी संसारको अपना मानता है, ज्ञानयोगी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहता है, पर भक्तियोगी भगवान्‌को ही सब कुछ मानता है। कर्ममें—करना प्रधान है, ज्ञानमें—जानना प्रधान है, पर भक्तिमें मानना प्रधान है जो कि सबसे सुलभ है। तभी तो गोस्वामीजीने कहा है—*'सीय राममय सब जग जानी।'* इसमें तो मानना ही है कि संसार नहीं है परमात्माका विराट् रूप है, सब परमात्माके अंश हैं—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी।' 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्'* (गीता १८। ६१) सबमें वही है, सब कुछ वही है, सब वही है, सब जगह वही है एवं सबका भी वही है, सबमें भगवान्‌का दर्शन करते हैं तब कहते हैं—*'करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी'* परमात्माके नतमस्तक होते हैं, अपने-आपको समर्पित कर देते हैं, शरणागत हो जाते हैं।

परमात्मा प्रेमके भूखे हैं। जो क्षीरसागरमें सोते हैं, जिनके पादपद्मोंको लक्ष्मीमहारानी करकमलोंसे चाँपती रहती हैं उनके यहाँ क्या कमी है? हमलोग सेवा, त्याग और प्रेमका सही उपयोग करते ही नहीं हैं। हमलोग भगवान्‌की सेवा करते हैं और प्रेम संसारसे करते हैं, यह गलत है। संसारसे प्रेम न करके उसकी सेवा करनी (कर्म करना) चाहिये। संसारकी सेवा अपने शरीरकी तरह करनी चाहिये।

त्याग वस्तु एवं व्यक्तिका न करके आसक्तिका करना चाहिये, मैं और मेरेका त्याग ही त्याग है। मोह, ममतासे रहित होकर, प्रेम संसारसे न करके परमात्मासे करना चाहिये; क्योंकि—*'रामहि केवल प्रेमु पिआरा।'* परमात्माको वस्तु या अन्य सामग्री नहीं चाहिये, उन्हें प्रेम चाहिये। हे परमात्मन्! मैं आपका ही हूँ। इसमें लगना कुछ नहीं है, पर लाभ पूरे-के-पूरे हैं। जब हम कह देते हैं कि मैं

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २।१३६।१)

तभी तो भक्तोंके प्रेमवश ही सगुणरूप धारण करनेवाले श्रीरामजीने *'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥'*, इस प्रकारके निषादराज गुहको अपने हृदयसे लगाया—*'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा।'* (रा०च०मा० २।१९४।३) और 'हीनजातिसमुद्भवा' (अ०रा० ३।१०।१७) *'अधम ते अधम अधम अति नारी।'* इस प्रकारकी शबरीके द्वारा दिये गये कन्द-मूल-फलोंको बड़े ही प्रेमसे स्वीकार किया और उनके मधुमय आस्वादका बार-बार बखान किया—

प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥
(रा०च०मा० ३।३४)

अनेक प्रकारके योग, जप, दान, तप, यज्ञ, व्रत और नियम करनेपर भी भगवान् श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते, जैसी प्रेम होनेपर करते हैं—

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
(रा०च०मा० ६।११७ (ख)

मानव-जीवनकी सार्थकता और जीवनका प्राप्य शिखर है—भगवत्प्राप्ति, जो केवल प्रेमसे ही सम्भव है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥
(रा०च०मा० ७।६२।१)

अनेक जप, तप, यज्ञ, शम (मनको रोकना), दम (इन्द्रियोंको रोकना), व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग-विज्ञान आदि सबका फल भगवान्‌के चरणकमलोंमें प्रेम होना है, इसके बिना कोई कल्याण नहीं पा सकता—

जप तप मख सम दम ब्रत नाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा
(रा०च०मा० ७।९५।५-६

वेदोंने जगत्‌में (१) विषयी, (२) साधक और (३ सिद्ध—ये तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं, इन तीनों जिसका चित्त भगवान्‌के प्रेममें सराबोर रहता है, साधु सभामें उसीका बड़ा आदर होता है—

बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू
(रा०च०मा० २।२७७।३-४

भगवान्‌के प्रेमके बिना ज्ञान भी शोभायमान नह होता—

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू
(रा०च०मा० १।२७७।५

जीवके लिये सच्चा स्वार्थ यही है कि वह मन, वच और कर्मसे भगवान्‌के श्रीचरणोंमें प्रेम करे—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा।
(रा०च०मा० ७।९६ (क)१

सब साधनोंका भी एक सुन्दर फल यही है कि भगवा श्रीरामके चरणकमलोंमें सदा-सर्वदा प्रेम हो।

अत: गुरुप्रवर श्रीवसिष्ठजीके स्वर-में-स्वर मिलाक प्रभुसे इस तुच्छ दासका विनम्र निवेदन है कि 'हे नाथ हे श्रीरामजी! आपके चरणकमलोंमें मेरा प्रेम जन्म-जन्मान्तरमें भी कभी न घटे'—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥
(रा०च०मा० ७।४९)

श्रीद्वारकाधीशके उद्गार

दिन रैन चैन मन है न सुधि पाय ऊधौ,
जसुमति मैया मेरे काज दुख पावै है।
अति सकुचाय नंद बाबा ढिग जाय बूझै,
साँवरो सलोनो स्याम मेरो कब आवै है।
गुंजै भरि अँजुरी सहेजै, चुनै मोरपंख,
मुरली को चूमैं, जल लोचन चुवावै है।
धेनु धूरि बेला धाय द्वार पैं अधीर भई,
दूरि लौं निहारैं पंथ, पथिक बतावै है।

(कुमारी अम्बिका सिंह)

'है प्रेम जगतमें सार और कछु सार नहीं'

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)

ईश्वरकी भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता है। आर्ष-ग्रन्थों एवं संतोंकी वाणीमें प्रेमको भक्तिका पूरक बताया गया है—

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज डिंभ विचार।

उद्र भरन के कारने जन्म गँवायो सार॥

अर्थात् प्रेमके बिना जो भक्ति है, वह मात्र पाखण्ड है। पेट भरनेके लिये जो भक्ति होती है, उसमें मानव-जीवन निष्फल ही होता है। ईश्वर-भक्ति सभी सुखोंकी खानि है। जो कोई ईश्वरसे प्रेम करेंगे, उनको सर्वसुखदायिनी भक्ति मिलेगी। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

भक्तिकी महिमा तो यह है कि जिनके हृदयमें यह भक्तिरूपी मणि बसती है, उन्हें सपनेमें भी लवलेशमात्र दुःख नहीं होता। यथा—

राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें॥

काकभुशुण्डिजी गरुडजीसे कहते हैं—

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

भक्तिमें ईश्वरकृपा अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वरकृपासे उनकी प्रभुताकी महिमा जान सकते हैं। यदि ईश्वरकी प्रभुताको नहीं जानेंगे तो उनमें विश्वास नहीं होगा और विश्वासरहित भक्तिमें प्रेम नहीं होगा तथा प्रेमके बिना उसमें दृढ़ता नहीं आ सकेगी। इसीलिये काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥

जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥

प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

जैसे जलकी चिकनाई स्थिर नहीं होती। उसी तरह प्रेमके बिना भक्तिमें स्थिरता नहीं आती अर्थात् बिना प्रेमके अविरल भक्ति नहीं हो पाती। प्रेममें प्रभु-मिलनकी विकलता होती है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने दोहावलीमें प्रेमका महत्त्व बहुत उत्तम ढंगसे दिखाया है। मकर, साँप, मेढक और कछुआ—ये सभी जलमें रहते हैं, जल ही इन सबोंका घर है, परंतु पानीसे सच्चा प्रेम केवल मछलीको है। मकर, साँप, मेढक और कछुए जलको छोड़कर भी रह सकते हैं, परंतु मछली जलके बिना किसी प्रकार भी नहीं रह सकती। वह पानीके लिये छटपटाकर प्राण दे देती है। मुख्यतया जलसे प्रेम केवल मछलीको ही है। इसलिये कहा—

मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।

तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

(दोहावली ३१८)

प्रेमका एक अन्य उदाहरण दूध और पानीसे भी ले सकते हैं। जब कोई दूधको किसी बर्तनमें डालकर आगपर रखकर औंटना चाहते हैं तो आगकी गरमीसे दूधके अंदरका पानी भाप बनकर उड़ने लगता है। दूध प्रेमवश उस पानीको पकड़नेके लिये उफानके रूपमें ऊपर उठता है। जैसे ही दूधके उफानपर पानी डालते हैं, दूध पानीको पाकर शान्त हो जाता है। इसी तरह भक्त भगवन्तके विरहमें तबतक व्याकुल रहते हैं, जबतक उन्हें प्रभु-प्राप्ति न हो जाय। प्रभु-प्राप्तिसे आवागमनका दुःख मिट जाता है। शान्तिस्वरूप सर्वेश्वरको प्राप्तकर वे संत हो जाते हैं।

इसलिये गुरुदेव ब्रह्मलीन पूज्यपाद महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज भक्तोंसे कहते हैं—

आहो प्रेमी करु प्रेम प्रभु से हो।

बिना प्रभु दुःख सहु भव में भ्रमत रहु, करु प्रेम प्रभु से हो।

आहो प्रेमी त्यागी देहु जग प्रेम हो,

जगप्रेम फाँसी, आत्मसुखनासी प्रभुप्रेम मुक्तिप्रद हो।

तात्पर्य यह है कि परम प्रभु परमात्मासे प्रेम करनेवालेको संसारके सारे बन्धनोंसे मुक्ति मिल जाती है। इसीलिये भक्तिमें प्रेमकी प्रधानता है। इस सम्बन्धमें निम्न दोहेमें बड़ी सुन्दर बात कही गयी है—

परिवा प्रथम प्रेम बिनु, राम मिलन अति दूर।

यदपि निकट हृदय निज, रहै सकल भरपूर॥

अर्थात् ईश्वर-भक्तिमें यदि प्रेम नहीं है तो रामका मिलना अत्यन्त दूर है। यद्यपि वे राम अपने हृदयमें सदा वर्तमान हैं।

भक्तवर सूरदासजीने बताया है कि भक्तिकी श्रेष्ठता

केवल प्रेमसे है। प्रेमके ही कारण दुर्योधनके राजसी भोगको त्यागकर भगवान् श्रीकृष्णने भक्त विदुरजीके यहाँ सागका भोग लगाया, शबरीके प्रेमके कारण ही श्रीरामने बहुत प्रेमसे उसके बेर खाये। प्रेमवश ही भगवान् श्रीकृष्णने नाई बनकर राजाकी सेवा की। राजा युधिष्ठिरके यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्ण जूठे पत्तलोंको उठाकर फेंकते थे। प्रेमके वशमें ही भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेवाले सारथि बने तथा प्रेमके कारण ही उन्होंने वृन्दावनमें गोपियोंके साथ रासलीला की थी। सूरदासजी कहते हैं कि इस प्रेमका वर्णन करनेमें मैं एकदम असमर्थ हूँ, प्रेमकी बड़ाई मैं कहाँतक कर सकता हूँ। यथा—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हों तामें जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढ़ी बृंदाबन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई॥

इसलिये एक भक्त कविने कहा—

'है प्रेम जगतमें सार और कछु सार नहीं।'

भगवत्प्रेम—आनन्दघनकी प्राप्तिका श्रेष्ठतम उपाय

(शिवाश्रयानन्दी श्रीरामप्रसादजी प्रजापति)

इस सृष्टि और संसारमें प्रेमकी अद्भुत महिमा है, भगवत्प्रेमकी तो विलक्षण लीला है। विश्वात्मा परम पिता परमात्मा प्रत्येक जीव, जड़-चेतन और कण-कणमें प्रेमरूपसे व्याप्त हैं। जिस प्रकार *'हरि अनंत हरिकथा अनंता।'* (रा०च०मा० १। १४०। ५) उसी प्रकार *'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'* (रा०च०मा० १। १८५। ५)-के अनुसार प्रभुका प्राकट्य भी भक्तके प्रेमके वशीभूत होकर ही होता है।

चैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तमण्डलीके साथ वृन्दावन-पथपर थे, तब वे प्रेमपूर्वक हरिका कीर्तन करते हुए चलते थे। वे विश्वके ऐसे प्रेमी हरिकीर्तनकार थे, ऐसे प्रेमीभक्त थे कि जब वे जंगलसे गुजरते थे तो रास्तेमें हिंसक जीव मिलते थे, वे सभी अपना स्वाभाविक वैरभाव भुलाकर प्रेममयी अमृतधारामें उन महाप्रभुके साथ अपनी सुध-बुध भूलकर प्रेमलीलामें झूमते हुए चलते थे।

प्रेम एक ऐसा भगवद्भाव है जिसे पाकर मनुष्यका जीवन धन्य हो जाता है। प्रेम अन्तःकरणकी भाव वस्तु है, आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुकी जब विशेष कृपा होती है, तब वह प्रेम हृदयमें प्रकट होता है। प्रेमरसके उद्घाटनके लिये, प्रेमरहस्योंकी माधुर्यताके लिये, प्रेम-लीलाओंके सम्यक् दर्शनके लिये परमात्मप्रभुने यह मानव-देह एवं मनुष्य-जीवन ही उपयुक्त चुना है। अतः हमें परमात्मप्रभुके आशयको समझकर प्रेम-भावमें निमग्न रहनेकी सतत चेष्टा करनी चाहिये।

प्रेम कोई कर्मजन्य वस्तु नहीं है, कठिन परिश्रम कर लेंगे, कर्म कर लेंगे तब हमें प्रेम नामकी वस्तु मिलेगी ऐसी बात नहीं है; क्योंकि प्रेमका सम्बन्ध अन्तरङ्गभावसे है। प्रेम न तो खेतमें उपजता है और न ही प्रेम नामकी वस्तु बाजारमें बिकती है—

'प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।'

यह तो आध्यात्मिक जगत्‌की अमूल्य चीज है, इसका कोई मूल्य नहीं होता, बल्कि यह तो बिना मूल्यके प्रेमी भक्तों, संत-महात्माओंके पास उपलब्ध है।

प्रेम भगवान्‌का सत्यस्वरूप है। इसे किसी बाहरी प्रचार-प्रसारकी तनिक-सी भी आवश्यकता नहीं है और न कोई बाह्यरूप—दिखावा ही चाहिये। प्रेम तो अन्तःकरणसे प्रकट होकर भावरथपर सवार हो निकलता है—तब श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, ज्ञान-विज्ञान, वैराग्य, प्रेरणा और सदाचारके रसमें सराबोर होकर वीणाकी मादकतामें प्रेमी गाने लगता है—

'हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणे कोय॥'

संसारकी अपार सम्पत्ति, उच्चाधिकार, विशाल वैभव तथा श्रेष्ठकुलोत्पन्नता—सब कुछ पीछे छूट जाता है, रह जाती है सिर्फ दीवानगी।

दीवानगीका यह अगम पन्थ संसारी और भौतिकवादी समझ नहीं सकते हैं। विशुद्ध प्रेम, निष्काम प्रेम, निःस्वार्थ प्रेम—यही तो वंशीवादनका मूल मन्त्र है। श्रीकृष्णप्रेमका माधुर्य इतना मर्मस्पर्शी, हृदयस्पर्शी है कि उसे प्रेमी भक्तका अनुभव ही समझ सकता है।

इस नश्वर संसारमें सभी कुछ मिथ्या है, सिर्फ प्रभुका स्मरण, कीर्तन और भगवत्प्रेम ही सत्य है।

श्रीभगवान्से प्रेम, प्रभुसे प्रेम जन्म-जन्मान्तरकी पावन डोरी बन जाती है। जब प्रेम-लगन लग जाती है तब फिर वह टूटती भी नहीं है और वह पवित्रपावन प्रेमका आकर्षण—बन्धन छूटता भी नहीं है।

लौकिक प्रेम—शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, परिवार, कुटुम्ब, समाज—मोह, ममता, स्नेह और अपने सुख-आरामको लेकर बनता है। जड़ वस्तु-पदार्थमें सुख खोजना लौकिक प्रेम है।

'मैं और मेरा' प्रेम नहीं है, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा भी प्रेम नहीं है, यह तो तथाकथित प्रेमका खेल है—

सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

यदि व्यापक प्रभुके स्वरूपभूत प्राणिमात्रमें भगवद्भाव रखकर प्रेमपूर्वक अनासक्तभावसे सबकी सेवा कर सको तो यही लौकिक प्रेम प्रेममय प्रभुकी परम प्रीतिका साधन बन जायगा।

अलौकिक प्रेम—भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१०। १०)-में कहा है—'जो भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक भजते हैं—'**भजतां प्रीतिपूर्वकम्**' उनको मैं बुद्धियोग (समताका योग) प्रदान करता हूँ।' ऐसा योग प्राप्त होनेपर जीवन शाश्वत स्थितिको प्राप्त हो जाता है। जहाँ न कोई विषाद है, न हर्ष है, न नफा और न नुकसान है, निन्दा-स्तुति, स्वस्थ-अस्वस्थका कोई भी स्थान नहीं है, कोई संयोग-वियोग भी नहीं अर्थात् अन्तःकरणमें समताका भाव रहता है। परमात्मप्रेममें शान्ति है, अलौकिक प्रेमकी प्रेमवाटिकामें जिन प्रेमी आत्माओंने आनन्द लिया है वे युगों-युगोंसे स्मरणीय हैं—

प्रह्लाद, ध्रुव, मीरा, गोप-गोपियाँ, द्रौपदी, शबरी, सूरदास, तुलसीदास, उद्धव, अक्रूरजी आदि सब-के-सब आज भी प्रातःस्मरणीय, पूजनीय, अलौकिक प्रेमरसको आत्मसात् करनेवाली पुण्यात्माएँ हैं। ऐसेमें लोक भी सुधरता है और परलोक भी। अलौकिक प्रेमगाथा और अलौकिक प्रेम (ईश्वरप्रेम) कभी क्षीण नहीं होता, सदैव नित्य नवीन रहता है।

'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥'

ये भगवत्प्रेमी आत्माएँ उसी गलीसे गुजरीं जहाँसे, जिसमेंसे कोई दूसरा (अन्य भाव) गुजर ही नहीं सका। यह भगवत्प्रेमकी अलौकिक महिमा आनन्दघनकी महिमा है।

जीवनमें सभी शाश्वत सुख-शान्ति और आनन्दकी अनुभूति चाहते हैं, परंतु इसकी सच्ची अनुभूति हमें तभी हो सकती है जब हम प्रेम-पथपर अग्रसर हों, हम प्रभुसे प्रार्थना करें कि 'हे प्रभो! आप हमें शीघ्र अपना भगवत्प्रेम प्रदान करें।' जो प्रेमरूपसे भगवान्‌की भक्ति करता है, उस व्यक्तिका शीघ्र उद्धार हो जाता है। भगवान्‌की शरणागति और अपने कर्तव्य-कर्मोंका करना उत्तम मार्ग है। कल्याणका एकमात्र उपाय है—गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, अलौकिक प्रेमके अनुभवसिद्ध भक्तोंका स्मरण, ध्यान और सत्संग।

प्रभु-आश्रयी बनें, संसारके बाह्याडम्बरोंसे बचें और भगवच्चरणारविन्दोंके ध्यानमें परम अनुराग रखें—इसीमें जीवनकी सार्थकता है।

रामप्रेम ही सार है

सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सों, रति रामसों, रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसीके मतें इतनो जग जीवनको फलु है॥

(कवितावली)

भगवत्प्रेम

(श्रीहरिजी 'हरिबाबा')

जीवन प्रेमकी पूँजी है। जिसके जीवनमें प्रेम नहीं है उसका जीवन मरुभूमिमें नाव चलाने-जैसा ही है अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ ही है। प्रेम ही जीवनका सार है। आनन्द प्रेमका प्रकाश है। प्रेमकी झलकमात्र आनन्दसे परिपूर्ण कर देती है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—सब तृप्त, शान्त, सुखमय हो जाते हैं तथा प्रकृति, प्रकृतिकार्य, गुण, स्वभाव—सब कुछ आनन्दमय हो जाता है। जब झलकमात्रसे आनन्दसुधामय झरना फूट पड़ता है तो यदि प्रेममें तल्लीनता हो जाय, तब फिर उसका क्या वर्णन हो सकता है? इसीलिये प्रेमाचार्य देवर्षि नारदने बताया है कि प्रेम अनिर्वचनीय है—

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥' (ना०भ०सू० ५१)

प्रेम मूर्तिमान् ईश्वर है एवं प्रेम परमात्माका मूल स्वरूप है। प्रेमसे उत्पन्न हुई प्रत्येक किरण आनन्द-ही-आनन्द बिखेरती है। जिसके जीवनमें प्रेमानन्द नहीं, वह जीव नहीं, वरन् मरुभूमिका मृग ही है जो अतृप्त ही समाप्त हो जाता है। जब प्रेममें अवगाहन होगा तो प्रेम प्रकट होगा। प्रेमके बीच सूईके नोक-जितनी कामना, चाहना और इच्छा न हो तो प्रेम स्वत: ही प्रकट होगा। कामना, चाहना और वासना—ये प्रेममें बाधक हैं। प्रेम स्वच्छन्द है, उन्मुक्त है, इसमें स्वार्थकी झलक भी नहीं होती। जहाँ स्वार्थका सम्बन्ध है, वहाँ यथार्थरूप 'स्व'की अनुभूति नहीं होती। स्वार्थका सम्बन्ध मिटते ही स्वानुभूति स्वत:सिद्ध हो जाती है। जैसे सागर एवं सागरकी लहरें, सागरका स्वरूप, उसका रंग, गुण-स्वभाव—सब सागर ही हैं, फिर चाहे सागर शान्त हो उसमें लहरें उठ रही हों अथवा उछाल मारे, सब अपने-आप ही होता है, करता नहीं—यह सागरका स्वभाव है। ऐसे ही प्रेमका होना, शान्त, उछाल, लहर आदि क्रियाएँ भी सब प्रेमका ही प्रतिपादन करती हैं।

कदाचित् प्रेम भूलसे विपरीत दशाको प्राप्त हो जाय अर्थात् भगवान्‌की ओरसे हट जाय, सांसारिक आसक्तिका रूप धारण कर ले तो परम सुखके बजाय परम दु:खरूप हो जाता है। सच्चे प्रेममें दु:खका लेश भी नहीं और जहाँ दु:ख है, वहाँ प्रेम नहीं।

प्रेम कोई व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, स्थान, गुण, धर्म या क्रिया नहीं, वरन् ये सभी प्रेमसे ही पोषित एवं पल्लवित होते हैं, प्रेमके अभावमें इनका अस्तित्व मिट जाता है। प्रेम ही परमात्मा है और प्रेमासक्ति ही साधककी साधना है। प्रेममें अत्यन्त विलक्षण शक्ति है, सामर्थ्य है। प्रेम सृष्टिका मूल तत्त्व है, इसलिये जगत्‌में प्रेमकी ही सत्ता है। जैसे जलमें तरंग, फेन, बुलबुले आदि जो भी विकार उठते हैं उन सबकी परिणति जलमें ही है। वैसे ही सृष्टिके जो भी क्रिया-कलाप हैं, सबकी परिणति प्रेमतत्त्वमें विलीन होना ही है। अन्य किसीका भी स्थायित्व—सत्ता नहीं है। मात्र केवल एक प्रेम ही स्थिर रहनेवाला है। जीवका मूलस्वरूप प्रेम ही है। बिना प्रेमके जीव मूर्च्छित, उदास, हताश और निराश होने लगता है। उसका जीवपना ठहरता नहीं है। उसे अपने मूलस्वरूप—प्रेममें परिणत होनेपर ही परम सुख, परम शान्ति, परम तत्त्व तथा परम धामकी प्राप्ति होती है। प्रेमतत्त्व ही परमात्मा है या परमात्मा ही प्रेमतत्त्व है। प्रेम (परमात्मा) निर्विकार तत्त्व है, इसलिये निर्विकार होनेपर ही प्रेमकी प्राप्ति है, बिना निर्विकार हुए निश्चिन्त, निर्भय और निर्द्वन्द्व नहीं हो सकते, प्रेमकी प्राप्ति केवल प्रेम है।

कृष्ण प्रेम वर दीजै

राधे कृष्ण प्रेम वर दीजै।
परम प्रेम की रसमय प्रीति, सहज भाव भर दीजै॥
निज प्रियतम माधव के संग में मनसा रमण करीजै।
हृदय कमल खिले कञ्जसा रासरति नित कीजै॥
बृजराज बिहारी बृषभानु दुलारी चरणन चित्त करीजै।
राधा गोविन्द 'स्वरूप' दरस को सुख कृपा कर दीजै॥

(पं० श्रीरामस्वरूपजी गौड़)

जपयज्ञ और प्रेमयज्ञ

(पण्डित श्रीमंगलजी उद्धवजी शास्त्री, सद्विद्यालङ्कार)

आज हम विश्वभरके बड़े विलक्षण एवं महान् दो यज्ञोंकी यहाँ चर्चा करेंगे। उनमेंसे एक यज्ञका नाम है—'प्रेमयज्ञ' और दूसरे महायज्ञका नाम है—'जपयज्ञ'। इन दोनों महायज्ञोंका एक ही संकल्प है। इष्टके प्राप्तिस्वरूप दोनोंका आराध्य भी एक ही है—'प्रेमास्पद'। दोनों महायज्ञोंका फल और कार्य एक होनेसे हम इन दोनों महायज्ञोंको एकमें भी समाविष्ट कर सकते हैं।

हाँ, प्रेम किसी सांसारिक व्यक्तिके प्रति किया जाता हो तो उसमें कुछ अन्तर अवश्य पड़ जाता है। यदि वही प्रेम आत्मा या भगवान्‌के प्रति है तो दोनों महायज्ञ एक ही हैं।

दूसरी बात यह है कि स्वार्थके लिये किसी व्यक्तिके शरीरकी उपासनाको यदि 'प्रेम' कहा जाय तो वह 'प्रेम' शब्दकी अवहेलना या अनर्थ-कल्पना ही होगी। ऐसे प्रेमको 'प्रेम' नहीं, 'वासना' ही कहना उचित है।

जपयज्ञकी प्रारम्भिक भूमिकामें भी क्वचित् दम्भका प्राधान्य बढ़ जाता है। ऐसे साधक 'भक्त' के नामसे प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। परंतु जो अनर्थ प्रेमकी विपरीततामें होता है, वह अनर्थ इस जपयज्ञमें नहीं होता; क्योंकि दम्भसे, अभिमानसे या द्वेषसे भी भगवन्नामका उच्चारण करनेवालेका भी परिणाममें मङ्गल होता है।

'नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥' यह स्वयं श्रीगोस्वामीजीकी घोषणा है।

इसलिये तो 'मरा'-'मरा' जपनेवाला डाकू श्रीरामरूप बन जाता है। द्वेषपूर्वक अनेक गालियाँ देनेवाले शिशुपालकी आत्मज्योति भगवान् श्रीकृष्णके तेजमें विलीन हो जाती है और कपटपूर्वक चतुर्भुज श्रीकृष्णका कृत्रिम रूप धारण करनेवाला पौण्ड्रक सचमुच भगवत्स्वरूप बन जाता है। यह 'जपयज्ञ' की ही महत्ता है।

उदाहरणार्थ—गुड़ या शक्करको गालियाँ देकर भी खाते जाइये, खारे समुद्रके अन्तस्तलमें या अँधेरेमें भी खाइये, मीठे ही लगेंगे। इसी प्रकार भगवन्नाम-जपकी यह अलौकिक चमत्कृति है। नाम-जप करते-करते तदाकार बन जाना—यही नाम-जपकी महत्ता है।

आजका तथाकथित नकली प्रेम तो रिकॉर्डके दो-चार गाने सुनकर भी हो जाता है, किंतु जिस त्वरासे ऐसा प्रेम बनता है, उसी त्वरासे वह मिट भी जाता है। ऐसी वासनाको—इस आसक्तिको 'प्रेम' शब्दसे पुकारना तो पवित्र 'प्रेम' का भयंकर अपमान करना है।

प्रेमके भौतिक उदाहरणमें हम लैला-मजनूको ले सकते हैं। यद्यपि उन दोनोंमें परस्पर शारीरिक वासना नहीं थी, पर दैहिक मिलनकी उत्कण्ठा तो थी ही; किंतु उस प्रेममिलनमें संसारकी अभेद्य दीवार बाधारूप वन चुकी थी। मजनूके प्रेममें पगली-सी बनी हुई लैलाको एक सुवर्णमुद्रा दिखलाकर किसी एक विनोदप्रिय व्यक्तिने पूछा—

यह सोनेकी मुहर मैं तुझे या तेरे मजनूको देना चाहता हूँ। तू ही बता, यह तुझे दी जाय या मजनूको?

'मुझे नहीं चाहिये'—लैलाने तत्काल उत्तर दिया—'मजनूको ही दे दो; मेरा सुख तो उसीके सुखमें संनिहित है।'

उसी व्यक्तिने मजनूके पास जाकर उसके सामने भी यही प्रश्न रखा—'यह स्वर्णमुद्रा तुझे दी जाय या लैलाको?'

'मुझे नहीं'—एक उष्ण निःश्वासपूर्वक मजनूने कह दिया—'लैलाको ही दे दो, उसके सुखमें ही मेरा सुख है।'

उसी व्यक्तिने अपने हाथमें एक पत्थर लेकर लैलासे पूछा—'तुझे या मजनूको यह पत्थर मारनेका मेरा निश्चय है। अब तू ही बता, तुझे मारूँ या मजनूको?'

हाथ जोड़कर रोते हुए लैलाने कहा—'कृपा करके मुझे ही मार दीजिये, ताकि मेरा मजनू बच जाय।'

वही पत्थर दिखलाकर उसने मजनूसे पूछा तो मजनूने हाथ जोड़कर कहा—'लैलाके भागका और मेरे भागका—दोनों ही पत्थर मुझे ही मारो। मेरे और लैलाके प्रेममें मैं ही अपराधी हूँ। लैलाका कोई दोष नहीं है।'

यही है—प्रेमयज्ञका इहलौकिक भव्य दृष्टान्त। बस, इसी स्थानपर प्रेमयज्ञ और जपयज्ञ दोनों एक बन जाते हैं। ऐसे प्रेमी या ऐसे जापक अपने प्रियतमके साथ तद्रूप बन जाते हैं।

यदि आपको जपयज्ञका यजमान वनना है तो आपका

मन—आपका चित्त केवल इष्टनाममें ही जुड़ा रहे, अनिष्टका चिन्तन ही न करे।

—और प्रेमयज्ञके होता बननेके लिये तो हम नीचे लिखे पवित्र शब्दोंका ही उपयोग करेंगे—

सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव॥

प्रेमयज्ञ हो या नामयज्ञ—दोनोंमें ही अहंता और ममताकी आहुति देना आवश्यक है। इस दुर्भेद्य अन्तरायके दूर हो जानेके बाद प्रेमी-प्रेमास्पदके बीचमें अन्य कोई व्यवधान नहीं रह जाता। जपयज्ञमें भी उपास्य और उपासकके बीचका वह दुर्भेद्य अन्तराय दूर होते ही अद्वैत सुखकी प्राप्ति होती है। अतएव प्रेमयज्ञ और जपयज्ञ दोनों महायज्ञ अन्तिम परिणाममें तो एक ही हैं। मीराको आप प्रेमयोगिनी कहिये या जपयोगिनी—दोनों एक ही है। इसी तरह भगवान् चैतन्यको आप जपमूर्ति भी कह सकते हैं और प्रेममूर्ति भी। ऐसे प्रेमियोंका ध्यान, चिन्तन या स्मरण स्वयं ही जप बन जाता है।

प्रेमोन्मादिनी गोपीजनोंको आप प्रेमीकी उपमा दीजिये या विप्रयोगी जापक भक्तकी श्रेणीमें रख दीजिये—दोनों ही बराबर हैं। उनका श्वास-प्रश्वास, उनके प्राण और उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ अपने लिये नहीं, बल्कि अपने प्रियतमके लिये हैं। प्रेमके सिवा अन्य वस्तुमात्र उन्हें अग्राह्य है। इसीसे वे जप, तप, यम, नियम, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदि क्रियाओंसे पर बन जाती हैं। इस विषयमें मैं एक उदाहरण देकर लेखको समाप्त करूँगा—

बंगालके महात्मा श्रीशिशिरकुमार घोषने 'कालाचाँद (कृष्णचन्द्र)-गीता' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। उसीके एक अंशका यह भाषान्तर है—

'श्रीकृष्णके प्रेमकी भिखारिणी पाँच सखियाँ निकुञ्जमें बैठी थीं। इसी समय एक महान् तपस्वी साधु उस मार्गसे निकले। उन्होंने कौपीन पहन रखी थी, सिर मुँड़ा था। अङ्गोंपर 'श्रीकृष्ण-हरि' नाम लिखे थे। साधुने देखा, अपने रूपसे आभा फैलाती हुई सब बालाएँ निकुञ्जमें बैठी हैं। उनके मुखकमल सरल और निर्मल हैं। आँखोंसे प्रेम छलक रहा है। साधुको देखते ही उन सबने उठकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'हम अपने कृष्ण-धनको खोकर वनमें भटक रही हैं। कोई उपाय बताओ जिससे वे मिल जायँ।' उन सखियोंके भावपूर्ण मुखोंका निरीक्षण कर साधुकी आँखें भर आयीं। साधुने दुःखी होकर कहा—'अरी बेसमझ! सुनो। (तुम्हें यों) कृष्ण कहाँ मिलेंगे! हजारों वर्ष तप करनेपर भी ध्यानमें भी जिनकी झाँकी नहीं होती, तुमलोग निकुञ्जमें बैठकर फूल गूँथती हुई उन्हें कैसे पा लोगी?'

इसपर कुलकामिनीने कहा—'साधुबाबा! हम यह भलीभाँति जानती हैं, कृष्ण-जैसा धन यों ही नहीं मिल जाता। अतः तुम जो कहोगे, हम वही सब करेंगी। कृष्णके लिये प्राण तक दे देंगी।'

साधुने कहा—'उपवास करके शरीरको सुखाओ, तब कृष्ण-कृपा प्राप्त होगी। जितना ही तुम्हारा शरीर शीर्ण होगा, क्रमशः उतनी ही श्रीकृष्णकी करुणा बढ़ेगी।'

साधुकी यह बात सुनकर वे सब नव-तरुणियाँ सन्न रह गयीं और एक-दूसरीके मुखकी ओर देखने लगीं। उन्होंने कहा—'हम दुःख पायेंगी और श्रीकृष्ण सुखी होंगे, यह तो कभी हो नहीं सकता। हमारे दुःखकी बात सुनते ही वे रो-रोकर अपनेको खो देते हैं। हम दुःख उठाकर उनको रुलावें—यह कैसा भजन है?'

साधुने हँसकर कहा—'केशोंकी ममता छोड़नी होगी और सिर मुँड़ाना होगा। फिर तुलसीके नीचे सिर रगड़ना होगा—तब कृष्ण प्रसन्न होंगे।'

इतना सुनते ही वे सब नवबालाएँ चौंककर एक-दूसरीकी ओर देखने लगीं। तदनन्तर रंगिणीने कहा—'साधुबाबा, सुनो! यह तुमने क्या बात सुनायी? केश मुँड़वा देंगी और वेणी न बाँधेंगी तो जूड़ेमें चम्पा कैसे लगायेंगी और कैसे मालतीकी मनोहर माला गूँथकर जूड़ेपर लपेटेंगी? उस हमारी बाँकी वेणीको देखकर रसिकशेखर श्रीकृष्ण कितने प्रसन्न होते हैं, हम उनके मनकी बात जानती हैं। वे इससे कितने सुखी होते हैं, हमारे उपवास आदिसे वे सुखी नहीं होंगे।'

कङ्गालिनी बोली—'साधुबाबा! जब हम अश्रुजलसे उनके अरुण चरणयुगलको धोती हैं, तब इन केशोंसे ही उन्हें पोंछती हैं। जब केश मुँड़वा देंगी, तब प्रियतमके पैर धोकर हम किससे पोंछेंगी।'

कुलकामिनीने कहा—'हम योग-त्याग करके उनको क्यों फुसलायेंगी? वे तो हमारे पराये नहीं हैं, अपने ही हैं। वे हमारे स्वामी होते हैं, हम स्नेह-सेवा करके ही उन्हें

संतुष्ट करेंगी।'

प्रेमतरङ्गिणी बोली—'उनके विरहमें जब हम अत्यन्त दु:खी हो जाती हैं, तब इन केशोंको खोलकर देखती हैं। ये काले केश हमें श्रीकृष्णकी स्मृति कराते हैं। अतएव इन्हें, हे सखी! मैं तो नहीं मुँड़वा सकूँगी।'

सजलनयनाने कहा—'जब हम केश मुँड़वाकर कौपीन पहनकर दु:खिनीका वेश बना लेंगी, तब तो हमारे वे श्रीकृष्णचन्द्र रो-रोकर व्याकुल हो जायँगे। मैं उनको अच्छी तरह जानती हूँ।'

तब रसरङ्गिणीने साधुसे पूछा—'साधुबाबा! सुनो-सुनो, हमें संदेह हो रहा है, तुम किसे 'कृष्ण' कहते हो? वह कृष्ण है कौन और उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?' (वह तुम्हारा क्या लगता है?)

इसके उत्तरमें साधुने कहा—'अरी बेसमझ लड़कियो! कृष्ण दो नहीं हैं। वे सबके ईश्वर हैं। वे जब संतुष्ट होते हैं तब सम्पत्ति और रुष्ट होते हैं तब विपत्ति आती है। वे सर्वोपरि दण्डधर हैं; उनको प्रसन्न करनेके लिये मैं कितने दु:ख उठाता हूँ, तब भी उन्हें संतुष्ट नहीं कर पाता। कहीं उनका कोई नियम भङ्ग न हो जाय, इसी भयकी बात सोच-सोचकर मरा जाता हूँ।' साधुकी बात सुनते ही उन सबके चेहरे खिल उठे। तदनन्तर उन सबने विनयपूर्वक कहा—'साधु! तुम्हारी बातोंसे तो प्राण ही निकल गये थे। अब मालूम होता है—प्राण लौट आये हैं। तुम जिनकी बात कहते हो, वे कोई भी हों, हमारे प्राणनाथ तो नहीं हैं। हमारे जो श्रीकृष्ण हैं, वे तो हमारे पति हैं; न वे दण्डधारी हैं और न वरदाता ही। हम उनकी निजजन हैं—उनकी पत्नी हैं। उनका जो कुछ है, सभी हमलोगोंका है। उनसे हम किस कारणसे कुछ चाहेंगी, जब कि भण्डारकी चाभी ही हमारे हाथमें है? और दण्डकी बात सुनकर तो मनमें डर लगता है। हम सब उनकी ही हैं, तब वे दण्ड क्यों देंगे? जब कुपथ्य करनेपर रोग होता है, तब अपने घरवालोंको कड़वी औषधि भी खिलायी जाती है, व्रण होनेपर उसे छुरीसे कटवाया भी जाता है। कौन कहता है कि यह दण्ड है? वे हमारे प्राणनाथ तो केवल मङ्गलमय हैं; हम उनके प्रति कितना उत्पात करती हैं? यदि घरका स्वामी ही शासन न करे तो बताओ, कौन करेगा? हमारे प्राणनाथ स्नेहसे दण्ड भी देते हैं तो वह दण्ड नहीं है, वह तो उनका परम प्रसाद है।'

और सुनिये—

'तुमलोग पुरुष हो; राजसभामें जाते हो, स्वार्थके लि राजाको कर देते हो। हमें यदि कोई कर चुकाना होगा निश्चय ही हमारे पति चुकायेंगे। दण्ड हो या पुरस्कार इस बातको पति ही जानें—हमें इसमें कुछ भी अधिक नहीं है। यदि उस राजासे कुछ काम होगा तो उसे प्राणन ही जानें, हम तो रमणी हैं। हमने तो अपना सारा दायि प्रियतमको अर्पण कर दिया है, देह-प्राण-मन—सब उ चरणोंमें सौंप दिये हैं; हम तुम्हारे उस 'राजा श्रीकृष्ण' सेवा नहीं कर सकेंगी। राजसभामें तो जाते ही हम भ मर जायँगी। पुरस्कारके लिये हम राजसभामें जायँ? तो सरलहृदया रमणी हैं, कैसे स्तुति की जाती है—यह न जानतीं। तुम साधु—ऋषि हो या मुनि हो; तुम्हारे चरणोंमें क्या कहें, यह भी नहीं जानतीं। हम तो संसारी हैं—पति घरमें रहती हैं; संसारसे बाहर नहीं जा सकतीं। हमें प्राणन श्रीकृष्ण छोड़ गये हैं, इसीसे वनमें उन्हें खोजती-फि हैं। वे इस वनमें ही छिपे रहते हैं; तुमने उन्हें कहीं दे हो तो कृपा करके बतलाओ। बस, यही बात है।'

उस समय उन निर्मल, सरल बालाओंको देख साधुकी आँखोंमें जल भर आया। साधुने कहा—'बाला मैं एक निवेदन करता हूँ। मैं तुमलोगोंकी बातोंको भल भाँति समझ नहीं पा रहा हूँ। तुम्हारे उन पतिका कैसा है, मुझे उनका स्वरूप समझाकर कहो?' इस बातके सु ही सब सखियाँ आनन्दमग्न हो गयीं और उनके प्रफुल्लित हो गये।

रसरङ्गिणी कहती है—

'उनके कमल-नयन हैं। सुन्दर चाँद-सा मुखड़ा हमारे पतिने वनमाला धारण कर रखी है—

सुनो—वही, वही, वही; उसीने तो कुलका कि तोड़ दिया।' सब करताली बजाने लगीं—'सुनो साधु! सु उनके अगणित गुण हैं, कैसे बतायें।'

'कृतार्थ कर दिया'—कहकर कङ्गालिनीने रङ्गिण चरण पकड़ लिये। सजलनयना गुण बतलाने चली उसका कण्ठ रुक गया। प्रेमतरङ्गिणी उसे पकड़कर ब बार उसका मुख चूमने लगी। कुलबालाने उठकर कहा 'सखियो! आओ, एक बार नाचें।'

वे सब करताली बजाकर मुखसे 'हरि-हरि' बोलने लगीं और अङ्गोंको मटका-मटकाकर एक ही

जमीनपर टिकाकर नाचने लगीं। यों अपने दु:खको भूलकर करताली बजाती हुई सब सखियाँ नाच रही थीं। उन्हींके साथ वह साधुबाबा भी नाचने लगा और उसका भवबन्धन कट गया।

× × ×

इसी अनन्य प्रेमकी जिसे भी प्राप्ति हो जाती है, वह चाहे ब्राह्मण हो या चाण्डाल, स्त्री हो या पुरुष, संसारी हो या वैरागी, पण्डित हो या मूर्ख, वही सचमुच कृतार्थजीवन है। वहाँ इन रेखाओंकी अपेक्षा ही नहीं रहती। भक्तिसूत्रकी भाषामें कहिये तो—

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥'

(ना०भ०सू० ४)

'प्रेम-प्रेम'की पुकार करनेसे मनुष्य प्रेमी नहीं बन सकता। प्रेमयज्ञ कहिये या जपयज्ञ कहिये; वे वस्तुत: हमारे समस्त ममत्व और सङ्गकी आहुति माँगते हैं। अत: हमें चाहिये कि हम अपने तमाम दुर्गुणोंको सर्वथा त्यागकर इस पवित्र यज्ञमें अपने सर्वस्वको स्वाहा कर दें—

प्रेमपन्थ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने।
माँहि पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने॥

'यह प्रेमपन्थ पावककी ज्वाला है। इसे देखते ही सर्वस्व स्वाहा हो जानेके भयसे लोग भाग छूटते हैं। पर जो इस प्रेमाग्निमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्हें जरा भी आँच नहीं लगती, वरं महान् सुखकी अनुभूति होती है। हाँ, इस आनन्द प्राप्त करनेवालेको देखकर दुनियाके लोग अवश्य जलते-भुनते हैं।'

यही सर्वोच्च सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। परम कृपालु नन्दनन्दन-आनन्दकन्द हम सबको इस परमपदके अधिकारी बनायें। बोलो श्रीश्यामसुन्दरकी जय!

प्रेम-तत्त्व

१-वह प्रेम प्रेम नहीं है, जिसका आधार किसी इन्द्रियका विषय है।

२-नियमोंके सारे बन्धनोंका अनायास आप-से-आप टूट जाना ही प्रेमका एकमात्र नियम है।

३-जहाँतक नियम जान-बूझकर तोड़े जाते हैं, वहाँतक प्रेम नहीं है, कोई-न-कोई आसक्ति तुमसे वैसा करवा रही है, प्रेममें नियम तोड़ने नहीं पड़ते, परंतु उनका बन्धन आप-से-आप टूट जाता है।

४-प्रेममें एक विलक्षण मत्तता होती है, जो नियमोंकी ओर देखना नहीं जानती।

५-प्रेममें भी सुखकी खोज होती है, परंतु उसमें विशेषता यही है कि वहाँ प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख माना जाता है।

६-प्रेमास्पदके सुखी होनेमें यदि प्रेमीको भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पड़े तो उसमें भी उसे सुख ही मिलता है; क्योंकि वह अपने अस्तित्वको प्रेमास्पदके अस्तित्वमें विलीन कर चुका है।

७-अपना सुख चाहनेवाली तो वेश्या हुआ करती है, जिसके प्रेमका कोई मूल्य नहीं! पतिव्रता तो अपना सर्वस्व देकर भी पतिके सुखमें ही सुखी रहती है; क्योंकि वह वास्तवमें एक पतिके सिवा अन्य किसी पदार्थको 'अपना' नहीं जानती।

८-प्रेमास्पद यदि प्रेमीके सामने ही उसकी सर्वथा अवज्ञा कर किसी नवीन आगन्तुकसे प्रेमालाप करे तो इससे प्रेमीको क्षोभ नहीं होता, उसे तो सुख ही होता है, क्योंकि इस समय उसके प्रेमास्पदको सुख हो रहा है।

९-जो वियोग-वेदना, अपमान-अत्याचार और भय-भर्त्सना आदि सबको सहन करनेपर भी सुखी रह सकता है, वही प्रेमके पाठका अधिकारी है।

१०-प्रेम जबानकी चीज नहीं, जहाँ लोक-परलोकके अर्पणकी तैयारी होती है, वहीं प्रेमका दर्शन हो सकता है।

११-प्रेमके दर्शन बड़े दुर्लभ हैं, सारा जीवन केवल प्रतीक्षामें बिताना पड़े, तब भी क्षोभ करनेका अधिकार नहीं।

१२-प्रेमका आकार असीम है, जहाँ संकोच या सीमा है, वहाँ प्रेमको स्थान नहीं।

१३-प्रेम, प्रेमके लिये ही किया जाता है और इसकी साधनामें बिना विरामके नित्य नया उत्साह बढ़ता है।

१४-प्रेम अनिर्वचनीय है, प्रेमका स्वरूप केवल प्रेमियोंकी हृदयगुफाओंमें ही छिपा रहता है। जो बाहर आता है सो तो उसका कृत्रिम स्वरूप होता है।

प्रेमोपासना और उसके विविध रूप
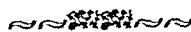
[परमात्मप्रभुको प्रसन्न करनेके लिये हमारे धर्म-शास्त्रोंमें विविध विधियोंका निरूपण हुआ है। विभिन्न मतों एवं सम्प्रदायोंमें भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतियाँ प्राप्त होती हैं तथा आचार्यों और संतोंने भी अपने अनुभवके आधारपर उपासनाके विभिन्न आयाम प्रस्तुत किये हैं, परंतु इन उपासना-पद्धतियोंका जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहस्य है, वह यह है कि वह उपासना अनुरागात्मिका होनी चाहिये। अर्थात् प्रेमसे समन्वित उपासना और भक्ति ही भगवान्‌को प्राप्त कराती है।

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्‌की पूजा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है—'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः॥' (ना०भ०सू० १६) इसी प्रकार श्रीगर्गाचार्यजीने कहा—भगवान्‌की कथा आदिमें अनुराग होना ही भक्ति है—'कथादिष्विति गर्गः॥' (ना०भ०सू० १७) श्रीशाण्डिल्य ऋषिके मतमें आत्मरतिके अविरोधी विषयमें अनुराग होना ही भक्ति है—'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः॥' (ना०भ०सू० १८) परंतु देवर्षि नारदके अनुसार—अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल होना ही प्रेमाभक्तिके लक्षण हैं—'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥' (ना०भ०सू० १९)

इस प्रकार अपने ऋषियोंने प्रेमपूर्ण भक्ति और उपासनाके विभिन्न रूप प्रस्तुत किये। इसके साथ ही रामायण, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें विभिन्न प्रेमी भक्तोंने अपने आत्मीय और लौकिक सम्बन्धोंके आधारपर प्रेमास्पद प्रभुको प्रगाढ़ प्रेम प्रदान कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त की है।

इस प्रकार इस अनुभागमें वात्सल्यप्रेम, पितृप्रेम, सख्यप्रेम, दाम्पत्यप्रेम तथा दास्यप्रेम आदि सम्बन्धपूर्ण प्रेमका निदर्शन हुआ है। भारतकी इस पवित्र भूमिमें ऋषि-महर्षियों, आचार्यों तथा प्रेमी भक्तोंका एक उज्ज्वल इतिहास रहा है, जिन्होंने अपने ढंगसे भगवान्‌की प्रेमपूर्ण उपासना कर प्रभुको प्रसन्न किया है और वे उन्हें प्राप्त भी कर सके। यहाँ इन्हीं प्रेमी भक्तोंकी प्रेमपूर्ण उपासनाके विविध स्वरूपको यत्किञ्चित् रूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है—सं०]

प्रेमोपासना और प्रेमानुभूति

उधर ब्रह्मकी '**एकोऽहं बहु स्याम्**' की अमूर्त वासना स्फुरित हुई, इधर कोटि-कोटि विश्वका रंगमञ्च नाच उठा। अभिनय प्रारम्भ हुआ। पात्र आने-जाने लगे और नाटकमें ऐसे लय हो गये कि उन्हें अपनी स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्ताका भान भी मिट गया। इस विराट् अभिनयकी कोई 'इति' नहीं, कोई ओर-छोर नहीं। पात्रोंका एक-पर-एक ताँता बँधा हुआ है; एक जाता है, दूसरा प्रकट होता है; ऐसे ही अनन्त कालतक चलता रहेगा। सृष्टि और प्रलय पटाक्षेपमात्र हैं—दृश्य-परिवर्तनमात्र हैं। यह अभिनय तो सृष्टि और प्रलयको पार करता हुआ चलता चलेगा।

इस अभिनयमें हम सभी पात्र हैं, सभी अपने-ही-अपने अभिनयमें बेसुध हैं; दूसरेकी ओर देखनेकी सुध ही नहीं है। हाँ, प्रभुकी यह भी एक लीला ही समझिये कि इन व्यक्तिगत स्वतन्त्र अभिनेताओंके क्रिया-कलापमें भी एक शृंखला है, एक प्रवाह मिलता है, अन्यथा सभीके अभिनय अधूरे अथ च अर्थहीन हैं। इन अस्पष्ट क्रियाओंके भीतरसे सूत्रधार अपना लीला-कुतूहल पूरा कर रहा है।

हम सभी इस अभिनयमें इस प्रकार संलग्न हैं कि हम भूल जाते हैं कि इसका कोई सञ्चालक या सूत्रधार भी है या नहीं। यही खूबी भी है इस विश्व-रंगमञ्चकी। सभी अपनी-अपनी परिधिपर नाच रहे हैं, पागल होकर, बेखबर होकर। एककी परिधि दूसरेकी परिधिके स्पर्शमें भले ही आ जाय, परंतु व्यतिक्रम नहीं कर सकती, लाँघ नहीं सकती। इन सारी परिधियोंका एक ही केन्द्र है; वह मूल केन्द्र इन भिन्न-भिन्न परिधियोंसे समान दूरीपर है। वही हमारा सूत्रधार है और वही इस विराट् अभिनयका दर्शक भी है। हमारा सूत्रधार ही हमारा दर्शक है और फिर भी हमारे अभिनयकी एक स्वतन्त्र गति है, स्वतन्त्र संकेत

है, स्वतन्त्र पथ है। कठपुतली नचानेवाला जाने कि उस पुतलीको कबतक किस-किस रूपमें नाचना है—दूसरे समझनेकी चेष्टा भी करें तो व्यर्थ ही है न।

इस रहस्यकी तहमें प्रवेश कीजिये। यह जीवन एक जाग्रत्-स्वप्न है। स्वप्नमें ऐसा प्रतीत होता है कि जो सुख-सम्भोग, राज-पाट, धन-स्त्री, महल-अटारी, पुत्र-कलत्र आदि हम पा रहे हैं, वे सब सर्वथा सत्य हैं। स्वप्न देखनेवालेके मनमें स्वप्न देखते समय यह तनिक भी नहीं भासता कि यह सब कुछ 'पानीका बुलबुला' भी नहीं है—यह सब कुछ हवाई किलेसे भी गया-बीता है। संक्षेपमें, स्वप्न देखनेवालेको स्वप्न देखते समय स्वप्नकी असत्यता तथा भूल-भुलैयाका पता भी नहीं चलता। वह बेखबर 'सपनेकी सम्पत्ति' का सुख लूटने लगता है कि…!!! नींद टूटती है, आँखें खुलती हैं और वह देखता है—उसके सामनेके महल तथा परियाँ पता नहीं कहाँ गायब हो गयीं। वह जागता है और देखता है कि वे सुख-भोग जिन्हें वह स्वप्नावस्थामें ठोस सत्य समझकर हृदयसे चिपकाये था—हवामें काफ़ूर हो गये; बस वही टूटी खाट, वही उजड़ा हुआ छप्पर, वही फटी हुई चादर और बुझी हुई रोशनी! वह जागता है तथा सोचता है—अरे, ये चीजें कहाँ गयीं? वे सुख कहाँ विलीन हो गये?

केसव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे॥
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥

(विनय-पत्रिका १११)

ठीक इसी प्रकार यह जगत् और हमारा जीवन भी है। यह संसार भी एक ठोस पदार्थ-सा प्रतीत होता है। यह जीवन भी एक अखण्ड सत्यका स्वरूप प्रतीत होता है। आज हम चक्रवर्ती हैं—कल निर्वासित अपरिचित साधारण दरिद्र व्यक्ति! आज जो रानी है, कल वही सड़कोंपर झाड़ू देते नजर आती है। करोड़पति दाने-दानेके लिये मुहताज हो जाते हैं; कङ्गालके घर सोना बरस जाता है। हम देखते हैं कि चार मिनटके भूडोलने किसकी कैसी दयनीय स्थिति ला दी। यह सब कुछ हम देखते हैं, फिर भी स्वप्न-का-स्वप्न ही बना रहता है—ख़ुमारी टूटती नहीं। कभी ऐसा नहीं हो पाता कि आँखें खोलकर एक पलके लिये भी तो इस लुभावने स्वप्नके 'उस पार' देखें। कभी ऐसा साहस नहीं होता कि स्वप्नोंके इस जालको छिन्न-भिन्न कर दें।

स्वप्नकी असत्यता तथा सपनेमें पायी हुई सुख-सम्पत्तिकी असारताको सोता हुआ व्यक्ति क्या और कैसे समझे? हम सभी इस जाग्रत्-स्वप्नके शिकार हैं। जाग जाना तो कठिन भी है न। परंतु जो जाग जायगा उसे यह बतलानेकी आवश्यकता ही न होगी कि जो कुछ तुमने देखा-सुना अथवा भोगा था, वे सब व्यर्थ थे—कहीं उनका पता नहीं है। अपनेको होशमें ला देना ही स्वप्न और स्वप्नकी मायाकी व्यर्थता तथा असारता समझ लेना है। नींद टूटती है—वह बेचारा सोचने लगता है, अरे! मैं कहाँ-का-कहाँ लुभाये फिरा, मारा-मारा फिरा। मैं तो न उस महलका राजा ही हूँ, न उस परीका प्रेमी ही। मेरी सत्ता तो सर्वथा भिन्न है। ठीक इसी प्रकार इस जीवनरूपी स्वप्नमें जगत्के वैभव व्यर्थ हैं, असार हैं—यह सब कुछ बतलानेकी आवश्यकता उस व्यक्तिके लिये नहीं है, जो जाग चुका है और जो अपनी वास्तविक सत्ताको समझता है।

इस जाग्रत्-स्वप्नको तोड़कर, आँखें खोलकर चलनेवाले संतोंने हमें बार-बार चेताया है—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है॥

और बार-बार आत्माको उद्बोधित कर उस देशका संकेत किया है, जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥'

(गीता १५।६)

हंसा छाड़ि चलो वा देस जहाँके गये कोइ ना फिरै।

इसी सम्बन्धमें 'एक निर्गुन' भी द्रष्टव्य है—

चलु मन जहाँ बसे प्रीतम हो, बैरागी मोरे या।

लगली बजरिया अगमपुर हो, हीरा रतन बिकाय,
चतुर चतुर सौदा कइले हो, मूरख पछिताय।
साँप छोड़ैलै सँपकेंचुल हो, गंगा छोड़ैली अरार।
हंसा छोड़ैलै आपन गिरिह हो, जहाँ कोई ना हमार॥

रे मन! यहाँ क्या रखा हुआ है जो चिपटे हुए हो, चलो उस देशको चलें जहाँसे फिर इस ऐन्द्रजालिक दुनियामें लौटना नहीं होता। अगमपुरमें हीरे-रत्नोंकी हाट लगी हुई है, जो चतुर हैं वे तो सोच-समझकर सौदा कर लेते हैं, परन्तु जो मूर्ख हैं वे हाथ मलते रह जाते हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केंचुल छोड़ देता है और गङ्गाजी अपनी अरार छोड़ देती हैं, ठीक उसी प्रकार 'हंस' भी इस गृहको छोड़कर चल देता है—यहाँ अपना है ही कौन? रे हंस! उड़ो, चलें उस देशको जहाँ 'प्रीतम' है!

प्रायः सभी संतोंने पर्दा उठाकर सत्य सौन्दर्यको देखा था, इसीको श्रुति कहती है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

सत्यके घड़ेपर सोनेका ढक्कन पड़ा हुआ है। हे सूर्यदेव! इस ढक्कनको हटा दो जिससे सत्य-धर्मको हम देख लें और देखनेके बाद—

'शरवत्तन्मयो भवेत्'

जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्यमें लय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्ममें लय हो जायँ।

इस जाग्रत्-स्वप्नके रहस्यको वही बतला सकता है, जो स्वयं जाग चुका हो। इन्हीं जगे हुए व्यक्तियोंमें रामानन्द, कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, रैदास, पीपा, दादू आदि अनेक संत हुए हैं। इन्होंने जीवनके 'उस पार' को देखा था और संसारकी असत्यताका तीव्र अनुभव किया था तथा अपने इस सान्त जीवनमें अनन्त आनन्दकी स्थापना की थी। हम इनको भक्त या ज्ञानी न कहकर संत कहना ठीक समझते हैं। अब देखना है कि इन संतोंने संसारकी असारता तथा जीवनकी असत्यताका प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अपने हृदयमें प्रभुके प्रति प्रेमकी कैसी अनुभूति प्राप्त की थी। हमें यह न भूल जाना होगा कि साधनाका प्राण है 'अनुभूति'। अनुभूति संवेदन-मूलक होती है और संवेदन है हृदयका धर्म। हृदय नारी है, मस्तिष्क पुरुष। इन दोनोंके पूर्ण संयोगसे ही साधनाका पथ सरल हो सकता है। मस्तिष्कका धर्म है विचार और वह है पुरुष। हृदयका धर्म है संवेदन और वह है नारी। हमें ज्ञानकी आगमें अपने कर्मोंको प[illegible] कर भक्तिके हाथ सौंप देना है। भक्ति ही अप[illegible] श्रीकृष्णार्पण कर सकती है। ज्ञान कर्मोंमें प्रकाश भर [illegible] भक्ति उसमें ताप और जीवन देकर भगवान्‌के चरणोंमें [illegible] आयेगी। ज्ञान विश्वसे वैराग्य बढ़ाता जायगा, भक्ति भगव[illegible] चरणोंमें सम्बन्ध दृढ़ करती जायगी। न कोई कोरा [illegible] होता है, न कोई कोरा भक्त। भक्तमें ज्ञानी और ज्ञानीमें [illegible] छिपा रहता है।

द्वैत और अद्वैत, ज्ञान और भक्तिके बाह्य प्रतिबन्[illegible] हटाकर यदि हम संतोंकी जीवनधारामें प्रवेश करें तो उ[illegible] हृदयमें एक अपूर्व प्रेमकी अजस्र धारा प्रवाहित होते पा[illegible] उन सभीके हृदयमें 'साजनके देश' में प्रवेश करनेकी साईंकी सेजपर पौढ़नेकी तीव्र उत्कण्ठा रही है। सभीने शरीरके भीतर अनन्त छविको घूँघट उठाकर भर [illegible] देखनेकी चेष्टा की है—

घूँघटका पट खोल री, तोहे पीव मिलेंगे॥

× × ×

रंगमहलमें दीप बरत हैं, आसनसे मत डोल रे॥

घूँघटका पट खोल देनेपर 'पीव' तो मिल ही [illegible] अब तो प्रतिपल उनके मधुर दर्शनमें मन माता-माता फि[illegible] है। वह एक पलकी झाँकी आँखोंका चिरन्तन व्यापार [illegible] गयी—अब तो सदा सर्वत्र 'वही वह' दीखता है। इस स[illegible] समाधिका रूप भी कैसा लुभावना है—

जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दंडवत, पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम, सुनौं सो सुमिरन, खाऔं पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं भाव मिटावौं दूजा॥

× × ×

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः[illegible]
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो[illegible]
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्[illegible]

और—

खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि सुंदर रूप निहारौं॥

'जहाँ देखता हूँ वहीं तू-ही-तू है'—अब य[illegible] जो सबको भुलानेका स्वप्नजाल बुनता आ रहा है, [illegible] लिये प्रभुका स्वरूप हो जाता है। बीचका द्वैत मिट [illegible] है। रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते समाधि लगी [illegible]

है—वह समाधि जिसमें पत्नी अपनेको पतिमें सर्वथा लय कर देती है। यही 'रसो वै सः' है। जिस प्रकार पत्नीका पतिमें प्रेम होता है, ठीक उसी प्रकार हमारा प्रेम प्रभुमें हो! समस्त विश्वमें हमारे प्रभुकी रूपश्री बिखरी हुई है और हम सदा उसके बटोरनेमें लगे हैं—

प्रभुजी! तुम चंदन, हम पानी।
जाकी अँग अँग बास समानी॥
प्रभुजी! तुम घन बन, हम मोरा।
जैसे चितवत चंद चकोरा॥
प्रभुजी! तुम दीपक, हम बाती।
जाकी जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी! तुम मोती, हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥

कबीरने अपनेको *'हरिकी बहुरिया'* कहा तथा गोसाईंजीने *'कामिहि नारि पिआरि जिमि'* द्वारा अपनी भक्ति-भावनाको दृढ़ किया। श्रीहरिदासने *'घट घट हौं बिहरौं'* की तीव्र अनुभूतिमें ही साजनके मधुर मिलनका रस पिया था।

'सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गइ बिन तोले॥'

मीराका तो इस सम्बन्धमें कुछ कहना ही नहीं है। वह तो भक्तिमें विह्वल होकर प्रेमके समुद्रमें कूद पड़ी—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥

सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस बिध होय।

फिर भी वह प्रेमसाधनामें प्रवृत्त होकर 'साईंकी सेज'-का सुख पा सकी, प्रेमका अमृत पी सकी।

प्रेमकी यह धारा समस्त विश्वके संतोंमें मिलती है। सभीने इस जीवनको प्राणवल्लभके चरणोंमें चढ़ाकर धन्य किया है। सूफ़ियोंमें तो 'इश्क़ हक़ीक़ी' की वह तीव्र धारा बही कि सारा संसार उनके साजनका प्रतिबिम्ब बन बैठा। जायसी और कुतबनने परमात्माको प्रेमीके रूपमें प्राप्त किया था। उनके लिये भी—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।

इसी प्रेमानुभूतिको एक अंग्रेज भक्तिनके शब्दोंमें सुनिये—

It was a sweetness which my Soul was lost in; it seemed to be all that my feeble frame could sustain. There was but little difference whether I was asleep or awake, but if there was any difference, the sweetness was greatest while I was asleep.

× × ×

'इस माधुर्यमें मेरी आत्मा डूब जाती थी! प्रेमके इस आवेशमें मेरा सारा शरीर बेसँभार हो जाता था। मैं जानती न थी कि मैं जाग रही हूँ या सो रही हूँ। हाँ, जब मैं सोती रहती थी, उस समय प्रेमकी यह बहिया और भी अधिक उमड़ पड़ती थी।'

आधी रात प्रभु दरसण दीनो प्रेम नदीके तीरा।

ये वचन हैं तो मीराके, परंतु प्रेमकी इस दिव्य *अनुभूतिको एक अमेरिकन भक्त महिलाके मुखसे सुनिये—*

It was my practice to arise at mid-night for *purposes of devotion. It seemed to me that God came* to me at the precise time and woke me from sleep in *order that I might enjoy Him.* When I was out of health or greatly fatigued, He did not awake me; but at such times I felt, *even in my sleep, a singular possession* of God. He loved me so much that He seemed to pervade my being, at a time when I could be only imperfectly conscious of His presence. My sleep is some times broken—a sort of half sleep; but my soul seems to be awake enough to know God when it is hardly capable of knowing anything else.

'आधी रात जागकर प्रभुकी प्रार्थना करनेकी मेरी आदत थी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि प्रभुजी ठीक समयपर आकर मुझे जगा देते थे, जिसमें मैं उनके प्रेमका अमृत पी सकूँ! जब मैं अस्वस्थ रहती या थकी होती तो वे जगाते तो नहीं, परंतु सोये-सोये ऐसा प्रतीत होता कि मैं प्रभुकी गोदमें हूँ। मुझे जब उनके आनेका भान भी न होता तो वे आकर मेरी आत्मापर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते थे। रातमें मेरी नींद उचट जाती है, कभी-कभी आधी सोई आधी जागी रहती हूँ, फिर भी उनकी उपस्थितिका भाव बराबर बना ही रहता है।'

संक्षेपमें, हमने देख लिया कि सर्वत्र संतोंने प्रभुके परम प्रेमका रसास्वादन एक अपूर्व ढंगसे ही किया है, जिसे हम भक्तिके शब्दोंमें माधुर्य-भाव कह सकते हैं।

रामभक्तिमें रसिक सम्प्रदायके प्रेमी भक्त

(श्रीसियाशरणजी शास्त्री, व्याकरणदर्शनाचार्य, साहित्यरत्न)

सौन्दर्यसारसर्वस्वं माधुर्यगुणबृंहितम्।
ब्रह्मैकमद्वितीयं तत् तत्त्वमेकं द्विधा कृतम्॥
वेदादिशास्त्रसंवेद्यं सीतारामस्वरूपकम्।
सरहस्यं सतां सेव्यमद्भुतं प्रणमाम्यहम्॥

वेद, उपनिषद् और रामायण आदि शास्त्रोंमें भगवान्‌की लीलाओंका विविध रूपोंमें वर्णन मिलता है। हमारे भक्त कवियोंने इन दिव्य लीलाओंके माधुर्य-भावको अति अनुरागसे प्रकट किया है। यह भाव भगवान्‌से सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेमें श्रेष्ठतम साधन है। इसीलिये *'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'* कहा गया है।

रामभक्तिमें रसिक भावनाके प्रवर्तक आचार्य श्रीअग्रस्वामीने सखीभावकी अनुरागात्मिका शैलीका वर्णन करते हुए इसे लौकिक शृङ्गारसे सर्वथा पृथक् 'अन्तरङ्ग-सम्बन्धपरक' बताया है—

रस शृंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं॥
तुलबे को कोउ नाहिं सोउ अधिकारी जग में।
कंचन कामिनी देख हलाहल जानत मन में॥
जावत जग के भोग रोग सम त्यागे द्वन्दा।
पिय प्यारी रस सिन्धु मगन नित रहत अनन्दा॥
नहीं 'अग्र' अस सन्त के सर लायक जग माँहिं।
रस शृंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं॥

श्रीअग्रस्वामीकी 'ध्यानमञ्जरी' नामसे रोला छन्दकी छोटी-सी रचना है। इसमें 'श्रीरामस्तवराज' में वर्णित भगवान् श्रीरामके स्वरूप और स्तवनको अपनी रसिक भावनामें मिश्रित करते हुए लिखा गया है—

अस राजत रघुवीर धीर आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानन्द वाम दिशि जनककुमारी॥
यह दम्पतिवर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावे।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुँ नहिं पावे॥
सुनि आगम विधि अर्थ कछुक जो मनहिं सुहायो।
यह मङ्गलवर ध्यान यथा मति वरणि सुनायो॥

'रेवासा धाम' (सीकर राजस्थान)-के श्रीअग्रदेवाचार्य जिनका स्थितिकाल विक्रम संवत् १५७० है, रामभक्तिमें मधुर उपासनाके महान् कवि हैं। ये ज्ञानी और ध्यानी तो थे ही, साथ ही 'ध्यानमञ्जरी', 'कुण्डलिया', 'अष्टयाम' और 'अग्रसागर' नामसे इनका विपुल साहित्य उपलब्ध है। ऐसी प्रसिद्धि है कि रेवासामें इस प्रकारका साहित्य सुलभ होनेकी जानकारी होनेपर उसके अध्ययनके लिये प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामचरणदासजीने अपना तिलक बदलकर यहाँपर निवास किया और इस रसिक भावनामें दीक्षित होकर अध्ययन किया था।

भगवत्प्रेमका यह भाव बहुत उच्च कोटिका है। रेवासाके पञ्चम आचार्य श्रीबालकृष्णदेवजी (श्रीबाल अली) अपने 'नेह-प्रकाश' में लिखते हैं—

एकाकी नहिं रमण है चहियतु कोउ सहाय॥
रमत एक ही ब्रह्म है पति-पत्नी द्वय भाय॥

यह भाव उपनिषद्‌के **'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'** तथा ब्रह्मसूत्रके **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** के निर्देशनपर प्रचलित है। नारदभक्तिसूत्रमें भी इन रसिक भक्त कवियोंके लिये अनुरागात्मक विचार (भावाभिव्यक्ति)-की परिकल्पना पुष्ट की गयी है। **'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम-व्याकुलतेति'**[1] (भक्तिसूत्र १९) **तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।**[2] यह आत्मा और परमात्मा अथवा जीव तथा ब्रह्मका माधुर्य-लीलाभाव है। इसमें शृङ्गारके संयोग और वियोग—दोनों भावोंका वर्णन है, परंतु यह लौकिक शृङ्गार भावसे सर्वथा भिन्न है। यह रस तो **'रसो वै सः'** है, जिसके लिये आनन्दस्वरूप प्रेमास्पदकी साकेत धामकी दिव्य लीलाएँ अपेक्षित हैं।

अयोध्याके युगलानन्यशरणजी महाराजने श्रीअग्रस्वामीकी वाणी और सखीभावकी भक्तिमें प्रवेशकी बड़ी सुन्दर व्यवस्था दी है—

रिषि मुनि सिद्ध सुरेश ईश ब्रह्मादि अलखगति।
पुरुषावेस समेत जीव गत होत न तहँ रति॥
जो लौं रंचक गंध पुरुषपन चित्त विराजे।
तौ लौ रहस सुधाम मांझ संबंध न भ्राजे॥

वर्षोंकी नाम-साधनाके अनन्तर ही शृङ्गारके इस

---

१. अपने सब कर्मोको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।
२. उस प्रेमको पाकर प्रेमी उस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।

मधुरभावमें प्रवेश सम्भव है।

हिन्दी-साहित्यमें सखीभावकी इस भगवत्प्रेम-सम्बन्धी धाराका प्रवाह श्रीअग्रअलीसे प्रारम्भ हुआ है। इसमें अवगाहनके लिये उनकी मूल वाणी प्रस्तुत है—

नरवर राम त्रियावर सीता।
या जोरी की उपमा लखि कर धाता निरखि रह्यो भयभीता॥
सोच संदेह करत चतुरानन दूजे काहू सृष्टि चलाई।
उभय लोक पर्यन्त फिरयो पै यह मूरति गति कहू न पाई॥
वेद विचार कियो जब ब्रह्मा नेति नेति इनहीं को गावत।
रामजी इष्ट जगत पति नियन्ता सोई अग्रदास जिय भावत॥

उत्थापन—

उठे दोउ अलसाने परभात।
दसरथ सुत श्रीजनकनन्दिनी सोधे भीने गात।
विमलादिक सखी चँवर ढुरावत हरषि निरखि मृदु गात।
अग्र अली को श्रीरज दीजे सकल भुवन के तात॥

सरयूविहार—

जय जय रघुनन्द चन्द रसिक राज प्यारे।
अङ्ग अङ्ग छवि अनङ्ग कोटि काम वारे॥
विहरत नित सरयू तीर संग सोह सखिन भीर।
सिया अंस भुजा मेलि अवध के दुलारे॥
कोई सखि छत्र लिये व्यजन लिये कोई।
युगल सखी चँवर लिये करत प्राण वारे॥
सुन्दर सुकुमार गात पुष्पमाल सकुच जात।
परसत भयभीत होत रूप के उजारे॥
नखसिख भूषण अनूप यथायोग यथारूप।
कोटि चन्द्र कोटि भान निरखत द्युति हारे॥
मन्द मन्द मुस्करात प्यारी संग करत बात।
देखि देखि अग्र अली तन मन धन वारे॥

मिथिलाभाव (भोजनकुञ्ज)—

मिलि जेवत जानकी रामजी सखी हरषे निरखे मिथिलापुर की॥
पंच सबद बैजन्त्र बजावे गारी गावत पंचम स्वर की॥
कुँवरि कुँवरन गारी देत परस्पर नारी हँसै नृप के कुल की॥
रघुवर मंद मंद मुसकाने सिया लाड़ली घूँघट में मुलकी॥
ये उरझे सुरझे न परे अलि मोहिनी दृष्टि परी उनकी॥
चारों भैया जीमन बैठे राय जनक जोरी निरखी॥
सीस मुकुट मकराक्रत कुण्डल श्याम घटा बिजरी चमकी॥
रतन सिंहासन रघुवर बैठे मोतियन की कलङ्गी झलकी॥
गरुड़ विमान छड़े रघुनन्दन पुष्पन की बरषा बरखी॥
अग्रदास बलि जाय सुनैना बार बार सीतावर की॥

माधुर्यभाव—

चहिअतु कृपा लली सीता की।
नवधा भक्ति ज्ञान का करना नाही संक वेद गीता की॥
षट्मत बेद पुरान पुकारत करत वाद नर वपु बीता की।
झगर करत अरुझे सुरझे नहिं मिटत न एक द्वैत भय ताकी॥
जाकी ओर तनिक हँसि हेरत करत सहाय रामजी ताकी॥
अग्र अली भजु जनकनन्दिनी पाप भण्डार ताप रीता की॥

श्रीअग्रअलीकी दिव्य भावभूमिकी यह अलौकिक भावना श्रीरामोपासक उनके अनुयायियोंमें खूब फूली-फली। रसिक भावनाका यह साहित्य भगवान्‌की लीलाओंसे विशेषकर अन्तरङ्गलीलाविलाससे ओतप्रोत है।

महात्मा झाँझूदासजी (१४९६ से १५७५)-के साथ हरसोली, राजस्थानमें स्वामी गोपालदासजी (सियासखीजी) सखीभावके महान् साहित्यकार हुए हैं। श्रीरामजन्मोत्सव और विवाहोत्सवके उनके कुछ पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

श्रीरामजन्मोत्सव—

बालक चार विराजत नीके।
दोय स्यामल दोय गौर मनोहर ललित वसन भूषण वर टीके।
उभय सजल घन सोभित अद्भुत उभय सरद-से लागत फीके॥
कर लालित चालित रघुनन्दन दमकत मणि कञ्चुक कुलही के॥
नृप सुत च्यार अनूपम अति द्युति जीवन प्राणधन सिया सखीके॥

विवाह-उत्सवकी गारियाँ और विनय—

(१)

वरण कुल क्यूँ बदल्याजी बना।
गोरे दसरथ गौरी कौसल्या रघुवर स्याम घना॥
पतिबरता है मात तुम्हारी जाके सत्यपना।
सियासखी कछु कह न सको म्हे मन सन्देह घना॥

(२)

रघुवंशी बना जाग्यो भाग तिहारो।
जा दिन मुनि संग आये मिथिला सुधरयो सकल जमेजमारो॥
ऐसी दुलहन तुम कहाँ पैहो हिवड़े माहि विचारो।
सूरजवंश उदै भयो तुमरो भाल कपाट उघारो॥
गिनते रहियो स्वास सियाजुके मन मत कीज्यो न्यारो।
सियासखी सियजू के व्याहत धुल गयो कुल को कारो॥

(३)

सियाजी म्हान याद करन्ता रीज्यो।
वालपना हित चितकी वतियाँ, नवल वनासै मत कीज्यो।
सास ससुर गुरु सेवा कर ज्यो ज्यूँ राख त्यूँ रीज्यो।

सियासखी की ये ही बिनती टहल महल की दीज्यो॥

(४)

सियाबाई सुनियो अरज हमारी।
ओरन के तो ओर भरसो मेरे आस तिहारी॥
करणी की तुम ओर न जाज्यो रावरो बिरद बिचारी।
ऐसी न होय सदा या जग में लोग हँसै दै तारी॥
रंग महल में जनाय दीज्यो सुनु प्रिया अवध बिहारी।
सियासखी के सरबस तुम हो ओर नहीं गति नारी॥

इस प्रकार रसिक सम्प्रदायकी मधुर वाणीके कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। सखीभावकी भक्तिका विपुल साहित्य है और इसके लिये जैसी भावभूमि चाहिये उसका वैसा वर्णन भी प्रेमी संतोंने खूब किया है।

रसिक सम्प्रदायके एक अन्य भक्त कवि श्रीरूपसरसजी अपनी 'सीतारामरहस्य-चन्द्रिका' में लिखते हैं—

चिन्मय सीताराम के दिव्य बिहार अनन्त।
यद्यपि बस माधुर्य के दिवस प्रमाण लसन्त॥
दिव्य स्वरूप बिहार यह यहाँ न संसृति लेस।
रूप सरस प्रत्यक्ष जिहि जाहि विमल आवेस॥

ये भाव श्रीमद्भगवद्गीताके '**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः**' का ही अनुसरण करते हैं।

सखीभावकी व्याख्या करते हुए अवधके सिद्ध संत श्रीरूपलताके कृपापात्र श्रीरसिकेन्दुजी लिख

सीतारामाष्टकुञ्जानि वेदगुह्यानि यानि वै
रूपलताज्ञया तानि वक्तुमारभते मुदा

पिय को निज स्वामी कर जाने। सिय सहचरी आपन क

ये भगवत्-रसके प्रेमी कवि अपनी समस्त र प्रति अपने-आपको समर्पित करते हुए कहते हैं-

मासन में अगहन अधिक नवरस में सिणगार
तथा सकल उत्सवन में व्याहोत्सव सुखसार
मेरी तो जीवन जड़ी मगसिर रहसि अपार
रूप सरस या पै किये तन मन धन बलिहार

अन्यत्र श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज रसिक १ सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

नेम सों अवध मिथिला धामको निवास,
धाम संग परिज्ञान रास रंग भीजिये
लीला अनुकरण प्रेम प्रीतम को जान देखि,
आवत उत्थान करि संग लागि जी जिये
अष्टयाम सेवा अंतरंगा बहिरंगा दोऊ,
एक सम मानिकै अभेद चित दीजिये
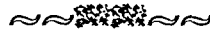
महाराज दशरथका वात्सल्य-प्रेम

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री, रामायणी)

धर्मधुरन्धर, गुणनिधि, ज्ञानी महाराज श्रीदशरथजी एवं महारानी श्रीकौसल्याजी पूर्व जन्ममें जब मनु एवं शतरूपाके रूपमें सृष्टिके आदिपुरुष एवं स्त्री थे, तब उन्होंने साक्षात् विश्वविमोहन परमात्माको ही पुत्ररूपमें प्राप्त करनेके लिये एवं अपने वात्सल्यभावके द्वारा विश्वोपकारक परमादर्श मानवपथप्रदर्शकको धराधामपर उपस्थित करनेके लिये परम पवित्र तीर्थ नैमिषारण्यमें तेईस हजार वर्षोंतक परम कठोर तप किया। परिणामतः उन्हें भक्तवाञ्छाकल्पतरु साक्षात् परब्रह्म परमात्माने दर्शन दिया और तदुपरान्त वरदान भी माँगनेको कहा, तब उन्होंने वरदान माँगा—

चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥

(रा०च०मा० १।१४९)

यहाँ यह संदेह होना स्वाभाविक है कि जिनकी संतानसे सारी सृष्टि भरी हुई है और जो अपने दोनों सुयोग्य पुत्रों—उत्तानपाद एवं प्रियव्रतको समस्त राज्य सौंपकर तपस्या करने आये हैं, वे ही मनु अपनी तपस्या सफलता प्राप्त करके भी भगवान्‌से पुत्र क्यों माँग

वास्तवमें प्रभुको सर्वगुणसम्पन्न देखकर उनवे यह विचार उत्पन्न हुआ कि समस्त मानवोंके मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें एक परम आदर्श नररत्नकी आवश्यकता है, जिसके चरित्रानुगमनसे मानव सर्वतोभावेन कल्याण होगा। परम पितासे कोई भु कोई मुक्ति चाहते हैं, किंतु मनुजीने निजी स्वार्थ व नहीं चाहा। उन्होंने तो परम वात्सल्यसे प्रभुको ही गोदमें खिलाने एवं उनके लालन-पालनका शुभ अव चाहा। प्रभुने भी इस परमोदात्त भावनाकी पूर्तिके जगत्पिता होकर भी पुत्रत्व-स्वीकृतिमें कोई संको किया, अपितु 'एवमस्तु' कह ही दिया; किंतु शतरूपाजीसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होंने भग भक्तोंको प्राप्त होनेवाला सुख, गति, भक्ति, विवेक,

ढंग एवं चरणोंका स्नेह—एक ही साथ छ: वरदान माँग लिये। इसपर मनु महाराजने दुबारा वरदान माँगा कि हमको सेवक-सेव्यभाववाला सम्बन्ध नहीं चाहिये, अपितु सुत-विषयक रति चाहिये—

सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥

(रा०च०मा० १। १५१। ५-६)

'मनि बिनु फनि' वाला वरदान माँगनेपर उन्हें ध्यान आया कि मणिके बिना भी सर्प जीवित रह सकता है।

किंतु जैसे मछली जलके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती, वैसे ही श्रीरामजीके बिना एक क्षण भी मेरा जीवन न रह सके। इसीलिये वरदानमें उन्होंने दूसरा दृष्टान्त दिया—*'जिमि जल बिनु मीना।'*

वास्तवमें मकर, सर्प, दादुर तथा कच्छप—ये सब जलमें रहते हैं एवं इनका जीवन-आधार भी जल ही है, तथापि ये सब कभी-कभी जलके किनारे आकर स्थलमें भी निर्वाह कर लेते हैं; किंतु मछलीका तो जल ही जीवन एवं जल ही गेह है। तभी जलके साथ मात्र इसीका प्रेम सच्चा कहा जाता है—

तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

जाल डालनेपर जल मीनको छोड़कर चला जाता है, किंतु मीन तो अपने प्रियतम जलके विरहमें प्राण छोड़ देता है। इतना ही नहीं, इसके प्रेमकी और गहराई देखें—

मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पिआस।
तुलसी मीन सराहिए मुएहुँ मीत की आस॥

जब मनु-शतरूपा अगले जन्ममें दशरथ-कौसल्या बने तो यह सिद्धान्त उनपर पूर्णरूपसे घटित हुआ।

मनुजीको न मोक्षकी कामना है, न यशकी। वे तो केवल वात्सल्यभावसे ही आनन्द लेना चाहते हैं। विवेकसे वात्सल्यभाव बिगड़ जायगा। अत: विवेक नहीं चाहा। मनु महाराजको भगवान्ने यह आश्वासन तो दिया ही कि दशरथ बनकर जब आप अवधपुरीके राजा बनेंगे, तब हम अपनी शक्ति एवं अंशोंसहित आपके यहाँ अवतरित होंगे, साथ ही उनकी दूसरी कामनाको भी पूर्ण करनेका आश्वासन प्रभुने प्रदान कर दिया।

यद्यपि यह बात प्रभुकी प्रतिष्ठाके अनुरूप नहीं थी। जिनके वे पुत्र बने, वे पिता उनके विरहमें प्राण दें, यह किसी भी प्रकारसे प्रभुके अनुकूल है क्या? किंतु भक्त इसी बातपर हठकर बैठा। वह अपने प्रियतमके वियोगमें ही प्राण छोड़नेकी अभिलाषा करता है और—

जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

आगे चलकर दोनों ही सम्बन्धोंका पूर्णरूपसे निर्वाह हुआ। इसको सभी निकटस्थ जनोंने स्वयं प्रमाणित किया। महारानी कौसल्याजी भरतजीसे कहती हैं—

जिऐ मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

महाराजने वास्तवमें समझा कि श्रीरामके लिये कैसे जीना एवं मरना चाहिये—

जीवन मरन सुनाम जैसें दसरथ राय को।
जियत खिलाए राम राम बिरहँ तनु परिहरेउ॥

(दोहावली २२१)

महारानी कैकेयीजी भरतजीसे कहती हैं—

तात राउ नहिं सोचै जोगू। बिढ़इ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू॥
जीवत सकल जनम फल पाए। अंत अमरपति सदन सिधाए।

गुरु वसिष्ठजी भरतजीसे कहते हैं—

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥
बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥

गुरु वसिष्ठजी तो बहुत ऊँची बात कह रहे हैं। पहले भी बड़े-बड़े राजा हुए; किंतु दशरथजी-जैसा न कोई हुआ, न इस समय कोई है और न तो आगे ही कोई होगा। भले ही श्रीराम प्रशंस्य राजा होंगे, किंतु महाराज दशरथजीकी बराबरी वे नहीं कर सकेंगे; क्योंकि श्रीराम-जैसा पुत्रका पिता होना तो दशरथजीके ही भाग्यमें था। महाराज दशरथ अनुपम हुए। इसी बातको मा भी कह रही हैं। जब बालरूप प्रभुको परम प्रसन्नतासे गोदमें लेकर मा उछाल रही हैं तो अति प्रसन्नतामें मासे प्रभुने पूछा मा! तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो रही हो। माने कहा—तुम्हारा सुन्दर मुख देखकर। प्रभुने कहा—वह सुन्दर मुख मुझे भी दिखाओ। माने कहा—मेरे-जैसा तेरा भाग्य नहीं है।

सुन्दर मुख मोहिं देखाउ इच्छा अति मोरे।
मो समान पुण्यपुंज बालक नहिं तोरे॥

वास्तवमें—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥

जिन प्रभुके अंशसे त्रिदेवोंकी उत्पत्ति हुई है, वे ही राम

जब दशरथजीके पुत्र हैं, फिर उनके भाग्यका क्या कहना?

तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥

चार प्रकारसे ही लोग बड़भागी माने जाते हैं—यशस्वी होनेसे, राजा होनेसे, गुणी होनेसे और योग्य संतान होनेसे। ये चारों महाराज दशरथमें पराकाष्ठाको प्राप्त हैं—

मंगलमूल रामु सुत जासू। जो कछु कहिअ थोर सबु तासू॥

जब श्रीदशरथरूपी मीनको चौदह वर्षके वनवासरूपी जालमें पड़नेपर, श्रीरामरूपी जल, अयोध्यारूपी समुद्रमें छोड़कर चला गया तो दशरथरूपी मीन व्याकुल हो गया—

'प्रान कंठगत भयउ भुआलू।'

फिर महारानी श्रीकौसल्याजीने जब श्रीरामजलरूपी मिलनकी आशा दिलायी—

जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥

—तो ऐसा सुनते ही महाराज दशरथरूपी मीनको थोड़ा जल मिला—

प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि॥

किंतु जब सुमन्त्रजीने श्रीरामके न आनेका समाचार महाराज दशरथको सुनाया तो उन्होंने तुरंत ही जीवनकी बची-खुची आस भी छोड़ दी और विलाप करने लगे—

हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।

जब लङ्का-समराङ्गणमें राक्षसोंका संहार कर श्रीराम-लक्ष्मण परम प्रसन्न मुद्रामें खड़े थे। सभी ब्रह्मा आदि देवगण पुष्पवर्षा, नृत्य, गायन और वादन प्रस्तुत करनेके ही साथ स्तुति करते हैं। ब्रह्मा स्तुति कर ही रहे थे कि उसी समय महाराज दशरथ भी वहाँ आये। श्रीरामको देखकर उनके नेत्रोंमें प्रेमाश्रुओंका जल छा गया—

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए। तनय बिलोकि नयन जल छाए॥

यहाँ *'प्रभुहि बिलोकि'* न कहकर *'तनय बिलोकि'* कहा गया है। वाह रे सुतवात्सल्यकी पराकाष्ठा! दशरथजीका वात्सल्यभाव अभी भी स्थिर ही है। प्रभुने भी पूर्वकी भाँति उन्हें तात कहकर पुकारा और प्रणाम किया—

अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा॥

अन्तमें श्रीराम कहते हैं कि हे तात! यह सब आपके पुण्योंका ही प्रभाव है, जो मैंने अजेय राक्षसराजको जीत लिया। पुत्रके वचन सुनकर उनकी प्रीति अत्यन्त बढ़ गयी, नेत्रोंमें जल छा गया और शरीरमें रोमाञ्च हो आया—

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यों अजय निसाचर राऊ॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढ़ी। नयन सलिल रोमावलि ठाढ़ी॥

पिता-पुत्र दोनों अतिशय आनन्दित हो गये। धन्य है इस वात्सल्यको!

महाराज दशरथजीका पश्चात्ताप एवं निर्वाह

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥

यदि श्रीराम परम पितृभक्त हैं तो महाराज श्रीदशरथजी भी अनुपम वात्सल्ययुक्त पुत्र-प्रेम-निर्वाहक हैं।

सर्वगुणसम्पन्न श्रीराम-जैसे पुत्रने यदि अपने माता-पिताकी आज्ञासे परम प्रसन्नतापूर्वक क्षणभरमें अयोध्याका सुरदुर्लभ साम्राज्य त्यागकर चौदह वर्षके लिये वनवास स्वीकार किया तो परम वात्सल्यमय महाराज श्रीदशरथजीने भी ऐसे पुत्रके विरहमें क्षणमात्रमें प्राण ही त्याग दिया। यदि राम आदर्श पिता-भक्त हैं तो महाराज श्रीदशरथजी भी परमादर्शमय पुत्रवत्सल हुए। उन्होंने सत्यकी रक्षाके लिये प्रियपुत्रको वनवास दिया एवं अपने प्रणकी रक्षा प्राण देकर की—

करत राउ मनमों अनुमान।
सोक-बिकल, मुख बचन न आवै, बिछुरे कृपानिधान॥
राज देन कहि बोलि नारि-बस मैं जो कह्यो बन जान।
आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान॥
ऐसे सुतके बिरह-अवधि लौं जौ राखौं यह प्रान।
तौ मिटि जाइ प्रीतिकी परिमिति, अजस सुनौं निज कान॥
राम गए अजहूँ हौं जीवत, समुझत हिय अकुलान।
तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥

(गीतावली, अयोध्या० ५९)

श्रीरामसे वियोग तो अवधपुरवासीजन, महारानी कौसल्या, कैकेयी, सुमित्रा आदि सभीका हुआ, किंतु श्रीरामके वियोगमें प्राणका त्याग किसने किया? उसके आदर्श तो एकमात्र महाराज श्रीदशरथजी ही कसौटीपर खरे उतरे, जिनकी वन्दना गोस्वामीजीने *'सत्य प्रेम जेहि राम पद'* के रूपमें की है—

बंदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

ऐसा वात्सल्य एवं विशुद्ध प्रेम विश्वमें कहाँ मिलेगा?

प्रेममूर्ति भरत एवं महर्षि भरद्वाज

(डॉ० श्रीओ३म् प्रकाशजी द्विवेदी)

भक्तशिरोमणि कालजयी कवि तुलसीदासजीने अपनी अमर कृति 'श्रीरामचरितमानस' में जिन सात्त्विक उत्कृष्ट पात्रोंका मनोहारी, लोकमङ्गलकारी चरित्र-चित्रण किया है, निःसंदेह उन सभी पात्रोंमें परम पावन, निर्मल, निष्कलंक, उज्ज्वल आदर्श सर्वोत्कृष्ट चरित्र श्रीभरतजीका है। महाकविने प्रार्थनाके रूपमें उनका वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

(रा०च०मा० १।१७।३-४)

श्रीभरतजीके नियम, व्रत और श्रीराम-प्रेमका वर्णन अकथनीय है। श्रीनारदजीने **'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'** (ना०भ०सू० ५१)-में कहा है। जैसे गूँगा व्यक्ति गुड़के मिठासका वर्णन नहीं कर सकता केवल अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रेमका स्वरूप अनुभवरूप है। ऐसा प्रेम विरले लोगोंके हृदयमें प्रकाशित होता है। जिसके हृदयमें ऐसा उत्कृष्ट प्रेम प्रकट होता है, उसका हृदय प्रकाश-पुञ्जसे भर जाता है। मुखमण्डलमें हृदयका तेज झलकने लगता है। उसकी दृष्टि तथा बोलनेकी मधुर ध्वनिमें अन्तर आ जाता है। यह ठीक ही कहा जाता है—'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि', 'जैसी ध्वनि वैसी प्रतिध्वनि'। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हमारी श्रद्धासे ही हमारे जीवन-दर्शनका निर्माण होता है। भक्तिकी इस विशेषताको हम श्रीभरतजीके जीवन-दर्शनमें पाते हैं। वे निष्काम कर्मयोगी एवं स्थितप्रज्ञ भक्तशिरोमणि हैं। वैदिक रीति-रिवाजके पूर्ण नैष्ठिक अनुयायी हैं। उपनिषद्-वाणी है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

(कठ० २।३।१४)

अर्थात् जब साधकके हृदयमें स्थित समस्त कामनाएँ स्वतः छूट जाती हैं, तब वह मरण-धर्मा मानव अमरत्वको प्राप्त कर लेता है और यहीं इस जीवनमें ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है। यह आचरण भरतजीके जीवनमें प्राप्त होता है। उनमें कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। उनकी भक्तिके प्रवाहमें कर्मकी उपेक्षा नहीं है। अपनी कुल-परम्पराके अनुसार संकट पड़नेपर श्रीशिवजीका पुण्य स्मरण उनके जीवनका सहारा है—

बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

(रा०च०मा० २।१५७।७-८)

ननिहालसे लौटनेपर यहाँका सब समाचार सुनकर उनका हृदय विदीर्ण हो गया। मा कौसल्या एवं गुरु वसिष्ठजीने अयोध्याकी सभामें उन्हें बहुत प्रकारसे समझाया, परंतु उनकी हार्दिक अभिलाषा—सात्त्विक निर्णय एक ही रहा—

मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी॥
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

(रा०च०मा० २।१८२।६; २।१८३।२)

श्रीभरतजीके हृदयमें **'तत्सुखसुखित्वम्'** (ना०भ०सू० २४)-की भावना बलवती है। वे रघुकुलकी परम्पराका पूर्ण निर्वाह करनेके पोषक हैं। भगवान् श्रीरामको वनसे लौटाकर राजगद्दीपर बैठानेके प्रबल समर्थक हैं। गुरु वसिष्ठजी भी राज्य करनेकी नीतिगत बात भरतजीके हृदयमें नहीं बैठा सके। भरतजी चित्रकूटकी यात्रापर सबके साथ चल पड़े। इस यात्राका जितना सुन्दर वर्णन तुलसीदासजीने किया है, वैसा मनोहारी साङ्गोपाङ्ग भरत-चरित्रका वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। इसका प्रमुख कारण है भरतजीके जीवन-दर्शनके साथ तुलसीदासजीकी तन्मयता, अनन्यता एवं एकात्मकता तथा भरतजीके साथ तादात्म्यकी अनुभूति। इसीलिये अयोध्याकाण्डकी फलश्रुति (छन्द ३२५)-में वर्णन किया गया है—

कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

इस कठिन कलिकालमें तुलसीदासजी-जैसे भक्तोंके हृदयको प्रेमभक्ति-रससे सींचनेवाला, पूर्ण तृप्ति एवं संतोष प्रदान करनेवाला, हृदयमें रामभक्ति उत्पन्न करनेवाला, भरतजीसे बढ़कर अन्य कोई नहीं है, जिसने भवरससे विरत करके भक्तोंके हृदयमें भक्ति-रसकी सुरसरिता

प्रवाहित कर दी है।

भक्तिका रूप है परम प्रेम। यह भक्ति हृदयको बल प्रदान करते हुए उसे निर्मल बनाती है। ईश्वर-प्रेमकी ओर प्रीति एवं रुचि बढ़ाती जाती है।

इस प्रेम-भक्तिके संदर्भमें श्रीभरतजी एवं श्रीभरद्वाजजीके सुसंवादका किञ्चित् आनन्द-रसास्वादन यहाँ उपस्थित है—

तीर्थराज प्रयागकी तीर्थस्थली चारों फल प्राप्त करनेकी तपस्थली एवं प्रेमस्थली है। परंतु भरतजीका त्याग महान् है। भरत-चरित्र हमें सर्वत्यागकी शिक्षा देता है। उनका हृदय निर्मल है। सांसारिक विषय-भोगोंकी उन्हें कोई इच्छा नहीं है। इसीलिये उन्होंने पिताके द्वारा प्राप्त राज्यको त्याग दिया है। तपमें उन्होंने स्वयंको जलाकर स्वर्णके समान तेजयुक्त बना लिया है। वे इन्द्रियोंके वशमें नहीं हैं। इसीलिये तेजस्वी हैं। वे केवल भगवान्‌को हृदयसे देखने एवं अपनी भावनाएँ व्यक्त करनेको लालायित हैं। वे त्रिवेणी-स्नान—प्रार्थनाके बाद भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचते हैं। मा त्रिवेणीसे प्रार्थना करते हैं कि मा! मेरी रति, मेरा प्रेम भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सदा बना रहे। भरतजी जब भरद्वाजजीके आश्रममें पहुँचते हैं तो सभी प्रयागवासी, सभासद एवं भरद्वाजजी आह्लादित होकर उनका स्वागत-सम्मान करते हैं। भरद्वाजजी कहते हैं—

अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥

हे भरत! राज्यको स्वीकार करना अच्छा था। पर नहीं स्वीकार किया यह और अधिक अच्छा किया। पिताकी आज्ञाका पालन धर्म है, पर श्रीराम-प्रेमहित सर्वस्व और लौकिक धर्मोंका त्याग करना सबसे श्रेष्ठ है। यह परम परमार्थ है। यह विशेष धर्म है। यह उपनिषदोंका श्रेयस् मार्ग है। श्रीभरद्वाजजी कहते हैं—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

हे भरत! तुम श्रीराम-प्रेमके साक्षात् अवतार हो। तुम्हें श्रीरामभक्ति-रस सिद्ध नहीं करना है। तुम स्वयं ही रामभक्ति-रस-सिद्ध हो। रामभक्ति और श्रीराम एकरूप हैं, किंतु श्रीभरतजीकी केवल एक ही चिन्ता थी—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥

भरतजीपर भरद्वाजजीकी सान्त्वनाके मृदु वचनका गहरा प्रभाव पड़ा—

'सब दुखु मिटिहि राम पग देखी॥'

श्रीभरतजीके अन्तःस्फूर्तिमें अंगारमें राखके समान चिन्ताकी राखकी पर्त जो पड़ रही थी वह दूर हुई और भरतजी पुनः जलते अंगारेके समान तेजपूर्ण हो गये; क्योंकि श्रीरामभक्ति अनुपम सुखमूल है—

'भगति तात अनुपम सुखमूला।'

श्रीभरतजीका पावन उपदेश हम सबके लिये है कि इस अनित्य संसारमें दुःख प्रदान करनेवाले विचारोंको समझकर उनसे पूर्णतया मुक्त होनेका प्रयत्न करें और जितनी जल्दी हो सके अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके भगवान्‌के शरणमें जायँ। हमें सांसारिक इच्छा, अहंकार आदि दुर्गुणोंसे मुक्त होना है। सांसारिक चाह हमें अशान्त करती है। वर्तमानमें रहनेपर, सब ईश्वरकी कृपा समझनेपर हम जीवनके केन्द्रसे जुड़ जाते हैं, अस्तित्व ईश्वरीय शक्तिके सम्पर्कमें आ जाते हैं, कुतर्करूपी विचारोंकी परिधिसे हटकर ईश्वरके समीप हो जाते हैं। अतः आवश्यक है कि प्रेम-पथपर चलनेका संकल्प करें। जीवको परमात्मासे मिलानेका प्रेम सेतु है। सदाचारी ही प्रेम-सेतुका पथिक होता है। अतः दैवी गुणसम्पन्न बनें।

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥

(बरवै० ६३)

अनुराग तभी होगा जब हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होंगी। बाह्य कामनाएँ जब छूट जायँगी तभी हमारे अन्त:करणकी ऊर्जा जागेगी। इन्द्रियोंमें तेज, बलकी प्राप्ति होगी। हम ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करेंगे।

श्रीभरद्वाजजी भरतजीसे कहते हैं—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥

(रा०च०मा० २।२०९।१-२, ४-५)

हे तात! तुम्हारा निर्मल यशचन्द्र निवृत्ति एवं प्रवृत्ति-मार्गके सभी भक्तोंको सुख देनेवाला है। कुमुद एवं चकोररूप भक्तोंके लिये नवीन चन्द्रमाकी भाँति सुखकर है। जैसे कुमुद तनसे एवं चकोर मनसे प्रसन्न होता है, वैसे ही श्रीरामभक्त आपका निर्मल यश गाकर तन-मनसे सुखी, स्वस्थ एवं प्रसन्न होंगे। भक्तोंके लिये आप प्राणस्वरूप होंगे। प्राकृत चन्द्र तो घटता-बढ़ता है। विष इसका भाई है। यह कलंकी है। प्राकृत चन्द्रमें बहुत-से दोष हैं, परंतु तुम्हारा यश-चन्द्र सबको सुखद होगा। सदा तुम्हारे स्मरणसे सबके हृदयमें प्रेम बढ़ता रहेगा। तुमने अनुपम कीर्तिरूपी चन्द्रमाका निर्माण किया है। तुम्हारे उज्ज्वल, निर्मल चरित्रसे प्रेमामृतकी प्राप्ति होगी। तुम्हारे पास प्रेमरूपी पारस है, जहाँ दरिद्रता पहुँच ही नहीं सकती है। तुम व्यर्थ मानसिक चिन्तनरूपी दरिद्रतासे बोझिल हो रहे हो। तुम्हारे पास जो प्रेमरूपी पारस है, वह भविष्यमें भी अनेक पीढ़ियोंतक भक्तोंको स्वर्णमय बनाता रहेगा। हम उदासीन साधु हैं, वनमें रहते हैं, हम झूठका सहारा नहीं लेते हैं। मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि तुम्हारा जीवन परम धन्य है। तुम्हें भगवान् श्रीराम, लक्ष्मण और सीता प्रेमसे स्मरण करते रहते थे। वे त्रिवेणीमें डुबकी लगाते समय स्मरण करके पुलकित हो जाते थे। उनकी आँखें नम हो जाती थीं। ऐसा सौभाग्य और किसका है? जिसे स्वयं भगवान् स्मरण करें।

तुम्हारा यश परम यशस्वी है, जिसमें एक-से-एक बढ़कर दिव्यातिदिव्य पूर्ण आत्माओंने जन्म धारण कर संसारका परम कल्याण किया है। राजा भगीरथ अपने अथक प्रयाससे गङ्गाको पृथ्वीपर लाकर संसारका आजतक परम कल्याण करते आ रहे हैं। राजा दशरथजीकी पूर्वजन्मकी तपस्यासे द्रवित होकर स्वयं भगवान् भाइयोंसहित उनके यहाँ अवतरित हुए। वे सारे संसारका दु:ख दूर करते हैं, उन्हीं दीनदयाल प्रभुके मङ्गल दर्शनसे तुम्हें परम शान्ति प्राप्त होगी। सब दु:ख दूर हो जायँगे। भगवान् श्रीरामके दर्शनका परम फल तुम्हारा दर्शन है। सारे संसारके पालनहार भगवान् ही हैं। उन्हींके बनाये विधानसे यह जग संचालित हो रहा है, अत: तुम्हारा चिन्ता करना व्यर्थ है।

भगवान् श्रीरामके वनगमन-विरहने भरतजीके कोमल हृदयको उद्वेलित कर दिया और उनके हृदयमें छिपा हुआ प्रेमामृत प्रकट हो गया। भगवान्‌ने अपने विरहरूपी मन्दराचलसे भरतके हृदयको मथकर प्रेमामृत प्रकट किया, जो संसारके प्राणियोंके लिये, साधु-संतों तथा देवताओंके लिये परम हितकारी हुआ। आज भी हम भरतजी-श्रीरामजीके अमर प्रेमको स्मरणकर प्रेमामृत-समुद्रमें गोते लगाते हैं—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

(रा०च०मा० २।२३८)

अमृत तो देवलोकमें भी है, चन्द्रमामें भी है, परंतु देवलोकका अमृत पीनेके बाद पुण्य क्षीण होनेपर प्रभाव समाप्त हो जाता है। चन्द्रमाका अमृत दुर्लभ है। रात्रिमें जीव-जन्तुओंको, लताओं तथा वृक्षोंको कठिनाईसे प्राप्त होता है अर्थात् सर्वसुलभ नहीं है, परंतु श्रीभरतजीके गम्भीर हृदयरूपी समुद्रसे प्रकट प्रेमरूपी अमृत आज भी सर्वसुलभ है। जो स्मरण करेगा, सत्संगसे चरित्र-श्रवण करेगा—वह प्रेमरूपी अमृत प्राप्त करेगा।

भरतजीके प्रेमका वर्णन करते-करते भरद्वाजजीके हृदयमें प्रेमरस उमड़ पड़ा। भरतजीके प्रेम-समुद्रमें मुनिजी डूबने लगे। वे उस प्रेमरसमें इतने लीन हो गये कि जैसे कुछ क्षणके लिये समाधि-सी लग गयी। यही भक्ति-रस भक्तोंके हृदयमें रसरूपमें व्यक्त होता रहता है। यह रस उच

होता है तो बाहर-भीतरका ज्ञान नहीं रहता है। कूटमें भी यही रसदशा देखनेको मिलती है, जब श्रीराम भरतजीका मिलन होता है—

पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

इस मिलनमें भक्त और भगवान्के हृदयकी दूरी प्त हो गयी। न बाहरकी सुधि रही, न भीतरका ज्ञान कुछ क्षणोंके लिये दोनों भक्तिभाव-रसमें डूब गये। भी श्रीभरतमिलाप-लीलाका प्रभाव दर्शकोंपर पड़ता भक्तोंके हृदयमें पवित्र लीलाको देखकर भक्ति-रस ड़ने लगता है। हृदय और मन पूर्ण तन्मय एवं रसमग्न जाता है।

प्रेममूर्ति भरतजी एवं महर्षि भरद्वाजजीका सुसंवाद रे शुष्क एवं नीरस हृदयमें निर्मल पावन प्रेमभक्तिकी णी बहानेका अजस्र अमृत स्रोत है, जिसकी निर्मल वती धारामें हमारा कलिकलुष सब बह जाता है। इसके स्वादसे हमारे हृदयमें पूर्ण आनन्द सदा बना रहेगा। हमारा नसिक रोग एवं हृदयका अवसाद निर्मूल होगा। धीरे-धीरे भक्तिके मार्गपर यदि हम अनवरत रूपसे बढ़ते रहेंगे तो क-न-एक दिन निःसंदेह हम पूर्णताको अवश्य प्राप्त कर गे। पूर्णता भगवान्का स्वभाव एवं स्वरूप है।

भगवान् श्रीरामका यश सूर्य है। भरतजीका यश न्द्रमा है। भरतजीके हृदयमें सूर्य एवं चन्द्रमा दोनोंका वास है। जो भक्तोंके हृदयमें समरस आनन्दका दान करता रहता है। यह संसारके भक्तजनोंमें अमृतत्वरूप शीतलता, तेज एवं प्रसन्नताका दान करता रहेगा। हमारे हृदयपर पड़े हुए मल-विक्षेप-आवरणको सर्वथा हटाकर अपने निर्मल यशकी सुगन्धिसे उसे सदा जीवन्त एवं प्राणवान् बनाता रहेगा और हमारे अन्तस्में शान्त, शुद्ध, सत्त्व, शिव-चेतनाका समरस बोध जाग्रत् करेगा—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

अतः कालका भरोसा न करके तन्मय होकर सर्वथा भजनीय भगवान्के शरणागत हो जाय। उनके कमलवत् चरणोंमें अपने मनको मधुकर बना दें। भगवान्की इच्छाको अपनी इच्छा बना दें। भगवान्की भक्ति स्वयं फलरूपा है। वह भक्तके हृदयमें शान्ति, तृप्ति, संतोष और आनन्दका अनुभव कराकर हृदयको ऊर्जा तथा शक्ति प्रदान करती है। अतः शास्त्रोंके मङ्गल, पावन, शिव उपदेश '**प्रेमैव कार्यम्**' (प्रेम ही करणीय है) तथा '**भक्तिरेव गरीयसी**' (भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।)-के मङ्गल उद्घोषोंका श्रवण करें। जीवनमें दृढ़ आचरण करें एवं वर्तमान जीवनको दिव्यातिदिव्य, धन्य एवं कृतार्थ बनायें।

तुलसीदासजीके इस अमृत-उपदेशको सदा स्मरण रखें—

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥
कहत सुनत सति भाउ भरत को। सीय राम पद होइ न रत को॥

(रा०च०मा० २।३०४।१-२)
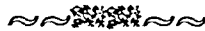
मानसमें निषादराज और केवटके भगवत्प्रेमका आदर्श

(डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्० ए० (हिन्दी), पी-एच० डी०)

प्रेम ईश्वरतक पहुँचनेके लिये, उसे पानेके लिये सहज साधन है। प्रेमका उद्भव हृदयकी भूमिपर होता है, जहाँ रागके साथ आरम्भ होकर भगवत्प्रेम जगनेके बाद सांसारिक वस्तुओंके प्रति जगे भावका लोप हो जाता है, द्वेष मिट जाता है और सहज-स्नेहकी कामना भगवत्प्रेमके रूपमें अनुभूत होने लगती है। वस्तुतः परमात्माका प्राकट्य प्रेमसे ही सम्भव है। प्रेम लोक-जीवनमें उत्कर्ष देता है और पारलौकिक जीवनमें अ[illegible] एवं शाश्वत शान्ति भगवत्प्रेम विचारणीय है।

'रामचरितमानस' के लघुपात्रोंकी कोटिमें 'निषादराज' हैं और परम लघुपात्रोंकी कोटिमें 'केवट'। 'मानस' में दोनोंका प्रसंग राम-वन-गमनके क्रममें शृंगवेरपुरकी गङ्गाके किनारेसे प्रारम्भ होता है। दोनों सजातीय हैं और भगवान् श्रीरामके परम स्नेही, लेकिन दोनोंके भगवत्प्रेमका अलग-अलग स्वरूप है। निषाद राजा हैं और चक्रवर्ती महाराज दशरथके अधीनस्थ हैं। [illegible]

वे उनके भोजनका, ठहरनेका प्रबन्ध करते हैं। श्रीरामके निकट पहुँचकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करते हुए वे भेंटकी सामग्री सामने रख देते हैं और प्रेमपूर्वक श्रीरामके
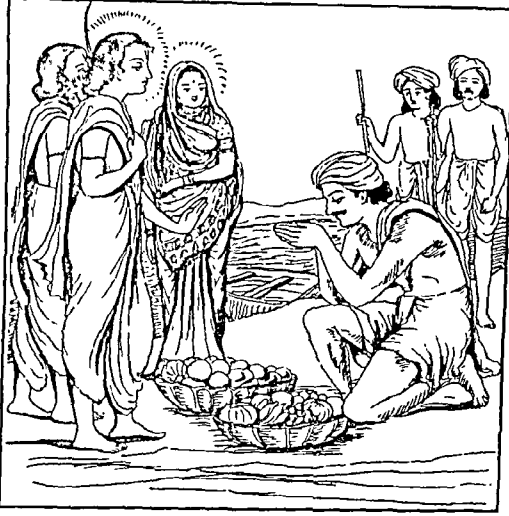
मुखारविन्दकी ओर देखने लग जाते हैं। श्रीराम उन्हें अपने निकट बैठाकर उनकी कुशल पूछते हैं। तब निषादराज मात्र इतना ही उत्तर देते हैं—

नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भागभाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥

निषादराज श्रीरामके साथ गङ्गा पार होते हैं। लौटनेके लिये श्रीरामके आग्रहपर वे साथ चलनेकी अनुमतिके लिये अनुरोध करते हैं और स्वीकृति पाकर चित्रकूटतक साथ जाते भी हैं। श्रीभरतके गङ्गा पार होनेके समय इनका प्रतिरोध होता है और मित्रभावकी सूचना पाकर '*भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥*' और प्रत्यागमनके समय पुष्पक विमान शृंगवेरपुरके निकट गङ्गातटपर पहुँचता है तथा वह समाचार निषादराजको मालूम होता है। तब वे प्रेम-विह्वल होकर सीतासहित श्रीरामके चरणोंमें गिर पड़ते हैं। श्रीराम उन्हें प्रेमसे उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं—

लियो हृदयँ लाइ कृपा निधान सुजान रायँ रमापती।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती॥
अब कुसल पद पंकज बिलोकि बिरंचि संकर सेब्य जे।
सुख धाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते॥

(रामचरितमानस ६।१२१ छन्द १)

फिर निषादराज अयोध्या आकर राज्याभिषेकका आनन्द उठाते हैं। यह है निषादराजका भगवत्प्रेम।

भगवत्प्रेमके फलस्वरूप निषादराजको श्रीरामका प्रसाद मिला। वे परम पावन समझे जाने लगे—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

पुनः चित्रकूटमें—

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई॥

× × ×

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदयँ बड़ बिरह बिषादू॥

प्रत्यागमनके समय गङ्गा-तीरपर—

प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥

अयोध्यासे विदाके समय—

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥

× × ×

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

निषादराज उच्च कोटिके भगवत्प्रेमी भक्त हैं। 'नवधा भक्ति' के कतिपय गुण उनके भगवत्प्रेममें संनिहित हैं उस भगवत्प्रेमका यथोचित प्रसाद इन्हें मिला भी और जे राज्योचित भी था।

अब केवटका भगवत्प्रेम भी विचारणीय है। केवटके श्रीरामसे पूर्वका कोई दैहिक परिचय नहीं और न उसकी कोई भूमिका है। गङ्गा-पार होनेके लिये राम-लक्ष्मण और सीता गङ्गा-तीरपर खड़े हैं। निषादराज भी साथ हैं, परंतु उनकी कोई भूमिक नहीं है। श्रीराम गङ्गा-पार होनेके लिये केवटसे नाव माँगते हैं वह नाव लानेसे इनकार कर देता है। उसने सुन रखा है—

चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई

केवट गरीब है। उसकी जीविकाका एकमात्र नाव ह सहारा है। बच्चे भी छोटे-छोटे हैं और नौका चलानेके सिव उसे और कुछ आता भी नहीं है। गरीबी इतनी है कि कह नाव स्त्रीमें बदल गयी तो क्या ठिकाना होगा जीवनका—

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवटकी जाति, कछु बेद न पढ़ाइहौं।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू,
हौं दीन वित्तहीन, कैसें दूसरी गढ़ाइहौं॥

(कवितावली २।८

उसे आशंका है—

परसें पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यों समुझाइहौं जू॥
तुलसी अवलंबु न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौं जू।

(कवितावली २।६)

इसलिये—

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

विचित्र है यह सेवकाई। मजदूरको मजदूरी नहीं चाहिये। उसे कोई कृपा भी नहीं चाहिये। वह मात्र नावकी रक्षाके लिये चरण धोना चाहता है और धोकर रहता है। यह है विश्वासकी दृढ़ता, प्रेमकी निष्ठा। केवटने प्रसादके रूपमें कुछ नहीं लिया। लेता भी कैसे? केवट रामकी महत्ताको समझता है। तभी तो केवट कहता है—

तुम हो तरनि कुल पालन करनहार
हमहूँ तरनि ही के पालन करैया हैं।
भीम भवसागरके सुघर खेवैया आप
हमहूँ सदैव देवसरिके खेवैया हैं।
कौतुकी कुपंथनिको पार करवैया नाथ
हौं तो जगपावनिको पार करवैया हैं।
हम तुम भैया एक कर्मके करैया राम
केवट सो केवट न लेत उतरैया हैं।

(मानसपीयूष, पाद टिप्पणी, अयो०)

इतना ही नहीं संसारमें ऐसे बहुत-से पेशे हैं, जिनमें लेन-देन नहीं चलता—

नाई से न नाई लेत, धोबी न धुलाई देत
दे के उतराई नाथ जाति न बिगारिए॥

और तब—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

सीताकी मुद्रिकाको लेकर उतराईके रूपमें श्रीराम उसे देने लगे थे तथा केवटके इनकार करनेपर आग्रह भी बहुत किया—*'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।'* वह बार-बार यही कहता रहा। मैं संतुष्ट हूँ। जीवनभरकी मजूरी मुझे आज ही तो मिली है—

नाथ आज मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥

(रा०च०मा० २।१०२।५—७)

भगवान्‌का प्रसाद भक्तको कभी अस्वीकार नहीं। अत:—

फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

प्रेमीभक्तको भगवान्‌से भूषण-वसन नहीं चाहिये। उसे तो प्रेमके सहारे भगवान्‌तक पहुँचनेकी विमल दृष्टि—भगवत्प्रेम चाहिये—*'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।'* और तब *'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'*

भगवान् व्यक्तिके हृदयके भाव देखते हैं और उसीपर रीझते भी हैं—*'रीझत राम जानि जन जी की'* उनको व्यक्तिकी बाह्य सुन्दरता, शारीरिक बनावटसे कोई लेना-देना नहीं है, भगवान् जब अपने भक्तके हृदयमें अलौकिक प्रेम देखते हैं, तभी बिहँसते हैं—*'मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥'*

आज केवटका शरीर भले ही मैला-कुचैला है, परंतु उसके जानकी (हृदयकी) जो हालत है, उसमें जो श्रीरामके प्रति प्रेम भरा है, उसे देखकर प्रभु बिहँस पड़ते हैं; क्योंकि वह प्रेम अलौकिक है। *'चितइ जानकी'* केवटके हृदयको देखा, हृदयके भावप्रेमको देखा, *'लख न तन'* उसके शरीरको नहीं देखा, क्योंकि प्रभु तो मनके भावोंपर ही रीझते हैं।

वस्तुत: जो सांसारिक सुखोंका त्याग करता है, उसीको तो प्रेमके सहारे आत्मसमर्पणका महाप्रसाद—अपने आराध्यके सांनिध्यकी प्राप्ति होती है। उसके सामने मान-सम्मान या जागतिक धन-ऐश्वर्य सभी फीके तथा त्याज्य हैं—

'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'

अब निषादराज और केवटके भगवत्प्रेमका तुलनात्मक विश्लेषण किया जाय। दोनों प्रेमी भक्त हैं। एकका लक्ष्य मान, प्रतिष्ठा, राजकीय सुख और सम्मान है तो दूसरेका निष्काम भगवत्प्रेम। केवटको भगवान् श्रीरामकी सेवाका बहुत कम अवसर मिला। मात्र गङ्गाजीके इस पारसे उस पार ले जानेका और बालूकी दोनों रेतियोंपर किंचित् काल सम्भाषणका। इसके बाद फिर श्रीरामके दर्शनका अथवा

संकेत नहीं मिलता। अवसरके लिये उसने कभी याचना नहीं की। विदाके समय मात्र इतना ही कहा था—*'फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥'* किंतु उसे यह अवसर भी नहीं मिला। निषादराजको ये सारे अवसर मिले। सेवाका, दर्शनका उन्हें अपेक्षाकृत अधिक अवसर मिला और आते-जाते रहनेकी आज्ञा भी—*'सदा रहेहु पुर आवत जाता'* एक आदमी सेवाका प्रतिदान भूषण-वसन, प्रसाद आदिके रूपमें लेता है। दूसरा अपनी सेवाका प्रतिदान नहीं चाहता है। एक श्रीरामको राजपुत्रके रूपमें देखता है—शक्ति, शील और सौन्दर्यके आगारके रूपमें तथा दूसरा केवल सच्चिदानन्दके रूपमें। उसकी आँख न शक्तिपर है और न सौन्दर्यपर। उसे चरणकमलरजकी महिमाका सम्पूर्ण ज्ञान है। इसीलिये एकको ऐश्वर्य मिलत है, दूसरेको भगवत्प्रेमका पूर्ण प्रसाद—भक्ति। निषादराजको भक्ति नहीं मिली। भक्ति मिली केवटको। भगवान् श्रीरामने विदाके समय दोनोंको प्रसाद दिया। निषादराजको—*'बिदा कीन्ह सनमानि निषादू', 'दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥*

परंतु केवटको—*'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'*

अतः भगवत्प्रेम वह बिन्दु है, जहाँ भौतिक कामनाओंकी जड़ें समाप्त हो जाती हैं और प्रेमके सहारे समर्पण, दर्शनकी लालसा एवं अपने आराध्यके श्रीचरणोंके लिये शेष रह जाती है—सहज स्नेहकी कामना—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।

भगवत्प्रेमकी मूर्तिमयी उपासना—श्रीशबरी

(श्रीमती उषा एन्० शर्मा)

दण्डकारण्यमें भक्ति-श्रद्धासम्पन्न एक वृद्धा भीलनी रहती थी, जिसका नाम था शबरी। एक दिन वह घूमती हुई पम्पा नामक पुष्करिणीके पश्चिम तटपर स्थित एक अति रमणीय आश्रमपर पहुँची। मेघोंकी घटाके समान श्याम और नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंसे भरे हुए उस वनमें, जिसे मतंगवन कहा जाता था, एक अति सुन्दर आश्रम था। वह आश्रम मतंगमुनिका था। अनाथ शबरीने मुनिके चरणोंमें सिर रख दिया और उनसे शरण माँगी। दयालु मुनिने उसे शरण दी तथा भक्तिज्ञान दिया। मतंगमुनि सदा प्रभुभक्तिमें लीन रहा करते थे। अन्त समयमें उन्होंने शबरीको आदेश दिया कि 'तुम यहीं रहना; क्योंकि यहाँ श्रीराम और लक्ष्मण पधारेंगे। तुम उनका स्वागत करना। श्रीराम परब्रह्म हैं, उनका दर्शन कर तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।' शबरीके मनमें श्रीरामभक्तिकी एक लौ उन्होंने जगा दी थी।

गुरुके आदेशानुसार शबरी श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन आश्रममें प्रभु श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा करती रहती थी कि पता नहीं प्रभु श्रीराम कब पधार जायँ? अतः नित्य आश्रमके प्रवेश-द्वारतकके मार्गको बुहारती और सम्पूर्ण मार्गको नवीन पुष्पोंसे ओट देती थी। 'भगवान् श्रीराम आयेंगे'—यह गुरुका संदेश था और उसे इसका दृढ़ विश्वास था। कब आयेंगे? पता नहीं, पर आयेंगे अवश्य। वह श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रात-दिन श्रीरामजीका स्मरण करती। उनके स्वागतहेतु प्रतिदिन वनके ताजे पके कन्द-मूल-फल संग्रह करती—उन्हें निवेदन करनेके लिये। उसे विश्वास-सा हो चला था कि प्रभु श्रीराम लक्ष्मणसहित अवश्य आयेंगे; क्योंकि गुरुने उसे यह सब बता दिया था। उसे गुरुवाणीपर पूर्ण विश्वास जो था।

अन्ततः वह शुभ दिन आ गया। प्रभु श्रीराम लक्ष्मणसहित सीताकी खोज करते हुए शबरीके आश्रमकी ओर आ ही गये। शबरीने देखा—श्रीराम और लक्ष्मण मतंगवनकी शोभा निहारते हुए बहुसंख्यक वृक्षोंसे घिरे उस सुरम्य आश्रमकी ओर आ रहे हैं। शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनों भाइयोंको आश्रममें आया देख, वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। उसने श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोंमें प्रणाम किया। कमलसदृश नेत्र, विशाल भुजाओंवाले, सिरपर जटाओंका मुकुट और गलेमें वनमाला धारण किये, सुन्दर, साँवले और गोरे दोनों भाइयोंके चरणोंसे शबरी लिपट गयी—

सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥

(रा०च०मा० ३।३४।७-८)

श्रीरामने शबरीको दोनों हाथ बढ़ाकर उठा लिया। प्रेमपूर्वक पूछा—'हे चारुभाषिणि! तुमने जो गुरुजनकी सेवा की वह पूर्ण सफल हो गयी है न?' उनके ऐसा पूछनेपर शबरीने उत्तर दिया—'हे रघुनन्दन! आज आपका दर्शन पाकर मुझे अपनी तपस्यामें सिद्धि प्राप्त हो गयी। आज मेरा जन्म सफल हुआ। गुरुजनोंकी उत्तम पूजा भी सार्थक हो गयी।'

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।

अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः॥
अद्य मे सफलं तप्तं स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥

(वा०रा० अर० ७४। ११-१२)

'पुरुषप्रवर श्रीराम! आप देवेश्वरका इस आश्रममें पदार्पण हुआ इससे मेरी तपस्या सफल हो गयी और निश्चितरूपसे मुझे आपके दिव्य धामकी प्राप्ति भी होगी।' ऐसा कह शबरीने दोनों भाइयोंको पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदि सामग्री समर्पित की। बड़े वात्सल्यभावसे

नाना प्रकारके कन्द-मूल-फल जो उसने प्रेमपूर्वक संग्रह किये थे, उन्हें जीमनेको दिये। श्रीरामने बड़े प्रेमपूर्वक उन मीठे पके कन्द-मूल-फलोंको ग्रहण किया और उनके दिव्य आस्वादका बार-बार बखान किया—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि॥

(रा०च०मा० ३। ३४)

इस प्रकार प्रभु श्रीरामका आदर-सत्कार कर शबरीने पुनः कहा—

तवाहं चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिंदम ॥

(वा०रा० अर० ७४। १३)

हे सौम्य! मानद! आपकी सौम्य दृष्टि पड़नेपर मैं परम पवित्र हो गयी। शत्रुदमन! आपके प्रसादसे ही अब मैं अक्षय लोकोंमें जाऊँगी। फिर वह हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी। प्रभुको देखा—उसका प्रेम अत्यन्त बढ़ गया। वह पुनः कहने लगी—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी॥

तब श्रीरामजी बोले—हे भामिनि! मैं तो केवल भक्तिका ही सम्बन्ध मानता हूँ। जाति, पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन-बल, कुटुम्ब, गुण एवं चतुराई—इन सबके होनेपर भी भक्तिरहित मनुष्य जलहीन बादल-सा लगता है। उन्होंने शबरीको नवधा भक्तिका उपदेश किया। कहा—मेरी भक्ति नौ प्रकारकी है—(१) संतोंकी संगति अर्थात् सत्सङ्ग, (२) श्रीरामकथामें प्रेम, (३) गुरुजनोंकी सेवा, (४) निष्कपट-भावसे हरिगुणगान, (५) पूर्ण विश्वाससे श्रीरामनामजप, (६) इन्द्रियदमन तथा कर्मोंसे वैराग्य, (७) सबको श्रीराममय जानना, (८) यथालाभमें संतुष्टि तथा (९) छल-रहित सरल स्वभावसे हृदयमें प्रभुका विश्वास।

इनमेंसे किसी एक प्रकारकी भक्तिवाला मुझे प्रिय होता है, फिर तुझमें तो सभी प्रकारकी भक्ति दृढ़ है। अतएव जो गति योगियोंको भी दुर्लभ है, वह आज तेरे लिये सुलभ हो गयी है—

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
जोगि बृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥

उसीके फलस्वरूप तुम्हें मेरे दर्शन हुए, जिससे तुम सहज स्वरूपको प्राप्त करोगी। इतना कहकर श्रीरामने शबरीजीसे जानकीके विषयमें पूछा—

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबरगामिनी॥

शबरीने तब उन्हें पम्पासरोवरपर जानेको कहा। वहाँ सुग्रीवसे आपकी मित्रता होगी। हे रघुवीर! वे सब हाल बतायेंगे। हे धीरबुद्धि! आप अन्तर्यामी होते हुए भी यह सब मुझसे पूछ रहे हैं? फिर कहने लगी—जिनका यह आश्रम है, जिनके चरणोंकी मैं सदा दासी रही, उन्हीं पवित्रात्मा महर्षिके समीप अब मुझे जाना है। प्रेमभक्तिमें रँगी हुई शबरीने बार-बार प्रभुके चरणोंमें सिर नवाकर, प्रभु-दर्शन कर हृदयमें श्रीरामके चरणोंको धारण कर योगाग्निद्वारा शरीर त्यागा। वह प्रभुचरणोंमें लीन हो गयी।

भगवत्प्रेमका ऐसा सुन्दर स्वरूप जो शबरीने प्रस्तुत किया, वह किसीके भी हृदयमें प्रेमभक्तिका संचार करनेमें सर्वथा सक्षम है, इसमें रंचमात्र संदेह नहीं। वह श्रीराममें वात्सल्यभाव रखती थी और श्रीरामने भी उसे माता कौसल्याकी भाँति मातृभावसे ही देखा।

प्रेमी जटायुपर प्रभुकृपा

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥

(वा० रा० ३।६८।२४)

श्रीराम कहते हैं—'लक्ष्मण! सर्वत्र—यहाँतक कि पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी शूरवीर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण साधुजन मिलते हैं।'

प्रजापति कश्यपजीकी पत्नी विनतासे दो पुत्र हुए—अरुण और गरुड। इनमेंसे भगवान् सूर्यके सारथि अरुणजीके दो पुत्र हुए—सम्पाती और जटायु। बचपनमें सम्पाती और जटायु उड़ानकी होड़ लगाकर ऊँचे जाते हुए सूर्यमण्डलके पासतक चले गये। असह्य तेज न सह सकनेके कारण जटायु तो लौट आये; किंतु सम्पाती ऊपर ही उड़ते गये। सूर्यके अधिक निकट जानेपर सम्पातीके पंख सूर्यतापसे भस्म हो गये। वे समुद्रके पास पृथ्वीपर गिर पड़े। जटायु लौटकर पञ्चवटीमें आकर रहने लगे। महाराज दशरथसे आखेटके समय इनका परिचय हो गया और महाराजने इन्हें अपना मित्र बना लिया।

वनवासके समय जब श्रीरामजी पञ्चवटी पहुँचे, तब जटायुसे उनका परिचय हुआ। मर्यादापुरुषोत्तम अपने पिताके सखा गृध्रराजका पिताके समान ही सम्मान करते थे। जब छलसे स्वर्णमृग बने मारीचके पीछे श्रीराम वनमें चले गये और जब मारीचकी कपटपूर्ण पुकार सुनकर लक्ष्मणजी बड़े भाईको ढूँढ़ने चले गये, तब सूनी कुटियासे रावण सीताजीको उठा ले गया। बलपूर्वक रथमें बैठाकर वह उन्हें ले चला। श्रीविदेहराज-दुहिताका करुणक्रन्दन सुनकर जटायु क्रोधमें भर गये। वे ललकारते-धिक्कारते रावणपर टूट पड़े और एक बार तो राक्षसराजके केश पकड़कर उसे भूमिपर पटक ही दिया।

जटायु वृद्ध थे। वे जानते थे कि रावणसे युद्धमें वे जीत नहीं सकते। परंतु नश्वर शरीर राम-काजमें लग जाय, इससे बड़ा सौभाग्य भला और क्या होगा? रावणसे उनका भयंकर संग्राम हुआ। अन्तमें रावणने उनके पंख तलवारसे काट डाले। वे भूमिपर गिर पड़े। जानकीजीको लेकर रावण भाग गया। श्रीराम विरह-व्याकुल होकर जानकीजीको ढूँढ़ते वहाँ आये। जटायु मरणासन्न थे। उनका चित्त श्रीरामके चरणोंमें लगा था। उन्होंने कहा—'राघव! राक्षसराज रावणने मेरी यह दशा की है। वही दुष्ट सीताजीको लेकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया है। मैंने तो तुम्हारे दर्शनके लिये ही अबतक प्राणोंको रोक रखा था। अब ये विदा होना चाहते हैं। तुम आज्ञा दो।'
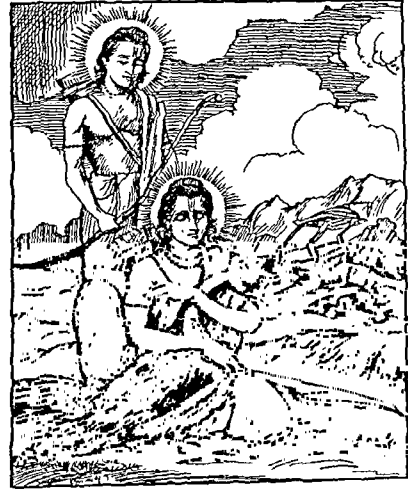
श्रीराघवके नेत्र भर आये। उन्होंने कहा—'आप प्राणोंको रोकें। मैं आपके शरीरको अजर-अमर तथा स्वस्थ बनाये देता हूँ।' जटायु परम भागवत थे। शरीरका मोह उन्हें था नहीं। उन्होंने कहा—'श्रीराम! जिनका नाम मृत्युके समय मुखसे निकल जाय तो अधम प्राणी भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है—ऐसी तुम्हारी महिमा श्रुतियोंमें वर्णित है—आज वही तुम प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो; फिर मैं शरीर किस लाभके लिये रखूँ?'

दयाधाम श्रीरामभद्रके नेत्रोंमें जल भर आया। वे कहने लगे—'तात! मैं तुम्हें क्या दे सकता हूँ। तुमने तो अपने ही कर्मसे परम गति प्राप्त कर ली। जिनका चित्त परोपकारमें लगा रहता है, उन्हें संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अब इस शरीरको छोड़कर आप मेरे धाममें पधारें।'

श्रीरामने जटायुको गोदमें उठा लिया था। अपनी जटाओंसे वे उन पक्षिराजकी देहमें लगी धूलि झाड़ रहे थे। जटायुने श्रीरामके मुख-कमलका दर्शन करते हुए उनकी गोदमें ही शरीर छोड़ दिया—उन्हें भगवान्‌का सारूप्य प्राप्त हुआ। वे तत्काल नवजलधर-सुन्दर, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज,

तेजोमय शरीर धारण कर वैकुण्ठ चले गये। जैसे सत्पुत्र श्रद्धापूर्वक पिताकी अन्त्येष्टि करता है, वैसे ही श्रीरामने जटायुके शरीरका सम्मानपूर्वक दाहकर्म किया और उन्हें जलाञ्जलि देकर श्राद्ध किया। पक्षिराजके सौभाग्यकी महिमाका कहाँ पार है! त्रिभुवनके स्वामी श्रीराम, जिन्होंने दशरथजीकी अन्त्येष्टि नहीं की, उन्होंने अपने हाथों जटायुकी अन्त्येष्टि विधिपूर्वक की। उस समय उन्हें श्रीजानकीजीका वियोग भी भूल गया था।

शत्रुभावान्वित भगवत्प्रेमी रावणकी अनूठी साधना

(श्रीप्रेमप्रतापजी भारद्वाज)

भगवान् श्रीरामके अवतार लेनेके कारणोंकी विवेचना करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्यजीने प्रयागस्थित महामुनि भरद्वाजसे कहा कि विश्वविदित कैकय देशमें सत्यकेतु नामक एक राजा राज्य करता था। उसके दो वीर पुत्र हुए—प्रतापभानु और अरिमर्दन। राजा बननेपर प्रतापभानु सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलका चक्रवर्ती सम्राट् बना। वह अपने परम वीर भाई अरिमर्दन और शुक्राचार्यके समान बुद्धिमान् धर्मरुचि नामक मन्त्रीकी सहायतासे राजकार्य करता था।

एक बार राजा प्रतापभानु विन्ध्याचलके घने जंगलमें शिकार खेलने गया। वहाँ विधाताके इच्छानुसार वह एक कपटी मुनिके सुन्दर वेषको देखकर धोखा खा गया। उसने अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा—

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥

(रा०च०मा० १।१६४)

—के कारण कपटी मुनिके भुलावेमें आकर ब्राह्मणोंका भयानक शाप पाया। फलस्वरूप वही राजा अगले जन्ममें परिवारसहित 'रावण' नामक राक्षस हुआ। उसके दस सिर और बीस भुजाएँ थीं तथा वह बड़ा ही प्रचण्ड शूरवीर था। अरिमर्दन नामक राजाका छोटा भाई बलका धाम कुम्भकर्ण हुआ। उसका मन्त्री धर्मरुचि सौतेला छोटा भाई विभीषण हुआ। यद्यपि वे पुलस्त्य मुनिके पवित्र, निर्मल और अनुपम कुलमें उत्पन्न हुए तथापि ब्राह्मणोंके शापके कारण रावण और कुम्भकर्ण दुष्ट, कुटिल, भयंकर, निर्दय, हिंसक और सबको दुःख देनेवाले हुए। तीनों भाइयोंने उग्र तपस्या कर ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त किया और रावण सार्वभौम सम्राट् बनकर अपने इच्छानुसार राज्य करने लगा।

महारानी कौसल्याके गृहमें अंशोंसहित श्रीरामरूपमें प्रकट हुए और उन्होंने राक्षसोंका संहार किया।

इसी श्रीरामरूपकी लीलामें प्रभु अपने भाई लक्ष्मण एवं पत्नी सीतासहित चौदह वर्षोंतक वनमें फिरते रहे। वनलीलामें महामुनि अगस्त्यजीके प्रार्थनानुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी गोदावरीके तटपर पञ्चवटीमें पर्णकुटी बनाकर रहने लगे।

राक्षसराज रावणकी बहिन शूर्पणखा एक बार पञ्चवटीमें गयी और उसने सुन्दर रूप धारण कर भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणसे क्रमशः विवाहकी याचना की। उनके द्वारा मना करनेपर जब उसने अपना भयंकर रूप प्रकट किया तो लक्ष्मणजीने उसे बिना नाक-कानकी करके मानो रावणको चुनौती दे डाली।

शूर्पणखासे खर-दूषण एवं त्रिशिराके वधका समाचार
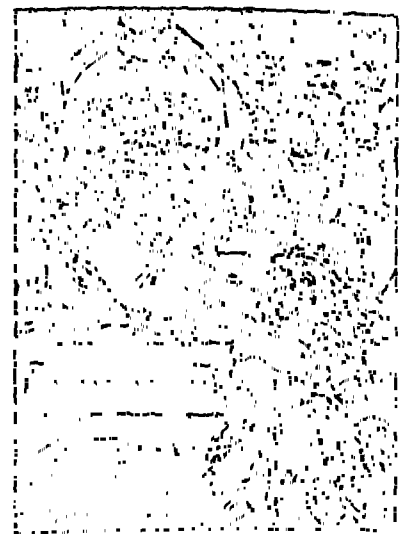
पाकर रावण मन-ही-मन विचार करने लगा—'देवता,

समान बलवान् थे। उन्हें भगवान्‌के सिवाय और कौन मार सकता है! देवताओंको आनन्द देनेवाले तथा पृथ्वीका भार हरण करनेवाले भगवान्‌ने ही यदि अवतार लिया है तो मैं जाकर उनसे हठपूर्वक वैर करूँगा और प्रभुके बाणके आघातसे प्राण छोड़कर इस भवसागरसे तर जाऊँगा; क्योंकि इस तामस शरीरसे भजन तो होगा नहीं, अतएव मन, वचन और कर्मसे मेरा यही दृढ़ निश्चय है।' इस प्रकार राक्षसराज रावण उन आनन्दकन्द, ब्रह्माण्डनायक, परमात्मप्रभुका 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' बन गया।

इसके बाद उस 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। माता सीताका हरण कर वैर बढ़ाया और उन्हें ले जाकर अशोकवाटिकामें रख दिया। उसे तो प्रभु श्रीरामके हाथों मोक्ष प्राप्त करना था। अतः उसने अपनी साध्वी पत्नी

मन्दोदरीका कहना भी नहीं माना। मन्दोदरीने उसे बड़े आदरसे समझाया था—'नाथ! श्रीराम साक्षात् परमात्मा हैं। आप उनसे वैर न करें। इसका परिणाम शुभ नहीं होगा। सीता साक्षात् योगमाया हैं। आप मेघनादको राज्यपदपर प्रतिष्ठित कर दें और हमलोग कहीं एकान्तमें चलकर श्रीरामका भजन करें। वे दया-विग्रह निश्चय ही हमपर दयाकी दृष्टि करेंगे।' परंतु रावणपर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जब भी अवसर मिलता, मन्दोदरी उसे अवश्य समझाती। वह रावणसे बार-बार कहती—

पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुल बल जानहु॥

(रा०च०मा० ६।३६।८)

अनेक बार समझानेपर भी जब रावणके मनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब मन्दोदरीने यहाँतक कह दिया—

अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥

(रा०च०मा० ६।३७।६, ८)

रावण अपनी बुद्धिमती पत्नी मन्दोदरीकी बातोंको हँसकर टाल देता था; क्योंकि वह इस रहस्यको अच्छी प्रकार समझता था कि उसका कल्याण किसमें है।

रावण मारा गया। मन्दोदरी पतिके शवके समीप जाकर विलाप करने लगी। उसने रोते-रोते भगवान्‌की दयाका बखान करते हुए कहा—

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥

(रा०च०मा० ६।१०४)

रावण प्रसन्न था; क्योंकि उसका जीव प्रभुचरणोंमें लीन हो गया था। उसका उद्देश्य पूर्ण हो गया था। उसने हठपूर्वक वैर किया और भगवान् श्रीरामके बाणके आघातसे प्राण छोड़कर इस भवसागरसे तर गया।

रावण पण्डित था, ज्ञानी था। वह समझता था कि इस राक्षस-देहसे भजन करके वह भवसागर पार नहीं कर सकेगा, इसीलिये वह अपने गुप्त निर्णयपर अटल रहा। उसे अपने निश्चयसे डिगानेके लिये उसकी पत्नी मन्दोदरीके अलावा मारीच, जटायु, हनुमान्, विभीषण, अंगद, कुम्भकर्ण तथा गुप्तचरोंने भी अपने-अपने तरीकेसे प्रयास किये, परंतु वह अडिग रहा और शत्रु बनकर प्रभुप्रेममें लीन रहा।

ताड़का नामक राक्षसीका पुत्र मारीच भगवान् श्रीरामकी प्रभुता एवं बलको भूला नहीं था। अपने राक्षसी स्वभाववश ऋषि-मुनियोंके यज्ञ आदिमें विघ्न डालनेके अपराधमें श्रीरामजीके बाणसे वह सौ योजन दूर आ पड़ा था। उसने उन्हें साक्षात् ईश्वरके रूपमें पहचान लिया था। इसलिये उसने रावणको बहुत समझाया, विनय की और सीताहरण न करनेकी प्रार्थना की, परंतु रावण अपनी गुप्त योजनाके अन्तर्गत कार्य करता ही रहा।

उसने सीताहरण कर जटायुका सामना किया। जटायुने भी कहा—

राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥

(रा०च०मा० ३।२९।१७)

यह सुनकर भी कि श्रीरामचन्द्रजीके क्रोधरूपी अत्यन्त भयानक अग्निमें तेरा सारा वंश पतिंगा होकर भस्म हो जायगा। रावण कुछ उत्तर नहीं देता। अपनी धुनका पक्का रावण गीधराज जटायुको घायल कर सीताजीको रथपर चढ़ाकर लङ्का ले जाता है। जटायुको मारता नहीं है ताकि वह श्रीरामको बता दे कि रावणने ही सीताहरण किया है। रास्तेमें वह सीताजीको वस्त्र डालनेसे भी नहीं रोकता ताकि पर्वतपर बैठे हुए वानर भी सीताहरणकी कहानी श्रीरामको सुनायें और वे लङ्का पहुँचें।

अपनी योजनामें बाधक बन रहे श्रीरघुनाथजीके दूतों—पवनपुत्र हनुमान् तथा बालिपुत्र अंगदसे यह सुनकर—

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

(रा०च०मा० ५।२१)

—रावण और दृढ़प्रतिज्ञ हो जाता है। वह दूतोंके हर व्यवहारको हँसकर सह लेता है और उनको कोई नुकसान नहीं पहुँचाता। अपने बेटेकी मृत्युका दुःख भी उसे विचलित नहीं करता। हनुमान्‌जीने उलट-पलटकर लङ्का जलायी, फिर भी रावण उन्हें जानकीजीसे मिलकर सकुशल लौट जाने देता है ताकि हनुमान्‌से पूर्ण सूचना प्राप्तकर, भगवान् श्रीराम लङ्का आकर उसका एवं समस्त राक्षससमूहका उद्धार करें।

इतनेपर भी रावणका बहुत ही बुद्धिमान् मन्त्री माल्यवान् उसकी योजनाको छिन्न-भिन्न करनेके लिये सामने आता है तो रावण उसे दरबारसे निकलवा देता है। परंतु अपने सौतेले भाई विभीषणकी बातोंको चुपचाप सुनता है—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥

(रा०च०मा० ५।३८)

विभीषणजी कहते हैं—'हे दशशीश! मैं बार-बार आपके चरणोंमें लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मदको त्यागकर आप कोसलपति श्रीरामचन्द्रजीका भजन करिये। मुनि पुलस्त्यजीने अपने शिष्यके हाथ यह बात कहला भेजी है। सुन्दर अवसर पाकर मैंने तुरंत ही यह बात आपसे कह दी है। हे तात! मैं चरण पकड़कर आपसे भीख माँगता हूँ—आप मेरा दुलार रखकर श्रीरामचन्द्रजीको सीताजी दे दीजिये, जिससे आपका अहित न हो।'

मुनि पुलस्त्यजीका नाम सुनकर सहसा रावणके मनमें एक विचार कौंधता है और वह चरण-प्रहार करके कहता है—

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥

(रा०च०मा० ५।४१।५)

'मेरे नगरमें रहकर तपस्वियोंसे प्रेम करता है, उन्हींसे जा मिल।' वह जानता है कि बिना विभीषणके पहुँचे भगवान् श्रीरामजीको उसे मुक्ति देनेमें कठिनाई होगी। साथ ही वह राक्षसवंशको भी चलाना चाहता है।

रावण अपनी योजनाकी अन्तिम बाधाको भी शान्ति और धीरजसे दूर करता है। जब लङ्काके प्रायः सभी राक्षसनायक वानरों तथा रीछोंके हाथ मारे गये, तब रावण अपने भाई कुम्भकर्णको अनेक उपाय करके जगाता है, जो छः महीनेतक सोता था एवं एक दिनके लिये जागता था। उसका वह दिन भी भोजन करने तथा कुशल-मङ्गल पूछनेमें ही बीत जाता था। जागनेपर जब कुम्भकर्णने सब बातें सुनीं तो बड़ा दुःखी हुआ। उसने रावणसे कहा—

जगदंबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान।
भल न कीन्ह तैं निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥

अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥

(रा०च०मा ६।६२; ६३।१-२)

कुम्भकर्ण कभी भी अपने बड़े भाईका अनादर नहीं करता था। वह भावपूर्ण हृदयसे श्रीरघुनाथजीको परम ब्रह्म ही मानता था। अन्तमें वह उनके दर्शन करके उनके ही बाणोंसे देह त्यागकर परमगति पाता है।

सब बाधाओंको हँसकर पार करते हुए 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' रावण भगवान् श्रीरामजीके सामने पहुँचकर अपनी मायासे उन्हें छकाता है। जब सिर तथा भुजाएँ कटनेपर भी वह मरता नहीं है, तब श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणकी ओर देखा। इसीलिये तो रावणने विभीषणको वहाँ भेजा ही था। विभीषणजीने बताया—

सुनु सरबग्य चराचर नायक। प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक॥
नाभिकुंड पियूष बस याकें। नाथ जिअत रावनु बल ताकें॥

(रा०च०मा० ६।१०२।४-५)

उस महानायकका अन्तिम समय जानकर अनेक अपशकुन होने लगे। मूर्तियाँ रोने लगीं, आकाशसे वज्रपात होने लगे, पृथ्वी हिलने लगी, अमङ्गल होने लगे और तभी श्रीरघुनाथजीके इकतीस बाणोंसे घायल होकर रावणने इस नश्वर देहका त्याग कर दिया तथा उसका तेज प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके मुखमें समा गया—

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥

(रा०च०मा० ६।१०३।१)

भगवत्प्राप्तिके लिये प्रेम-साधनाकी अत्यन्त आवश्यकता है। वह चाहे प्रेमी सेवकोंके द्वारा हो या मित्रभावान्वित अथवा शत्रुभावान्वित प्रेमी सहचरकी हो।

कन्हाईसे प्रेम कैसे करें?

(श्रीसुदर्शन सिंहजी 'चक्र')

श्रुति कहती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

(बृहदा० २।४।५)

सावधान, दूसरे सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने—आत्माके लिये सब प्रिय होते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०।१४।५५)-में श्रीशुकदेवजीने समझाया—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

इन श्रीकृष्णको ही समस्त प्राणियोंकी आत्मा समझो। ये यहाँ (व्रजमें) जगत्के परम कल्याणके लिये शरीरधारीकी भाँति अपनी मायासे प्रतीत हो रहे हैं।

इसी सन्दर्भमें स्वयं श्रीकृष्णकी गीता (९।२३)-में कही गयी बात भी स्मरण कर लेने योग्य है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अर्जुन! जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओंके भक्त उनका यजन-पूजन करते हैं, वे भी मेरा ही यजन करते हैं, किंतु अविधिपूर्वक करते हैं।

इस अविधिपूर्वक पूजनका ही फल होता है—'**देवान् देवयजो यान्ति।**' देवताओंका पूजन करनेवाले देवताओंको ही प्राप्त होते हैं।

इस प्रेमके प्रसंगमें इतनी भारी-भरकम बातके प्रारम्भका प्रयोजन है। प्रेम किया ही केवल कन्हाईसे जाता है। कन्हाईको छोड़कर अन्य किसीसे प्रेम किया ही नहीं जा सकता और कन्हाई तो है ही प्रेम करनेके लिये।

आप इस श्यामसुन्दरसे प्रेम करते हैं। चौंकिये मत, ऐसा कोई प्राणी संसारमें नहीं है, जो प्रेम न करता हो। सबका किसी-न-किसीसे प्रेम है। दूसरे किसीसे नहीं होगा तो अपने शरीरसे होगा; किंतु यह भ्रम है कि दूसरेसे प्रेम किया जा रहा है। जैसे दूसरे देवताओंके भक्त समझते हैं कि वे उन-उन देवताओंका भजन कर रहे हैं, वैसे ही लोग भी इस भ्रममें ही हैं कि वे तन, धन, स्त्री-पुत्र या पद-प्रतिष्ठासे प्रेम करते हैं। प्रेम तो वे कन्हाईसे ही करते हैं; किंतु अविधिपूर्वक करते हैं। दूसरे माध्यमोंसे करते हैं। इस अविधिपूर्वक प्रेमके कारण—प्रेमास्पदकी भ्रान्त धारणाके कारण भवाटवीमें भटक रहे हैं। *अन्यथा*—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।

प्रेम तो कन्हाईका ही रूप है। कन्हाई ही प्रेम है।

प्रेममयी श्रीराधिका, प्रेम सिन्धु गोपाल।
प्रेमभूमि वृन्दाविपिन, प्रेम रूप ब्रज बाल॥

आपको कन्हाईसे प्रेम करना है, अतः यह जान लें कि प्रेम किया नहीं जाता, प्रेम होता है—हो जाता है। यह प्रेम कहीं आकाशसे टपका नहीं करता। यह आपके हृदयमें है। पहले यह देखिये कि 'आपकी प्रीति कहाँ है। संसारमें प्रीति स्थिर और अनन्य नहीं होती। वह बिखरी-बिखरी रहती है। हृदयकी रागात्मिका वृत्तिका नाम ही प्रेम है और जब संसारमें राग होता है, तब उसमें दो दोष अवश्य आ जाते हैं—१. वह बिखर जाता है। अनेक-से होता है। कुछ तनसे, कुछ धनसे, कुछ मान-प्रतिष्ठासे, कुछ एक सम्बन्धीसे और कुछ दूसरेसे, २. वह स्थायी नहीं होता। जहाँ स्वार्थ या सम्मानपर आघात लगा या आघात लगनेकी शङ्का हुई, उसे द्वेषमें परिवर्तित होते भी देर नहीं लगती।'

कुछ थोड़े अपवाद होते हैं। अतीतमें हुए हैं और कभी भी हो सकते हैं। लैलाके प्रति मजनूका प्रेम—लेकिन ऐसा प्रेम जब स्थायी और अनन्य हो जाता है तो दिव्य हो जाता है। वह जिसमें होता है, उसकी देहासक्ति तथा समस्त क्षुद्र दुर्बलताओंको समाप्त कर देता है। उसमें केवल अविधिपूर्वक भ्रान्ति रहती है, जो किसी भी क्षण किसी संत-सत्पुरुषका अनुग्रह मिलते ही नष्ट हो जाती है। इसीलिये सूफी संत-मतमें स्थिर लौकिक प्रेमकी बहुत महत्ता है। उसे लगभग प्राथमिक आवश्यकता मान लिया गया है।

कन्हाईसे प्रेम करना है तो लोकमें कहीं, किसीसे भी प्रीति की कैसे जा सकती है। एक ही समय, एक साथ आप पूर्व और पश्चिम कैसे चल सकते हैं। स्वार्थ और परमार्थ एक साथ सधा नहीं करता।

'मुझे लोकमें उन्नति—सफलता भी चाहिये और परमार्थ भी' एकने लिखा। उनको उत्तर भला मैं क्या देता। जो एक साथ ऊपर-नीचे दोनों ओर दौड़ना चाहता है, वह गिरेगा। उसके नीचे ही लुढ़कनेकी सम्भावना अधिक है।

मैं नहीं कहता कि संसारका सुख-वैभव और कन्हाईकी प्रीति एक व्यक्तिको प्राप्त नहीं होती। सुदामाको स्वयं श्रीकृष्णने अपार वैभव दिया। महाराज जनक, चक्रवर्ती महाराज दशरथ अथवा व्रजराज नन्दबाबाके पास ऐश्वर्य कम नहीं था और इनमें प्रीति कम थी, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता।

बाहरकी स्थिति क्या है, यह महत्त्वकी बात नहीं है। बाहर कोई चक्रवर्ती सम्राट् भी हो सकता है और नितान्त कंगाल भी। महत्त्वकी बात यह है कि उसके हृदयका राग़ कहाँ है। आप चाहते क्या हैं? कन्हाईका प्रेम और लौकिक वस्तु या स्थिति एक साथ चाही नहीं जा सकती। जब कोई दोनोंको चाहता है तो इसका अर्थ होता है कि वस्तुतः उसे संसार ही चाहिये। श्यामके प्रेमको चाहना मात्र औपचारिकता है।

एक परिचित प्रसिद्ध विद्वान् कहा करते हैं—'लोग तो चाहते हैं कि संसारका सब सुख-सम्मान बना रहे और एक जेबमें भगवान् भी आ जायँ। वे भगवान्‌को—भगवत्प्रेमको भी अपने अहंकारका आभूषण बनाना चाहते हैं और भगवान् आभूषण बना नहीं करते।'

कन्हाईका—कन्हाईके प्रेमका भी एक स्वभाव है कि जब ये आते हैं, संसारको नीरस कर देते हैं। तब भले सम्पत्ति, परिवार और प्रतिष्ठा बनी रहे, इनके रहनेमें कोई रस—कोई सुख नहीं रह जाता। ये रहें ही, ऐसा थोड़ा भी आग्रह नहीं रहता।

श्रीरघुनाथके वनमें चले जानेपर महाराज दशरथ प्राण ही नहीं रख सके। कन्हाईके मथुरा जानेपर व्रजके लोगोंकी क्या दशा हुई? किसे भगवत्प्रेम प्राप्त हुआ जिसकी तनिक भी रुचि-प्रीति संसारके वैभव या भोगोंमें थी? संसारका चाहे जितना वैभव प्राप्त हो, कन्हाईका प्रेम आयेगा तो सबको नीरस बना ही देगा।

कन्हाईसे प्रेम करना है? तब संसारसे निरपेक्ष हो जाना पड़ेगा। तब यह रहे—यह न रहे, यह मिले—यह न मिले, अमुक सुखी-सन्तुष्ट रहे—अमुक दूर बना रहे, जीवनमें ऐसी परिस्थिति रहे—ऐसी न रहे, यह सब आग्रह सर्वथा छोड़ देना होगा।

बात यह है कि कन्हाई हृषीकेश है, अन्तर्यामी है और संसार बाहर है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख एक साथ हुआ नहीं जा सकता। अतः संसार तथा संसारकी स्थितिके सम्बन्धमें हृदयके पूरे बलसे कहना पड़ता है—

'बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे।'

तब यह कहना सार्थक होता है—

'मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे।'

'कन्हाईसे प्रेम करना है—करना ही है। संसारका सुख-वैभव रहना हो तो रहे और न रहना हो तो कल जानेके बदले भले आज ही चला जाय; किंतु यह प्रेम कैसे प्राप्त हो? यह कैसे जागे?'

आपके मुखमें घी-शक्कर। आप अब भी कहते हैं कि आपमें कन्हाईका प्रेम नहीं है? जो संसारमें सब ओरसे निरपेक्ष हो गया, उसका प्रेम कहाँ है? प्रेमहीन कोई प्राणी होता नहीं और संसारमें कहीं उसका प्रेम रहा नहीं, तब उसका प्रेम गया कहाँ?

'लेकिन मुझमें प्रेम तो नहीं है।'

आपकी यह अनुभूति धन्य है। प्यास ही प्रेमका स्वरूप है। प्रेममें तृप्ति तो है ही नहीं। 'मुझमें प्रेम है' यह अनुभूति किसी प्रेमीको कभी होती नहीं। यदि किसीको अनुभव होता है कि मुझमें प्रेम है तो समझना होगा कि यह पतनोन्मुख है। इसका रहा-सहा प्रेम भी अब टिकनेवाला नहीं है।

प्रेमकी पहिचान एक दूसरा ही अनुभव है। जिसमें प्रेम है, उसका क्षण-क्षणका, नित्य-नित्यका अनुभव बन जाता है—'मुझमें तो प्रेमका लेश भी नहीं है और न मैं कन्हाईका अनुग्रह पानेका अधिकारी हूँ। मुझ-जैसेकी तो उन्हें अत्यन्त उपेक्षा करनी चाहिये; किंतु ये व्रजराजकुमार इतने भोले हैं कि इन्हें नीरस व्यक्तिकी भी परख नहीं। ये मुझसे अतिशय प्रेम करते हैं। इनका मेरे प्रति बहुत अधिक पक्षपात है।'

प्रेमका पिता है विश्वास और माता है निरपेक्षता। संसारमें सब ओरसे निरपेक्ष होकर जो कन्हाईपर ही विश्वास करता है, उसे कन्हाईका प्रेम प्राप्त होता है और कन्हाईका प्रेम तो कन्हाईके मिलनेसे बहुत-बहुत अधिक महान् है।

एक सहायक साधनकी बात और। हमारे मनमें राग या द्वेष बहुत कुछ सुन-सुनकर उत्पन्न होता है। अतः कन्हाईका प्रेम पाना है तो इसके गुण, इसके चरित, इसके माहात्म्यका, इसकी कथाका बार-बार श्रवण करना चाहिये। यह श्रवण जब सुलभ न हो तो इस प्रकारके ग्रन्थोंका नियमित पाठ—अध्ययन करना चाहिये। पुस्तक पढ़ना भी श्रवणका ही विषय माना जाता है और प्रेम गुण-श्रवणकी बार-बार आवृत्तिसे जाग्रत् होता है, यह सब शास्त्र, सन्त कहते-मानते हैं।
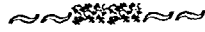
गोपिकाओंकी प्रेमोपासना

गोपी-प्रेमका तत्त्व वही प्रेमी भक्त कुछ जान सकता है जिसे भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाजी और आनन्द तथा प्रेमके दिव्य समुद्र भगवान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण ही कृपापूर्वक जना दें। जाननेवाला भी उसे कह या लिख नहीं सकता, क्योंकि 'गोपी-प्रेम' का प्रकाश करनेवाली भगवान्‌की वृन्दावनलीला सर्वथा अनिर्वचनीय है। वह कल्पनातीत, अलौकिक और अप्राकृत है। समस्त व्रजवासी भगवान्‌के मायामुक्त परिकर हैं और भगवान्‌की निज आनन्दशक्ति योगमाया श्रीराधिकाजीकी अध्यक्षतामें भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलामें योग देनेके लिये व्रजमें प्रकट हुए हैं। व्रजमें प्रकट इन महात्माओंकी चरणरजकी चाह करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी स्वयं कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।३०, ३२, ३४)

'हे प्रभो! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं इस जन्ममें अथवा किसी तिर्यक्-योनिमें ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक होऊँ, जिससे आपके चरणकमलोंकी सेवा कर सकूँ। अहो! नन्दादि व्रजवासी धन्य हैं, इनके धन्य

भाग्य हैं, जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म स्वयं आप हैं। इस धरातलपर व्रजमें और उसमें भी गोकुलमें किसी कीड़े-मकोड़ेकी योनि पाना ही परम सौभाग्य है, जिससे कभी किसी व्रजवासीकी चरणरजसे मस्तकको अभिषिक्त होनेका सौभाग्य मिले।'

जिन व्रजवासियोंकी चरण-धूलिको ब्रह्माजी चाहते हैं, उनका कितना बड़ा महत्त्व है! ये व्रजवासीगण मुक्तिके अधिकारको ठुकराकर उससे बहुत आगे बढ़ गये हैं। इस बातको स्वयं ब्रह्माजीने कहा है कि भगवन्! मुक्ति तो कुचोंमें विष लगाकर मारनेको आनेवाली पूतनाको ही आपने दे दी। इन प्रेमियोंको क्या वही देंगे—इनका तो आपको ऋणी बनकर ही रहना होगा और भगवान्ने स्वयं अपने श्रीमुखसे यह स्वीकार किया है। आप गोपियोंसे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

'हे प्रियाओ! तुमने घरकी बड़ी कठिन बेड़ियोंको
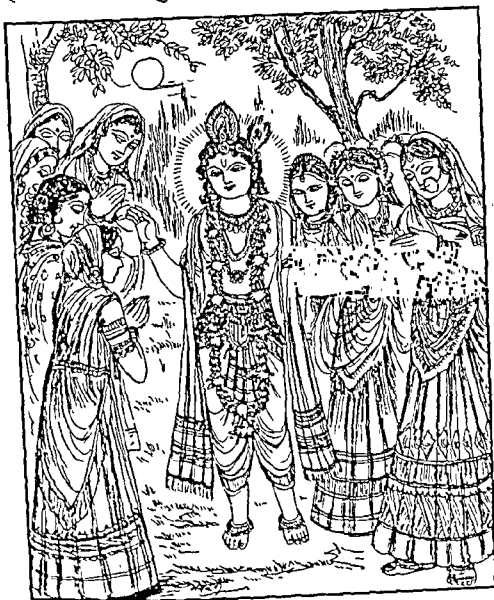
तोड़कर मेरी सेवा की है। तुम्हारे इस साधुकार्यका मैं देवताओंके समान आयुमें भी बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे उऋण करना।'

महात्मा नन्ददासजीकी रचनामें भगवान् कहते हैं—

तब बोले ब्रजराज-कुँवर हौं रिनी तुम्हारो।
अपने मनतें दूरि करौ किन दोष हमारो॥
कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रतिउपकार करौं जौ।
हे मनहरनी तरुनी, उरिनी नाहिं तवौं तौ॥
सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहि मोहति है॥
तुम जु करी सो कोउ न करै सुनि नवलकिसोरी।
लोकबेदकी सुदृढ़ सृंखला तृन सम तोरी॥

सारे संसारके देव, मनुष्य, गन्धर्व, असुर आदि जीवोंको कर्मोंकी बेड़ीसे निरन्तर बाँधे रखनेवाले सच्चिदानन्द, जगन्नियन्ता प्रभु गोपी यशोदाके द्वारा ऊखलसे बँध जाते हैं। सारे जगत्को मायाके खेलमें सदा रमानेवाले मायापति हरि गोप-बालकोंसे खेलमें हारकर, स्वयं घोड़े बनकर उन्हें अपनी पीठपर चढ़ाते हैं! उन व्रजवासी नर-नारियोंको धन्य है! एक दिनकी बात है—यशोदाजी घरके आवश्यक काममें लग रही थीं, बाल-कृष्ण मचल गये और बोले, मैं गोद चढ़ूँगा। माताने कुछ ध्यान नहीं दिया। इसपर खीझकर आप रोने और आँगनमें लोटने लगे। इतनेहीमें देवर्षि नारद भगवान्की बाल-लीलाओंको देखनेकी लालसासे वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा, सचराचर विश्वके स्वामी परम आनन्दमय भगवान् माताकी गोद चढ़नेके लिये जमीनपर पड़े रो रहे हैं। इस दृश्यको देखकर देवर्षि गद्‌गद हो गये और यशोदाको पुकारकर कहने लगे—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भुर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं
तत्पूर्णब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकामः॥

'यशोदे! तेरा सौभाग्य महान् है। क्या कहें, न जाने तूने पिछले जन्मोंमें तीर्थोंमें जा-जाकर कितने महान् पुण्य किये हैं? अरी! जिस विश्वपति, विश्वस्रष्टा, विश्वरूप, विश्वाधार भगवान्की कृपाको इन्द्र, ब्रह्मा और शिव भी नहीं प्राप्त कर सकते, वही परिपूर्ण ब्रह्म आज तेरी गोद चढ़नेके लिये जमीनपर पड़ा लोट रहा है!'

जो विश्वनायक भगवान् मायाके दृढ़ सूत्रमें बाँध-

बाँधकर अखिल विश्वको निरन्तर नाच नचाते हैं, वही विज्ञानानन्दघन भगवान् गोपियोंकी प्रेम-मायासे मोहित होकर सदा उनके आँगनमें नाचते हैं! उनके भाग्यकी सराहना और उनके प्रेमका महत्त्व कौन बतला सकता है? रसखान कहते हैं—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥

गोपियोंके भाग्यकी सराहना करते हुए परम विरागी, सदा ब्रह्मस्वरूप मुनि शुकदेवजी कहते हैं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥

(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

'ब्रह्मा, शिव और सदा हृदयमें रहनेवाली लक्ष्मीजीने भी मुक्तिदाता भगवान्‌का वह दुर्लभ प्रसाद नहीं पाया जो प्रेमिकाश्रेष्ठ गोपियोंको मिला।'

इसी प्रकार ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धवजी कहते हैं—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६०)

'रासोत्सवके समय भगवान्‌के भुजदण्डोंको गलेमें धारण कर पूर्णकामा व्रज-सुन्दरियोंको श्रीहरिका जो दुर्लभ प्रसाद प्राप्त हुआ था, वह निरन्तर भगवान्‌के वक्षःस्थलमें निवास करनेवाली लक्ष्मीजीको और कमलकी-सी कान्ति तथा सुगन्धसे युक्त सुरसुन्दरियोंको भी नहीं मिला, फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है?'

गोपियोंकी चरणरज पानेके लिये व्रजमें लता-गुल्मौषधि बननेके इच्छुक और गोपियोंका शिष्यत्व ग्रहण करके गोपी-भावको प्राप्त हुए भक्त उद्धवसे स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१५)

'हे उद्धव! मुझे ब्रह्मा, संकर्षण, लक्ष्मी और अप[ना] आत्मा शङ्कर—ये भी उतने प्रियतम नहीं हैं जितने तुझ[-] जैसे भक्त हैं।'

इससे गोपियोंके महत्त्वकी किञ्चित् कल्पना हु[ई] होगी। भगवान्‌की ऐसी प्रियतमा गोपियोंके प्रेमका वर्ण[न] कौन कर सकता है? परम वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर कह[ीं] प्रेमका अधिकार मिलता है और उस दिव्य प्रेम-राज्य[में] प्रवेश कर चुकनेवाले महात्माओंके प्रसादसे ही दुर्ग[म] प्रेमपथपर अग्रसर होकर भक्त उस प्रेमामृतका कुछ आस्वाद प्राप्त कर सकता है। यह साधनसापेक्ष है। केवल अध्ययन या ग्रन्थ-पाठसे वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती तथापि भगवत्कृपासे, इधर-उधरसे जो कुछ बातें मालूम हु[ई] हैं, उन्हींका कुछ थोड़ा-सा भाव संक्षेपमें लिखनेकी चेष्[टा] यहाँ की जाती है।

गोपी-प्रेममें रागका अभाव नहीं है, परंतु वह राग सब जगहसे सिमटकर, भुक्ति और मुक्तिके दुर्गम प्रलोभन-पर्वतोंको लाँघकर केवल श्रीकृष्णमें अर्पण हो गया है गोपियोंके मन-प्राण सब कुछ श्रीकृष्णके हैं। इहलोक औ[र] परलोकमें गोपियाँ श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीको भी नह[ीं] जानतीं। उनका जीवन केवल श्रीकृष्णसुखके लिये है उनका जागना-सोना, खाना-पीना, चलना-फिरना, शृङ्गार-सज्जा करना, कबरी बाँधना, गीत गाना और बातचीत करना सब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये है। श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही सम्पूर्ण कामनाओंसे सर्वथा शून्य उन गोपियोंके अपार सुख होता है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने शरीरकी रक्षा मेरी सेवाके लिये ही करती हैं। गोपियोंको छोड़कर मेरा निगूढ प्रेम-पात्र और कोई नहीं है।'

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सुखसमुद्र, विज्ञानानन्दघन भगवान्‌को सुख पहुँचाना कैसा, क्या गोपियोंके द्वारा ही भगवान्‌को सुख मिलता है? भगवान् क्या स्वयं सुख-संदोह नहीं हैं? हैं क्यों नहीं, शक्तिमान् भगवान्‌की ही ह्लादिनी शक्ति तो श्रीराधिकाजी हैं; वे इस शक्तिको

अपनी वंशी-ध्वनिद्वारा सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं। भगवान्‌की शक्ति स्वाभाविक ही अपनी सारी अनुगामिनी शक्तियोंसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की ओर खिंचती रहती है और भगवान् उस आह्लादको पाकर पुनः उसे उन्हीं शक्तियोंको—प्रेमी भक्तोंको बाँट देते हैं। भक्त भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि—भगवान्‌का आवाहन सुनकर, घर-द्वारकी सुधि भुलाकर, प्रमत्त होकर, अपना सर्वस्व न्योछावर कर, भगवान्‌को सुखी करनेके लिये दौड़ता है। भगवान् उसकी दी हुई सुखकी भेंटको स्वीकार करते हैं और फिर उसीको लौटा देते हैं। दर्पणमें अपनी शोभा भरकर दर्पणको शोभायुक्त बनानेवाला पुरुष उस शोभाको स्वयं ही वापस पा जाता है और वह सुख लौटकर उसीको मिल जाता है। इसी प्रकार परम सुखसागर भगवान् गोपियोंके सुखकी भेंटको स्वीकार कर, उनकी इस कामनाको कि श्रीकृष्ण हमें देखकर, हमारी सेवा स्वीकार कर और हमारे साथ खेलकर सुखी हों, पूरी कर देते हैं। भगवान् सुखी होते हैं और वह सुख अपरिमितरूपमें बढ़ा करके पुनः उन्हींको दे देते हैं। गोपियोंके प्रेमकी यही विशेषता है कि गोपियोंको निज सुखकी कामना रत्तीभर भी नहीं है। उन्हें अपने सुखके लिये कल्पना ही नहीं होती। वे तो अपने द्वारा श्रीकृष्णको सुखी हुआ देखकर ही दिन-रात सुख-समुद्रमें डूबी रहती हैं। गोपियोंका प्रेम काम-कालिमाशून्य है, निर्मल भास्कर है, सर्वथा दिव्य है, अलौकिक है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए कहा गया है—

> कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल,
> कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल।
> लोक-धर्म, वेद-धर्म, देह-धर्म, कर्म,
> लज्जा, धैर्य, देह-सुख आत्म-सुख मर्म॥
> सर्व त्याग करये, करे कृष्णेर भजन,
> कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेमेर सेवन।
> अतएव काम-प्रेमे वहुत अन्तर,
> काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥

काम और प्रेममें वड़ा ही अन्तर है। हम विषय-विमोहित जीव भ्रमवश कामको ही प्रेम मानकर पाप-पङ्कमें फँस जाते हैं। काम जहर मिला हुआ मधु है, प्रेम दिव्य स्वर्गीय सुधा है। काम थोड़ी ही देरमें दुःखके रूपमें वदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कसकमें ही सुख-सुधाका स्वाद मिलता है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति—इन्द्रियचरितार्थता है, प्रेममें तन्मयता, प्रियतम-सुखकी नित्य प्रबल आकाङ्क्षा है। काममें इन्द्रिय-तृप्ति सुखरूप दीखनेपर भी परिणाममें दुःखरूप है; प्रेम सदा अतृप्त होनेपर भी नित्य परम सुखरूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है, प्रेम नित्य वर्धनशील है। काममें विषय-तृष्णा है, प्रेममें विषय-विस्मरण है। कामका लक्ष्य विषय है, आत्मतृप्ति है; प्रेमका विषय पूर्ण त्याग है और चरम आत्मविस्मृति है।

यथार्थ प्रेमसे ही कामका नाश हो जाता है। यद्यपि प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेकी इच्छाको कामना ही मानता है और समस्त इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि एकमात्र प्रेममुखी होनेसे उसे कामना ही कहते हैं; परंतु वह शुद्ध प्रेम यथार्थमें काम नहीं है। गौतमीय तन्त्रमें कहा गया है—

> **प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।**
> **इत्युद्धवादयोऽप्येतं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥**

'गोपियोंके प्रेमका नाम 'काम' होनेपर भी वह असलमें 'काम' नहीं, बल्कि शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव-सरीखे महात्मा इसी 'काम' नामक प्रेमकी अभिलाषा करते हैं।' क्योंकि गोपियोंमें निजेन्द्रियसुखकी इच्छा है ही नहीं। वे तो श्रीभगवान्‌को भगवान् समझकर ही अपने सकल अङ्गोंको अर्पण कर उन्हें सुखी करना चाहती हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इन विषयासक्तिशून्य श्रीकृष्णगतप्राणा गोपियोंके सम्बन्धमें कहा है—

> निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य,
> कृष्णसुख तात्पर्य गोपीभाववर्य।
> निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपिकार,
> कृष्ण-सुख-हेतु करे संगम बिहार॥
> आत्म-सुख-दुःख गोपी ना करे विचार,
> कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार।
> कृष्ण बिना आर सब करि परित्याग,
> कृष्ण-सुख-हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

अपना तन, मन, धन, रूप, यौवन और लोक-परलोक—सबको श्रीकृष्णकी सुखसामग्री समझकर श्रीकृष्ण-सुखके लिये शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गोपीभाव है। इस गोपीभावमें मधुर रसकी प्रधानता है। रस पाँच हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। लौकिक और ईश्वरीय दिव्य भेदसे ये पाँचों रस दो प्रकारके हैं, अर्थात् लौकिक प्रेम भी उपर्युक्त पाँच प्रकारका है और दिव्य प्रेम भी पाँच प्रकारका है। परंतु इन पाँचोंमें मधुर रस—कान्ताप्रेम सबसे ऊँचा है; क्योंकि इसमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य—ये चारों ही रस विद्यमान हैं। यह अधिक गुणसम्पन्न होनेसे अधिक स्वादिष्ट है, इसीलिये इसका नाम 'मधुर' है। इसी प्रकार दिव्य प्रेममें भी कान्ताप्रेम—मधुर रस ही सर्वप्रधान है। शान्त और दास्य रसमें भगवान् ऐश्वर्यशाली हैं, मैं दीन हूँ; भगवान् स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ—ऐसा भाव रहता है। इसमें कुछ अलगाव-सा है, भय है और संकोच है; परंतु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यमें क्रमशः भगवान् अधिकाधिक निज जन हैं, अपने प्यारे हैं, प्रियतम हैं; इनमें भगवान् ऐश्वर्यको भुलाकर, विभूतिको छिपाकर सखा, पुत्र या कान्तरूपसे भक्तके सामने सदा प्रकट रहते हैं, इन रसोंमें प्रार्थना-कामना है ही नहीं। अपने निज-जनसे प्रार्थना कैसी? उसका सब कुछ अपना ही तो है! इनमें भी कान्ताभाव सर्वप्रधान है। कान्ताभावमें पिछले दोनों रसोंका—सख्य और वात्सल्यका पूर्ण समावेश है। यहाँ भगवान्‌की सेवा खूब होती है, इतनी होती है कि सेवा करनेवाला भक्त कभी थकता ही नहीं; क्योंकि यह मालिककी सेवा नहीं है, प्रियतमकी सेवा है। प्रियतमके सुखी होनेमें ही अपार सुख है, जितना सुख पहुँचे, उतना ही थोड़ा; क्योंकि प्रियतमको जितना अधिक सुख पहुँचता है, उतना ही अपार सुखका अनुभव प्रियतमाको होता है।

यह कान्ताभाव दो प्रकारका है—स्वकीया और परकीया। लौकिक कान्ताभावमें परकीयाभाव त्याज्य है, घृणित है; क्योंकि उसमें अङ्ग-सङ्गरूप कामवासना रहती है और प्रेमास्पद 'जार-मनुष्य' होता है। परंतु दिव्य कान्ताभावमें—परमेश्वरके प्रति होनेवाले कान्ताभावमें परकीया-भाव ग्राह्य है, वह स्वकीयासे श्रेष्ठ है; क्योंकि इसमें कहीं अङ्ग-सङ्ग या इन्द्रियतृप्तिकी आकाङ्क्षा नहीं है। प्रेमास्पद पुरुष जार नहीं है, स्वयं 'विश्वात्मा भगवान्' हैं, पति-पुत्रोंके और अपने सबके आत्मा, परमात्मा हैं। इसीलिये गोपी-प्रेममें परकीयाभाव माना जाता है। यद्यपि स्वकीया पतिव्रता स्त्री अपना नाम, गोत्र, जीवन, धन और धर्म सभी पतिके अर्पण कर प्रत्येक चेष्टा पतिके लिये ही करती है, तथापि परकीयाभावमें तीन बातें विशेष होती हैं। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन, उससे मिलनेकी अतृप्त उत्कण्ठा और प्रियतममें दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयामें सदा एक ही घरमें एक साथ निवास होनेके कारण ये तीनों ही बातें नहीं होतीं। गोपियाँ भगवान्‌को नित्य देखती थीं; परंतु परकीयाभावकी प्रधानतासे क्षणभरका वियोग भी उनके लिये असह्य हो जाता था, आँखोंपर पलक बनानेके लिये वे विधाताको कोसती थीं; क्योंकि पलकें न होतीं तो आँखें सदा खुली ही रहतीं। गोपियाँ कहती हैं—

अटति यद्भवानह्नि काननं
त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।३१।१५)

'जब आप दिनके समय वनमें विचरते हैं तब आपको न देख सकनेके कारण हमारे लिये एक-एक पल युगके समान बीतता है। फिर सन्ध्याके समय, जब वनसे लौटते समय हम घुँघराली अलकावलियोंसे युक्त आपके श्रीमुखको देखती हैं, तब हमें आँखोंमें पलक बनानेवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होने लगते हैं। अर्थात् एक पल भी आपको देखे बिना हमें कल नहीं पड़ती।'

भगवान्‌का नित्य चिन्तन करना, पलभरके अदर्शनमें भी महान् विरह-वेदनाका अनुभव करना और सर्वतोभावसे दोषदर्शनरहित होकर आत्मसमर्पण कर चुकना गोपियोंका स्वभाव था। इसीसे वे उस प्रियतम-सेवाके सामने किसी बातको कुछ भी नहीं समझती थीं। लोक एवं वेद सबकी मर्यादाको छोड़कर वे कृष्णानुरागिणी बन गयी थीं। भोग और मोक्ष दोनों ही उनके लिये सर्वथा तुच्छ और त्याज्य थे। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
× × ×
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'हे उद्धव! गोपियोंने अपने मन और प्राण मुझमें अर्पण कर दिये हैं। मेरे लिये अपने सारे शारीरिक सम्बन्धोंको और लोकसुखके साधनोंको त्यागकर वे मुझमें ही अनुरक्त हो रही हैं। मैं ही उनके सुख और जीवनका आधार हूँ। इस प्रकार अपने आत्माको मुझमें अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्मा, इन्द्र, चक्रवर्तीके पद तथा पाताल आदिके राज्य और योगके आठों ऐश्वर्य आदिकी तो बात ही क्या है, अपुनरावर्ती मोक्ष भी नहीं चाहता।' ऐसे भक्तोंके लिये भगवान् क्या कहते हैं, सुनिये—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

'उनकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।' इसी कारण गीत-गोविन्दकारने '**देहि मे पदपल्लवमुदारम्**' कहकर भगवान्के द्वारा श्रीराधाजीके पदकमलकी चाह करायी है और इसी आधारपर रसिक रसखानजीने कहा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ़्यो पुरानन गानन, बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितै वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्यो, रसखानि बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो, दुर्यो वह कुंज-कुटीरमें बैठ्यो पलोटत राधिका-पायन॥

यद्यपि भक्त कभी यह नहीं चाहता कि भगवान् प्रियतम मेरे पैर दाबें, परंतु वहाँ तो सर्वथा ऐक्य होता है। कोई छोटा-बड़ा रहता ही नहीं। महाभारतमें सखा भक्त अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके व्यवहारका वर्णन सञ्जयने कौरवोंकी राजसभामें किया है। अर्जुनसे ही जब वैसा व्यवहार था तब गोपियोंके समान भक्तोंकी तो बात ही निराली है। गोपियोंका परकीयाभाव दिव्य है। लौकिक विषय-विमोहित मनवाले मनुष्य इसका यथार्थ भाव नहीं समझकर अपने वृत्तिदोषसे दोषारोपण कर देते हैं। वास्तवमें व्रजगोपिकाओंका प्रेम अत्यन्त उच्चतम अवस्थापर स्थित है। मधुर रस उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रेम, स्नेह, मान, राग, अनुराग और भावपर्यन्त पहुँच जाता है। भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव केवल प्रातःस्मरणीया व्रजदेवियोंमें ही था। श्रीभगवान्ने प्रेमिक भक्तोंकी प्रेमकामना पूर्ण करनेके लिये व्रजमण्डलमें इस सच्चिदानन्दमयी दिव्य लीलाको प्रकट किया था। गोपी-प्रेमकी यह पवित्र लीला भगवान्ने रमणाभिलापासे अथवा गोपियोंकी कामवासनातृप्तिके लिये नहीं की थी; न तो भगवान्में रमणाभिलाषा थी और न गोपियोंमें कामवासना ही। यह तो की गयी थी जगत्के जीवोंके काम-नाशके लिये! रासलीला-प्रकरणको समाप्त करते हुए मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

'जो धीर पुरुष व्रजबालाओंके साथ भगवान् विष्णुके इस रास-विहारकी कथाको श्रद्धापूर्वक सुने या पढ़ेगा, वह शीघ्र ही भगवान्की पराभक्तिको प्राप्तकर हृदयके रोगरूप काम-विकारसे छूट जायगा।'

जिस लीलाके भलीभाँति समझकर श्रद्धापूर्वक सुनने-पढ़नेसे ही हृद्रोग—कामविकार नष्ट होकर पराभक्ति प्राप्त होती है, उस लीलाके करनेवाले नायक श्रीभगवान् और उनकी प्रेयसी नायिका गोपिकाओंमें कामविकार देखना या कलुषित मानवी व्यभिचारकी कल्पना करना कामविमोहित विषयासक्त मनुष्योंके बुद्धिदोषका ही परिणाम है। व्रजलीला परम पवित्र है, इस बातको प्रेमीजन भलीभाँति जानते हैं और इसीसे नारद-सदृश देवर्षि और शिव-सदृश महान् देव उसमें सम्मिलित होनेकी वाञ्छासे गोपीभावमें दीक्षित होते हैं। मृत्युकी बाट देखनेवाले राजा परीक्षित्को महाज्ञानी शुकदेवजी इसीलिये व्रजलीला सुनाते हैं, जिससे सहज ही पराभक्तिको प्राप्तकर परीक्षित् भगवान्के असली तत्त्वको जान लें और भगवान्को प्राप्त हो जायँ। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञाननिष्ठाके नामसे पराभक्तिप्राप्तिका क्रम (और उसका फल) बतलाते हुए कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८।५१—५५)

अर्थात् जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्तसेवी, ...ताहारी, मन-वाणी-शरीरको जीता हुआ, सदा वैराग्यको धारण ...नेवाला, निरन्तर ध्यानपरायण, दृढ़ धारणासे अन्त:करणको ...में करके शब्द, स्पर्शादि विषयोंको त्यागकर, राग-द्वेषको ... करके, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रहको ...ड़कर ममतारहित, शान्त हो जाता है, तभी वह ब्रह्मप्राप्तिके ...य होता है; फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाला ... न किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसी ...तुकी आकाङ्क्षा ही करता है तथा सब प्राणियोंमें समभावसे ...वान्‌को देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। ... पराभक्तिके द्वारा मेरे तत्त्वको भलीभाँति जानता है कि ... किस प्रभाववाला हूँ। इसी पराभक्तिसे मुझको तत्त्वसे ...नकर भक्त तदनन्तर ही मुझमें मिल जाता है।

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो गोपियोंमें उपर्युक्त सभी ...ं पूर्णरूपसे थीं, विशुद्ध बुद्धिका इससे बढ़कर क्या ...त हो सकता है कि वह सदा भगवान् श्रीकृष्णमें ही ...ी रहे। श्रीकृष्णमिलनके लिये एकान्तसेवन शरीरसे ही ...ं, मनसे भी एकान्त रहना, खान-पान भूल जाना, मन-...णी-शरीरको विषयोंसे खींचकर एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमें ...ाये रखना, घर-परिवार आदि किसी भी भोगपदार्थमें राग ... रखना, निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके ध्यानमें प्रमत्त रहना, ...में श्रीकृष्णकी दृढ़ धारणासे अन्त:करणको श्रीकृष्णमय ...ाये रखना, श्रीकृष्णविषयक पदार्थोंके सिवा अन्य सभी ...द-स्पर्शादि विषयोंको त्याग देना, जगत्‌की दृष्टिसे किसी भी पदार्थमें राग-द्वेष न रखना, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह सबका श्रीकृष्णमें उत्सर्ग कर देना; घर-द्वार ही नहीं, स्वर्ग तथा मोक्षमें भी ममत्व न रखना; चित्तको सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमें समाहित रखकर जगत्‌के विषयोंसे शान्त रखना एवं श्रीकृष्णको ब्रह्मरूपसे पहचानकर उनसे मिलनेके लिये व्याकुल होना गोपियोंके चरित्रमें पद-पदपर प्राप्त होता है। इसके सिवा उनका नित्यानन्दमयी होकर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-शोकसे रहित होना और सर्वत्र श्रीकृष्णको सब प्राणियोंमें देखना भी प्रसिद्ध ही है। साधकोंको दीर्घकालके महान् साधनसे प्राप्त होनेवाली ये बातें गोपियोंमें स्वाभाविक थीं, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपना रहस्य खोलकर बतला दिया और अपने स्वरूपका साक्षात् दर्शन कराकर उनके साथ दिव्य क्रीड़ा करके उन्हें श्रीकृष्णरूप बना लिया। ज्ञानियोंसे विशेषता यह रही कि इसमें सारी बातें केवल विचारके आधारपर न रहकर प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य हो गयीं। साक्षात् परब्रह्म महान् सुन्दर द्विभुज मुरलीमनोहररूपधारी बनकर स्वयं भक्तोंके साथ नाचे। अपनी रूपमाधुरीसे भक्तोंके चित्तको चुराकर अपनी मुरली-ध्वनिसे प्रेमी भक्तोंको खींचकर अपने पास बुला लिया और उन्हें सब प्रकार कृतार्थ किया। एक महात्माने दिव्य दृष्टिसे देखकर सखी-भावमें प्रवेश हो कहा था—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

'अरी सखि! सुन, मैंने नन्दमहरके घर-आँगनमें एक बड़ा कौतुक देखा है; वहाँ साक्षात् वेदान्त-सिद्धान्त (ब्रह्म) गोधूलिसे भरे हुए शरीरसे नाच रहा है!'

ग्यानी बोध सुरूप ह्वै होहिं ब्रह्ममें लीन।
निरखत पै लीला मधुर प्रेमी प्रेम प्रवीन॥
ग्यानी ढिग गंभीर हरि सच्चित् ब्रह्मानंद।
प्रेमी सँग खेलत सदा चंचल प्रेमानंद॥
ग्यानी ब्रह्मानंद सों रहत सदा भरपूर।
पै प्रेमी निरखत सुखद दुर्लभ हरिको नूर॥
प्रेमी भाग्य सराहि मुनि ग्यानी विमल विवेक।
चहैं सुदुरलभ प्रेमपद तजि निजपदकी टेक॥

(क्रमशः)
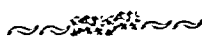
यशोदामाताका वात्सल्यप्रेम

अङ्काधिरूढं शिशुगोपगूढं
स्तनं धयन्तं कमलैककान्तम्।
सम्बोधयामास मुदा यशोदा
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

महाभाग्यवती यशोदाजीके सौभाग्यका वर्णन कौन कर सकता है, जिनके स्तनोंका साक्षात् ब्रह्माण्डनायकने पान किया है। संसारमें अनेक प्रकारके भक्त हैं, उनकी इच्छाके अनुसार भगवान्‌ने अनेक रूप धारण किये। नीच-से-नीच काम किये, छोटी-से-छोटी सेवा भगवान्‌ने की। कहीं नाई बनकर पैर दबाये तो कहीं महार बने। धर्मराजके यज्ञमें सबके चरण पखारते रहे, किंतु उनको बाँधा किसीने नहीं। छड़ी लेकर ताड़ना देनेका सौभाग्य महाभाग्यवती यशोदाजीको ही हुआ। ऐसा सुख, ऐसा वात्सल्य-आनन्द संसारमें किसीको भी प्राप्त न हुआ, न होगा। इसीलिये महाराज परीक्षित्‌ने पूछा है, महाभागा यशोदाने ऐसा कौन-सा सुकृत किया था, जिसके कारण श्रीहरिने उनका स्तनपान किया?

नन्दबाबाकी रानी यशोदामैयाके कोई सन्तान न थी। वृद्धावस्थामें आकर श्यामसुन्दर उनके लाड़ले लाल बने। माताके हर्षका ठिकाना नहीं। आँखोंकी पुतलीकी तरह वे अपने श्यामसुन्दरकी देख-रेख करने लगीं। यद्यपि वे बाहरसे काम करती थीं, किंतु उनका मन सदा श्यामसुन्दरकी ओर लगा रहता था। श्यामसुन्दर उनकी आँखोंसे ओझल न हों, मनमोहन सदा उनके हृदयमन्दिरके आँगनमें क्रीडा करते रहें। चर्मचक्षु भी अनिमेषभावसे उन्हें देखते रहें। किंतु यह बालक अद्भुत था, जन्मके थोड़े ही दिन बाद पूतनाने आकर इसे मारना चाहा, वह स्वयं मारी गयी। शकटासुरने माया फैलायी, उसका भी अन्त हुआ। व्योमासुरने जाल रचा, वह भी यमलोक सिधारा। इस प्रकार रोज ही नये-नये उत्पात होने लगे। माताको बड़ी शंका हुई, बच्चा बड़ा चञ्चल है। इसकी चञ्चलता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है, पता नहीं, क्या घटना घट जाय। एक दिन माता दूध पिला रही थी, उधर दूध उफना। बच्चेको वहीं जमीनपर रखकर दूधको देखने लगी। चञ्चल भगवान् ही जो ठहरे। दहीकी मटकी फोड़ दी, माखन फेंक दिया, बन्दरोंको बुला लिया। माताने देखा, यह तो बड़ा अनर्थ हुआ, देखते ही भागेगा और पता नहीं कहाँ जाय। धीरेसे पकड़ लिया और बोली—'अब बता, तू बड़ी चञ्चलता करता है। घरमें टिकता ही नहीं, मैं तुझे बाँधूँगी।' यह कहकर ओखलीसे उन्हें बाँध दिया। जो कभी नहीं बँधे थे वे बँध तो गये, किंतु उनका बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिके ही लिये था। ओखलीको घसीटते हुए यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें पहुँचे और उन्हें अपने पावन स्पर्शसे शापमुक्त कर दिया। नन्दजीने देखा कि उत्पात बढ़ रहे हैं तो वे अपने शकटोंको जोतकर ज्ञातिबन्धुओं और गौओंके साथ श्रीवृन्दावन चले गये।

वृन्दावनमें उन वृन्दावनविहारीने अनन्त लीलाएँ कीं। उनका वर्णन कौन कर सकता है, किंतु यशोदाजीको जो महान् विकलता हुई, वह एक ही घटना थी। कालियह्रदमें एक विषधर नाग रहता था। उसने समस्त यमुनाजीके जलको विषैला बना दिया था। गेंद उस ह्रदमें गिर गयी। उसीके आधारपर मुरारी कदम्बकी डाली पकड़कर कालियह्रदमें

* अपनी गोदमें बैठकर दूध पीते हुए बालकृष्णको लक्ष्य करके प्रेमानन्दके उद्रेकमें माता यशोदा प्यारसे कहती हैं—ऐ मेरे गोविन्द! ऐ मेरे दामोदर! बच्चा माधव! बोलो तो सही! (गोविन्ददामोदरस्तोत्र १)

कूद पड़े। सर्वत्र हाहाकार मच गया। व्रजवासी दौड़े आये। यशोदामैयाने भी सुना। भला, उनके दुःखका क्या पूछना है। वे अपने प्यारे बच्चेको न पाकर छटपटाने लगीं। उन्होंने बड़े आर्तस्वरमें कहा—'अरे, कोई मेरे बच्चेको बचा दो, मुझे मेरे छौनेको दिखा दो।' रोते-रोते वे उस कुण्डमें कूदने लगीं।

जैसे-तैसे बलरामजीने उन्हें रोका। जब नागको नाथकर नन्दनन्दन बाहर आ गये तो माताने उन्हें छातीसे चिपटा लिया। प्रेमाश्रुओंसे नहला दिया!

समय बदला। उन लीलाओंकी स्मृतिका अवसर आया। अक्रूरके साथ घनश्याम मथुरा चले गये। माताको आशा थी जल्दी आयेंगे, किंतु वह 'जल्दी' फिर आयी नहीं। उसके स्थानमें उद्धव सन्देश लेकर आये! उन्हें देखते ही नन्दजीने प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी। पासमें बैठी हुई वियोगिनी माता अपने पुत्रोंकी सब बातें सुन रही थी। रह-रहकर उसके हृदयमें हूक उठ रही थी। उन स्मरणोंके आते ही माताकी विचित्र दशा हो गयी।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥

उनकी आँखोंसे प्रेमके अश्रु बह रहे थे, स्तनोंसे दूध निकल रहा था, वे स्मृतियाँ रह-रहकर उसे रुला रही थीं—

'ते हि नो दिवसा गताः'

यशोदा धन्य हैं, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीलाओंका आनन्द लूटा। देवकीजी तो इस सुखसे वञ्चित ही रहीं।

नन्दबाबाका बालकृष्णमें सहज अनुराग

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परब्रह्म॥*

नन्दबाबाके सम्बन्धमें ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा गर्गसंहितामें बहुत कुछ वर्णन है, ये गोलोकमें नित्य भगवान्‌के साथ निवास करते हैं। जब भगवान् साङ्गोपाङ्ग सविग्रह व्रजमण्डलमें अवतरित हुए तब समस्त ग्वालबाल और गोपियोंने भी व्रजमण्डलको अपनी लीलाभूमि बनाया। नन्दबाबा कई भाई थे—नन्द, उपनन्द, महानन्द आदि-आदि। नन्दजी जातिके गोप थे और इनका एक समूह था, उसके ये नायक थे। प्रत्येक गोपके पास हजारों-लाखों गौएँ होती थीं, जहाँ गौएँ रहती थीं उसे गोकुल कहते थे।

इस प्रकार वह गोपसमूह व्रज चौरासी कोसमें रहता था। आज यहाँ है तो कल वहाँ, जिस वनमें अच्छी घास हुई, गौओंके चारे और पानीका जहाँ सुभीता हुआ, वहीं छकड़ा लादकर ये सब अपना डेरा डाल देते थे। उन दिनों नन्दजी मथुराके सामने यमुनाजीके उस पार महावन नामक वनमें रहते थे, महावनमें ही उन दिनों नन्दबाबाका गोकुल था। वसुदेवजीसे उनकी बड़ी मित्रता थी। जब कंसका अत्याचार बढ़ा तब वसुदेवजीने अपनी रोहिणी आदि पत्नियोंको नन्दबाबाके गोकुलमें ही भेज दिया था। बलदेवजीका जन्म गोकुलमें ही हुआ। भगवान्‌को भी वसुदेवजी जन्म होते ही गोकुलमें कर आये थे। इस प्रकार बलराम और भगवान् श्रीकृष्ण दोनों ही नन्दबाबाके पुत्र हुए और उन्होंने ही उनका लालन-पालन किया। नन्दजी राम और कृष्ण दोनोंको प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते थे, दिन-रात उन्हींकी चिन्ता किया

* संसारसे भयभीत होकर कोई श्रुतिका आश्रय ले, कोई दूसरा स्मृतिकी शरण ग्रहण करे और कोई तीसरा महाभारतकी शरण जाय; हम तो नन्दबाबाकी चरणवन्दना करते हैं, जिनके आँगनमें साक्षात् परब्रह्म खेलते हैं।

करते थे। उन्हें कोई कष्ट न हो, किसी प्रकारकी असुविधा न हो, इस बातको वे बार-बार यशोदामैयासे कहते रहते थे। श्रीकृष्ण उनके बाहरी प्राण थे, उनके जीवनमें श्रीकृष्णस्मृति ही प्रधान स्मृति थी। वे अपने सब काम श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही करते थे। इससे मेरे लालको सुख होगा, इसमें उसकी प्रसन्नता होगी, इस बातका ध्यान उन्हें सदा बना रहता था।

जब गोकुलमें भाँति-भाँतिके उत्पात होने लगे, पूतना-शकटासुरकी घटनाएँ हुईं, तब सभी गोपी-गोप क्षुभित हो गये। श्रीकृष्णकी मङ्गलकामनासे उन्होंने गोकुलको छोड़ दिया और वृन्दावनमें आकर रहने लगे। वहाँ श्रीकृष्ण भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करके नन्दबाबाको सुख देने लगे। एक दिन नन्दबाबाजी एकादशीका व्रत करके द्वादशीके दिन अर्धरात्रिके समय स्नान करनेके लिये यमुनातटपर आ गये। उस समय वरुणके दूतोंने उन्हें पकड़ लिया और वे उन्हें वरुणलोकमें ले गये। इधर प्रातःकाल जब गोपोंने नन्दजीको नहीं देखा तो वे विलाप करने लगे। सर्वान्तर्यामी प्रभु सब बातें जानकर वरुणलोकको गये। भगवान्‌को

देखकर वरुणने प्रभुकी विधिवत् पूजा की और दूतोंकी धृष्टताके लिये क्षमा माँगी, तब भगवान् नन्दबाबाजीको साथ लेकर व्रजमें आये और नन्दजीको विश्वास हो गया कि ये साक्षात् पुराणपुरुषोत्तम हैं।

इसी प्रकार एक बार नन्दजी देवीजीकी यात्रामें सब ग्वालबालोंको लेकर गये। वहाँ नन्दजीको रात्रिमें सोते समय एक अजगरने पकड़ लिया। गोपोंने उसे जलती लकड़ीसे बहुत मारा, किंतु वह गया नहीं। तब भगवान्‌ने चरणके अँगूठेसे उसे छू दिया, छूते ही वह गन्धर्व बन गया और अपनी कथा सुनाकर चला गया।

जब कंसने अक्रूरके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको मथुरा बुलाया तो नन्दजी उन्हें साथ लेकर मथुरा गये। वहाँ जाकर उन्होंने कंसको मारकर अपने नाना उग्रसेनको पुनः राजा बनाया। नन्दजी व्रजमें लौट आये। भगवान् वहीं रह गये। पीछे उद्धवजीके हाथ उन्होंने सन्देश भेजा। उद्धवजीको देखकर वृद्ध नन्दबाबा रो पड़े। उन्हें अब अपने श्यामसुन्दरका यथार्थ रूप मालूम पड़ा। अरे, जिन्हें हम अपना पुत्र समझते थे वे तो विश्वब्रह्माण्डनायक हैं, जगत्पिता हैं। उन्होंने दुःखभरे शब्दोंमें, करुणापूर्ण वाणीमें श्रीकृष्णको याद करते हुए कहा—

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥
सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥

(श्रीमद्भा० १०। ४६। १९—२३)

'अक्रूरजी! कभी श्यामसुन्दर हम सबको देखने आयेंगे? क्या कभी हम उनके सुन्दर नासिकावाले हँसते हुए मुखारविन्दको देख सकेंगे? उन्होंने हमारी दावाग्नि, वायु, वर्षा, वृषासुर, सर्प आदिसे रक्षा की; उन महात्माने हमें इन अवश्यम्भावी मृत्युओंसे बचाया। उनके पराक्रम, उनकी हँसी, उनके प्रेमयुक्त कटाक्षों तथा उनकी बोलन-चलन-बतरावनको जब हम स्मरण करते हैं और उनके चरण-कमलोंसे अङ्कित पृथ्वी, पर्वत, नदी आदि स्थानोंको जब हम देखते हैं तो अपने आपेको भूल जाते हैं, हमारी

सभी क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं, हम तन्मय हो जाते हैं। हम तो उन्हें देवताओंके कामके लिये अवतीर्ण होनेवाले साक्षात् पुरुषोत्तम ही मानते हैं।'

इस प्रकार उन्हें भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान हो गया।

एक बार कुरुक्षेत्रमें फिर वह करुणापूर्ण दृश्य उपस्थित हुआ, जब नन्दबाबाने अपनी गोदीमें बिठाकर श्यामसुन्दरका मुख चूमा। उस चुम्बनमें कितनी विरहवेदना, कितनी अनन्त स्मृतियाँ थीं, इसे कौन कह सकता है। अतः श्रीभगवान्‌के निज लोक पधारनेपर समस्त ग्वालबाल और गौ-बछड़ोंके साथ नन्दबाबाजी भी अपने सत्य सनातन लोकको चले गये, जहाँ न जरा है न मृत्यु है, जहाँ सदा श्रीकृष्णलीलाका दिव्य आनन्द-ही-आनन्द है।

संतहृदय वसुदेवजीका पुत्रप्रेम

यदुवंशमें शूरसेन नामक एक पराक्रमी क्षत्रिय हुए, उनकी मारिषा नामकी पत्नी थी। शूरके मारिषाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न हुए। उन दसोंमें वसुदेवजी सबसे श्रेष्ठ थे। इनका विवाह देवककी सात कन्याओंसे हुआ। रोहिणी भी इनकी पत्नी थीं। देवकीजी देवककी सबसे छोटी कन्या थीं। जब वसुदेवजी देवकीके साथ विवाह करके आ रहे थे तो देवकके बड़े भाई उग्रसेनका पुत्र कंस अपनी बहिनकी प्रसन्नताके लिये स्वयं रथ हाँक रहा था, उसी समय आकाशवाणी हुई—'कंस! इसी देवकीका आठवाँ गर्भ तुझे मारेगा।' कंस मृत्युभयसे काँप गया और वहीं देवकीजीको मारनेके लिये तैयार हो गया। वसुदेवजीने उसे बहुत

समझाया, किंतु वह माना ही नहीं। तब वसुदेवजीने सोचा, इस समयको टाल देना ही बुद्धिमानी है। इसलिये वसुदेवजीने कहा—'अच्छा, तुम्हें इसके पुत्रसे डर है न? तुम इसे मत मारो, इसके सब पुत्र मैं तुम्हें लाकर दे दूँगा।'

कंसको चाहे और किसीपर विश्वास न रहा हो, किंतु वह यह जानता था कि वसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोलेंगे, ये जो कहेंगे वही करेंगे। उसने वसुदेव-देवकीको छोड़ दिया। समय पाकर उनके एक पुत्र हुआ और वसुदेवजी अपने प्रतिज्ञानुसार उसे कंसके यहाँ लेकर पहुँच गये।

अपने हृदयके टुकड़ेको वे मरवानेके लिये क्यों ले गये? बाप अपने प्यारे पुत्रको अपने हाथसे मरवानेके लिये कैसे ले गया? इसपर व्यासजी कहते हैं—

किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१।५८)

वे संत थे, उनके लिये सब कुछ सह्य था। वे धैर्यवान थे, सत्यके पीछे सब कुछ छोड़ सकते थे। कंसने उनको

सत्यतापर सन्तुष्ट होकर एक बार लड़केको लौटा दिया। दुबारा जब उसने मँगाया तब फिर लेकर पहुँचे। उसने इन्हें कारागारमें रखा, कारागारमें रहे; नाना प्रकारके कष्ट दिये, उन्हें शान्तिपूर्वक सहन किया। अन्तमें कारागारमें ही भगवान्का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान्की आज्ञा हुई, मुझे गोकुल पहुँचा दो। कंससे बढ़कर भगवान्की आज्ञा थी। भाद्रपदकी अँधेरी रात्रिमें आधी रातके समय बढ़ती हुई यमुनाजीमें सद्योजात शिशुको लेकर वसुदेवजी उनकी आज्ञाका स्मरण करके घुस गये। यमुनाजी भी हट गयीं। सब विघ्न दूर हुए। भगवान्को सकुशल गोकुल पहुँचाकर तथा बदलेमें यशोदाकी कन्याको लेकर वे वापस आ गये। किवाड़ ज्यों-के-त्यों फिर बंद हो गये, ताले लग गये। हाथोंमें फिर ज्यों-की-त्यों हथकड़ियाँ पड़ गयीं। कंस आया और उसने लड़कीको पत्थरपर पछाड़कर मार डालनेका उद्योग किया, किंतु वह तो साक्षात् योगमाया थी, आकाशमें अपने स्वरूपसे प्रकट होकर उसने कहा—'कंस! तुम्हें मारनेवाला प्रकट हो गया है।'

भगवान् समीपमें ही वृन्दावनमें रहते थे। प्रत्येक माता-पिताका मन इस बातके लिये लालायित रहता है कि अपने हृदयके टुकड़ेको एक बार जी भरकर इन आँखोंसे देख लें, किंतु वसुदेवजीने ऐसा साहस कभी नहीं किया। छिपकर, आँख बचाकर भगवान्की इच्छाके विरुद्ध मोहवश वहाँ जायँगे तो साधुतामें बट्टा लगेगा। बात बिगड़ जायगी। जब उनकी इच्छा होगी, जब वे चाहेंगे, स्वयं आ जायँगे या बुला लेंगे। वे उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठे हुए कंसपालित मथुरामें तप करते रहे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्॥

अन्तर्यामी प्रभुसे माता-पिताकी भावनाएँ छिपी थोड़े ही थीं। किस बातसे माता-पिता प्रसन्न होंगे, इसे वे जानते थे। स्वतः ही वे आये। पहले उन्होंने अपने माता-पिताको दुःख देनेवालेको ही मारा। यदि यह जीवित रहेगा तो वे सुखसे हृदय खोलकर न मिल सकेंगे। डरते-डरते मिलना कोई मिलना थोड़े ही है, जबतक निर्भय होकर अपने प्रेमास्पदको हृदयसे न लगा लिया जाय। देवकी तो कंससे डरी हुई थीं, उन्हें उसके नामसे ही भय लगता था। यह बात उन्होंने भगवान्से प्रकट होते ही कही थी—

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतोः कंसादहमधीरधीः॥

(श्रीमद्भा० १०।३।२९)

'वह इस बातको न जानने पावे कि आपका प्रादुर्भाव मेरे ही यहाँ हुआ है। मैं आपके लिये इस कंससे बहुत ही डरी हुई हूँ।'

भगवान्ने पहले उसी काँटेको निकाला, फिर माता-पिताको अभय करके उनकी बेड़ियाँ-हथकड़ियाँ काटीं और स्वयं उनके चरणोंपर गिरे।

अहा! चिरकालके बिछुड़े अपने पुत्रको पाकर वसुदेवजी कितने प्रसन्न हुए होंगे, उनकी प्रसन्नताका वर्णन भला कौन कर सकता है! किंतु उनके मनमें भगवान्के प्रति ईश्वर-बुद्धि आ गयी, ऐश्वर्यमें प्रेमरसास्वादन कहाँ? अन्तर्यामी प्रभु समझ गये और बोले—

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥
तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः॥
तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४५।४, ८-९)

'हम ही बड़े मन्दभागी हैं जो हमने बालकपनमें आपके घरमें सुख नहीं पाया। माता-पिताके समीप बालकको कितनी प्रसन्नता होती है, कितना सुख मिलता है। सो हमलोग कंससे डरे हुए दूर-ही-दूर रहे। आप हमारे लिये तड़फड़ाते रहे, हम आपके लिये छटपटाते रहे। उस दुष्टके द्वारा सताये हुए आपकी बिना सेवा किये, आपको बिना सुख पहुँचाये, हमारे ये दिन व्यर्थ ही गये। हे माता-पिता! हमारे इस विवशताजनित अपराधको क्षमा करें।'

इस प्रकार जब भगवान्ने प्रेममें सनी हुई बातें कहीं तो वसुदेवजी उनके ऐश्वर्यको भूल गये। माताने और वसुदेवजीने दोनों अपने हृदयके टुकड़ोंको छातीसे चिपटा लिया। प्रेमके आँसुओंसे उनके काले-काले घुँघराले बालोंको भिगो दिया। अपने जीवनको सफल बनाया।

वसुदेवजीके बराबर कौन भाग्यवान् हो सकता है, जिन्हें वे अखिलब्रह्माण्डनायक सदा पिता-पिता कहकर पुकारा करते थे, जिनकी शुश्रूषा साक्षात् देवासुरवन्दित लक्ष्मीपति किया करते थे।

अन्तमें भगवान्ने कुरुक्षेत्रमें ऋषियोंके द्वारा वसुदेवजीको तत्त्वबोध कराया। पीछे जब वसुदेवजीने भगवान्के सम्मुख उस ज्ञानको प्रकट किया तो भगवान्ने भी उसका अनुमोदन किया। भगवान्ने उन्हें अपने असली रूपका परिचय कराया और अन्तमें कहा—

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्॥
आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥

(श्रीमद्भा० १०।८५।२३-२४)

'हे पिता! हे यदुश्रेष्ठ! मैं, आप सब, बलदेवजी, समस्त द्वारकावासी, यहाँतक कि सम्पूर्ण जगत्—ये सब एक ही हैं ऐसा जानो। आत्मा एक है, स्वयंज्योति है, नित्य है, अनन्य तथा निर्गुण है, किंतु अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुए गुणोंके कारण उन्हीं गुणोंसे उत्पन्न हुए नाना शरीरोंमें वह नाना रूपोंसे भासता है।'

इस प्रकार वसुदेवजीने यथार्थ तत्त्वको समझ लिया। अन्तमें जब प्रभासक्षेत्रमें भगवान्ने अपनी लीला संवरण की तब वसुदेवजी भी अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आकर भगवान्के अनुयायी हुए। उन्हींके मार्गका अनुसरण किया।

माता देवकीकी वात्सल्य-निष्ठा

विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाशं पुरुषः परो भवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बनं हि तत्॥*

महाराज उग्रसेनके एक भाई थे, उनका नाम देवक था, महाभाग्यवती देवकीजी उन्हींकी पुत्री थीं। कंस इनका चचेरा भाई था, ये कंससे छोटी थीं, अतः वह इन्हें बहुत प्यार करता था। इनका विवाह यदुवंशी श्रीवसुदेवजीसे हुआ। देवकजीने अपनी पुत्रीका विवाह बड़े ही उल्लासके साथ किया। बहुत-सा दहेज वसुदेवजीको दिया और बड़ी धूमधामसे विवाहका समस्त कार्य सम्पन्न हुआ। कंस अपनी बहिनके प्रति स्नेह प्रदर्शित करनेके लिये बिदाईके समय उसके रथको स्वयं हाँकने लगा। रथमें नवविवाहिता देवकीजी और वसुदेवजी बैठे थे, कंस घोड़ोंको हाँक रहा था, इसी समय आकाशवाणी हुई—'अरे, ओ मूढ़ कंस! तू जिस बहिनके रथको इतनी प्रीतिसे हाँक रहा है, इसीका अष्टम गर्भ तुझे मारेगा।' बस, फिर क्या था, रंगमें भंग पड़ गयी, अमृतमें विष मिल गया। हर्षके स्थानमें उदासी छा गयी, स्नेहका स्थान द्वेषने ग्रहण कर लिया। क्रोधके आवेशमें कंस रथसे कूद पड़ा। उसने तलवार निकाल ली और देवकीजीकी चोटी पकड़कर बड़े क्रोधके साथ बोला—'बस, *न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।'* विषके वृक्षको ही क्यों बढ़ने दे कि उसके फलोंसे मृत्युकी सम्भावना हो, बढ़नेके पहले वृक्षको ही काट देना बुद्धिमानी है। मैं अभी इस देवकीका अन्त किये देता हूँ।'

पासमें बैठे हुए वसुदेवजीने बड़े धैर्यके साथ उसे समझाया, ज्ञानकी बातें बतायीं। धर्म सुझाया और अन्तमें विश्वास दिलाया कि इसके जितने भी पुत्र होंगे, हम सब तुम्हें दे जाया करेंगे। तुम इस अबलाको जो तुम्हारी बहिन है, नवविवाहिता है—क्यों मारते हो? भगवान्की प्रेरणा, उसके मनमें यह बात बैठ गयी, उसने देवकीको छोड़ दिया। परंतु पीछेसे वसुदेवजीके सहित देवकीको कारागारमें बंद कर दिया।

क्रमशः देवकीजीके गर्भसे सात संतानें हुईं। अपने प्रतिज्ञानुसार वसुदेवजीने उन्हें कंसको सौंप दिया और उस दुष्टने सभीको मार डाला। अष्टम गर्भमें साक्षात् श्रीमन्नारायण चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए। यह गर्भ देवकीके लिये

* श्रीदेवकीजी कहती हैं—प्रलयके अन्तमें जब आप इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन कर लेते हैं तब सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समा जाता है, किसीको भी अवकाशकी न्यूनता नहीं होती, वे ही आप मेरे गर्भमें आये हैं, यह लोगोंके लिये एक आश्चर्यकी बात है, इसपर भला कौन विश्वास करेगा?

'**हर्षशोकविवर्धनः**' हुआ। हर्ष तो इस बातका कि साक्षात् भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, शोक कंसके अत्याचारोंको लेकर। जब भगवान् अपनी प्रभासे दसों दिशाओंको प्रभान्वित बनाते हुए शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मके साथ चतुर्भुजरूपमें प्रकट हुए तो देवकीमाताने उनकी बड़ी स्तुति की और प्रार्थना की—'प्रभो! मैं कंससे बहुत डरी हूँ, वह तुम्हें भी मार डालेगा। अत: उससे मेरी रक्षा करो और अपना यह अलौकिक रूप छिपा लो।' लीलामय भगवान्ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मुझे नन्दजीके गोकुलमें भेज दो, वहाँ यशोदाजीके गर्भसे मेरी माया उत्पन्न हुई है, उसे ले आओ।' यह कहकर प्रभु साधारण शिशु हो गये। वसुदेवजी भगवान्को नन्दजीके यहाँ पहुँचा आये और वहाँसे कन्याको ले आये।

भगवान् व्रजमें ही बड़े हुए। देवकीमाता अपने हृदयके टुकड़ेको देखनेके लिये तरसती रहीं। उनका मन उस श्यामसुन्दरकी सलोनी मनमोहिनी मूर्तिके लिये तरसता रहा। कंसको मारकर जब भगवान् देवकीजी और वसुदेवजीके पास आये तो भगवान्ने अत्यन्त स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा—आप लोग सदा मेरे लिये उत्कण्ठित रहे, किंतु मैं आप लोगोंकी कुछ भी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सका। बाल्यकालमें क्रीडाएँ करके बालक माता-पिताको प्रमुदित करता है, मेरे द्वारा यह भी नहीं हो सका, अत: आप क्षमा करें—

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयोः।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

इस प्रकार भगवान्ने मातृ-पितृ-भक्ति प्रदर्शित की! जब श्रीमथुरापुरी छोड़कर भगवान् द्वारका पधारे तो देवकीजी द्वारकामें ही भगवान्के समीप रहती थीं। वे उन्हें अपना प्रिय पुत्र ही समझती थीं। पुत्रस्नेह भी कैसा मधुमय सम्बन्ध है, भगवत्ताका उन्हें स्मरण भी नहीं होता था, उनके लिये तो श्यामसुन्दर बालक ही थे, उन्हें अपने हाथसे खिलातीं-पिलातीं, भाँति-भाँतिकी शिक्षाएँ देतीं। मातृस्नेहको व्यक्त करनेके लिये भगवान् भी देवकीजीकी हर प्रकारसे सेवा करते। जन्मके समय भगवान्ने अपने चतुर्भुजरूपसे जो माताको दर्शन दिया था, उसे वे भूल गयीं और अब उन्हें फिर अपना पुत्र ही मानने लगीं। भगवान् तो माताको असली ज्ञान कराना चाहते थे, अत: उनके मनमें एक प्रेरणा की।

माताने जब सुना कि मेरे पुत्र राम-कृष्णने गुरुदक्षिणामें गुरुके मृत पुत्रको ला दिया तो उन्होंने भी प्रार्थना की कि मेरे भी जो पुत्र कंसके द्वारा मारे गये हैं, उन्हें ला दो। माताकी ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् वासुदेव बलदेवजीके सहित पाताललोकमें गये और वहाँसे उन पुत्रोंको ले आये। माताने देखा, वे तो अभी उसी अवस्थाके हैं, माता अपने आपेको भूल गयीं। उनके स्तनोंमेंसे दूध टपकने लगा। बड़े स्नेहसे उन्हें गोदीमें बिठाकर दूध पिलाने लगीं। वे भी श्रीकृष्णोच्छिष्ट स्तनको पान करके देवलोकको चले गये। अब माताको ज्ञान हुआ कि ये मेरे साधारण पुत्र नहीं हैं, ये तो चराचरके स्वामी हैं। विश्वके एकमात्र अधीश्वर हैं। माताकी मोह-ममता दूर हो गयी, वे भगवान्के ध्यानमें मग्न हो गयीं।

अन्तमें जब प्रभासक्षेत्रकी महायात्रा हुई और उसमें सब यदुवंशियोंका नाश हो गया तथा भगवान् भी अपने लोकको चले गये, तब यह समाचार दारुकके द्वारा वसुदेव, देवकीजीने भी सुना। वे दौड़े-दौड़े प्रभासक्षेत्रमें आये। वहाँ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर माता देवकीजीने श्रीवसुदेवजीके साथ भगवान्के विरहमें इस पाञ्चभौतिक शरीरसे उसी क्षण सम्बन्ध त्याग दिया। वे उस भगवद्धामको चली गयीं जहाँ उनके प्यारे प्रभु नित्य निवास करते हैं।
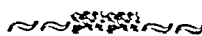
माता कुन्तीका अनुपम अनुराग

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥*

शास्त्रोंमें पाँच देवियाँ नित्य कन्याएँ मानी गयी हैं। उनमें महारानी कुन्ती भी हैं। ये वसुदेवजीकी बहिन थीं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी फूआ। महाराज कुन्तिभोजसे इनके पिताकी मित्रता थी, उनके कोई सन्तान न थी, अतः ये कुन्तिभोजके यहाँ गोद आयीं और उन्हींकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम कुन्ती पड़ा। बाल्यकालमें ये साधु-महात्माओंकी बहुत सेवा किया करती थीं। घरमें जो भी कोई अतिथि साधु आता, ये हर प्रकारसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करतीं। एक बार महर्षि दुर्वासा इनके यहाँ आये और वे बरसातके चार महीने इन्हींके यहाँ ठहर गये। कुन्तीजीने उनकी तन-मनसे खूब सेवा की। चलते समय महर्षि इन्हें एक मन्त्र दे गये और
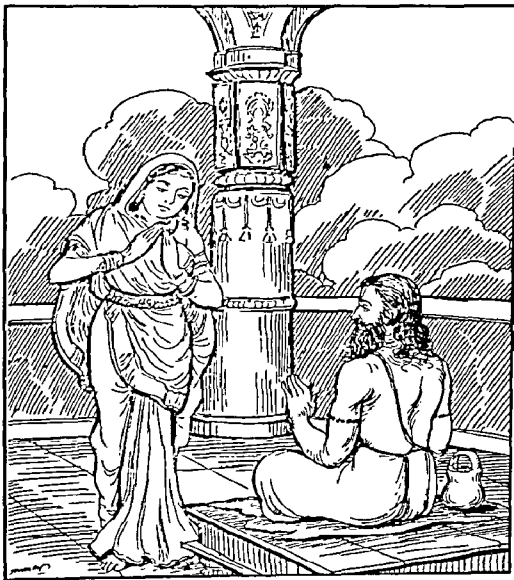
कह गये कि 'सन्तानकामनासे तू जिस किसी देवताका स्मरण करेगी, वह उसी समय अपने दिव्य तेजसे आ जायगा, इससे तेरा कन्याभाव नष्ट न होगा।' ऋषिके चले जानेपर इन्होंने बालकपनके कुतूहलवश भगवान् सूर्यदेवका आवाहन किया। सूर्यदेव आये, ये डर गयीं, उन्होंने आश्वासन दिया, उन्हींसे दानी कर्णकी उत्पत्ति हुई, जिन्हें लोकापवादके कारण इन्होंने नदीमें छोड़ दिया और एक सारथिने अपना पुत्र बनाया। महाराज पाण्डुके साथ इनका विवाह हुआ, वे राजपाट छोड़कर वनको चले गये। वनमें ही इनके धर्म, इन्द्र, पवनके अंशसे युधिष्ठिर, अर्जुन, भीमकी उत्पत्ति हुई और माद्रीसे अश्विनीकुमारोंके अंशसे नकुल एवं सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुका शरीरान्त होनेपर माद्री तो उनके साथ सती हो गयीं और ये बच्चोंकी रक्षाके लिये जीवित रह गयीं। इन्होंने पाँचों पुत्रोंको अपनी ही कोखसे उत्पन्न हुआ माना, कभी स्वप्नमें भी उनमें भेदभाव नहीं किया।

पाण्डवोंको जब देशनिकाला हुआ तो ये दुःखके साथ विदुरके घरमें रहीं, पुत्रोंकी मङ्गलकामना ईश्वरसे करती रहीं। इससे पूर्व जब दुर्योधनने लाक्षागृहमें पाँचों पाण्डवोंको जलानेका षड्यन्त्र रचा था, तब माता कुन्ती साथ ही थीं और साथ ही वहाँसे छिपकर भागीं। तब पाण्डवोंपर बड़ी विपत्ति थी। वे भीख माँगकर खाते थे, माता उनकी सब प्रकारसे रक्षा करतीं और सबको यथायोग्य भोजन देतीं। दयावती ये इतनी थीं कि जिस ब्राह्मणके यहाँ रहती थीं, उसके घरसे एक दिन उसका पुत्र राक्षसके पास उसके भोजनके लिये जा रहा था।
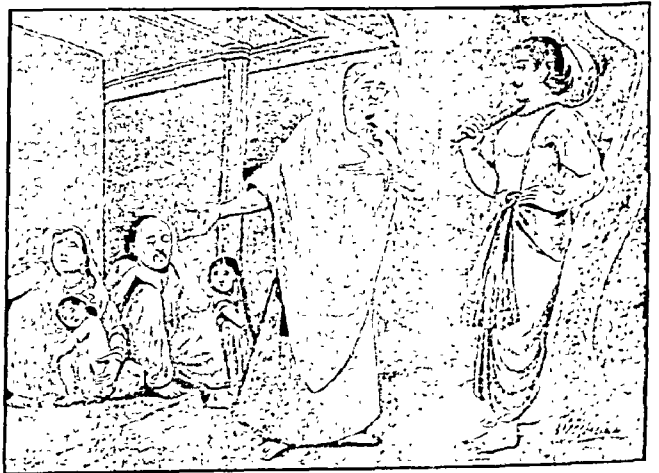
ब्राह्मणी अपने इकलौते पुत्रको जाते देख रो रही थी। माता कुन्तीको दया आयी और कहा—'मेरे पाँच पुत्र हैं,

---

* कुन्तीजी भगवान्से प्रार्थना करती हैं—'हे जगद्गुरो! हमपर सदा विपत्तियाँ ही आती रहें, क्योंकि आपके दर्शन विपत्तिमें ही होते हैं और आपके दर्शन होनेपर फिर इस संसारके दर्शन नहीं होते, अर्थात् मनुष्य आवागमनसे रहित हो जाता है।' (श्रीमद्भा० १।८।२५)

एक चला जायगा।' जब ब्राह्मणीने बहुत मना किया तो बोलीं—'मेरा पुत्र उस राक्षसको मार आयेगा।' ऐसा ही हुआ। भीमने उस राक्षसको मारकर सारी नगरीको सदाके लिये सुखी बना दिया।

ये दयावती होनेके साथ ही वीरमाता थीं। जब जूएमें युधिष्ठिर हार गये और तेरह वर्षके वनवासके बाद भी दुर्योधन पाण्डवोंको कुछ भी देनेके लिये राजी नहीं हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दूत बनकर हस्तिनापुरमें आये। उन्होंने दुर्योधनको बहुत समझाया, पर वह माना ही नहीं। उसने स्पष्ट कह दिया—

सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

'हे माधव! सूईके अग्रभागके बराबर भी पृथ्वी मैं बिना युद्धके न दूँगा।' तब भगवान् माता कुन्तीके पास आये और बोले—'ऐसी दशामें अब तुम अपने पुत्रोंको क्या सन्देश देती हो?' तब कुन्तीजीने बड़ी ही वीरतासे कहा—

'यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः॥'

'क्षत्रियाणी जिस समयके लिये पुत्रोंको पैदा करती है, वह समय—अर्थात् युद्ध करनेका समय—अब आ गया;
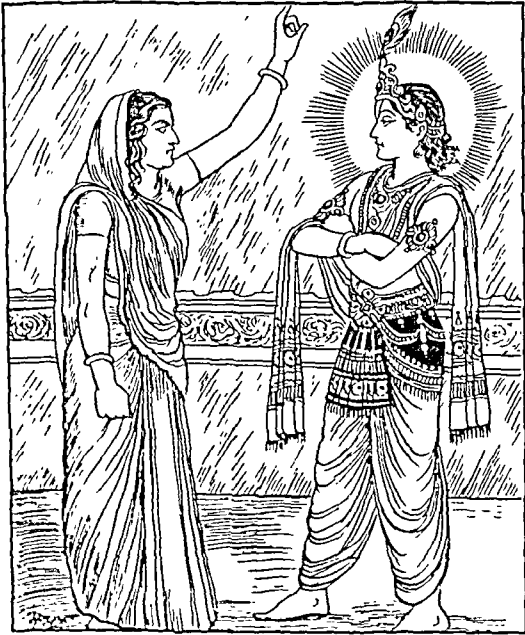
मेरे पुत्रोंसे कह देना, लड़कर वे अपना अधिकार प्राप्त करें।' यह है एक वीरमाताका पुत्रोंके लिये आदेश!

जिसकी सम्भावना थी, वही हुआ। महाभारतका युद्ध हुआ। अठारह अक्षौहिणी सेनाका संहार हुआ। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र मारे गये। गान्धारी पुत्रहीना बन गयी, वह रोती हुई युद्धभूमिमें गयी, कुन्ती उसे पकड़कर ले गयीं और भाँति-भाँतिसे धैर्य बँधाने लगीं। माता कुन्तीने सच्चे मनसे उस पतिव्रता गान्धारीकी सब प्रकारसे सेवा की।

माता कुन्तीने कभी शारीरिक सुख नहीं भोगा, जबसे वे विवाहिता होकर आयीं, उन्हें विपत्तियोंका ही सामना करना पड़ा। पति रोगी थे, उनके साथ जंगलोंमें भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुए, उनकी देख-रेख की, थोड़े दिन हस्तिनापुरमें पुत्रोंके साथ रहीं, वह भी दूसरेकी आश्रिता बनकर। फिर लाक्षागृहसे किसी प्रकार अपने पुत्रोंको लेकर भागीं और भिक्षाके अन्नपर जीवन बिताती रहीं। थोड़े दिन राज्य-सुख भोगनेका समय आया कि धर्मराज युधिष्ठिर कपटके जूएमें सर्वस्व हारकर वनवासी बने, तब ये विदुरके घरमें रहकर जैसे-तैसे जीवन बिताती रहीं। युद्ध हुआ, परिवारवालोंका संहार हुआ, इससे कुन्तीको क्या सुख। उन्होंने अपने सुखके लिये युद्धकी सम्मति थोड़े ही दी थी, उसे तो उन्होंने क्षत्रियोंका धर्म बताया था। पाण्डवोंकी विजय होनेसे क्या हुआ। वह पाण्डवोंके साथ राज्यभोगमें सम्मिलित नहीं हुईं। उन्होंने तो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने उन अन्धे जेठ धृतराष्ट्र और जिठानी गान्धारीकी सेवामें अर्पण कर दिया, जिन धृतराष्ट्र तथा गान्धारीके पुत्रोंने इन्हें एवं इनके पुत्रोंको इतने कष्ट दिये थे! गान्धारी और धृतराष्ट्र जब पुत्रवियोगसे दुःखी होकर जंगलोंमें चले तो उनकी लाठी पकड़कर पुत्रोंका मोह छोड़कर कुन्तीदेवी उनके साथ हो लीं। इस प्रकार उनका जीवन सदा विपत्तिमें ही कटा। इस विपत्तिमें भी उन्हें सुख था। वे इस विपत्तिको भगवान्‌से चाहती थीं और हृदयसे इसे विपत्ति मानती भी नहीं थीं।

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।
विपद्विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः॥

'विपत्ति यथार्थमें विपत्ति नहीं है, सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवान्‌का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बड़ी सम्पत्ति है।' सो उन्हें भगवान्‌का विस्मरण कभी हुआ नहीं, अतः वे सदा सुखमें ही रहीं।
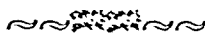
प्रेमका पन्थ

(आचार्य श्रीसुदर्शनजी मिश्र, एम्०ए०)

प्रभुकी प्राप्तिमें कोई भी सांसारिक साधन—नियम, ज्ञान, विज्ञान, योग, जप और तप तबतक सफल नहीं होता है, जबतक प्रभुमें अनन्य प्रेम नहीं होता तथा इस अनन्य प्रेममें सभी सांसारिक राग-अनुराग बाधक ही हैं। महात्मा भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी कहते हैं—

साँच कहों तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम।

प्रभुप्रेममें मतवाली महारानी मीरा दीवानी हो नाचने लगती थीं—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*। लोकलाजकी उन्हें चिन्ता कहाँ, उनके पति राणाजीको यह सब अति अटपटा एवं मर्यादाविरुद्ध प्रतीत होता था, परंतु मीराजी क्या करें वे तो लोकलाज खो चुकी थीं—*'संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई।'* और गिरिधरके हाथ बिक गयी थी—*'गिरधर हाथ बिकानी'*। अन्तत: स्थितिकी चरम सीमा आ गयी, महारानी मीराजीने गोस्वामी तुलसीदासजीसे मार्गनिर्देशन-हेतु प्रार्थना की, तब गोस्वामीजीने स्पष्ट लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥

व्रजाङ्गनाओंने तो प्रभु श्रीकृष्णके हेतु पतियोंका भी त्याग कर दिया और प्रभुको प्राप्तकर भक्तिका अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। तभी तो परम ज्ञानी भगवत्प्रेमी उद्धवजीको कहना पड़ा—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाली गोपाङ्गनाओंकी चरणधूलिको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ—उसे सिर चढ़ाता हूँ। अहा! इन गोपियोंने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमें जो कुछ गान किया है, वह तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा।

इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥

(विनय-पत्रिका, पद १७४)

जब गाण्डीवधारी परमवीर अर्जुन शान्तनुनन्दन पितामह भीष्मजीसे समराङ्गणमें शिथिल हो गये और पाण्डवसेनामें भगदड़ मच गयी, तब भक्तवत्सल लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया तथा रथसे कूदकर चक्र लेकर वे भीष्मपितामह तथा समस्त कौरववीरोंका वध करनेके लिये उद्यत हो आगे बढ़ने लगे। भगवान् वेदव्यासजीने उस छविको इस प्रकार वाणी दी है—

स वासुदेवः प्रगृहीतचक्रः
संवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम्।
अभ्युत्पतँल्लोकगुरुर्बभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतुः॥

(महा०, भीष्मपर्व ५९।९४)

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथमें चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्का संहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोंको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे।

ऐसे भयंकर क्रोधावेशमें भगवान्‌को अपनी ओर आते देखकर प्रभुप्रेमी भीष्मपितामह निर्भय होकर धनुषके

ींचते हुए भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—

> **एह्येहि देवेश जगन्निवास**
> **नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे॥**
> **प्रसह्य मां पातय लोकनाथ**
> **रथोत्तमात् सर्वशरण्य संख्ये॥**

(महा०, भीष्मपर्व ५९।९६-९७)

आइये, आइये, हे देवेश्वर! जगन्निवास! आपको नमस्कार है। हाथमें चक्र लिये आये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमें बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये।

कैसा अनोखा भगवत्प्रेम है! भीषण बाणोंकी वर्षा भी कर रहे हैं और यह भी जान रहे हैं कि ये ही परमेश्वर हैं। ये मुझे मार भी सकते हैं और प्रणाम भी कर रहे हैं तथा मार डालनेके लिये भी कह रहे हैं। पितामह भीष्मने पुनः नौवें दिनके युद्धमें जब अद्भुत पराक्रम दिखाया, तब भी परम दयालु भक्तवत्सल भगवान् वासुदेवने पितामह भीष्मको मारनेकी लीला की और तब भी पितामह भीष्म निर्भय होकर धनुषको खींचकर भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार कर उनकी स्तुति करते हुए अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे कि आपके द्वारा मारे जानेपर भी संसारमें सब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा—

> **सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य संयुगे॥**
> **प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ।**

(महा०, भीष्मपर्व १०६।६६-६७)

हे गोविन्द! आज इस युद्धमें मैं तीनों लोकोंद्वारा सम्मानित हो गया। हे अनघ! मैं आपका दास हूँ, आप अपने इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये।

संसारके इतिहासमें ऐसे अनूठे भगवत्प्रेमका उदाहरण दुर्लभ है। यह भगवान् और भक्तकी अनोखी लीला है। प्रभु भक्तका गौरव बढ़ानेहेतु क्या नहीं करते—अपनी प्रतिज्ञातकको झुठला सकते हैं—तभी तो भक्त कवि गा उठता है—

> प्रबल प्रेम के पाले पड़ कर प्रभु को नियम बदलते देखा।
> अपना मान टले टल जाये जन का मान न टलते देखा॥

'श्रीमद्भागवत'में पितामह भीष्मद्वारा अन्त समयमें भगवान्की जो स्तुति की गयी है, वह [illegible] स्मरणीय है—

> युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
> कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
> मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
> त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥

([illegible])

युद्धमें घोड़ोंकी टापोंसे उड़ी हुई रजसे धूसरित तथा चारों ओर छिटकी हुई अलकोंवाले, परिश्रमजन्य पसीनेकी बूँदोंसे सुशोभित मुखवाले और मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे विदीर्ण हुई त्वचावाले, सुन्दर कवचधारी श्रीकृष्णमें मेरी आत्मा प्रवेश करे।

> **स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-**
> **मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।**
> **धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-**
> **र्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥**
> **शितविशिखहतो विशीर्णदंशः**
> **क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।**
> **प्रसभमभिससार मद्वधार्थं**
> **स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्दः॥**

(श्रीमद्भा० १।९।३७-३८)

मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर रथसे उतर पड़े और सिंह जैसे हाथीको मारनेके लिये दौड़ता है, उसी तरह चक्रको लेकर पृथ्वी कँपाते

श्रीकृष्ण (मेरी ओर) दौड़े। उस समय शीघ्रताके कारण उनका दुपट्टा (पृथ्वीको सान्त्वना देनेके लिये) गिर पड़ा था। मुझ आततायीके तीक्ष्ण बाणोंसे विदीर्ण होकर फटे हुए कवचवाले घाव और रुधिरसे सने हुए जो भगवान् मुकुन्द मुझे हठपूर्वक मारनेको दौड़े, वे मेरी गति हों।

ऐसी अनोखी अनुपम आराधना विश्वके इतिहासपटलपर असम्भव है। धन्य हैं ऐसे भगवान् और उससे भी अधिक धन्य हैं उनके प्रेमी भक्त।

यह प्रेमका पन्थ अति कठिन है। कवि दिनकरजी कहते हैं—

सिर देकर सौदा करते हैं जिन्हें प्रेमका रंग चढ़ा।
फीका रंग रहा तो घर तज क्या गैरिक परिधान करें॥
उस पदकी मंजीर गूँजती हो नीरव सुनसान जहाँ।
सुनना हो तो तज वसन्त निज को पहिले वीरान करें॥

कविवर बोधाजी (बुद्धिसेन) भी कहते हैं—

अति छीन मृणाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै धावनो है।
सुई वेध ते द्वार संकीर्न जहाँ परतीति को ठाढ़ों लदावनो है॥
कवि बोधा धनी अनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है॥

प्रभुवाणीका संदेश है—

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।' (गीता ८।७)

परंतु यह मन अपने वशमें कहाँ। अतः नित्य-निरन्तर प्रभुसे प्रार्थना करनेका अभ्यास बना लेना चाहिये, इससे प्रभुकी अविस्मरणीय स्मृति बन सकती है—

गोविन्द मेरी यही प्रार्थना है भूलूँ न मैं नाम कभी तुम्हारा।
निष्काम होके दिन रात गाऊँ गोविन्द दामोदर माधवेति॥
गोविन्द दामोदर माधवेति हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
देहान्त काले तुम सामने हो वंशी बजाते मन को लुभाते॥
गाता यही मैं तन नाथ त्यागूँ गोविन्द दामोदर माधवेति।
गोविन्द दामोदर माधवेति हे कृष्ण हे यादव हे सखेति॥

हिन्दी-साहित्यके संत कवियोंकी प्रेमसाधना

(श्रीनरेन्द्रप्रकाशजी शर्मा)

संत कवियोंकी प्रेमसाधनारूपी काव्य-प्रभा मानव-जीवनको अविरामगतिसे भगवत्प्रेमकी ओर आकृष्ट कर रही है। संत कवियोंने भक्तिरसयुक्त पदोंकी रचनाओंद्वारा अपने इष्टको रिझाया है और उनका प्रेममय भगवत्सम्बन्ध उनके छन्दोंमें मुखर हुआ है। इससे जन-जनमें भक्तिभावका संचरण हो सका है। उन भावोंसे भावित होकर आज भी लोग प्रभुकी प्रेमाभक्तिका रसास्वादन करते हैं।

संत गोस्वामी तुलसीदासजी

गोस्वामी तुलसीदासकी श्रीराममयी कविता तो दिव्य प्रेमका ही मूर्तरूप है। रामायण तो भक्ति-प्रवाहका अलौकिक रूप बन गया। उन्होंने अनेक पदोंकी रचना कर अपनी प्रेममय रामभक्तिको उजागर किया है। रामके प्रति उनकी भक्तिका प्रवाह ऐसा है कि मन उस प्रेमसागरमें निमग्न हो जाता है। उनके कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

देव—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

(विनय-पत्रिका ७९)

इस पदमें रामके साथ जीवके कई नाते बताये गये हैं। कितने भक्तिभावसे वे श्रीरामसे कहते हैं कि हे राम! आपके अतिरिक्त मैं अन्य किसीके आगे हाथ फैलानेवाला नहीं—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, व्याध, पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब, माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दासतुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

(विनय-पत्रिका १०१)

रामसे अधिक दयालु और कौन हो सकता है, इस भावको महात्मा तुलसीदासजीने कितने सुन्दर ढंगसे दर्शाया है—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति-देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो संपति दस सीस अरप करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

(विनय-पत्रिका, पद १६२)

जिन्हें सीतारामसे स्नेह नहीं, वे लोग तो त्यागने योग्य ही हैं। इसी आशयका मीराबाईको एक पत्रके उत्तरमें पद लिखकर तुलसीदासजीने बताया—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मंगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेब्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

(विनय-पत्रिका, पद १७४)

सब कुछ अपने आराध्यपर छोड़, गोस्वामी तुलसीदासजीने भक्तिदानकी याचना की है—

रघुबर तुमको मेरी लाज।
सदा सदा मैं सरन तिहारी तुमहि गरीबनिवाज॥
पतित उधारन बिरद तुम्हारो, स्त्रवनन सुनी अवाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिये, पार उतारो जहाज॥
अघ-खंडन दुख-भंजन जनके यही तिहारो काज।
तुलसिदासपर किरपा कीजै, भगति-दान देहु आज॥

(भजन-संग्रह, पद १०)

मनको सभी प्रकारसे राम-चरणोंमें लगा देने और रामकी भक्तिमें लीन हो जानेका संदेश देते हुए वे कहते हैं—

भज मन रामचरन सुखदाई।
जिहि चरननसे निकसी सुरसरि संकर जटा समाई।
जटासंकरी नाम पर्‍यो है, त्रिभुवन तारन आई॥
जिन चरननकी चरनपादुका भरत रह्यो लव लाई।
सोइ चरन केवट धोइ लीने तब हरि नाव चलाई॥
सोइ चरन संतन जन सेवत सदा रहत सुखदाई।
सोइ चरन गौतम ऋषि-नारी परसि परमपद पाई॥
दंडकबन प्रभु पावन कीन्हो ऋषियन त्रास मिटाई।
सोई प्रभु त्रिलोकके स्वामी कनक मृगा सँग धाई॥
कपि सुग्रीव बंधु भय-ब्याकुल तिन जय छत्र फिराई।
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर परसत लंका पाई॥
सिव सनकादिक अरु ब्रह्मादिक सेष सहस मुख गाई।
तुलसिदास मारुत-सुतकी प्रभु निज मुख करत बड़ाई॥

(भजन-संग्रह, पद ५७)

तुलसीके इन पदोंमें प्रेम-भक्ति-रसकी अजस्र धारा-सी बह रही है। निःसंदेह गोस्वामी तुलसीदासजीने जन-जनको राम-भक्तिरसमें डुबोकर महान् उपकार किया। उनके और श्रीरामके अनन्य प्रेमको वे ही समझ सकते हैं।

महात्मा सूरदास

वैराग्य, संसारकी अनित्यता, विनय, प्रबोध और चेतावनीस्वरूप सुन्दर मधुर पदोंद्वारा सूरदासजीने लोक-जीवनके अंदर प्रेममयी संगीत-लहरी घोल दी है।

जीवन ऐसे ही विषय-वासनामें व्यतीत हो गया, इस भावको कितने सुन्दर ढंगसे सूरदासजीने दर्शाया है—

सबै दिन गए बिषय के हेत।
तीनौं पन ऐसैं हीं खोए, केश भए सिर सेत॥
आँखिनि अंध, स्त्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गंगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि-तजि पूजत प्रेत॥
मन-वच-क्रम जौ भजै स्याम कौं, चारि पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छाँड़ि क्यौं भटकै, अजहूँ चेति अचेत॥
राम नाम बिनु क्यौं छूटौगे, चंद गहैं ज्यौं केत।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद ९८)

ईश्वरपर पूर्ण विश्वासको कितने मार्मिक ढंगसे सूरदासने

दिखाया है—

प्रभु तेरौ बचन भरोसौ साँचौ।
पोषन भरन बिसंभर साहब, जो कलपै सो काँचौ॥
जब गजराज ग्राह सौं अटक्यौ, बली बहुत दुख पायौ।
नाम लेत ताही छिन हरि जू, गरुड़हिं छाँड़ि छुड़ायौ॥
दुस्सासन जब गही द्रौपदी, तब तिहि बसन बढ़ायौ।
सूरदास प्रभु भक्तबछल हैं, चरन सरन हौं आयौ॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद ३२)

भक्तको तो भगवान्‌का ही आसरा होता है। उन्हें छोड़कर वह औरोंका सहारा क्यों माँगे? इस भावको सूरदासजीने बड़े सुन्दर रूपमें गाया—

तुम तजि और कौन पै जाउँ।
काकैं द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाउँ॥
ऐसौ को दाता है समरथ, जाके दिऐं अघाउँ।
अन्त काल तुम्हरैं सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं दाउँ॥
रंक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय पद ठाउँ॥
कामधेनु, चिंतामनि दीन्हौं, कल्पबृच्छ-तर छाउँ॥
भव-समुद्र अति देखि भयानक, मन मैं अधिक डराउँ।
कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाउँ॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद २३३)

सूरदासजीको भगवद्भजनमें ही सारा सुख दिखायी देता है, इस भावको उन्होंने कैसे प्रकट किया है इस पदमें देखिये—

जो सुख होत गुपालहि गाऐं।
सो सुख होत न जप-तप-कीन्हें, कोटिक तीरथ न्हाऐं॥
दिऐं लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाऐं।
तीन लोक तृन सम करि लेखत, नंद-नँदन उर आऐं॥
बंशीबट, बृंदाबन, जमुना तजि बैकुंठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद १४४)

सब कुछ त्यागकर केवल भगवान्‌का भजन करनेकी सम्मति कितने सरल शब्दोंमें इस पदमें सूरदासजीने बखानी—

रे मन, गोबिंद के ह्वै रहियै।
इहिं संसार अपार बिरत ह्वै, जम की त्रास न सहियै॥
दुख, सुख, कीरति, भाग आपनैं आइ परै सो गहियै।
सूरदास भगवंत-भजन करि अंत बार कछु लहियै॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद ७१)

जो कुछ होता है ईश्वरके करनेसे ही होता है, इसे सूरदासजीने ऐसे गाया—

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौं पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ॥
साधन, मंत्र, जंत्र, उद्यम, बल, ये सब डारौ धोइ।
जो कछु लिखि राखी नँदनंदन, मेटि सकै नहिं कोइ॥
दुख-सुख लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौ रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ॥

(सूर-विनय-पत्रिका, पद २७६)

राधाकृष्णके प्रेमको सूरदासजीने कितने सरल तथा मार्मिक रूपसे दिखाया—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहतिं आपनी पौरी।
सुनत रहतिं स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥

(सूरसागर, पद १२९१)

मोहनकी मुरलीकी सुन्दर तानके विषयमें वे कहते हैं—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरंतर, ब्रज-बनिता उठि धाईं॥
जमुना नीर-प्रबाह थकित भयौ, पवन रह्यौ मुरझाई।
खग-मृग-मीन अधीन भए सब, अपनीं गति बिसराई॥
द्रुम-बेली अनुराग-पुलक तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई।
सूर स्याम बृंदाबन बिहरत, चलहु सखी सुधि पाई॥

(सूरसागर, पद १६०८)

सूरदासजीने अपने पदोंमें कृष्णकी बाल-छवि, गोपियोंका सरल प्रेमभाव, माता यशोदाका वात्सल्यभाव, कृष्णकी माखन- चोरी, राधामाधवका अमित प्रेम, कृष्णके जीवनके प्रत्येक उदात्त चरित्र तथा उनकी लीलाओंका सजीव चित्रण किया है।

प्रेमदीवानी मीरा

गिरिधरकी दीवानी मीरा तो बाल्यावस्थासे ही कृष्णकी प्रेमाभक्तिमें इतनी लवलीन हो गयी थीं कि उनको रात-दिन कृष्णके अलावा कुछ भाया ही नहीं। उनके गाये मधुर स्वरोंके पदोंमें भगवत्प्रेम प्रवाहित होता रहता है। जो सुनने या गानेवालोंको भक्ति-भावसे भर देता है। कहते हैं, मीरा नाचती-गाती द्वारकाधीशके विग्रहमें समा गयीं, केवल उनकी चुनरीका छोर ही लोगोंको दिखायी दिया जो कि एक अलौकिक घटना थी। कितनी उत्तम गति मीराने पायी, जो उच्च कोटिके ही भक्तोंको प्राप्त होती है। उनके रचे प्रत्येक पद हर किसीको प्रभु-भक्ति-रसमें सम्प्रवाहित करनेमें अति सक्षम हैं।

मीराजी अपनी उपलब्धि बताते हुए कहती हैं—

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो।
बस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, किरपा को अपणायो॥
जनम जनमकी पूँजी पाई, जगमें सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवै, दिन-दिन बढ़त सवायो॥
सतकी नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो॥

(भजन-संग्रह, पद ५७४)

मीराने तो श्रीकृष्णको ही मनसे पति मान लिया था। उनका कृष्ण-प्रेम इस पदमें कितने अनूठे ढंगसे झलक रहा है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई॥
छाँड़ि दई कुळकि कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई॥
चुनरीके किये टूक ओढ़ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥
अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥
× × ×
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही॥

(भजन-संग्रह, पद ५२१)

इस पदमें मीरा हमें अपने मनको प्रभु-चरणोंमें लगानेका सदुपदेश करती हैं—

मन रे परसि हरिके चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध, ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इंद्र पदवी धरण॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हें, राख अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखाँ सिरी धरण॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम-घरण।
जिण चरण काळीनाग नाथ्यो, गोप लीला-करण॥
जिण चरण गोबरधन धार्यो, गर्व मघवा हरण।
दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण॥

(भजन-संग्रह, पद ५१६)

वृन्दावनके प्रति मीराका अनुराग देखिये—

आली! म्हाँने लागे बृंदावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविंदजीको॥
निरमल नीर बहत जमनामें भोजन दूध दहीको।
रतन सिंघासण आप बिराजै मुगट धर्यो तुलसीको॥
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

(भजन-संग्रह, पद ५५३)

मीराके प्रभु तो उनके हृदयमें रहते हैं—कैसा सुन्दर भाव है—

मेरा पिया मेरे हीय बसत हैं ना कहुँ आती जाती॥
× × ×
सुरत निरतका दिवलो जोयो मनसा की कर ली बाती।
अगम घाणिको तेल सिंचायो बाळ रही दिन-राती॥
जाऊँनी पीहरिये जाऊँनी सासरिये हरिसूँ सैन लगाती।

(भजन-संग्रह, पद ५५५)

संत रसखान

आज तो साम्प्रदायिकताने जन-जीवनको झकझोरकर रख दिया है। पर एक समय ऐसा भी रहा जिसमें मुस्लिम कवियोंने भी राम-कृष्णके भक्ति-गीत गाये। भक्तके लिये जाति-पाँति, देश-कालका कोई नियम नहीं होता। संत रसखान भगवत्प्रेमके इतने दीवाने थे कि विश्वास करना कठिन-सा लगता है कि वे मुसलमान थे। उनके भाव-भरे पदोंमें कृष्ण-प्रेम प्राप्त करनेकी कैसी मधुर अभिलाषा है—

[१]

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंदकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिको, जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।

जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिंदी-कूल-कदम्बकी डारन॥

(भजन-संग्रह, पद ७३५)

[२]

या लकुटी अरु कामरियापर, राज तिहूँ पुरकौ तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिकौ सुख, नन्दकी गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि, कबों इन आँखिनसो, ब्रजके बन-बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हों कलधौतके धाम, करीलकी कुञ्जन ऊपर बारौं॥

(भजन-संग्रह, पद ७३६)

[३]

धूरि-भरे अति सोभित स्यामजु, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत-खात फिरैं अँगनाँ, पगपैजनी बाजतीं, पीरी कछोटी॥
वा छबिकों रसखानि बिलोकत, बारत कामकलानिधि-कोटी।
कागके भाग कहा कहिए, हरि-हाथसों लै गयो माखन-रोटी॥

(भजन-संग्रह, पद ७४२)

[४]

प्रान वही जु रहैं रिझि वा पर, रूप वही जिहिं वाहि रिझायौ।
सीस वही जिन वे परसे पद अंग वही जिन वा परसायौ॥
दूध वही जु दुहायो वही सों, दही सु सही जु वही ढुरकायौ।
और कहा लौं कहौं रसखान री भाव वही जु वही मन भायौ॥

[५]

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥

(भजन-संग्रह, पद ७३८)

संत कबीर

कबीरको मध्यकालीन कवियोंने एक महान् भक्त और संत माना है। तेरहवीं-चौदहवीं सदीमें उनका जीवन-काल बनारस (काशी)-में बीता। वे जुलाहा-परिवारमें उत्पन्न हुए, जुलाहेका परिश्रमी सरल जीवन उन्होंने जीया। उन्होंने अपनेमें ऐसे व्यक्तित्वका निर्माण किया जो एक महान् संत, पूर्ण सद्गुरु, सरल हृदय और भक्त होनेके साथ-साथ स्पष्टवादी, निर्भीक तथा अपने आदर्शोंके प्रति हर प्रकारकी आलोचना तथा यातना सहनेको तैयार रहा। उनके रचे भक्ति-पद, नीतिके दोहे, सूक्तियाँ एवं उलटबाँसियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। ईश-प्रेमसे सराबोर तथा आध्यात्मिकताका पुट लिये उनके कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

[१]

घूँघट का पट खोल री तोहे पीव मिलेंगे।
घट घट रमता राम रमैया कटुक बचन मत बोल रे॥
रंगमहलमें दीप बरत है, आसनसे मत डोल रे॥
कहत कबीर सुनो भाई साधू, अनहद बाजत ढोल रे॥

(भजन-संग्रह, पद २२८)

[२]

कुछ लेना न देना मगन रहना।
पाँच तत्त का बना पींजरा जामें बोले मेरी मैना॥
तेरा साँई तेरे अन्दर अब देख सखी तू खोल नैना।
गहरी नदिया नाव पुरानी, खेवटिया से मिले रहना॥
कहें कबीर सुनौ भई साधौ, गुरुके चरन में लिपट रहना।

संत कबीर संसारकी असारता किस रूपमें दर्शा रहे हैं, जरा देखिये—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँटकी बाड़ी, उलझ पुलझ मरि जाना है॥
यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥

(भजन-संग्रह, पद २१७)

भगवान्‌के भजनको ही जीवनमें महत्ता दी जानी चाहिये, इसे कबीर कितने सुन्दर ढंगसे दर्शा रहे हैं—

भजौ रे भैया राम गोबिंद हरी।
जप तप साधन नहिं कछु लागत, खरचत नहिं गठरी॥
संतत संपत सुखके कारन जासों भूल परी॥
कहत कबीरा राम न जा मुख ता मुख धूल भरी॥

(भजन-संग्रह, पद २०९)

संत गुरु नानक

पंजाब प्रान्तमें एक महान् संत गुरु नानक हुए। उन्हें बचपनसे ही अध्यात्मवादने आकर्षित किया। सरल हृदय एवं दयालु स्वभावके नानकने अपना सम्पूर्ण जीवन लोकहितमें व्यतीत किया। उनकी भक्तिभावना-पूर्ण वाणी 'गुरुग्रन्थसाहिब' में वर्णित है, जिसे सिख-समुदाय पूजता है। एक पदमें वे कहते हैं—

तू सिमिरन कर ले मेरे मना तेरी बीती उमर हरि नाम बिना।

जैसे तरुवर फल बिन हीना तैसे प्राणी हरि नाम बिना।
काम क्रोध मद लोभ बिहाई, माया त्यागो अब संत जना।

इस संसारमें कोई किसीका संगी-साथी नहीं, कोई किसीका सगा-सम्बन्धी नहीं सब मतलबके गरजी हैं, अपना तो केवल राम ही है उसीके गीत गाओ, उसीसे प्रेम करो। इस बातको वे यों दर्शा रहे हैं—

जगतमें झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसों सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत हैं, हित सों बाध्यौ चीत।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहिं समुझत, सिख दै हारयो नीत।
नानक भव-जल-पार परै जो गावै प्रभुके गीत॥

(भजन-संग्रह, पद ४४०)

सच्चा साथी तो एक हरि ही है, इसी बातको बताते हुए वे कहते हैं—

हरि बिनु तेरो को न सहाई।
काकी मात-पिता सुत बनिता, को काहू को भाई॥
धनु धरनी अरु संपति सगरी जो मानिओ अपनाई।
तन छूटै कुछ संग न चालै, कहा ताहि लपटाई॥
दीन दयाल सदा दुःख-भंजन, ता सिउ रुचि न बढ़ाई।
नानक कहत जगत सभ मिथिआ, ज्यों सुपना रैनाई॥

पलटू साहब

पलटू साहबकी जीवन-सम्बन्धी जानकारी कम मिलती है। उन्होंने अपनी सम्पूर्ण वृत्ति बाहरसे अंदरकी ओर मोड़ ली थी। आपकी सुरति संसार तथा इन्द्रियोंकी ओरसे पलटकर अन्तरमें आध्यात्मिक मण्डलोंकी वासी हो गयी थी। इसी कारण उनके गुरुने उन्हें 'पलटू' उपनाम दिया। उनके रचित आध्यात्मिक एवं प्रेम-भक्ति-रसके कुछ पद निम्नाङ्कित हैं—

सात पुरी हम देखियाँ देखे चारों धाम।
देखे चारों धाम सबन में पत्थर पानी।
कर्मन के बस पड़े मुक्ति की राह भुलानी।
चलत-चलत पग थके, छीन भई अपनी काया।
काम-क्रोध नहि मिटा बैठ कर बहुत उन्हाया।
ऊपर डाला धोय मैल दिल बीच समाना।
पत्थर में गया भूला संत का मरम न जाना।
'पलटू' नाहक पच मुये, संतन में है नाम।
सात पुरी हम देखियाँ देखे चारों धाम॥

इसी प्रकार—

बैरागिन भूली आपमें, जल में खोजे राम।
जल में खोजे राम, जाय कर तीरथ छानी।
भर में चारों खूंट नाहिं सुधि अपनी आनी।
फूल माहि जो बास काठ में अगिनि छिपानी।
खोद बिन नाहिं मिलै आहि धरती में पानी।
दूध माहि घृत रहे छिपी मेहन्दी में लाली।
ऐसे पूरन ब्रह्म कहँ इक तिल नहीं खाली।
'पलटू' सतसंग बीच में कर ले अपना काम।
बैरागिन भूली आपमें, जल में खोजे राम॥

प्रभुको केवल प्रेमाभक्ति ही प्यारी है, इसे पलटू साहब यों बता रहे हैं—

साहब के दरबार में, केवल भक्ति पियार।
केवल भक्ति पियार साहब भक्ति में राजी।
तजा सकल पकवान, लिया दासी सुत भाजी।
जप तप नेम अचार करे बहुतेरा कोई।
खाये सिवरी के बेर, मरा सब ऋषि मुनि रोई।
राजा युधिष्ठिर यज्ञ बटोरा, जोरा सकल समाजा।
मरदा सबका मान सपुच बिन घंट न बाजा।
'पलटू' ऊँची जात का मत कोई करे अहंकार।
साहब के दरबार में, केवल भक्ति पियार॥

संत दादू

राजस्थानके दादू पहुँचे हुए संतोंमेंसे एक हैं। बाहरी आडम्बरसे रहित भक्तिकी ओर उन्होंने लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया—

दादू दुनिया दीवानी, पूजे पाहन पानी।
गढ़ मूरत मंदिर में थापी, निव निव करत सलामी।
चन्दन फूल अछत सिव ऊपर बकरा भेट भवानी।
छप्पन भोग लगे ठाकुर को पावत चेत न प्रानी।
धाय-धाय तीरथ को ध्यावे, साध संग नहिं मानी।
ताते पड़े करम बस फन्दे भरमें चारों खानी।
बिन सत्संग सार नहिं पावै फिर-फिर भरम भुलानी।

उनके विचारसे—

दादू देखा मैं प्यारा, अगम जो पंथ निहारा।
अष्ट कँवल दल सुरत सबद में, रूप रंग से न्यारा।
पिण्ड ब्रह्माण्ड और वेद कितेवे, पाँच तत्त के पारा।
सत्त लोक जहँ पुरु बिदेही वह साहिब करतारा।
आदि जोत और काल निरंजन, इनका कहाँ न पसारा।

राम रहीम रब्ब नहीं आतम, मोहम्मद नहीं औतारा।
सब संतन के चरन सीस धर चीन्हा सार असारा।

संत श्रद्धेय भाईजी

श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार 'भाईजी' की रचना 'पद-रत्नाकर' उनके राधामाधव प्रेममय, भक्तिमय हृदयसे अनुस्यूत है, उसमें उनकी अन्तरात्माकी झलक दिखायी देती है। प्रभुपर अपने अनुपम विश्वासको उन्होंने इस पदमें कितनी सुन्दरतासे दर्शाया है—

अब हरि! एक भरोसो तेरौ।
नहिं कछु साधन ग्यान-भगति कौ, नहिं बिराग उर हेरौ॥
अघ ढोवत अघात नहिं कबहूँ, मन बिषयन कौ चेरौ।
इंद्रिय सकल भोगरत संतत, बस न चलत कछु मेरौ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ-सरिस अति प्रबल रिपुन तें घेरौ।
परबस पर्‌यौ, न गति निकसन की जदपि कलेस घनेरौ॥
परखे सकल बंधु, नहिं कोऊ बिपद-काल कौ नेरौ।
दीनदयाल दया करि राखउ, भव-जल बूड़त बेरौ॥

(पद १२८)

भगवान्‌से वे क्या अपेक्षा करते हैं, इसकी बानगी देखते ही बनती है—

चहौं बस एक यही श्रीराम।
अबिरल अमल अचल अनपाइनि प्रेम-भगति निष्काम॥
चहौं न सुत-परिवार, बंधु-धन, धरनी, जुवति ललाम।
सुख-वैभव उपभोग जगतके चहौं न सुचि सुर-धाम॥
हरि-गुन सुनत-सुनावत कबहूँ, मन न होइ उपराम।
जीवन-सहचर साधु-संग सुभ, हो संतत अभिराम॥
नीरद-नील-नवीन-बदन अति सोभामय सुखधाम।
निरखत रहौं बिस्वमय निसि-दिन, छिन न लहौं बिस्राम॥

(पद ११००)

ऊपर कुछ संतोंकी प्रेम-भक्तिके कतिपय पदोंको दिया गया है, वास्तवमें उनके और प्रभुके अन्तरङ्ग प्रेमको प्रभु ही जान सकते हैं। हिन्दी-साहित्यमें और भी अनेक प्रभु-प्रेमी भक्त हुए हैं। प्रभु-भक्तिकी गङ्गा प्रवाहित करनेवालोंमें स्वामी हरिदास, गदाधर भट्ट, नागरीदास, नारायण स्वामी, ललितकिसोरी, रैदास, मलूकदास, दरियासाहब, सहजोबाई, मंजुकेशी, बनीठनीजी, युगलप्रियाजी, रानी रूपकुँवरिजी, रहीम, यारीसाहब, खुसरो, बुल्लेशाह आदिको भुलाया नहीं जा सकता। प्रेम-भक्ति-रसकी अजस्र धारा, जो इन कवियोंने अपने पदोंमें बहायी, वह प्रेममार्गके पथको प्रशस्त कर देती है।

सूफ़ी संतोंकी प्रेमोपासना

(पं० श्रीकृष्णादत्तजी भट्ट)

मुमकिन न बुबद कि यार आयद बकिनार,
खुदरा अज़ ख़याले ख़ामो अन्देशा बरार,
हर चीज़ कि ग़ैर अस्त दर सीनए तुस्त,
बिसयार हिजाबेस्त मियाने तो व यार!

सूफ़ी संत सरमदने सूफ़ी प्रेमोपासनाका रहस्य बता दिया है। वह कहता है इन शब्दोंमें—

'ज़बतक तेरे दिलमें बाहरी चिन्ताएँ भरी हैं, झूठी भावनाएँ भरी हैं, तबतक यह कैसे मुमकिन है कि तेरा यार, तेरा प्रेमास्पद—ब्रह्म तुझे मिल जाय? जबतक तेरे दिलमें ये दूसरी चीजें भरी हैं, तबतक यारसे कैसे मिल सकेगा? तेरे और उसके बीचमें यही तो पर्दा है।'

मतलब?

अपने प्रेमास्पदको छोड़कर और किसीका चिन्तन न करना, दिलमें उसके सिवा और किसीको न ठहरने देना, किसी ख्वाहिश, किसी इच्छा, किसी कामनाको न पनपने देना—बस, इतनी-सी ही तो प्रेमोपासना है इन प्रेममार्गी साधकोंकी। वे कहते हैं—

जिसे इश्क़का तीर कारी लगे, उसे ज़िंदगी जगमें भारी लगे।
न छोड़े मुहब्बत दमे मर्ग तक, जिसे यार जानीसूं यारी लगे॥
न होवे उसे जगमें हर्गिज़ क़रार, जिसे इश्क़की बेक़रारी लगे।
हर इक वक़्त मुझ आशिक़े ज़ार कूं, पियारे, तेरी बात प्यारी लगे॥
'वली' कूं कहे तू अगर एक वचन, रक़ीबोंके दिलमें कटारी लगे॥

× × ×

सूफ़ीमतकी, तसव्वुफ़की जान है—प्रेम। एक सूफ़ीने बड़े अच्छे शब्दोंमें उसका वर्णन किया है—

'अगर इश्क़ न होता, इन्तज़ाम-आलमें सूरत न पकड़ता।

इश्क़के बग़ैर ज़िंदगी बवाल है। इश्क़को दिल दे देना कमाल है। इश्क़ बनाता है। इश्क़ जलाता है। दुनियामें जो कुछ है, इश्क़का जलवा है। आग इश्क़की गरमी है। हवा इश्क़की बेचैनी है। पानी इश्क़की रफ़्तार है। खाक़ इश्क़का क़याम है। मौत इश्क़की बेहोशी है। ज़िंदगी इश्क़की होशियारी है। रात इश्क़की नींद है। दिन इश्क़का जागना है। नेकी इश्क़की कुरबत है। गुनाह इश्क़से दूरी है। बिहिश्त इश्क़का शौक़ है। दोज़ख इश्क़का जौक़ है।'

सूफ़ी-मतमें ऐसा माना जाता है कि सारी सृष्टिमें उस अल्लाहकी ही झाँकी दिखायी पड़ रही है जिधर नज़र डालते हैं, अल्लाह-ही-अल्लाह है। उसे पानेका एक ही रास्ता है और वह है—प्रेम, इश्क़, मुहब्बत!

× × ×

सूफ़ी-साधनाकी चार हालतें मानी गयी हैं—
शरीअत, तरीक़त, मारिफ़त, हक़ीक़त।

शरीअत

किसी भी उपासनापद्धतिमें आचार और विचार मुख्य होते हैं। सूफ़ीलोग विचारपर—हृदयकी शुद्धिपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं, फिर भी वे इसलामके इन चार आचारोंको छोड़ते नहीं। ये आचार हैं—(१) सलात (प्रार्थना, नमाज़), (२) ज़कात (दान), (३) सौम (उपवास, रोज़ा) और (४) हज (तीर्थयात्रा)।

शरीयतमें ये चारों आचार निभाने पड़ते हैं।

कुरान शरीफ़का पाठ—तिलवत करना होता है। रोज पाँच दफा 'नमाज़' पढ़नी होती है। चुनी हुई कुछ आयतोंका पाठ करना पड़ता है। इसे कहते हैं—'अवराद'।

अल्लाहका 'ज़िक्र' उसका स्मरण करना पड़ता है। ज़िक्रके कई भेद हैं। जैसे, 'ज़िक्रेजली' में 'अल्लाह' शब्दका जोरसे उच्चारण किया जाता है। 'ज़िक्रे-ख़फी'में मन्द स्वरसे मुँह बंद करके नाम लिया जाता है। 'मुराकवा'में साधक अल्लाहो हाजिरी, अल्ला हो नाजिरी, अल्लाहो सहीदी, अल्लाहो माई आदिका उच्चारण करके अल्लाहका ध्यान करता है। 'मुजाहिदा'में साधक चित्तकी वृत्तियोंको रोकता है। उसे आँख रहते हुए न देखनेका, कान रहते हुए न सुननेका, मुँह रहते हुए न बोलनेका, जीभ रहते हुए स्वाद न लेनेका अभ्यास करना पड़ता है।

अल्लाहकी फिक्र भी करनी होती है? उसके गुणोंका चिन्तन करना पड़ता है। अल्लाहका समा—उसके नामका कीर्तन भी करना होता है।

'हू अल्लाह हू'—सूफ़ियोंका परम प्यारा मन्त्र है।

तरीक़त

शरीअतके नियमोंका पालन करनेसे साधक गुरुदीक्षा पानेका अधिकारी बनता है। उसे गुरुकी आज्ञाका पालन करनेकी क़सम लेनी पड़ती है। मुर्शिद-गुरु मुरीद—साधकको रास्ता बताकर उसमें अल्लाहके इश्क़की चिनगारी सुलगा देता है।

बाहरी क्रियाओंसे ऊपर उठकर हृदयकी शुद्धताद्वारा अल्लाहका ध्यान करना तरीक़त है। तरीक़तमें साधकको अहंभाव छोड़नेका और इन्द्रियोंपर अधिकार करनेका अभ्यास करना पड़ता है। इसके लिये उसे भूख-प्यास सहनी पड़ती है। मौन रहना पड़ता है और एकान्तमें रहकर साधना करनी पड़ती है।

मारिफ़त

मारिफ़त कहते हैं परम ज्ञानको। पर वह कोरा-कोरा ज्ञान नहीं होता। उसमें अनुभूति भरी रहती है। इसीका नाम है—इश्क़, मुहब्बत, प्रेम। इसीको 'वस्ल' कहते हैं, इसीको 'वज्द'। साधक उसमें डूबकर दुनियाको ही नहीं, अपने-आपको भी भूल जाता है।

सात मुक़ाम

परंतु मारिफ़तकी चढ़ाई आसान नहीं होती। उसके लिये इन सात मुक़ामोंसे गुजरना होता है—

तौबा (प्रायश्चित्त, अनुताप) ज़हद (अपनी इच्छासे दारिद्र्यको अपनाना), सब्र (संतोष), शुक्र (अल्लाहके प्रति कृतज्ञता), रिज़ाअ (दमन), तवक्कुल (अल्लाहकी दयापर, उसके रहमपर पूरा भरोसा) और रज़ा (अल्लाहकी मर्जीको अपनी मर्जी बना लेना)।

तौबा—कहनेको तो छोटा-सा एक शब्द है, पर है वह गुरु-गम्भीर। अबू बकर केतानी कहता है कि उसके भीतर ये छः भाव भरे पड़े हैं—

(१) पहले किये गये पापोंके लिये खेद।

(२) फिरसे पापकी तरफ झुकाव न हो, इसकी

सावधानी।

(३) अल्लाहके लिये किये जानेवाले कामोंकी कमियाँ दूर करना।

(४) दूसरोंके प्रति जो गलत व्यवहार हो गया हो, उसका बदला चुका देना।

(५) गलत भोगोंसे बढ़ा हुआ शरीरका खून-मांस सुखा देना, उसे कम कर देना।

(६) जिस मनने पापका मज़ा चखा है, उसे साधनाकी कड़ुवाहटका भी मज़ा चखाना!

तौबासे पीड़ित मानव ही भोगोंसे विरत हो सकता है। यह अनुताप यदि भयजनित हो तो भी काम करता है, पर जब वह प्रेमजनित होता है तो वह ज्यादा अच्छा ठहरता है।

ज़हद—स्वेच्छा—दारिद्र्यसे साधना शीघ्र फलवती होती है। ग़रीबी अपनाना, ग़रीबोंसे तादात्म्य स्थापित करना और अपनी जरूरतोंको कम-से-कमपर ले आना ज़हद है।

सब्र—संतोष! जो मिल जाय, जैसा मिल जाय, जब मिल जाय—चाहे जिस हालतमें रहना पड़े, प्रसन्नचित्तसे स्वीकार करना 'सब्र' है।

शुक्र—अल्लाहके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते रहना 'शुक्र' है।

पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके॥

(विनय-पत्रिका १७१)

रिज़ाअ—इन्द्रियोंका दमन। बेलगामकी इन्द्रियाँ मनुष्यको हरदम गड्ढेमें ढकेलनेको तैयार रहती हैं। साधकको उनसे कदम-कदमपर सावधान रहनेकी तो जरूरत है ही, हर वक्त उनपर नियन्त्रण रखना भी बहुत जरूरी है।

तवक्कुल—मालिककी कृपापर पूरा भरोसा।

रज़ा—सुख-दु:ख, हर्ष-शोकमें समानता रखना। मालिककी मर्ज़ीमें खुश रहना। भूलकर भी कोई शिकवा-शिकायत न करना।

कहते हैं कि एक फ़कीर कई दिनोंसे भूखा था, दिलमें इच्छा पैदा हुई कि इस समय कोई हलुवा लाता। थोड़ी ही देरमें एक आदमी हलुवासे भरा थाल लेकर ख़िदमतमें हाजिर हुआ।

फ़कीरने पूछा—'क्यों लाये?'

बोला—'आपकी मिन्नत मानी थी, इसलिये लाया हूँ।'

फ़कीरने सिर हिलाकर उसे वापस कर दिया। कहा—'वापस ले जाओ। हमारे कामका नहीं है।'

एक पहर बाद वही आदमी फिर हलुवा भरा थाल लेकर फ़कीरकी खिदमतमें हाजिर हुआ।

फ़कीरने उसे लेकर बड़े प्रेमसे खाया।

चलने लगा, तो वह शख्स पूछ ही तो बैठा—'हुजूर, हलुवा तो वही था। पहले आपने इसे लौटा दिया था। बादमें इसको कबूल कर लिया! आखिर ऐसा क्यों?'

फ़कीर हँसा! बोला—'बेटे! उस वक्त मेरे मनमें यह ख्वाहिश पैदा हुई थी कि कहींसे हलुवा आये तो खाऊँ। नफ़्सकी ख्वाहिशसे कोई चीज़ मिले तो उसे हर्गिज नहीं लेना चाहिये, वर्ना गुनहगार बनना पड़ता है। बादमें जब तू यह थाल दुबारा लाया तो मेरी पहलेकी ख्वाहिश मर चुकी थी। मैं समझ गया कि मालिकने इसे भेजा है। इसको लौटाना गुनाह होता; इसलिये मैंने मजे ले-लेकर उसे खाया।

यह है तवक्कुल और यह है रज़ा।

× × ×

इन सात मुक़ामोंको पार करके मुरीद मारिफ़त पानेका अधिकारी बनता है।

इसके आगेकी मंजिल है।

हक़ीक़त

हक़ीक़त—साधन नहीं, साधककी परम अनुभूति है। यहाँ पहुँचकर साधक संसारके दु:ख-सुखसे मुक्त हो जाता है। अल्लाहके सिवा उसे और कुछ नहीं सुहाता।

किसकी शादी किसका ग़म,
हू अल्लाहू दम पर दम!

× × ×

सूफ़ी साधनामें प्रेमकी ही बलिहारी है। रात-दिन प्रेमास्पदका चिन्तन करना, उसीकी लौ लगाये रहना साधकका काम रहता है। प्रेमी जब प्रेमरसमें डूब जाता है तो सारी दुनिया अलग खड़ी रहती है। सारे भेदभाव डूब जाते हैं। न किसीकी चिन्ता, न किसीकी फ़िक्र, न किसीका डर, न किसीसे कोई वास्ता। उसे तो घट-घटमें

उसी प्यारेकी, उसी प्रियतमकी झाँकी दीख पड़ती है।

आशिक़ोंको इम्तियाज़े दैरो क़ाबा कुछ नहीं।
उसका नक़्शे पा जहाँ देखा वहीं सर रख दिया!॥

× × ×

सूफ़ी उपासनामें प्रेम ही मूल मन्त्र है। उस प्रेमकी प्राप्तिके लिये हृदयको शुद्ध बनाना पड़ता है। तौबासे शुरुआत होती है—

'अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।'

(मीराबाई)

यह प्रायश्चित्त, यह तौबा दिलसे होती है, दिखावटी नहीं। यह शेख साहबका वह तौबा नहीं, जिसके लिये कहा है—

शबको मय खूब सी पी, सुबह को तौबा कर ली,
रिन्दके रिन्द रहे हाथसे ज़न्नत न गयी!

दिखावटी तौबा इस रास्तेमें काम नहीं करती। यह तो सच्ची तौबासे प्यारेके मिलनेका दरवाज़ा खुलता है। हृदयशुद्धिके बाद ही तो—

दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार
जब ज़रा गर्दन झुकायी देख ली!

प्रेमका यह मार्ग भारतीय उपासनामें भी वैसा ही है जैसा सूफ़ी-प्रेमोपासनामें। इसके लिये सर्वस्व त्याग करके आगे बढ़ना होता है—

प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय॥

सूफ़ी भी कहता है—

तरीक़े फ़नामें क़दम रखके पूछो,
मुहब्बतकी रस्में मुहब्बतकी राहें!

[प्रेषक—श्रीप्रबलकुमारजी सैनी]

महाराष्ट्रके वारकरी संतोंका अहैतुक भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीकेशवरघुनाथजी कान्हेरे, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

महाराष्ट्रमें प्रमुखरूपसे तीन देवता प्रसिद्ध हैं— 'महाकाली', 'महालक्ष्मी' और देवाधिदेव महादेवके अवतार 'खण्डोबा' अर्थात् 'मल्हारी मार्तण्ड'। इन तीन देवताओंमेंसे कोई-न-कोई देवता मराठी-जनमानसके कुलदेवता हैं, परंतु महाराष्ट्रके संतोंका विशेषत: वारकरी संतोंके परम दैवत पण्ढरपुरके भगवान् 'विट्ठल' हैं। भगवान् विट्ठल तो झोंपड़ियोंसे लेकर राजप्रासादके गर्भगृहोंमें, रंकोंके हृदयसे लेकर रावोंके हृदयस्थलमें समाये हुए हैं, ये भगवान् विष्णु अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके ही एक अलौकिक विग्रह हैं।

वारकरी-सम्प्रदायके आद्य आचार्य संतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर महाराजसे लेकर संतश्रेष्ठ तुकाराम और उनके शिष्य संत निळोबारायतक प्राय: सभीके परम दैवत विट्ठल हैं। इन संतोंने संसारमें रहकर केवल भगवान् विट्ठलसे ही नि:स्वार्थभावसे उत्कट प्रेम किया और उनकी प्रेमप्राप्तिके लिये अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पण कर दिया। गोरा कुम्हार, जनाबाई, सेना नाई, कान्होपात्रा, तुकाराम आदि संतोंके चरित्र आज भी विट्ठलप्रेमका साक्ष्य दे रहे हैं। इन संतोंकी भगवत्प्रेमसाधना विलक्षण थी, जो आज भी तथा अनन्त कालतक सांसारिक जनमानसके अन्त:करणमें प्रभुके प्रेम, प्रीति, प्रगाढ़ता, एकाग्रता और अनन्यताका उदय करनेमें सक्षम है। ये प्रभुप्रेमका साक्षात् अनुभव कर चुके थे।

वारकरी-सम्प्रदायके संतोंद्वारा निर्मित साहित्य, भजन, पद, गीत और अभंग आदि रचनाओंमें भगवान् विट्ठलका ही प्रेम, उनकी महत्ता और प्रत्यक्षताका प्रकटीकरण अभिव्यक्त हुआ है। साथ ही इन संतोंने सम्पूर्ण समाज तथा राष्ट्रको प्रखर राष्ट्रवाद, ध्येयवाद एवं स्वकर्तव्योंकी शिक्षा स्पष्ट शब्दोंमें दी है और स्वयं त्यागमय जीवन व्यतीत करते हुए प्रपञ्च और परमार्थकी शिक्षाको अत्यन्त सरल शब्दोंमें प्रस्तुत कर समाजका उद्‌बोधन भी किया है। इन संतोंने भक्तिमार्गकी शिक्षाके साथ-साथ राष्ट्ररक्षाहेतु सर्वप्रथम सामर्थ्यसम्पन्न 'मन' का निर्माण किया। उसीका परिणाम है कि सामान्य जनमानस सुसंस्कारित तथा आत्मविकसित हुआ और घर-घरमें सौभाग्यके मङ्गलदीप प्रज्वलित रहे। अस्तु!

(१) संत श्रीज्ञानेश्वरजी—वारकरी संतोंका विट्ठलप्रेम लक्षणीय एवं अनुकरणीय है। संतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर महाराजकी रचनाओंमें प्रेमकी अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। वे तो विट्ठलको 'सब सुखोंका आगार' कहते हैं—*'रूप पाहता लोचनी सुख जाले हो साजणी। तो हा विट्ठल बरवा तो हा माधव बरवा'*।

एक अभङ्गमें वे कहते हैं—

'जीवाचि या जीवा प्रेमभावाचि या भावा।' 'तुज वाचुनि केशवा अनु नावडे।' 'मन हे धाले मन हे धाळे। पूर्ण विट्ठलचि झाले।' 'अंतर बाह्य रंगुनि गेले। विट्ठलचि झाले। विट्ठल जळी स्थळी भरला। ठाव कोठे नाही उरला। सर्व सुखाचे आगरू। बाप रखुमाई देई वरू।'

संत ज्ञानेश्वर महाराजका सम्पूर्ण साहित्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण है। आपने अपनी आयुके सोलहवें वर्षमें ही भगवद्गीतापर 'ज्ञानेश्वरी'-जैसा महान् एवं अद्वितीय ग्रन्थका मराठीमें निर्माण कर मराठीके आद्य कवि होनेका सम्मान पाया है और आयुके इक्कीसवें वर्षमें जीवितसमाधि लेकर अपना अवतारकार्य पूर्ण किया।

इन्हींके ज्येष्ठ भ्राता एवं अध्यात्मगुरु संत निवृत्तिदास कहते हैं—

हरि विष्णु दैवत नाहीं पै अनुचित्ती। हृदयी कमळी केशीराज।

ज्ञानेश्वर महाराजके लघुभ्राता 'सोपानदेव' लिखते हैं—

हरि राम गोविंद नित्य हाचि छंद।' 'हृदयी आनंद प्रेम बोधु। नित्य विट्ठलाचे चरण हृदयी।'

इनकी छोटी बहन मुक्ताबाई कहती हैं—

हेतु मातु आम्हा अवघाचि परमात्मा।

इन भाई-बहनके विट्ठलप्रेमसे पुलकित होकर वारकरी-सम्प्रदायकी भक्तमण्डली आज भी जयघोष करती है—

'निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान मुक्ताबाई—नामदेव एकनाथ तुकाराम विट्ठल विट्ठल-विट्ठल'।

संत ज्ञानेश्वर महाराजके समयमें महाराष्ट्रमें विशेषतः पण्ढरपुरमें अनेक संत हुए। वे भगवान् विट्ठलके अनन्य भक्त थे। उन्हींके प्रेमके लिये वे जीवित रहे। उनका दर्शन भी अलौकिक है।

(२) संत श्रीनामदेवजी—संत श्रीनामदेवजीने तो बाल्यकालमें साक्षात् विट्ठलभगवान्‌को दूध पिलाया था। भगवान् स्वयं नामदेवसे वार्तालाप करते थे। इतना ही नहीं, नामदेवका प्रेम देखकर भगवान् स्वयं उनके कीर्तनमें नृत्य करते-करते इतने तल्लीन हो जाते कि अपनेको ही भूल जाते थे। उसका आँखोंदेखा वर्णन संत जनाबाईजी इस प्रकार करती हैं—

नामदेव कीर्तन करी पुढेबा नाचे पाण्डुरंग।
नाचता नाचता प्रभुचा गळला पीताम्बर॥

संत श्रीनामदेवजीने भगवत्प्रेमकी ध्वजा पंजाबतक पहुँचायी। 'गुरुग्रन्थसाहब' में इसका प्रमाण है। विट्ठल ही उनके तीर्थ, क्षेत्र, ईश्वर, माता-पिता, बन्धु, गोत्र और गुरु आदि सर्वस्व थे। संत श्रीनामदेवजी महाराजने अपना देह भी भगवान् विट्ठलके मन्दिरकी पहली सीढ़ीपर ही समर्पण कर दिया। आज भी पण्ढरपुरमें विट्ठल-मन्दिरकी सीढ़ियोंपर बना उनका पुण्य-स्मारक उनकी उत्कट भक्ति—प्रेमका साक्ष्य दे रहा है।

(३) संत जनाबाईजी—संत नामदेवकी दासी संत 'जनाबाई' परम विट्ठलभक्त थीं। उनके प्रेममें तो प्रभु पागल थे। वे उसके साथ कपड़े धोते, गेहूँ पीसते और झाड़ू लगाते। इसका साक्ष्य स्वयं जनाबाईने अपनी अभङ्ग-रचनाओंमें दिया है। उन्होंने भगवान्‌को गोमाता और स्वयंको बछड़ा माना है। वे लिखती हैं—

'तो हा विटेवरी देव सर्व सुखाचा केशव। विट्ठल देवाचा विश्राम। सख्या पंढरीच्या राया। घडो दण्डवत पाया। ऐसे करी अखण्डित शुद्ध प्रेम शुद्ध चित्त॥'

(४) संत एकनारा—'एकनारा' नामक विट्ठलभक्त कहते हैं—

देवा माझे मीपण ठेवी आपुले चरणी।' तो 'गोदा' नामक एक भक्तने सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा—जैसा एक रणशूर अपने जीवनकी परवा न करते हुए युद्धके मैदानमें कूद पड़ता है, उसी प्रकार ईश्वरके प्रेमक्षेत्रमें विश्वाससे कूदना चाहिये। वे लिखते हैं—

'रणा मध्ये कैसा भिडतो रणशूर, होवोनि उदार जीवावरी॥ तैसा पाण्डुरंगी धरा हो विश्वास॥'

संतोंका ईश्वरप्रेम अक्षर-अक्षरमें प्रकट होता है।

(५) **कान्होपात्रा**—जन्मसे वेश्या-कन्या होकर भी जिसने अपने जीवनमें सर्वश्रेष्ठ उत्तम पुरुषके रूपमें भगवान् विट्ठलको ही स्वीकार कर अन्तमें अपना देह पण्ढरपुरके विट्ठल-मन्दिरमें समर्पण कर दिया, आज उसका स्मारक मन्दिर-परिसरमें ईश्वरप्रेमकी पताकाके रूपमें लहरा रहा है। वह 'कान्होपात्रा' भगवान्से कहती है—

'सकल सुखर येथेचि लाधले। देवाचे देखिले चरणांबुज। कीर्तनाचे रंगी आनंदे नाचिता कान्होपात्रा चिन्ता समाधान॥'

भाव है—'भगवन्! तुम्हारे चरणोंका दर्शन मानो सभी देवोंका दर्शन है और तुम्हारे कीर्तन-भजनमें नृत्य करते हुए मेरे चित्तको समाधान मिला है, शान्ति प्राप्त हुई है।'

(६) **गोरा कुम्हार**—संत ज्ञानेश्वरजी, नामदेवजी आदि संतमण्डली जिनको 'गोरोबा काका' के नामसे सम्बोधित करती थी, वे 'गोरा कुम्हार' एक अद्वितीय विट्ठलभक्त हुए हैं। वे ईश्वरके भजनमें—उनके प्रेमभावमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि संसारको ही भूल जाते। एक दिन वे मिट्टीके बर्तन बनानेहेतु पैरोंसे मिट्टी रौंध रहे थे। वहीं पासमें उनका नन्हा-सा पुत्र खेल रहा था। खेलते-खेलते वह बालक मिट्टीमें आ गया, पर 'गोरा' भजनमें इतने मस्त हो गये कि उन्हें बच्चेकी सुधि ही नहीं रही और देखते-ही-देखते वह बालक उन्हींके पैरोंतले रुँध गया फलस्वरूप उसकी जीवनलीला समाप्त हो गयी। जब पत्नीने पतिसे पुत्रके बारेमें पूछा तबतक सारा खेल समाप्त हो चुका था। अन्तमें भगवान्ने प्रसन्न होकर उनका बालक उन्हें लौटाया। ऐसे विरले भगवत्प्रेमी गोरा कुम्हार भगवान्से कहते हैं—

'देवा तुझा मी कुंभार।'

निर्गुण, निराकार ईश्वरसे भेंट करनेहेतु सगुण शरीरसे आपके पास आया हूँ। बस, आपकी कृपा और प्रेम चाहिये। केवल यही एक इच्छा है—

'निर्गुणाचे भेटी आले सगुणा संगे।'

गोराजीके शब्दोंमें एक आत्मिक आनन्दकी प्रतीति होती है।

(७) **भक्त नरहरि सुनार**—भक्त 'नरहरि सुनार' ईश्वरसे कहते हैं—'हे भगवन्! मैं तो आपका ही सुनार हूँ। अब जीवनभर आपके नामका ही व्यवहार करूँगा'—

'देवा तुझा मी सोनार। नरहरि सोनार हरिचा दास।
भजन करी रात्रं दिवस॥'

(८) **साँवता माली**—साँवता मालीको मूली, लहसुन, मिरची तथा धनिया आदि सब्जियोंमें विट्ठल भगवान् ही दिखायी देते हैं। उनके अभङ्गोंमेंसे प्रसिद्ध अभङ्गमें कहा गया है—

'कांदा मुळा भाजी अवधी विठाबाई माझी।' लसूण मिरची कोथिंबिरी। अवधा झाला माझा हरि। सावता म्हणे केळ मळा। विट्ठल पायी गोविळा गळा॥'

(९) **सेना नाई**—भक्त सेना नाईको तो पण्ढरपुरमें आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त होता है। वे कहते हैं—

'जाता पंढरीसी सुख वारे जीवा। आनंदे केशवा भेटताचि॥'

(१०) **बोधळा माणको**—'बोधळा माणको'जी ईश्वरसे उसके प्रेमकी याचना करते हुए कहते हैं—

'बोधळा म्हणे तुजवीण अनुनेणे काही। प्रीती तुझे पायी बैसो माझी॥'

(११) **चोखा मेळा**—भक्त चोखा मेळा महार तो अनन्य होकर भगवान्से कहता है, 'मैं हाथमें टोकरी लाया हूँ, उसमें केवल आपका जूठा ही एकत्र कर भक्षण करूँगा'—

'जोहार माय बाप जोहार, तुमच्या महाराचा मी महार। बहु भुकेळा जाहळो। तुमच्या उष्ट्या साठी आळो। पाण्डुरंगी ळागो मन। चोखा म्हणे पाटी। आणिळी तुमच्या उष्ट्या साठी॥'

(१२) **अन्य संत**—सोयराबाई, बंका महार, गोदा, निर्मळा-जैसे संत सदैव विट्ठलप्रेममें ही मस्त रहते। इनकी मान्यता थी—

कीर्तनी गजरी नाचतो श्रीहरि। आनंद सोहळा हरिकथा माऊळी॥
भज नामाचि आवडी। संसार केळ देशधडी॥

(१३) **संत एकनाथ एवं संत तुकाराम**—संत ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि संतोंके पश्चात् साढ़े तीन सौ वर्षोंके बाद शक-

संवत् १५०० में पैठणमें संत एकनाथ महाराजका उदय हुआ। इन्होंने एकनाथी भागवत, भावार्थरामायण, भरूड, अभङ्ग, पद, आरती आदि रचनाओंमें भगवान् श्रीकृष्ण, दाशरथि श्रीराम और विट्ठलभगवान्‌का ही गुणगान किया है। इनके प्रेममें साक्षात् श्रीकृष्णभगवान् इतने पागल हो गये थे कि वे द्वारकाको छोड़कर पैठणमें संत एकनाथ महाराजके यहाँ एक गरीब ब्राह्मणके वेषमें बारह वर्षोंतक रहकर उनकी सेवा करते रहे। पूजन-सामग्री लगाकर रखना, चन्दन घिसकर देना, नदीसे जल भरकर लाना आदि कार्य करते। स्वयं एकनाथ इस बातसे अनभिज्ञ थे। जब एक ब्राह्मणभक्त द्वारकासे पैठणमें साक्षात् ईश्वर श्रीकृष्णको ढूँढ़ने आया तब एकनाथने ईश्वरप्रेमका रहस्य जाना और साक्षात् दर्शन किया। इनके आध्यात्मिक सद्‌गुरु श्रीजनार्दन स्वामीने इन्हें दत्तात्रेय भगवान्‌के दर्शन करवाये थे। इन्होंने दत्तात्रेय भगवान्‌की आरतीद्वारा इसका प्रमाण दिया है। ये कहते हैं—

'दत्त येऊनिया उभा ठाकळा। साष्टांग नमुनि प्रणिपात केळा। जन्म मरणाचा फेरा चुकविळा॥'

पण्ढरपुरके विट्ठलको ये श्रीकृष्णका ही रूप मानते थे। एक अभङ्गमें वे लिखते हैं—

गोकुळी जे शोभळे। ते विटेवरी देखिळे॥
पूतने हृदयी शोभळे। ते विटेवरी देखिळे॥
एका जनार्दनी भळे। ते विटेवरी देखिळे॥
ज्ञानदेवे रचिळा पाया। उभारिळे देवाळया॥
नामातयाचा किंकर। जेणे केळा हा विस्तार॥
तुका वरीळ कळस। भजनकरा सावकाश॥

भाव है—संत ज्ञानेश्वर महाराज वारकरी-सम्प्रदायके संत-मन्दिरके निर्माता थे तथा संत नामदेवने उसका विस्तार किया। संत एकनाथ इस मन्दिरके स्तम्भ बने और ईसवी सन् १६०८ में देहू नामक गाँवमें जन्मे संतशिरोमणि तुकारामजी इस भक्तिमन्दिरके शिखरके रूपमें लोकमें प्रसिद्ध हुए।

वे विट्ठलभगवान्‌के परम भक्त थे। उनके सर्वस्व विट्ठल थे। उनके चार हजारके लगभग अभङ्ग प्रकाशित हो चुके हैं। वे कहते हैं—

डोळे तुम्ही घ्या रे सुख। पहा विट्ठळाचे मुख॥
तुम्ही ऐका रे कान। माझ्या विट्ठळाचे गुण॥
तुका म्हणे जीवा। नको सोडू या केशवा॥
तुका म्हणे काही न मागो आणीक।
तुझे पायी सुख सर्व आहे॥
प्रेमे पाझरती ळोचन। देई मज प्रेम सर्वकाळ॥

संत 'तुकाराम'का ईश्वरप्रेम इतना अलौकिक एवं अद्वितीय था कि साक्षात् वैकुण्ठाधिपतिने इन्हें सदेह वैकुण्ठमें स्थान देनेके लिये अपना गरुडविमान भेजा था और *'आम्ही जातो अमुच्या गावा। अमुचा राम राम घ्यावा॥'* ऐसा कहकर वे सदेह वैकुण्ठ चले गये।

सारांशमें वारकरी संतों—प्रेमी भक्तोंने अपना सर्वस्व पण्ढरपुरके विट्ठलभगवान्‌को ही स्वीकार किया था। उन्होंने मन-वाणी और कर्मसे अपना जीवन भगवत्प्रेममें ही समर्पित किया। उनका भाव दूसरा नहीं था—*'भाव तो निराळा नाहीं दूजा।'*

इन संतों—भक्तोंका विट्ठलप्रेम विलक्षण एवं अद्वितीय था। इन्होंने जीवनके अन्तिम क्षणोंतक आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण—विट्ठलके प्रेममय स्वरूपको, उनके दिव्य गुणोंको, उनकी लीलाओंको और अलौकिक प्रेमको अपनी रचनाओंमें स्वानुभवोंके आधारपर ही अभिव्यक्त किया है। आज भी महाराष्ट्रमें तथा मराठी घरोंमें संत श्रीज्ञानेश्वरजीसे लेकर संत श्रीतुकारामजी महाराजके भजन गूँजते हैं। इन भजनोंमें अखण्ड आत्मिक आनन्द तथा शाश्वत शान्तिकी अनुभूति होती है। आज तो जनमानस इन संतोंकी समाधिका, चरणपादुकाओंका दर्शन करके ही अपने-आपको धन्य समझता है। आज भी आषाढ़ शुक्लपक्षकी (विष्णुशयनी) एकादशी और कार्तिक शुक्लपक्षकी (प्रबोधिनी) एकादशीको लाखों भक्त पण्ढरपुरमें विट्ठलभगवान्‌का दर्शन करनेके लिये एकत्रित होकर *'जय हरि विट्ठल, जय जय विट्ठल।'*-का जब जयघोष करते हैं तो सम्पूर्ण अन्तरिक्ष विट्ठलमय हो जाता है।
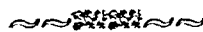
स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीकी 'इश्क़-कान्ति' में इश्क़

(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादजी सिंह)

अनन्तश्रीविभूषित रसिकाधिराज स्वामी श्रीयुगलानन्य-शरणजी महाराज रसिक-सम्प्रदायके प्रवर्तकाचार्योंमें अन्यतम थे। इनकी सारस्वतसाधनासे माधुर्यभक्तिको चरम अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। रसिकसाधनाका सर्वाङ्ग इनकी सरस रचनाओंमें *'गागरमें सागर'*की भाँति आकर सिमट गया और उसका कोई कोना अछूता नहीं रहा। रसिकाधिराज श्रीयुगलानन्यशरणजीके प्रभावशाली व्यक्तित्व, तपोमय जीवन, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अद्भुत अभिव्यञ्जना-शैली और अपार भावसम्पदाने अनेक रसिकसाधकोंमें रसिकभक्तिके प्रति अपार आकर्षण पैदा किया।

श्रीस्वामीजी संस्कृत और हिन्दीके तो अधिकारी विद्वान् थे ही, अरबी और फ़ारसीमें भी उनकी गहरी पैठ थी। उपर्युक्त भाषाओंमें उनकी उत्तम रचनाएँ उपलब्ध हैं। यत्र-तत्र उनकी रचनाओंमें सूफ़ियोंकी भावपद्धतिकी झलक भी मिल जाती है।

उनके द्वारा विरचित ग्रन्थोंमें 'मधुरमंजुमाला' एक ललित एवं विशाल रचना है। द्वादशादित्यकी भाँति इस ग्रन्थमें नाम-कान्ति, धाम-कान्ति, रूप-कान्ति, इश्क़-कान्ति आदि बारह कान्तियाँ हैं। यद्यपि सभी कान्तियाँ अपने स्वरूपमें अलौकिक हैं, किंतु उनमें 'इश्क़-कान्ति' सबसे विलक्षण है। मंजु छन्दमें रचित यह ग्रन्थरत्न समस्त भक्ति-वाङ्मयमें अश्रुतपूर्व ग्रन्थ है। इसमें अनेक विषयोंका प्रतिपादन है, किंतु मुख्यरूपसे प्रेमतत्त्वका ही विशद वर्णन किया गया है। तत्सुखित्वकी भावनासे विभूषित निर्मल, निष्कलंक प्रेमको ही ग्रन्थकारने इश्क़के नामसे अभिहित किया है। इस प्रेमतत्त्वको प्राप्त करनेवाले महाभागको आशिक़की संज्ञा प्रदान की गयी है।

श्रीस्वामीजीद्वारा रचित श्रीप्रेमप्रकाश, श्रीप्रेम-उमंग, श्रीप्रेमपरत्व, श्रीप्रीतिपचासिका आदि ग्रन्थोंमें भी प्रेमतत्त्वका ही वर्णन है, परंतु इश्क़-कान्तिकी वैसी कान्ति उनमें समा नहीं सकी है।

श्रीस्वामीजीकी रचनाओंमें—नाम, रूप, लीला, धाम, विनय, सत्संग, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति एवं अष्टयामीय भावनाओंके अमूल्य आदर्श उपलब्ध हैं, परंतु अपने आराध्यको आकर्षित करनेके लिये प्रेमाभक्ति जितनी सरल एवं सहज है, उतने अन्य साधन नहीं। श्रीस्वामीजीने अपने ग्रन्थोंमें सर्वत्र प्रेमयोगकी चर्चा की है। प्रेमाभक्तिको ही उन्होंने सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। इस अनन्य भक्तिकी प्राप्ति **'रसो वै सः'** के प्रति सर्वात्मसमर्पणके अनन्तर ही सम्भव है। सर्वरसोपेत ब्रह्म एकमात्र प्रेमरसका भूखा है। जिस क्रियाके सौजन्यसे भक्त और भगवान् दोनोंकी भूख मिटती है अर्थात् रसतृप्ति होती है, श्रीस्वामीजीने उसीको 'इश्क़' कहा है। इश्क़में एक संजीवनी शक्ति होती है। स्वामीजीने इश्क़के स्वरूपाङ्कनसे लेकर उसकी साङ्गोपाङ्ग प्रभावमयता, अनुपमता, दिव्यता, सरसता आदिका वर्णन किया है।

रसिकानन्य श्रीस्वामीजीने स्वरचित 'बीसायन्त्र' नामक पुस्तिकामें इश्क़ शब्दकी सुन्दरतम परिभाषा दी है—

अति आसक्ति सनेह रस, मन महबूब मोक़ाम।
होश हिसाब न हिरस दिल, इश्क़ असल अभिराम॥

अर्थात् आराध्यमें स्नेहसिक्त अत्यन्तासक्ति हो जाय तथा आशिक़के अविचल मनमें तन-मनकी सुधि-बुधि न रहे, साथ ही प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी आकाङ्क्षा न रहे, उसे ही 'अभिराम इश्क़' कहते हैं।

स्वामीजीका कहना है कि आशिक़ी तो तभी सच्ची है, जब हरदम दिलमें जगी रहे। यह 'आशिक़ी' ही आत्मसमर्पण है। इसी अमूल्य आशिक़ीको साधकोंने 'महारस', 'आनन्द' अथवा 'प्रेमरस' की प्राप्ति माना है।

इश्क़ भी ऐसा होना चाहिये—

तसबी फिरे नहीं कर डोले बदन न बोले बानी।
शबों रोज महबूब याद की माला मेहर निसानी।
चाखे रस भाखे सपने नहिं नाम अमल मनमानी।
युगलानन्य फ़क़ीरी मुसकिल कोई बिरले पहिचानी॥

श्रीस्वामीजी प्रियतमकी कृपा और स्मरणकी 'निशानी' ही इश्क़ करनेवालेमें ढूँढ़ते हैं। नामका अमल रस अहर्निश पान करता रहे, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों निश्चेष्ट हों, तो यही असल फकीरीकी स्थिति है, यह बहुत मुश्किलसे

ड़्चानमें आती है। यहाँपर श्रीस्वामीजीने अजपा-जप एवं ावसमाधि-दशाका दर्शन प्रस्तुत किया है। ऐसी सहजवृत्तिमें तो जपमाला फिरती है, न हाथ ही डोलता है, न वैखरी णीद्वारा मुखसे नामोच्चारण ही होता है; किंतु भीतर-ही-ातर मनहरण प्राणप्यारेकी मधुर स्मृतिकी मन्दाकिनी ाजस्त्ररूपसे प्रवाहित होती रहती है। इसे ध्रुवा-स्मृति कहते । ऐसी सहजावृत्ति प्रभुकृपाकी परिचायिका है। सचमुच—

इश्क़ कथा को कहे जवाँसे अकथ सुमन मति बानी है।

—इश्क़-वृत्तान्त अकथनीय है। यह आस्वादनीय है। ान होकर इश्क़का मजा चखिये और मगन हो जाइये।

जिस आनन्दसिन्धु विश्वमोहनको प्राप्त करना बड़े-ड़े योगियों, तपस्वियों, वेदब्रह्मादिकोंके लिये भी अगम , उसकी प्राप्तिकी अति सरल युक्ति है—इश्क़—प्रेम, वल प्रेम।

अनुरागी साधकोंपर इश्क़की सदा-सर्वदा ममत्वपूर्ण पा बरसती रहती है। धन्य है इश्क़ तेरी महिमा! प्रेमयोगी ावसमाधिमें अपने आराध्यकी प्रेममयी रसीली लीलाओंका वलोकन कर दिव्यानन्दमें छके रहते हैं।

इश्क़हक़ीक़ी अर्थात् दिव्य स्नेहासक्ति ऐसी अचूक ौर अमोघ साधना है—जिसके द्वारा आवागमनका चक्कर दाके लिये छूट जाता है। वस्तुतः आशिक़में निर्भयताका श्चलभाव होना चाहिये। परंतु यदि ऐसी स्थिति नहीं है उसकी सर्वत्र निन्दा होगी; किंतु दूसरी ओर आचार्यजी ह भी कहते हैं कि इश्क़-नदीमें डूबनेका भाग्य विरलेको : प्राप्त होता है—

ाशिक़ नाम धराय खाय फिर ख़ौफ़ फ़ज़ीहत तिसकी है।

× × ×

ुगलानन्यसरन डूबे दरियाव-इश्क़ गति किसकी है॥

प्रेमरत्नकी प्राप्तिके लिये गहरे पानी पैठनेकी अपेक्षा । अनन्यश्रीका परामर्श है—

कूद पड़ो दरियाव इश्क़में क्यों डरते हो प्यारे।
जो कुछ होना होय सो होवे, सिर सौंपे सुख सारे॥
सचमुच यहाँ सिर देकर होते हैं सौदे।
बिना इसके यारकी चितवन असम्भव॥
दरिया-इश्क़-बीच गोता हरसायत आशक देते हैं।
युगलानन्यसरन ऐसे हुशियार कहो जग केते हैं॥

प्रेम-प्रवीण आशिक़ इस स्वार्थसंलिप्त जगत्‌में अत्यल्प हैं, शायद नहींके बराबर। *'रीझत राम सनेह निसोतें'* की दशाको श्रीस्वामीजीने भी अद्वितीय माना है—

बेपरबाह चाह दुनिये से चाह चैन चख चारी।
युगलानन्य उदाग इश्क़ पर ख़ुश श्रीअवधबिहारी॥

इश्क़ दीवानोंको प्रेमालापमें त्रयतापका भय कैसा? इश्क़ाधिकारीके लिये कठिन शर्तकी पूर्तिकी अपेक्षा है—

जो मारे तरवार यार हुशियार शीश तब देते हैं।
जो बोले कटु बैन चैन हर तब समरुधा सहेते हैं॥
करत निरादर आदर अति मनमानि सजे हिय हेते हैं।
युगलानन्यसरन सब ही विधि द्वार गहे गुन लेते हैं॥

अपने प्रियके प्रेमोद्यानमें बुलबुल बनकर प्रेमोन्मत्त नृत्य करते रहना और दिन-रात प्रेम-रसोपलब्धिके लिये प्रेमास्पदकी धुनमें रत रहना ही सच्चे प्रेमीकी पहचान है, नहीं तो भजन-भावना सर्वथा कच्ची—नकली है। युगलानन्यशरण महाराजजीने अपने प्रेमास्पदकी बड़ी अच्छी और सरस पहचान बतलायी है—

रहस रंगीन रजा के हैं।
अनपधि अकरम अजूब खूब श्रीअवध शहर के बाँके हैं॥

उनकी दृष्टिमें प्रेमियोंकी दुनिया कुछ निराली है—

दिलदारों की दूर दरक दी दुनिये से कछु न्यारी है।

सचमुच जगत् और भगत एक साथ असम्भव, आशिक़के तो—

फाँका करे क़बूल भूल सहि हिय अनुकूल हमेशे।

प्रेमियोंकी नैसर्गिक दिनचर्या होती है। तैलधारावत् सुरतियोगमें निमग्न रहना यही सच्चे प्रेमीका सच्चा धर्म है। श्रीस्वामीजीने आशिक़की अद्वितीयता भी अद्भुत बतलायी है—

आशिक़ की समता करने लायक तिहुँ लोक न कोई है।
योगी यती तपी ज्ञानी तिसके आगे सब छोई है॥

श्रीस्वामीजीके मतानुसार संसारमें उससे बड़ा कोई नहीं है, जिसकी मति प्रेमरसमें सराबोर है। जिसने इश्क़का आनन्द नहीं लिया, उसकी मतिको अन्तमें रुदन हाथ लगता है—

उनसे बड़ा और नाहीं जिनकी मति रंग रसभोई है।
युगलानन्य इश्क़ कीने बिनु बार-बार मति रोई है॥

आचार्यजीकी दृष्टिमें प्रेमियोंका कोई मत-मज़हब नहीं होता—

क्या मज़हब से मतलब उनको जिनको लगन ललामी है।
सबसे हुए उदास हमेशे केवल इश्क़ कलामी है॥

प्रेमीलोग जगत्से उदास परंतु जगदीशके ज़िक्र और फ़िक्रमें निरन्तर तल्लीन रहते हैं। इश्क़ तो स्वयंमें ही एक महान् मज़हब है। आशिक़ उसीमें दीक्षित होकर सतत दीवाने बने रहते हैं—

'मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मज़हब इश्क़ है' यह उत्कट उद्गार है प्रेमियोंका।

आशिक़को यह सतत ध्यान रखना है कि वह प्रेमास्पदकी रसमयी स्मृतिमें तल्लीन और जागतिकतासे बेखबर रहे। प्रियतमके संग-लाभमें ही जागना-सोना उचित है—

आशिक़ को हर वक्त मुनासिब ख़बर बेख़बर होना।
सनम शौक़ सोहबत जाहिर में ख़ूब जागना सोना॥

परम प्रिय विभुके आश्रित होकर भी यदि कोई प्रेमी लोक-लोचनका प्यारा बनना चाहता है तो वह सच्चा संत नहीं है। रागी और विरागी एक साथ कैसे रह सकते हैं? फ़कीर कहाना और जगत्को रिझाना कच्चे प्रेमीका लक्षण है—

फकर कहाना जगत रिझाना कहु किसने फरमाया है।
शाहनशाह गुलाम हुआ फिरि किसको शीश नवाया है॥
पारस मनि जब हाथ लगी तब कौड़ी कौन कमाया है।
युगलानन्यसरन हरदम बिन चाह फ़कीरी गाया है॥

चाह और फ़कीरी सर्वथा ढकोसला, हास्यास्पद है। प्रेमरूपी पारसमणिको पाकर कौड़ीकी आशा शोचनीय है। वास्तवमें दिव्यातिदिव्य प्रेमको विश्वके सभी सहृदयोंने अमूल्य माना है। यह साक्षात् 'रसो वै सः' का ही अक्षर प्रतीक है। इस दिव्य प्रेमदौलतको पा लेनेके बाद मानव-जीवनमें कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस प्रेमके वशीभूत होकर विराट् ब्रह्मका पूरा संविधान बदल जाता है—

प्रबल प्रेमके पाले पड़कर प्रभुको नियम बदलते देखा।

अचल आशिक़के समक्ष प्रेममय परमात्माका सारा मान-सम्मान काफ़ूर हो जाता है। प्रेमकी रीझि-बूझि ही निराली है। भारतीय भक्ति-साहित्यमें परमात्माकी प्रेमपरवशताका उदाहरण पदे-पदे प्रदक्षिणा करते हुए साक्षी भर रहा है। परंतु सबसे बड़ी समस्या प्रबल प्रेमी होनेकी है। निष्काम प्रेमी, अटल प्रेमी तथा अनन्य प्रेमी होना अत्यन्त दुर्लभ है। रसिकानन्य तो सच्चे आशिक़ होनेको मरनेसे भी मुश्किल मानते हैं; क्योंकि मरनेमें एक बार पीड़ा होती है, किंतु आशिक़को तो क्षण-क्षणमें मरना-जीना होता है। इस स्नेहसदनमें बुद्धिचातुरीका प्रवेश निषेध है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।

प्रेमपथमें सदा आहकी आहट आतप फैलाये रहती है। अनन्त कालतक प्रेमरसके आस्वादनके अनन्तर शायद प्रेमीकी उपाधि मिल जाय। वह भी पुरुषार्थसाध्य नहीं, कृपासाध्य है। रसिकाधिराज स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजकी 'इश्क़-कान्ति' में निम्नाङ्कित छन्द इश्क़की कान्तिसे आमूलचूल आलोकित है—

युगलानन्यसरन आशक़ रस छानत-छानत छानोगे।
आशक़ होना सरल नहीं मरनेसे मुश्किल मानोगे।
पल-पलपर मरना जीना तिसको क्योंकर पहिचानोगे॥

स्वामीजीकी इश्क़-कान्तिमें अक्षर-अक्षरसे प्रेमरसका अजस्र क्षरण हो रहा है।

'परमधन राधे नाम अधार'

परमधन राधे नाम अधार।
जाहि स्याम मुरलीमें टेरत, सुमिरत बारंबार॥
जंत्र-मंत्र औ बेद तंत्रमें सबै तारकौ तार।
श्रीसुक प्रगट कियो नहिं यातैं जानि सारको सार॥
कोटिन रूप धरे नँद-नंदन, तऊ न पायौ पार।
ब्यासदास अब प्रगट बखानत, डारि भारमें भार॥

राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनासे प्रभुकी प्रसन्नता

(श्रीशिवकुमारजी गोयल)

प्रेम एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है जो पूर्णरूपेण समर्पण करने, सर्वस्व समर्पण करनेकी अजस्र प्रेरणा देता है। किसी भी राष्ट्रके नागरिक अपने देशके प्रति जब अनन्य प्रेम रखते हैं, तभी वे देशपर आये किसी भी संकटके समय प्राणोत्सर्गतकके लिये तत्पर हो उठते है। मातृभूमिके प्रति अनन्य प्रेमकी परिणति ही देशके सपूतोंको बलिपथकी राह दिखाती है।

धर्मशास्त्रोंके **'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी'** अर्थात् *जन्मदात्री माता और जन्मभूमि स्वर्गसे भी बढ़कर है*—इस वाक्यसे प्रेरणा लेकर असंख्य भारतीय राष्ट्रभक्तोंने मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये हँसते-हँसते फाँसीका फन्दा चूमा। हमारे धर्मशास्त्रोंमें भारतको अवतारों, देवी-देवताओं और ऋषि-मुनियोंकी दिव्य भूमि कहकर उसकी वन्दना की गयी है। इस पावन राष्ट्रकी रक्षा तथा समृद्धिके लिये प्राचीन कालसे ही राजा-महाराजा, महर्षि दधीचि-जैसे ऋषि तथा वीर-वीराङ्गनाएँ अपना सर्वस्व समर्पण करते रहे हैं। इस सर्वस्व-समर्पणके पीछे अनन्य प्रेमभावना ही प्रमुख प्रेरणा रही है।

राष्ट्रप्रेमने घासकी रोटियाँ खिलायीं

जब कुछ सौ वर्षोंके लिये भारतपर विदेशी-विधर्मी मुसलमान शासकोंका आधिपत्य हो गया, तब छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप, गुरु तेगबहादुर, गुरु अर्जुनदेव, भाई मतिदास, गुरु गोविन्द सिंह, बन्दा बैरागी, पृथ्वीराज चौहान आदि न जाने कितने राष्ट्रपुत्रोंने अपनी मातृभूमिके प्रति, राष्ट्रके प्रति—प्रेमभावनाके कारण संघर्ष करते-करते प्राणोत्सर्ग किया। छत्रपति शिवाजी महाराजको उनकी माता जीजाबाईने रामायण, महाभारत आदिकी गाथाएँ सुना-सुनाकर उनके हृदयमें राष्ट्रप्रेमकी ज्योति प्रज्वलित की थी। राष्ट्रप्रेमकी, जननी-जन्मभूमिको स्वर्गसे महान् माननेकी इसी भावनाने ही इन वीरों-वीराङ्गनाओंको विदेशी-विधर्मियोंके समक्ष जूझने तथा हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग करनेकी प्रेरणा दी थी। महारानी पद्मिनी-जैसी असंख्य पतिव्रता वीराङ्गनाओंने अपने स्वर्ण-जैसे शरीरोंको विधर्मियोंके हाथोंमें न पड़े इस संकल्पके कारण अग्निको समर्पण कर दिया।

जननी-जन्मभूमिके प्रति अनन्य निष्ठा, अनन्य प्रेमके कारण ही हिन्दूसूर्य महाराणा प्रतापने बादशाह अकबरसे सन्धिके बदले संघर्षका मार्ग चुना था। सोने-चाँदीके पात्रोंको त्यागकर, समस्त सुख-ऐश्वर्यपर लात मारकर उन्होंने पेड़के पत्तोंपर भोजन करने, घासकी रोटियाँ खाकर भूख मिटाने तथा घास-फूँसके बिछौनेपर सोनेको प्रमुखता दी थी। सन् १५७६ ई० में महाराणा प्रतापने हल्दीघाटीमें अकबरकी सेनासे जो घोर युद्ध किया था, उसके पीछे उनके राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावना ही तो थी।

राणा साँगा, गोरा-बादल, वीरवर हम्मीर, पन्ना धाय, हाड़ा रानी, रानी दुर्गावती, विद्युल्लता आदि असंख्य राष्ट्रभक्तोंने राष्ट्र तथा धर्मप्रेमके कारण ही बलिदान दिये। असंख्य वीर-वीराङ्गनाएँ मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये ही संघर्षरत रहे। उन्होंने मातृभूमिके स्वाभिमानकी रक्षाके लिये क्या-क्या संकट सहन नहीं किये?

धर्मके प्रति अनन्य प्रेम तथा निष्ठा ही वह तत्त्व है, जिसने धर्मवीर हकीकत राय, अफगानिस्तान क्षेत्रके श्रीकृष्णभक्त मुरलीमनोहर, धर्मवीर छिनकू, गुरु गोविन्द सिंहके पुत्रों—जोरावरसिंह और फतहसिंहको अपने प्राणप्रिय हिन्दूधर्मके रक्षार्थ हँसते-हँसते बलिदान दे देनेकी शक्ति प्रदान की। यह उनके उत्कट धर्मप्रेमके अनूठे उदाहरण हैं।

प्रारम्भमें अंग्रेजोंने जब छल-बलसे भारतमें व्यापारीके रूपमें प्रवेश किया तथा कालान्तरमें वे भारतपर अधिकार जमानेमें सफल हो गये, तब शुरूसे ही राष्ट्रप्रेममें पगे राष्ट्रभक्तोंने उन्हें चुनौती देनी शुरू कर दी थी। सन् १८५७ में धर्मप्रेमी मंगल पाण्डेने अंग्रेजोंकी सेनामें सैनिक होते हुए भी गोमाताके प्रति अनन्य भक्तिके कारण गायकी चर्बी लगे कारतूसोंको छूनेसे इनकार कर अंग्रेजोंके विरुद्ध विद्रोहका बिगुल बजा दिया था। इस महान् धर्मप्रेमी गोभक्त ब्राह्मणने हँसते-हँसते फाँसीका फन्दा चूमकर अपने अनूठे गोप्रेमका ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया था।

महारानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे, वीर कुँवर सिंह, हुकमचन्द जैन, नानासाहब पेशवा-सरीखे असंख्य राष्ट्रभक्तोंने अपने राष्ट्रप्रेमके कारण ही तो बलिदानका मार्ग अपनाया था। लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय, स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर, भाई परमानन्द, चन्द्रशेखर आज़ाद, सरदार भगत सिंह, पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल, अशफाकुल्ला खाँ, ठाकुर रोशन सिंह, भाई बालमुकुन्द, अवधविहारी, मास्टर अमीचन्द, मदनलाल ढींगरा, सरदार ऊधम सिंह, राजेन्द्र लाहिड़ी, यतीन्द्रनाथ

प्रभु-प्रेमी भरत और महर्षि भारद्वाज

भगवत्प्रेममें विभोर भक्तप्रवर रसखान

पराम्बा भगवतीका प्रेमानुग्रह

मुखर्जी, बटुकेश्वर दत्त, राजगुरु, सुखदेव, खुदीराम बोस, कन्हाईलाल दत्त-जैसे असंख्य राष्ट्रभक्तोंने राष्ट्रप्रेमकी भावनासे प्रेरित होकर ही क्रान्तिकारी आन्दोलनमें सक्रिय होकर अपना सर्वस्व समर्पण किया था। इनमेंसे अनेक वीरोंने हँसते-हँसते फाँसीके फन्दे चूमे थे तथा अनेकने अपनी जवानी अण्डमान (कालापानी)-की कालकोठरीमें गला दी थी।

राष्ट्रका अपमान ईश्वरका अपमान है

तेजस्वी युवक मदनलाल ढींगराने लन्दनमें वीर विनायक दामोदर सावरकरसे प्रेरणा लेकर जब सन् १९०९ ई० में भारतमें किये गये अत्याचारोंका प्रतिशोध लेनेके लिये सर कर्जन वायलीकी हत्या की तो उन्हें लन्दनके न्यायालयने फाँसीका दण्ड दिया। १६ अगस्त १९०९ ई० को गीता हाथमें लेकर फाँसीपर चढ़नेसे पूर्व इस भारतीय क्रान्तिकारी युवकने अपने लिखित बयानमें कहा था—'एक हिन्दूके नाते मेरा विश्वास है कि मेरे देशका अपमान करना साक्षात् ईश्वरका अपमान करना है। मेरे देशकी पूजा भगवान् श्रीरामकी पूजा है। देशकी सेवा भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा है। मेरे-जैसा निर्धन पुत्र भारतमाताकी आराधनाके लिये अपने रक्तके अतिरिक्त और क्या दे सकता है? ईश्वरसे मेरी यही प्रार्थना है कि मैं तबतक उसी मातासे जन्मता रहूँ और फिर उसी उद्देश्यके लिये मरूँ, जबतक कि भारतमाता स्वतन्त्र न हो जाय।'

युवक खुदीराम बोसने भी गीता हाथमें लेकर भारतमाताकी स्वाधीनताके लिये हँसते-हँसते फाँसीका फन्दा चूमा था। यह बलिदान उनके राष्ट्रप्रेमका ही सूचक था।

लोकमान्य तिलक, महामना पं० मदनमोहन मालवीय, महर्षि अरविन्द तथा लाला लाजपत राय आदि अनेक विभूतियोंने राष्ट्रकी आराधनाको भगवान्‌की आराधना मानकर ही अपना जीवन मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये समर्पित किया था। लाला हरदयाल, रासबिहारी बोस, योगिराज अरविन्द घोषके भ्राता श्रीवारीन्द्र कुमार घोष आदि सभी क्रान्तिकारी परम ईश्वरभक्त थे। उन्होंने राष्ट्रप्रेम तथा राष्ट्रनिष्ठाके कारण ही सर्वस्वसमर्पणका मार्ग चुना था।

स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर, उनके दोनों भ्राता बाबाराव सावरकर तथा नारायणराव सावरकर जब राष्ट्रभक्तिके आरोपमें जेलोंमें बंद किये गये, तब वीर सावरकरने जेलसे अपनी पूजनीया भाभीको सान्त्वना देनेके लिये स्वरचित पदमें लिखा था—

तरी जे गजेन्द्रशुंडेने उपटिलें, श्रीहरिसाठे नेलें।
कमल फुल ते अमर ठेलें मोक्षदातें पावन॥

अर्थात् अनेक पुष्प उत्पन्न होते हैं और सूख जाते हैं, कोई उनकी गिनती नहीं करता; किंतु हाथीकी सूँड़द्वारा भगवान्‌के श्रीचरणोंमें समर्पित कमल-पुष्प अमर हो जाता है। इसी प्रकार हम तीनों भाई कमल-पुष्पकी तरह भगवान् श्रीहरिरूपी (मातृभूमि)-के चरणोंमें समर्पित होकर अमर हो जायँगे।

वीर सावरकरजी तथा उनके अग्रज बाबाराव सावरकरने अनेक वर्षोंतक कालापानी (अण्डमान)-की काल कोठरीमें अमानवीय यातनाएँ सहनकर अपनी मातृभूमिके प्रति अनूठे प्रेमका ही परिचय दिया था।

महर्षि अरविन्दकी जेलकी अनुभूति

महर्षि अरविन्द घोषने राष्ट्रिय चेतना जाग्रत् करनेके लिये अपना जीवन समर्पण कर दिया था। एक ओर जहाँ वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य प्रेमभावना रखते थे, वहीं दूसरी तरफ राष्ट्रकी सेवाको भी भगवान्‌की ही सेवा मानते थे।

श्रीअरविन्दको राष्ट्रप्रेमके आरोपमें गिरफ्तार कर अलीपुर (बंगाल)-की जेलमें नज़रबंद कर दिया गया था। जेलके एकान्त वातावरणमें उन्होंने घोर साधना की। श्रीकृष्णप्रेममें वे इतने तन्मय हो जाते थे कि शरीरकी सुध-बुध खो बैठते थे। अपने 'उत्तरपारा आगे भाषण' में अरविन्दजीने लिखा है—

'मैंने अपने-आपको अन्य मनुष्योंसे अलग करनेवाली जेलकी ओर दृष्टि डाली तो देखा कि अब मैं उसकी ऊँची दीवारोंके भीतर बंद नहीं हूँ। मुझे तो अब घेरे हुए थे वासुदेव श्रीकृष्ण। मेरी कालकोठरीके सामने जो वृक्ष था, उसकी शाखाओंके बीच मैंने टहलते हुए अनुभूति की कि वह वृक्ष नहीं वासुदेव है। मैंने देखा कि वृक्षकी जगह वासुदेव खड़े मेरे ऊपर अपनी छाया किये हुए हैं। मुझे चारों ओर वासुदेव-ही-वासुदेव दिखायी देने लगे और ऐसा लगा कि स्वयं वासुदेव ही संतरी बनकर पहरा दे रहे हैं। मैं जब मोटे कम्बलोंपर लेटा, जो मुझे पलंगके स्थानपर मिले थे तो अनुभव किया कि मेरे सखा, मेरे प्रेमास्पद श्रीकृष्ण मुझे अपनी भुजाओंमें लिये हुए हैं।'

चन्द्रशेखर आज़ाद, पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल, ठाकुर रोशन सिंह आदि सभी देशभक्त राष्ट्रप्रेमको ही भगवत्प्रेमका पर्याय मानते थे। काकोरी ट्रेनमें खजाना-लूटकाण्डके आरोपमें जब पं० श्रीरामप्रसाद बिस्मिलको १९ दिसम्बर सन् १९२७ ई० को गोरखपुरजेलमें फाँसीपर लटकाया गया तो उस महान् राष्ट्रप्रेमी सेवकने भगवान्‌का पावन स्मरण करते हुए कहा—

मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे॥

राष्ट्रप्रेमके साथ-साथ भगवान्‌के प्रति अटूट निष्ठाका भी उन्होंने परिचय दिया था।

क्रान्तिवीर अशफाकुल्ला खाँने भी पं० श्रीरामप्रसाद बिस्मिल आदिके साथ मातृभूमिको विदेशी दासतासे मुक्ति दिलानेमें सक्रिय भाग लिया था। फाँसीकी सजा सुनाये जानेके बाद जब उनसे क्षमा माँगनेका प्रार्थनापत्र देनेको कहा गया तो मातृभूमिके दीवाने इस क्रान्तिवीरने उत्तर दिया था—'ख़ुदावन्द करीमके सिवा और किसीसे माफ़ीकी प्रार्थना करना मैं हराम समझता हूँ।'

सभी क्रान्तिकारी राष्ट्रप्रेमके साथ-साथ ईश्वरके प्रति अनन्य निष्ठावान् थे।

यज्ञोपवीतके लिये बलिदान

पंजाबके युवा क्रान्तिकारी पण्डित रामरक्खा जब राष्ट्रप्रेमके आरोपमें कालापानी (अण्डमान जेल) भेजे गये तो उनसे उनके गलेका यज्ञोपवीत उतारनेको कहा गया। उस परम ईश्वरभक्त तेजस्वी ब्राह्मणयुवकने जेलके अंग्रेज अधिकारीसे कहा था—'यज्ञोपवीत (जनेऊ) मेरे धर्मका पावन चिह्न है। इसे उतारनेके बदलेमें मैं प्राण देना स्वीकार करूँगा।' पण्डित रामरक्खाने जनेऊकी रक्षाके लिये आमरण अनशन शुरू कर दिया। विनायक दामोदर सावरकर आदिने उनकी जनेऊ-रक्षाके इस संकल्पका समर्थन किया था। अन्तमें यह क्रान्तिवीर यज्ञोपवीतकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करनेको बाध्य हुआ था।

अण्डमानकी कालकोठरीमें राष्ट्रप्रेमके आरोपमें सजा-प्राप्त राजबंदियोंको कोल्हूमें बैलकी जगह जोतकर तेल पेरवाया जाता था। मूँज कुटवायी जाती थी। उन्हें कोड़े लगाये जाते थे, किंतु राष्ट्रप्रेमके इन दीवानोंने अनेक अमानवीय यातनाएँ सहन करनेके बावजूद कभी भी झुककर अपनी मातृभूमिका नाम कलंकित नहीं होने दिया। क्रान्तिकारी आन्दोलनके साथ-साथ अहिंसक साधनोंसे मातृभूमिकी आराधना, उपासना करनेवाले महात्मा गाँधीके नेतृत्वमें उनके आह्वानपर लाखों-लाखोंकी संख्यामें जेल जाकर यातनाएँ सहन करनेवाले स्वाधीनता सेनानियोंने भी राष्ट्रप्रेमके कारण ही स्वेच्छासे संकटोंका रास्ता चुना था।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, राजा महेन्द्रप्रताप, लाला हरदयाल, रासबिहारी बोस, भाई परमानन्द-सरीखे राष्ट्रभक्तोंने सभी सुख-सुविधाएँ त्यागकर देशके अतिरिक्त विदेशोंमें भी जाकर मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये जो अमानवीय कष्ट सहन किये, उनके पीछे उनके राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनाएँ ही थीं। नेताजी सुभाषचन्द्र बोसने 'आज़ाद हिन्द' सेनाके सैनिकोंके समक्ष जापानमें कहा था—

'मैं अपनी मातृभूमिमें, राष्ट्रमें मा दुर्गाके दर्शन करता हूँ। भारत माको विदेशियोंकी गुलामीसे मुक्त कराना ही हम भारतीयोंका प्रधान उद्देश्य है।'

महर्षि अरविन्द घोषको राष्ट्रभक्तिके आरोपमें अलीपुर जेलमें बंदी बनाकर रखा गया था। जेलमें ही उन्होंने साधनाके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात्कार किया था। भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार-जैसी आध्यात्मिक विभूतिने भी राष्ट्रके प्रति अनन्य प्रेमके वशीभूत होकर कलकत्तामें क्रान्तिकारी गतिविधियोंमें भाग लिया था। उन्हें जब शिमलापालमें नज़रबंद रखा गया, तब उन्हें भगवदाराधना तथा सेवाका शुभ अवसर प्राप्त हुआ था। महान् इतिहासकार देवतास्वरूप भाई परमानन्दजीने भी कालापानी (अण्डमान)-में राष्ट्रप्रेमके कारण घोर यातनाएँ सहन की थीं। उन्होंने जेलमें ही 'मेरे अन्त समयका आश्रय—श्रीमद्भगवद्गीता' नामक ग्रन्थकी रचना की थी।

भाई परमानन्दजीने जेलमें लिखा था—'राष्ट्र एक अनन्त आध्यात्मिक शक्तिका ही रूप है, जिसके हृदयमन्दिरमें स्वतन्त्रताकी देवी विराजमान है। राष्ट्रप्रेमकी भावना इस स्वातन्त्र्य लक्ष्मीकी आराधनाके लिये सर्वस्व समर्पित करनेकी प्रेरणा देती है।'

सुविख्यात पत्रकार तथा निर्भीक चिन्तक श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जीने भी लिखा था—'स्वतन्त्रतारूपी देवी बड़ी साधना, सर्वस्वसमर्पण, अटूट प्रेम-भावनासे संतुष्ट और तृप्त की जा सकती हैं। वे अपने भक्तोंकी, प्रेमियोंकी कठोर एवं दीर्घकालव्यापी तपस्या चाहती हैं और परीक्षा लेती हैं।'

सुप्रसिद्ध कवि श्रीशोभाराम 'धेनुसेवक' ने इन राष्ट्रप्रेमी बलिदानियोंके बारेमें कितना सटीक लिखा था—

देश प्रेमके मतवाले कब, झुके फाँसियोंके भयसे।
कौन शक्तियाँ हटा सकी हैं, उन वीरोंको निश्चयसे॥
हो जाता है शक्तिहीन जब, शासन अतिशय अविनयसे।
लखता है जग बलिदानोंकी, पूर्ण विजय तब विस्मयसे॥

राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनासे अनुप्राणित होकर मातृभूमिकी बलिवेदीपर अपने प्राणोंको न्योछावर करनेवाले देशके अमर सपूतोंने राष्ट्ररक्षाका सम्बल लेकर ही परमात्मप्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेका प्रयास किया।

मुसलिम संत-कवि साँई दीनदरवेशकी भगवत्प्रेमोपासना

(दंडीस्वामी श्रीमद् दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'साँई दीनदरवेश' का जन्मवृत्तान्त प्रसिद्ध संत-कवि कबीरजीके जन्मवृत्तान्तसे प्राय: मिलता है, ऐसा कतिपय विद्वानोंका मन्तव्य है।

प्राय: २८९ वर्ष पहले उत्तर गुजरातके महेसाणा जिलेके डभोडा नामक गाँवमें लोहार-जातिमें दीनदरवेशका जन्म हुआ। जनश्रुतिके अनुसार उनके माता-पिताके बचपनमें ही दिवंगत हो जानेपर उनका लालन-पालन एक पड़ोसी मुसलमान परिवारने किया था। दीनदरवेशने स्वयंके विषयमें स्वरचित एक कुण्डलियामें स्पष्ट कहा है—

दीन को जहाँ में भेजिया कृपा किन्ही जगतात।
सत्तरह सौ अड़सठ में, देश उत्तर-गुजरात॥
देश उत्तर-गुजरात, डभोडा गाँव बखाना।
सोमाजी मम तात, तुलजा मात परमाना॥
कहत 'दीनदरवेश', आय के जाऊँ कहाँ मैं?
खोज तेरा दीदार, साँइयाँ यही जहाँ में॥

उपर्युक्त छन्दसे यह बात स्पष्ट होती है कि साँई दीनदरवेशका जन्म विक्रम संवत् १७६८ में हुआ था। उनका जन्म-नाम क्या था, उनकी कितनी संतान थी, आदिके बारेमें ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है।

कहते हैं कि जब वे प्राय: १५ वर्षके थे, तब अपने गाँव डभोडामें आये एक दरवेश फकीरकी सेवामें कुछ महीने रहे। उस फकीरने उन्हें 'दरवेश-पन्थ' की दीक्षा दे डाली और नामकरण 'दीनदरवेश' कर दिया।

फकीरके बारेमें एक दोहा प्रसिद्ध है—

हद को जाने मौलवी बेहद जाने पीर।
हद-बेहद अतीत है वाको नाम फ़कीर॥

ऐसा भी कहा गया है कि *'फ़िकर की फाकी करे, सो जानो फ़कीर॥'*

प्रसङ्गप्राप्त यहाँपर दरवेश-पन्थके विषयमें संक्षेपमें बताया जा रहा है—

हजरत मोहम्मद पैगम्बर (ईसवी-सन् ५७०—ईसवी सन् ६३२)-का जन्म अरबस्तानके मक्का नामक शहरमें कुरेशी जातिके हाशिम कुलमें पिता अबदुल्लाह और माता अमिनाके माध्यमसे हुआ। शिशुके जन्मसे पहले ही पिताका और उसके जन्मके बाद माताका भी निधन हो गया, अत: शिशुका कुछ वर्षतक पालन-पोषण हलिमा नामक दाईने किया था। प्राय: २५ वर्षकी अवस्थामें मोहम्मद साहबने धनवान् स्त्री खदीजाके साथ विवाह किया था।

मोहम्मद साहबको मक्का शहरके समीप हीरा पहाड़पर की गयी कुछ दिनोंकी एकान्त साधनाके फलस्वरूप गूढ़ रहस्यका लाभ हुआ, तब उन्होंने इसलाम-धर्मकी स्थापना की और प्रथम दीक्षा खदीजा बीबीको दी, बादमें अलि एवं जैदको तथा अबुबकर एवं उस्मान आदिको दी। इस प्रकार इसलाम-धर्मका प्रसार हुआ। इसलाम एकेश्वरवादको मानता है।

कालान्तरमें इसलाम-धर्ममेंसे सूफी-पन्थ निकला। 'सूफी' माने बकरीके बालोंसे बनायी गयी कन्था (गुदड़ी) पहननेवाले फकीर। प्रारम्भमें सूफी लोग निवृत्तिमार्गके थे। संसारत्याग करके फकीरी लेकर एकान्तमें वे कठोर तपस्या करते थे और ईश्वर-साक्षात्कारकी कामना करते थे। संत मंसूर अनलहक (**अहं ब्रह्मास्मि**)-के उपासक थे। संत रबिया भक्ति-मार्गकी साधिका थी। संत मंसूर कहते थे—

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को, भसम तन पर लगाता जा॥
कहै मंसूर मस्ताना, 'हक' मैंने दिल में पहचाना।
यही मस्तों का मयखाना, उसी के बीच आता जा॥

एक शिष्य अपने एकान्तप्रिय गुरुसे मिलने गया। गुरुकी कुटीरका द्वार अंदरसे बंद था। शिष्यने दरवाजा खटखटाया तो अंदरसे आवाज आयी—'कौन है?'

शिष्यने अहंकारसे जवाब दिया—'मैं'।

दरवाजा नहीं खोला गया।

शिष्यने दीर्घ समयतक विचार करनेके बाद अहंकाररहित होकर फिर कुटीरका दरवाजा खटखटाया। फिर अंदरसे गुरुकी आवाज आयी—'कौन है?'

शिष्यने विनम्रभावसे उत्तर दिया—'तू'।

यह सुनकर गुरुने दरवाजा खोला और शिष्यको सुनाया—

जब मैं था, तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

शिष्य गद्गद हो गया और भगवत्प्रेम-साधनाका

रहस्य समझ गया।

कहते हैं कि सूफी-पन्थके कई साधकोंने भगवान्‌को माशूक़ (प्रेयसी) और स्वयंको आशिक़ (प्रेमी)-की भावना करके साधना की थी। इस विषयमें स्वामी रामतीर्थने एक प्रवचनमें कहा था कि जब मजनू मर गया, तब यमदूत उसे यमराजके दरबारमें ले गये। पागल-से मजनूको देखकर दयालु यमदेवने उससे कहा—हाड़-चामके देहवाली क्षणभङ्गुर लैला नामक स्त्रीके पीछे पागल होकर तूने अमूल्य जीवन व्यर्थ गँवा दिया है। मुझे तुझपर दया आती है।

यह सुनकर मजनूने यमराजसे कहा—'यदि आपको मेरे प्रति सचमुच ही दया (करुणा) थी तो आप ख़ुद ही 'लैला' बनकर पृथ्वीपर क्यों नहीं आये?

कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्‌का माशूक़-भावसे चिन्तन करनेपर सूफी-साधना सिद्ध हो जाती है।

कहते हैं कि अबु हसन नामक सूफी साधक एक दिन सूफी संत रबियाकी कुटियामें इस आशयसे छिप गये कि इबादत (प्रार्थना)-के समय रबिया प्रभुसे क्या माँगती है—यह जान सकें।

कुछ समयके बाद रबियाकी प्रभु-प्रार्थना शुरू हुई। वह प्रार्थना करने लगी—'हे प्रभो! यदि मैं नरकके भयसे तेरी पूजा-प्रार्थना करती होऊँ तो तू मुझे नरककी आगमें जला दे। यदि स्वर्गके लोभसे मैं तेरी सेवा-प्रार्थना करती होऊँ तो स्वर्गका द्वार मेरे लिये बंद कर दे; किंतु यदि मैं तेरी प्रीति एवं प्राप्तिके लिये ही तेरी भक्ति-प्रार्थना करती होऊँ तो तू मुझे अपने अपार सुन्दर स्वरूपसे वञ्चित मत रख!'

अरबदेशकी मीराबाई संत रबियाकी प्रभु-प्रार्थना सुनकर अबु हसनकी आँखें खुल गयीं।

१२वीं सदीमें ऐसे मस्त फकीरोंका एक पन्थ शुरू हुआ जिसके संस्थापक एवं संचालक अब्दुल क़ादिर और अहंमद रिफा नामक सत्पुरुष थे। उन्होंने सूफी-पन्थका तत्त्वज्ञान स्वीकार करके अपने नये पन्थमें मिलाया और भक्तिमिश्रित ज्ञान इस पन्थकी साधनाका लक्ष्य रखा। इसलिये इस नये पन्थका नाम दरवेश-पन्थ पड़ा। इसके साधक उदार मतवादी अर्थात् सर्वधर्म-समभाववाले माने गये हैं। उन साधकोंको दरवेश या दरवेशी कहते हैं। इस विषयमें कहा गया है—

दरवेश सो ही जो दर की जाने
पाँचों पवन अपुष्ठां ताने।
सदा सचेत रहे दिन-राती
सो दरवेश अलख की पांती॥

अर्थात् जो साधु 'सब जीवोंके हृदय-प्रदेशमें ईश्वर अवस्थित है' ऐसा जानता है; जिसने साधनाद्वारा प्राणोंको दुर्बल बनाकर सुषुम्णा नामक नाड़ीमें खींचकर उन्हें लक्ष्यपर पहुँचाया है; जो सदैव आत्मामें जाग्रत् रहता है; वह अलख (लक्ष्यातीत लक्ष्य या ब्रह्म)-की पंक्तिमें खड़ा ब्रह्मज्ञ पुरुष दरवेश है।

दरवेशके बारेमें साँई दीनदरवेश लिखते हैं—

रोटी चादर चाहिए, कहा दाम से काम?
सो ही दीन फकीर कूँ, भजे निरंजन नाम॥
भजे निरंजन नाम, ब्रह्म-सागर ना भूले।
नंदा वेदा वाकी, आनकमला ना फूले॥
कहत 'दीनदरवेश', खरा कहवे नहि खोटी।
कहा दाम से काम, चाहिए चादर रोटी॥

दरवेशी साधु भगवत्प्रेम-साधनामें कभी उन्मत्त-सा हँसता हुआ, कभी रोता हुआ तो कभी नाचता हुआ देखा गया है।

दरवेशी साधक अपनी साधनाके बारेमें कहता है

फ़ना होने में जो मज़ा है, पाने में वह नहीं।
बुंद समंदर में गिरे सही, बुंद में समंदर नहीं॥

दीनदरवेश जब बीस वर्षके थे, तब वे गिरनारके दत्तोपासक संत बालगिरिसे मिले, जो परिभ्रमण करते हुए डभोडा गाँवमें आये थे। उनके सम्पर्कमें आनेके फलस्वरूप सत्संगसे विवेक जाग्रत् होनेपर वैराग्यवश उन्होंने गृहस्थ-जीवनका त्याग किया और संत बालगिरिके साथ चल पड़े। संतके साथ तीर्थाटन करते हुए वे सौराष्ट्र-प्रदेशके सिद्धक्षेत्र गिरनार पहुँचे और उनसे भगवान् श्रीदत्तात्रेयकी प्रेमोपासनाकी दीक्षा प्राप्त की। संतके आदेशसे वे गिरनार पहाड़पर स्थित कमण्डलु-कुण्ड नामक स्थानमें प्राय: सोलह वर्षपर्यन्त साधनारत रहे। वहाँपर एक शुभ रात्रिमें उन्हें आदिगुरु अवधूत श्रेष्ठ भगवान् श्रीदत्तात्रेयके दर्शन हुए एवं उनकी कृपा प्राप्त हुई। इस विषयमें वे स्वानुभव लिखते हैं—

दत्तगुरु के दरस की, दिल में जगेरी आस।
बिकल भयो मन बावरो, बुझत न प्रेम-पियास॥
बुझत न प्रेम-पियास, नैना नीर वहेया।

बड़े अचरज देखिया, ठाढ़े गढ़-गिरनार।
आँधि-रैन भयावनी, शेर करत हूँकार॥
शेर करत हूँकार, आयके ठाढ़े रहैया।
मिले नैन से नैन, नैन में नैन समैया॥
कहत 'दीनदरवेश', ता दिन जलवा पाया।
ठाढ़े गढ़-गिरनार, बड़े अचरज मोहे आया॥ ३॥
साँई दीन की बिनती, पलटा अरूप-रूप।
दिव्य तेजमय देखिया, दत्त-दिगम्बर भूप॥
दत्त-दिगम्बर भूप, देखत नैन छकैया।
ज्यों बरखाकी धार, प्रेम-वारि बरसैया॥
कहत 'दीनदरवेश', याद उर में ही समाई।
सोही दत्त-गुरुदेव, अरूप-रूप धरै साँई॥ ४॥
मैं तो दीन फकीर हूँ, मोहे न दूजी आस।
जब चहूँ 'गुरुदत्त' को पाऊँ दीदार खास॥
पाऊँ दीदार खास, उर में अलख बसैया।
बाहिर-भीतर सोदी, साँईकी सूरत दिखैया॥
कहत 'दीनदरवेश', दाता से यों वर पाया।
ता दिन अरूप-रूप, सब जग मोहे दरसाया॥ ५॥

गिरनार पहाड़की तलहटीमें स्थित भवनाथ महादेवके मन्दिरके समीप प्रतिवर्ष शिवरात्रिको भव्य मेला लगता है, जिसमें कई साधु, संत, योगी, सिद्ध, औघड़, अघोरी और अवधूत आदि यात्रियोंको दर्शन देनेके लिये आते हैं। ऐसी जनश्रुति है कि भवनाथ और दत्तात्रेय प्रभु भी गुप्तवेशमें आते हैं। एक मेलेमें दीनदरवेशको भी दत्तदर्शन और सत्संग मिला। दत्तगुरुने प्रसन्न होकर दीनदरवेशसे कुछ माँगनेके लिये कहा तो सच्चे प्रभु-भक्त दीनदरवेशने हाथ जोड़कर बताया—*'और कछु नहीं चाह, पाऊँ नित अलख-दीदारा'* अर्थात् मुझे आपके नित्य-निरन्तर दर्शन मिलते रहें, यही चाह है।

मोरे करम भुगताय, सतसंग निस्तारा।
और कछु नहीं चाह, पाऊँ नित अलख-दीदारा॥
कहत 'दीनदरवेश', अंधे को नैन मिलैया।
दत्त-दयाल गुरुदेव ताहि का दरसन पैया॥ ७॥
भागवान सोही जीयरा, पूरव-जनम की रेख।
साधसभा में पेखिया, अवधूत दत्त अलेख॥
अवधूत दत्त अलेख, देव के चरन गहैया।
उबारिये मझधार, नाव तुम ही खेवैया॥
कहत 'दीनदरवेश', दत्तगुरु बड़े दातारा।
भारी भवसागर से, मिले उबरन का आरा॥ ८॥

साँई दीनदरवेशने गुजराती, हिन्दी, संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाका ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और कुरान आदि धर्मग्रन्थोंका हिन्दीमें (कुण्डलिया छन्दमें) सरस अनुवाद किया था। 'दत्तात्रेय-अनुराग' नामसे पचीस हजार कुण्डलियोंवाला ग्रन्थ उन्होंने लिखा था। उस ग्रन्थके प्रत्येक छन्दमें भगवत्प्रेम भरा पड़ा है।

जब साँई दीनदरवेश गिरनारमें थे, तब एक दिन इनका मिलन महाराष्ट्रीय संत हरबंस स्वामीसे हुआ। इन्होंने स्वामीजीको कुछ महीनोंतक अपने साथ रखा और उनसे (स्वामीजीसे) मराठी भाषा सीखकर 'ज्ञानेश्वरी-गीता' पढ़ी। बादमें इन्होंने ज्ञानेश्वरी-गीताका हिन्दी (कुण्डलिया)-में सुमधुर रूपान्तर किया था। वह अनुवाद 'दरवेश-गीता' नामसे अब प्रकाशित हुआ है। विद्वानोंने इसकी बड़ी प्रशंसा की है।

भगवत्प्रेमकी तरह गीताजीके प्रति साँई दीनदरवेशका बड़ा ही अनुराग था। वे स्वानुभव लिखते हैं—

धन्य भाग्य मंगल घड़ी, 'गीता' जगे अनुराग।
प्रेम कटोरा पीजिया, साँई 'दीन' बड़भाग॥
रामायण, भारत पढ़े उपनिषद् पुरान।

गीता ज्ञान नहि पाइया, 'दीन' बड़ो अज्ञान॥
सैया वे दिन को लिखे, मिले संत हरबंस।
प्रेमे 'गीता' पढाइया, किन्ह पाप विध्वंस॥
किन्ह पाप विध्वंस, उदय भये अनुरागा।
तिमिर भये सब दूर, अंतर प्रेम सजागा॥
कहत 'दीनदरवेश', बिलखत नैन बहैया।
मिले संत हरबंस, वो दिन कैसे भूलैया॥
गढ़ गिरनार का बैठना, मानो भये सतसंग।
गीता अमीघूँट पाइया, जगे प्रेम-प्रसंग॥
जगे प्रेम-प्रसंग, वोही सुख लिबे अखंडा।
इस मुख कह्यो न जाय, मैं तो साँई का बंदा॥
कहत 'दीनदरवेश', गीता का हो गये प्यारा।
सतसंगा सुख देन, भये री गढ़ गिरनारा॥
साँई तेरी भगवद्गीता मोसे लिखी न जाय।
मैं तो दीन फकीर हूँ, तुमी हो पाक पीराय॥
हिन्दु कहाँ इस्लाम कहाँ मत कोई भूलो यार।
गीताज्ञान में नाहिए, 'दीन' कहत पुकार॥
अबिगत 'गीता' आपकी, ज्ञान-उजागर नाम।
रहमे-समंदर जान के, 'दीन' करत परनाम॥
मनुज-हित गीता कथे, करीमा-कृष्णमुरार।
भव औगाह विदारिये, 'दीन' करत जुहार॥
गीता-अमीरस पीजिया, छक रहै आठों जाम।
साँई 'दीन' सोहि लिखे, 'दरवेश-गीता' नाम॥
'ज्ञानेश्वरी-गीता' सुने, हुआ ज्ञान उजियार।
सोही गीता-अमी से लिखे, साँई 'दीन' विचार॥
मैं तो दीन फकीर हूँ, तुमी हो गरीबनवाज।
दीनानाथ दयानिधि, रखो दीन की लाज॥

साँई दीनदरवेशने श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धका हिन्दीके 'कुण्डलिया छन्द' में सरस रूपान्तर किया है। उससे उनकी भगवत्प्रेम-उपासना कितनी उच्च कोटिकी होगी, इसका किञ्चित् अनुमान हो सकता है।

साँई दीनदरवेशके अनेक हिन्दू और मुसलमान अनुयायी थे। उन्होंने अपने जीवनकालमें क़ौमी एकता और भगवत्प्रेमसाधना सुदृढ़ करानेका प्रशंसनीय कार्य किया था। जब ८१ वर्षकी वृद्धावस्थामें धर्मप्रचार करते हुए वे मध्य प्रदेशमें पहुँचे, तब कोटाके समीप विद्यमान चम्बल नदीमें उन्होंने कार्तिक शुक्ला एकादशीको जलसमाधि ले ली ताकि उनकी स्थूल देह न तो हिन्दुओंको मन्दिर बनवानेके रूपमें मिल सके, न मुसलमानोंको दरगाह खड़ी करवानेके लिये प्राप्त हो सके। संत कबीरजीने भी कुछ ऐसा ही किया था।

साँई दीनदरवेशका अन्तिम उपदेश अपने अनुयायी हिन्दू और मुसलमानोंको इस प्रकार था—

माया माया करत है, खाया खरच्या नाँहि।
आया जैसा जायगा, ज्यूँ बादल की छाँहि॥
ज्यूँ बादल की छाँहि, जायगा आया जैसा।
जान्या नहिं जगदीस, प्रीत कर जोड़ा पैसा॥
कहत 'दीनदरवेश', नहीं है अम्मर काया।
खाया खरच्या नाँहि, करत है माया-माया॥
मर जावेगा मूरखा, क्यूँ न भजे भगवान।
झूठी माया जगत की, मत करना अभिमान॥
मत करना अभिमान, बेद शास्तर यूँ कहवे।
तज ममता, भज राम, नाम तो अम्मर रहवे॥
कहत 'दीनदरवेश', फेर अवसर कब आवे।
भज्या नहीं भगवान, अरे मूरख मर जावे॥

दीनदरवेश अपने अनुयायी हिन्दुओं और मुसलमानोंको आपसमें प्रेमभाव रखकर भगवत्प्रेमसाधना करनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

हिंदू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहें हम्म।
एक मूँग दो फाड़ है, कुण ज्यादा कुण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भजत है राम, दुजा रहिमानसे रँजिया॥
कहत 'दीनदरवेश', दोय सरिता मिल सिंधू।
सब का साहिब एक, एक ही मुसलिम हिंदू॥
तेरी जहाँ आबाद हो, अय भोले इन्सान।
दो फरजंद साहिब के, हिन्दु रु मुसलमान॥
हिन्दु रु मुसलमान, दोनों हिलमिल रहियो।
नेकी बखानो यार, काहु से बुरा न कहियो॥
कहत 'दीनदरवेश' मान लो बिनती मेरी।
अय भोले इन्सान, जहाँ आबाद हो तेरी॥

इस प्रकार साँई दीनदरवेशने प्रेममें मग्न होकर अपने अन्तिम श्वासतक लोक-कल्याणका ही स्तुत्य कार्य किया।

जापानसे भगवत्प्रेमकी एक विश्वव्यापी लहर

(श्रीलल्लनप्रसादजी व्यास)

आज सारा विश्व संकटग्रस्त दिखायी पड़ रहा है। लगता है, मनुष्यकी शान्ति कहीं खो गयी है। महाशक्तियाँ देशोंको अपना मोहरा बना रही हैं और उन्होंने मानव-संहारक बमों तथा अन्य भयानक अस्त्र-शस्त्रोंसे विश्वके मानवोंको छोटे-बड़े युद्ध या फिर शीतयुद्धकी लपटोंमें झोंक दिया है तथा आणविक विनाशका भय दिखाकर साक्षात् मृत्युके समक्ष उपस्थित कर दिया है। इसके साथ ही आर्थिक समस्याएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही हैं और चारों ओर दिशाहीनता भी दिखायी पड़ रही है। मनुष्यके जीवनमूल्य या आदर्श समाप्त-प्राय हो रहे हैं और मनुष्यका मनुष्यसे विश्वास उठता जा रहा है। भौतिकताकी आँधी मनुष्यको चारों ओरसे हिला रही है।

मानवमात्रके सामने शायद इससे ज्यादा गम्भीर संकट कभी नहीं रहा होगा। विनाश या मृत्युको सामने देखकर मानवको यह समझमें नहीं आ रहा कि बचावका उपाय क्या है? इसीलिये सम्भवत: उसने भगवान्‌को पुकारा है। वैसे भी सृष्टिका एक शाश्वत सत्य है कि जब मनुष्य हारकर अपनी शक्तिकी सीमा मान लेता है, तब उसे भगवत्सत्ताकी प्रतीति होती है। केवल भारतमें ही नहीं, अपितु संसारके विभिन्न कोनोंमें चतुर्दिक् अन्धकारमें कहीं-कहीं प्रकाशकी किरणें दिखायी पड़ने लगी हैं। ये किरणें उन समृद्ध देशोंमें भी दिखायी पड़ रही हैं, जहाँ मनुष्यने अधिकाधिक भौतिकतासे उत्पन्न अशान्ति, अकेलेपन और असुरक्षामें भगवान्‌को पुकारा है।

ऐसी ही एक प्रकाश-किरण दिखायी पड़ी है जापानकी ओरसे; जो देखते-ही-देखते कुछ वर्षोंमें सारे विश्वमें फैलती ज़ा रही है और यह प्रकाश-किरण प्रकट हुई है जापानकी एक जाग्रत् आत्मा मीशूशामाके माध्यमसे, जिनका पूर्वनाम था—मोकिची ओकाडा। साधुजनोंकी रक्षा और दुष्टोंके संहारके साथ-साथ वायुमण्डलकी शुद्धिके लिये भगवान् स्वयं अवतार लेते हैं तथा पृथ्वीपर अपने दैवी-विधान या योजनाको पूरा करनेके लिये किसी एक या अनेक व्यक्तियोंको अपना निमित्त बनाते हैं। यह निमित्तता ही उस मनुष्यको साधारणसे महान् बनाकर मानव-इतिहासमें अमर बना देती है।

मीशूशामा भी ऐसे ही एक महान् निमित्त बने, जब उन्हें पृथ्वीको स्वर्ग बनानेकी दैवी योजनाका परमात्माद्वारा संकेत कराया गया। इस दैवी संकेतके बाद उनमें असाधारण शक्ति, योग्यता और क्षमताका उदय हुआ। उन्हें अनुभूति हुई कि यह युग-सन्धिकी वेला है; जब भगवत्-इच्छाके अनुसार विश्वमानवताका कायाकल्प होना है; उसे एक युगसे दूसरे युगमें अर्थात् रात्रिके अन्धकारसे दिनके प्रकाशमें प्रवेश करना है। उसे समस्त दु:ख-दारिद्र्य, रोग-दोषसे मुक्त होकर स्वर्गिक सुख और संतोषकी अनुभूति करनी है। मनुष्यमात्र शारीरिक दु:खोंसे मुक्त होकर जब अपने हृदयमें संतोष अनुभव करेगा और अपनी आत्माको उन्नत करेगा, तभी धरापर स्वर्ग बनेगा। यह तभी सम्भव होगा जब ईश्वरीय योजनाके अन्तर्गत ऐसा कार्य हो, जिससे मनुष्यका अन्तर-बाह्य पवित्र बने। मीशूशामाको ऐसी दैवी अनुभूति भी हुई कि अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलनेवाले इस नवीन युगके लिये भगवान् अपनी अमिट शक्तिकी प्रकाश-किरणोंको बड़ी तेजीसे ब्रह्माण्डमें बिखेर रहे हैं, जिससे एक बड़ी उथल-पुथल सूक्ष्म जगत्‌में मची हुई है और इसका प्रभाव स्थूल जगत्‌पर भी पड़ रहा है। युग-सन्धिके इस अद्वितीय और असाधारण उथल-पुथलके दौरको झेलनेकी पात्रता उन्हींको प्राप्त होगी, जिनमें कुछ पवित्रता होगी। अतएव आवश्यकता है आज आत्म-जागृतिकी, जीवनमें पवित्रता लानेकी।

मीशूशामाने 'सेकाई क्योसे क्यो' अथवा 'चर्च ऑफ वर्ल्ड मेसायनिटी' की स्थापना करके उसी दैवी योजनाको साकार रूप देनेका प्रयास १ जनवरी, १९३५ से प्रारम्भ कर दिया, जिसने अबतक अपना विश्वव्यापी स्वरूप बना लिया है। इस संस्थाको हम 'विश्व-कल्याण-मन्दिर' कह सकते हैं। मनुष्य और उसका कार्य जब किसी दैवी योजनाका अङ्ग बन जाता है, तब उसे सफलता भी चमत्कारिक ढंगसे मिलती है। मीशूशामा और उनकी संस्थाकी भी यही कहानी है। यद्यपि संस्थापकका देहावसान जनवरी, १९५५ में हो गया, पर उनके बाद भी यह दैवी कार्य दिन-प्रतिदिन

बढ़ता जा रहा है और संसारके करोड़ों लोग इसके कल्याणकारी कार्यक्रमोंसे लाभ उठाते हुए अपने जीवनको प्रेरित और पवित्र कर रहे हैं। इस संस्थाकी शाखाएँ अनेक महत्त्वपूर्ण देशोंमें हैं। इसके साथ ही एक विशेष ईश्वरीय प्रेरणाके अन्तर्गत संस्थाने जापानमें दो तथा ब्राजील और थाईलैण्डमें एक-एक 'धरतीपर स्वर्गके मॉडल' बनवाये हैं, जिन्हें सत्य, शिव और सुन्दरका प्रतीक माना जाता है। 'क्योसे क्यो' ने भी इन तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वोंको विशेष महत्त्व दिया है।

जापानी संत मीशूशामाकी ये अभिव्यक्तियाँ और कार्य भारतीय अध्यात्म-चिन्तनसे पूर्ण समानता स्थापित करते हैं। लगता है कि जैसे वह पूर्णरूपसे सनातन-धर्म और उसका दर्शन ही हो। इससे सृष्टिका यह एक और सत्य या यथार्थ सामने आता है कि महान् आत्माएँ हजारों मील दूर रहनेपर भी एक ही प्रकारके चिन्तन और कर्ममें रत रहती हैं; क्योंकि उन्हें एक ही ईश्वरीय शक्ति प्रेरित और प्रभावित करती है।

श्रीओकाडा (मीशूशामा)-ने बताया कि ईश्वरने प्रेमके वशीभूत होकर पूरी सृष्टि और उसमें सभी वस्तुओंका निर्माण किया; किंतु मनुष्यने ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध व्यवहार करके अपने लिये अनेक विपत्तियाँ बुला लीं। यदि हम अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो प्रायश्चित्त करके फिर उसके मार्गपर लौटें और अन्ततः उसके साथ एकाकार हो जायँ। इसका अर्थ है कि हम भगवान्‌से प्रेम करें और साथ ही सभी प्राणियोंसे भी प्रेम करें।

श्रीओकाडाने कहा है—'अपने विवेकको शुद्ध करो और तुम भगवान्‌को सुन सकोगे।' उन्होंने अपने अनुयायियोंसे कहा कि सदैव प्रार्थना करते रहो और यदि तुरन्त ईश्वरके संदेशोंको नहीं समझ सकते तो उस समयतक प्रतीक्षा करो जबतक ऐसा सम्भव नहीं हो जाता।

विवेकको अर्जित नहीं किया जा सकता। ईश्वर इसे उन्हें प्रदान करता है, जो उसपर विश्वास करते हैं और उसका संदेश सुनकर अपने जीवनको बेहतर बनाना चाहते हैं। जिसे विवेक या प्रज्ञा प्राप्त होती है, वह दूसरोंका मार्ग-दर्शन कर सकता है; क्योंकि उसकी पहुँच ईश्वरीय सत्यतक है। विवेकका आधार प्रेम है। जिसका विवेक जितना अधिक जाग्रत् होता है, उतना ही अधिक वह ईश्वर और मनुष्यसे प्रेम करता है। विवेकी पुरुष न केवल खुद ईश्वरकी इच्छाके अनुरूप तत्पर रहता है; बल्कि उन लोगोंके विचारोंमें भी गहराईसे झाँक सकता है, जिनकी वह सहायता करना चाहता है। विवेक या प्रज्ञा-सम्पन्न व्यक्ति ईश्वरके प्रति समर्पित होकर उसका यन्त्र बन जाता है। ऐसा व्यक्ति श्रीओकाडाके ईश्वरीय रहस्योद्घाटनों तथा उनपर आधारित उपदेशोंको भली प्रकार समझ सकता है।

श्रीओकाडाने अनुयायियोंको चेतावनी भी दी 'ज्यादा बुद्धिमान् बननेकी कोशिश न करो। बस, उस कामको अच्छे-से-अच्छे ढंगसे करते चलो, जिसे भगवान्‌ने तुमको सौंपा है और शेष उसपर छोड़ दो।'

मीशूशामाने भगवत्प्रेमकी अनेक कविताएँ जापानीमें लिखीं जो प्रार्थनाके रूपमें उनकी स्थापित संस्था 'सेकाई क्योसे क्यो' में दोहरायी जाती है। उनमेंसे एक कविता 'दिव्य प्रेम'-का हिन्दी पद्यानुवाद निम्नलिखित है—

प्रभो, सर्वोच्च गुणों के स्वामी, आप के प्रति हम समर्पित हैं।
हम आप के प्रेम और विवेक की अनन्तता को नहीं समझ सकते,
आप ही केवल अंतिम क्षण के स्वामी हैं,
आप ही जानते हैं कि हमारा अंतिम दिन कब होगा,
पूरा संसार और हमारी मुक्ति आपके हाथ में है।
हम ऊपर आकाश की ओर निहारते हैं,
आपकी अमोघ प्रज्ञा का चिन्तन करते हैं,
हमारे अन्तःकरण दिव्यता की ओर उन्मुख होते हैं,
आपके अनन्त प्रेम से विस्मित होकर।
हम धोखे या अज्ञान से विपथगामी हो सकते हैं,
चमक दमक से भी आप की सेवा नहीं हो सकती।
किंतु न्यायपूर्वक सौजन्य से आप हमें प्रेम देते हैं,
जैसे माता-पिता अपने पुत्र को।
आप हमेशा उस अर्जी को सुनते हैं जो उचित होती है।
हम आप के मार्गदर्शन का निवेदन करते हैं, हृदय खोल कर,
जोरे* की शक्ति को ग्रहण करें जो हमारे विश्वास को दृढ़ करे,
क्योंकि मुझे आपसे एकात्मता चाहिये।

मीशूशामाने ईश्वरको प्रेमका काव्य बताया है और

* स्थूल और सूक्ष्म शरीरको नीरोग एवं पवित्र करनेकी सरलतम विधि।

कहा है कि वही हमारा मुख्य उपास्य है। देवी-देवताओंसे भी सहायता मिलती है। चूँकि भगवान्‌को सामान्य मनुष्यकी सामान्य आँखोंसे देखा नहीं जा सकता, इसीलिये सभी महत्त्वपूर्ण धर्मोंका उद्देश्य उसकी पूजा-उपासना करके उसे अपने जीवनमें सर्वोच्च महत्त्व देना है।

इस जापानी संतने भारतीय संत कबीरकी शैलीका अनुसरण करते हुए इस सत्यका उद्घोष किया है कि ईश्वर मुख्यतः प्रेम और करुणासे परिपूर्ण है। अतएव उसे पानेके लिये मनुष्यको किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट उठानेकी जरूरत नहीं। वह तो प्रेमसे ही पाया जा सकता है। बहुत शारीरिक कष्ट उठाकर तप और अनशन आदि करनेवालोंको तो ईश्वर-मिलनमें देरी लग सकती है, किंतु उत्कट प्रेमसे वह शीघ्र प्राप्य है। मीशूशामाने ईश्वरकृपाको ही सच्चा चमत्कार बताया है। उन्होंने भौतिक जगत्‌की सारी खराबियोंकी जड़में ईश्वरके प्रति प्रेम और आस्थाका न होना ही कहा है। उनका यह भी कहना था कि सृष्टि, पालन और संहार करनेवाला एक ही ईश्वर है, उसे चाहे जिस नामसे पुकारा जाय।

इस प्रकार प्राच्य देश जापानसे प्रेमी संत मीशूशामाद्वारा प्रवाहित आध्यात्मिक धारा मूलतः भारतकी आध्यात्मिक धारासे मिलकर एक गङ्गा-जमुनी विशाल धाराके रूपमें प्रस्फुटित होकर जगत्‌को भगवत्प्रेमका संदेश पहुँचानेके लिये तीव्ररूपसे मुखर है।
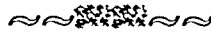
सेवा—प्रेमप्राप्तिका साधन

(डॉ० श्रीसोमनाथ मुखर्जी, एम्०बी०एच्०एस्०, एम्०आर०एच्०सी०)

प्राणिमात्रकी सच्ची सेवा ही अपनेमें सम्पूर्ण साधना है। चिकित्सक यदि रोगीमात्रको नारायण समझकर सेवा करे तो उसे भगवत्प्रेमकी अनुभूति होती है। ऐसा होनेपर कोई संकोच, ऊँच-नीचका विचार, सुगन्ध या दुर्गन्धसे व्यवधान उसके मनमें नहीं आयेगा। इससे रोगी और चिकित्सकमें प्रेम बढ़ेगा, रोगी मनसे चिकित्सकको श्रद्धास्पद, शुभचिन्तक समझने लगेगा। इस प्रकारसे रोगीकी चिकित्सा करनेसे भगवत्कृपाकी भी प्राप्ति होती है और रोगी नीरोग भी हो जाते हैं; साथ ही रोगके ठीक न होनेपर रोगी तथा उनके परिवारके सदस्योंके मनमें चिकित्सकके प्रति श्रद्धामें कमी नहीं आती; क्योंकि वे चिकित्सकको भी अपने घरका ही सदस्य समझने लगते हैं। इसीलिये कहा गया है कि नरसेवा नारायणसेवा होती है।

चिकित्साशास्त्रमें चिकित्सकके लिये यह निर्दिष्ट है कि उसमें मुख्यरूपसे मैत्रीका भाव होना चाहिये। वह सबसे मैत्री रखे, किसीसे भी द्वेष-घृणा न करे, रोगियोंके प्रति कारुण्य रखे, निष्ठुर न बने, उनकी सेवाका भाव रखे (चरक, सू० ९। २६)। इसी प्रकार यह भी बताया गया है कि 'प्राणिमात्रपर दया करना ही सर्वोत्तम धर्म है'—ऐसा सोचकर ही चिकित्सकको चिकित्सा-कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये, इसीमें उसकी सफलता है और इसीसे उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सच्चा प्रेम, सच्ची सेवा ही चिकित्सकका मुख्य धर्म है—

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते॥

(चरक, चि० १।४।६३)

वैसे हमारे समाजमें अनेक चिकित्सा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं, जैसे—आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक तथा एलोपैथिक आदि। इन सभी पद्धतियोंका उद्देश्य रोगीको आराम पहुँचाना और उसे पूर्णरूपसे नीरोग करना है। यदि सब मिलकर आपसमें परामर्श तथा विचार करके रोगीकी चिकित्सा करें तो सफलता भगवत्कृपासे अवश्य मिलती है। रोगी भी रोगके उपचार करानेके साथ-साथ प्रभु-नामका स्मरण करे तो उसे कष्टसे शीघ्र छुटकारा मिलता है। कई ऐसे उदाहरण देखनेको मिलते हैं कि रोग लाइलाज है; परंतु निरन्तर प्रभुका स्मरण करनेसे उसके रोगमें भी कमी आ गयी है। यह सब चिकित्सा एवं प्रभु-स्मरणके संगमसे ही प्राप्त होता है।

अतः मेरा सभी चिकित्सक भाइयोंसे अनुरोध है कि सेवा और प्रेमभावसे रोगियोंकी चिकित्सा करनेसे ही रोगीको भगवत्कृपासे शीघ्र लाभ पहुँचेगा। अतः अपनी चिकित्सा-प्रक्रियाको साधनामय, सेवामय और प्रेममय बनाना चाहिये।

गोस्वामी तुलसीदासजीका दास्य-प्रेम

(डॉ० श्रीरामानन्दजी तोष्णीवाल, विशारद, एम्०ए०, एम्०फिल्०, पी-एच्०डी०)

भगवान्‌के साथ रागात्मक सम्बन्धोंसे अनुप्राणित भक्ति चार प्रकारकी मानी गयी है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। तुलसीदासजीने इनमेंसे दास्यभावकी भक्तिका अनुसरण किया है। इसमें भक्त अपने आराध्यको स्वामी और स्वयंको दास समझता है। इसमें भय, संकोच और विनयभावकी प्रमुखता रहती है। हनुमान्, अंगद, अक्रूर और विदुर आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं।

तुलसीदासजीने दास्यभावको अपनाकर रामके सबल आधारका आश्रय लिया है। वे अपना परिचय देते हुए स्वयंको रामका दास कहते हैं—

रामबोला नामु, हौं गुलामु रामसाहिको॥

उनकी मान्यता है कि रामने दास-भक्तोंके लिये ही मनुष्यरूप धारण किया है। उन्होंने शबरी और गीध-जैसे उत्तम दास-भक्तोंका उदाहरण दिया है, जिन्हें श्रीरघुनाथजीने सद्गति प्रदान की है। उन्होंने दास्यभावकी भक्तिमें अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है।

(१) दास्य-भक्तिमें व्यक्तित्वका लोप—दास्य-भक्तिमें व्यक्तिका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् वह अपने स्वामीके स्वरूपमें स्वयंको समाहित कर लेता है। इसका आदर्श उदाहरण हनुमान्‌जीका जीवन है। अशोकवाटिका-विध्वंसके बाद जब हनुमान्‌को नागपाशमें बाँधकर रावणके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, तब हनुमान्‌जी अपना परिचय '*पवनपुत्र*' अथवा '*केसरीनन्दन*'-के रूपमें न देकर अपने आराध्यके प्रतापका ही वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जब हनुमान् अशोकवाटिकामें सीताके सम्मुख प्रकट होते हैं तो अपना परिचय रामदूतके रूपमें ही देते हैं—

राम दूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥

हनुमान्‌के मुखसे '*राम-दूत*' शब्द सुनते ही सीताजीको विश्वास हो जाता है कि हनुमान् मन, वचन और कर्मसे श्रीरघुनाथजीका दास है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥

(२) दास-भक्तकी आकाङ्क्षा—भगवत्सेवा—दास-भक्त सदा भगवान्‌के चरणोंमें बैठकर उनकी सेवा करना चाहता है। मरणासन्न वालि भगवान्‌से यही प्रार्थना करता है—'मैं कर्मवश जिस योनिमें जन्म लूँ, वहीं रामके चरणोंमें प्रेम करता रहूँ'—

'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥'

अयोध्यावासियोंके साथ गोस्वामीजीकी भी यही इच्छा है कि जन्म-जन्मान्तरतक राम उनके स्वामी एवं वे उनके दास बने रहें—

जेहिं जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

(३) सेवक-सेव्यमें अभेदका निर्माण—दास-भक्त दैन्यभावसे भगवान्‌को महान् एवं स्वयंको सर्वथा तुच्छ मानकर उनके वैभवपूर्ण रूपका वर्णन करता है। वह अपने आराध्यके प्रति अपने हृदयके भाव-विह्वल उद्गारोंसे उन्हें प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, किंतु इस भावमें भगवान्‌की महानता एवं स्वयंकी तुच्छताकी दूरी बनी रहती है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

लेकिन दास्य-भक्तिकी चरमावस्थामें सेवक और सेव्यमें कोई द्वैत नहीं रहता तथा वे अभिन्न हो जाते हैं। उस स्थितिमें सेव्यकी महत्ता और सेवककी दीनताके भावका ही तिरोभाव हो जाता है। इसलिये कहा जाता है कि जो गोत्र स्वामीका होता है, वही सेवकका भी होता है—

अति ही अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग,
साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको॥

(४) भगवान्‌का दास-भक्तपर प्रेम—यह सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌के द्वारा निर्मित है और पशु, पक्षी, देव, मनुष्य तथा असुरोंसहित जितने भी जड़-चेतन जीव हैं, उन सबपर उनकी समान रूपसे कृपा रहती है। लेकिन अनन्य एवं निष्काम सेवक भगवान्‌को प्राणोंके समान प्रिय होता है। भगवान् श्रीराम काकभुशुण्डिसे कहते हैं—

'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।'

भगवान् श्रीराम हनुमान्‌से कहते हैं—'यद्यपि मुझे सभी समदर्शी कहते हैं; परंतु मुझे सेवक प्रिय है, क्योंकि वह अनन्यगति होता है'—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

भगवान् श्रीराम तो अपने सच्चे सेवकोंके ऋणी बन जाते हैं। सीतान्वेषणके उपरान्त लङ्कासे लौटकर आनेपर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

(५) दास-भक्त भगवान्की छत्रच्छायामें सुरक्षित— दास-भक्त जानते हैं कि उनका स्वामी उनकी रक्षा करनेमें सदैव तत्पर एवं सर्वसमर्थ है। हनुमान् श्रीरामसे कहते हैं कि सेवक स्वामीके और पुत्र माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है। प्रभुको अपने सेवकका पालन-पोषण करना ही पड़ता है—

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

भगवान्के दास-भक्त जब मोह-मायासे ग्रस्त होकर सन्मार्गसे भटकने लगते हैं, तब भगवान् स्वयं प्रकट होकर उनकी रक्षा करते हैं। नारद काम-भावनासे ग्रस्त होकर विश्वमोहिनीको प्राप्त करनेके लिये भगवान्से उनके सौन्दर्यकी याचना करते हैं। वे भगवान्को स्मरण दिलाते हैं—'मैं आपका दास हूँ, आप मेरी सहायता कीजिये'—

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥

भगवान् श्रीराम समझ जाते हैं कि दास-भक्त नारद काम-ज्वरसे पीड़ित है और रोगसे पीड़ित व्यक्तिको माँगनेपर भी वैद्य कुपथ्य नहीं देता। अतः वे उन्हें वानर-रूप प्रदान कर देते हैं। अन्तमें भगवान् मायाका पर्दा हटाकर दास-भक्त नारदकी रक्षा करते हैं।

मरणासन्न वालि अंगदके भविष्य एवं सुरक्षाके प्रति चिन्तित था। इसलिये वह भगवान् श्रीरामसे अंगदको अपना दास बनानेकी प्रार्थना करता है। वह जानता है कि श्रीरामके दास सदा सुरक्षित रहते हैं—

'गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिऐ॥'

(६) सेवा-धर्म कठिन है— सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है। एक सच्चा दास-भक्त आलस्य और प्रमादको त्यागकर कठोर कर्तव्यपालनके लिये सदा संनद्ध रहता है। वह क्षणभरके लिये भी विश्राम नहीं करता। इसका आदर्श उदाहरण हनुमान्जीका जीवन है। सीता-सुधिके लिये जाते हुए हनुमान्जीको मैनाक पर्वत विश्राम करनेकी प्रार्थना करता है, लेकिन वे उसे नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देते हैं—

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

दास-भक्त अपने स्वामीकी आज्ञाका सदा पालन करता है। हनुमान् यदि चाहते तो अशोकवाटिकासे सीताजीको उठाकर रामके पास ले आते, परंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया; क्योंकि उनको ऐसी आज्ञा नहीं थी। उन्हें केवल सीता-सुधि लानेका ही कार्य सौंपा गया था। हनुमान् सीताजीसे कहते हैं—

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥

सेवा-धर्म निभानेके लिये सांसारिक सुखोंकी लालसाका त्याग परमावश्यक है। कारण सुख, सम्पत्ति, वैभव और परिवार—ये सभी सेवा-धर्ममें बाधक हैं। सुग्रीव श्रीरामसे कहते हैं—

सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥

स्वयं सुग्रीव भी भोगोंमें लिप्त होकर राम-कार्यको भूल गये थे।

(७) रामसे रामके दास श्रेष्ठ हैं— गोस्वामीजी कहते हैं कि रामसे भी रामके दास श्रेष्ठ हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

गोस्वामीजीने इसके लिये हनुमान्के जीवनका उदाहरण दिया है। भगवान् राम तो सेतु बाँधकर समुद्रके पार उतरे, परंतु हनुमान् तो उसे लाँघकर ही चले गये—

साहब तें सेवक बड़ो जो निज धरम सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि लाँघि गए हनुमान॥

हनुमान्जीने अपनी सेवाके कारण ही देवत्व प्राप्त किया है। वे आज भी सर्वत्र वन्दित एवं पूजित हैं।

(८) दास्य-भावका अर्थ विवशता नहीं, स्वतन्त्रता— दास्य-भाव साधककी विवशता नहीं, अपितु स्वतन्त्रता है। जो रामका दास हो जाता है, उसे अन्य किसीके दास होनेकी आवश्यकता नहीं रहती। एक बार गोस्वामीजीको अकबरके दरबारकी मनसबदारीका प्रलोभन मिलनेपर उन्होंने कहा था कि वे तो रघुनाथजीके दास हैं, उन्हें किसीकी मनसबदारीसे क्या लेना-देना है—

हम चाकर रघुबीर के पटब लिखो दरबार।
तुलसी अब का होंहिगे नर के मनसबदार॥

इस प्रकार गोस्वामीजीने अपने सत्साहित्यमें दास्य-भक्तिका प्रतिपादन किया है। वे तो यहाँतक कहते हैं कि सेवक-सेव्य-भावके बिना संसारसे तरना सम्भव नहीं है—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

संतवाणीमें भगवत्प्रेम एवं प्रेमीकी दशा

(खेड़ापा-पीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीपुरुषोत्तमदासजी महाराज)

[श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायके खेड़ापा-पीठके द्वितीय आचार्य पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित श्रीदयालुदासजी (श्रीद्यालदासजी) महाराजकी विपुल वाणीमेंसे भगवत्प्रेम तथा प्रेमीसे सम्बन्धित कुछ बातें पाठकोंकी जानकारीके लिये प्रस्तुत की जाती हैं—]

चौपाई—

प्रेम कि वातां प्रेम हि जानै, कबहू बकै हंसे हुय कानै।
कबहू मून गहे मुरछाई, कबहू ऊठ दशूं दिश ध्याई॥
निरत करै रोवण ही रोवै, गदगद कंठा उकलत होवै।
जोवन जोवे शबद प्रकाशा, रंग लग्यो किनहू नहिं आशा॥
कद छक बकता अनुभव ज्ञाना, कबहू गावत मरदंग नाना।
एह प्रेमी का चरित जु सारा, कहाँ लूं कहूं अपार अपारा॥
यह सरवर में झूली काया, नीर नीर नीरूं दरसाया।
पीत वदन सासा सीरांनीं, प्रेम प्रगट धारां दरसानी॥
खान पान नीका नहिं लागे, लघु निद्रा अहनिशि यूं जागे।
खीणे अंग व्रेहनी मोया, पलटै नैण दिष्ट नहिं कोया॥
हिरदै नहीं उपाधित कोई, इन्दर बाहिर तरसै सोई।
नख चख विचै राम धुन ध्याना, प्रेम लक्षणा व्रेह समाना॥

दोहा—

षट सरोज शुद्धत भया, खुली प्रेम की खान।
मन पवना एके-सदन, मिटी विकलता आन॥

इन्दव छन्द—

प्रेम झुलाय झुलाय असग्गत, प्रेम सवाय पौसाक न कोई।
प्रेमहि काजर प्रेमहि इन्दर, भूषण प्रेम समो नहिं होई॥
थानक थानक प्रेमहि दीसत, आठूंई अंग विचार के जोई।
खोर सिंगार[1] भई नव जोबन, व्रेहन स्वागन स्वाग नमोई॥
वैन अटप्पट नैन झटप्पट, लागे नहीं मनुँ कछू पियारो।
शिव को पुत्र तास को वाहन, तासु को भक्षण सास वियारो[2]॥
सीत सुगन्ध शाखा मृग रिप्पव[3], भूषण है किन शक्र हत्यारो[4]।
कोटि रंतीपत व्रेह कि वेदन, के दिन के दिन आन जियारो॥

छन्द वीजूभाल—

घर न बार न याद न आवै, काम न काज न आज न स्वावै।
काल न स्वाल न पाल न कोई, गर्थ न अर्थ न तित्थ न जोई॥
वेद न रीत न द्वइत न अंगा, वादक रसादक अवर न संगा।
थान न मान न आन स नांई, भूत न प्रेत न दैत्य न खांई॥
जन्त्र न मन्त्र न तन्त्र न लागय, डाकण साकण दूर सुं भागय।
दिष्ट न मुष्ट न कष्ट न मरही, जक्ष न भक्ष न रक्ष न करही॥
मान न कान न आन न धारण, प्रेम अनेम अखण्ड अकारण।
ठाँय न नांय न मांय न बारै, लोक न दोष न जोष न हारै॥

दोहा—

चित सकता आसक्कता, गूंगे चुपकत सैन।
भया अवलिया प्रेम का, उत्तर किस कूं देन॥

सोरठा—

निशदिन ऐसे रैत, भयो वावरो प्रेम को।
अपनी आपै लैत, गुरु पद चित अवगाहना॥

दोहा—

प्राण देह हरि वारणे, देऊं अनेक सु वार।
मैं उनमन्ता प्रेम का, दूजी सुद्ध न सार॥

[श्रीद्यालदासजी महाराजकी वाणी, ग्रन्थ गुरु-प्रकरण]

जुगुलकिसोर हमारे ठाकुर।
सदा सरबदा हम जिनके हैं, जनम जनम घरजाये चाकर॥
चूक परै परिहैं न कबहूँ, सबही भाँति दयाके आकर।
जे श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवनमें, प्रनतनि पोषत परम सुधाकर॥

---

१. सोलह शृङ्गार।
२. शिवके पुत्र—कार्तिकेयके वाहन—मयूरके भक्ष्य—सर्पके मुखकी हवा अर्थात् शीतल, मन्द और सुगन्धित हवा सर्पमुखकी जहरीली हवाके समान लगती है।
३. वस्त्र शाखामृग—बन्दरकी शत्रु—केंवच फलीके समान अनसुहाने लगते हैं।
४. गहने इन्द्रके हथियार—वज्रके समान लग रहे हैं।

प्रेमदीवानी मीरा—खोल मिली तन गाती

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥
पचरँग चोला पहर सखी री मैं झिरमिट रमवा जाती।
झिरमिटमाँ मोहि मोहन मिलियो खोल मिली तन गाती॥

जिस परम प्रेममूर्ति सौन्दर्यसुधासागर 'रसो वै सः'-की प्राप्तिहेतु न जाने कितने योगीश्वर, मुनीश्वर, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और विरागी आदि अपनी साधनाकी सुदृढ़ इमारत खड़ी करते रहे, पर शायद ही *'खोल मिली तन गाती'* का अवसर प्राप्त कर पाये हों, मगर मोहनकी मोहिनीके प्रति प्रेमदीवानी मीरा निरावरण, निरावगुण्ठित होकर मिली अपने प्रेमास्पदसे सिर्फ ढाई अक्षरके अमूल्य मूल्यपर।

मरुस्थलकी मन्दाकिनी, मधुर रसकी एकनिष्ठ साधिका, गिरिधरकी दीवानी मीराका नाम भक्ति-भारतीकी मधुमय धरोहर है। कृष्णभक्तिकी विरहवह्निमें विदग्ध व्यक्तित्वका नाम है मीरा। सच तो यह है कि सम्पूर्ण भक्तिकाव्यमें आराधना और उत्सर्ग, समर्पण तथा विसर्जनकी अन्यतम मूर्ति कोई है तो वह है मीरा। उसके ऐकान्तिक प्रेमोन्मादमें राजसीपन तिनकेकी तरह उड़ गया; कुल-मर्यादा ओसकी तरह विलीन हो गयी; लोक-लज्जाकी धूल उड़ गयी और अपने आराध्यको रिझानेके लिये—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* पैरोंमें पञ्चतत्त्वका घुँघरू बाँधकर जो 'प्रकृति' अनन्तकालसे अनादि पुरुषको रिझानेके लिये नृत्य करती आ रही है, मानो मीरा उसीकी साकार प्रतिमा थी। उसका वह पुरुष नामरूप धारण करके श्रीवृन्दावनधाममें श्रीलीलाबिहारी मुरलीधर बन गया था और मीरा उसके चरणोंमें आत्मसमर्पण करनेके लिये नाच रही थी—निर्भीक, निगूढ़ एवं निश्छलभावसे। आत्मसमर्पणकी जितनी प्रबल भावना मीरामें है, उतनी अन्य किसीमें नहीं। मीराकी उपासनामें तन्मयता, वेदना और हृदयकी सच्ची पुकार है, जो जन-मनको आत्मविभोर कर देती है। जब प्रियमिलनकी उसकी उत्कण्ठाका भावोद्रेक नृत्यकी चञ्चल गतिमें अँट नहीं पाता था तो संगीतकी तानोंमें फूट पड़ता था और जब प्रेम-विरहकी उसकी मर्मान्तक पीड़ा संगीतकी तानोंमें भी सँभाले नहीं सँभलती थी तो वह पुनः पुकार उठती थी—*'श्रीगिरधर आगे नाचूँगी॥'* श्रीगिरिधर गोपालकी अनन्य उपासिका, प्रेमातिशयताकी पीयूषवर्षी साधिका मीराकी अलौकिक प्रीतिकी अनुपमता श्रीनाभादासके शब्दोंमें देखने योग्य है—

सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
× × ×
भक्ति निसान बजायके काहूँते नाहिन लजी।
लोकलाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरिधर भजी॥

सचमुच *'यथा व्रजगोपिकानाम्।'* की अर्थव्यञ्जनाके अनुरूप भक्ति-साहित्यमें एकरस प्रेमाद्वैतका अविरल प्रवाह प्रवाहित करनेवाला कोई दिखता नहीं, चाहे वह प्रेम-प्रवाह संयोगका हो या वियोगका। लेकिन भक्तिके स्वच्छ निर्मल पथपर मीरा निश्चय ही मीरा है। तभी तो श्रीकृष्णभक्ति-धारामें प्रसादस्वरूप मिली मीराकी पदावलीका वर्ण-वर्ण है सुधिका दंशन, चरन-चरन है आह।

मीराकी वाणीमें जो विलक्षण दर्दके तराने उपलब्ध हैं, उसका एकमात्र कारण है—गिरिधर गोपालके प्रति उनकी अनन्यासक्तिजन्य प्रेमातुर अन्तरात्माके उत्कट उद्गार। उद्दाम निर्झरिणीके सदृश मीराके कलकण्ठसे अनायास ही तीव्र प्रेमानुभूतिजन्य मधुर भावोन्मादनका मञ्जुगान नहीं फूट पड़ा है, बल्कि वह तो *'प्रीति पुरातन लखइ न कोई'* का सहचर है—

आली रे मेरे नैणा बाण पड़ी॥
चित्त चढ़ो मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी।

अर्थात् मीराके हृदयमें पूर्वजीवनसे ही शाश्वत प्रेमकी ज्योति जल रही थी। वही प्रेम साधनाकी गरिमामें तपकर मीराके जीवनदाता, जीवनसर्वस्व श्रीकृष्णके साथ विविधरूपोंमें मिलन करने लगा। परंतु *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥ जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।'*—की अनन्यता अनवरत अक्षुण्ण रही। माताद्वारा श्यामसुन्दरकी मूर्तिका बाल्यावस्थामें पतिरूपमें बीजवपनका ही यह पुख्ता असर था कि वह मनोहर विग्रह मीराका साजन बना रहा और जगत्‌की सारी मूर्तियाँ मूक बन गयीं। सचमुच वह मूर्ति जिसे अपनाती है, उसके सामनेसे जगत्‌की सारी मूर्तियाँ हटा लेती है; सारे बन्धन काट देती है। वह मूर्ति अपने प्रेमास्पदको अपनाती है—निरावरण एवं निरवगुण्ठितरूपमें।

ऐसा हो भी क्यों न। मीराका प्रियतम कोई साधारण प्राणी है क्या? नहीं, वह तो साक्षात् रसविग्रह प्रेममूर्ति ही है। इसीलिये तो उस सरस श्रीविग्रहका अनुपम आश्वासन है स्वजनोंके लिये—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' जो भक्त मेरे पादपद्ममकरन्दके रसिक हैं, उनके लिये मैं भी परम मधुर होकर उनकी आकाङ्क्षा-पूर्ति करता हूँ। जगत्‌की जानलेवा ठोकरें खाकर भी मीरा जगत्‌की ओर नहीं मुड़ी, उसने जगन्नाथकी देहलीका ही सहारा लिया। लोक-लाज, कुल-मर्यादा सब मीराको छोड़ना पड़ा और मीरा दीवानी हो गयी। मात्र एक बूँद—*'सा परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च॥'* पीकर इतनी बड़ी क्रान्ति कर डाली। एक प्रेमीके शब्दोंमें—

राजवंशकी रानी पी गई एक बूँद इस रस का।
आधी रात चली महलों से मनवाँ रहा न बस का॥
गिरधर की दीवानी मीराँ ध्यान छुटा अपयश का।
बन बन डोले श्यामबावरी लगा नाम रस चसका॥

वन-वन डोलनेका मात्र एक कारण है, एक ही भाव है, एक ही रस है और एक ही रंग है तथा वह यह कि मैं श्रीगिरिधर लालकी अपनी हूँ और उनके द्वारा अवश्य अपनायी जाऊँगी। इतना संकल्प करते ही भावविह्वल मीरा गा उठती है—*'अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई। अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥'* कौन सी बात *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥' 'अब काहेकी लाज सजनी परगट ह्वै नाची॥'* भक्तवर श्रीध्रुवदासजीने इस नृत्यपर रीझकर श्रीमीराजीको भक्तिकी खान कहा है—

लाज छांड़ि गिरधर भजी करी न कछु कुल कानि।
सोई मीराँ जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥

वस्तुत: मीराका प्रेम भावलोककी वस्तु है, सांसारिकता तो उसकी सीमा-रेखाके पास भी नहीं फटकती। उसकी वृत्ति एकान्तत: और समग्रत: प्रेममाधुरीमें ही रमी रहती है। आखिर मीरामें इतनी अद्भुत दीवानगी अथवा अनन्यता आयी कहाँसे? क्या पाषाणविग्रहमें दूलहकी स्वीकृतिसे? प्रीति पुरातनसे? संत-साहचर्यसे? या सांसारिक प्रताड़नासे? कुछ कहा नहीं जा सकता है **'इदमित्थम्'** रूपसे। अगर साक्ष्य ही खोजना है तो मतवारी मीराकी वाणी ही एकाधार है। वह प्रेमरोगकी रोगिणी थी। वह भी इस जन्मकी नहीं जन्म-जन्मकी। वह केवल इसी जन्ममें गिरिधरकी प्रिया नहीं है, वह पतिव्रता तो जन्म-जन्मान्तरसे श्रीकृष्णकी दासी है। तभी तो भगवान्‌के सच्चे भक्तोंको पग-पगपर सहारा मिलता है। कारण स्पष्ट है, वह कहती है—*'सखी म्हारो कानूड़ो कळेजेकी कोर।'* कनौडे कन्हैयाकी सेवा, पूजा, आराधनामें सतत संलग्न रहती हुई भी मीराका प्रधान स्वर था—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥' 'जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।'* का प्रधान स्वर कभी मन्द नहीं पड़ता। सच्ची सेविकाकी भाँति अतिशय मधुर भावसे वह मनमोहन मुरलीवालेकी पूजा करती थी।

भगवान् ही उसके सब कुछ थे, किसी औरकी आस न करती थी। मीरा मस्तीमें आ करके आँसू भी बहाया करती थी।

उत्तम पदार्थ बना श्रद्धासे वह भोग लगाया करती थी। इतना ही नहीं—*'इकतारा सुन्दर हाथमें ले गिरधर गुण गाया करती थी'*—

हे री मैं तो दरद दीवाणी मेरो दरद न जाणै कोय।
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।

× × ×

दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी जद बैद साँवलियाँ होय॥

नीरस संसारी स्वार्थी जीव घायल जिगरकी वेदना, कसक एवं दर्दके तलस्पर्शी तरानोंको भला कैसे समझ सकता है। सचमुच मीराके लिये तो साँवले-सलोने, कारे-कजरारे श्यामघन घनश्याम ही एकमात्र मर्मी वैद्य हैं, जो बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनों पीड़ाओंको स्पर्श नहीं, दर्शन देकर शान्त कर सकता है; क्योंकि मीराका कथन है—

एक मोहन ही मेरा घर बार भी आराम भी।
मेरी दुनियाँ की सुबह और मेरे जग की शाम भी॥
राज औ सरताज मोहन के सिवा कोई नहीं।
वैद्य मेरे रोग का मोहन सिवा कोई नहीं॥

धन्य है मीराका 'परम भाव' अपने मोर-मुकुटवालेके प्रति।

इस परम प्रेमभावके परवश होकर ही तो वह नाच उठी थी—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* इस नर्तनके उपहारस्वरूप मीराको मिला क्या—कुलनाशिनी, बावरी और मदमाती आदि विशेषण। परंतु दुनियासे बेपरवाह मीराको हाँसी, कुलनाशी आदि बदनामी भी अति मीठी लगती है। बुरी-भली कथनीसे उसकी अनूठी चालमें अन्तर

नहीं पड़ता। सदा 'रामखुमारी' में मस्त डोलती रहती। बड़े ही उच्च स्वरमें ढिंढोरा पीटकर बोलती— *'परवाह नहीं चाहे दुनिया कहै नचनियाँ रे मोर गिरधर पाहुनमा।'* एक अन्य प्रेमीने भी प्रेमबावरी मीराकी दशाका अच्छा अभिव्यञ्जन किया है—

लोक लाजकी बाधाओंसे जिसकी मति नहिं डोली।
हीरे मोती वारे रज पर ब्रजरसिया की हो ली॥
पथ की विकट समस्याओंसे हँसते-हँसते बोली।
मैं गिरधर की गिरधर मेरा तू क्यों करो ठिठोली॥

ऐसे रागीपर शत-शत वैरागी न्योछावर होनेको मचल जायँगे, मगर घोर अहंकारी संसारी राणा तो मीराका परम बागी बन बैठा। हमेशा मीराका नामोनिशान मिटानेके लिये तत्पर चिन्तित एवं बेचैन—

जहाँ भी राणा बैठते, करते थे ये जिक्र।
किसी तरह मीरा मरे यही थी उनको फिक्र॥

समाजवालोंने मीराको विकट यातनाएँ दीं। मगर प्रेम-दीवानी, अपनी धुनकी पक्की सभी आपत्तियों एवं अवहेलनाओंको अङ्क लगाती रही—

यों तो राणा ने दिये मीराँ को बहुत कष्ट।
पर गिरधर की कृपा से हुए सभी ये नष्ट॥

ऐतिहासिक परिवेशमें कथा आती है कि राणाने मीराको मारनेके लिये भूतमहलमें निवास दे दिया था। वहाँ मीराने—

हरिकी सेवा-पूजा ठानी।
सुनि कीर्तन अमृतमय बानी॥
भयो उन प्रेतन को उद्धार।
प्रगट भए रूप चतुर्भुज धार॥
व्यक्त किये मीरा प्रति आभार।

चाल उलटी हो गयी मीरा तो मरी नहीं, बेचारे प्रेत अवश्य तर गये—

आशीष दे पितर गये हरि धामा।
मीरा हृदय भयो विश्रामा॥

अन्तमें हारकर राणाने कहा—

आखिर मीरा से कहा राणा ने सब हाल।
गिरधर का अब छोड़ दो अपने मनसे ख्याल॥

मीराने कहा—

ऐ राणा हमें आस है गिरिवरधारी का।
तुम भी अब मन से भजन करो मनमोहन मदन मुरारी का॥

मीराकी बात सुनकर राणा व्यथित हुए। गुस्सेसे काँपने लगे—

क्रोधित हो काढ़ि कृपाण लिये, और रक्त वर्ण दो नैन हुए।

राणाने अपने हाथों मीराको समाप्त करनेके लिये कृपारहित होकर कृपाण तो निकाल लिया, मगर चलाना हाथ छोड़नेमें लोककी लज्जाने उन्हें लगाममें कस लिया। कालान्तरमें राणा कालकवलित हुए और उनका लघुभ्राता विक्रम सिंह मीराके लिये *'कालहु कर काला'* के रूपमें साबित हुआ। उसने मीराके सफायेके लिये क्रूरतम कृत्य किये। मीराका अपने गोविन्दका चरणामृत-पानका नित्य-नियम था—

राणाजी म्हे तो गोविंदका गुण गास्याँ।
चरणामृतको नेम हमारे, नित उठ दरसण जास्याँ॥
हरिमंदिरमें निरत करास्याँ घूँघरिया धमकास्याँ।

इस प्रेम-निष्ठाकी आड़में राणाने— *'विष को प्याला दिये पठाई।'* और कहा गया कि यह प्रभुका चरणामृत है— *'प्रभुको चरणामृत बतलाई॥'* विष-प्रेषणकी घटनाको मीराने स्वयं कई पदोंमें स्वीकारा है—

विष का प्याला राणाजी भेज्या, पीवत मीराँ हाँसी रे।
कोई कहे मीराँ भई बावरी, कोई कहे मदमाती रे।
विष का प्याला राणा भेज्या, अमृत कर आरोगी रे॥
राणा जी थे जहर दियो म्हे जाणी।
विष को प्यालो भेजियो जी, जाओ मीरा पास।
कर चरणामृत पी गई, म्हारे गोविंद रे विस्वास॥

अर्थात् *'सुमिरि के प्यारे गिरधर राय। पी गई मीरा सहज सुभाय॥'* श्रीगिरिधरकी अनन्यानुरागिणी एकनिष्ठ पुजारिन मीरा जहरको प्रभुका चरणामृत मानकर प्रेमपूर्वक नित्यकी भाँति आरोग गयी। आज जहर भी मारकसे धारक बनकर धन्य हो गया— **'अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्'** मन्त्रका दिव्यतम प्रकाश एवं ऐतिहासिक प्रमाण बन गया। जहरपानके बाद मीराकी कान्ति और निखर गयी, क्यों नहीं, यदि किसीकी मृत्यु टल जाय तो उसके आननके आलोकका क्या कहना। *'तेज जिमि कंचन तापत पाय।'* आज सोना सांसारिक विघ्न-बाधाओंकी अग्निमें तपकर कुन्दनवत् कमनीय लग रहा था। वह स्वर्णिम पात्रा थी— भक्तिमती प्रेमयोगिनी मीरा। *'तेरा कोई न रोकन हार मगन होई मीरा चली।* कहाँ? *श्याम सुन्दर गली ओर।'*

घोर हलाहल गरल सुधा की धार बनाकर चल दी।
कालरूप मृगराज साँवरा यार बनाकर चल दी॥

अविनाशीकी गोदमें, नित्य झुरमुटमें खेलनेवाली

दिव्य दासीको जगत्-वासी मिटाना चाहते हैं, भला यह कैसे सम्भव हो सकता है—

वैरी वपुरा क्या करे जब हरि बचावनहार।
वैरी के दो हाथ हैं, हरि के हाथ हजार॥

हजार हाथोंसे जिसका अभेद रक्षा-कवच तत्पर है; निज दासीकी रक्षाके लिये; भला दो हाथवाला उसका क्या बिगाड़ सकता है—*'जाको राखे सारंगपानी उसका कौन बिगाड़ेगा।'* मगर अहंकारी सिरफिरेको प्रभुके लाख चमत्कार दिखायी पड़ जायँ, लेकिन उसका सिर फिरता नहीं। आक्रोशाभिभूत राणा मर्यादाकी सीमारेखा लाँघ जाता है और अन्तिम उपाय करता है। एक भयंकर विषधर काले नागको शालग्रामकी प्रतिमा कहकर मीराके पास भेजता है—

बन्द पिटारी सर्प पठायो बचननि शालिग्राम बतायो।

कहीं-कहीं वर्णन मिलता है कि 'माताने भूषण पहननेके लिये तुमको दिया।'

चाहे औरोंके लिये जो हो मगर मीराके लिये तो सर्वोपरि शोभादायक गहना शालग्राम ही था।

साँप था उसमें भरा सोचा कि खोली जायगी।
नाग के डँसते ही मीराँ खत्म बोली जायगी॥
दीवानी मीराने भी एकान्तमें प्यारसे खोलकर देखा।
साँवली सूरत कन्हैयाकी नजर आयी तभी॥

मीराके हर्षका पारावार नहीं—*'दिवानी बिकी आज बेमोल। मिले प्यारे गिरधर अनमोल मगन ह्वै नाचति हरि हरि बोल॥'* कैसे? सूना-सूना नहीं—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥' विषधर काला नाग शालिग्रामको हार बनाकर नाची रे।*

प्रेमियोंके पथकी बाधाएँ उनके लिये सुखद पाथेय होती हैं। लेकिन इतनी कड़ी कसौटीपर प्रेमबावरी मीरा ही धीरा बनी रही, सामान्योंके लिये तो अधीराका ही अवलम्ब है। शायद इसी ऊबन-घुटनके चलते मीराने गोस्वामी तुलसीदासको करुणाप्लावित करनेवाला पत्र लिखा था और तुलसीने पत्रोत्तर दिया था—*'दिये पत्रोत्तर तुलसीदास। तजिय हरि बिमुखन को सहवास॥ एक प्रभु चरन कमल की आस।'*

और फिर *'या ब्रज में कछु देख्यौ री टोना।' 'मोहि नीको लागो वृन्दावनधाम'* का पावन-संस्पर्श वह प्राप्त करने लगी। अन्तमें राणापर संकट आया। अपनी भूलपर पश्चात्ताप करता हुआ वह मीराके चरणोंपर पड़ा। वृन्दावनसे विरत कर पुनः घर लौटनेका आग्रह किया गया, परंतु प्रेमपथिका पुनः घर नहीं लौटी। पुनः *'मीराबाई बादमें बसी द्वारिका जाय।'* वहाँ भी पुरातन दिनचर्या—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* मन्दिर-मूर्ति, अग-जग सब इस धुनमें, नृत्यमें इस गतिमें लय हो रहे हैं। रोम-रोममें हरिकी ध्वनि, प्राणोंमें आकुल-विरह-पीड़ा और पीड़ा-सेतुपर मधुर-मिलन, मधुमयी यात्रा—मीराका नित्य-कृत्य।

आज रणछोड़जीके मन्दिरकी मनमोहक छटा है। मीरा सज-धजकर मादकताके करुणापूर्ण स्वरमें गा उठती है—*'श्रीगिरधर आगे नाचूँगी।'* मधुर मञ्जुल स्वरमें नूपुर बज उठे फिर नूपुर, नूपुर, नूपुर। आत्यन्तिक आभा-प्रभाकी चमकमें नाचती मीराकी ज्योति चपलाकी चमककी तरह मोहनकी मुसकुराती सूरतसे जा मिली। लोग ठगे-से अवाक् रह गये और मीरा *'खोल मिली तन गाती।'* निरावरण, निरवगुण्ठित बावरी दीवानी मीरा। *'गिरधर के तन से मिल्यो, ललित चूनरी छोर। काहू को नहिं लखि पर्‌यो मीरा गई किस ओर॥'* मगर चूनरी और पीताम्बरके छोरका गँठजोर अमिट अचल-अविचल कहानी बन गया। कौन किससे मिला? कहना कठिन है। मीरा मतवारीकी चूनर लहराती रही भक्तोंके आवाहन-आश्रयके लिये। ऐसे दिव्य-मिलनको देखकर कौन नहीं कह उठेगा—*'कबहुँक हौं यह मिलनि लहौंगो।'* लेकिन ऐसी प्रीति नहीं है सबके मानकी। संतोंद्वारा यह कहा जाता है कि जिस दिनसे बावरी मीरा गिरिधरकी तड़पमें रणछोड़जी (भगवान् श्रीकृष्ण)-की दहलीज पारकर उनसे मिल गयी, उसी रोजसे चौखटकी सतहको ऊँचा कर दिया गया, ताकि कोई आशिक़ आसानीसे आलिङ्गन न पा सके। माना कि चौखट अथवा दरवाजा ऊँचा कर दिया गया—परंतु जो आशिक़ है साहब, फाँदकर दीवार आता है। अवरोध प्रेमियोंके समक्ष असम्भव—प्रेमियोंके लिये परम पाथेय जो छोड़ गयी प्रेमयोगिनी मीरा—*'बाहर ते दिखात रह्यो चूनरीको चीरा है॥'*

[प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसाद सिंह]
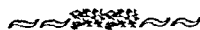
मीराकी प्रेम-साधना

(श्रीअर्जुनलालजी बंसल)

पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे॥
मैं तो मेरे नारायणकी आपहि हो गइ दासी रे।
लोग कहै मीरा भई बावरी न्यात कहै कुळनासी रे॥
बिषका प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हाँसी रे।
मीराके प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अबिनासी रे॥

—माधुर्य रससे ओत-प्रोत यह रचना जब सुनायी देती है, उस समय आँखोंके सामने एक दिव्य स्वरूपधारिणी राजस्थानी युवतीकी मनमोहक छवि प्रगट हो जाती है। एक हाथमें इकतारा दूसरेमें खड़ताल, पैरोंमें घुँघरू बाँधे, पलकें अधमुँदी-सी अपने साँवरे सलोनेके आगे नाचती-गाती यह प्रेम-दीवानी वैरागिन मीराबाईके नामसे आध्यात्मिक जगत्में अमर हो गयी। कहा जाता है कि बचपनमें कोई साधु इन्हें श्रीकृष्णकी एक अति सुन्दर मूर्ति दे गया था। मीरा इसके प्रति आकर्षित हो गयी और इसकी भक्तिमें लीन रहने लगी।

समयके साथ-साथ मीरा सयानी हो गयी। कुमार भोजराजके संग मीराका विवाह हो गया, परंतु यह सम्बन्ध केवल औपचारिक ही रह गया। मीराने तो कृष्ण कन्हैयाका वरण कर लिया था और अपने मनके भाव व्यक्त करते हुए लिखा था—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई॥
छाँड़ि दई कुळकि कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई॥
चुनरीके किये टूक ओढ़ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥
अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥
दूधकी मथनियाँ बड़े प्रेमसे बिलोई।
माखन जब काढ़ि ळियो छाछ पिये कोई॥
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही॥

मीराने इस भौतिक जगत्का सर्वथा त्याग कर दिया था। पारिवारिक नाते सब तोड़ दिये थे एवं केवल एकके संग नाता जोड़कर उसीके चिन्तनमें, उसीके प्रेममें मग्न रहने लगी—

मैं तो साँवरेके रंग राची।
साजि सिंगार बाँधि पग घुंघरू, लोक-लाज तजि नाची॥
गई कुमति, लई साधुकी संगति, भगत, रूप भइ साँची।
गाय गाय हरिके गुण निस दिन, कालब्यालसूँ बाँची॥
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची।
मीरा श्रीगिरधरन लालसूँ, भगति रसीली जाँची॥

मीराको अपने गिरधरके प्रति प्रेमकी अनुभूतिमें सदैव उन्हींके दर्शन हुआ करते थे—

बसो मोरे नैननमें नँदलाल॥
मोहनी मूरति साँवरि सूरति नैणा बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजंती-माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भगतबछल गोपाल॥

मीराकी प्रेम-साधना प्रारम्भ हुई। अपने साँवरो सलौनेसे वह प्रार्थना करती है—

स्याम! मने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल! चाकर राखो जी॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।
बिंद्राबनकी कुंजगलिनमें तेरी लीला गासूँ॥
चाकरीमें दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाता सरसी॥
मोर मुगट पीतांबर सोहै, गल बैजंती माळा।
बिंद्राबनमें धेनु चरावे मोहन मुरलीवाळा॥
हरे हरे नित बाग लगाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी।
साँवरियाके दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्मी सारी॥
जोगी आया जोग करणकूँ, तप करणे संन्यासी।
हरी भजनकूँ साधू आया बिंद्राबनके बासी॥
मीराके प्रभु गहिर गँभीरा सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण दीन्हें, प्रेमनदीके तीरा॥

मीरा अपने सच्चे पतिके दर्शन करना चाहती थी। उनसे मिलनेकी अभिलाषा हुई। उसने मन-ही-मन यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि अब प्रीतमके देश जाना ही

उचित होगा। वह जानती थी कि उसकी प्रेम-साधना वृन्दावनमें फूले-फलेगी। उसकी लेखनी सजीव हो उठी। वृन्दावनकी महिमाका वर्णन करते हुए उसने लिखा है—

आली! म्हाँने लागे बृंदाबन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोबिंदजीको॥
निरमल नीर बहत जमनामें भोजन दूध दहीको।
रतन सिंघासण आप बिराजै मुगट धर्‌यो तुलसीको॥
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।
मीराके प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

अपने साँवरेके प्रति समर्पणभाव व्यक्त करते हुए मीरा गुनगुना उठती है—

मैं गिरधरके घर जाऊँ।
गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
रैण पड़ै तबही उठ जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके सँग खेलूँ ज्यूँ त्यूँ ताहि रिझाऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ।
मीराके प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ॥

मीराके मनमें अपने प्रेमीको रिझानेके लिये प्रेमकी उत्ताल तरङ्गें हिलोरें लेने लगीं—

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी॥
नाच-नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जनकूँ जाचूँगी।
प्रेम प्रीतिका बाँधि घूँघरू सुरतकी कछनी काछूँगी॥
लोक लाज कुळकी मरजादा यामें एक न राखूँगी।
पिवके पलँगा जा पौढूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

प्रेम-साधनके उच्चतम शिखरकी ओर अग्रसर मीराके ये भाव पाठकोंको आकर्षित करनेमें पूर्ण सक्षम हैं—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥
पचरँग चोला पहर सखी री मैं झिरमिट रमवा जाती।
झिरमिटमाँ मोहि मोहन मिलियो खोल मिली तन गाती॥
कोईके पिया परदेस बसत हैं लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत हैं ना कहुँ आती जाती॥
चंदा जायगा सूरज जायगा जायगी धरण अकासी।
पवन पाणी दोनूँ ही जायँगे अटल रहै अबिनासी॥
और सखी मद पी-पी माती मैं बिन पियाँ ही माती।
प्रेमभठीको मैं मद पीयो छकी फिरूँ दिन-राती॥
सुरत निरतको दिवलो जोयो मनसाकी कर ली बाती।
अगम घाणिको तेल सिंचायो बाळ रही दिन-राती॥
जाऊँनी पीहरिये जाऊँनी सासरिये हरिसूँ सैन लगाती।
मीराके प्रभु गिरधर नागर हरिचरणाँ चित लाती॥

दीर्घावधितक मीरा गिरिधरसे मिलनेकी आतुरता लिये वृन्दावनमें घूमती रही, ढूँढ़ती रही, परंतु जिसकी खोजमें वृन्दावन आयी, वह नहीं मिला। किन्तु कृष्ण-प्रेममें आकण्ठ डूबी मीराने धैर्य नहीं छोड़ा। संवत् १६०० के लगभग पैरोंमें घुँघरू बाँध, होठोंपर यह दर्दभरा भावपूर्ण पद गाती-नाचती मीरा द्वारका पहुँच गयी—

हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।

मीरा रणछोड़रायजीके मन्दिरमें रात-दिन नृत्यमें लीन रहने लगी। मन्दिरके प्राङ्गणमें भगवान्‌के सामने प्रेमाराधना करने लगी—

प्यारे दरसन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय॥
जळ बिन कमल, चंद बिन रजनी, ऐसे तुम देख्याँ बिन सजनी।
आकुळ व्याकुळ फिरूँ रैन दिन, बिरह कलेजो खाय॥
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना, मुख सूँ कथत न आवे बैना।
कहा कहूँ कछु कहत न आवै, मिलकर तपत बुझाय॥
क्यूँ तरसावो अंतरजामी, आय मिलो किरपाकर स्वामी।
मीरा दासी जनम-जनम की, पड़ी तुम्हारे पाय॥

एक दिन प्रेम-साधनाके समय घुँघरुओंकी तीव्र ध्वनिके साथ मीराके मुखसे यह बोल निकल पड़े—

तुम्हरे कारण सब सुख छोड्या अब मोहिं क्यूँ तरसावौ हौ।
बिरह-बिथा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावौ हौ॥
अब छोड़त नहिं बणै प्रभूजी हँसकर तुरत बुलावौ हौ।
मीरा दासी जनम-जनमकी अंगसे अंग लगावौ हौ॥

इतिहास साक्षी है कि मीराको नृत्यावस्थामें उन्मत्त देख भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने हृदयमें विराजमान कर लिया। मीरा सदेह उनके श्रीविग्रहमें विलीन हो गयी।

मीराकी प्रेम-साधना अमर हो गयी। इनकी भक्तिपरक रचनाएँ भक्तिजगत्‌की अमूल्य धरोहर हैं।
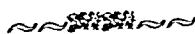
कबीरका भगवत्प्रेम

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

भगवत्प्रेमी संत कबीरदास उस निर्गुण ब्रह्मके उपासक थे, जिसका साक्षात्कार ज्ञान-सूर्यसे प्रकाशित अन्तर्हृदयमें ही सम्भव है। परमात्माका प्रत्यक्षीकरण तो मिथ्यात्वसे सर्वथा मुक्त निराडम्बर आत्मामें ही सुलभ हो सकता है। जो साधक भगवान्‌को सीमामें बाँध देता है, ईश्वरका सत्स्वरूप उसकी अनुभूतिसे परे हो जाता है। संत कबीरदासने सभी प्रकारकी सीमाओंसे परे होकर ब्रह्मको अपनी अन्तरात्मामें अनुभव किया था।

कबीरके युगमें तत्त्व-चिन्तन तथा योग-साधनाकी समृद्ध परम्परा थी। तत्कालीन वैष्णवाचार्य रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्क स्वामी आदिने अतिशय गूढ चिन्तनके बाद आचार्य शंकरके ज्ञान और तर्कवादी अद्वैत सिद्धान्तको भक्तिवादसे जोड़ दिया। इन वैष्णवचिन्तकों और साधकोंने ज्ञानवाद तथा भक्तिवादका समन्वय उपस्थित करनेका प्रयत्न किया।

रामानुजाचार्यके मतसे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌के प्रति प्रेम ज्ञानसे भिन्न नहीं है; क्योंकि भक्ति भी ज्ञानविशेष ही है। चित्तमें विशुद्ध ज्ञान या विवेकख्याति होनेपर ही जागतिक विषयसे विरक्ति तथा परमात्माके प्रति अनुरक्ति सम्भव है।

आचार्य रामानुजकी दृष्टिमें ध्यान और उपासना तथा भक्तिमें कोई भेद नहीं है। कबीरकी वाणीमें भी ज्ञानकी स्थिति भक्तिसे भिन्न नहीं है, इसीलिये उनका विश्वास था कि केवल जप-तप-योग एवं वेद-पुराण-स्मृति आदि साधनोंद्वारा भगवत्प्रेमकी प्राप्ति असम्भव है। भक्तिवादी कबीर अपने मनको सम्बोधित करके कहते हैं कि योगकी युक्ति और गुरुके शब्दके साथ हरिभक्ति भी आवश्यक है। इसके बिना ही तो मनको सांसारिक दु:खाग्निमें जलना पड़ता है।

प्रेम भक्तिका मूल भाव है। कबीरके ज्ञान और योग दोनों ही ईश्वरीय प्रेमके परिपोषक हैं। कबीर हरि-रस-पानकर सदा मदमस्त रहते हैं। यहाँतक कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध-बुध नहीं रहती। इसलिये कि जो मदमस्त अव्यक्तमें लीन हो जाता है, वह कालजयी हो जाता है तथा वह जीवन्मुक्त और विषयातीत हो जाता है। इस प्रेमरसको पीनेकी आकाङ्क्षा तो सभी रहते हैं, पर सबके लिये यह सुलभ नहीं होता; क्योंकि इस प्रेमरसका विक्रेता कलाल मूल्यके रूपमें सिर माँगता है। जिसमें ऐसे महान् उत्सर्गकी सामर्थ्य होती है, वही इसका अधिकारी होता है। महात्मा कबीरने इस प्रेमरसको अनेक रूपोंमें व्यक्त किया है—

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मांगै सीस कलाल॥
हरि रस पीया जांणिये, जे कबहूं न जाइ खुमार।
मैमंता घूँमत रहै, नांही तन की सार॥

(कबीर-ग्रन्थावली, रस कौ अंग, साखी २, ४)

कबीरने लौकिक दाम्पत्य-प्रेमके माध्यमसे अलौकिक भगवत्प्रेमकी मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। विवेकके जागरित होनेपर आत्मारूपी विरहिणीको परमात्माके प्रति जब प्रगाढ़ तथा अनन्य सम्बन्धकी अनुभूति हो आती है, तब वह भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये शेष जीवन उसी तरह रोती रहती है, जिस तरह क्रौञ्च पक्षी अपनी संगिनीसे बिछुड़कर रोता है। कबीरने भी आदिकवि वाल्मीकिकी तरह ही आत्माके विरहकी व्यथा-कथाको प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बनानेके लिये क्रौञ्चको प्रतीकित किया है—

रात्यूं रूंनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज॥

(कबीर-ग्रन्थावली, बिरह कौ अंग, साखी १)

कबीर अपनी आत्माको प्रेयसी मानते हैं और परमात्माको प्रियतम। आत्माका परमात्मासे प्रेम ही भगवत्प्रेम है। इस संदर्भमें उनकी यह रहस्यवादी साखी जन-जनमें सुविदित है—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

इसीके समानान्तर कबीरकी एक अन्य साखी है,

जिसका भाव है—जैसे बूँद समुद्रमें समा जाती है या लवण पानीमें विलीन हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की खोज करनेवाला स्वयं भगवान्‌में विलीन हो जाता है, उसे सायुज्यकी प्राप्ति हो जाती है। साखीका मूल रूप है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समद में, सो कत हेरी जाइ॥

(कबीर-ग्रन्थावली, लाँबि कौ अंग, साखी ३)

संत कबीरकी भगवद्भक्तिपर भक्तिके आचार्यों महर्षि शाण्डिल्य एवं देवर्षि नारदजीका प्रभाव दिखलायी देता है। महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरके प्रति परम अनुरक्तिकी अभिव्यक्ति ही भक्ति है—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे।'** देवर्षि नारदजी बताते हैं, वह भक्ति ईश्वरमें परम प्रेमरूप है—**'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।'** कबीरकी भक्तिका भी मूलाधार प्रेम है, जिसका रूप भूमण्डलीय स्तरपर व्याप्त है। कबीरके भगवत्प्रेममें उन सभी प्रेममार्गियोंकी भावनाओंका समावेश है, जो प्रेमको ईश्वर-प्राप्तिका एकमात्र साधन मानते हैं।

कबीरके मतानुसार भगवत्प्रेमके लिये महान् त्याग अपेक्षित है। सती और शूर इस त्यागपूर्ण प्रेमके आदर्श हैं, जिन्हें बराबर प्राणोंकी बाजी लगाकर आगे बढ़ना पड़ता है। जिस व्यक्तिको भगवत्प्रेमकी उपलब्धि हो जाती है, उसकी समस्त सांसारिक आकाङ्क्षाएँ मिट जाती हैं, वह निरिच्छ और अचाह हो जाता है। उसपर काम-क्रोधका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसे तृष्णा कभी नहीं जलाती। भगवत्प्रेमी कभी असत्य नहीं बोलता। वह समदर्शी होता है एवं द्वैधभावसे सर्वथा मुक्त रहता है। कबीरकी दृष्टिमें बिना भगवद्भक्तिके भवसागरसे सुखपूर्वक पार उतरना सम्भव नहीं है—

जब लगि भाव भगति नहिं करिहौं। तब लगि भवसागर क्यों तरिहौं॥

(कबीर-पदावली)

भगवत्प्रेमी कबीर परम वैष्णव थे। इसलिये उन्होंने वैष्णवोंकी भूरिशः प्रशंसा की है—

कबीर धनि ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनौं पूत।

(साध-महिमाँ कौ अंग, साखी ७)

वैष्णव-भक्तिमें प्रपत्ति अर्थात् शरणागतिकी बड़ी महिमा है। कबीर-काव्यमें प्रपत्तिके सभी अङ्गों-उपाङ्गोंकी विस्तृत व्यञ्जना मिलती है। वैष्णव-भक्तिमें नाम-साधनाको पूर्ण स्वीकृति प्राप्त है। कलियुगमें तो नाम-जपके अतिरिक्त अन्य कोई गति या उपाय नहीं है। इस संदर्भमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

हरेर्नामैव नामैव हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने भी राम-नामको रामसे बड़ा माना है—*'ब्रह्म राम तें नामु बड़'* (रा०च०मा० १। २५)।

कबीर सारी चिन्ता छोड़कर केवल 'हरिनाम' की चिन्ता करते हैं। परब्रह्म रामके प्रति उनका हृदय पूर्ण निवेदित है—*'मन रे राँम नाँमहिं जाँनि।'*

वैष्णव-भक्तिमें प्रेम एक अनिवार्य शर्त है। रागानुगा-भक्तिमें तो प्रेम ही सर्वस्व है। वैधी-भक्तिमें भी प्रेमकी अभिव्यक्ति दाम्पत्य, वात्सल्य और सख्य आदि कई रूपोंमें होती है। कबीरने तो भगवत्प्रेमके अन्तर्गत दाम्पत्य-रतिकी अतिशय मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। कबीरद्वारा वर्णित परमात्मा-प्रियतमकी प्रतीक्षामें आत्मा-विरहिणीकी हृदयविदारक तड़पका उदाहरण द्रष्टव्य है—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ-तलफ के भोर किया॥
तन मन मोर रहट अस डोले, सून सेज पर जनम दिया।
नैन थकित भए पंथ न सूझै, सोई बेदरदी सुध न लिया॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया॥

(कबीर-पदावली)

कबीरकी आत्मारूपी प्रियतमा परमात्मारूपी प्रियतमसे चिरवियुक्त हो गयी है। उस प्रियतमकी याद उन्हें सदैव सताया करती है। कबीरकी ब्रह्मानुभूतिकी तरह यह विरहानुभूति भी उनकी अपनी ही है। वे लिखते हैं—

चोट सताणों बिरह की, सब तन जर जर होइ।
मारणहारा जांणिहै, कै जिहिं लागी सोइ॥

(बिरह कौ अंग, साखी १८)

वस्तुतः कबीरकी प्रेममूला भक्ति मूलतः जनता-जनार्दनकी भक्तिमें समाहित है और उनका भगवत्प्रेम विश्वमानव-प्रेमका ही प्रतिरूप है।

श्रीकृष्णप्रेमी रसखान

(श्रीचन्द्रदेवजी मिश्र, एम्०ए०, बी०एड्०)

रसखान सगुण काव्यधाराकी कृष्णाश्रयी शाखाके प्रमुख भक्त कवि थे। इनका पूर्वका नाम सैयद इब्राहीम था। इनका जन्म सन् १५५८ ई० में हुआ था। ये दिल्लीके पठान सरदार थे। एक अन्त:प्रेरणासे प्रेरित हो ये दिल्ली छोड़कर व्रजभूमि चले गये। व्रजमें लीलाविहारी श्रीकृष्णके लोकरञ्जक चरित्रने इन्हें अपनी ओर खींच लिया और इनका लौकिक प्रेम श्रीकृष्णप्रेममें परिवर्तित हो गया। ये व्रजके ही एक श्रीकृष्णभक्त गुसाईं विट्ठलनाथजीके शिष्य हो गये। इनका शेष जीवन वहीं बीता तथा भगवान्‌की ललित लीलाके गानमें रत रहते हुए इन्होंने सन् १६१८ ई० में शरीर छोड़ा।

भगवत्प्रेमी कवि रसखानका मन भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य एवं उनकी लीलास्थली व्रजभूमिमें ही अधिक रमा है। श्रीकृष्णके रूप-लावण्य, व्रजके लता-गुल्म, करील-कुञ्ज, यमुनातट, वंशी-वट, गोचारण, वंशीवादन और दही-माखनके प्रसंगोंका रसखानने जो प्रेमरसमय चित्रण किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी कृतियाँ हैं—'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका'। पहलीमें कवित्त एवं सवैये हैं और दूसरीमें दोहे।

रसखानकी भाषा व्रजभाषा है, जो अत्यन्त मधुर, सरस तथा सुबोधगम्य है। उसमें प्रवाहमयता तथा भावानुकूलता है। इनकी रचनाओंमें यमक एवं अनुप्रासकी छटा भी है। इस प्रकार इनकी रचनाओंमें भाव-सौन्दर्य और भाषा-सौन्दर्य दोनोंका मणिकाञ्चन-संयोग दर्शनीय है।

प्रेमतत्त्वके विषयमें रसखानका अभिमत है कि प्रेम अगम्य, अनुपमेय एवं अपार सागरके समान है। इसके पास जो पहुँच जाता है, वह फिर लौटकर संसारकी ओर नहीं आता—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि, जात नाहिं रसखान॥

रसखानके अनुसार उस प्रेममें प्रेमी एवं प्रेमास्पदके मन तो एक होते ही हैं, तन भी मिलकर जब एक हो जायँ तब वह प्रेम कहलाता है। अपना तन-मन अपना न रह जाय, श्रीकृष्णका हो जाय और श्रीकृष्णका तन-मन अपना हो जाय—

दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबहिं द्वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि॥

रसखानका सौन्दर्यवर्णन अनुपम और अनोखा है। बालकरूपमें श्रीकृष्णके सौन्दर्यका वर्णन एक सवैयेमें दर्शनीय है, जिसमें धूल-धूसरित, सिरपर अतीव सुन्दर चोटीसे सुशोभित श्रीकृष्ण अपने आँगनमें मक्खन-रोटी खा रहे हैं। इतनेमें एक कौवा उनके हाथसे मक्खन-रोटी छीनकर उड़ भागता है। इस घटनाको देखकर एक गोपी अपनी सखीसे इस प्रकार कह रही है—

धूरि-भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत-खात फिरैं अँगनाँ, पग पैजनी बाजतीं पीरी कछोटी॥
वा छबि को रसखानि बिलोकत, बारत काम-कलानिधि-कोटी।
काग के भाग कहा कहिए, हरि-हाथ सों लै गयो माखन-रोटी॥

एक दिन प्रात: कोई गोपी नन्दजीके घर आती है। यशोदाजी अपने लाड़ले कृष्णको उबटन-तेल लगा, आँखोंमें काजल कर, भौंहें बना, भालपर डिठौना लगा और गलेमें सुन्दर हार पहनाकर निहारतीं तथा लाड़-प्यार कर रही हैं। उक्त गोपी भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यका अवलोकन कर लौटती है और अपनी सखीसे यशोदाके भाग्यकी सराहना करती हुई कहती है—

आजु गई हुती भोर ही हौं, रसखानि रई हित नंद के भौनहिं।
वाको जियौ जुग लाख करोर, जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं॥
तेल लगाइ लगाइ कै अंजन, भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।
डारि हमेल निहारति आनन वारितज्यौं चुचुकारति छौनहिं॥

कन्हैयाके कानोंमें कुण्डल, सिरपर मोर-पंख, हृदयपर विराजती हुई वनमाला, हाथमें बाँसुरी और अधरपर मुसकानकी तरङ्गें आदि एक साथ मिलकर महाछविकी छटा छहरा रही है। उनके तनपर फहराता हुआ पीताम्बर सैकड़ों सौदामिनियोंकी प्रभाको फीकी कर दे रहा है और बाँसुरीकी मधुर ध्वनि कानोंमें पड़ते ही 'कुल' की मर्यादाकी सुध भी नहीं रह पाती है—

कल काननि कुंडल मोर पखा उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि-तरंग महा छबि छाजति है॥
रसखानि लसै तन पीत पटा सत दामिनि की दुति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परे, कुल कानि हियौ तजि भाजति है॥

किशोरावस्थाको प्राप्त श्यामसुन्दर अब गोप-बालकोंके साथ गोचारणहेतु वृन्दावन, यमुनातट जाने लगे हैं। उनके दिव्य सौन्दर्यका अवलोकन करके गोपिकाएँ उनके प्रति अपना तन-मन और प्राण निछावर कर बलैया लेती हैं। मनमोहन अपनी मुरलीकी तान छेड़कर सबको रिझा लेते हैं। उनके वशीभूत सारी गोपियाँ अपनी मर्यादाको बिसार देती हैं।

जिस दिनसे वह नन्दलाल इस व्रजमें गायें चरा गया है और मोहक स्वरोंमें बाँसुरी बजाकर सुना गया है, उसी दिनसे कुछ रोग-सा देकर सबके हृदयमें प्रवेश कर गया है, जिससे मर्यादाका ध्यान नहीं रहा तथा व्रजके सभी लोग उसके हाथ बिक गये हैं—

जा दिन तें वह नंद को छोहरा या ब्रज धेनु चराय गयौ है।
मोहिनी ताननि गोधन गाय लै बेनु बजाय रिझाय गयौ है॥
वा दिन सों कछु टौना सो कै रसखान हिये मे समाय गयौ है।
कोउ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज बीर बिकाय गयौ है॥

कन्हैयाकी प्रेमलीलाका विलास दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा था। उनका चोरी-चोरी किसीका मक्खन खा जाना, दही-दूध ढरका देना और किसी गोपीका चीर लेकर वृक्षकी डालपर बैठ जाना आदि गोपियोंके लिये असह्य-सा होता जा रहा था। फिर तो यशोदाजीके पास पहुँचकर वे कन्हैयाकी शिकायत करनेसे चूकती नहीं—

काहू को माखन चाखि गयौ अरु काहू को दूध दही ढरकायौ।
काहू को चीर लै रूख चढ़्यौ अरु काहू को गुंज छंरा छहरायौ॥
मानै नहीं बरज्यौ रसखान सो जाने है राज इन्हीं घर आयौ।
आवरी बूझें जसोमति कों इहि छोहरा जायौ कि मेव मगायौ॥

यह सब होनेपर भी उस छलियाको छोड़ना भी गोपियोंसे बनता नहीं था, बल्कि वे तो उसीके रूप-स्वरूपका स्वाँग बनाकर ग्वाल-बालोंकी मण्डलीमें घूमते हुए गो चरानेकी चाह लेकर उल्लसित होती हैं। वे यह भी कहती हैं कि हम चाहे सब कुछ वैसा ही कर लेंगी, पर श्रीकृष्णके अधरामृतका सदा पान करनेवाली मुरली (जो गोपियोंकी सौतके रूपमें है)-को अपने अधरपर नहीं रखेंगी—

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥

एक व्रजाङ्गना जो मुरलीधरकी बाँसुरीकी सुरीली तान सुनकर मोहित और अत्यन्त मुग्ध हो चुकी है, सारे व्रजवासियोंसे जोरदार शब्दोंमें ऐलान करके कहती है कि कल जब वे बाँसुरी बजायेंगे तब मैं अपने कानोंको अंगुलियोंसे बंद कर लूँगी; क्योंकि उनकी मधुर मुसकानको देख लेनेके बाद अपनेको सँभाल रखना सम्भव नहीं है। इस आशयके एक सवैयेमें कविवर रसखानजी कहते हैं—

कानन दै अँगुरी रहिबो जबहीं मुरली धुनि मंद बजैहै।
मोहनी तानन सौं रसखानि अटा चढ़ि गोधन गैहै तौ गैहै॥
टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माई री, वा मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै॥

भगवान्‌की ललित लीलाकी विभिन्न झाँकियाँ प्रस्तुत करनेमें रसखानजीका मन कभी थकता नहीं। वे कहते हैं—जिस निर्गुण-निराकार ब्रह्मका विवेचन गुणीजन, गणिका, गन्धर्व, शारदा, शेष, महेश एवं ब्रह्मा आदि करके पार नहीं पाते तथा योगी, यति, तपस्वी एवं सिद्ध समाधि लगाकर भी अन्त नहीं पाते, उसीको सगुण-साकार रूपमें अहीर-कन्याएँ ढकनीभर मट्ठेपर नचाया करती हैं—

गावैं गुनी गनिका गंधर्ब औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनंत गनंत गनेस ज्यौं ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरंतर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत॥

जिस निर्गुण ब्रह्मका निर्वचन करते-करते वेद-पुराण भी थक जाते हैं और उसके स्वरूप—स्वभावको 'इदमित्थम्' कहकर बता नहीं पाते तथा न ही कोई मनुष्य बता पाता है, उसे ही प्रेमके कायल व्रजके कुञ्ज-कुटीरमें बैठकर रूठी हुई राधाके पाँवोंको पलोटते देखा गया है। इस छटाको रसखानकी कवितामें देखा जा सकता है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।

देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्यो रसखानि बतायौ न लोग-लुगायन।
देखौ दुरौ वह कुंज कुटीर में बैठो पलोटत राधिका पायन॥

भगवान्‌का नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों ही उनके श्रीविग्रह माने गये हैं। रसखान अगले जन्ममें भी लीलाविहारी श्रीकृष्णकी लीलास्थली व्रज एवं गोकुल गाँवमें ही रहनेकी कामना करते हैं। चाहे वह मनुष्य, पशु, पत्थर और पक्षी आदि जो भी हों, भगवान्‌का सांनिध्य सुलभ हो, रसखानके प्रसिद्ध सवैयेमें इस आशयको देखें—

मानुष हौं तौ वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरौ, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धर्‍यौ कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं, तौ बसेरौ करौं, मिलि कालिंदी कूल कदंब की डारन॥

रसखानके अनुसार सुख-सम्पत्ति, योगाभ्यास, विस्तृत साम्राज्य, जप-संयम, प्राणायाम तथा तीर्थ-व्रत आदि करनेसे क्या होता है, जबतक नन्दलाल भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम नहीं किया गया—

कहा रसखानि सुख संपति सुमार महँ,
कहा महाजोगी ह्वै लगाये अंग छार को।
कहा साधैं पंचानल, कहा सोये बीचि जल,
कहा जीति लाये राज सिंधु वारपार को॥
जप बार-बार तप संजम बयार ब्रत,
तीरथ हजार अरे बूझत लबार को।
सोई है गँवार जिहि कीन्हौं नहिं प्यार,
नहीं सेयौ दरबार यार नंद के कुमार को॥

प्रेमी भक्तके लिये अपना सर्वस्व समर्पण ही प्रेमकी पराकाष्ठा है। प्राण वे ही हैं जो प्रियतमके लिये सदा बेचैन रहें, रूप वही सार्थक है जो प्रियतमको रिझा ले, सिर वही है जिसे वे स्पर्श कर लें, पैर एवं शरीर वे ही हैं जो प्यारेका स्पर्श करें। दूध वही है जिसे उन्होंने दुहवाया हो और दही वही है जिसे उन्होंने ढरका दिया हो, स्वभाव भी वही सुन्दर एवं सार्थक है जिसे वे साँवले-सलोने सुहावने लगें—

प्रान वही जु रहैं रिझि वापर रूप वही जिहिं वाहि रिझायौ।
सीस वही जिन वे परसे पद, अंग वही जिन वा परसायौ॥
दूध वही जु दुहायौ वही सोई, दही सु सही जु वही ढुरकायौ।
और कहा लौं कहौं रसखान री भाव वही जु वही मन भायौ॥

इस प्रकार यहाँ रसखानके काव्यमें श्रीकृष्ण-प्रेमतत्त्वका संक्षेपमें अवलोकन किया गया है। रसखान कविकी रसिकता, रसज्ञता और श्रीकृष्णकी प्रेमाभक्तिने उन्हें भक्तजनोंमें सदाके लिये अमर कर दिया है। हमें भी उनके प्रति ऋणी होना चाहिये। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने रसखानके सन्दर्भमें कितना सटीक कहा है—

इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।

रहीमका भगवत्प्रेम

(श्रीसुरेशचन्द्रजी श्रीवास्तव, एम०कॉम०, एल्-एल्० बी०)

अब्दुर्रहीम खानखाना भगवान् रामके बहुत बड़े प्रेमी उपासक थे। उन्होंने अपने सारगर्भित दोहारूपी गागरमें भगवान् रामकी महिमाका सागर भरनेका सफल प्रयास किया है। कवि रहीमके पिता बैरमखाँ तातार थे। भारतके प्रथम मुगलशासक बाबर एवं उसके पुत्र हुमायूँके विश्वासपात्र सिपहसालार ही नहीं, बल्कि मुगलसम्राट् अकबरके ये संरक्षक भी थे। अब्दुर्रहीम खानखाना स्वयं एक सुयोग्य सेनानायक एवं सम्राट् अकबरके सलाहकार तथा नवरत्नोंमेंसे एक अनन्य रत्न भी थे।

कवि रहीम फारसीके उच्च कोटिके विद्वान् थे, किंतु उनके दोहोंसे परिलक्षित होता है कि वे हिन्दी-साहित्यके भी मर्मज्ञ थे, इसीसे हिन्दी-साहित्यमें उनका एक विशिष्ट स्थान है। उनके दोहे अत्यन्त सारगर्भित हैं। कवि रहीमके दोहे सामान्य उपयोगिताके कारण बहुत लोकप्रिय हैं। जहाँ उनके दोहोंमें अन्य विषय-वस्तुएँ हैं, वहीं भगवान् रामकी भक्ति भी एक प्रमुख विषय-वस्तु है। उनके अनेक दोहोंमें भगवान् रामकी महिमाका प्रभावी वर्णन द्रष्टव्य है।

निराकार, निर्गुण, निरीह, निर्विकल्प, अनादि, अनन्त, परब्रह्म परमेश्वर, अनन्त जगदीश्वरकी महिमा अनिर्वचनीय

बताते हुए कवि रहीमने लिखा—

रहिमन बात अगम्य की, कहन सुनन की नाहिं।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहिं॥

स्पष्ट है कि कविवर रहीमकी अध्यात्ममें गहरी पैठ थी। उनके अगम्य अर्थात् अनन्त जगदीश्वरकी बात कहने-सुननेकी नहीं, बल्कि मनन और स्वाध्यायकी है। जो अगमकी गतिको किञ्चिन्मात्र भी समझ पाता है, वह उसीमें रम जाता है और लीन हो जाता है। इतना आत्मविभोर हो जाता है कि वह उसका वर्णन कर ही नहीं सकता।

कविवर रहीमको इस बातका अनुभव हुआ कि झूठे मोह, माया, ममता, तृष्णा एवं सांसारिक प्रपञ्चमें उलझे रहनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्होंने कहा है—

अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलैं न राम॥

जैसे दो नावपर पैर रखकर निर्वाह करना असम्भव होता है, वैसे ही रहीमको मुश्किल आ पड़ी कि सच्चे मार्गके अनुसरणसे इस संसारमें निर्वाह कठिन है। सांसारिकता निभानेके लिये सत्यसे परे जो मार्ग है उसपर चलकर मनुष्य लोभ, मोह, यश, वैभव, घर तथा परिवारके प्रपञ्चमें उलझकर रह जाता है। उस असत्य-मार्गपर भटकनेवालेको भौतिक और क्षणिक सुख तो कदाचित् मिल भी जाय, किंतु भगवान् रामकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्य-मार्गपर चलकर दुनियादारी निभाना और असत्य-मार्गपर चलकर रामकी प्राप्ति दोनों ही असम्भव हैं।

कवि रहीमको सांसारिकतामें उलझे रहने अर्थात् सत्य-मार्गसे च्युत रहनेका कदाचित् बड़ा क्षोभ हुआ, उन्होंने कहा—

राम-नाम जान्यो नहीं, जान्यो सदा उपाधि।
कहि रहीम तिहिं आपुनो, जनम गँवायो बादि॥

कवि रहीमको पछतावा इस बातका था कि सदैव सांसारिक विषय-वासनाओंमें लिप्त रहनेके कारण वे राम-नामका महत्त्व नहीं समझ पाये, जिससे रामकी प्राप्ति नहीं हो सकी। जो कुछ जाना-समझा वह सब सांसारिक उपाधि (मोह, माया, विषय, वासना आदि)-मात्र थी, जिससे सारा जन्म व्यर्थ हो गया। इसी पछतावेको वे इस प्रकार बताते हैं—

राम-नाम जान्यो नहीं, भइ पूजा में हानि।
कहि रहीम क्यों मानिहैं, जम के किंकर कानि॥

राम-नामका महत्त्व जाने बिना थोथी पूजा करनेसे बात बिगड़ गयी। राम-नामका जाननेवाला तो राममें लीन हो जाता है। स्वयं राममय हो जाता है। उसके लिये बाह्याडम्बरका कोई महत्त्व नहीं होता। पछतावा और भय इस बातका है कि थोथी पूजासे सद्गति नहीं होगी तथा यमदूतोंको भी इस थोथी पूजासे भरमाया नहीं जा सकता।

दिनभरका भूला यदि शामको घर वापस आ जाय तो उसे भूला नहीं कहते। रहीम कविने राम-कथाका स्वाध्याय किया। रामको जाननेका यह प्रथम चरण था। कदाचित् अहल्या-उद्धार-प्रसङ्गतक पहुँचे तो उन्हें अनुभव हुआ कि सारी दुनिया रामको पानेको आतुर है। उन्होंने कहा—

धूर धरत नित सीस पै, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥

राम-कथा-स्वाध्याय-क्रममें कवि रहीमको प्रेमी भरतके चरितने बहुत प्रभावित किया। तुलसीबाबाके कथन—*'जगु जप राम रामु जप जेही'* अथवा *'जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥'* या *'सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना'*—ने भरतकी महानताकी अमिट छाप रहीमके हृदयपर डाली और वे विचारक तो थे ही, कह उठे—

अनुचित बचन न मानिए, जदपि गुरायसु गाढ़ि।
है रहीम रघुनाथ ते, सुजस भरत को बाढ़ि॥

रामने माता-पिताकी आज्ञा मानी और राज-पाट त्यागकर वन-गमन किया। वनमें कितनी विपदाएँ सहीं। भरतने मा कैकेयीके वचनको नहीं माना और अयोध्याका राज्य त्यागकर रामकी चरण-पादुकाको राज्य कराया, किंतु फिर भी रामसे भी अधिक भरतके त्यागको महान् बताया गया तथा स्वयं भगवान्‌ने भरतकी प्रशंसा की है। इसीलिये रहीम कविने व्यवस्था दी कि अनुचित आदेशका पालन नहीं करना चाहिये।

रहीम कदाचित् सीता-हरण-प्रसङ्गसे दुःखी हुए और लौकिक दृष्टिसे भवितव्यताको प्रधान बताते हुए कहा—

राम न जाते हरिन सँग, सीय न रावन साथ।
जो रहीम भावी कतहुँ, होत आपुने हाथ॥

यह भावी ही थी कि राम मृगया करने गये और

सीताका हरण हुआ; यदि भावी अपने वशकी चीज होती तो राम क्यों हरिणके पीछे जाते, क्यों सीताका हरण होता, किंतु भावीपर किसीका वश नहीं होता।

भगवान् रामकी दानशीलतासे कवि रहीम इस प्रकार प्रभावित हुए कि वे कह उठे—

माँगे मुकरि न को गयो केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो ते रहीम रघुनाथ॥

लोकरीति यह है कि माँगनेवालोंसे सभी बचते हैं। यदि कोई यह समझ ले कि उसका साथी कुछ माँगेगा तो उसका साथतक छोड़ देता है, किंतु भगवान् राम तो ऐसे दानी हैं कि वे माँगनेके पहले ही दे देते हैं। रावणने भगवान् शंकरको अपने सिर काटकर चढ़ाये जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने रावणको लङ्काका राज्य दिया, किंतु उसी लङ्काके राज्यको भगवान् रामने विभीषणको बिना माँगे ही दे दिया और वह भी इस संकोचके साथ कि 'यह बहुत कम है।'

राम-कथाके स्वाध्याय एवं चिन्तनसे ही कदाचित् कविवर रहीमको इस बातका विश्वास हो गया कि इस भवसागरसे पार उतरनेके लिये भगवान् रामका ही एकमात्र सहारा है, अतः प्रेमसे उन्हींके शरणागत होना चाहिये। उन्होंने कहा—

गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत-उधार कर, और न कछू उपाव॥

इस संसाररूपी सागरको पार करनेके लिये मात्र एक ही साधन है—भगवान् रामकी शरणागतिरूपी नाव; इसके अतिरिक्त संसारसे उद्धारका और कोई उपाय नहीं।

अन्तमें रहीमने प्रभु श्रीरामजीके सम्मुख आत्मसमर्पण किया और कहा—

मुनि नारी पाषान ही, कपि पसु, गुह मातंग।
तीनों तारे रामजू, तीनों मेरे अंग॥

आशय यह कि भगवान् रामने गौतम-नारी अहल्या, जो पाषाण बन गयी थी उसे तार दिया। वानर-जैसे पशुओंको तार दिया और निषाद-जैसे नीचको तारा तो रहीम कहते हैं कि मुझे भी तारो, क्योंकि पाषाणवृत्ति, पशुवृत्ति और नीचवृत्ति मुझमें तो तीनों है। मेरा हृदय पाषाण है, मेरी वृत्ति पाशविक है और मेरी प्रवृत्ति गुहकी भाँति नीच है। समर्पणके पश्चात् शरणागत-वत्सल भगवान् राम शरण देते ही हैं। उन्होंने तो कहा है—

जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(रा०च०मा० ५।४८।२—७)

यही नहीं भगवान् रामने यह भी तो कहा है—*'मम पन सरनागत भयहारी'*। कविवर रहीमको भगवान् रामका उक्त प्रण याद हो आया और वे भगवान् रामके शरणागत होकर अपनी सद्गतिके लिये तो सुनिश्चित ही हो गये, साथ ही भवसागर पार होनेका मार्ग—भगवान्‌की प्रेमा-भक्तिका आश्रय भी बता गये। धन्य है कविवर रहीमका भगवत्प्रेम!

महाकवि घनानन्दका प्रेम-निवेदन

(डॉ० श्रीलखनलालजी खरे, एम०ए०, पी-एच०डी०)

हिन्दी-साहित्यके इतिहासके भक्तिकालमें भगवत्प्रेमकी जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी, रीतिकालकी वासनाजन्य कविताने उसे प्रदूषित करनेका प्रयत्न किया, परंतु घनानन्द-जैसे अनन्य साधकोंकी सजगतासे उसकी पावनता कलुषित न हो सकी। रीतिकालमें घनानन्दने प्रेमके जिस उदात्त स्वरूपको अक्षुण्ण रखा, वह अन्यत्र दुर्लभ है। मानसमें राघवेन्द्र सरकार स्पष्ट कहते हैं कि वे निर्मल हृदयवालोंको ही प्राप्य हैं, उन्हें छल-छिद्र नहीं सुहाते। निर्मल हृदय ही प्रेमका स्रोत है। कविवर घनानन्द भी यही कहते हैं—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

घनानन्दकी प्रेमयात्रा स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर हुई है। इनका लौकिक तथा मांसल प्रेम कालान्तरमें कृष्णप्रेममें परिणत हो गया; वह लौकिकसे अलौकिक हो गया।

दिल्लीसम्राट् मुहम्मदशाह रंगीलेके मीरमुंशी घनानन्द मधुर कण्ठके धनी गायक थे और दरबारकी ही एक गणिका—सुजानपर आसक्त थे। ईर्ष्यालु दरबारियोंके षड्यन्त्रके कारण बादशाहने इन्हें राज्यसे निकाल दिया। घनानन्दने सुजानसे अपने साथ चलनेकी मनुहार की, पर उसने निर्ममतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। घनानन्दकी आँखोंपर पड़ा मोहावरण छिन्न हो गया। व्यथित होकर वे मथुरा आ गये और श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंमें समर्पित हो गये। अपने आराध्यपर अपनी प्रेमिकाके नामको भी न्योछावर कर दिया, श्रीकृष्णको ही उन्होंने सुजान बना दिया।

घनानन्दकी भक्तिमें समर्पणका भाव सर्वाधिक है और यही तत्त्व प्रेमका प्रथम तथा अनिवार्यस्वरूप है। राधामाधवके प्रति प्रेम-निवेदनमें भक्त अनुभूतिपूर्वक मङ्गलमयी आरती उतारता है—

नेह सों भोंय संजोय धरी हिय दीप दसा जु भरी अति आरति,
रूप उज्यारे अजू ब्रजमोहन, सौंहनि आवनि ओर निहारति।
रावरी आरति बावरी लौं घनआनँद भूलि वियोग निवारति,
भावना धार हुलास के हाथनि मोहित मूरति हेरि उतारति॥

घनानन्दकी दृष्टिमें प्रेम संसार और जीवनका महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्रेमपन्थ ज्ञानपन्थसे भी श्रेष्ठ है। इसमें प्रिय और प्रियतमके मध्य द्वैतभाव सर्वथा तिरोहित हो जाता है। प्रेमकी वृत्ति सर्वथा निर्मल है, जिसे धारण करनेसे समस्त वासनाएँ विलुप्त हो जाती हैं और अन्तःकरण विशुद्धानन्द-रस-वर्षणसे आप्लावित हो जाता है—

चंदहि चकोर करे सोऊ ससि देह धरै,
मनसा हू रैरे एक देखिबे को रहै द्वै।
ज्ञान हू ते आगे जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजाबे ता में भोगी भोग जात ग्वै॥

सं० १७९६ में मथुरापर नादिरशाहने आक्रमण किया। 'यह बादशाहका मीर मुंशी था। अतः इसके पास धन बहुत होगा'—यह सोचकर सिपाही 'जर-जर' कहकर उनसे धनकी माँग करने लगे। विरक्त संन्यासी घनानन्दने 'जर' का उलटा 'रज-रज' कहकर मथुराकी पावन धूल उनकी ओर उछाल दी। क्रोधान्ध सिपाहियोंने इनका वध कर दिया। मृत्युके समय हृदयकी समस्त पीड़ा उनके निम्नलिखित पदमें ध्वनित हो उठी—

बहुत दिनान को अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मनभावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वै कै,
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे हैं आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

निजानन्दाचार्य श्रीदेवचन्द्रजीकी प्रेमोपासना

(स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी)

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी साधकको समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। वे उसे चेतनाके उस शिखरपर ले जाते हैं जहाँ भेदभाव मिट जाता है और भिन्नताओंके बीच एकता एवं सामञ्जस्यका दर्शन होने लगता है। निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजीके दर्शनमें ज्ञान, कर्म और भक्तिका समन्वय है, परंतु उनका प्रेमी हृदय अधिक प्रबल है तथा इसी कारण योग एवं बोधसे अधिक महत्त्व वे प्रेमको देते हैं। साधनाकी त्रिपुटीमें यदि योग और बोध आधारबिन्दुओंपर है तो प्रेम शीर्षबिन्दुपर। प्रेम सर्वोपरि है, उसके समान कुछ दूसरा नहीं है—

इसक बड़ा रे सबन में, ना कोई इसक समान।
एक तेरे इसक बिना, उड़ गई सब जहान॥

देवचन्द्रजीके लिये प्रेम ही परमात्मा है—परमात्मा निर्गुण-निराकार ब्रह्म नहीं, बल्कि रसमय है। प्रेम ही उसका स्वरूप है। भक्त न तो भुक्ति चाहता है, न मुक्ति, वह तो मात्र प्रभुका प्रेम और अनुग्रह चाहता है। प्रेम ही उसका सर्वस्व होता है। यही कारण है कि वह सारूप्य न चाहकर प्रभुका सांनिध्य चाहता है। ब्रह्मके साथ तादात्म्य स्थापित कर ब्रह्म बन जानेमें कोई आनन्द नहीं है, आनन्द तो उसका सांनिध्य-लाभ करने—उसका रस लेनेमें है—

रे पिरीअम मैगा सो लाड़ करे।
एहड़ी किज कां मुदसे खिलंदडी लगां गरे॥

अर्थात् हे प्रियतम! लाड़ करके माँगती हूँ। मुझसे कुछ ऐसा स्नेह दिखा कि हँसती हुई तेरे गले लग जाऊँ। भक्त अपनी भावनाके अनुरूप प्रभुकी मूर्ति देखता है, उससे सम्बन्ध जोड़ता है। वह परमात्माको स्वामी, पिता, माता, सखा, पुत्र, प्रेमी आदि विभिन्न रूपोंमें देखता है। इस कारण दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि भावोंसे भक्त परमात्माकी उपासना करता है। परंतु ये जितने प्रकारके सम्बन्ध हैं, उनमें सबसे सरस और मधुर सम्बन्ध प्रेमी-प्रियतमका सम्बन्ध है। इसी कारण निजानन्दाचार्यने मधुरभावकी साधनाको सर्वोपरि महत्त्व दिया है। उन्होंने परमात्माको प्रियतम माना है और आत्माको प्रेमिका। इनके बीच प्रेमका सम्बन्ध है, आत्मा और परमात्माका वर्णन वे दर्शनकी वैचारिक पदावलीमें नहीं करते, बल्कि इसके लिये रागात्मक पदोंका व्यवहार करते हैं। वे परमात्माको प्रियतम, साजन, पिया, साईं, दूल्हा, खसम, आशिक़, महबूब आदि शब्दोंसे अभिहित करते हैं—

तू धणी, तू कांध, तू मूजो, तू खसम।
ही मंगाथी लाडमें, जानी मूर रसम॥

अर्थात् आप मेरे स्वामी हैं, मालिक हैं और पति हैं। अपने घरकी मूलरीति—कुलधर्म जानकर मैं यह लाड़ माँगती हूँ। परमात्मा परम पुरुष हैं, वे ही एकमात्र पुरुष हैं और बाकी सारी आत्माएँ उनकी प्रियतमाएँ हैं—

पुरुष दूजा कोई काहूं न कहावे।
सबों भजिया कर भरतार॥

परमात्मा पति है और आत्मा उसकी दुलहन!

गोता खदे वेई उमर, पट सूकें पाणी।

परमात्माके बिना एक-एक पल एक-एक युगकी भाँति प्रतीत होता है, काटे नहीं कटता—

तम बिना जे घड़ी गयी, अमें जाण्या जुग अनेक।
ए दुख मारो साथ जाणे, के जाणे जीव बसेक॥

भूलवश परमात्मासे अलग हो जानेके कारण आत्मा कटी हुई लताकी भाँति मुरझा गयी है। अब परमात्माके बिना रहा नहीं जाता। बार-बार हृदय भर आता है और संसार अग्नितुल्य लगता है—

अब हम रह्यो न जाव ही, मूल मिलावे विन।
हिरदे चढ़-चढ़ आवही, संसार लगत अगिन॥

परमात्मा ही जीवनकी सरसता है। उसके विना जीवन मरुभूमिकी भाँति विरहज्वालामें जल रहा है। परम धाममें परमात्माके मिलनका जो आनन्द आत्माको हुआ था, उसकी तो अब स्मृतितक शेष नहीं है। संसार-विरहके दुःखने तो अब मिलन-सुखकी स्मृतितक भुला दी है। हृदय वीरान हो गया है। अब तो उस सुखका स्मरणतक नहीं आता—

हिन सुखे सदिदुं गालियुं आडंन अलेखे।
हियडो मूंसुं कीं कियो, हिये न अच्येते॥

परमात्मासे आत्मा अपनी ही दुर्बलताके कारण अलग हो गयी है। तत्त्वतः आत्मा परमात्मासे अभिन्न है; परंतु माया, अज्ञान या अविद्याके कारण वह परमात्माको—अपने परमाश्रय और स्वामीको भूल बैठी है तथा इसी कारण वह दुःख भोग रही है—

घणी मूहजी महका, मिनी वेंड़ं विसगडं।
पेड़ंस ते पेंचनपं, गड़ी जाग वड़ाडं॥

नींदकी अवस्थामें जैसे व्यक्ति स्वप्नमें खो जाता है—अपने स्वरूपको भूल जाता है और असत्य—मायामें भटकने लगता है, उसी प्रकार आत्माएँ भवनिशामें खो गयी हैं, वे मायाका शिकार हो गयी हैं और अज्ञान तथा स्वप्नमें अपनी भूलसे ही परमात्मासे जुदा हो गयी हैं। अलग होकर वे परमात्माके लिये तड़प रही हैं—

ज्यों नींद में देखिये सुपन, यो उपजे हम ब्रज वधु जन।
उपजत ही मन आसा घनी, हम कब मिलसी अपने धनी॥

जगत् माया या मिथ्या होनेके कारण कभी उसकी पकड़में आ ही नहीं सकता। परमात्मा ही उसका एकमात्र अवलम्ब है।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी मानते हैं कि प्रियतमके बिना उनकी पुकार सुननेवाला कोई अन्य नहीं है। वास्तवमें प्रत्येक खोज परमात्माकी ही खोज है—प्रत्येक प्रेम श्रीकृष्ण-प्रेम है। बाह्य वस्तुओंके प्रति हमारा आकर्षण इसीलिये है कि बाहर हम उनका प्रतिबिम्ब पाते हैं, परंतु बाहर उनकी तलाश करना मात्र छायाके पीछे भागना है। परमात्मा तो हमारे भीतर समाया है।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी परमात्माका वास आत्मामें ही मानते हैं। यह हमारी भूल है कि हम संसारमें सुखकी तलाश करते हैं। मिथ्या जगत्‌में ही परम धामका सुख चाहते हैं, किंतु वह सुख मात्र परमात्मासे मिलनेपर ही सम्भव है। निजानन्दाचार्यजी कहते हैं—मैं यहीं बैठी अर्शका सुख माँगती हूँ और मेरे प्रियतम मुझे अपने घर बुलाते हैं—

हित वेही मंगू सुख अरसजा, धणी मिडन कोठे घर।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी स्वलीला 'द्वैत' में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार परमात्मासे आत्माका अलगाव भी उसीकी लीला है। जगत् परमात्माकी लीला है। परमात्मामें माधुर्यभाव या आनन्दतत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण वे लीला करते हैं। जो स्वरूपसे एक हैं वे ही लीलामें दो हो जाते हैं और इस प्रकार आत्मा एवं परमात्माका अलग स्वरूप दिखायी देता है—

स्वरूप एक है लीला दोय॥

परमात्मा और आत्माके बीच आँखमिचौनीका खेल चल रहा है। परमात्मा छिप गया है और आत्माएँ उसे ढूँढ़ रही हैं। उनके बीच मायाका परदा है और उसी परदेके पीछेसे परमात्मा प्रकट होते हैं—

रुहें विहारे रांदमें, पाण बैठ परदेह।
सुध न्हाए के रूहके, रांद न अच्चे छेह॥

परमात्मा आत्माके प्रति अपने प्रेमकी अभिव्यक्ति और आनन्दके विस्तारके लिये इस लीलाका आयोजन करते हैं।

रांद डिखारिये उमेदके, जगाइये लाड धारण॥

निजानन्दाचार्यजी प्रेमके इस विधानसे परिचित हैं—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग भी जलता है, हा! दीपक भी जलता है।

प्रेम कभी एकाङ्गी हो नहीं सकता। आत्मा यदि परमात्मासे प्रेम करती है—उसके विरहमें जलती है तो परमात्मा भी उससे कहीं अधिक प्रेम करता है, उसे तलाशता रहता है। परमात्मा तो प्रेमस्वरूप है—प्रेमका स्रोत है; अतएव वही सच्चा प्रेमी है। उसकी तुलनामें हमारा प्रेम नगण्य है।

निजानन्दाचार्यको अपने हृदयके साक्ष्यपर अटल विश्वास है कि प्रभु भी हमारे लिये तड़प रहे हैं और वे हमारे बिना एक पल भी नहीं रह सकते—

हे मूं दिल डिंनी साहेदी, तूं मूंदे रहे न दम॥

वास्तवमें परमात्माको वही जान सकता है, जिसे परमात्मा जना देते हैं। सब कुछ उसीकी करुणा और दयापर निर्भर है।

मनुष्यका पुरुषार्थ मात्र इतनेमें है कि वह सब आस-भरोस छोड़कर परमात्माके चरणोंमें अपने-आपको न्योछावर कर दे। जबतक आत्मा और परमात्माके बीचसे मायाका परदा नहीं उठ जाता, तबतक उसका दर्शन होना असम्भव है। वही आत्मा अपने स्वामीको सिर-आँखों ले सकती है, जिसकी राहमें कोई परदा या रुकावट नहीं है—

सामर गिंने पाणसे, जे आडो पर न कोए॥

निजानन्दाचार्यकी आत्मारूपी नायिका लाडवाली है, मानिनी है—वह स्वयं अपना घूँघट उठा नहीं सकती। वह तो मात्र समर्पण कर सकती है और जब वह ऐसा कर देती है तो प्रभु ही कृपापूर्वक उसका हाथ थामकर गले लगा लेते हैं।

समदर्शी थे। जीवनके प्रभातमें अतिसामान्य जीवन-यापन करनेवाले जायसी आगे चलकर अपने युगके पहुँचे हुए सूफी फकीर बन गये। दो विरोधी संस्कृतियोंके एकत्वके सफल प्रयोक्ताके रूपमें कविवर जायसीका स्थान अनुपम है। प्रेमपीरकी धड़कनके दिव्य आलोक जायसीने हिन्दुओंमें प्रचलित पद्मावती और रत्नसेनकी प्रेमगाथाका आश्रय लेकर गहरे सद्भाव तथा असीम भावुकताका परिचय दिया। प्रेम-गाथाओंकी अपनी सरस परम्परा रही है और जायसी सम्भवत: उसके दिव्य अलङ्कार थे। इनकी प्रेमोपेत रचना 'पदमावत' अद्वैत रहस्यवादका उत्कृष्ट उदाहरण है।

'पदमावत' महाकाव्यके 'प्रेमखण्ड'में प्रेमतत्त्वका निरूपण सूफी-प्रेमादर्शके आधारपर हुआ है। महाकवि जायसीका लक्ष्य प्रेमसाधनाके द्वारा प्रेमस्वरूप परमात्माकी अनुभूति और उपलब्धि कराना रहा है। यही कारण है कि 'पदमावत'में पदे-पदे प्रेमकी प्रदक्षिणा प्रथित है। कहीं वह अनुभूतिजन्य है, कहीं लौकिक और कहीं लोक-बन्धनसे परे आध्यात्मिक है; किंतु इन सबके मूलमें प्रेमका वह दिव्य रूप है, जो सरस सौन्दर्यकी अलौकिक आभासे व्यक्तिको अनुरक्त करता है। सूफी साधकोंकी दृष्टिमें ईश्वर (ख़ुदा) परम सौन्दर्यमय है एवं प्रेमालम्बनका एकमात्र वही अन्तिम अवस्थान है। मानवकी मूल प्रवृत्ति रागमयी है। मनुष्यकी आत्मा पूर्णतत्त्वकी प्राप्तिहेतु हमेशा प्रयत्नशील रहती है। सौन्दर्य, समत्व एवं पूर्णत्वकी ही अपर अभिधा है। मानवकी सम्पूर्ण साधनाका अन्तिम लक्ष्य इसी परम रूपकी उपलब्धि है। असीम सौन्दर्य-सागर ईश्वर-प्राप्तिका एकान्त आग्रह प्रेमका ही प्रतिरूप है। संसारके कण-कणमें परम प्रिय विभुका सौन्दर्य विद्यमान है। सौन्दर्यकी सत्ता ही संसारका आधार और सार है। उस अखण्ड सौन्दर्य-सत्ताकी उपलब्धि एवं अनुभूतिका एकमात्र माध्यम प्रेम है। जायसीने इसी प्रेमकी चिरन्तन भावनाका निरूपण कर सम्पूर्ण 'पदमावत'में प्रेमातिशयताका प्रकाश भर दिया है।

मुहमद चिनगी अनँग की सुनि महि गगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया जेहि सब आगि समाइ॥

इतना ही नहीं, जब हृदयमें प्रेम जाग्रत् होता है तो प्रेमीकी दशा मृत्युसे भी अधिक भयानक हो जाती है। प्रेमका पन्थ कण्टकाकीर्ण है अर्थात् प्रेमोपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है।

वास्तवमें प्रेमीको प्रेमास्पदसे मिलनेकी अदम्य इच्छा प्रेम-पथिक बननेके लिये विवश कर देती है। प्रेमी प्रेम-पथपर चलनेके लिये समयकी परवाह नहीं करता। उसके शरीरकी स्थिति अद्भुत हो जाती है। उसकी आँखोंमें प्रेमाश्रुमात्रका ही सम्बल होता है—*'पेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥ जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नयनन्हि आँसू॥'* प्रेमीका लक्ष्य प्रेमोपलब्धि ही होता है। उसे पाकर वह पुन: इस नश्वर संसारमें नहीं आना चाहता—*'पेम पंथ जौं पहुँचै पाराँ। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ॥ भलेहिं पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला॥'* दिव्य प्रेमोपलब्धिके उपरान्त प्रेमी कामनारहित हो जाता है अर्थात् निष्काम हो जाता है। ऐसे ही निष्काम प्रेमका अनुभव कराते हुए जायसीने कहा है—

न हौं सरग क चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेंति किछु काजू॥
चाहौं ओहि कर दरसन पावा। जेइ मोहि आनि पेम पथ लावा॥

ऐसी स्थितिमें प्रेमीको तीनों लोक चौदहों भुवनमें प्रेमके अतिरिक्त कुछ भी लावण्यमय नहीं दिखता—

तीन लोक चौदह खण्ड सबै परै मोंहि सूझि।
पेम छाड़ि किछु और न लोना जौं देखौं मन बूझि॥

इस प्रकार यह प्रेमतत्त्व आकाशमें अवस्थित ध्रुवतारेसे भी उत्तुङ्ग है। जिसने प्रेम-मार्गपर चलकर अपना सिर उतारकर जमीनपर नहीं रखा, उसका पृथ्वीपर आना ही व्यर्थ हो गया। प्रेमके बलपर ही मनुष्य वैकुण्ठका जीव बन पाता है, अन्यथा उसकी स्थिति एक मुट्ठी धूलके सदृश है—

मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूँठी॥

प्रेम और समुद्र समान हैं। दोनों ही अनन्त एवं अगाध हैं। जिस व्यक्तिने प्रेमसमुद्रका दर्शन कर लिया, उसे साधारण समुद्र बूँदके समान प्रतीत होता है—

औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुंद बरु लेखा॥

प्रेमतत्त्वका महिमाङ्कन करते हुए कवि कहता है कि जिसके हृदयमें प्रेमका निवास है, उसे अग्नि भी चन्दनके समान शीतल प्रतीत होती है। लेकिन प्रेमरहित हृदयके लिये अग्नि अत्यन्त भयावह है। प्रेमाग्निमें जलनेवालेका जलना कभी निष्फल नहीं होता—

जेहिं जिय पेम चँदन तेहि आगी। पेम बिहून फिरहिं डरि भागी॥
पेम की आगि जरै जो कोई। ताकर दुख अविरथा होई॥

जायसी आपादमस्तक प्रेमसे सराबोर थे। उन्होंने परम सौन्दर्यमय परमात्माकी अतुलनीय छविके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे 'पदमावत'की लौकिक कथाको प्रतीकात्मक आधार बनाया। साथ ही अपनी अन्तर्मुखी प्रेमसाधनाका विलक्षण परिचय भी दिया। लौकिक आख्यानके रूपमें रत्नसेन-पद्मावतीका प्रेम-वर्णन भी बहिरङ्गमें परिलक्षित होता है, मगर अन्तरङ्गकी आभा आध्यात्मिक प्रेमसे ओत-प्रोत है। रत्नसेनकी परिस्थितियोंकी प्रस्तुतिमें कविने प्रेमकी प्रभावमयताका अति संवेदनशील वर्णन किया है—

पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागे जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुँद अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा॥

जायसीकी लेखनीसे ऐसे प्रेमका चित्रण हुआ है जो इश्क़ मजाज़ी (लौकिक प्रेम)-के द्वारा इश्क़ हक़ीक़ी (आध्यात्मिक प्रेम)-तक साधकको पहुँचाता है। 'पदमावत'में जिस प्रेमतत्त्वकी अभिव्यञ्जना हुई है, वह नायक-नायिकाके मध्य पल्लवित होनेवाला लौकिक प्रेम नहीं है, वरन् आत्मा और परमात्माके मध्य विकसित होनेवाला आध्यात्मिक प्रेम है; जिसकी अभिव्यञ्जना कवि कथा-प्रसङ्गों एवं घटनाओंके मध्य करता चलता है।

'पदमावत' महाकाव्यमें रत्नसेन 'आत्मा' और पद्मावती 'परमात्मा' का प्रतीक है। इन्हीं दोनों पात्रोंके प्रेमाख्यानोंके माध्यमसे कविने आध्यात्मिक प्रेमका संकेत दिया है। कवि तो सम्पूर्ण सृष्टिको ही उसी परमतत्त्वके प्रेमका प्रतिफल मानता हुआ कहता है—

सँवरौं आदि एक करतारू। जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू॥

'पदमावत'की कथाके मध्य लौकिक प्रेमका वर्णन करते हुए जायसीने अलौकिक प्रेम-व्यञ्जनाकी ओर ही संकेत दिया है। हीरामन तोता सूफी पन्थानुसार गुरु है। कविने तोतेके माध्यमसे ही सूफी प्रेमतत्त्वका निरूपण किया है। पद्मावतीके नख-शिखका वर्णन करता हुआ हीरामन तोता बीच-बीचमें उस परमसत्ताके अलौकिक सौन्दर्यकी झलक तथा आध्यात्मिक संकेत भी देता चलता है। जायसीके आध्यात्मिक प्रेमतत्त्वकी एक विशेषता है—विरहकी व्यापकता। मूर्च्छित होनेपर भी नायक रत्नसेन (जीव)-को ध्यानमें पद्मावतीरूपी 'परम ज्योति'के सामीप्यकी आनन्दमयी अनुभूति होती रहती है। वह संसारसे विरत होकर प्रेमसमुद्रमें डूब जाता है—

अठहु हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्ह जानहु निअरें कर पहुँचत अवगाह॥

इस प्रकार जायसीने जगत्के नाना व्यापारोंको प्रेमकी आध्यात्मिक छायासे प्रतिभासित माना है। इसी आध्यात्मिक विरहसे अभिभूत हो 'रत्नसेन' (साधक, जीव) अति व्याकुल हो 'पद्मावती' (परमात्मा)-की ओर आकृष्ट होता है। 'गुरु' (हीरामन तोता) 'ब्रह्म' (पद्मावती)-की प्राप्तिमें सम्पूर्ण मार्ग-दर्शन करता है।

इस प्रकार कविने कथा-प्रसङ्गोंके माध्यमसे लौकिक प्रेम और सौन्दर्यके मध्य आध्यात्मिक प्रेमका अनुपम संकेत दिया है।

अन्तमें प्रेमपीरके गायक जायसीने अपनी प्रेमानुभूतिके द्वारा अपने आध्यात्मिक प्रेमके मधुमय रहस्यको खोलकर रख दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेई पंथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

(इं० प्र० सिं०)

संत सुन्दरदासजीकी प्रेमोपासना

(डॉ० श्रीनरेशजी झा, शास्त्रचूडामणि)

हिन्दी-साहित्यके भक्तिकालमें महाकवि गोस्वामी संत तुलसीदासजीके समकालीन (वि० सं० १६५३—१७४६) कविवर संत सुन्दरदासजीका महिमामण्डित स्थान है। ये विख्यात संत दादूजीके पट्टशिष्योंमें अग्रणी विद्वान् शिष्य थे। इन्होंने काशीमें ही (वि० सं० १६६४—१६८२) रहकर विविध शास्त्रोंका गहन अध्ययन किया था। ये मूलत: द्यौसा (जयपुर-राजस्थान)-के निवासी थे। संस्कृत शास्त्रोंके विद्वान् होते हुए भी इन्होंने सामयिक परम्पराके अनुसार अपनी समस्त रचनाएँ लोकभाषा (हिन्दी, राजस्थानी, व्रज आदि)-में ही की हैं। संत-साहित्यकी अभिवृद्धिमें इनका प्रमुख योगदान है। इनकी रचनाओंमें ज्ञानसमुद्र, सर्वाङ्ग-योगप्रदीपिका, पञ्चेन्द्रिय-चरित्र आदि सुप्रसिद्ध हैं।

इन ग्रन्थोंमें मानवके आध्यात्मिक उत्थानके लिये नवधा भक्तिसहित अनेक आवश्यक अङ्गोंकी भी विस्तृत विवेचना की गयी है। इनमें परा-भक्तिका वर्णन तो सर्वातिशायी है। विद्वानोंका मत है कि भाषा-साहित्यमें ऐसा प्रतिपादन विरला ही प्राप्त होता है। *'मिलि परमातम सों आतमा परा भक्ति सुन्दर कहै'* यह भक्ति-विज्ञानकी पराकाष्ठा है। इसी नवधा भक्तिके अन्तर्गत 'प्रेमलक्षणा' भक्ति कही गयी है। यह प्रेमलक्षणा-भक्ति भगवत्प्रेमके अन्तर्गत आती है।

अत: प्रसङ्गोपात्त इसका स्वरूप 'ज्ञानसमुद्र' से पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुत: संत कवि सुन्दरदासजीका यह ग्रन्थ विविध छन्दोंमें ग्रथित संत-साहित्यका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। संत सुन्दरदासजीके ग्रन्थोंमें सब कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है। देखिये प्रेमलक्षणा-भक्तिके स्वरूपमें ज्ञानसमुद्रका एक उदाहरण—

श्रीगुरुरुवाच

सिष्य सुनाऊँ तोहि, प्रेमलच्छना भक्ति कौं।
सावधान अब होइ, जो तैरैं सिर भाग्य हैं॥
प्रेम लग्यो परमेस्वर सौं, तब भूलि गयो सब ही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैकु रही न सरीर सँभारा॥
साँस उसास उठैं सब रोम, चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा बिधि, छाकि पर्यौ रस पी मतवारा॥
न लाज काँनि लोक की, न वेद कौ कह्यौ करै।
न संक भूत प्रेत की, न देव यक्ष तें डरै॥
सुनै न कौन और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न कछू और बात, भक्ति प्रेम लच्छना॥
निस दिन हरि सौं चित्तासक्ती, सदा ठग्यौ सो रहिये।
कोउ न जानि सकै यह भक्ती, प्रेमलच्छना कहिये॥
प्रेमाधीना छाक्या डोलै। क्यौं का क्यौं ही वाँनी बोलै॥
जैसे गोपी भूली देहा। ताकौं चाहै जासों नेहा॥
कबहूँकै हँसि उठै नृत्य करि, रोवन लागै।
कबहुँक गदगद कंठ, सब्द निकसै नहिं आगै।
कबहुँक हृदय उमंगि, बहुत ऊँचे स्वर गावै।
कबहुँक कै मुख मौनि, मगन ऐसैं रहि जावै॥
चित्त वृत्त हरिसों लगी, सावधान कैसैं रहै।
यह प्रेम लच्छना भक्ति है, शिष्य सुनहि सुंदर कहै॥
नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु सिसु जैसे,
पीर जाकैं ओषधि बिनु, कैसैं रह्यौ जात है।
चातक ज्यौं स्वातिबूँद, चंद को चकोर जैसें,
चंदन की चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन कौं धन चाहैं, कामिनी कौं कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ता कौं, कछु न सुहात है।
प्रेम कौ भाव ऐसौ, प्रेम तहाँ नेम कैसौ,
'सुन्दर' कहत यह, प्रेम ही की बात है॥
यह प्रेम भक्ति जाकैं घट होई, ताहि कछू न सुहावै।
पुनि भूख तृषा नहिं लागै वाकौं, निस दिन नींद न आवै॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैंन हु नीझर लायौ।
ये प्रगट चिन्ह दीसत हैं, ताकै प्रेम न दुरै दुरायौ॥
प्रेम भक्ति यह मैं कही, जानैं विरला कोइ।
हृदय कलुषता क्यौं रहै, जा घट ऐसी होइ॥

वैदिक संहिताओंमें भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीभवानीलालजी भारतीय)

यदि हम भारतीय आर्यशास्त्रोंका सम्यक् अवगाहन करें तो हमें ज्ञात होगा कि भगवत्प्रेमकी पावन गङ्गा इन शास्त्रोंमें आद्यन्त प्रवाहित होती रही है। वेदादि सभी शास्त्रोंमें भगवत्प्रेमको मनुष्यके जीवनका अन्तिम प्राप्य तथा लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

मन्त्रसंहिताओंमें भगवत्प्रेम नाना रूपोंमें वर्णित है। वस्तुत: किसीसे प्रेमसम्बन्ध स्थापित करनेसे पूर्व हमें यह निर्धारित करना होगा कि जिससे हम प्रेम करने जा रहे हैं, उससे हमारा सम्बन्ध क्या है और कैसा है? सेव्य-सेवकभाव, सखाभाव, पिता-पुत्रभाव और दाम्पत्यभाव आदि तत्त्वोंको देखकर प्रेमके स्वरूपका निरूपण किया गया है। वेदोंमें उपर्युक्त सभी सम्बन्धोंके सूचक मन्त्र मिलते हैं, जिनके आधारपर वेदोक्त भगवत्प्रेमका विशदीकरण किया जा सकता है। वेदोंमें परमात्माको भक्तके माता और पिताके रूपमें उल्लिखित किया गया है। माताका वात्सल्य और पिताका संरक्षण-भाव—ये दो ऐसी मनोभूमियाँ हैं, जिनकी समानता कदाचित् ही कहीं मिलती हो। ऋग्वेदका निम्नलिखित मन्त्र परमात्माको पिता और माता—दोनों कहकर सम्बोधित करता है—

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(८।९८।११)

हे समस्त ब्रह्माण्डको स्वयंमें समाहित करनेवाले परमात्मदेव! आप ही हमारे पिता एवं माता हैं। हम आपसे भद्र और कल्याण चाहते हैं।

ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रमें बहुतोंसे स्तुत एवं प्रशंसित इन्द्रको पिता कहा गया है और उनसे याचना की गयी है कि वे हमें उसी प्रकार शिक्षित करें, जैसे एक प्रेममय पिता अपनी संतानको सुशिक्षित करता है तथा उसे कर्तव्य-पालनका उपदेश देता है—

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

(७।३२।२६)

भगवत्प्रेम अलौकिकता लिये होनेपर भी सांसारिक सम्बन्धोंकी उपमाओंको लेकर चलता है। यों तो मानवीय सम्बन्धोंमें पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी और भाई-भाई आदिके सम्बन्ध पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण माने गये हैं; किंतु बन्धुभाव या मैत्री अथवा प्रेम-सम्बन्धकी कुछ अपनी अलग ही विशेषता होती है। लोकमें हम देखते हैं कि कभी मनुष्य ऐसी विषम स्थितिमें जा पहुँचता है, जिसे अपने निकटस्थ आत्मीयको बतानेमें भी वह संकोच करता है। कई ऐसे रहस्य होते हैं, जिन्हें हम प्रत्येक स्थितिमें गोपनीय रखते हैं। पिता, माता और भाईकी बात तो दूर रही, अपनी सहधर्मिणीको भी नहीं बताते, किंतु अपनी इस गोपनीय वार्ताको अपने प्रेमी सखा या बन्धुसे कहनेमें हमें कोई संकोच नहीं होता। हमें यह विश्वास है कि इस विपत्तिसे बचानेका कोई कारगर उपाय हमारा यह बन्धु या सखा तो अवश्य बता ही देगा। वेदोंमें अनेकत्र परमात्माको बन्धु कहकर सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेदका निम्नलिखित मन्त्र परमात्माको बन्धु, जनिता और विधाता कहकर सम्बोधित करता है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।

(३२।१०)

निखिल भुवनोंको जाननेवाला सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी परमात्मा हमारा बन्धु, जन्मदाता तथा हमारे भाग्यका विधान करनेवाला है। परमात्माके इस दिव्य प्रेम तथा उसके साथ भक्तके विविध सम्बन्धोंकी काव्यात्मक व्यञ्जना वेदमन्त्रोंमें अनेकत्र मिलती है।

पिता-पुत्रके प्रेमसम्बन्धको भगवान् तथा भक्तके प्रेममें अवतरित करनेवाली ऋग्वेदकी निम्नलिखित ऋचा कितनी भावनापूर्ण है—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥

(१।१।९)

अर्थात् 'हे परमेश्वर! जैसे पिता अत्यन्त प्रेमसे अपनी संतानोंको सुख देता है, वैसे ही आप हमको पुरुषार्थसे आनन्दयुक्त करके नित्य हमारा पालन करें; क्योंकि आप ही हमलोगोंके पिता हैं। हमको सुख देनेवाले एक आप ही हैं।'

वैदिक-ऋचाओंमें समर्पण एवं प्रेम-भाव

(प्रो० श्रीराजेन्द्रजी 'जिज्ञासु')

ईश्वरकी सत्तापर पश्चिममें जो एक पुस्तक लोकप्रिय हुई थी—फलिण्ट महोदयकी 'Theism' [थीइज़्म] और आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीके अनुसार अपने देशमें ईश्वरकी सत्तापर जो सर्वश्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित हुई वह है पं० गंगाप्रसादजी उपाध्यायद्वारा लिखित 'आस्तिकवाद'। 'आस्तिकवाद' के लेखकने इसी विषयपर उर्दूमें भी 'बारी ताला' नामसे एक बेजोड़ पुस्तक लिखी। ईश्वरविषयक इन दो अद्वितीय ग्रन्थोंके लेखकने अपने एक दार्शनिक ग्रन्थमें भक्त एवं भगवान्के भक्तिभाव या प्रेमको दर्शानेके लिये ऋग्वेदकी एक अनूठी सूक्ति दी है। भक्त तथा भगवान्के प्रेमभावके सम्बन्धमें संसारमें कहीं भी किसीने ऐसी मार्मिक सूक्ति नहीं लिखी। ऋग्वेद कहता है—**'त्वमस्माकं तव स्मसि'**। (८। ९२। ३२)

अर्थात् प्रभो! आप हमारे हैं और हम आपके हैं। इस सूक्तिपर ग्रन्थ-लेखकने ठीक ही लिखा है—'यही सम्बन्धकी पराकाष्ठा है। यहाँ सब उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं। इससे अधिक क्या कहना चाहिये, समझमें नहीं आता।' चारों वेदोंमें और भी कई ग्रन्थोंमें इस प्रेमभावको बहुत सुन्दर एवं हृदयस्पर्शी शैलीमें दर्शाया गया है। संसारके सब मतों, पन्थों एवं ग्रन्थोंपर इस वैदिक विचारधाराकी छाया स्पष्ट दिखती है।

कहते हैं कि एक बार लार्ड हार्डिंग हिन्दुओंके एक विराट् समारोहको देखने एक हिन्दू-तीर्थपर आये। वहाँ महामना पं० मदनमोहन मालवीयजीसे उनकी कुछ धर्म-चर्चा चल पड़ी। लार्ड हार्डिंगने कहा—देखिये, हमारे ईसाई-मतकी यह विशेषता है कि हम प्रभुको प्यारसे 'Heavenly Father' (आकाशस्थ पिता) कहकर सम्बोधित करते हैं। झटसे भारतभूषण मालवीयजी बोले—आप तो परमात्माको पिता कहकर पुकारते हैं हमारे धर्ममें—वेदशास्त्रमें इससे भी कहीं ऊँची व सूक्ष्म विचारधारा आपको मिलेगी। वेदमें आता है—

'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे॥' (ऋग्वेद ८। ९८। ११)

इस ऋचामें प्रभुको पिता और माता भी कहा गया है। पितासे कहीं अधिक माता बच्चेसे प्यार करती है।

अजमेरमें एक पादरी 'ग्रे' रहते थे। उन्नीसवीं शताब्दीके ईसाई पादरियोंमें उनका विशिष्ट स्थान था। उन्होंने भी एक बार हुतात्मा पं० लेखरामजीसे कहा था कि वेदमें ईश्वरविषयक कोई अच्छी शिक्षा नहीं है। हमारे धर्मग्रन्थ 'बाइबिल'में तो परमात्माको पिता कहा गया है। पं० लेखरामजीने कहा कि वेदमें तो इससे भी आगे परमेश्वरको माता, पिता, बन्धु तथा सखा कहा गया है। हाँ! तुम्हारा पिता आकाशस्थ है, वेद प्रभुको सर्वव्यापक मानता है। आपने वेदकी कई सूक्तियाँ जब 'ग्रे' महोदयको सुना दीं तो वे चुप हो गये। यथा—

'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता' (यजुर्वेद ३२। १०)

इस सूक्तिमें प्रभुको पिता, सखा एवं उत्पन्न करनेवाला कहा गया है।

'स नः पिता जनिता स उत बन्धुः' (अथर्ववेद २। १। ३)

यहाँ भी परमात्माको पिता, उत्पन्न करनेवाला एवं मित्र कहा गया है। ईश्वरसे सखा-भावका सम्बन्ध तो वेदकी एक अलौकिक देन है।

फ़ारसी-साहित्यमें सूफ़ी कवियोंमेंसे किसीकी ये पंक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हैं—

मन तू शुदम, तू मन शुदी। मन जाँ शुदम, तू तन शुदी॥
ता कस न गोयद बाद अज़ाँ। मन दीगरम, तू दीगरी॥

हिन्दीके महान् मनीषी चमूपतिजी 'चातक' ने इन पंक्तियोंको ऐसे अनूदित किया है—

तन दो रहें, मन एक हो, यह साधना है प्रेम की।
संगीत का स्वर साध लो, लय एक है बाजे कई॥

यहाँ फ़ारसी-पंक्तियोंका शब्दशः अनुवाद तो नहीं है, परंतु ईश्वरके प्रति भक्तिभाव तथा प्रेमभावको फ़ारसी कविसे भी कहीं अच्छे ढंगसे व्यक्त किया गया है। ऋग्वेदकी एक सूक्ति है—

'तमित् सखित्व ईमहे' (१। १०। ६)

अर्थात् हम ईश्वरसे सखापनके लिये प्रार्थी हैं।

'स नः पितेव सूनवे।' (१। १। ९)

जैसे पिता पुत्रपर दयालु है, वैसे ही प्रभु हम भक्तोंपर दया रखता है। अथर्ववेदमें एक स्थानपर परमेश्वर जीवोंको

सखा शब्दसे सम्बोधित करते हैं। उस मन्त्रपर मुग्ध होकर एक कविहृदय भक्तका मन-मयूर भाव-विभोर होकर हर्षसे पुकार उठा—

'मैं मीत पै वारी, दिलजीत पै वारी,
इस प्रीत पै वारी—मैं रीत (रीति) पै वारी।'

ऋग्वेद (१।१०१।१—७)-की ऋचाओंमें यह विनय है—'**मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।**' अर्थात् आओ मित्रो! हम सब प्रीतिपूर्वक परमात्माको सखा होनेके लिये गद्गद होकर पुकारें। इन्हीं वैदिक भावनाओंसे अभिभूत होकर संत श्रीतुकारामजीने प्यारे प्रभुसे प्रीतिपूर्वक अत्यन्त भक्तिभावसे जो कुछ कहा, उसे हम आजकी देशी भाषामें नोक-झोंक कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। श्रीतुकारामजी लिखते हैं—

नाहीं तरी तुज कोण ही पुसले। निराकारी लथें एकाकी॥

अर्थात् यदि मैं (तेरा उपासक—तुझसे प्रेम करनेवाला) न होता तो तुझ निराकार और अकेलेको कौन पूछता?

इसी भजनमें संत तुकारामजी अपने प्यारे प्रभुसे कहते हैं कि रोगने ही तो धन्वन्तरिको चमकाया। स्वस्थ मनुष्य वैद्यको क्यों पूछेगा? इसको आप नोक-झोंक तो कह सकते हैं, परंतु है यह प्रीतिपूर्वक। इसका रसास्वादन करनेके लिये हृदयकी सरलता एवं तरलता चाहिये। इस मृदुलताका रसपान वही कर सकता है, जिसने कभी माताकी गोदमें बैठे बालकको कल्लोल करते देखा हो। भक्तप्रवर तुकारामके इस प्रेमालापसे श्रद्धा छलकती है और इसमें अभिमानकी गन्ध लेशमात्र भी नहीं है।

जो व्यक्ति आजके तनावयुक्त विश्वमें अपने जीवनको सरस बनाना चाहते हैं, उन्हें अपने हृदयमें इस आस्तिक्य-भावनाका सञ्चार करना ही होगा। भाव-प्रदूषण तो जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण तथा ध्वनि-प्रदूषणसे भी कहीं अधिक घातक है। विश्वमें व्याप्त भाव-प्रदूषण जटिल मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक रोगोंका एक मुख्य कारण है। इस भाव-प्रदूषणरूपी महारोगकी एक ही औषधि है और वह है—करुणासागर, सुधासिन्धु, दयालु, कृपालु, न्यायकारी और परमानन्दरूप अपने प्रेमास्पद परमेश्वरके प्यारमें डूब जाना। संत तुकारामने प्रभु-प्रेममें डुबकी लगाकर ही इस अभङ्ग (भजन)-की रचना की थी।

आध्यात्मिक तथा मानसिक दु:खोंसे छुटकारा पाने या बचनेका प्रथम उपाय यही है कि मनुष्य भक्तिभावसे, प्रेमभावसे सायं-प्रात: प्रभुके अपार प्यार तथा उपकारोंका चिन्तन करे। मेरे प्रभुने सब कुछ—सारा जगत् मेरे लिये ही तो रचा है। अपने लिये उसने कुछ भी नहीं बनाया। मेरा शरीर मेरे लिये है। अपने आँखों, कानों, हाथों और पैरोंका मैं ही तो उपयोग-प्रयोग करता हूँ। सूर्य, चन्द्र, जल, वायु, अग्नि, फल, फूल एवं वनस्पतियाँ किसके लिये हैं? वह दाता-विधाता कभी स्वयं तो इनका प्रयोग करता नहीं। इन सबका लाभ मैं ही उठाता हूँ। जगत्का केन्द्र-विन्दु हम ही हैं, हम ही। मित्रो! स्मरण रखो कि समस्त आस्तिक जगत् सृष्टिका रचयिता तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमात्माको ही मानता है। प्रश्न यह है कि यह जगत् रचा क्यों गया? किसके लिये परमात्माने यह सृष्टि रची? वेद बड़े सरल, परंतु सारगर्भित शब्दोंमें इस पहेलीका उत्तर देता है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्य स्विद्धनम्॥

(यजु० ४०।१)

कण-कणमें व्यापक प्रभुने यह जगत् जीवोंके लिये रचा है। प्रभु इस मन्त्रमें जगत्के भोगोंको त्यागभावसे भोगनेका उपदेश एवं आदेश देते हैं। आज सम्पत्ति ही विपत्तिका कारण बन रही है। किसी पश्चिमी विचारकने '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:**' का मर्म जानकर ही तो यह लिखा था, 'Hoarding is the cause of all the miseries.' अर्थात् सञ्चय करते जाना ही सर्वदु:खोंका मूल है।

यह कथन तो प्रसंगवश आ गया। हम तो यहाँ यह दर्शा रहे थे कि जगत्के भीतर-बाहर व्याप्त प्रभुने जगत् रचा तो मेरे और आपके लिये, उसने भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियाँ बनायीं तो हमारे शुभ-अशुभ कर्मोंका फल प्रदान करनेके लिये, उस प्रभुने आँखसे पूर्व सूर्यको रच दिया, प्राणियोंको बनानेसे पूर्व पृथ्वी बना दी, जल बना दिया और वायु बना दी। आवश्यकतासे पूर्व वह प्रभु आविष्कार कर देता है। यह है उसके अपार प्यारका एक निराला चमत्कार। हम उस प्यारका चिन्तन-मनन करते रहेंगे तो आध्यात्मिक रोगोंसे बचे रहेंगे और प्रभुके प्रेमको प्राप्त करनेमें सफल हो जायँगे। यह हमारा कर्तव्य है—ऐसी वेदकी आज्ञा है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेममयी लीलाका स्वरूप

(डॉ० श्रीजगदीश्वरप्रसादजी, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

परम शक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ परमात्माकी कल्याणकारी और रहस्यमयी लौकिक क्रियाओंका नाम लीला है। गुणातीत होते हुए भी वे गुणोंका बन्धन स्वीकार कर सामान्य मनुष्यके समान चेष्टाएँ करते हैं। स्वयं अकर्ता होकर भी वे कर्ता बन जाते हैं। सृजन, पालन और संहार उनकी लीलाएँ ही हैं।

इन लीलाओंका उद्देश्य होता है—भक्तोंपर कृपा, सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका संहार। ये लीलाएँ भक्त-हृदयके भक्तिभावको उद्दीप्त करती हैं। भक्त उनकी लीलाओंका स्मरण कर भक्तिमें विभोर हो जाता है और अन्य लोगोंमें भी भक्ति जाग उठती है। इन लीलाओंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥

(१०।३३।३७)

श्रीमद्भागवतकी ये लीलाएँ भक्तोंपर अनुग्रहके लिये ही हैं।

भगवान्‌के लीलावतारोंको दो वर्गोंमें रखा जा सकता है—रसावतार और मर्यादावतार। श्रीकृष्ण मुख्यतः रसावतार हैं और श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णके इसी रसावतारकी विशद व्याख्या है। श्रीकृष्ण स्वयं रसरूप हैं। गोपियाँ जीवात्माओंकी प्रतीक हैं जो उनके सांनिध्यके लिये व्याकुल रहती हैं। श्रीकृष्ण अपनी रसमयी लीलाओंसे सभीको अपनी ओर खींचते हैं। उनकी मुरली नादब्रह्मकी प्रतीक है, जिसके नादका आकर्षण गोपियोंके लिये दुर्निवार है। इन सबके माध्यमसे श्रीकृष्णकी लीलाओंसे माधुर्यकी ऐसी सृष्टि होती है कि भक्तहृदय आत्मविस्मृत, आत्मविभोर हो जाता है।

श्रीमद्भागवतकी लीलाओंमें जहाँ नन्द, यशोदा और गोपियोंके माध्यमसे प्रेमकी रसधारा बहती है, वहीं दूसरी ओर उनके अद्भुत और अलौकिक कर्म हैं, जो उनके रक्षणभावके साथ-साथ उनके ईश्वरत्वका भी परिचय देते चलते हैं। श्रीकृष्णके सभी कर्म अद्भुत हैं। छोटी अवस्थामें ही वे पूतनाका वध कर डालते हैं। फिर शकटासुर, वत्सासुर, बकासुर-जैसे राक्षसोंकी बारी आती है और अन्तमें आततायी कंसका वध होता है। इतना ही नहीं, वे कालिय नागसे व्रजको मुक्त करते हैं तथा गोवर्धन धारण कर इन्द्रका गर्व-दलन करते हैं।

अपनी लीलाओंमें श्रीकृष्ण अपने विराट्‌रूपका दर्शन भी कराते चलते हैं। वसुदेव और देवकीके पुत्ररूपमें जन्म लेनेसे पहले वे उनके समक्ष दिव्य रूपमें प्रकट होते हैं। माता यशोदाको भी वे अपना रूप दिखलाते हैं। इन्द्रका मानमर्दन हो जानेके पश्चात् सुरभि इन्द्ररूपमें उनका अभिषेक करती है। केवल इन्द्रका ही नहीं, वे ब्रह्माका भी अभिमान मिटा देते हैं। ब्रह्माद्वारा गौओं और गोपालोंको गुफामें छिपा देनेके बाद वे वैसी ही गौओं तथा गोपालोंकी रचना कर ब्रह्माको चकित कर देते हैं। प्रणत होकर ब्रह्मा उनकी स्तुति करने लगते हैं। इन लीलाओंमें श्रीकृष्ण अपनी विराट्‌रूपताका प्रदर्शन व्रजवासियोंके बीच अपने ईश्वरत्वका बोध बनाये रखनेके उद्देश्यसे करते हैं।

श्रीकृष्णकी रसलीलाके केन्द्रमें माता यशोदा और गोपियाँ हैं। प्रथममें वात्सल्यरसकी पुष्टि होती है और दूसरेमें दिव्य शृङ्गारकी। शुद्ध-सात्त्विक प्रेमकी धारा इनके बीचसे प्रवाहित होती है। भगवान् ऐसे ही प्रेमके वशीभूत रहते हैं। समस्त श्रीकृष्णलीलामें इसीका प्रतिपादन किया गया है।

श्रीकृष्णके बालरूपका सौन्दर्य अद्भुत है। उनकी बालसुलभ क्रीडाएँ देखकर यशोदा मुग्ध हैं। इसी मुग्धताके कारण वे श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको पहचान नहीं पातीं। वे उन्हें मिट्टी खानेके लिये डाँटती हैं और अपना वास्तविक रूप दिखा देनेपर भी श्रीकृष्णकी मायाके वशीभूत होकर पुत्रभावसे ही उन्हें देखती हैं। उन्हें ओखलसे बाँधती हैं और यमलार्जुनवृक्षोंके गिर जानेपर व्याकुल भी होती हैं।

श्रीकृष्णलीलाका विलक्षण दिव्य प्रेम गोपियोंके साथ

महारासकी लीलामें व्यक्त हुआ है। इसके माध्यमसे उन्हें पानेके लिये प्रेममार्गका निरूपण हुआ है। वहाँतक पहुँचनेके लिये परम आसक्ति और समर्पणभाव आवश्यक है। जप, तप, ध्यान और योग आदिकी आवश्यकता नहीं। केवल भक्ति और समर्पणभाव आवश्यक है। गोपियाँ इसीकी प्रतिरूप हैं। वे उनके अनन्य सौन्दर्यपर मुग्ध हैं। अपने घरोंमें उनको माखनचोरी करते और मटके फोड़ते देख वे प्रसन्न होती हैं। उनके रूपका आकर्षण बढ़ता ही जाता है और विवाहिता होते हुए भी गोपियाँ उन्हें पतिरूपमें पानेकी कामना करने लगती हैं। उनकी वंशीकी ध्वनि इतनी मादक है कि जड़-चेतन सभी उससे प्रभावित हो उठते हैं। वेणुगीत, गोपिकागीत आदि प्रसंगोंमें गोपियोंके दिव्य प्रेमकी विरह-व्यथाकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

श्रीकृष्णको पतिरूपमें पानेके लिये वे कात्यायनी-देवीका व्रत करती हैं। बिना परीक्षा लिये श्रीकृष्ण उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकते। चीरहरण-प्रसंग गोपियोंकी ऐसी ही परीक्षा है। भक्ति सम्पूर्ण समर्पणकी माँग करती है। इसमें किसी प्रकारके द्वैत अथवा दुरावके लिये अवकाश नहीं।

भगवान् शरद्-ऋतुकी रात्रियोंमें मिलनका—गोपियोंकी इच्छा पूर्ण करनेका आश्वासन देते हैं; किंतु मिलनके लिये और परीक्षाएँ शेष हैं। अन्तिम परीक्षा रासलीला-प्रसंगमें पूर्ण होती है। शरत्‌की पूर्णिमामें जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं, तब मन्त्रमुग्ध गोपियाँ घर-परिवार सब कुछ छोड़कर उनके पास दौड़ी चली आती हैं। सांसारिक बन्धन तोड़कर वे श्रीकृष्णकी शरण आयी हैं। श्रीकृष्ण उनकी परीक्षा लेते हुए कुलकी मर्यादाका उल्लंघन न करनेका उपदेश देते हैं; किंतु गोपियोंका समर्पणभाव दृढ़ हो चुका है। प्रेमका वेग इतना तीव्र है कि कुलकी मर्यादा और प्रतिष्ठा उसमें बह जाती है। अतः उनकी व्याकुलतासे द्रवित हो श्रीकृष्ण उनके साथ उन्मुक्त विहार करते और उनके मिलनकी इच्छा पूर्ण करते हैं।

किंतु गोपियोंकी परीक्षा अभी पूर्ण नहीं हुई। उनका अहंकार अभी समाप्त नहीं हुआ। परमात्मासे मिलनके लिये इसका परित्याग आवश्यक है। मिलनकी स्थितिमें किसी प्रकारके द्वैतका बोध नहीं रहना चाहिये। इसीलिये विहार करते हुए जब गोपियोंके मनमें यह अहंकार आ जाता है कि श्रीकृष्णको उन्होंने वशमें कर लिया, तभी वे अन्तर्धान हो जाते हैं।

श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेका उद्देश्य है—गोपियोंका विरहभाव दृढ़ करना, जिससे उनके चित्तके सभी विकार धुल जायँ। उनके आँसुओंमें उनका अहंकार बह जाता है। अब उनका चित्त सभी प्रकारके विकारोंसे रहित हो गया है। संसारकी मायाका उन्होंने त्याग कर दिया है। उनकी शरणागति पूर्ण हो गयी है। उनकी व्याकुलतासे द्रवित होकर श्रीकृष्ण पुनः प्रकट होते हैं और गोपियोंके साथ महारास आरम्भ होता है। वे अपनी लीलाशक्तिका सहारा लेकर जितनी गोपियाँ थीं उतने रूप धारणकर उनके साथ लीला-विहार करते हैं।

रास वस्तुतः जीव और ब्रह्मके मिलनकी आनन्दमयी स्थितिकी अभिव्यक्ति है। ब्रह्मरूप श्रीकृष्णका आकर्षण इतना प्रबल था, उनका रास इतना मोहक था कि स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ भी काममोहित हो गयीं तथा इस लीलाके दर्शक चाँद और तारे भी मोहित हो गये—

कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्य मुमुहुः खेचरस्त्रियः।
कामार्दिताः शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।१९)

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णकी लीलाएँ उनके रसरूपकी अभिव्यक्ति हैं। व्रजभूमिमें वे केवल रसकी धारा नहीं बहाते, बल्कि प्रेममार्गका निरूपण भी करते हैं। वे गोपियोंको इसी मार्गपर ले चलते हैं। उनमें प्रेमकी व्याकुलता जगाते, उन्हें मायाके बन्धनोंसे मुक्त करते और अन्तमें उनका अहंकार दूर करनेके लिये विरहकी पीड़ा भी देते हैं।

भक्तिमें भक्त भगवान्‌को पानेके लिये जितना व्याकुल होता है, भगवान् भी उन्हें अपनी शरणमें लेनेके लिये उससे कम व्याकुल नहीं होते। उन्हें पानेके लिये गोपियोंने जो अपना घर-परिवार त्याग दिया, प्रेममें इतने कष्ट सहे, इसके लिये वे इतने ऋणी हैं कि अनन्त कालतक उससे उऋण नहीं हो सकते। वे कहते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

त्तोंके प्रति दयालु होते हुए भी कभी-कभी उनका शन करनेके लिये वे उनके प्रति निष्ठुर हो जाते हैं। इसीलिये करते हैं जिससे भक्तोंकी चित्तवृत्ति उन्हींमें है। जैसे किसी निर्धन पुरुषको बहुत-सा धन मिल ौर फिर खो जाय तो उसका चित्त धनकी चिन्तासे ता है, वैसे ही प्रकट होकर छिप जानेसे गोपियोंकी भक्ति और दृढ़ हो गयी—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२०)

गीता और प्रेम-तत्त्व

ीमद्भगवद्गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भगवान्की तिमें ही है। यही गीताका प्रेमतत्त्व है। गीताकी रणागतिका ही दूसरा नाम 'प्रेम' है। प्रेममय भगवान् प्रियतम सखा अर्जुनको प्रेमके वश होकर वह मार्ग हैं, जिसमें उसके लिये एक प्रेमके सिवा और कुछ बाकी रह ही नहीं जाता।

छ लोगोंका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेमका हीं है। परंतु विचारकर देखनेपर मालूम होता है कि ब्दकी बाहरी पोशाक न रहनेपर भी गीताके अन्दर ोत-प्रोत है। गीता भगवत्-प्रेम-रसका अगाध है। प्रेम वास्तवमें बाहरकी चीज होती भी नहीं, हृदयका गुप्त धन है जो हृदयके लिये हृदयसे ही मिलता है और हृदयसे ही किया जाता है। जो ता है, वह तो प्रेमका बाहरी ढाँचा होता है, हनुमान्जी भगवान् श्रीरामका संदेश श्रीसीताजीको इस प्रकार —

कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

न हृदयकी वस्तु है, इसीलिये वह गोपनीय है। भी प्रेम गुप्त है। वीरवर अर्जुन और भगवान् का सख्य-प्रेम विश्व-विख्यात है। आहार-विहार, ीड़ा, अन्तःपुर-दरबार तथा वन-प्रान्त-रणभूमि— ोनोंको हम एक साथ पाते हैं। जिस समय अग्निदेव समीप खाण्डवदाहके लिये अनुरोध करने आते समय उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जलविहार बाद प्रमुदित मनसे एक ही आसनपर बैठे हुए मिलते हैं। जब संजय भगवान् श्रीकृष्णके पास आते हैं, तब उन्हें अर्जुनके साथ एक ही आसनपर अन्तःपुरमें द्रौपदी और सत्यभामासहित विराजित पाते हैं। अर्जुन—'**विहारशय्यासन-भोजनेषु**' कहकर स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं।

अधिक क्या, खाण्डव-वनका दाह कर चुकनेपर जब इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुनको दिव्यास्त्र प्रदान करनेका वचन देते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि 'देवराज! मुझे भी एक चीज दो और वह यह कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे'—

'वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।'

(महा० १।२३३।१३)

अर्जुनके लिये भगवान् प्रेमकी भीख माँगते हैं! यही कारण था कि भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेतकको तैयार हो गये। अर्जुनके प्रेमसे ही गीताशास्त्रकी अमृतधारा भगवान्के मुखसे बह निकली। अर्जुनरूपी चन्द्रको पाकर ही चन्द्रकान्तमणिरूप श्रीकृष्ण द्रवित होकर बह निकले, जो गीताके रूपमें आज त्रिभुवनको पावन कर रहे हैं। प्रेमका स्वरूप है—प्रेमीके साथ अभिन्नता हो जाना, जो भगवान्में पूर्णरूपसे थी। इसीसे अर्जुनका प्रत्येक काम करनेके लिये भगवान् सदा तैयार रहते थे। प्रेमका दूसरा स्वरूप है—'प्रेमीके सामने बिना संकोच अपना हृदय खोलकर रख देना।' वीरवर अर्जुन प्रेमके कारण ही निःसंकोच होकर भगवान्के सामने रो पड़े और स्पष्ट शब्दोंमें उन्होंने अपने हृदयकी बातें कह दीं। भगवान्की जगह यदि कोई दूसरा होता तो ऐसे शब्दोंमें, जिनमें वीरतापर धब्बा लग सकता था, अर्जुन अपने मनके भाव

कभी नहीं प्रकट करते। प्रेममें लल्लो-चप्पो नहीं होता, इसीसे भगवान्‌ने अर्जुनके पाण्डित्यपूर्ण, परंतु मोहजनित विवेचनके लिये उन्हें फटकार दिया और युद्धस्थलमें, दोनों ओरकी सेनाओंके युद्धारम्भकी तैयारीके समय वह अमर ज्ञान कह डाला जो लाखों-करोड़ों वर्ष तपस्या करनेपर भी सुननेको नहीं मिलता। प्रेमके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने महत्त्वकी बातें निःसंकोचरूपसे अर्जुनके सामने कह डालीं। प्रेमके कारण ही उन्हें विभूतियोग बतलाकर अपना विश्वरूप दिखला दिया। नवम अध्यायके 'राजविद्या-राजगुह्ययोग' की प्रस्तावनाके अनुसार अन्तके श्लोकमें अपना महत्त्व बतला देने, दशम और एकादशमें विभूति तथा विश्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देने एवं पन्द्रहवें अध्यायमें 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' ऐसा स्पष्ट कह देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्‌की मायावश भलीभाँति नहीं समझे, तब प्रेमके कारण ही अपना परम गुह्य रहस्य जो नवम अध्यायके अन्तमें इशारेसे कहा था, भगवान् स्पष्ट शब्दोंमें सुना देते हैं। भगवान् कहते हैं 'मेरे प्यारे! तू मेरा बड़ा प्यारा है, इसीसे भाई! मैं अपना हृदय खोलकर तेरे सामने रखता हूँ, बड़े संकोचकी बात है, हर एकके सामने नहीं कही जा सकती, सब प्रकारके गोपनीयोंमें भी परम गोपनीय (**सर्वगुह्यतमम्**) विषय है, ये मेरे अत्यन्त गुप्त रहस्यमय शब्द (**मे परमं वचः**) हैं। एक बार पहले कुछ संकेत कर चुका हूँ, अब फिर सुन (**भूयः शृणु**) बस, तेरे हितके लिये ही कहता हूँ, (**ते हितं वक्ष्यामि**) क्योंकि इसीमें मेरा भी हित है, क्या कहूँ? अपने मुँह ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इससे आदर्श बिगड़ता है, लोकसंग्रह बिगड़ता है, परंतु भाई! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है (**मे प्रियः असि**)। तुझे क्या आवश्यकता है इतने झगड़े-बखेड़ेकी? तू तो केवल प्रेम कर। प्रेमके अन्तर्गत मन लगाना, भक्ति करना, पूजा और नमस्कार करना आप-से-आप आ जाता है, मैं भी यही कर रहा हूँ। अतएव भाई! तू भी मुझे अपना प्रेममय जीवनसखा मानकर मेरे ही मनवाला बन जा, मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर और मुझे ही नमस्कार कर, मैं सत्य कहता हूँ। अरे भाई! शपथ खाता हूँ, ऐसा करनेसे तू और मैं एक ही हो जायँगे (गीता १८। ६५)। क्योंकि एकता ही प्रेमका फल है। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सिवा और कुछ भी नहीं जानता, किसीको नहीं पहचानता, उसका जीवन, प्राण, धर्म, कर्म तथा ईश्वर जो कुछ भी है सो सब प्रेमास्पद ही है। वह तो अपने-आपको उसीपर न्योछावर कर देता है। तू सारी चिन्ता छोड़ दे (**मा शुचः**)। धर्म-कर्मकी परवा न कर (**सर्वधर्मान् परित्यज्य**)। केवल एक मुझ प्रेमस्वरूपके प्रेमका ही आश्रय ले ले। (**मामेकं शरणं व्रज**) प्रेमकी ज्वालामें तेरे सारे पाप-ताप भस्म हो जायँगे। तू मस्त हो जायगा। यह प्रेमकी तन-मन-लोक-परलोक-भुलावनी मस्ती ही तो प्रेमका स्वरूप है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (नारद-भक्तिसूत्र ४—६)

'जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृतत्वको पा जाता है, सब तरहसे तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर वह न अप्राप्त वस्तुको चाहता है, न 'गतासून् अगतासून्' के लिये चिन्ता करता है, न मनके विपरीत घटना या सिद्धान्तसे द्वेष करता है, न मनोनुकूल विषयोंमें आसक्त होता है और न प्यारेकी सुख-सेवाके सिवा अन्य कार्यमें उसका उत्साह होता है। वह तो बस, प्रेममें सदा मतवाला बना रहता है, वह स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।' इस सुखके सामने उसको ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान तुच्छ प्रतीत होता है (**सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मण्यपि**)।

इस स्थितिमें उसका जीवन केवल प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके निमित्त उसकी रुचिके अनुसार कार्य करनेके लिये ही होता है। हजार मनके प्रतिकूल काम हो, प्रेमास्पदकी उसमें रुचि है, ऐसा जानते ही सारी प्रतिकूलता तत्काल सुखमय अनुकूलताके रूपमें परिणत हो जाती है, प्रेमास्पदकी रुचि ही उसके जीवनका स्वरूप बन जाता है। उसका जीवन व्रत ही होता है—केवल 'प्रेमास्पदके सुखसे सुखी रहना' (**तत्सुखसुखित्वम्**) वह इसीलिये जीवन धारण करता है। मेरा अवतार-धारण भी अपने इन प्रेमास्पदोंके लिये ही है, इसीलिये तो—

भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।

प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम्॥

—'मैं सर्वभूतोंका अन्तर्यामी प्रकृतिसे परे ज्ञानमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्रेममय दिव्य देह धारण कर यदुकुलमें अवतीर्ण हुआ हूँ।' भगवान्‌ने गीताके १८ वें अध्यायके ६४ वें-से ६६ वेंतक तीन श्लोकोंमें जो कुछ कहा, उसीका उपर्युक्त तात्पर्यार्थ है। प्रेमका यह मूर्तिमान् स्वरूप प्रकट तो कर दिया, परंतु फिर भगवान् अर्जुनको सावधान करते हैं कि 'यह गुह्य रहस्य तपरहित, भक्तिरहित, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मुझमें दोष देखनेवालेके सामने कभी न कहना।' (गीता १८। ६७) इस कथनमें भी प्रेम भरा है, तभी तो अपना गुह्य रहस्य कहकर फिर उसकी गुह्यताका महत्त्व अपने ही मुखसे बढ़ाते हुए भगवान् अर्जुनके सामने संकोच छोड़कर ऐसा कह देते हैं। इस अधिकारी-निरूपणका एक अभिप्राय यह है कि इस परम तत्त्वको ग्रहण करनेवाले लोग संसारमें सदासे ही बहुत थोड़े होते हैं। (मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित्) जिनका मन तपश्चर्यासे शुद्ध हो गया हो, जिनका अन्तःकरण भक्तिरूपी सूर्यकिरणोंसे नित्य प्रकाशित हो, जिसको इस प्रेमतत्त्वके जाननेकी सच्चे मनसे तीव्र उत्कण्ठा हो एवं जो भगवान्‌की महिमामें भूलकर भी संदेह नहीं करता हो, वही इसका अधिकारी है। भगवान्‌की मधुर-बाललीलामें भाग्यवती प्रातःस्मरणीया गोपियाँ इसकी अधिकारिणी थीं। इस रणलीलामें अर्जुन अधिकारी हैं। अनधिकारियोंके कारण ही आज गोपी-माधवकी पवित्र आध्यात्मिक प्रेमलीलाका आदर्श दूषित हो गया और उसका अनधिकार अनुकरण कर मनुष्य कठिन पाप-पंकमें फँस गये! गोपियोंका जीवन भी '**तत्सुखसुखित्वम्**' के भावमें रँगा हुआ था और इस प्रेमरहस्यका उद्‌घाटन होते ही अर्जुन भी इसी रंगमें रँगकर अपनी सारी प्रतिकूलताओंको भूल गये, भूल ही नहीं गये, बल्कि सारी प्रतिकूलताएँ तुरन्त अनुकूलताके रूपमें परिवर्तित हो गयीं और वे आनन्दसे कह उठे—

'करिष्ये वचनं तव'

—'तुम जो कुछ चाहोगे, जो कुछ कहोगे, बस, मैं वही करूँगा, वही मेरे जीवनका व्रत होगा।' इसीको अर्जुनने जीवनभर निबाहा। यही प्रेमतत्त्व है, यही शरणागति है। भगवान्‌की इच्छामें अपनी सारी इच्छाओंको मिला देना, भगवान्‌के भावोंमें अपने सारे भावोंको भुला देना, भगवान्‌के अस्तित्वमें अपने अस्तित्वको सर्वथा मिटा देना, यही '**मामेकं शरणम्**' है, यही प्रेमतत्त्व है, यही गीताका रहस्य है। इसीसे गीताका पर्यवसान साकार भगवान्‌की शरणागतिमें समझा जाता है। इसी परम पावन परमानन्दमय लक्ष्यको सामने रखकर प्रेमपथपर अग्रसर होना गीताके साधककी साधना है। इसीसे कविके शब्दोंमें साधक पुकार कर कहता है—

एकै अभिलाख लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरो न देव चराचरमें।
जासों मनु राँचै, तासों तनु मनु राँचै,
रुचि भरिकै उघरि जाँचै, साँचै करि करमें॥
पाँचनके आगे आँच लगे ते न लौटि जाय,
साँच देइ प्यारेकी सती लौं बैठे सरमें।
प्रेम सों कहत कोऊ, ठाकुर, न ऐंठो सुनि,
बैठो गड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम घरमें॥ १॥

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसे नरलोक परलोक बरलोकनिमें,
लीन्ही मैं अलीक, लोक-लोकनि ते न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरु-जन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन-वारी बनवारीकी मुकुट वारी,
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥ २॥

तौक पहिरावौ, पाँव बेड़ी लै भरावौ,
गाढ़े बन्धन बँधावौ औ खिंचावौ काची खाल सों।
बिष लै पिलावौ, तापै मूठ भी चलावौ,
माँझधारमें डुबावौ बाँधि पत्थर 'कमाल' सों॥
बिच्छू लै बिछावौ, तापै मोहि लै सुलावौ, फेरि,
आग भी लगावौ बाँधि कापड़ दुसालसों।
गिरिते गिरावौ, काले नाग ते डसावौ,
हा! हा! प्रीति ना छुड़ावौ गिरिधारी नंदलाल सों॥ ३॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्प्रेमका गीत

(श्रीरामकृष्ण रामानुजदास 'श्रीसन्तजी महाराज')

श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्वत्र भगवत्प्रेमका ही गीत दिखायी देता है। वास्तवमें भगवत्प्रेमका स्वरूप ठीक-ठीक बताना बहुत कठिन है, क्योंकि यह अनुभवरूप है। प्रेमी बनकर ही कोई इस दिव्य भगवत्प्रेमको समझ सकता है और भगवत्प्रेमको समझनेके लिये भगवान्‌के दिव्य रूपका भी अनुभव होना आवश्यक है।

भगवत्कृपा सबपर सदा-सर्वदा है ही, लेकिन अभागा मनुष्य संसारमें व्यक्तरूप भगवान्‌पर शीघ्र विश्वास नहीं करता है, यही भगवत्प्रेमकी अनुभूतिमें बाधक है। भगवान्‌के तत्त्वका अनुभव प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम उनके किसी नामका आश्रय लेना आवश्यक है। अधिकांश जीव अनेक जन्मोंतक शरीर तथा इन्द्रियोंके विषयोंमें भटकते रहते हैं। मानव-तन प्राप्त होनेपर भी जीवोंकी पुरानी आदत नहीं छूटती है। उन्हें भगवत्प्रेमकी साधनाका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। यद्यपि भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सहज और सुलभ है, लेकिन इसके लिये नामका आश्रय लेना आवश्यक है। नाम-जप तथा नाम-कीर्तन वाणीका सर्वश्रेष्ठ तप है। इसे भगवत्प्रेमका बीज कहा जा सकता है। इस घोर कलियुगमें मनुष्योंके बड़े-बड़े पापोंको मिटानेकी शक्ति केवल प्रभुके नाममें ही है। जिस प्रकार श्रीरामचरितमानस तथा श्रीमद्भागवतमें प्रभुके नामकी साधना प्रधान है, उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामें भी नाम-संकीर्तनकी साधनाका संदेश सर्वत्र दिखायी पड़ता है। इसमें 'भजन' शब्दका प्रयोग वास्तवमें नाम-संकीर्तन करते रहनेका ही संदेश देता है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। १०)

श्रीधर स्वामीजीने इस श्लोककी व्याख्यामें स्पष्ट कहा है कि यहाँ 'भजन'का तात्पर्य नाम-संकीर्तन समझना चाहिये। नाम-संकीर्तनके द्वारा भक्तका मन भगवान्‌के साथ सतत जुड़ा रहता है। '**सततयुक्तानां भजताम्**' का यही भाव बताया गया है। नाम-संकीर्तनकी साधनाद्वारा ज्ञान तथा वैराग्यके गुण स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। यह नाम-साधना साधन तथा साध्य दोनों है। ज्ञानकी ऊँचाई प्राप्त करनेपर भी ज्ञानियोंको नामकी साधना करते रहना चाहिये। आद्य शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती आदि ज्ञानियोंने जीवनके अन्तिम क्षणतक प्रभुके नामका विस्मरण नहीं किया। इसलिये गीताके सभी भाष्यकारोंने भगवान्‌के नामका आश्रय लेनेके लिये संदेश दिया है।

गीताके सोलहवें अध्यायमें देव तथा असुर दोनोंके स्वभाव बताये गये हैं। जो भगवान्‌से प्रेम करता है वह देवमानव है और जो भगवान्‌से विमुख रहता है, वह असुर-मानव है। देवमानव ही भगवत्प्रेमकी महिमा समझते हैं। उनमें भगवत्प्रेमका सागर लहराता रहता है; क्योंकि उन्हें भगवत्-तत्त्वका भलीभाँति ज्ञान रहता है। देवमानवका गुण बताते हुए भगवान् कहते हैं—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥[1]

(गीता ९। १३)

असुर-मानवको भगवत्-तत्त्वका ज्ञान नहीं रहता है, इसीलिये उन्हें मूढ़, दुराचारी और नराधम कहा जाता है। वे भगवान्‌का भजन कभी नहीं करते हैं, भगवान्‌से कभी प्रेम नहीं करते। भगवान्‌ने ऐसे असुर-मानवका स्वभाव बताते हुए कहा है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥[2]

(गीता ७। १५)

भगवत्प्रेममें सबके प्रति प्रभुदृष्टि होना आवश्यक है। समस्त प्राणियोंमें प्रभुका रूप देखते हुए सबसे निःस्वार्थ प्रेम करना तथा फलेच्छासे रहित होकर उनकी सेवा करना ही प्रभु-प्रेम है। भगवान्‌ने स्पष्ट ही कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

---

१. हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।

२. मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग मुझको नहीं भजते।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६।३०-३१)

अर्थात् जो पुरुप सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।

भगवान्‌का ज्ञान प्राप्त होते ही जीवनके सारे कर्म भजन बन जाते हैं। भक्त जगत्‌की सेवा भगवान्‌की भावनामें रहकर करते हैं। उनकी देहासक्ति तथा कर्म-फलासक्ति मिट जाती है। इस प्रकार भगवत्प्रेममें भगवान्‌का ज्ञान होते ही दिव्य भावसे कर्म होते हैं। भक्त अपने हृदयमें तथा दूसरोंके हृदयमें भगवान्‌का दर्शन करते हैं। जबतक हृदयमें भगवान्‌की अनुभूति नहीं होती, तबतक मनुष्यमें दृढ़ भक्ति नहीं होती और वह अज्ञानके अन्धकारमें भटकता रहता है।

जबतक सांसारिक विषय-वासना आदि अपवित्र कामना मनुष्यमें रहती है, तबतक प्रभु-प्रेमकी स्थापना उसके हृदयमें नहीं होती, इसलिये कामना-त्यागका संदेश देते हुए भगवान्‌ने कहा है—

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३।४३)

भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप हैं। वे प्रेमद्वारा ही हृदयमें प्रकट होते हैं। उनके चरित्र प्रेमरूप हैं। उनकी वाणी प्रेममयी है। उनका प्रेममय हृदय ही गीताके रूपमें प्रकट हुआ है, अतः गीता उनके प्रेमका सच्चा गीत है।

जो भगवत्प्रेम करता है, उसमें न कोई कामना होती है और न उसके जीवनमें कोई दोष शेष रह जाता है। पवित्र हृदयवाला भक्त ही शान्ति पाता है। सिद्ध भक्तकी स्थिति बताते हुए भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

गीतामें भगवत्प्रेमके अन्तर्गत शिष्टाचार तथा सदाचारका भी चित्रण दिखायी देता है; क्योंकि भक्तके जीवनमें पवित्र आचरणकी विशेष महत्ता होती है। भगवान्‌का भजन करनेके कारण भक्तके मन, बुद्धि आदि सब दिव्य बन जाते हैं। अर्जुनके चरित्रमें शिष्टाचार तथा सदाचारके गुण दर्शाकर सभी भक्तोंको उनका अनुसरण करनेकी शिक्षा दी गयी है। शिष्टाचारयुक्त अर्जुनकी विनम्र वाणी देखिये—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

(गीता २।७)

विनम्रता एवं प्रपन्नता भगवत्प्रेमकी मुख्य विशेषता है।

भगवत्प्रेम भगवत्-धर्म है, जिसमें भगवान् स्वयं निवास करते हैं। भगवत्-धर्मका स्वरूप बताते हुए भगवान् स्वयं कहते हैं—

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

अर्थात् जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

जो व्यक्ति भगवान्‌की ओर जितना ही बढ़ता है, भगवान् भी उसे उतना ही प्रेम प्रदान करते हैं। भगवान्‌के प्रति अनुराग ही भगवत्प्रेम है। इस भगवत्प्रेमकी साधनामें संसारकी अन्य वस्तुओंका राग स्वतः ही समाप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१९)

अर्थात् हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

गीतामें ज्ञानयुक्त भगवत्प्रेमका वर्णन है। ज्ञानी भक्त सतत ईश्वरका स्मरण करता है। वह ईश्वरसे कभी पृथक् नहीं होता है। वास्तवमें स्वरूपतः हम न ईश्वरसे पृथक् हो सकते हैं और न ईश्वर हमसे पृथक् हो सकता है।

ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान नहीं होनेके कारण ही जीव ईश्वरको भूल जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनके माध्यमसे मानवमात्रको प्रेमपूर्वक सदैव भगवत्स्मरण करते रहनेका संदेश दिया है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८।७)

जो ज्ञानपूर्वक निरन्तर ईश्वरका स्मरण करनेका अभ्यास करता है, वह निश्चय ही उसे प्राप्त कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

भगवत्प्रेमका सिद्ध सरोवर—मानस

(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये हमलोग नाना प्रकारके उपाय करते हैं। कोई ज्ञानयोगका आश्रय लेता है, कोई कर्मयोग तो कोई भक्तियोगका अवलम्ब ग्रहण करता है। कोई यथारुचि जप-तप और ध्यान आदिमें प्रवृत्त होता है तो कोई व्रत-अनुष्ठानका पथ चुनता है। इन सब प्रकारके साधन-भजनका अन्तिम फल यही है कि प्रभुके चरण-कमलोंमें हमारी निष्काम प्रीति उत्पन्न हो जाय—

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

सच तो यही है कि बिना भगवत्कृपाके हमें उनसे प्रेम नहीं हो सकता और बिना भगवत्प्रेमके हमारे सारे प्रयास निस्सार तथा निरर्थक हैं। परंतु इस भगवत्-प्रेमका आविर्भाव कैसे हो, कौन-सा साधन अपनाया जाय? विशेषकर आजके इस विषाक्त वातावरणमें, जबकि हम दिन-रात माया-मोहके परिवेशमें साँसें ले रहे हैं, स्वार्थ एवं भोगपूर्ण जीवनमें आकण्ठ मग्न हैं। सच्चे गुरुओंका प्राय: अभाव हो गया है, वास्तविक संत-महात्माओंके प्राय: दर्शन दुर्लभ हैं और सत्संग मिलना भी उतना ही कठिन। अर्थात् प्रतिकूलता हमारे चारों तरफ विराजमान है और अनुकूलताकी किरण दिखलायी नहीं पड़ती। ऐसी विषम परिस्थितिमें भगवत्प्रेमका साधन क्या हो?

यहाँ मैं एक ऐसे साधनका उल्लेख करना चाहता हूँ, जो इस घोर-कठोर कलिकालमें ब्रह्मास्त्रकी तरह अमोघ है, वह है—'श्रीरामचरितमानस।' इस भगवद्ग्रन्थके पारायणसे हम-जैसे तुच्छातितुच्छ जन भी निश्चितरूपसे भगवत्प्रेमका विलक्षण उपहार प्राप्त कर सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने दृढ़तापूर्वक कहा है कि जो कोई इस राम-कथाका प्रेमपूर्वक कथन, श्रवण और मनन करेगा, वह श्रीरामचरणके प्रेमका पात्र अवश्यमेव बनेगा—

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥

दूसरी तरफ श्रीरामचरितमानस वह कल्पवृक्ष है, जो अपने आश्रय लेनेवालोंके हृदयमें भगवान् श्रीरामके चरणकमलोंके प्रति प्रेम उत्पन्न कर देता है—

प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजइ प्रीति राम पद कंजा॥

श्रीरामचरितमानसके श्रवणमात्रसे काम और मद आदि सारे विकार अपने-आप ही विनष्ट हो जाते हैं तथा मन पूर्ण विश्रामका अनुभव करने लगता है—

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥

श्रीरामचरितमानस वह अचूक राम-रसायन है कि विश्वासपूर्वक इस कथाको निरन्तर सुननेवाला अनायास ही

हरिभक्ति-पदका अधिकारी बन जाता है—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

प्रभुपद-प्रीतिकी प्राप्ति करनी हो अथवा मुक्ति ही अभीष्ट क्यों न हो, मानसका भावपूर्ण श्रवण मनुष्यको मनोवाञ्छित फल अवश्य प्रदान करता है—

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥

भगवत्प्रेम-प्राप्तिकी ऐसी गारंटी देनेवाला साधन अन्यत्र कहाँ सुलभ है? लौकिक या पारलौकिक—सभी प्रकारकी कामनाओंको परिपूर्ण करनेवाला चारु चिन्तामणि है—यह 'श्रीरामचरितमानस।' जो कोई भी निष्कपट होकर इस कथाको कहता, सुनता और अनुमोदन करता है, वह सारी मनोकामनाओंकी सिद्धिके साथ-साथ इस भवसागरको भी अत्यन्त सरलतापूर्वक पार कर लेता है—

मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

मानस वह पारस है कि इसके सम्पर्कमें आनेवाला मनुष्य निश्चितरूपसे भगवत्प्रेमी बन जाता है। यह मानस वह सरोवर है जो पुण्यमय है, पाप हरण करनेवाला है, सदा कल्याणप्रद है, विज्ञान और भक्ति प्रदान करनेवाला है तथा माया-मोहरूप मलको दूर करनेवाले शुभ, स्वच्छ प्रेम-जलसे परिपूर्ण है—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।

मानसकी महिमाका क्या कहना! स्वयं गोस्वामीजी कहते हैं कि इस रामचरितको कहने-सुननेवाले लोग बिना श्रमके ही निर्मल होकर श्रीराम-धामके अधिकारी बन जाते हैं। यहाँतक कि जो मनुष्य पाँच या सात चौपाइयाँ भी हृदयङ्गम कर लेता है, उसके अविद्याजनित विकारोंको मर्यादापुरुषोत्तम प्रभु श्रीराम स्वयं हर लेते हैं—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥
सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

इस प्रकार श्रीरामचरितमानस वह सिद्ध सरोवर है, जिसमें श्रद्धाका सम्बल लेकर अवगाहन करनेवाला मनुष्य अनायास ही भगवान्का अविचल प्रेम-रत्न प्राप्त कर लेता है। जो भी इस सरोवरमें चाहे-अनचाहे प्रविष्ट हुआ, उसके विषयरूपी दावानलमें जलता हुआ मनरूपी हाथी शाश्वत सुखका अनुभव करने लगता है—

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥

अतः भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके लिये हम-सदृश सामान्य जनके लिये मानस-जैसे सिद्ध सरोवरमें अवगाहन करने-जैसा सहज, सरल एवं सरस अन्य कोई अचूक साधन नहीं है। धन्य है श्रीरामचरितमानसकी महिमा।

अभिन्नतानुभूति—भगवत्प्रेमका श्रेष्ठ साधन

(श्रीनाथूरामजी गुप्त)

यदि मे सख्यमावर इमस्य पाह्यन्धसः। येन विश्वा अति द्विषो अतारिम॥ (ऋक्० ८।१३।२१)

वेदमें प्रभु कहते हैं—'हे मानव! यदि तू मेरी मैत्री चाहता है तो इसके सूचनास्वरूप इस चकाचौंधवाले जगत्की प्रत्येक वस्तुकी रक्षा कर। इस सृष्टिके समस्त प्राणियोंका पालन कर, प्राणधारक अन्नका उपयोग कर अहिंसाका पालन कर, जिससे तू समस्त काम-क्रोध-द्वेषादि शत्रुओंको जीते, वे तुझसे दूर रहें।'

उपर्युक्त मन्त्रमें परम प्रभु जीवको मार्ग दिखलाते हैं अपनी मित्रताहेतु, अपने प्रेमहेतु। यह मार्ग हम सभी माया-मोहमें लिप्त, किंतु प्रेमास्पदके मिलनेकी अङ्कुरित कामनावालोंके लिये सर्वाधिक सुगम है।

रागमें लिप्त मनको विरागी बनाना अति कठिन है, किंतु रागको अनुरागमें परिवर्तित करना इसकी अपेक्षा अति सरल।

प्रेम-साधनामें हमें अपने प्रेम-क्षेत्रका विस्तार करना होता है, परिवार आदि छोटे क्षेत्रका प्रेम राग तथा स्वार्थपर आधारित होता है। उसे अनुरागमें परिवर्तित कर उसके क्षेत्रको निरन्तर विस्तृत करते हुए जगत्के प्रत्येक जड़-चेतनको परम प्रभुका रूप समझ अधिक तन्मयतासे उसकी सेवा-सहायताहेतु तत्पर रहना ही परम प्रभुके प्रति प्रेमकी वास्तविक परिणति है और यही है अभिन्नताकी अनुभूति।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें भगवत्प्रेम-साधना

(डॉ० श्रीसुभाषचन्द्रजी सचदेवा 'हर्ष', एम्०ए०, एम्०फिल्०, पी-एच्०डी०)

सिक्ख गुरुओंकी वाणीके साथ-साथ कबीर, रविदास, नामदेव, धन्ना, पीपा एवं शेख फरीद आदि भक्तोंकी रचनाओंसे समलङ्कृत 'श्रीगुरुग्रन्थसाहिब' में भगवत्प्रेम, नाम-स्मरण एवं शरणागतिका अनूठा संगम दृष्टिगोचर होता है। *'प्रेम भगति जिसकै मनि लागी। गुण गावै अनदिनु निति जागी'*।[१] *'प्रेम प्रीति सदा धिआईए भै भाय भगति द्रिड़ावणिआ*[२] *''प्रेम भगति भजु गुणी निधान*[३] *', 'भगति प्रेम आराधितं सचु पिआस परम हितं*[४] *', 'मैं प्रभ मिलण प्रेम मनि आसा*[५] *', 'प्रीति लगी तिसु सच सिऊ मरै न आवै जाइ*[६] '— आदि अमृतमय वचन गुरुग्रन्थसाहिबमें साकार हुए भगवत्प्रेमको मुखरित करते हैं।

'श्रीगुरुग्रन्थसाहिब' का यह निश्चित सिद्धान्त है कि साधकमें भगवत्प्रेमका प्रकटीकरण एकमात्र प्रभु-कृपासे ही सम्भव है[७]। परमेश्वर अपने प्रेमके मधुर प्यालेको किसी योग्य अधिकारीको ही प्रदान करते हैं[८]। प्रभु-कृपासे जीव प्रेमा-भक्तिसे मालामाल हो जाता है[९]। परमेश्वरकी अनुकम्पाके सौजन्यसे ही प्राणी प्रभुके चरणारविन्दकी शरण ग्रहण करता है[१०] और जन्म-जन्मार्जित पुण्योंके बलसे भगवद्भक्तिभावको क्रमशः दृढ़तर बनाता चलता है[११]।

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भगवत्प्रेमको उत्पन्न करनेमें कारणभूत प्रभु-कृपाको कैसे प्राप्त किया जा सकता है? उक्त जिज्ञासाका समाधान करनेके संदर्भमें श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें ऐसे अनेक उपायोंका विवेचन किया गया है जो भगवत्कृपाको जाग्रत् करनेमें प्रधान कारण हैं। श्रीगुरुग्रन्थसाहिबकी निश्चित मान्यता है कि परमेश्वर अपनी प्रेममयी भक्तिसे उन्हीं साधकोंको अनुगृहीत करते हैं, जिनके हृदय निष्कपट हैं। सांसारिक विकारों एवं दोषोंसे मुक्त प्राणी ही प्रभुके अलौकिक नामकी सम्पदाको प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। जिनके जीवनमें सदाचार है और जो आध्यात्मिक गुणोंसे समलंकृत हैं, केवल वे ही साधक अपने प्रियतम प्रभुका दिव्य सम्पर्क प्राप्त कर सकते हैं। मिथ्या-प्रदर्शन (पाखण्ड) एवं हठवादिता प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमें महान् बाधक हैं। जो केवल सांसारिक प्रदर्शनके लिये भक्ति करते हैं, वे प्रभु-कृपासे वञ्चित रहते हैं और अन्ततः बहुत दुःख प्राप्त करते है[१२]। परमेश्वर सत्यस्वरूप हैं और उनका प्रत्येक कार्य सत्यपर अधिष्ठित एवं न्यायानुकूल है, अतः सभी विकारों (मिथ्या-प्रदर्शन, हठवादिता आदि)-से सर्वथा मुक्त होकर सत्यमार्गका अवलम्बन लेनेवाले भक्तजन जब प्रभुके चरणारविन्दोंमें नतमस्तक होते हैं तो परमेश्वरकी कृपाके पात्र बनकर भवसागरसे पार हो जाते हैं।[१३] स्पष्ट है कि परमेश्वरकी कृपा एवं भगवत्प्रेमकी प्राप्तिहेतु निष्कपट व्यवहार और सत्यमय जीवन परम आवश्यक है।[१४] परनिन्दा, पाखण्ड, अहंकारादिका त्याग करके ही साधक प्रभु-प्रेमका अधिकारी बनता है।[१५]

---

१. मांझ महला-५ पृ० १०९; २. मांझ महला-३ पृ० ११२; ३. गउड़ी महला-५ पृ० १९६;
४. गूजरी महला-१ घरु ४ पृ० ५०५; ५. वडहंसु महला-४ घरु १ पृ० ५६०-५६१; ६. सिरीरागु महला-५ पृ० ४६

७. (क) 'करि किरपा अपनी भगती लाय। जन नानक प्रभु सदा धिआया॥' (सूही महला-५ पृ० ७३७)
(ख) 'सदा हरि रसु पाए जा हरि भाए रसना सबदि सुहाए।' (गउड़ी महला-३ पृ० २४६)
(ग) 'जुग जुग भगत पिआरे हरि आपि सवारे। आपे भगती लाए।' (गउड़ी महला-३ पृ० २४६)

८. 'आपणा लाइ आ पिरमु न लगई जे लोचै सभु कोइ। ऐहु पिरमु पिआला खसम का जै भावै तै देइ॥' (सलोक शेख फरीदके पृ० १३७८)

९. 'सदा सदा साचे गुण गावहि साचै नाइ पिआर। किरपा करिकै आपणी दितोनु भगति भंडार॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३६)

१०. 'आपे सरणि पवाइदा मेरे गोविंदा हरि भगत जना राखु लाजै जीओ।' (गउड़ी मांझ महला-४ पृ० १७४-१७५)

११. 'अपनी भगति आप ही द्रिड़ाई। पूरब लिखतु मिलिआ मेरे भाई॥' (रागु गउड़ी गुआरेरी असटपदी कबीरजीकी पृ० ३३१)

१२. 'भगति करहि मूरख आपु जणावहि। नचि नचि टपहि बहुतु दुख पावहि॥' (गउड़ी गुआरेरी महला-३ पृ० १५९)

१३. 'सचा साहिबु सचु निआओ पापी नर हारदा। सालाहिहु भगतहु कर जोड़ हरि भगत जन तारदा॥' (सलोक महला-३ पृ० ९०)

१४. 'सचीकार कमावणी सचे नालि पिआरु। सचा साहु वरतदा कोइ न मेटणहार॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३४)

१५. 'मेरे मन तजि निंदा हऊमै अहंकारु। हरिजीओ सदा धिआइ तू गुरमुखि ऐकंकारु॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० २९-३०)

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिको उद्भावित करनेवाली प्रभु-कृपाको जाग्रत् करनेका दूसरा प्रधान साधन 'विनम्रता' बतलाया गया है। साधकको जाति, कुल एवं वैभव आदिका अभिमान त्यागकर स्वयंको सर्वथा नगण्य मानना चाहिये[१] तथा अनुभवी संत पुरुषों एवं प्रभु-भक्तोंकी दासता स्वीकार करके उन्हींकी संगति (मार्गदर्शन)-में आध्यात्मिक साधना करनी चाहिये।[२] भगवद्भक्तोंको समर्पित की गयी विनम्रतासे भ्रमों (शंकाओं)-का निवारण होता है[३], परिणामतः परमेश्वरका वरदहस्त साधकोंको अपने अनन्य प्रेमसे ओत-प्रोत कर देता है।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबके अनुसार परमेश्वरकी अनन्य भक्तिको प्रकट करनेवाली प्रभुकी अतिशय करुणाको प्राप्त करनेका तीसरा मुख्य सोपान है—'समर्पणभाव' या 'शरणागति'। प्रेमा-भक्तिके अभिलाषी साधकका यह परम कर्तव्य है कि वह परमेश्वरके प्रत्येक विधान (भले ही वह विधान सांसारिक दृष्टिसे प्रतिकूल प्रतीत हो)-में अनुकूलता ही धारण करे[४]। इस चिरन्तन जीवनमूल्यको शिरोधार्य करनेवाले भगवद्भक्तोंको परमेश्वरकी असीम अनुकम्पा प्राप्त होती है, जो प्रेमा-भक्तिको अवतरित करके उनके (भक्तोंके) जीवनका उद्धार कर देती है[५]। निष्काम भक्तोंका योगक्षेम वहन करनेवाले परमेश्वरकी ही शरण, विश्वास (आशा), मित्रता एवं उसपर ही अपने जीवनकी सुरक्षाको केन्द्रित करके[६] भक्तजन अपने जीवन और मृत्युकी चिन्तासे भी मुक्त हो जाते हैं[७]। ऐसे भक्तजनोंका जीवन पूर्णतः प्रभुकी आज्ञापर अवलम्बित होता है। उनकी प्रत्येक चेष्टा परमेश्वरके विधानमें संतुष्टि प्रतिबिम्बित करती है। भक्तिके इस अद्भुत आदर्शसे अभिभूत हुए परमेश्वर अपनी कृपादृष्टिसे भक्तोंके जीवनमें प्रेम-मन्दाकिनी प्रवाहित कर देते हैं[८] एवं प्रभुके चरणारविन्दोंमें सर्वस्व समर्पण करनेवाले भक्तोंकी साधना कभी निष्फल नहीं होती, अपितु करुणावरुणालयकी कृपाजलराशिसे सिंचित होकर प्रेमा-भक्तिसे पल्लवित एवं पुष्पित हो जाती है[९]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रतिपादित शरणागति (समर्पणभाव)-का यह स्वरूप वैष्णव-दर्शनमें व्याख्यायित 'षड्विधा शरणागति' (प्रपत्ति)-से पर्याप्त साम्य रखता है, जिसके अनुसार शरणापन्न भगवद्भक्तमें ये छः स्थितियाँ नित्य दृष्टिगोचर होती हैं—१-भगवान्के अनुकूल रहनेका संकल्प, २-भगवान्से प्रतिकूलताका त्याग, ३-'भगवान् रक्षा करेंगे' इसमें अडिग विश्वास, ४-भगवान्को अपना रक्षक मानना, ५-आत्मसमर्पण (आत्मनिक्षेप) तथा ६-भगवान्के प्रति नितान्त दीनताका भाव[१०]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिमूला प्रभु-कृपाको उद्बोधित करनेवाला चतुर्थ साधन 'तीव्र वेदना' स्वीकार किया गया है। भावुक भक्तोंके हृदयमें जब विरह-ज्वाला उद्दीप्त हो उठती है, नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, परमेश्वरसे मिलनेके लिये एक अद्भुत छटपटाहट-सी होने

---

१. 'किआ हम किरम नान निक कीरे तुम वड पुरख वडागी। ····हरि प्रभ सुआमी किरपा धारहु हम हरि हरि सेवा लागी॥' (धनासरी महला-४ पृ० ६६७)

२. 'नानक दास निदासु करहु प्रभ हम हरि कथा कथागी।' (धनासरी महला-४ पृ० ६६७)

३. 'जो जो भगतु होइ सो पूजहु भरमन भरमु चुकावैगो।' (कानड़ा महला-४ पृ० १३०९)

४. 'आठ पहर निकट करि जानै। प्रभ का कीआ मीठा मानै॥' (आसा महला-५ पृ० ३९२)

५. 'एकु कुसलु मोकऊ सतिगुरु बताइआ। हरि जो कुछु करे सु हरि किआ भगता भाइआ॥'···· इनि बिधि कुसल होत मेरे भाई। इओ पाईऐ हरि राम सहाई॥ (महला-५ रागु गउड़ी गुआरेरी चऊपदे पृ० १७६)

६. 'तुमरी सरणि तुमारी आसा तुम ही सजन सुहेले। राखहु राखनहार ददूआला नानक घर के गोले॥' (धनासरी महला-५ पृ० ६७४)

७. 'अब हम चली ठाकुर पहिहारि। जब हम सरणि प्रभू की आई राखु प्रभू भावै मारि॥' (रागु देवगंधारी महला-४ पृ० ५२७-२८)

८. 'साजन मेरे प्रीतमहु तुम सह की भगति करेहो। गुरु सेवहु सदा आपणा नामु पदारथु लेहो॥ भगति करहु तुम सहै केरी जो सह पिआरे भावऐ। आपणा भाणा तुम करहु ता फिरि सह खुसी न आवऐ॥ भगति भाव एहु मारगु बिखड़ा गुरदुआरै को पावऐ। कहै नानक जिसु करे किरपा सो हरि भगति चितुलावऐ॥' (आसा महला-३ पृ० ४४०)

९. 'जो सरणी आवै सरब सुख पावै तिलु नही भंनै घालिआ। हरि गुणनिधि गाए सहज सुभाऐ प्रेम महारस माता। नानक दास तेरी सरणाई तू पूरन पुरखु बिधाता॥' (केदारा छंत महला-५ पृ० ११२२)

१०. 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपः कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः॥'

लगती है, तब प्रभु-कृपाका उन्मेष होता है[1]। प्रियतम प्रभुके विरहमें नींद और चैन सब गायब हो जाते हैं[2]। जीवन सूना-सूना-सा लगता है और जीनेकी भी अभिलाषा नहीं रहती। एकमात्र यही आकुलता निरन्तर बनी रहती है कि 'न जाने मेरा प्रियतम स्वामी अपने दर्शनोंसे मुझे कब कृतार्थ करेगा'। दर्शनके ऐसे प्यासे विरही भक्तोंको अपने अमृतमय दर्शनका पान कराकर प्रभु अपनी दिव्य अनुकम्पाका अनन्त वैभव लुटा देते हैं[3]। दर्शनके प्यासे नयनोंको यदि प्रियतमका दिव्य साक्षात्कार हो जाय तो प्रेमी भक्त बदलेमें अपने सिरको भी समर्पित करनेहेतु लालायित रहता है[4]। जैसे कमल सूर्यका अवलोकन करके ही अपनी सत्ताको धारण करता है[5] और मछली जलमें निवास करती हुई ही जीवित रहती है[6], ठीक उसी प्रकार अपने प्रियतम प्रभुका दर्शन करके ही प्रेमी भक्त आध्यात्मिक जीवन (आनन्द)-को धारण करता है। इस अनुपम स्थितिको प्राप्त करनेहेतु सांसारिक जीवनका सर्वस्व न्योछावर करनेमें भक्तको तिलभर भी संकोच नहीं है[7]। करुणावरुणालय प्रभु अपने ऐसे निःस्पृह भक्तोंको सहर्ष अङ्गीकार करके अपनी प्रेममयी सुधासे आप्लावित कर देते हैं[8]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें श्रीहरिकी अनुरागमूला कृपाको जाग्रत् करनेमें 'प्रार्थना' की भी एक उत्कृष्टभूमिका स्वीकार की गयी है। इस दृष्टिसे 'प्रार्थना' को पञ्चम साधन कहा जा सकता है। साधनाकी उत्कृष्टतम स्थितिमें अवस्थित श्रीगुरु अर्जुनदेवजी (पाँचवें सिक्ख गुरु) परमेश्वरसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि 'हे प्रभो! आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है, मुझ दासपर ऐसी कृपा कीजिये कि आपके चरण-कमलोंमें मेरा उत्कट अनुराग (स्नेह) उत्पन्न हो जाय[9]। सच्चे अनुरागी साधकके तो एकमात्र प्रियतम एवं प्राणोंके आधार परमेश्वर ही हैं और उसे पूर्ण विश्वास है कि प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपार अनुग्रह करते हुए वे अवश्य ही अपनी प्रेमा-भक्तिकी अतुलनीय सम्पदासे उसे (साधकको) कृतकृत्य कर देंगे[10]। जैसे चातक निरन्तर स्वाति नक्षत्रकी वर्षाके जलहेतु लालायित रहता है, ठीक उसी प्रकार परमेश्वरकी कृपाकी आकाङ्क्षा करता हुआ साधक अपने प्रियतम प्रभुसे प्रेममयी भक्तिकी याचना करता है[11]।

परमेश्वरके चरणारविन्दोंमें की गयी प्रार्थनाके प्रभावसे सर्वत्र प्रभुकी व्यापकता एवं निकटताका बोध होता है,

---

१. 'हउ रहि न सका बिनु देखे प्रीतमा मै नीरु वहे वहि चलै जीओ।'......हरि जीओ कृपा करहु गुरु मेलहु जन नानक हरि धनु पलै जीओ॥' (रागु मांझ महला-४ पृ० ९४)

२. 'नह नीद आवै प्रेम भावै सुणि बेनंती मेरी आ। बाझहु पिआरे कोइ न सारे ऐकलड़ी कुरलाऐ। नानक साधन मिलै मिलाई बिनु प्रीतम दुखु पाऐ॥' (गऊड़ी छंत महला-१ पृ० २४३)

३. 'अंतरि पिरी पिआरु किऊ पिर बिनु जीवीऐ राम। जब लगु दरसु न होइ किऊ अंम्रितु पीवीऐ राम॥ किऊ अंम्रितु पीवीऐ हरि बिनु जीवीऐ तिसु बिनु रहनु न जाए। अनदिनु प्रिऊ प्रिऊ करे दिनु राती पिर बिनु पिआस न जाऐ॥ अपणी क्रिपा करहु हरि पिआरे हरि हरि नामु सद सारिआ। गुर कै सबदि मिलिआ मैं प्रीतमु हऊ सतिगुर विटहु वारिआ॥' (तुखारी छंत महला-४ पृ० ११९३)

४. 'तू चऊ सजण मैडिआ डेई सिसु उतारि। नैण महिंजे तरसदे कदि पसी दीदारु॥'

(मारू वार महला-५; डखणे महला-५ पृ० १०९४)

५. 'प्रीतम प्रीति लगी प्रभ केरी जिव सूरजु कमलु निहारे।' (नट महला-४ पृ० ९८३)

६. 'घोल घुमाई लालना गुरि मनु दीना। सुण सबदु तुमारा मेरा मनु भीना। ऐहु मनु भीना जिऊ जल मीना लागा रंगु मुरारा॥'

(तुआरी छंत महला-५ पृ० १११७)

७. (क) 'सकल गुणा के दाते सुआमी बिनऊ सुनहु इक दीना।
देहु दरसु नानक बलिहारी जीअड़ा बलि बलि कीना॥' (तुखारी छंत महला-५ पृ० १११७)

(ख) 'तेरे दरसन विटहु खंनीऐ वंजा तेरे नाम विटहु कुरबाणो।' (रागु वडहंसु महला-१ घर १ पृ० ५५७)

८. 'एहु तनु मनु तेरा सभि गुण तेरे। खंनीए वंजा दरसन तेरे॥ दरसन तेरे सुण प्रभ मेरे निमख द्रिसटि पेखि जीवा। अंम्रित नाम सुनीजै तेरा किरपा करहि त पीवा॥' (तुखारी छंत महला-५ पृ० १११७)

९. 'चरनकमल सिऊ लागऊ नेहु। नानक की बेनंती ऐह॥' (धनासरी महला-५ पृ० ६८४)

१०. 'प्रभ मेरे प्रीतम प्रान पिआरे। प्रेम भगति अपनो नामु दीजै दइ आल अनुग्रहु धारे॥' (मलार महला-५ पृ० १२६८)

११. 'चात्रिक चितवत बरसत मेह। क्रिपासिंधु करुणा प्रभ धारहु हरि प्रेम भगति को नेंह॥' (जैतसरी महला-५ पृ० ७०२)

अनुभवी संतोंसे समागम होता है[१]। इन गुरु-स्थानीय आध्यात्मिक संतोंद्वारा की गयी ज्ञान-चर्चा (तत्त्व-विचार)-से प्रेमा-भक्तिका उदय होता है[२]। जितेन्द्रिय, सत्य एवं संयमनिष्ठ साधक जब अध्यात्मपरायण (गुरु) संतके मार्गदर्शनमें नाम-साधना करता है तो ऐसी साधनामयी भक्ति प्रभुको आकृष्ट करती है[३], फलतः प्रभु-कृपाका अविरल स्रोत प्रवाहित होने लगता है, श्रीहरिका अमृतमय (मानसिक एवं वाचिक) नाम-जप सहज ही साधकके अन्तःकरणमें अविचल स्थिति बना लेता है, जन्म-मरणके दुःखोंसे सदा-सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है[४]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें परमेश्वरके अनुरागको उन्मेषित करनेवाली प्रभु-कृपाको प्राप्त करनेका छठा साधन 'ज्ञान या विवेक' स्वीकार किया गया है। जबतक मनुष्यको संसारकी वास्तविकताका ज्ञान या बोध नहीं होता, तबतक परमेश्वरमें सच्चा अनुराग (प्रेम) उत्पन्न नहीं हो सकता[५]। सम्यक् दृष्टिसे सम्पन्न आध्यात्मिक जिज्ञासु पुनः-पुनः सूक्ष्म विचार करनेके उपरान्त इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि परमेश्वरके अतिरिक्त संसारके अन्य पदार्थ एवं शरीरादि—सभी मिथ्या हैं[६]; फलतः उसके हृदयमें प्रभु-कृपाका अवतरण होता है और परमेश्वरके प्रेमको प्राप्त करनेका चाव उमड़ता है। उसे सदैव यही प्रतीति होने लगती है कि इस क्षणभङ्गुर जीवनमें एकमात्र परमेश्वर एवं उसके प्रति किया गया प्रेम ही शाश्वत है, अन्य सब कुछ अस्थिर है, विनाशी है[७]। संसारके सभी सम्बन्ध पूर्णतः स्वार्थपर अवलम्बित हैं, परंतु मनुष्यके साथ यह विडम्बना है कि वह अन्ततक साथ निभानेवाले परमेश्वरको भुलाकर अज्ञानवश सांसारिक प्राणियोंसे ही स्नेह (प्रेम) करता है[८]। जो सौभाग्यशाली प्राणी आध्यात्मिक ज्ञानकी दिव्य सम्पदासे समन्वित है, वह विश्वके समग्र पदार्थोंको हेय और अस्थायी जानता हुआ ईश्वरीय प्रेमको प्रकट करनेवाली प्रभु-कृपाकी ही याचना करता है[९]। उसे सतत इस तथ्यका भान होता रहता है कि प्रभुसे किया गया प्रेम ही जन्म-जन्मान्तरतक प्राणीके साथ चलता है[१०]। सांसारिक दुःखोंसे छूटनेके अन्य जितने भी उपाय हैं, उनका सामर्थ्य प्रतीतिमात्र है। स्मृति, शास्त्र और वेदादिके साक्ष्यके आधारपर भी यही परिपुष्ट होता है कि प्रभुकी प्रेमा-भक्ति ही सांसारिक दुःखोंसे मुक्ति दिला सकती है[११]। आध्यात्मिक जिज्ञासुके हृदयमें अङ्कुरित हुआ यह सहज ज्ञान उसे प्रभु-कृपाका सत्पात्र बनाता है और प्रभु-कृपाका यह दिव्य उपहार परमेश्वरके अलौकिक प्रेमको जाग्रत् करता है।

निष्कर्षतः श्रीगुरुग्रन्थसाहिबने भगवत्प्रेमोदयमें प्रभु-कृपाकी उत्कृष्टभूमिकाको स्वीकार किया है।

---

१. 'सदही निकटि जानऊ प्रभ सुवामी सगल रेण होइ रहीऐ। साधूसंगति होइ परापति ता प्रभु अपना लहीऐ॥' (टोडी महला-५ पृ० ७१३)

२. 'प्रेमपदारथु पाईऐ गुरमुखि ततु वीचारु॥' (सिरीरागु महला-१ पृ० ६१)

३. 'जिसु अंतरि प्रीति लगै सो मुकता। इंद्रीवसि सच संजमि जुगता॥ गुर कै सबदि सदा हरि धिआऐ ऐहा भगति हरि भावणि आ॥' (माझ महला-३ पृ० १२२)

४. 'पूरा सतिगुरु जे मिलै पाईऐ सबदु निधानु। करि किरपा प्रभ आपणी जपीऐ अंम्रित नामु॥ जनम मरण दुखु काटीए लागै सहज धिआनु॥' (सिरीरागु महला-५ पृ० ४६)

५. 'गिआन विहूणी पिरमु तीआ पिरमु न पाइआ जाइ। *अगिआनमती अंधेरु है बिनु पिर देखे भुख न जाइ॥'* (सिरीरागु महला-३ पृ० ३८)

६. 'साधो ऐह तनु मिथिआ जानऊ। या भीतरि जो रामु बसतु है साचो ताहि पछानो॥' (रागु बसंतु हिंडोल महला-९ पृ० ११८६)

७. 'मै कि आ मागऊ किछु थिरु न रहाई हरि दीजै नामु पिआरी जीओ।' (सोरठिमहला-१ पृ० ५९७)

८. 'संगि सहाई सु आवै न चीति। जो बैराई ता सिऊ प्रीति॥' (गऊड़ी सुखमनी महला-५ पृ० २६७)

९. 'मागऊ दानु ठाकुर नाम। अवरु कछू मैरै संगि न चालै मिलै क्रिपा गुण गाम॥' (टोडी महला-५ घरु २ दुपदे पृ० ७१३)

१०. 'आदि मधि जो अंति निबाहै। सो साजनु मेरा मनु चाहै॥ हरि की प्रीति सदा संगि चालै। दइआल पुरख पूरन प्रतिपालै॥' (गऊड़ी महला-५ पृ० २४०)

११. 'ततु बीचारु कहै जनु साचा। जनमि मरै सो काचो काचा॥ ···अनिक उपाव न छूटनहारे। सिंम्रिति सासत बेद बीचारे॥ हरि की भगति करहु मनु लाइ। मनिबंछत नानक फल पाइ॥' (गऊड़ी सुखमनी महला-५ पृ० २८८)

मसीही धर्म (बाइबिल)-में भगवत्प्रेम

(डॉ० श्री ए०बी० शिवाजी, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

विश्वके प्राय: सभी धर्मोंमें प्रेमको ही ईश्वरको जाननेका प्रमाणित स्रोत माना गया है, अत: जीवनमें प्रेमका अत्यन्त उच्च स्थान स्वत:सिद्ध है। मसीही धर्मकी भी समस्त शिक्षा ईश्वरीय प्रेमसे ओत-प्रोत है। प्रश्न यह है कि ईश्वरको जाननेका एकमात्र साधन 'प्रेम' कैसे हो सकता है? प्रेमका महानतम गुण उसमें बलिदान करनेकी क्षमताका होना है, अत: प्रेम करना जानना चाहिये। 'बाइबिल' यह सिखाती है कि अपने पड़ोसीसे अपनी आत्माके समान प्रेम करो। जो मनुष्य अपनी आत्मासे और इस प्रकार अपने पड़ोसीसे प्रेम करता है, वह ईश्वरसे प्रेम करता है। 'मैरी कार्मन रोज' अपनी पुस्तक 'ऐसे इन क्रिश्चियन फिलॉसॉफी' में प्रेमको ईश्वरको जाननेके साधनरूपमें ग्रहण करती हैं, वे लिखती हैं—

"Christian love has an epistomological function since it is only through our giving of love to our fellow men that we come to know God and His love" उनका यह कथन पवित्र बाइबिलपर आधारित है। नये नियमकी पुस्तक (१ यूहन्ना ४:७-८)-में कहा गया है, 'हे प्रियो! हम आपसमें प्रेम करें, क्योंकि प्रेम ही परमेश्वर है और जो कोई प्रेम करता है, वह परमेश्वरको जानता है। जो प्रेम नहीं करता, वह परमेश्वरको नहीं जानता।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तिम सर्वोच्च सत्ताको जाननेका प्राथमिक स्रोत अपने पड़ोसीसे प्रेम करना है। यदि कोई मनुष्य यह कहता है कि वह अपने इष्ट अथवा ईश्वरसे प्रेम करता है और भाईसे वैर तो वह झूठा है। वह केवल दूसरोंको ही नहीं स्वयंको भी धोखा दे रहा है। प्रभु यीशु कहते हैं—'यदि कोई कहे कि मैं परमेश्वरसे प्रेम रखता हूँ और अपने भाईसे वैर तो वह झूठा है, क्योंकि जो अपने भाईसे जिसे उसने देखा है, प्रेम नहीं रखता; वह परमेश्वरसे भी जिसे उसने नहीं देखा, प्रेम नहीं रख सकता' (१ यूहन्ना ४:२०)। अत: ईश्वरको जाननेके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य दूसरोंसे प्रेम रखे, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण एवं रंगका हो।

मसीही धर्ममें ईश्वरीय समझ प्रेमपर ही आधारित मानी गयी है। पौलुस १ कुरिन्थियोंकी पत्री ८:३ में कहता है—'परंतु यदि कोई परमेश्वरसे प्रेम रखता है तो उसे परमेश्वर पहचानता है।' मनुष्य सांसारिक ज्ञानसे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि लिखा है—'ज्ञान घमण्ड उत्पन्न करता है, परंतु प्रेमसे उन्नति होती है, यदि कोई समझे कि मैं कुछ जानता हूँ तो जैसा जानना चाहिये, वैसा अबतक नहीं जानता।'

मसीही दर्शन अथवा धर्ममें 'प्रेम' ईश्वर-पुत्र कहलानेका एक अधिकार प्रदान करता है। १ यूहन्ना ३:१ में कहा गया है—'देखो, पिताने हमसे कैसा प्रेम किया है कि हम परमेश्वरकी संतान कहलाये और हम हैं भी।' वास्तवमें प्रेम वही है जो मानव और ईश्वरके बीचके अलगाव एवं पृथक्ताको दूर करता है। गाँधीजी कहा करते थे—'सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य', किंतु बहुत-से मतावलम्बी ईश्वरको नहीं मानते, क्योंकि वर्तमानके निरपेक्ष युगमें प्रतिदिन सत्यकी परिभाषाएँ बदल रही हैं। आज जो सत्य है, वह कल असत्य हो जायगा। इस विवादसे छुटकारा पानेका केवल एक ही विकल्प है कि हम कहें—'ईश्वर-प्रेम है'। बाइबिलमें यह कथन १ यूहन्ना ४:१६ में पाया जाता है—'और जो प्रेम परमेश्वर हमसे रखता है, उसको हम जान गये तथा हमें उसकी प्रतीति है। परमेश्वर प्रेम है, जो प्रेममें बना रहता है वह परमेश्वरमें बना रहता है और परमेश्वर उसमें बना रहता है।'

यथार्थमें प्रेम एक पुल है जो दो अजनबियोंको मिलाता और एक शाश्वत एकताको निर्मित करता है। यही प्रेम विश्वासमें बदल जाता है और एक प्रेमी अपने प्रेमास्पदके साथ एक जीव एवं एक तत्त्व हो जाता है। यह इसलिये होता है कि प्रेममें गतिशीलता होती है, उसमें क्षमता होती है; क्योंकि इसके साथ नैतिक मूल्य हैं।

मसीही धर्ममें प्रेम धार्मिक सिद्धान्तके रूपमें अनुपम स्थान लिये हुए है। हम कह सकते हैं कि प्रेम मसीही सिद्धान्त एवं प्रथाकी रीढ़की हड्डी है। यह इतना शक्तिशाली प्रत्यय है, जिसके द्वारा विश्वको बिना लहूका एक कतरा बहाये भी जीता जा सकता है। प्रेम धार्मिक सिद्धान्तके

रूपमें जीवनमें महत्त्व रखता है। वर्तमानमें प्रेम और घृणा दो तत्त्व हैं जो एक स्थानपर साथ-साथ नहीं रह सकते। मनुष्यको इनमेंसे एकका चुनाव करना है। प्रेमसे परिपूर्ण प्राणी शाश्वत जीवनकी ओर जाता है जबकि घृणासे परिपूर्ण प्राणी शरीर और आत्मा दोनोंको विनाशकी ओर ले जाता है। अतः यह कहनेके स्थानपर कि 'मसीही धर्म प्रभु यीशुका धर्म है', यह कहा जाय कि 'मसीही धर्म प्रेमका धर्म है' तो उपयुक्त होगा। मसीही धर्ममें प्रेमको दो भागोंमें विभाजित किया गया है, जिसे 'अगापे' और 'ईरॉस' कहा जाता है। 'अगापे' और 'ईरॉस' ग्रीक भाषाके शब्द हैं जो दो भिन्न अर्थोंको बताते हैं।

'अगापे' परमेश्वर-प्रेमके लिये स्वयंके बलिदानका अप्रतिबन्धके रूपमें वर्णन करता है। प्रभु यीशुका क्रूसपर अन्यके लिये बलिदान मानव-जातिके इतिहासमें सर्वोच्च बलिदान है। हजारों अवतार आये और उन्होंने मार्ग बताये, परंतु किसीने भी क्रूसके उस दुःखको न सहा जो प्रभु यीशुने सहा। 'अगापे' प्रेममें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है, वह राजा एवं रंक, उच्च एवं नीच दोनोंके लिये समान है।

ईश्वर मानव-जातिसे इसलिये प्रेम करता है; क्योंकि वह स्वयं प्रेम है। कोई शर्त इस प्रकारके प्रेममें नहीं रखी गयी है। परमेश्वरका प्रेम धार्मिक अथवा परिवर्तनीय (Transitional) नहीं है, किंतु शाश्वत है। यर्मियाह नबीकी पुस्तक ३१:३ में कहा गया है—'मैं तुझसे सदा प्रेम रखता आया हूँ, इस कारण मैंने तुझपर अपनी करुणा बनाये रखी है।'

जब परमेश्वर इतना प्रेमी और दयालु है तो मनुष्य-जातिको भी अपना कर्तव्य समझना चाहिये। मनुष्यको परमेश्वरके प्रेमके बदले क्या करना चाहिये? बाइबिलमें कई आदेश हैं जिनका पालन मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यका परमेश्वरके प्रति क्या कर्तव्य है? समय-समयपर भविष्यवक्ता मनुष्यको चेतावनी देते आये हैं कि वे सम्पूर्ण हृदय, आत्मा और शक्तिसे परमेश्वरसे प्रेम करें, जैसा कि हम व्यवस्थाविवरणकी पुस्तक ६:५ में पढ़ते हैं, 'तू अपने परमेश्वर यहोवासे अपने सारे मन और सारे जीव एवं सारी शक्तिके साथ प्रेम रखना।'

ईश्वरने अपने पुत्र 'यीशु मसीह' को संसारमें भेजकर प्रेमका सर्वोच्च उदाहरण दिया है और तब कहा है कि एक-दूसरेसे प्रेम करो। उसी उच्च प्रेमके प्रत्ययको प्रभु यीशुने अपने कार्योंद्वारा चरितार्थ किया है। प्रभु यीशु वह शब्द है जो देहधारी हुआ। अतः उसका प्रेम इन्द्रियग्राह्य नहीं है जिसका आनन्द इन्द्रियोंद्वारा लिया जा सके। अपितु, उसका प्रेम लोकोत्तर प्रेम है, उसका प्रेम व्यावहारिक प्रेम है जो मनुष्यको प्रेरणा देता है कि भक्तिके रूपमें उसका उत्तर दे। पौलुसद्वारा लिखित १ कुरिन्थियोंकी पत्रीके तेरहवें अध्यायमें प्रेमकी विशेषताएँ दर्शायी गयी हैं। प्रेमकी जो प्रकृति वहाँ दर्शायी गयी है, इतनी उच्च है कि मनुष्य उससे अधिक अनुभव नहीं कर सकता। उस अध्यायकी तेरहवीं आयतमें कहा गया है, 'विश्वास, आशा तथा प्रेम—ये तीनों स्थायी हैं, पर इनमें सबसे बड़ा प्रेम है।'

प्रभु यीशुने प्रेमके विषयमें प्रथम आदेश निम्न पंक्तियोंके रूपमें दिया है जो मत्ती-रचित सुसमाचार ५:४४-में पाया जाता है—'परंतु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि अपने वैरियोंसे प्रेम रखो और अपने सतानेवालोंके लिये प्रार्थना करो।' दूसरा आदेश यह है कि 'अपने पड़ोसीसे अपने समान प्रेम करो। वर्तमानमें समाजको इस आदेशका पालन करनेकी बहुत आवश्यकता है। मरकुस-रचित सुसमाचार १२:३१ में कहा गया है—'तू अपने पड़ोसीसे अपने समान प्रेम रखना, इससे बड़ी और कोई आज्ञा नहीं।' पौलुस रोमियोंकी पत्री १३:८:१ में लिखता है 'आपसके प्रेमको छोड़ और किसी बातमें किसीके कर्जदार न हो, क्योंकि जो दूसरेसे प्रेम रखता है, उसीने व्यवस्था पूरी की है। व्यभिचार, हत्या, चोरी एवं लालच न करना तथा इनको छोड़ और कोई आज्ञा हो तो सबका सारांश इस बातमें पाया जाता है कि अपने पड़ोसीसे अपने समान प्रेम रख'। इसके द्वारा पौलुस यह बताता है कि ईश्वरीय प्रेम और प्रभु यीशुके प्रेममें कोई अन्तर नहीं है। यूहन्ना १४:११ में पढ़ते हैं, 'मेरी ही प्रतीति करो कि मैं पितामें हूँ और पिता मुझमें है।'

प्रेमके दो विशेष कार्य हैं। प्रथम कार्य यह है कि 'प्रेम पड़ोसीकी कुछ बुराई नहीं करता, इसलिये प्रेम रखना व्यवस्थाको पूरा करना है' और द्वितीय कार्य यह है कि 'प्रेममें भय नहीं होता वरं सिद्ध प्रेम भयको दूर कर देता है;

(३) मिथुन—बुध, श्रीगणेश, श्रीहयग्रीव, श्रीदक्षिणामूर्ति।
(४) कर्क—चन्द्रमा, भगवान् राम, मा पार्वती, लक्ष्मी।
(५) सिंह—सूर्य, भगवान् नृसिंह, भगवान् कृष्ण।
(६) कन्या—बुध, भगवान् धन्वन्तरि, श्रीमहाविष्णु।
(७) तुला—शुक्र, श्रीमहालक्ष्मी, राजराजेश्वरी।
(८) वृश्चिक—मंगल, भगवान् शिव, हनुमान्, मा काली।
(९) धनु—बृहस्पति, हयग्रीव।
(१०) मकर—शनि।
(११) कुम्भ—शनि, भगवान् वाराह।
(१२) मीन—बृहस्पति और क्षीरशायी भगवान् विष्णु।

बृहत्-पाराशर होराशास्त्रमें कारकांश कुण्डलीके आधारपर भगवत्प्रेमकी चर्चा मिलती है। इसमें कारकांश-कुण्डलीके बारहवें घरमें स्थित ग्रहका अध्ययन किया जाता है।
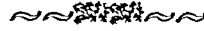
उत्तररामचरितमें राम-सीताका आदर्श दाम्पत्य-प्रेम

(डॉ० श्रीविनोदकुमारजी शर्मा, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), प्रभाकर (संगीत), पी-एच्०डी० (संस्कृत))

महाकवि भवभूति संस्कृत-नाटककारोंकी प्रथम पंक्तिमें परिगणित हैं। यही नहीं, विद्वानोंकी दृष्टिमें कविकुलगुरु कालिदासके समकक्ष यदि कोई नाटककार है तो वे भवभूति ही हैं। कतिपय काव्यज्ञ तो उन्हें कालिदाससे भी महत्तर प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं—'**कवयः कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः**'। भवभूतिकी उज्ज्वल कीर्तिके आधार-स्तम्भके रूपमें केवल उनकी तीन नाट्यकृतियाँ प्राप्त होती हैं—'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' तथा 'उत्तररामचरित'। इनमें 'मालतीमाधव' नाट्य शास्त्रीय भाषामें 'प्रकरण' है। दस अङ्कोंके इस प्रकरणमें मालती तथा माधवका प्रेम अत्यन्त सुन्दर रूपमें चित्रित किया गया है। महावीरचरित सात अङ्कोंका नाटक है। इसकी कथावस्तुका आधार महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत रामायण है। इस नाटकमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके विवाहसे लेकर राज्याभिषेकतककी कथा वर्णित है। उत्तररामचरित भी सात अङ्कोंका नाटक है। इसमें श्रीरामचन्द्रजीके उत्तरकालिक जीवनचरितका सुरम्य चित्रण है।

भवभूतिके नाटकोंमें एक प्रमुख विषय दाम्पत्य-प्रेम है। विवाहके पूर्वके प्रेमका चित्रण संस्कृत-नाट्यपरम्परामें बहुत अधिक हुआ है। भवभूति ही हैं, जिन्होंने वैवाहिक सम्बन्धोंको नाटकका विषय बनाया तथा सामाजिक संदर्भोंके बीच इन सम्बन्धोंमें आनेवाले उतार-चढ़ावोंका रेखाङ्कन किया। भवभूतिने अपनी रचनाओंमें प्रेमकी उत्पत्ति युगपत् और पूर्वापर दोनों प्रकारकी बतायी है। महावीरचरितमें राम-सीता तथा लक्ष्मण-उर्मिलाका प्रेम युगपत् प्रेमका उदाहरण है। पूर्वापर प्रेमका उदाहरण मालतीमाधवमें प्राप्त होता है, जहाँ मालतीके हृदयमें माधवके दर्शनसे और मदयन्तिकाके हृदयमें मकरन्दके गुणश्रवणसे प्रेम उत्पन्न होता है।

भवभूतिने अपने नाटकोंमें प्रेमकी उत्कृष्ट अभिव्यञ्जना की है। पात्रोंका प्रेम अत्यन्त उन्नत कोटिका है। न तो कहीं स्वार्थ है और न द्वेष। अलौकिक स्नेहकी धारा सर्वत्र प्रवाहित है। पति-पत्नीका प्रेम भवभूतिने जिस पराकाष्ठापर पहुँचाया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। राम-सीताका प्रेम आदर्श पति-पत्नीका प्रेम है। मालती-माधवका प्रेम आदर्श प्रेमिका-प्रेमीका प्रेम है। मकरन्दका प्रेम आदर्श मित्रका प्रेम है। चन्द्रकेतु और लवका प्रेम दोनोंकी सदाशयताका द्योतक है। श्रीरामका लव-कुशके प्रति प्रेम, जनकका जानकीके प्रति प्रेम, पृथ्वीका सीताके प्रति स्नेह—ये सभी आदर्श कोटिके प्रेम हैं।

भवभूतिकी शृङ्गारभावना विशुद्ध प्रेमपर आधृत है। उनका प्रेम आदर्श है। प्रेमसे उनका आशय उस सम्बन्धसे है जो दो हृदयोंको स्नेहसूत्रमें बाँध देता है। उनका प्रेम विश्वजनीन है, जिसमें कोई कालुष्य नहीं, कोई दुराव नहीं। प्रेम उनकी दृष्टिमें अनिर्वचनीय तथा अविनाशी है। वे एक पत्नीव्रतमें विश्वास रखते हैं। उनकी कृतियोंमें सपत्नियोंके ईर्ष्या-द्वेषके लिये कोई स्थान नहीं है। उनके प्रणयी अपने प्रेममें दृढ़ हैं तथा उनका प्रेम शुद्ध, नैसर्गिक एवं निर्मल है। उसमें मदान्धता या कामलिप्सा नहीं है। भवभूति जिस

निष्णात पण्डित होते हुए भी भवभूति कहते हैं कि प्रेम अपना प्रमाण स्वयं है, अन्य किसी स्रोतसे वह विज्ञेय नहीं है। वह एक अदृश्य तन्तु है जो प्राणियोंके अन्तर्मर्म एक-दूसरेसे जोड़ता है—

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति॥

(५।१७)

भवभूति सृष्टिके केन्द्रमें इस प्रेमको प्रतिष्ठित करते हैं और यह प्रेम क्योंकि व्यक्तिके व्यक्तित्वका अङ्ग है, इसलिये वे उसके साथ मनुष्यको प्रतिष्ठित करते हैं। एक शब्द जो उन्होंने प्रेम और मानवीय सम्बन्धोंको परिभाषित करते हुए दिया है, वह है—'**सुमानुष**'। इसका अर्थ दाम्पत्य किया गया है, किंतु 'उत्तररामचरित'में श्रीरामके मुखसे प्रेमकी अनुभूतिका निर्वचन कराते हुए जब भवभूति इस शब्दका प्रयोग करते हैं तो वे यह भी द्योतित करना चाहते हैं कि प्रेम करता हुआ मनुष्य ही '**सुमानुष**' बनता है और सुमानुषकी रचना करता है।

इस प्रेममें मनुष्य अपने 'होने' को पहचानता है, इसलिये यह संसारके समस्त स्वार्थ-सम्बन्धोंसे उसे ऊपर उठा देता है। श्रीरामके श्रीमुखसे कल्याणी जानकीका स्मरण कराते हुए नाटककार कहते हैं कि प्रेमीजन एक-दूसरेके लिये कुछ करें, यह आवश्यक नहीं है, उनका होना और उपस्थित रहना ही बड़ी बात है। कुछ न करते हुए भी प्रियजन अपने सुखसे ही अपने प्रियके समस्त दुःखोंको हर लेता है। वे दोनों एक-दूसरेके लिये बहुमूल्य हुआ करते हैं—

अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

(२।१९)

यह प्रेम अनिर्वचनीय होता है। प्रेमके गूढ रहस्यकी वर्णना असम्भव है। केवल प्रेमी हृदय ही उसे जान सकते हैं—'**हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम्**[१]।' यही प्रेम दाम्पत्य-जीवनका सार है। इसमें आजीवन समरसता रहती है और सुख-दुःख दोनों दशाओंमें यह समान रहता है। कवि इसी दाम्पत्य-प्रेमका गायक है। उसने इसकी प्रतिष्ठा नाटकके नायक श्रीरामचन्द्रके द्वारा करायी है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु य-
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

(१।३९)

अर्थात् 'जो सुख-दुःखमें एकरूप रहता है, सभी दशाओंमें अनुसरण करनेवाला है, जिसमें हृदयको विश्रान्ति मिलती है, वृद्धावस्थाके द्वारा भी जिसके रसका हरण नहीं किया जा सकता, जो विवाहसे लेकर मृत्युपर्यन्त परिपक्व प्रेमके सारके रूपमें स्थित रहता है, उस दाम्पत्य-प्रेमका सौभाग्य किसी प्रकारसे ही प्राप्त किया जा सकता है।'

उत्तररामचरितमें राम और सीता एक-दूसरेके गुणोंपर मुग्ध हैं। बाह्यरूपपर उनका ध्यान प्रायः नहीं जाता। प्रथम अङ्कमें रामके चित्रको देखकर उनके शारीरिक सौन्दर्यकी ओर सीताने केवल एक बार संकेतमात्र किया है[२]। सीताके बाह्यरूप—केवल मुखका वर्णन तीन स्थलोंपर प्राप्त होता है। प्रथम अङ्कमें राम सीताके शिशुमुखका स्मरण करते हैं[३]। तृतीय अङ्कमें तमसाद्वारा उनके मुखका वर्णन विरहव्यथाकी तीव्रताका अङ्कन करनेके लिये किया गया है[४] और षष्ठ अङ्कमें सीताके मुखके स्मरणसे रामकी विरहव्यथा उद्दीप्त होती है[५]।

महाकवि भवभूति अपने नाटकोंमें प्रत्येक नारीपात्रके भीतर माकी झलक देखते हैं और प्रत्येक पात्रको माकी दृष्टिसे भी देखते हैं। उन्होंने अपने भीतरकी मातृत्वग्रन्थिको बृहद्रचनात्मक आयाम दिया है। यहाँतक कि वे इस नाटकमें सीता और रामके अन्तरङ्ग सम्बन्धोंमें एक-दूसरेको मातृत्वकी दृष्टिसे शिशुके रूपमें देखनेकी प्रवृत्ति भी अभिव्यक्त करते हैं। विवाहके तुरंत बाद मिथिलासे सीताको अयोध्या लेकर आनेके समयकी स्मृतियोंमें रामको सीता बच्ची-जैसी भासित होती हैं, जिसे देखकर उनकी

---

१. ६।३२
२. अहो! दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणशोभमानमांसलदेहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसौम्यसुन्दरश्रीरनादरखण्डितशङ्करशरासनः शिखण्डमुग्धमुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखितः। (१।१५)
३. प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैर्दशनमुकुलैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम्। (१।२०)
४. परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्। करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥ (३।४)
५. ६।३७

राम-पद-पद्म-प्रेमी केवटका चरणानुराग

'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥'

(ना० भ० सू० ५१)

श्रीरामचरणानुरागी केवटकी प्रीति रामचरितमें अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रभु-पद-कमलोंमें उनकी श्रद्धा-भक्ति और प्रीतिकी सीमा नहीं है। भगवान् राघवेन्द्र भगवती सीता और लक्ष्मणसहित गङ्गातीरपर आये। उन्होंने पार उतरनेके लिये केवटसे नाव माँगी; पर *'मागी नाव न केवटु आना।'* (रा०च०मा० २।१००।३) केवट स्पष्ट कह देते हैं, 'मैंने सुना है और सभी लोग कहते हैं कि आपकी चरणरजकी ऐसी महिमा है, जिसके स्पर्शसे कठोर पाषाण भी स्त्री बन जाता है। यदि मेरी नौकाकी भी यही दशा हुई तो मैं अपने परिवारका भरण-पोषण कैसे करूँगा? और कोई धंधा तो मैं जानता नहीं।' अतएव—

एहि घाटतें थोरिक दूरि अहै कटि लौं जलु थाह देखाइहौं जू।

—'यहाँसे थोड़ी दूरपर गङ्गामें कमरतक ही जल है और मैं स्वयं साथ चलकर आपको मार्ग बता दूँगा। आप पार हो जायँगे।' यह सब कहनेमें केवटका एकमात्र उद्देश्य था, सर्वेश्वरके दुर्लभ चरणकमलोंकी स्पर्श-प्राप्ति—उनका प्रक्षालन करके सम्पूर्ण परिवारको कृतार्थ कर लेना।

कितनी सुकृतियोंसे महाराज जनकको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था—

बहुरि राम पद पंकज धोए। जे हर हृदय कमल महुँ गोए॥

और—

'जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।'

—उन्हीं चरणोंपर केवटकी दृष्टि थी। निश्छल केवटने उनसे कह भी दिया—

जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

प्रभो! आपको नौकासे पार जाना हो तो मुझे चरण धो लेने दीजिये; अन्यथा मैंने कह ही दिया है, यहाँसे थोड़ी ही दूरपर कमरतक जल है, वहाँसे पार हो जाइये। मैं चलकर मार्ग बता दूँगा। आगे-आगे मैं ही रहूँगा। नावपर चढ़ानेके लिये तो मेरी शर्त यही है—

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

(रा०च०मा० २। १०० (छन्द))

केवटकी भक्ति एवं उनकी प्रेममयी अटपटी वाणीको सुनकर राघवेन्द्र जानकी और लक्ष्मणकी ओर देखकर मुसकराने लगे। यही सरलता, निश्छलता, हृदयकी पवित्रता एवं यही प्रीति तो प्रभुको प्रिय है। इसी भक्तिपर तो प्रेमसिन्धु प्रभु बिक जाते हैं—भक्तके वश हो जाते हैं। उन्होंने हँसकर केवटसे कह दिया। भैया!

'सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥'

बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहि पारू॥

अमित भाग्यशाली राम-पद-पद्म-प्रेमी केवटकी महिमा क्या कही जाय? जिन करुणा-वरुणालय प्रभुके नामका स्मरण कर असंख्य मनुष्य संसार-सागरके पार उतरते हैं, वे ही निखिल सृष्टिपति भगवान् श्रीराम केवटका निहोरा करते हैं! केवटने प्रभुकी आज्ञा प्राप्त की और दौड़ पड़े—*'पानि कठवता भरि लेइ आवा॥'* प्रेमकी उमङ्गमें—आनन्दमें निमग्न होकर वे प्रभुके दुर्लभ पद-पद्मोंको अत्यन्त श्रद्धा-

भक्तिपूर्वक धोने लगे। वे प्रभुके चरणकमलोंको खूब अच्छी तरह रगड़-रगड़कर, दबा-दबाकर धो रहे थे। केवटके इस सौभाग्यका क्या कहना?

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

(रा०च०मा० २।१०१।८)

महात्मा केवटका—नहीं, नहीं, उनके पूर्वजों एवं उनके सम्पूर्ण परिवारका जीवन धन्य हो गया। वे कृतार्थ हो गये। अनन्तकालीन जन्म-जरा-मरणके कठोर पाशसे वे सहज ही मुक्त हो गये—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

(रा०च०मा० २।१०१)

केवट नौका खेते हुए प्रभुको पार उतार रहे थे। उनकी दृष्टि अब भी प्रभुके पद-पद्मोंमें ही गड़ी थी। उनके आनन्द एवं प्रेमकी सीमा नहीं थी। प्रभु पार उतरे और गङ्गाकी रेतमें खड़े हो गये। प्रभुको संकोच हुआ कि 'इसे कुछ पारिश्रमिक नहीं दिया।' तब—

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥

(रा०च०मा० २।१०२।३)

प्रभुने कहा—'यह उतराई लो।'

भगवान्‌की इस वाणीसे केवट व्याकुल हो गये और उन्होंने प्रभुके चरण पकड़ लिये। आपने सौभाग्य, कृतज्ञता एवं प्रेमके सूचक अश्रु उनके नेत्रोंसे झर रहे थे। उन्होंने प्रभुके सम्मुख स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त कर दिया—'नाथ! आज मैंने क्या नहीं पाया? मेरे दोष, दुःख और दरिद्रताकी आग आज सदाके लिये बुझ गयी। मैंने बहुत समयतक मजदूरी की। विधाताने आज भरपूर मजदूरी मुझे दे दी'—

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥

(रा०च०मा० २।१०२।५, ६)

भक्त केवटने पुनः कहा—'प्रभो! आपके अनुग्रहसे मुझे अब कुछ नहीं चाहिये। आपने तो मुझे सब कुछ दे दिया।' पर वे चतुराईके साथ यह भी कह देते हैं—

फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मैं सिर धरि लेबा॥

(रा०च०मा० २।१०२।८)

दीनदयालु श्रीरामने अनेक बार कहा, श्रीसीता और लक्ष्मणने भी पारिश्रमिक लेनेके लिये जोर दिया; पर परम कृतार्थ केवटने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। कोई मार्ग न देखकर—

'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'

ऐसे श्रीराम-चरणानुरागी केवटके प्रेम और उनकी भक्तिका स्मरण भी मनुष्यको पवित्र करता रहेगा।*

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

जिन्होंने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारीके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो कि सत्पुरुषोंका सर्वस्व है, उनके लिये यह भव-सागर बछड़ेके खुरके गढ़ेके समान है। उन्हें परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियोंका निवासस्थान—यह संसार नहीं रहता।

---
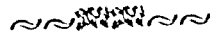
* अध्यात्मरामायणमें यह प्रसङ्ग अहल्योद्धारके बाद ही प्रभुके मिथिलापुरी जाते समय आता है। अहल्योद्धारसे सर्वत्र समाचार प्रचरित हो गया था कि श्रीरामकी चरणधूलिसे शिला भी स्त्री बन जाती है। वहाँ केवटके वचन इस प्रकार हैं—

क्षालयामि तव पादपङ्कजं नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम्।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥
पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा पश्चात् परं तीरमहं नयामि।
नोचेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानिः॥ (१।६।३-४)

'हे नाथ! यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणोंमें कोई मनुष्य बना देनेवाला चूर्ण है। (आपने अभी शिलाको स्त्री बना दिया, फिर) शिला और काष्ठमें भेद ही क्या है? अतः नौकापर चढ़ानेसे पूर्व मैं आपके चरणकमलोंको धोऊँगा। इस प्रकार आपके चरणोंको मलरहित करके मैं आपको श्रीगङ्गाजीके उस पार ले चलूँगा। नहीं तो हे विभो! आपकी चरणरजके स्पर्शसे यदि मेरी नौका सुन्दर युवती हो गयी तो मेरे कुटुम्बकी आजीविका ही मारी जायगी।'

दास्य-प्रेमके आदर्श हनुमान्‌जी

(मानसमणि पं० श्रीरामनारायणजी शुक्ल, शास्त्री 'व्यास')

भगवान् करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीके परम प्रिय हनुमान्‌जी दास्य-प्रेमके परम आदर्श महापुरुष हैं। आशुतोष भगवान् शिवजीके प्रभु श्रीरामसे तीन-तीन सम्बन्ध हैं—

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥

(रा०च०मा० १।१५।४)

परंतु स्वतन्त्र दास्य-प्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिये, प्रभुको सुख देनेके लिये भगवान् सदाशिवने वानर-शरीर धारण किया—

जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

प्रभुकी दासता चाहनेवाले सेवकको अपने सुखसे उदासीन रहते हुए प्रभुके सुखमें ही सुख मानना चाहिये और उसकी सारी चेष्टाएँ प्रभु-प्रीतिके लिये ही होनी चाहिये। साथ ही दासको वैराग्यवान् होकर श्रीप्रभुका अनुरागी बनना चाहिये। श्रीहरिके दासका एक प्रधान लक्षण है, जिसे गोस्वामीजीने 'वैराग्य-सन्दीपनी'में इस प्रकार बताया है—

अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीकें देखा सब कोई॥

इसीलिये हनुमान्‌जी प्रतिक्षण प्रति रोमसे नाम-जप करते रहते हैं। ऐसा दास भक्त श्रीभगवान्‌को बहुत प्यारा होता है। श्रीरामजी अपने सखाओंसे कहते हैं—

सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।८)

इसी प्रकार श्रीरामजी विभीषणशरणागतिके संदर्भमें कहते हैं—

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ॥

× × ×

पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतिआउ।
नहि कोऊ प्रिय मोहि दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ॥

(गीतावली, सुन्दरकाण्ड ४५)

श्रीरामजी हनुमान्‌जीके प्रेम तथा सेवाका गान बारम्बार करते रहते हैं। शिवजी बताते हैं—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

(रा०च०मा० ७।५०।८-९)

मारुतिमिलन-प्रसङ्गमें जब हनुमान्‌जी विप्ररूप धारणकर प्रभु श्रीरामसे मिलने गये, परस्पर वार्तालाप हो जानेपर जब मारुतिने प्रभुको पहचाना तो तुरंत श्रीचरणोंमें पड़ गये, बार-बार रोने लगे, हृदयमें टीस हुई कि प्रभु मुझे गलेसे क्यों नहीं लगा रहे हैं?

प्रेम व्यवधान नहीं सहन कर सकता, तब प्रभु श्रीरामने उन्हें उठाकर गलेसे लगा लिया—

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

करुणासागर श्रीरामने वत्स मारुतिको उठाकर हृदयसे लगा लिया। अपना सर्वस्व दे दिया और अपने प्रेमाश्रुओंसे अभिषिक्त कर दिया—

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥

(वा०रा०युद्ध० १।१३)

श्रीप्रभुने कहा—इस समय इन महात्मा हनुमान्‌को मैं केवल अपना प्रगाढ़ आलिङ्गन प्रदान करता हूँ; क्योंकि यही मेरा सर्वस्व है।

हनुमान्‌जीको अपने हृदयसे लगाकर भगवान्‌ने मानो अपने सिद्धान्तको सफल कर लिया—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

(रा०च०मा० ५।४८।४—७)

हनुमान्‌जीकी सारी ममता श्रीराममें ही है—ऐसी ही बात श्रीरामरक्षास्तोत्र (३०)-में भी कही गयी है—

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालु-
र्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥

अर्थात् श्रीराम ही मेरे माता, पिता, स्वामी तथा सखा हैं, दयालु श्रीरामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व हैं। उनके अतिरिक्त मैं किसी औरको जानता ही नहीं।

मानसके सुन्दरकाण्डकी एक चौपाईकी अर्द्धालीमें त्रिजटाका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका। राम चरन रति निपुन बिबेका॥

(रा०च०मा० ५।११।१)

प्रस्तुत पंक्ति त्रिजटाके चार गुणोंको स्पष्ट करती है—१-वह राक्षसी है, २-श्रीरामचरणमें उसकी रति है, ३- वह व्यवहार-निपुण और ४-विवेकशीला है। राक्षसी होते हुए भी श्रीरामचरणानुराग, व्यवहारकुशलता एवं विवेकशीलता-जैसे दिव्य देवोपम गुणोंकी अवतारणा चरित्रमें अलौकिकताको समाविष्ट करती है। सम्भवत: इन्हीं तीन गुणोंके समाहारके कारण उसका नाम त्रिजटा रखा गया हो। त्रिजटा रामभक्त विभीषणजीकी पुत्री है। वह रावणकी भ्रातृजा है। राक्षसी उसका वंशगुण है और रामभक्ति उसका पैतृक गुण। लङ्काकी अशोकवाटिकामें सीताके पहरेपर अथवा सहचरीके रूपमें रावणद्वारा जिस स्त्री-दलकी नियुक्ति होती है, त्रिजटा उसमेंसे एक है। अपने सम्पूर्ण चरित्रमें सीताके लिये इसने परामर्शदात्री एवं प्राणरक्षिकाका काम किया है। यही कारण है कि विरहाकुला और त्रासिता सीताने त्रिजटाके सम्बोधनमें माता शब्दका प्रयोग किया है—

त्रिजटा सन बोलीं कर जोरी। मातु बिपति संगिनि तैं मोरी॥

(रा०च०मा० ५।१२।१)

पुन:—

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥

(रा०च०मा० ५।१२।३)

ऐसी शुभेच्छुकाके लिये 'मा' शब्द कितना समीचीन है। सूक्ष्म ज्ञान है। वह सीताजीके स्वभाव और मनोभावको अच्छी तरह समझती है। वह यह भलीभाँति जानती है कि सीताजीकी सान्त्वनाके लिये और उनके दु:खोंको दूर करनेके लिये रामकथासे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है। मरणातुरा सीताजी आत्मत्यागके लिये जब उससे अग्निकी याचना करती हैं तो इस अनुरोधको वह यह कहकर टाल देती है—

'निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी।'

(रा०च०मा० ५।१२।६)

और सीताजीके प्रबोधके लिये वह राम-यश-गानका सहारा लेती है—

सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि॥

(रा०च०मा० ५।१२।५)

ज्ञान-गुणसागर हनुमान्‌जीने भी जब अशोकवाटिकामें सीताकी विपत्ति देखी तो उनके प्रबोधके लिये उन्हें कोई उपाय सूझा ही नहीं। वे सीताजीके रूप और स्वभाव दोनोंहीसे अपरिचित थे। उन्होंने त्रिजटा-प्रयुक्त विधिका ही अनुसरण किया। रावण-त्रासिता सीताजीको राम-सुयश सुननेसे ही सान्त्वना मिली थी, यह हनुमान्‌जी ऊपर पल्लवोंमें छिपे बैठे देख रहे थे। त्रिजटाके चले जानेके बाद सीताजी और भी व्याकुल हो उठीं। तब उनकी परिशान्तिके लिये हनुमान्‌जीने भी—

रामचंद्र गुन बरनैं लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥

(रा०च०मा० ५।१३।५)

दानवी होनेके कारण त्रिजटाको दानव-मनोविज्ञानका

ज्ञान तो था ही। दानवोंका अधिक विश्वास दैहिक शक्तिमें है और इसीलिये उन्हें कार्यविरत करनेमें भय अधिक कारगर होता है। सीताजीको वशीभूत करनेके लिये रावणने भय और त्रासका सहारा लिया था और तदनुसार राक्षसियोंको ऐसा ही अनुदेश करके वह चला गया था। सीताजीका दु:ख दूना हो गया; क्योंकि राक्षसियाँ नाना भाँति भयङ्कर रूप बना-बनाकर उन्हें डराने-धमकाने लगीं। व्यवहार-विशारद त्रिजटाके लिये यह असह्य हो गया। वर्जनके लिये उस पण्डिताने विवेकपूर्ण एक युक्ति निकाली। उसने राक्षस-मनोविज्ञानका सहारा लिया और एक भयानक स्वप्नकथाकी सृष्टि की। महाविनाशकारी स्वप्नदर्शनकी चर्चा सुनकर निशाचरियाँ भयभीत हो उठीं और तब अनुकूल परिस्थितिमें त्रिजटाने उन्हें सलाह दी—*'सीतहि सेइ करहु हित अपना॥'* कितनी विलक्षण सूझ है! इस स्वप्न-वार्तासे एक ओर जहाँ त्रिजटाका भविष्यदर्शिनी होना सिद्ध होता है, वहीं दूसरी ओर उसका व्यवहार-निपुणा और विवेकिनी होना भी उद्घाटित होता है। भय दिखाकर दूसरेको वशीभूत करनेवाली मण्डलीको उसने भावी भयकी सूचना देकर मनोनुकूल बना लिया। प्रत्यक्ष वर्जनमें तो राजकोपका डर था, अनिष्टकी सम्भावना थी।

लङ्काकाण्डके युद्ध-प्रसङ्गमें त्रिजटाकी चातुरीका एक और विलक्षण उदाहरण मिलता है। राम-रावण-युद्ध चरम सीमापर है। रावण घोर युद्ध कर रहा है। उसके सिर कट-कट करके भी पुन: जुट जाते हैं। भुजाओंको खोकर भी वह नवीन भुजावाला बन जाता है और श्रीरामके मारे भी नहीं मरता। अशोकवाटिकामें त्रिजटाके मुँहसे यह प्रसङ्ग सुनकर सीताजी व्याकुल हो जाती हैं। श्रीरामचन्द्रके बाणसे भी नहीं मरनेवाले रावणके बन्धनसे वह अब मुक्त होनेकी आशा त्याग देनेको हो जाती हैं। त्रिजटाको परिस्थितिका अनुभव होता है। वह सीताजीकी मनोदशाको देखकर फिर प्रभु श्रीरामके बलका वर्णन करती है और सीताको श्रीरामकी विजयका विश्वास दिलाती है। सीताजीके इस विह्वल वचनपर—

होइहि कहा कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता॥
रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥

(रा०च०मा० ६।९९।४-५)

—त्रिजटा सीताजीसे एक तर्कपूर्ण बात कहती है कि रावणके हृदयमें तुम हो। इसीसे श्रीराम उसके हृदयमें बाण नहीं मारते। वे सोचते हैं—नाभिमें शर लगते ही उसका मन विचलित होगा, जिससे तुम्हारा ध्यान छूट जायगा, तब वह हृदयमें तीर लगते ही मर जायगा—

एहि के हृदयँ बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुअन अनेक लागत बान सब कर नास है॥
सुनि बचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटाँ कहा।
अब मरिहि रिपु एहि बिधि सुनहि सुंदरि तजहि संसय महा॥

(रा०च०मा० ६।९९ छं०)

इस प्रकार त्रिजटाचरित्र भक्ति, विवेक और व्यवहार-कुशलताका एक मणिकाञ्चनयोग है।

भक्तिसागरका एक अमूल्य रत्न—प्रभुप्रेमी प्रह्लाद

(श्रीमती सरलाजी श्रीवास्तव)

जैसे सागरकी उत्ताल तरङ्गें अपने गर्भमें अनेक बहुमूल्य रत्नोंको सँजोये रहती हैं, किंतु चतुर गोताखोर उनको खोजकर देवप्रतिमाओंकी शोभा बढ़ानेहेतु ऊपर ले ही आते हैं, उसी प्रकार भक्तिरूपी सरितामें अवगाहन करनेवाले देवर्षि नारद भवसागरमें भटकते निर्मल हृदयके प्राणियोंको परमात्माकी ओर उन्मुख करनेमें अत्यन्त प्रवीण हैं।

श्रीमद्भागवतमें प्रसङ्ग आता है कि नारदजीने भक्तिदेवीको वचन दिया कि कलियुगमें भी वे भक्तिका प्रचार एवं प्रसार करेंगे। उन्हींके प्रयाससे भक्तिदेवी पुन: स्वस्थ हो गयीं। आदिकालसे ही देवर्षिकी वीणा करुणासागर प्रभुके गुणगानमें व्यस्त रही। श्रीहरिकी कृपासे उन्होंने अल्पवयस्क बालकोंको भी परम भागवत बनानेमें सफलता प्राप्त की। उनके ही उपदेशके प्रभावसे दैत्योंके कण्टकाकीर्ण काननमें एक सुगन्धित पुष्प विकसित हुआ—भक्त प्रह्लाद, जिसके दैवीगुण प्रत्येक विषम परिस्थितिमें उसे विजयी बनानेमें सफल हुए।

भगवान्‌के द्वारा हिरण्याक्षका वध किये जानेपर हिरण्यकशिपुने उनसे शत्रुता ठान ली। घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदान भी प्राप्त कर लिया; किंतु उसकी पत्नी कयाधुके गर्भस्थ शिशुने नारदजीद्वारा दिये गये भागवतधर्म एवं ज्ञानके उपदेशको ग्रहणकर श्रीहरिकी अपूर्व छबिको आत्मसात् कर लिया। संसारमें आनेके पश्चात् भी उस बालकने हरिकथासे सुरभित अपनी बुद्धिको कभी दूषित नहीं होने दिया। यद्यपि वह दैत्यकुलमें उत्पन्न हुआ और अपने चारों ओर उसने अत्याचार एवं क्रूरताका ही साम्राज्य देखा; किंतु उसका भगवत्प्रेमानुरागी चित्त सदैव भक्तवत्सल भगवान्‌के श्रीचरणोंमें ही लीन रहा।

भक्त प्रह्लाद बचपनमें ही खेल-कूद छोड़कर भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो जाया करते थे। हिरण्यकशिपुने गुरु शुक्राचार्यके पुत्र शण्ड एवं अमर्कको उनकी शिक्षा-दीक्षाहेतु नियुक्त किया। अन्य दैत्यबालकोंके साथ पढ़ते समय भी उनका आध्यात्मिक चिन्तन चलता रहता, अतः भौतिक राजनीति एवं अर्थनीतिका पाठ उनको रुचिकर प्रतीत नहीं होता था।

जब कभी उनके पिता प्रेमपूर्वक अपनी गोदमें बैठाकर उनसे अध्ययनके विषयमें ज्ञात करनेकी चेष्टा करते तो प्रह्लादजी सदैव वास्तविक सत्यकी ही व्याख्या करने लगते। वे कहते कि 'मैं' और 'मेरे' का त्याग करके

प्रत्येक प्राणीको श्रीहरिकी शरणमें ही जाना चाहिये। अपने आत्मजके मुखसे अपने शत्रुकी प्रशंसा सुनकर हिरण्यकशिपु बौखला जाता था। फिर भी प्रह्लादका निश्चय अडिग था। एक बार तो उन्होंने अपने पिताके सम्मुख नवधा-भक्तिकी विवेचना कर डाली। उन्होंने कहा—पिताजी! भगवान्‌के नाम-गुण-लीला-धाम आदिका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उनके रूप, नाम आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चा, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति ही वास्तविक अध्ययन है।

यह सुनकर हिरण्यकशिपु आगबबूला हो गया और उसने उन्हें अपनी गोदसे उठाकर नीचे पटक दिया। उसने सोचा बालक बहक गया है, अतः गुरुपुत्रोंको पुनः उसे उचित शिक्षा देनेका निर्देश दिया; किंतु परिणाम विपरीत ही हुआ। जब भी समय मिलता प्रह्लादजी अपने साथी दैत्यबालकोंको भी भगवत्प्रेमका महत्त्व बताकर भगवान्‌की शरणमें जानेकी ही सलाह देते। वे कहते कि भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता; क्योंकि वे समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं। वे ही केवल आनन्दस्वरूप परमेश्वर हैं। यह जीव मायाके द्वारा भ्रमित किया जा रहा है, अतः उनका दर्शन नहीं कर पाता। मायाका आवरण हटते ही उनके दर्शन

सम्भव हो जाते हैं। अतः तुम लोग अपनी आसुरी प्रवृत्तिको त्यागकर समस्त प्राणियोंपर दया करो, उनसे प्रेम करो, भगवान्‌को प्रसन्न करनेका यही एकमात्र

उपाय है। प्रेम ही परमात्मा है।

किससे बाँधू बैर, जगतमें कोई नहीं पराया।
हर प्राणीमें प्रतिबिम्बित है, उसी ब्रह्मकी छाया॥

किसी भी प्राणीको कष्ट पहुँचाना अधर्म है। सदैव परोपकारकी भावना ही हृदयमें धारण करनी चाहिये। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं।

धीरे-धीरे सत्संगके प्रभावसे दैत्यबालकोंमें भी श्रीहरिके प्रति निष्ठा जाग्रत् होने लगी। जब यह समाचार हिरण्यकशिपुके पास पहुँचा तो उस पापीने भक्त बालकके वधका निश्चय कर लिया। उन्हें मारनेके लिये अनेक उपाय किये गये, किंतु न उनको अग्नि जला सकी, न सर्प डँस सका। जल, वायु और आकाश—सभीने उनकी रक्षा की।

जाको राखै साइयाँ, मार सके नहिं कोय।
बाल न बाँका कर सके, जो जग बैरी होय॥

जो जगदीश्वरकी गोदमें सुरक्षित है, उसे मृत्युका भय कैसा? प्रह्लादका भगवत्प्रेम ही उनका सुरक्षा-कवच था। अन्ततः मदान्ध हिरण्यकशिपुने क्रुद्ध होकर प्रश्न किया—बता, तेरा जगदीश्वर कहाँ है? उन्होंने अत्यन्त शान्त एवं सरलभावसे कहा कि वह तो कण-कणमें व्याप्त है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ प्रभुका वास न हो—

ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥

(रा०च०मा० ७।७२।४-५)

जब प्रह्लादने खम्भमें भी भगवान्‌के होनेकी पुष्टि की तो स्वयंपर नियन्त्रण न रख पानेके कारण उस दम्भी दैत्यने अपनी तलवारसे खम्भपर प्रहार कर दिया। उसके विखण्डित होते ही गम्भीर गर्जना हुई और नृसिंहरूप धारणकर श्रीहरि अपने भक्तके वचनकी सत्यता प्रमाणित करनेहेतु उससे प्रकट हो गये। उन्होंने हिरण्यकशिपुके शरीरको अपने तीक्ष्ण नखोंसे विदीर्ण कर डाला तथा स्वयं सिंहासनपर विराजमान हो गये। चारों ओर जय-जयकार एवं पुष्पवर्षा होने लगी, किंतु प्रभुका रौद्ररूप सबको भयभीत कर रहा था।

केवल भक्त ही भगवान्‌के क्रोधको शान्त कर सकता है। बालक प्रह्लादने अत्यन्त प्रेम एवं श्रद्धासे नृसिंहभगवान्‌की स्तुति की। श्रीहरिने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होंने यही वर माँगा कि मेरे हृदयमें कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित न हो। धन्य है प्रह्लादजीका निष्काम भगवत्प्रेम! इतनी अल्पायुमें ही उन्होंने ऐसी उच्चकोटिकी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर ली, जो तपस्यारत बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंके लिये भी दुर्लभ है।

आधुनिक कलिकालमें भी यह प्रेरणाप्रद चरित्र अति प्रासङ्गिक है। हिरण्यकशिपु बुराई एवं दुर्गुणोंका प्रतीक है। आजके युगमें स्वार्थ, अहंकार, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंका ही बोलबाला है। उनको नियन्त्रित एवं कम करनेका केवल एक ही उपाय है, प्रभुके नामका स्मरण एवं प्रभुकृपापर विश्वास। यदि हम प्रह्लाद बनकर भगवान्‌के नामका जप करेंगे तो परिणाम यह होगा कि जैसे नृसिंहभगवान्‌ने खम्भसे प्रकट होकर हिरण्यकशिपुका संहार किया, वैसे ही प्रभु हमारे जीवनमें भी विशेष कृपा करेंगे—

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥

(रा०च०मा० १।२७)

गोस्वामीजी प्रेरणा देते हैं कि राम-नामकी साधनाके द्वारा हम समस्त समस्याओंका समाधान कर सकते हैं एवं प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी अखण्ड आनन्दका अनुभव कर सकते हैं।
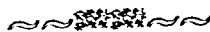
जनकनन्दन मिथिलेशकुमारका श्रीसीता-रामके प्रति प्रगाढ़ प्रेम

(मानसकेसरी पं० श्रीबाल्मीकिप्रसादजी मिश्र 'रामायणी')

[स्वामी श्रीरामहर्षणदासजीके द्वारा एक महाकाव्य 'श्रीप्रेमरामायण' की रचना हुई है। मिथिलेशकुमार श्रीलक्ष्मीनिधि मिथिलाके युवराज हैं तथा देवी सिद्धिकुँवरि इनकी पत्नी हैं। जनकनन्दिनी भगवती सीता तथा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके वनगमन करनेपर उनके विरहमें इस युवराज-दम्पतिकी प्रेमविह्वल मनोदशाका वर्णन कविने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस क्रममें विरहकी दस दशाओंका वर्णन भी किया गया है—सं०]

'अपने हृदयकी व्यथाका कुछ तो वर्णन करो। कैसा लग रहा है तुम्हें?' व्रज-गोपी अपनी सखीकी मर्मान्तक व्यथासे स्वयं आहत हो पूछ बैठी; पर क्या कहती वह वराका भुक्तभोगिनी? छातीपर हाथ रखा और अन्ततः व्यक्त किया उसने—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसंकोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

(रूप गोस्वामी)

सखी नन्दनन्दनका प्रेम जिसके हृदयमें जाग्रत् होता है, वही इस प्रेमके वक्र और मधुर पराक्रमको जानता है। आह! पीड़ा तो इतनी कि कालकूट विषका भी गर्व चूर हो जाय, पर बलिहारी माधुर्य भी इतना कि सुधाकी मधुरिमा उसके सम्मुख तुच्छ प्रतीत होती है।

इस प्रेम-देवताका यह पराक्रम प्रियतमके संयोग और वियोग दोनों ही कालोंमें न्यूनाधिक्यका नाम नहीं लेता, फिर भी महानुभावोंने इन श्यामघनके संयोगकी अपेक्षा वियोगको ही अधिक महत्त्व दिया है। किसी भुक्तभोगीने क्या ही उद्घोष किया था, उस दिन—

यदि उस प्रियतमके मिलन और वियोगमेंसे कोई एक लेना हो तो उसके मिलनसे वियोग ही श्रेष्ठ जान पड़ता है; क्योंकि मिलनमें तो वह अकेला होता है, किंतु वियोगमें तो तीनों लोक उसके स्वरूप बन जाते हैं, सर्वत्र वही दीखता है। इस लालकी लालीका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जिसे लौ लग गयी, उसकी दृष्टि ही लाल बन गयी—

लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल॥

आइये इस पृष्ठभूमिमें स्वामी श्रीरामहर्षणदासजी महाराजद्वारा प्रणीत महाकाव्य श्रीप्रेमरामायणान्तर्गत मिथिलेशकुमार युवराज लक्ष्मीनिधिजीकी विरहभूमिकाके कुछ चित्रोंका हम दर्शन करें—

मिथिला एवं अवधके लोग चित्रकूटसे वापस आ गये हैं। दोनों ही समाज श्रीरामदर्शनकी आकाङ्क्षासे चौदह वर्षोंके लिये विशेष व्रतोंका अवलम्ब लेकर कालक्षेप करने लगे। पूज्य गोस्वामिपादके शब्दोंमें—

राम दरस लगि लोग सब करत नेम उपबास।
तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि कीं आस॥

विरहके इन दुःसह दिवसोंमें मिथिला एवं अवधसे चित्रकूटतक चरोंका आवागमन बराबर बना रहता और दोनों ही समाज उस समाचारसे ही आश्वस्त होते रहते; किंतु वाह री विधिकी बलीयसी इच्छाशक्ति! श्यामसुन्दर रघुनन्दन श्रीराम चित्रकूट धामका भी परित्याग कर दक्षिणारण्यकी ओर प्रस्थान कर गये। श्रीमिथिलाधिराज तो चित्रकूटके इस परित्यागका मूल स्वयंको ही निरूपित कर रहे हैं—

सो सब मोर दोष सत अहई। या मह संशय नेक न गहई॥
प्रीति विवश सुधि लेवन हेता। रहे पठावत दूत अचेता॥
भीर देखि रघुनाथ प्रिय ह्वै उदास मन माहिं।
छोड़ि दियो कामद गिरिहिं दुख सुख परे सो आहि॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

मिथिलेशकुमार लक्ष्मीनिधिको भी श्रीरघुनन्दनके चित्रकूटपरित्यागका समाचार ज्ञात हुआ। हाय! अब आजसे प्राणवल्लभका कुछ भी समाचार उपलब्ध न होगा। अभागे प्राणो! तुम अब भी प्रस्थान नहीं कर रहे—

कहि अस कुँवर अचेत भे सिद्धि अंक निजलीन।
शीश परसि उपचार करि, दीन्ह जगाय प्रवीन॥

देवी सिद्धिकुँवरि उन्हें धैर्य बँधाती हैं, किंतु प्रियके विरहमें हृदयकी क्या स्थिति है, इसे युवराजके ही शब्दोंमें

श्रवण करें—

प्रेम कथा की पीर अतीवा। जानत प्रेमी के तेहि सीवा॥
कहनी मह कैसेहुँ नहिं आवै। सूक्ष्म सूक्ष्म अनुभव रस छावै॥
अहंकार ममकार नसाना। श्याम श्याम बसे मन आना॥
जरत बरत निसदिन रहै, बिरह वह्नि के बीच।
हमरो यहै स्वरूप सत, जग दुख सुख सब नीच॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

कमला सरोवरके मङ्गलमय तटपर देवी सिद्धिकुँवरि और युवराज लक्ष्मीनिधिके रूपमें मानो साक्षात् प्रेमाभक्ति ही पर्णकुटीरमें दम्पति-स्वरूपमें निवास करने लगी। समस्त मैथिल राजकुमार भी तपस्वीवेशमें लक्ष्मीनिधिकी ही भाँति तपोनिरत हैं। सहृदय जन इन मैथिल युवराजकी दशाका अवलोकन करें। अहा—

पुर बाहर शुचि सरिता तीरा। वन इकान्त नहिं जन की भीरा॥
रची कुँवर सुन्दर तृणशाला। सोह निकट वट वृक्ष विशाला॥
गुफा मनोहर युग खनवाई। भजन ध्यान हित विमल सुहाई॥
वलकल वसन जटिल सिर सोहा। जनु मुनि वेष काम छवि जोहा॥
लीन्ह तुमरिका पात्र शुभ, दीन्ह अन्न कहँ त्याग।
कन्द मूल फल खाइ कछु, सिद्धि सहित तजि राग॥

(प्रेमरामायण, चित्रकूटकाण्ड)

रात्रिके तीन पहर व्यतीत होते ही युवराज उठ बैठते, नित्यकृत्योंका अश्रुपूरित नेत्रोंके साथ निर्वहन करते और फिर कोहबर-कक्षसे प्राप्त पावरियों (पादुकाओं)-की भावभरी अर्चा करते—

पूजि सविधि शिर धरि पद त्राणा। प्रेम विभोर नचै रस खाना॥
श्रीरामः शरणं मम गाई। दम्पति रहैं प्रेम रस छाई॥
पावरि पूजि षडाक्षर मंत्रा। जपहि प्रेम पगि प्रभु परतंत्रा॥
अश्रु बहत अविरल नयन, नियम मध्य चित हान।
प्रेम पगे प्रभु सुरति करि, विकल विलख गत ज्ञान॥

(प्रेमरामायण)

इस दिनचर्याके अनुसार कालक्षेप करते हुए कुमार लक्ष्मीनिधि महाभावकी स्थितितक पहुँच जाते हैं।

रसिकाचार्योंने इस विरहासक्तिके दस स्वरूपोंका चित्रण किया है। उज्ज्वलनीलमणिकारके शब्दोंमें विरहकी वे दस दशाएँ इस प्रकार कही गयी हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानवं मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहमृत्युर्दशा दश॥

(विप्रलम्भ १५३)

चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, अङ्गोंकी मलिनता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं। श्रीरामविरहसे व्यथित युवराजके जीवनमें इन दसों दशाओंका कितना स्पष्ट दर्शन है। महिमामयी तिरहुत-वसुन्धरामें कमला सरोवरतटके इस तरुण तापसकी अद्भुत दशा दर्शनीय है—

(१) चिन्ता

हाय! मैं रघुनन्दनका श्याल (साला) कहा जाता हूँ, लोग मुझे वैदेहीका अग्रज कहकर पुकारते हैं, किंतु इस कुसमयमें मैं उनके किसी काम न आया—

राम सिया बन-बन फिरहिं, सुख सोवै घर माहि।
राम प्राण को प्राण बनि, महा कृतघ्न लखाहि॥
अस कहि निजकर छातिहि घाती। पीटत शिरहिं दुखहि दुखराती॥
तलफत निकसत मुख महँ फेना। कहरत कुँवर परे विरहैना॥
चित महँ चिन्ता रही समाई। चिन्तहिं चिन्तामणि रघुराई॥
चिन्तन करत चित्त लय लयऊ। तदाकार वृत्ती जिय जयऊ॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

(२) जागरण

प्रियवियोग और निद्रा? कहाँ है ऐसा सौभाग्य उस अभागेका!

वे तो निरन्तर अपने प्राणप्रियतमके चिन्तनमें ही निमग्न हैं, कब रात बीती, कब सबेरा हुआ, कोई भान ही नहीं—

यहि विधि बीतत दिन लग भारी। नींद न आवति निशा मँझारी॥
हा हा सिय हा रघुवर रामा। टेरत कुँवर विदेह ललामा॥
विरह व्यथा हिय महँ बसी, रह रह जिय अकुलाय।
कुँवर प्रिया लखि लखि तहाँ, सेवहिं पतिहिं बनाय॥
नींद न आवति जानि कुमारी। पियहिं पियावति चरित सुधारी॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

देवी सिद्धिकुँवरि अनिद्राकी इस स्थितिमें श्रीवैदेहीके अनेक मङ्गलमय चरित्रोंको सुनाती हैं।

(३) उद्वेग

युवराजके जीवनमें कभी-कभी एक ऐसी विकलता-

सी आ जाती थी, जिसमें कभी भी उन्हें शान्ति नहीं प्राप्त होती थी—

कबहुँ कबहुँ उद्वेग महाना। होत कुँवर तन तलफत प्राना॥
परत चैन नहि नेक मन, अधिक अधिक अकुलात।
सोवत जागत रैन दिन, बैठत उठत जम्हात॥
भीतर बाहर नहिं रहि जाई। अति उद्वेग रहेउ उर छाई॥
निकसि कुटीर कुँवर चल दीन्हे। कमला सन्मुख अति दुख कीन्हें॥
लागत देवहुँ छोड़ि शरीरा। सही जात विरह विष पीरा॥
भ्रात सखा बहु विधि समझाये। कुँवरहि कुटी प्रवेश कराये॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

(४) कृशता

राजकुमार लक्ष्मीनिधिके तनकी क्षीणता किस सीमातक पहुँच चुकी है? इसका एक चित्र प्रस्तुत करनेमें ये पक्तियाँ सहायक हैं—

कृशित भये अति जनक कुमारा। अस्थि चर्म अवशेष अकारा॥
चीन्ह न जाय खीन तन नामा। निकसत अहनिशि मुख सियरामा॥
अविरल बहे आँसु अति धारा। चित्त मगन सियराम मँझारा॥
चर्म चढ़े कंकाल सम, लागत जनक कुमार।
देखि दशा सुर जय वदत, वरषत सुमन अपार॥
कुँवर प्रेम दिवि देव सराहैं। होत मगन मन भरै उछाहैं॥
आँख धसी का कहिय शरीरा। उठत झमत उर अन्तर पीरा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

माता सुनयना युवराजकी इस दशाको देखकर कहती हैं कि बेटा! अब तो अवधिके दो ही वर्ष शेष बचे हैं। कुछ तो अन्न ग्रहण किया करो, ताकि व्रतका अवधिपर्यन्त निर्वाह हो सके और श्रीसीतारामसे मिल सको। युवराज उनसे अपनी विवशता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मा! मैं कितना भी उपाय करता हूँ कौर भीतर जाता ही नहीं है—

विरह अग्नि फोड़ा परेउ, बढ़ेउ हृदयके बीच।
नयन गली पानी बहत, छिन छिन मन तन सींच॥

(५) अङ्गोंकी मलिनता

देहाध्यास विस्मृत हो चुका है, शरीरके वस्त्र तो मलिन हो ही गये हैं और अङ्गकी कान्ति भी मलिन दिखायी पड़ रही है—

मलिन वसन अरु मलिन शरीरा। भयो कुँवर मन लहत न धीरा॥
प्रेम चिन्ह तन छूट पसीना। मलिन कुमार लगें रस भीना॥
रोवत रोवत विवरण भयऊ। मलिन काय मन उज्वल ठयऊ॥
राख छिपी पावक यथा, बादल ओटहिं भान।
मलिन बदन तिमि कुँवर लस, करत राम सिय ध्यान॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

(६) प्रलाप

विरहके आवेगमें वाणीका संयम शून्य हो जाता है और तब अनेक परस्पर असम्बद्ध बातें निकलने लगती हैं। अर्थहीन वाणीका असंयमित भाषण ही प्रलाप है।

युवराजको जब श्रीरामके वनवासकी स्मृति होती है, तब कहने लगते हैं—हाय! मेरी लाडली बहन एवं श्रीरामके वनमें निवास करनेकी बात मुझे प्रथम ही यदि ज्ञात हो गयी होती तो—

हा रघुनन्दन वनहि सिधाये। मो कहँ पहले नाहिं बताये॥
जनत्यों प्रथमहिं तव वनवासा। जाइ अवध है राम हुलासा॥
मैं बनि रूप तुम्हार पियारे। जातो बनहिं सप्रेम सुखारे॥
तुम्हहिं बनाय आपनो रूपा। मिथिला भेजतो रघुकुल भूपा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

अब भी तो कुछ बिगड़ा नहीं है, मैं अभी वन जा रहा हूँ और वहाँसे श्रीरामको लौटाकर उन्हें अपने रूपवाला बनाऊँगा तथा स्वयं उनका रूप धारण करूँगा—

मैं बनि राम बसौं मन माहीं। रघुवर फिरे बिना सुख नाहीं॥
अस कहि कुँवर निकसि चलि दयऊ। करत प्रलाप देह सुधि गयऊ॥
कुँवर पकरि सब कोय, लाये कुटिया बीच महँ।
समुझावत सब लोग, कुँवर हृदय समुझत नहीं॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

देवी सिद्धिकुँवरि समझाती हैं कि अब अरण्यवासका काल अत्यन्त अल्प बचा है। श्रीरघुनन्दन स्वयं ही आयेंगे। आप उनके पास जाना भी चाहेंगे तो उन्हें पा नहीं सकेंगे; क्योंकि भयंकर दक्षिणारण्यमें वे कहाँ हैं इसका कुछ पता तो है नहीं। यह भी सम्भव है कि आप उनके अन्वेषणमें उधर जायँ और वे यहाँ लौट आयें। अतः यहीं निवास करना उचित है।

(७) व्याधि

प्रेमदेवताके पदार्पण होनेपर जब देह उनके महातेजको सँभाल नहीं पाती तो उसमें अनेक प्रकारकी व्याधियोंका उदय हो जाता है।

कुमार लक्ष्मीनिधिजीकी देहमें व्याधियोंका उभार होने लगा—

सकल शरीर जलन सम लागा। नस नस पीरा भइ जिय जागा॥
नाना व्याधिहि ग्रह रहे, श्रीमिथिलेश कुमार।
तदपि बहिर्मुख कबहुँ नहि, बहे बिरह सरि धार॥

प्रेम-पन्थके पथिक तो दु:खको भी सुख ही समझते हैं। युवराज कभी इन वेदनाओंकी चर्चातक नहीं करते, किंतु परम प्रज्ञामयी देवी सिद्धि सबका अनुभव कर लेतीं। सास श्रीसुनयनासे चर्चा कर देतीं और श्रीविदेहराज उपचारकी व्यवस्थाएँ करते रहते।

(८) उन्माद

कुमार लक्ष्मीनिधिकी उन्मादावस्थाका स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियोंमें साकार हुआ है—

बाढ़ेव हृदय महा उन्मादा। कहि न जाय सो दशा विषादा॥
कबहुँ विरह बहुतहिं जिय जागे। रोवत विलपत अति दुख दागे॥
प्रभु स्वभाव सुनि कहुँ हरषाई। हँसन लगे हँसतो रह जाई॥
प्रभु गुन लागै कबहुँक गावन। उच्च स्वरहिं मनमोद बढ़ावन॥
हिय उन्माद अलौकिक जागा। महा भाव रस रँगे सुभागा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

वस्त्र-परिधानकी भी स्मृति नहीं। स्नानादि नित्यकृत्य भी भूल चुके हैं, अमृतरसमें सने ये एक पागलकी जिन्दगी जी रहे हैं। कहीं शान्त तो कहीं स्तब्ध बैठे रहते हैं। उनकी अद्भुत प्रेमदशा देखकर देवतागण मङ्गलानुशासन करते हैं।

(९) मोह

अत्यन्त तीव्र वियोगके प्रभावसे सर्वाङ्ग जब शिथिल होकर एक विचित्र मूर्च्छाको प्राप्त हो जाते हैं, तब उस दशाकी मोह संज्ञा होती है। यह स्थिति मृत्युके बहुत निकटकी होती है। स्वामी श्रीरामहर्षणदेवाचार्य जू महाराज प्रेमरामायणमें कहते हैं—

विरह मोहवश निमिकुल बारा। सब बिधि भूलत ज्ञान अपारा॥
प्रेमी प्रेमास्पद अरु प्रेमा। त्रिपुटी विनशि रहेउ रस नेमा॥
भयो कुँवर हिय रस कर रूपा। अकथ अगाध अगम्य अनूपा॥
बुद्धि क्रिया सब गई बिलाई। रहेउ राम रस चित्तई छाई॥

(वनविरहकाण्ड)

(१०) मृत्यु

रसिकाचार्यगण मृत्युका अर्थ मृत्युतुल्य दशा करते हैं। यदि मृत्यु ही वरण कर ले तो इस दारुण वेदनासे मुक्ति तो प्राप्त हो जाय, पर कहाँ होते हैं ऐसे भाग्य उन अनुरागियोंके। युवराजके जीवनकी इस झाँकीको भी निरुपाय लेखनी इस प्रकार चित्रित करती है—

दिन दिन छिन छिन विरह विहारा। बढ़त कुँवर हिय अनुप अपारा॥
सीय कहत मुरछा तन आवै। राम शब्द भीतर रहि जावै॥
रूप ध्यान तनि जो हिय आई। ठाढ़े गिरे न सुधिहिं रिहाई॥
चिंतन करतहिं रघुवर लीला। भूमि जाय सब कुँवर रसीला॥
मरण तुल्य सब शिथिल शरीरा। दश दश दिवस परे भुइँ बीरा॥
दिव्य कान्ति नहिं छोड़ति साथा। अतिहिं विचित्र कुँवर रस गाथा॥

(प्रेमरामायण, वनविरहकाण्ड)

अन्तत: शरीर संज्ञाशून्य-सा हो गया। सारे मैथिलजन प्राय: उनकी देहको घेरे हुए बैठे रहते। सभी लोग उनके श्रीअङ्गोंसे भगवन्नामकी ध्वनि उच्चरित होते सुनते। वातावरणका कुछ ऐसा प्रभाव था कि वहाँ पहुँचकर सभीके मुखसे स्वत: भगवन्नामका उच्चारण होने लग जाता था।

चौदह वर्षोंकी अवधिके अन्तिम दो वर्षोंमें तो युवराज मृततुल्य जीवनका ही वरण किये रहे। ऐसी ही दशामें उन्हें श्रीअवध ले जाया गया। महात्मा भरत उनकी इस दशाको देख घोर अनुतापमें डूब गये। पवननन्दनके अवध आनेपर श्रीभरतजीने उन्हें प्रभुका प्रत्यागमन संदेश सुनाने युवराजके समीप भेज दिया। हनुमान् उनकी ऐसी दशा देखकर विषादके महासमुद्रमें डूब गये। पुन: एक दिव्य संकीर्तन होता है। संकीर्तनसुधाका पानकर उन्हें चेतना प्राप्त होती है, नेत्र खुलते हैं और वे प्रभुके प्रत्यागमनका संदेश सुन सकनेकी स्थितिमें आ जाते हैं। फिर तो उनके प्रेमानन्दका क्या ठिकाना!

भक्त नरसी मेहता

नरसी मेहता गुजरातके एक बहुत बड़े श्रीकृष्णभक्त हो गये हैं। उनके भजन आज भी न केवल गुजरातमें, बल्कि सारे भारतमें बड़ी श्रद्धा और आदरके साथ गाये जाते हैं। उनका जन्म काठियावाड़के जूनागढ़ शहरमें बड़नगरा जातिके नागर-ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। बचपनमें ही उन्हें कुछ साधुओंका सत्संग प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप उनके हृदयमें श्रीकृष्णभक्तिका उदय हुआ। वे निरन्तर भक्त-साधुओंके साथ रहकर श्रीकृष्ण और गोपियोंकी लीलाके गीत गाने लगे। धीरे-धीरे भजन-कीर्तनमें ही उनका अधिकांश समय बीतने लगा। यह बात उनके परिवारवालोंको पसंद नहीं थी। उन्होंने इन्हें बहुत समझाया, पर कोई लाभ न हुआ। एक दिन इनकी भौजाईने ताना मारकर कहा—'ऐसी भक्ति उमड़ी है तो भगवान्‌से मिलकर क्यों नहीं आते?' इस तानेने नरसीपर जादूका काम किया। वे घरसे उसी क्षण निकल पड़े और जूनागढ़से कुछ दूर श्रीमहादेवजीके पुराने मन्दिरमें जाकर वहाँ श्रीशङ्करजीकी उपासना करने लगे। कहते हैं, उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हुए और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकमें ले जाकर गोपियोंकी रासलीलाका अद्भुत दृश्य दिखलाया। वे गोलोककी लीलाको देखकर मुग्ध हो गये।

तपस्या पूरी कर वे घर आये और अपने बाल-बच्चोंके साथ अलग रहने लगे। परंतु केवल भजन-कीर्तनमें लगे रहनेके कारण बड़े कष्टके साथ उनकी गृहस्थीका काम चलता। स्त्रीने कोई काम करनेके लिये उन्हें बहुत कहा, परंतु नरसीजीने कोई दूसरा काम करना पसंद नहीं किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि श्रीकृष्ण मेरे सारे दुःखों और अभावोंको अपने-आप दूर करेंगे। हुआ भी ऐसा ही। कहते हैं, उनकी पुत्रीके विवाहमें जितने रुपये और अन्य सामग्रियोंकी जरूरत पड़ी, सब भगवान्‌ने उनके यहाँ पहुँचायी तथा स्वयं मण्डपमें उपस्थित होकर सारे कार्य सम्पन्न किये। इसी तरह पुत्रका विवाह भी भगवत्कृपासे सम्पन्न हो गया।

कहते हैं नरसी मेहताकी जातिके लोग उन्हें बहुत तंग किया करते थे। एक बार उन लोगोंने कहा कि अपने पिताका श्राद्ध करके सारी जातिको भोजन कराओ। नरसीजीने अपने भगवान्‌को स्मरण किया और श्राद्धके लिये सारा सामान जुट गया। श्राद्धके दिन अन्तमें नरसीजीको मालूम हुआ कि कुछ घी घट गया है। वे एक बर्तन लेकर बाजार घी लानेके लिये गये। रास्तेमें उन्होंने एक संतमण्डलीको बड़े प्रेमसे हरिकीर्तन करते देखा। बस, नरसीजी उसमें शामिल हो गये और अपना काम भूल गये। घरमें ब्राह्मण-भोजन हो रहा था, उनकी पत्नी बड़ी उत्सुकतासे उनकी बाट देख रही थीं। भक्तवत्सल भगवान् नरसीका रूप धारण कर घी लेकर घर पहुँचे। ब्राह्मण-भोजनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा हुआ। बहुत देर बाद कीर्तन बंद होनेपर नरसीजी घी लेकर वापस आये और अपनी पत्नीसे देरके लिये क्षमा माँगने लगे। स्त्री आश्चर्यसागरमें डूब गयी।

पुत्र-पुत्रीका विवाह हो जानेपर नरसीजी बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये और अधिक उत्साहसे भजन-कीर्तन करने लगे। कुछ वर्षों बाद एक-एक करके इनकी स्त्री और पुत्रका देहान्त हो गया।

तबसे वे एकदम विरक्त-से हो गये और लोगोंको भगवद्भक्तिका उपदेश देने लगे। वे कहा करते—'भक्ति तथा प्राणिमात्रके साथ विशुद्ध प्रेम करनेसे सबको मुक्ति मिल सकती है।'

कहते हैं कि एक बार जूनागढ़के राव-माण्डळीकने उन्हें बुलाकर कहा—'यदि तुम सच्चे भक्त हो तो मन्दिरमें जाकर मूर्तिके गलेमें फूलोंका हार पहनाओ और फिर भगवान्‌की मूर्तिसे प्रार्थना करो कि वे स्वयं तुम्हारे पास आकर वह माला तुम्हारे गलेमें डाल दें; अन्यथा तुम्हें प्राणदण्ड मिलेगा।' नरसीजीने रातभर मन्दिरमें बैठकर भगवान्‌का गुणगान किया। दूसरे दिन सबेरे सबके सामने मूर्तिने अपने स्थानसे उठकर नरसीजीको माला पहना दी। नरसीकी भक्तिका प्रकाश सर्वत्र फैल गया।

सदा भगवत्प्रेममें निमग्न रहनेवाले भक्त नरसी मेहता अपने भक्तिपदोंके द्वारा भगवान्‌को सदा रिझाते रहे। उनके पद भक्तोंके लिये कण्ठहाररूपमें प्रसिद्ध ही हैं। उनका निम्नलिखित पद तो बहुत ही प्रसिद्ध है। प्रेमी भक्त बड़ा विभोर होकर इसका गान करते हैं—

वैष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे॥

सकळ लोक माँ सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टिने तृष्णा-त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
रामनाम सुं ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे॥
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करताँ, कुळ एकोतेर तार्या रे॥

एक दूसरे पदमें भक्त और भक्तिकी महिमामें वे कहते हैं—

इस पृथ्वीलोकमें भक्तिरूपी एक महान् पदार्थ है वह ब्रह्मलोकमें नहीं है। जिन्होंने पुण्योंके द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया, वे अन्तमें चौरासीके चक्करमें गिर पड़े। हरिके भक्त तो मुक्ति न माँगकर बार-बार जन्म माँगते हैं, जिससे वे नित्य सेवा, नित्य कीर्तन, नित्य उत्सवमें नन्दकुमारको निरखते रहें। इस पृथ्वीमें जिन्होंने भारतखण्डमें जन्म लेकर गोविन्दके गुणोंका गान किया, उनके माता-पिताको धन्य है और उन्होंने अपना जीवन सफल कर लिया। वृन्दावन धन्य हैं, वे लीलाएँ धन्य हैं, वे व्रजवासी धन्य हैं, जिनके आँगनमें अष्ट महासिद्धियाँ खड़ी हैं और मुक्ति जिनकी दासी है। उस रसका स्वाद भगवान् श्रीशङ्कर जानते हैं अथवा योगी श्रीशुकदेव जानते हैं। कुछ व्रजकी गोपियाँ जानती हैं, नरसी उस रसको स्वयं भोगकर कह रहा है—

भूतल भक्ति पदारथ मोटुं, ब्रह्मलोक मां नांही रे।
पुण्य करी अमरातुरी पाम्या, अन्ते चौरासी मांही रे॥ टेक॥
हरिना जन तो मुक्ति न मागे, मागे जन्मोजन्म अवतार रे।
नित्य सेवा नित्य कीर्तन ओच्छव, निरखवा नन्दकुमार रे॥ १ ॥ भूतल०॥
भरतखंड भूतलमां जनमी जेणे गोविन्दना गुण गाया रे।
धन धन रे एनां मात पिताने, सफल करी ऐने काया रे॥ २ ॥ भूतल०॥
धन वृन्दावन धन ए लीला, धन ए ब्रजना वासी रे।
अष्ट महासिद्धि आँगणिये रे ऊभी, मुक्ति छे एमनी दासी रे॥ ३ ॥ भूतल०॥
ए रसनो स्वाद शंकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
कोई एक जाण व्रजनी गोपी, भणे 'नरसैंयो' भोगी रे॥ ४ ॥ भूतल०॥

गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासजी मिश्र और माताका श्रीतारादेवी था। श्रीव्यासजी मिश्र नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे, इसलिये ये सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे इनका लालन-पालन भी बड़े लाड़-चावसे हुआ था। ये बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही ये बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगते थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही इन्होंने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुतः 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बड़ी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बड़ी ही ललित भाषामें चित्रण किया है। इसमें आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन ये अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ इन्होंने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधामोहनके रूपमें सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन तथा श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहोंमें श्रीराधाके

रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें श्रीराधाको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण स्मृति नष्ट हो जानेसे शृङ्गार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने शृङ्गारको सुधारा, परंतु अपने-आप वह शृङ्गार भी तुरंत ही बदलने लगा। तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा—हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रखा; इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फल-दलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रखे हैं। इन्हें बड़ा *आश्चर्य हुआ और उस दिनकी बात याद आ गयी।* पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रखा है। इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दु:ख हुआ ही, सारे नगरनिवासी भी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये। लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रखा।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्यामसुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल कर-कमलोंसे सँभाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे। श्रीहरिवंशजी जिस भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी। श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे। इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे मुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

करत भजन इक दिवस लाड़िली छबि मन अटक्यौ।
रूपसिंधु के माँझ पर्‍यौ कहुँ जात न भटक्यौ॥
बिबस होइ तब गए भए तनु प्यारी हरिकैं।
झुके अवनि पर सिथिल होइ अति सुख में भरिकैं॥
कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ।
अपने हित कौं जानिकैं हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ॥

आठ वर्षकी अवस्थामें उपनयनसंस्कार और सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोंको सौंप दी।

देववनसे आप चिड़थावल आये। यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे। आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्रीहरिवंशजी वृन्दावन ले आये। वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया। इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्यस्थलोंको प्रकट किया। तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियोंमें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेम-सम्बन्ध था। ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्रीहिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रीवृन्दावनमहिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्यके भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी।

श्रीभगवान्‌की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये

रखना चाहिये और कैसे अपने हाथों सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी बहुत सुन्दर शिक्षा श्रीहितहरिवंशप्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे मिलती है। श्रीहितहरिवंशजी एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलोंसे सूखी लकड़ियाँ तोड़ रहे थे। इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे। नाहरमलजीने प्रभुको लकड़ियाँ तोड़ते देख दुःखी होकर कहा—'प्रभो! आप स्वयं लकड़ी तोड़नेका इतना बड़ा कष्ट क्यों उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है। ····यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकोंका तो जीवन ही व्यर्थ है।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रेमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था, परंतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्होंने कठोर स्वरमें कहा—'नाहरमल! तुम-जैसे राजसी पुरुषोंको धनका बड़ा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजीकी सेवा कहारोंके द्वारा करवानेकी बात कहते हो। तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बड़ा कष्ट हुआ है।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवंश-प्रभुजीने उनको अपने पास आनेतकसे रोक दिया। आखिर जब नाहरमलजीने दुःखी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दोंमें बोले—'भैया! प्रभुसेवाका स्वरूप बड़ा विलक्षण है। प्रभुसेवामें हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है। प्रभुसेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है। ऐसे विरोधी भाव मनमें नहीं लाने चाहिये। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अन्न-जल ग्रहण करो।' यों कहकर उन्होंने स्वयं अपने हाथोंसे प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया।

श्रीहितहरिवंशजीकी रसभजनपद्धतिके सम्बन्धमें श्रीनाभाजी महाराजने कहा है—

श्रीराधा चरन प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती, तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
बिधि-निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट ब्रतधारी॥
श्रीब्यास-सुवन पथ अनुसरै सोइ भलैं पहिचानिहैं।
हरिबंस गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहैं॥

स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेदरहित नित्यविहार-रस ही श्रीहितहरिवंशजीका इष्ट तत्त्व है। इन्होंने 'श्रीराधासुधानिधि' नामक अनुपम ग्रन्थका निर्माण तो किया ही, इनकी व्रजभाषामें भी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो 'हितचौरासी' और 'स्फुट वाणी' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कहा है—

सब सौं हित निषकाम मत बृंदाबन बिश्राम।
(श्री) राधावल्लभलालको हृदय ध्यान, मुख नाम॥
तनहि राखु सतसंग में मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिबंस हित कृष्ण कलपतरु सेव॥

श्रीहितहरिवंश प्रभुजीका वैराग्य बड़ा विलक्षण था। अर्थ तथा कामकी तो बात ही दूर, यहाँ तो धर्म और मोक्षमें भी राग नहीं था। इनकी निष्ठाके कुछ नमूने देखिये—

'कदा नु वृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वहं नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम्।'

'श्रीराधे! क्या मैं कभी वृन्दावनकी कुञ्जवीथियोंमें अतिथि होऊँगी।'

'कदा रसाम्बुधिसमुन्नतं वदनचन्द्रमीक्षे तव।'

'मैं कब तुम्हारे समुन्नत रससमुद्ररूप मुखचन्द्रको देखूँगी?'

'कर्हि स्यां श्रुतिशेखरोपरि चरन्नाश्चर्यचर्यां चरन्।'

'श्रीराधे! मैं कब तुम्हारी श्रुतिशेखर—उपनिषदुपरि परिचर्या—आश्चर्यमयी परिचर्याका आचरण करूँगी?'

इस परिचर्याके सामने आपके मतसे—

'वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यतः।'

'श्रुति-कथा व्यर्थ है और कैवल्य तो भयप्रद है।' वे कहते हैं—

'धर्माद्यर्थचतुष्टयं विजयतां किं तद् वृथा वार्तया।'

'ये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसीके लिये आदरणीय होंगे। मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ है?'

मैं तो बस—

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथ वा।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥

'मैं अपने जन्मकर्मानुसार नरक अथवा परम पद कहीं भी जाऊँ, सर्वत्र मेरे हृदयमें श्रीराधिकारतिनिकुञ्जमण्डली ही सर्वदा विराजित रहे।'

अड़तालीस वर्षोंतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् सं० १६०७ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीलामें प्रवेश किया।

जीव गोस्वामी

लगभग चार सौ वर्ष पहलेकी बात है, बंगालके शासक हुसैनशाहके प्रधान अधिकारी दबीर और साकर (सनातन और रूप)-की श्रद्धा तथा भक्तिसे प्रसन्न होकर श्रीचैतन्य महाप्रभुने रामकेलि नामक ग्रामकी यात्रा की। गङ्गातटपर तारोंभरी रातमें मलयानिलसम्पन्न नीरव उपवनमें कदम्बके झुरमुटमें जिस समय रूप और सनातनको महाप्रभु चैतन्य हरिनाम-ध्वनिसे कृतार्थ कर रहे थे, उसी समय उनके छोटे भाई अनुपम अथवा वल्लभके पुत्र जीव गोस्वामीने उनके दर्शन किये और उनके चरणारविन्दमकरन्दकी अमृत-वारुणीसे प्रमत्त होकर अपने-आपको पूर्णरूपसे समर्पण कर दिया। उनकी अवस्था अल्प थी; पर भक्ति-माधुरीने उनके जीवनको बदल दिया।

वृन्दावनसे अनुपम (वल्लभ) नीलाचल आये, वहीं उनकी मृत्यु हो गयी। पिताकी मृत्युने जीव गोस्वामीके हृदयको बड़ा आघात पहुँचाया। वे आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी राजधानी—वृन्दावनमें आनेके लिये विकल हो उठे। एक रात उन्होंने स्वप्नमें श्रीचैतन्य और नित्यानन्द महाप्रभुके दर्शन किये, वे नवद्वीप चले आये। नित्यानन्दने उन्हें काशी तपनमिश्रके आश्रममें शास्त्र-अध्ययनके लिये भेजा। जीव गोस्वामीने मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त और न्याय आदिकी शिक्षा पायी। वे शास्त्रमें पूर्णरूपसे निष्णात होकर परम विरक्त सनातन और रूपके पास वृन्दावन चले आये। जीवनके शेष पैंसठ वर्ष उन्होंने वृन्दावनमें ही बिताये। श्रीभगवान्के स्वरूप तथा तत्त्वविचारमें उन्होंने अपने पाण्डित्यका सदुपयोग किया। रूपने उनको मन्त्र दिया और समस्त शास्त्र पढ़ाये। ....जीव गोस्वामी पूर्ण विरक्त हो गये तथा भगवती कालिन्दीके परम पवित्र तटपर निवास करने लगे। वे भगवान्की उपासना माधुर्य-भावसे करते थे। उनके चरित्र और लीलाको परम तत्त्वका सार समझते थे। रूप गोस्वामीकी महती कृपासे वे धीरे-धीरे न्याय, दर्शन और व्याकरणमें पूर्ण पारङ्गत हो गये। उन्होंने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया और वृन्दावन-निवासकालमें श्रीरूपगोस्वामिकृत उज्ज्वलनीलमणिकी टीका, क्रमसन्दर्भ नामक भागवतकी टीका, भक्तिसिद्धान्त, उपदेशामृत, षट् सन्दर्भ, गोपालचम्पू, गोविन्दविरुदावली, हरिनामामृत-व्याकरण आदि महान् ग्रन्थोंकी रचना की। ये 'षट् सन्दर्भ' ही गौड़ीयमतानुसार श्रीमद्भागवतकी प्रामाणिक व्याख्या हैं। श्रीजीव गोस्वामीके ये सभी ग्रन्थ 'अचिन्त्यभेदाभेद' मतके अनुसार लिखे गये हैं।

एक बार वल्लभभट्ट नामक एक दिग्विजयी पण्डितने रूपकी किसी कृतिमें दोष निकाला और घोषणा कर दी कि रूपने जयपत्र लिख दिया। जीवके लिये यह बात असह्य हो गयी, उहोंने शास्त्रार्थमें वल्लभको पराजित किया। रूपको जब यह बात विदित हुई तब उन्होंने जीवको अपने पाससे अलग कर दिया। वे सात-आठ दिनतक एक निर्जन स्थानमें पड़े रहे। सनातनने रूपसे पूछा कि जीवके प्रति वैष्णवका कैसा व्यवहार होना चाहिये। रूपने कहा—'दयापूर्ण!' सनातनने कहा—'तुम जीव गोस्वामीके प्रति इतना कठोर व्यवहार क्यों करते हो?' रूपके हृदयपर बड़े भाईके कथनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने जीवको बुलाकर गले लगाया और अपने पास रख लिया। रूप और सनातनके बाद जीव ही वृन्दावनके वैष्णवोंके सिरमौर घोषित किये गये।

जीव गोस्वामीने भक्तिको रस माना है। वे रसोपासक और विरक्त महात्मा थे। भक्तिसे ही भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार होता है। जीव गोस्वामीकी मान्यता थी कि भजनानन्द स्वरूपानन्दसे विशिष्ट है। भजनानन्दसे भगवान्की भक्ति मिलती है, स्वरूपानन्द ब्रह्मत्वका परिचायक है। उन्होंने भक्तिको ज्ञानसे श्रेष्ठ स्वीकार किया है। भक्ति भगवान्की ओर ले जाती है, ज्ञान ब्रह्मानुभूति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतको उन्होंने सर्वश्रेष्ठ भक्तिशास्त्र माना है।

आश्विन शुक्ल तृतीयाको शाके १५४० में पचासी सालकी अवस्थामें उन्होंने देहत्याग किया। वे महान् दार्शनिक, पण्डित और भक्तियोगके पूर्ण मर्मज्ञ थे। महात्मा, योगी, विरक्त और प्रेमी भक्त—सबके सहज समन्वय थे।

प्रेमी भक्तोंके भगवत्प्रेमकी विचित्र झाँकी

[पुण्डलिककी कथा]

(श्रीगोविन्दराजारामजी जोशी)

दक्षिण भारतमें लोहदण्ड नामक नगरमें जानुदेव नामका एक शिवपूजक विद्वान् ब्राह्मण रहता था। वह सदाचारसम्पन्न तथा शील एवं विनयसे युक्त था। उसकी पत्नी भी धार्मिक और सात्त्विक गुणोंसे युक्त थी। उसके पुण्डलिक नामक एक पुत्र हुआ। उपनयनके बाद पिताने पुण्डलिकके विद्याध्ययनकी समुचित व्यवस्था कर दी, किंतु उसका मन विद्याग्रहणमें नहीं लग रहा था।

पिताने सोचा कि हो सकता है विवाहके बाद यह सुधर जाय। अतः उसने पुण्डलिकका विवाह कर दिया। पर विवाहके बाद तो उसकी प्रवृत्तिमें इतना बदलाव हुआ कि वह पत्नीको ही सर्वस्व समझने लगा और माता-पिताका अनादर करने लगा। उसकी पत्नी भी पतिकी आज्ञाके अनुसार व्यवहार करने लगी।

माता-पिता वृद्ध हो चुके थे, उस समय उन्हें पुत्र और पुत्रवधूके सेवा-सहयोगकी नितान्त आवश्यकता थी, पर ऐसा न हो सका। अतः माता-पिता दुःखी रहते थे। ऐसे ही कुछ समय व्यतीत हुआ।

एक दिन कुछ यात्री काशी जा रहे थे। वे लोहदण्ड नगरमें आये। तीर्थयात्रियोंमें युवा पुरुष, स्त्रियाँ, वृद्ध आदि सभी समाविष्ट थे। पुण्डलिकके माता-पिताने भी उससे कहा कि वह भी उन्हें इनके साथ काशी-यात्रा करा दे तो उनका जीवन कृतकृत्य हो जायगा। पुण्डलिक स्वयं पत्नीके साथ काशी-यात्रा करनेकी सोच ही रहा था। अतः उसने माता-पिताको भी यात्राकी अनुमति दे दी।

यात्रियोंका समूह काशी-यात्राका मार्ग तय करने लगा। पुण्डलिक भी अपनी पत्नी तथा माता-पिताके साथ उनके साथ हो गया। वृद्ध होनेके कारण पुण्डलिकके माता-पिताको चलनेमें कठिनाई हो रही थी और वे दिंडीर वनतक ही साथ आ सके। उसके बाद पुण्डलिकने उनको छोड़कर पत्नीके साथ आगेकी यात्रा आरम्भ की।

यात्रियोंके साथ चलनेमें जब पत्नीको भी कठिनाई होने लगी, तब पुण्डलिकने मोहवश उसे कन्धेपर बिठा लिया और सबके साथ चलने लगा, किंतु असावधानीसे उसका रास्ता बदल गया और वह काशीके दक्षिण भागमें स्थित कुक्कुट द्विजके आश्रममें आ गया। आश्रमका वातावरण सुरम्य था। बगीचे फूलोंसे भरे हुए थे। निर्मल निर्झर बह रहे थे। वृक्षोंपर कोयलें कूक रही थीं। मयूर नाच रहे थे। यह सब देखकर स्वर्गिक सुखका आभास हो रहा था। आश्रमकी शान्ति और पवित्रता वहाँके दिव्यत्वका साक्ष्य दे रही थी। थक जानेके कारण पुण्डलिककी पत्नी सो गयी; किंतु पुण्डलिकको नींद नहीं आ रही थी। अचानक उसने देखा कि आश्रममें कुछ कृष्णवर्णा स्त्रियाँ प्रविष्ट होकर सब प्रकारके कार्य करने लगीं। कुछ स्त्रियाँ सम्मार्जनकार्यमें लगीं, कुछ कपड़े धोनेमें और कोई पात्र साफ करने लगीं। इस प्रकार जब आश्रमका सारा कार्य पूर्ण हो गया तो उन सभी कृष्णवर्णवाली स्त्रियोंका रंग बदल गया और वे श्वेतवर्णवाली हो गयीं। जब वे स्त्रियाँ आश्रमको वन्दन करके जाने लगीं तब पुण्डलिकने उन्हें प्रणाम किया और उनसे पूछा—आपलोग कौन हैं तथा आपमें यह अन्तर किस प्रकारकी साधनासे हुआ है? उन देवियोंने बताया कि हम भारतकी पवित्र गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती और यमुना आदि नदियाँ हैं। तुम्हारे-जैसे स्त्रीलम्पट, विषयी तथा पापी लोगोंको हमारे ही जलमें स्नान करनेसे पवित्रता प्राप्त होती है, किंतु हम यहाँ पुण्यवान् कुक्कुट द्विजके आश्रममें सेवा करके अपने-आपको धन्य समझती हैं; क्योंकि ये द्विज अपने माता-पिताकी सेवाके कारण महान् हो गये हैं। यह उनकी मातृ-पितृभक्तिका ही प्रभाव है*। ऐसा कहकर वे देवियाँ अदृश्य हो गयीं।

इस घटनाका पुण्डलिकके मनपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और उसके अन्तःकरणमें मातृ-पितृप्रेम जाग्रत् हो गया। उसके नेत्र सजल हो उठे और कण्ठ रोमाञ्चसे रुँध गया। वह ग्लानिसे भर गया और अपने माता-पिताको

---

* कुक्कुट ब्राह्मणकी महिमाका एक श्लोक प्रसिद्ध है—

वाराणस्यां दक्षिणे भागे कुक्कुटो नाम ब्राह्मणः। तस्य स्मरणमात्रेण दुःस्वप्रः सुस्वप्रो भवेत्॥

इसका भाव यह है कि वाराणसीके दक्षिण भागमें कुक्कुट नामके एक ब्राह्मण रहते हैं, जिनके स्मरणमात्रसे दुःस्वप्र सुस्वप्रमें बदल जाता है।

खोजने निकला। दिंडीर वनमें भीमा नदीके तटपर उसे उनके दर्शन हुए और उन्हें देखते ही वह उनके चरणोंमें गिर पड़ा तथा क्षमा-याचना करने लगा—मैं अपराधी हूँ, शिव-पार्वतीके समान पूज्य माता-पिताको छोड़कर पत्नीके साथ काशी-यात्राको निकला, यह मेरा अपराध है, आप दोनों मुझे क्षमा करें, क्षमा करें। माता-पिताने पुण्डलिकके सिरपर हाथ रखा, उसका आलिङ्गन किया और उसके सब अपराधोंको क्षमा कर दिया।

अब पुण्डलिक वहीं रहकर अपने माता-पिताकी सेवामें रत हो गया। वर्षोंतक उसने उनकी अखण्डित सेवा की। उसके लिये अब माता-पिता ही भगवत्स्वरूप हो गये थे।

उसकी मातृ-पितृ-भक्ति देखकर एक दिन स्वयं भगवान् विष्णु वैकुण्ठ छोड़कर पुण्डलिकके घर आये और उन्होंने देखा कि उनका प्रिय भक्त माता-पिताकी अत्यन्त प्रेमपूर्वक सेवा कर रहा है और वे सो रहे हैं। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और पीताम्बरधारी भगवान् प्रकट होकर भक्त पुण्डलिकसे कहने लगे—वत्स! मैं तुम्हारी भक्तिसे संतुष्ट हूँ। बताओ, तुम्हारी इच्छा क्या है? पुण्डलिकने कहा—भगवन्! मेरे माता-पिता सो रहे हैं, उनकी निद्रा पूरी होनेतक आप यहाँ खड़े हो जाइये। ऐसा कहकर उसने उनकी ओर खड़े होनेके लिये एक ईंट सरका दी और स्वयं माता-पिताकी सेवामें लग गया। भगवान् वहीं ईंटपर खड़े हो गये और अपने भक्तका सेवा-कार्य देखने लगे; क्योंकि उनको भक्तके साथ ही रहना पसंद है—

> नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
> मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

पुण्डलिक जानता था कि साध्य प्राप्त होनेपर भी साधन छोड़ना उचित नहीं है और इसी कारण वह माता-पिताकी सेवा पूर्ण हो जानेके बाद ही भगवान्की ओर उन्मुख हुआ। अभीतक पुण्डलिककी सेवाके कारण ही प्रेममय भगवान् ईंटपर खड़े हैं और पुण्डलिकका नाम भी भगवत्प्रेमके कारण ही भगवान्के साथ जुड़ गया है।

अपने माता-पिताको ही भगवद्रूप समझकर उनकी प्रेमपूर्वक सेवा करनेके कारण परब्रह्म परमात्माको भक्तके सामने प्रकट होना पड़ा और उसकी आज्ञाका पालन करना पड़ा। भगवान् ईंटपर खड़े होकर आनेवाले भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आज भी उद्यत हैं। यह प्रेमका प्रभाव तथा भगवान्की अपार करुणा और कृपाका प्रभाव है। इसीको भगवत्प्रेम कहते हैं—

> आविर्बभूव यः कृष्णः देवक्यां ब्रह्मणार्थितः।
> स एवास्ते पौण्डरिके भक्तानुग्रहकाम्यया॥

प्रेम परम आधार

(प्राचार्य श्रीसाकेतबिहारीजी शर्मा 'मन्त्रमुदित')

प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥
इसे 'हृदय की ज्योति' समझिये, 'मंगल का आगमन' मानिये।
यह स्वभाव का है वसन्त प्रिय और द्वार उस प्रभु का कहिये।
इससे ही हम सज पाते हैं अपना यह संसार, प्रेमियो! अपना यह संसार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ १॥
जहाँ-जहाँ यह खिल पाता है, मधुवन वहाँ उतर आता है।
महामोह की निशा बीतकर शान्ति-प्रभात पधर जाता है।
इससे ही हम कर पाते हैं जीवन का श्रृंगार, प्रेमियो! जीवन का श्रृंगार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ २॥
शबरी, अर्जुन या गज जैसा, या ब्रज की बालाओं जैसा।
चाहें तो सब बन सकते हैं, कारण प्रभु है प्रेम-पियासा।
इस नौका से कर सकते हैं यह भव-सागर पार, प्रेमियो! यह भव-सागर पार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ ३॥

'भक्त संग नाच्यौ बहुत गोपाल'

[ओरछानरेश भक्त मधुकरशाहकी भगवन्निष्ठा]

(पं० श्रीहरिविष्णुजी अवस्थी)

हुकुम दियो है पातशाह ने महीपन कौ,
मानों राव राजन प्रमान लेखियतु है।
चन्दन चढ़ायो कहूँ देव पद वन्दन को,
देहों सिर दाग जहाँ रेखा रेखियतु है॥

मुगल सम्राट् अकबरके उक्त आदेशकी अवहेलना करते हुए ओरछाधिपति मधुकरशाह जू देव बुन्देला चन्दन-केसरयुक्त तिलकसे मण्डित उन्नत ललाट और कण्ठमें तुलसीकी माला धारण किये जब शाही दरबारमें उपस्थित हुए तो उन्हें देखकर सभी दरबारी नरेश सशंकित हो उठे। तिलकशून्य ललाटोंके मध्य मधुकरशाहके तिलकपूर्ण आलोकित ललाटको मणिधरकी उपमा देते हुए कविने आगे लिखा—

सूनों कर गये भाल छोड़-छोड़ कण्ठमाल,
दूसरौ दिनेश तहाँ कौन पेखियतु है।
सोहत टिकैत मधुशाह अनियारौ जिमि,
नागन के बीच मनियारो देखियतु है॥

कुटिल और कुशल राजनीतिज्ञ अकबरको हिन्दू नरेशोंके सम्भावित विद्रोहकी आशङ्कासे भयभीत हो मधुकरशाहकी धर्मनिष्ठाकी सराहनाहेतु बाध्य हो जाना पड़ा। उसी दिनसे ओरछेशद्वारा लगाये गये तिलककी प्रसिद्धि मधुकरशाही तिलकके रूपमें तथा मधुकरशाहकी प्रसिद्धि 'टिकैत राय' के रूपमें हो गयी।

राधा-माधवके युगलस्वरूपके माधुर्यभावोपासक भक्तशिरोमणि मधुकरशाह नियमितरूपसे प्रातःकाल युगल-किशोरजीके मन्दिरमें दर्शन करने जाते थे और रात्रिमें अपने गुरु हरीरामजी व्यास एवं अन्य भक्तोंके साथ पाँवमें घुँघरू बाँधकर गायन करते हुए नृत्यलीन हो जाते थे। नृत्य करते-करते बेसुध हो जाना तो उनके लिये एक सामान्य बात हो गयी थी।

एक दिन किन्हीं विषम परिस्थितियोंके कारण ओरछामें होते हुए भी वे नित्यकी भाँति रात्रिमें निश्चित समयपर युगलकिशोर सरकारके मन्दिरमें उपस्थित न हो सके। यथासमय सरकारकी शयन-आरतीके पश्चात् मन्दिरके कपाट बन्द हो गये। अधिकांश भक्तजन अपने-अपने घरोंको वापस लौट गये। हरीरामजी व्यास कुछ अन्य भक्तोंके साथ मन्दिरके बाहर बैठकर ओरछेशके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे।

लगभग अर्धरात्रिके समय मधुकरशाह अपने नियमकी पूर्तिहेतु मन्दिर पहुँचे। अपने गुरुजीको प्रतीक्षारत पाकर उन्होंने विलम्बसे उपस्थित होनेका स्पष्टीकरण देते हुए क्षमा-याचना की और निवेदन किया कि क्यों न मन्दिरके पिछवाड़े चलकर थोड़े ही समय कीर्तन कर लिया जाय, जिससे सरकारके शयनमें बाधा भी उत्पन्न न हो और नित्य-नियमकी आंशिक पूर्ति भी हो जाय।

उस निस्तब्ध निशामें ऐसा कीर्तन जमा कि सभीके नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी अविरल धारा प्रवाहित होने लगी। 'राधे-राधे' का उद्घोष आनन्दमें कई गुना वृद्धि कर रहा था। मधुकरशाह अपनी विलक्षण प्रीतिधारामें प्रवाहित हो सुध-बुध ही खो बैठे थे। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके प्रेममें तल्लीन हो और प्रेमास्पद भक्तवत्सल युगलकिशोर सरकार शयन करते रहें, भला यह कैसे सम्भव था?

सहसा मन्दिर पूर्वाभिमुखीके स्थानपर घूमकर पश्चिमाभिमुखी हो गया। मन्दिरके कपाट स्वतः ही अनावृत हो गये और युगलकिशोर साक्षात् प्रकट होकर भक्तोंके साथ नृत्य करने लगे। इस अलौकिक दृश्यको देखकर देवताओंने आकाशसे पुष्प-वृष्टि की, जो पृथ्वीका स्पर्श पाते ही स्वर्णके हो गये। मधुकरशाह अपने-आपको सरकारके अत्यन्त निकट पाकर प्रेमाश्रु बहाते हुए उनके श्रीचरणोंमें लोट गये। अपने अनन्य भक्तके साथ नृत्य करते हुए उसे दर्शन देकर युगलकिशोर अन्तर्धान हो गये।

इस अलौकिक घटनाका साक्षी युगलकिशोर सरकारका वह देवालय महाराज छत्रसालद्वारा युगलकिशोरके श्रीविग्रहको ओरछासे पन्ना ले जाये जानेके कारण रिक्त हो गया। अपने अतीतकी वैभवपूर्ण मधुर स्मृतियोंको सँजोये यह ऐतिहासिक देवालय उपेक्षाका शिकार होकर भग्नावस्थामें अब भी ओरछामें विद्यमान है।

युगलकिशोर सरकारकी प्रेमोपासनामें निरन्तर लीन रहते हुए एक दिन मधुकरशाह स्वयं प्रभुमें लीन हो गये। भगवत-रसिकरचित 'भक्त-नामावली', राजा नागरीदासरचित 'पद-प्रसंगमाला' एवं नाभादासजीरचित 'श्रीभक्तमाल'-जैसे ग्रन्थोंमें मधुकरशाहको अपनी प्रेमा-भक्तिके कारण ही विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।

प्रेमसाधनाके पथिक—महात्मा बू अलीशाह कलन्दर

[तुम महबूबमें गुम हो जाओ]

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, पी-एच्०डी०, डी०लिट्०)

भारतवर्षके सूफी-संतोंमें बू अलीशाह कलन्दरकी गिनती पहली पंक्तिमें की जाती है। बू अलीशाहको 'कलन्दरिया-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक माना जाता है। 'कलन्दर' शब्द साधनाकी उच्च अवस्थाकी संज्ञा है। फारसीसे आगत इस शब्दका अर्थ है—मुक्त पुरुष।

बू अलीशाह कलन्दर गयासुद्दीन तुगलकके समकालीन थे। इनका जन्म सन् ११९० ई०में पानीपतमें हुआ था। जनश्रुतिके अनुसार बू अलीशाह कलन्दरके समयमें यमुना पानीपत शहरके बीचसे प्रवाहित होती थी और महात्मा कलन्दरने सात वर्षतक यमुनामें खड़े होकर तप किया था। शरफुद्दीन बू अलीशाह कलन्दरकी मृत्यु सन् १३१२ ई०में हुई। उनकी रचनाओंके विषय हैं—मारुफ, हकीकत (सत्यका अनुसन्धान), तौहीद (अनन्यता), तर्के-दुनियाँ (सांसारिकताका त्याग), तल्दे आखरत (मृत्युके बाद खुदा तालासे मिलना) और मुहब्बते मौला (ईश्वर-प्रेम)। उनके काव्यमें हमें अद्वैत और प्रेमकी महिमाका बखान मिलता है। पानीपतके सिविल अस्पतालके पीछे सैयद रोशन अलीशाहका मज़ार है और उसके प्रधान हैं—श्रीअताउल्ला कुरैशी। श्रीकुरैशी उर्दू-फारसीके अच्छे जानकार हैं तथा उदार-पन्थी सूफी हैं। उनकी संगतिमें बैठकर मुझे कलन्दर साहबकी शायरीका परिचय प्राप्त करनेका अवसर मिला और जब मैं उनकी शायरीकी तुलना कबीरसे करता हूँ तो मुझे कबीरके दर्शनका एक नया ही स्रोत दिखायी देता है।

कलन्दर साहबका मुख्य सिद्धान्त इश्क है। उन्होंने अपने शिष्य बख्तियारुद्दीनको एक पत्रमें लिखा था—'ऐ भाई! आशिक बनो। दोनों जहानोंको माशूकका हुस्न समझो और खुदको भी माशूकका ही हुस्न मानो। माशूकने इश्कसे ही तुम्हारा भौतिक अस्तित्व बनाया है ताकि तुम्हारे आईनेमें अपने सौन्दर्यको निहार सके तथा तुम्हें अपने रहस्योंका ज्ञाता बनाये रखे। आशिक बनकर जब माशूकको बगलमें देखोगे तो हुस्नका दीदार अपने ही दिलके आईनेमें कर सकोगे। ये दुनियावी आशिक जो दुनियाके हुस्नपर लट्टू हो गये हैं, इश्ककी भूलभुलैयामें बिलकुल खो गये हैं; उनको बिलकुल नहीं सूझता कि इस पूरी दुनियामें हकीकी महबूबका कब्जा है, जो जिस तरह चाहता है करता है और जिस तरह चाहेगा वैसा करेगा। किसीको भी उसकी मंशामें दखल देनेका कोई हक नहीं है।'

प्रेमकी महिमाको बखानते हुए कलन्दर साहब फरमाते हैं—

सरमद गिला इख्तसार मी बायद कर्द,
यक कार अर्जी दोकार बायद कर्द।
या सरबज़ा ए दोस्त मी बायद दाद,
या कता नज़र अज़ यार बायद कर्द॥

अर्थात् इश्कमें अपनी तमन्ना ही कुरबान नहीं की जाती, सिर्फ यही माँग नहीं होती कि आशिक (प्रेमी, भक्त) मर्जी-ए-महबूबको अपनी रज़ा बना ले, बल्कि मुतालबा यह है कि आशिक अपनी अनानीयत (अहंकार)-को खत्म कर दे, अपने अस्तित्वको समाप्त (समर्पण) कर दे।

वे कहते हैं कि तुम अपनी हस्ती और अपनी शख्सियतको खत्म कर दो, बस यही है कमाल।

कलन्दर साहबने मुख्यरूपसे फारसीमें काव्य-रचना की है, यूसुफ मुहम्मद शाहने 'कलाम-ए-कलन्दरी' में उनके काव्यका संकलन किया है। उनके काव्यका संदेश है—'तुम महबूबमें गुम हो जाओ यही है विसाल और बस।' उनका एक शेर है—

तू तुई के यार गरदद यारे तू,
चूँ न बाशीं यार गरदद यारे तू।
तू मबाश असला कमाल ई सत्तो बस,
तू दर्दे गम तू विसाल ई सत्तो बस॥

अर्थात् तू जबतक अपनी तुई (अपनी खुदी—अहंता-ममता)-को बाकी रखे हुए है, यार तबतक यार कैसे हो सकता है! जब तू तू न रहेगा, तब यार यार हो सकता है।

कलन्दर साहबके विचारसे 'अगर आशिकके दिलोदिमागमें 'मैं' का तसव्वुर बाकी है तो वह सच्चा

आशिक नहीं है, छल है। इश्क और मैं—ये विरोधी बातें हैं। जबतक मैं बाकी है, गरूर मौजूद है, तबतक परमात्माका ख़याल नहीं आ सकता। जब दिलमें इश्क पैदा होगा तभी ज़ज़्बा-ए-हुस्न (सौन्दर्य)-का साक्षात्कार होगा और जब नज़रोंके सामने सौन्दर्य बिखर जायगा, तभी माशूकको पहचाना जा सकेगा और तभी सही आशिक बना जा सकेगा। इस प्रकार कलन्दर साहब प्रेम-मार्गसे अद्वैत-जैसी स्थितिमें पहुँचते हुए कहते हैं—

यार रा बी दर आईना तू दर हर आईना,
सोज़ो साज़ ऊ अस्त दर बर तन तना।
हर चे बीनी दर हकीकत जुमला ओस्त,
शम्मो गुल परवाना बुलबुल हम अज़ोस्त॥

अर्थात् दोस्तको देखना चाहता है तो देख, हर शीशेमें उसीका अक्स है, आवाज भी उसीकी है, दर्द भी उसीका है और सितारका स्वर भी उसीका है। समाँ, फूल, बुलबुल तथा परवाना—तू जो देख रहा है वास्तवमें सब कुछ वही तो है, सब वही है।

कलन्दर साहब कहते हैं—'जहाँ कातिलको बद्दुआओंके बजाय दुआएँ दी जाती हों, ऐसे मुकामपर कोई कलम-दवात लाकर क्या करेगा? कोई वह कागज़ लायेगा कहाँसे कि इश्ककी तफ़सीर लिख सके?'

कलन्दरकी कविताओंकी तुलना कबीरसे की जा सकती है। कलन्दर साहब कहते हैं—

हर के शुद दर बहरे इरफां आईना।
ज़र्रा ज़र्रा कतरा दानद अज़ खुदा॥

अर्थात् भक्तिके मार्गमें जिसका दर्पणके समान स्वच्छ हृदय है, उसे कण-कणमें खुदाका दीदार होने लगता है।

नफ्स आब चूँ हुबाब सत जिस्मे तो।
आब चूँ गरदी न मानद जिस्मे तो॥

पानीकी लहर जैसे पानीसे अलग नहीं है, दर हकीकत वैसे ही हम महबूबसे अलग नहीं हैं। आत्मा पानी है और शरीर बुलबुला है। शरीर न रहेगा तो तू पानी-ही-पानी है।

गश्त वासिल चूँ ब दरिया आबे जू।
आबे जूरा बाज़ अज़ दरिया मजू॥

अर्थात् नदीका पानी जब समुद्रमें मिल गया, तब फिर तू वहाँ नदीका पानी न ढूँढ़।

अमीर खुसरो जब अलाउद्दीन खिलजीके भेजे उपहार लेकर शाह-ए-कलन्दर बू अलीकी सेवामें पानीपत आया था, उस समय कलन्दर साहब गा रहे थे—

वहीम खुसरवाँ वरआँ केले अस्त रस्त।
खुसरो कसे के खलअत एतजरीद दर बरस्त।

अर्थात् जिसने अकिञ्चनताका राज्य पा लिया है, उसके लिये बादशाहोंके ताज जूतियोंके तले-बराबर हैं।

बू अलीशाह कलन्दरके कुछ दोहे फारसी लिपिमें संकलित किये गये थे, उसका एक नमूना है—

सजन सकारे जायँगे नयन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर भोर कदी ना होय॥

देशप्रेमके दो अनूठे बलिदानी

(श्रीमदनमोहनजी शर्मा, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)

'प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि उसकी तहतक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते। अन्त:करणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है तो मनुष्यके सम्पूर्ण अङ्ग पुलकित हो उठते हैं और हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। सच्चे प्रेममें स्वार्थकी गन्ध नहीं होती। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्के प्रेममें विह्वल होकर देहसे परे हो जाते हैं, उन्हें देहका कोई मोह नहीं रहता। भगवत्प्रेमीके सम्बन्धमें कही गयी यह बात देशप्रेमीपर भी बिलकुल खरी उतरती है। देशप्रेमसे ओत-प्रोत व्यक्तिका अपने देशसे अटूट सम्बन्ध होता है।

आइये! इस सन्दर्भमें अंग्रेजीशासनसे लोहा लेनेवाले उन अनगिनत देशप्रेमियोंमेंसे एक-दोकी चर्चा करें, जिससे हमें ज्ञात होगा कि आजादीके दीवानोंके लिये अपने वतनसे बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता।

(१) अमरशहीद राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी

१७ दिसम्बर सन् १९२७ ई० का वह दिन जब जिला-जेल गोण्डामें राजेन्द्रनाथ लाहिड़ीको फाँसी दी गयी थी। फाँसीपर चढ़नेसे एक घंटे पहले लाहिड़ीजीने शान्तभावसे

स्नान किया, गीताका पाठ और नित्यकी भाँति व्यायाम भी किया। उसके पश्चात् कपड़े पहनकर मजिस्ट्रेटसे कहा—'मैं समझता हूँ कि मुझे देर नहीं हुई है'— और ऐसा कहते हुए वे कोठरीसे बाहर आकर मजिस्ट्रेटके सङ्ग हो लिये। मजिस्ट्रेटने फाँसीघरकी ओर चलते-चलते राजेन्द्रनाथ लाहिड़ीसे पूछा—'मिस्टर लाहिड़ी! आपको यदि एतराज न हो तो मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।' राजेन्द्र लाहिड़ीद्वारा सहमति जतानेपर मजिस्ट्रेटने कहा—'मैं लगभग ४५ मिनटसे आप जो कुछ भी कर रहे थे, उसे देख रहा था। आपने स्नान किया, बिलकुल स्वाभाविक था, आपने गीताका पाठ किया, वह भी स्वाभाविक था; क्योंकि मानसिक तौरसे आप अपने-आपको आनेवाली घटनाके लिये तैयार कर रहे थे, किंतु मैं यह नहीं समझ सका कि आपने व्यायाम क्यों किया? इसकी क्या उपयोगिता थी?' इसपर लाहिड़ीजीने अत्यन्त शान्तभावसे उत्तर दिया—'आपके प्रश्नोंका उत्तर देना कोई कठिन नहीं। आप जानते हैं कि मैं हिन्दू हूँ और हिन्दू होनेके नाते मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मैं मरने नहीं जा रहा हूँ; बल्कि अपनी मातृभूमिको स्वतन्त्र करानेका जो-जो कार्य अधूरा रह गया है, उसे पूर्ण करनेके लिये पुनर्जन्म लेने जा रहा हूँ। मेरा अन्तिम सन्देश मेरे देशवासियोंके लिये यही है।'

(२) अमरशहीद वैकुण्ठनाथ शुक्ल

१४ मई सन् १९३३ ई०को गया-जेलमें हँसते-हँसते फाँसीके फन्देको चूमनेवाले अमरशहीद वैकुण्ठनाथ शुक्लका फाँसीसे चन्द मिनटपूर्वका जो चित्र क्रान्तिकारी लेखक श्रीरामदुलारे त्रिवेदीने अपनी लेखनीद्वारा अङ्कित किया है, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारी है—**'वन्दे मातरम्'** 'भारतमाताकी जय' का उद्घोष करते, मन्द-मन्द मुसकराते, जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाते हुए वैकुण्ठनाथ शुक्ल फाँसीके मञ्चपर चढ़ गये। फाँसीका फन्दा गलेमें डाले जानेसे पहले जल्लाद प्राणदण्ड पानेवालेके मुखपर काला टोपा पहना देता है—यही प्रक्रिया अपने साथ होते देखकर वैकुण्ठनाथ शुक्लने कहा—'इसकी कोई जरूरत नहीं है, मैं स्वयं अपने गलेमें फाँसीका फन्दा डाल लूँगा।' —यह कहते हुए वे मुसकरा रहे थे कि न जाने किस प्रेरणाके वशीभूत होकर ऐंग्लो-इण्डियन जेल सुपरिण्टेण्डेन्ट 'पेरेराने' रुमाल हिलाकर धीमी आवाजमें जल्लादसे कहा—'मत डालो, रहने दो।' किंतु आश्चर्यकी बात, पत्थरहृदय माना जानेवाला जल्लाद भी उस समय दंग होकर चकित दृष्टिसे वैकुण्ठनाथ शुक्लको फाँसीका फन्दा पहने फूल-सी हँसी हँसता देख खड़े-का-खड़ा रह गया। तब वैकुण्ठनाथ शुक्लने उसे पुकारा—'देर क्यों करते हो, अपना काम करो।' जल्लादने लीवर खींचा और मृत्युञ्जयी वीर वैकुण्ठनाथ शुक्ल फाँसीके झूलेपर सदाके लिये झूल गये।

ऐसी अनेक क्रान्तिकारी गाथाओंसे इतिहासके पन्ने भरे पड़े हैं, जिन्हें पढ़कर आश्चर्ययुक्त रोमाञ्च हो जाता है।

इन क्रान्तिकारियोंके मनमें अपने देशके प्रति अगाध प्रेमकी भावना भरनेका काम जिन्होंने अपनी लेखनीसे किया, उनका देशप्रेम भी उच्च कोटिका रहा है। अरविन्द घोष-सरीखे महामनीषीने अपने लेखोंके माध्यमसे देशकी आजादीके लिये मतवाले नवयुवकोंको समझाया कि मानवको पथभ्रष्ट करनेवाली पाश्चात्त्य भौतिकवादी संस्कृतिके अतिरिक्त भारतकी अध्यात्ममुखी संस्कृतिको अपनाना ही श्रेयस्कर है। उन्होंने नवयुवकोंमें गीता पढ़नेकी प्रेरणा जाग्रत् की, जिसके फलस्वरूप वे आत्माकी अमरताके सिद्धान्तको हृदयङ्गम करके हँसते-हँसते फाँसीके तख्तेपर चढ़ गये। सच है कि देशप्रेमकी उदात्त भावनासे जो ओतप्रोत हैं उनके लिये बड़े-से-बड़ा सुख भी तुच्छ ही है—

जो भरा नहीं है भावोंसे बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है जिसमें स्वदेशका प्यार नहीं॥
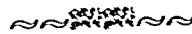
~~~

त्वन्नामकीर्तनसुधारसपानपीनो दीनोऽपि दैन्यमपहाय दिवं प्रयाति।
पश्चादुपैति परमं पदमीश ते चैतद्भाग्ययोग्यकरणं कुरु मामपीश॥

(आदित्यपुराण)

'दीन—दुःखी मनुष्य भी तुम्हारे नाम-कीर्तनरूप सुधारसके पानसे पुष्ट होकर दीनता त्याग दिव्य-लोकोंमें चला जाता है और वहाँके भोगोंको चिरकालतक भोगकर फिर हे स्वामिन्! वह आपके परमपदको पा लेता है। हे प्रभो! मुझे भी ऐसा बना दीजिये, जिससे मेरी वाणी आदि इन्द्रियाँ इस प्रकारका सौभाग्य प्राप्तकर धन्य हो सकें।'
~~~
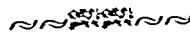
भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी कुछ गैर हिन्दू भक्तजन

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी 'पिलखुवा')

[भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीताके दिव्य प्रेमतत्त्वने हिन्दुओंको ही नहीं, अनेक अंग्रेजों तथा मुसलमानोंको भी प्रभावित कर उन्हें श्रीकृष्ण-प्रेममें आबद्ध कर लिया था। सनातन-धर्मके अनन्य सेवक तथा संत-साहित्यके सुविख्यात लेखक गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजीने ऐसे ही अनेक विदेशी भगवत्प्रेमी भक्तजनोंके पावन चरित्रोंका संकलन किया था। उनमेंसे कुछको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—सं०]

[१]

श्रीरोनाल्ड निक्सन बने श्रीकृष्णप्रेम-भिखारी*

ब्रिटेनमें जन्मे श्रीरोनाल्ड निक्सन अपने देशकी सेनामें भर्ती हुए थे। उन्होंने युद्धमें भाग लेते समय अनुभव किया कि मानव-जीवनका लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नतिमें ही निहित है। उसे भौतिकवादी वस्तुओंकी उपलब्धिमें लगाना कोरी मूर्खता ही है। युद्ध तथा हिंसासे ऊबकर वे भगवान् बुद्धके दर्शनकी ओर उन्मुख हुए। बादमें श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन कर उन्होंने अपना समस्त जीवन श्रीराधा-कृष्णकी भक्ति तथा वैष्णवधर्मके प्रचार-प्रसारके लिये समर्पण कर दिया। सुविख्यात शिक्षाविद् डॉ० ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती इंग्लैण्ड गये हुए थे। वहीं रोनाल्ड निक्सनकी उनसे भेंट हुई। श्रीचक्रवर्तीके परामर्शपर वे अपना देश छोड़कर भारत आ गये। कुछ दिन लखनऊमें श्रीचक्रवर्तीके साथ रहे। बादमें महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी महाराजने उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें मनोनीत कर दिया।

श्रीज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्तीकी धर्मपत्नी यशोदा परम भागवत विदुषी महिला थीं। श्रीरोनाल्ड निक्सनने उनके पावन सांनिध्यमें रहकर भगवान् श्रीकृष्ण-राधाजीके दिव्यातिदिव्य प्रेमकी अनुभूति प्राप्त की। यशोदामाईको अपना गुरु बनाया तथा उनसे दीक्षा ली। यशोदामाईने रोनाल्ड निक्सनको 'श्रीकृष्णप्रेम-वैरागी' नाम दिया।

वे जिन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें अध्यापन-कार्य करते थे (संवत् १९८५ में) उन दिनों 'कल्याण' के 'भक्ताङ्क' विशेषाङ्कके लिये सामग्री-संकलन करते समय पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारसे उनकी काशीमें भेंट हुई। उन्होंने भाईजीको 'ज्ञान और भक्ति' शीर्षकसे एक सुन्दर लेख विशेषाङ्कके लिये लिखकर दिया। भाईजीने उस समय यह स्वीकारा था कि श्रीकृष्णप्रेमजीको श्रीमद्भगवद्गीताका गहन अध्ययन है।

श्रीकृष्णप्रेमजीने गीताका अंग्रेजीमें अनुवाद किया। श्रीमद्भागवतमें वर्णित भगवान्की बाल-लीलाओंका अलगसे अनुवाद किया। वे सिरपर लम्बी चोटी रखते थे और माथेपर वैष्णव तिलक लगाते थे। गलेमें सोनेकी एक डिबियामें गीताजीकी छोटी-सी प्रति श्रद्धा-भावसे धारण किये रहते थे।

श्रीकृष्णप्रेमजीने अपने गुरु यशोदामाईके साथ श्रीवृन्दावनधाममें रहकर अधिक समयतक उपासना-साधना की तथा श्रीमन्माध्वगोडेश्वराचार्य गोस्वामी बालकृष्णजी महाराजके श्रीचरणोंमें बैठकर धर्मशास्त्रोंका अध्ययन किया।

बादमें उन्होंने अल्मोड़ा जिलेके मीरतोला नामक सुन्दर गाँवमें एक आश्रमकी स्थापना की। उसे 'उत्तर वृन्दावन' नाम दिया। इस आश्रममें श्रीराधा-कृष्णका सुन्दर मन्दिर बनवाया तथा एक गोशालाकी स्थापना की। श्रीकृष्णप्रेमके अनेक अंग्रेज भक्त भी वहाँ वैष्णव-धर्मकी दीक्षा लेकर विरक्त जीवन बिताने आ गये थे। वे अपने हाथोंसे भगवान् श्रीबालकृष्ण और गायोंकी सेवा करते थे। शेष समय शास्त्राध्ययन तथा लेखन-कार्यमें बिताते थे। जब वे हाथोंमें मंजीरे लेकर भगवान्के प्रेममें निमग्न होकर संकीर्तन और नृत्य करते तो अल्मोड़ा-क्षेत्रका यह स्थल साक्षात् वृन्दावनका रूप धारण कर लेता था।

समय-समयपर हमें श्रीकृष्णप्रेमजीके दर्शनका, उनके संस्मरण सुननेका परम सौभाग्य प्राप्त होता रहता था। वे महान् संत श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज और श्रीहरिबाबाजी महाराज-जैसे संतोंके प्रति अगाध श्रद्धा-भावना रखते थे।

* श्रीकृष्णप्रेमजी जाने-माने अंग्रेज श्रीकृष्ण-भक्त थे। वे रोनाल्ड निक्सनसे 'श्रीकृष्णप्रेम' बने। अपना देश तथा वेश-भूषा त्यागकर परम वैष्णव बन अल्मोड़ाके निकट 'उत्तर वृन्दावन' बसाकर जीवनपर्यन्त श्रीकृष्णके प्रेममें निमग्न रहे। उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता आदिका अंग्रेजीमें अनुवाद किया।

मेरठ)-में एक अंग्रेज डॉ० डेविडसन, मेडिकल अफसर होकर आये थे। डॉ० डेविडसन साहब बड़े ही मिलनसार, सज्जन और सात्त्विक विचारोंके श्रीकृष्ण-भक्त पुरुष थे। उनके सम्बन्धमें यह बात बड़ी प्रसिद्ध थी कि उन्होंने अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति, श्रीकृष्णनाम-जप और श्रीकृष्ण-प्रार्थनाके बलपर अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। डॉ० डेविडसनके कमरेमें मनुष्यके बराबर आकारवाली भगवान् श्रीकृष्णकी एक बहुत ही सुन्दर प्रतिमा थी और वे उस प्रतिमाके सामने खड़े होकर प्रेममें विभोर हो नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण-कीर्तन किया करते थे। श्रीकृष्ण-कीर्तनमें उनकी इतनी तन्मयता हो जाती थी कि वे अपने शरीरतककी भी सुध-बुध खो बैठते थे।

हापुड़-निवासी वैद्यराज पण्डित श्रीमुकुन्दलालजी शर्माका श्रीकृष्ण-भक्त डॉ० डेविडसनसे बड़ा प्रेम था। एक दिन श्रीमुकुन्दलालजी अपने कुछ मित्रोंको साथ लेकर डॉ० डेविडसन साहबसे मिलनेके लिये बाबूगढ़ गये। सबने जाकर क्या देखा कि साहबका कमरा अंदरसे बिलकुल बंद है और कुछ-कुछ गानेकी-सी वाणी सुनायी पड़ रही है। वे कमरेके पीछेकी ओर गये और जँगलेसे झाँककर देखा तो उन्हें उस कमरेमें एक मनुष्यके बराबर आकारवाली भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी सुन्दर प्रतिमा स्थापित दिखायी दी। डॉ० डेविडसन साहब भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन कर रहे थे। इन्होंने समझा कि 'अंग्रेजलोग शराब पीते ही हैं, आज डॉ० डेविडसनने शायद ज्यादा शराब पी ली है और उसीके नशेमें नाच-कूद रहे हैं। इसलिये अब इनसे मिलना और बातें करना उचित नहीं है।' ऐसा अपने मनमें विचारकर वे लोग वहाँसे चुपचाप चल दिये।

साहबको श्रीकृष्णनाम-जप, श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन और श्रीकृष्ण-प्रार्थनाके द्वारा दूसरोंके मनकी बात जान लेनेकी अद्भुत शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये वे इनके मनकी बात भलीभाँति जान गये। ये लोग अभी कुछ ही दूर गये होंगे कि साहबने झटसे अपना कमरा खोलकर चपरासीको

इसपर मुकुन्दलालजीने कहा कि 'साहब! हमने कुछ नहीं समझा है।'

डेविडसन साहबने कहा—'शायद आपलोगोंको यह भ्रम हुआ है कि आज साहब शराब अधिक पी गये हैं और शराबके नशेमें ही झूम रहे हैं, पर ऐसी बात नहीं है, यह आपका भ्रम ही है।'

डॉ० साहबद्वारा अपने मनकी बात सुनकर सभी दंग रह गये और उन्होंने कहा कि 'जी हाँ, साहब! वास्तवमें हमारे मनमें यही बात आयी थी जो आप कह रहे हैं, पर आपको हमारे मनकी बात मालूम कैसे हो गयी?'

डॉ० साहबने कहा—'अच्छा, अब आप सब मेरे इस कमरेमें आइये।' वे सबको अपने साथ कमरेमें ले गये और अंदर ले जाकर दिखाया कि संगमरमरकी बड़ी सुन्दर भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य प्रतिमा वहाँ विराजमान है, वह बहुत ही सुन्दर वस्त्राभूषणों और पुष्पहारोंसे सुसज्जित है। फिर साहबने कहा कि 'शर्माजी!' मैं इन्हीं अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णके सामने खड़ा होकर नृत्य-कीर्तन कर अपने प्रभु भगवान् श्रीकृष्णको रिझा रहा था और इस श्रीकृष्ण-प्रेमकी मादकतामें झूम रहा था, अन्य कोई बात नहीं थी।'

एक विदेशी और विधर्मी अंग्रेजके कमरेमें भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर प्रतिमाको देखकर तथा उनके मुखसे श्रीकृष्ण-भक्तिकी सुन्दर मीठी रसीली बातें सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये एवं सभीका हृदय गद्‌गद हो गया और वे अपनेको कृतकृत्य मानने लगे।

श्रीकृष्ण-भक्त अंग्रेज डॉ० डेविडसन साहब मांस-मदिराका खाना-पीना तो दूर रहा, स्पर्श करना भी बड़ा घोर पाप मानते थे। आप एक परम वैष्णव बन गये थे। वेदोंमें तथा हिन्दू-धर्मके अन्य ग्रन्थोंमें आपकी बड़ी आस्था थी। आप हिन्दू सनातनधर्मको ही सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र पूर्ण धर्म मानते थे। आपको श्रीकृष्ण-भक्तिका यह अद्भुत चस्का सर्वप्रथम अफ्रीकामें लगा था और कुछ दिनोंके पश्चात् परम पवित्र श्रीमथुरापुरीमें आनेपर तो आपपर श्रीकृष्णभक्तिका

पूरा-पूरा रंग चढ़ गया। जबतक आप जीवित रहे, श्रीकृष्ण-भक्तिमें तल्लीन रहे और नित्यप्रति अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके सामने खड़े होकर नृत्य-कीर्तन करते रहे।

[३]

श्रीकृष्ण-भक्त बहन रेहाना तैय्यबजी

मैंने गाँधीजीकी सुप्रसिद्ध शिष्या एवं विख्यात देशभक्त अब्बास तैय्यबजीकी सुपुत्री स्व० बहन कुमारी श्रीरेहाना तैय्यबजीकी श्रीकृष्ण-भक्तिके विषयमें बड़ी चर्चा सुनी थी। हमारा मन बरबस उनके दर्शनोंके लिये लालायित हो उठा। मैंने उन्हें एक पत्र लिखा कि हम आपसे भेंट करना चाहते हैं। इसपर बहन रेहानाजीने मुझे १२ जून सन् १९६२ ई० को दिनके ११-३० बजेसे १२-३० बजे मध्याह्नतकका समय दे दिया।

मैं अपने पुत्रको लेकर पिलखुवासे दिल्ली स्थित काका साहब कालेलकरके निवासस्थानपर जा पहुँचा और ११ बजेसे लगभग आधा घंटेतक हम काका साहबसे विभिन्न विषयोंपर चर्चा करते रहे।

श्रीकृष्ण-भक्तिका अद्भुत दृश्य—निश्चित समय ठीक ११-३० बजे हम श्रीरेहाना बहनके कमरेमें प्रविष्ट हुए। सामने लकड़ीकी एक चौकीपर बहन रेहानाजी बैठी हुई थीं और उनके समक्ष थी भगवान् श्रीकृष्णकी एक बड़ी ही मनमोहिनी प्रतिमा, जिसके ऊपर उन्होंने सुगन्धित पुष्प भी चढ़ा रखे थे। पासमें पूजाकी घंटी रखी हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके समीप ही वे बैठी थीं। पासमें ही श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् आदि ग्रन्थ रखे हुए थे। एक अहिन्दू-परिवारमें जन्म लेकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना और हिन्दू-धर्मग्रन्थोंका स्वाध्याय एवं भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिकी पूजा करते देखकर श्रद्धासे हमारा सिर उनके चरणोंमें झुक गया।

हम अपने साथ कुछ फल भी ले गये थे। हमने उन्हें उनके सामने रख दिया। वे झट उठीं और उन्होंने उन फलोंको अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णके सामने अर्पण करके उनमें तुलसीपत्र छोड़ा और फिर अपनी आँखें बंदकर भगवान्को भोग लगानेका मन्त्र पढ़ा, घंटी बजायी और बैठ गयीं। उन्होंने फल-प्रसाद सभी उपस्थित लोगोंको बाँट दिया।

योगी और भोगीका अन्तर—वार्ताके मध्य हमने प्रश्न किया—आपकी दृष्टिमें देशमें दिनोंदिन बढ़ रही नास्तिकता एवं अशान्तिका मूल कारण क्या है?

इसपर वे बड़ी गम्भीर होकर बोलीं, 'भाईसाहब! जब योगी भोगीको अपना मार्गदर्शक मानकर उससे कुछ सीखनेका प्रयत्न करने लगेगा तो समझ लीजिये कि उस समय घोर कलियुग आ जायगा एवं अनाचार, पापाचार, अत्याचार और व्यभिचार आदि बढ़ जायँगे। भारत धर्मप्राण योगियोंका परम पवित्र महान् देश है। अन्य पश्चिमी देश भोगियोंके देश हैं और भौतिकवादियोंके केन्द्र हैं। भारतभूमिपर भगवान्के मङ्गलमय श्रीचरण पड़े हैं और इसकी पवित्र धरतीपर स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लेकर लीलाएँ की हैं। त्याग एवं वैराग्यका यह केन्द्र रहा है। अत: यदि भोगी (पश्चिमी देश) हमसे (भारतसे) कुछ शिक्षा ग्रहण करें तो ठीक है, पर यदि उलटे हम (योगी) ही उन महान् भौतिकवादी भोगियोंके पीछे दौड़ेंगे तो उसका परिणाम क्या होगा, इसका अनुमान लगा लीजिये। आजकल ठीक वही हो रहा है। आज उलटी गङ्गा बह रही है। जहाँ कभी पश्चिमी देश भारतको धर्मभूमि और योगियोंका परम पवित्र देश मानकर उससे शिक्षा ग्रहण किया करते थे, वहाँ आज हम भारतीय उलटे भोगी देशोंको अपना पथप्रदर्शक (गुरु) मानकर उनका अन्धानुकरण करनेमें ही महान् गौरवका अनुभव कर रहे हैं। देशके घोर अध:पतनका यही मूल कारण है।

श्रीकृष्णकी उपासिका—मैंने पुन: प्रश्न किया, 'कुछ लोग भगवान् श्रीकृष्णको ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते। उधर कुछ लोग उन्हें ऐतिहासिक पुरुष तो मानते हैं, पर उन्हें वे भगवान्का साक्षात् अवतार नहीं मानते? इन विषयोंपर आपका मत क्या है?'

इस प्रश्नपर रेहानाजी कुछ भड़क उठीं और बोलीं—'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके अस्तित्वमें विश्वास नहीं रखते, वे कोरे अज्ञानी हैं। कोई उनके अस्तित्वमें विश्वास करे या न करे, परंतु सत्य तो सत्य ही है। भगवान् श्रीकृष्ण समय-समयपर आज भी साक्षात् प्रकट होकर भक्तोंको अपना दर्शन दिया करते हैं। श्रीमीराबाईको उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। सूरदासजीके भी समक्ष प्रकट होकर उन्हें अपनी संनिधि प्रदान की थी। नरसी भगतकी उन्होंने स्वयं

प्रकट होकर सहायता की थी और उनका भात भरा था। धर्मपर विपत्ति आनेपर वे अवतार लेकर धर्मद्रोहियोंका सदा संहार किया करते हैं। उनके अस्तित्वमें विश्वास न करनेवाले अज्ञानी हैं।' यह कहते हुए रेहानाजी श्रीकृष्ण-प्रेममें अत्यन्त विह्वल हो उठीं। बहन रेहानाजी बोलीं—'भगवत्तत्त्व बड़ा गूढ़ और विलक्षण है। इस जाननेयोग्य परम तत्त्व श्रीकृष्णको जिसने जान लिया है, वही उस अनिर्वचनीय रसानुभूतिका अनुभव कर सकता है। श्रीकृष्ण-प्रेम ऐसा ही अनूठा है। इसकी टीसको जिसने अनुभव किया है, वही उस दिव्यानन्दको जान सकता है—

नहीं इश्क का दर्द लज्जत से खाली
जिसे 'जौक' है वह मजा जानता है।

उन्होंने कहा, 'भगवान् श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्णको काल्पनिक बतानेवाले स्वयं बिन्दुके समान हैं और भगवान् श्रीकृष्ण अथवा राम अनन्त सिन्धु हैं। भला बिन्दु सिन्धुका क्या मुकाबला कर सकता है? कहाँ एक बूँद और कहाँ अगाध समुद्र! क्या कभी बिन्दुको सिन्धुकी गम्भीरताका पूरा ज्ञान हो सकता है? असम्भव! अत: लोगोंकी ऐसी उक्तियोंका कोई मूल्य नहीं है।'

'आप मुसलिम-परिवारकी होकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना कबसे और कैसे करती हैं?' इस प्रश्नपर स्व० रेहाना बहनने कहा—'यह सच है कि मैंने एक मुसलिम-घरमें जन्म लिया, पर मेरे संस्कार अस्सी प्रतिशत हिन्दू हैं। यह भी सच है कि असलमें हम हिन्दू ही थे, हिन्दुस्तानमें ही पैदा हुए, कहीं बाहरसे नहीं आये। मैं बचपनसे ही पूर्व-जन्म मानती थी, श्रीकृष्णको अपने दिलमें बैठाये फिरती थी। बचपनमें वेदान्त पढ़ती और उसे समझती थी। घरसे अलग रहकर कुछ अजब मानसिक और आध्यात्मिक सूनापन-सा महसूस किया करती थी। जब मेरी उम्र आठ वर्षकी थी तभी मैंने किसीसे सुना था कि 'हिन्दू लोग बुतपरस्त हैं।' इसपर मैंने झुँझलाकर कहा था कि हिन्दू मूर्तिपूजक नहीं हैं, वे मात्र मूर्ति नहीं पूजते, बल्कि उसके पीछे जो कुछ तत्त्व है, उसे ही पूजते हैं। वास्तविकता यह है कि श्रीकृष्ण-भक्ति मुझे पिछले जन्मके संस्कारोंके कारण ही मिली है, मैं ऐसा ही मानती हूँ। मेरे परिवारवाले मुझे गीता पढ़ते देखकर, श्रीकृष्णकी भक्ति करते देखकर और श्रीकृष्ण-भक्तिके भजन गाते हुए सुनकर अपनी धर्मान्धताके कारण मुझसे काफी नाराज रहते थे। मेरे पूर्वजन्मके संस्कारोंने ही मेरी काफी मदद की। ये संस्कार ही मुझे यह सब करनेपर मजबूर करते रहे हैं।'

पुनर्जन्ममें विश्वास—स्व० बहन रेहानाजी हिन्दू-धर्मके पुनर्जन्मके सिद्धान्तमें दृढ़ विश्वास रखती थीं। पुनर्जन्मके सम्बन्धमें हमारे प्रश्न करनेपर उन्होंने कहा—'साधारणत: कोई प्रश्न कर सकता है कि 'तुम्हारे पास क्या सबूत है कि जीव मृत्युके बाद दुबारा जन्म लेता है?' इसके उत्तरमें कुछ लोग कह सकते हैं कि 'कोई नहीं।' परंतु मैं पूछती हूँ कि 'क्या उनके पास कोई सबूत है कि पुनर्जन्म नहीं होता?' इसका सामान्य-सा उत्तर यही होता है कि नहीं, कोई सबूत तो नहीं है पुनर्जन्मकी बात भ्रममात्र मालूम होती है। ऐसा उत्तर देनेवालोंसे मुझे कहना होगा कि आपको न कुछ अभ्यास है, न अनुभव। आपने तुरंत भ्रम मान लिया। यदि भ्रम है तो मैं बड़े भव्य भ्रमितोंकी पंगतमें हूँ; क्योंकि मैंने तो स्वयं ही अपने जीवनमें पुनर्जन्मकी सत्यताका अनुभव किया है।'

गीतासे प्रेरणा—रेहाना बहनको श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अटूट श्रद्धा थी। गीताको वे महान् एवं अद्वितीय धर्मग्रन्थ मानती थीं। वे अपनी आत्मकथा 'सुनिये काका साहब' में लिखती हैं कि 'सन् १९२३ ई० में मेरे जीवनमें गीताजी प्रकट हुईं। मैंने 'यंग इण्डिया' में बापूद्वारा की गयी गीताकी प्रशंसा पढ़ी। मैं गीता ले आयी। उसे पढ़ा और पढ़ते-पढ़ते मेरे दिल-दिमागपर मानो बिजलियाँ गिरती चली गयीं। मैं पागल हो गयी, विह्वल हो गयी और व्याकुल हो गयी। मैंने लगातार उसे बीस बार पढ़ लिया, फिर भी उसे हाथसे अलग न रख सकी। रातको तकिये-तले रखकर सोती। मेरी आँखोंके सामने एक अद्भुत सुन्दर, तेजोमय और आनन्दमय दुनिया मानो खुल गयी। गीताके सात सौ श्लोकोंमें मुझे चौदह ब्रह्माण्डोंके रहस्य नजर आने लगे। मेरे सभी सवालोंके एकदमसे जवाब मिल गये। हर उलझनका सुलझाव मिल गया। हर अँधेरेका दीपक मिल गया। हर गुमराहीको रहनुमा (मार्गदर्शक) मिल गया। गीतामें मैंने सब कुछ पा लिया।'

रेहाना बहन नियमित गीताका पाठ किया करती थीं। गीताके सभी श्लोक उन्हें कण्ठस्थ थे। वे श्रीमद्भगवद्गीताको सम्मानपूर्वक 'गीता शरीफ' कहकर पुकारा करती थीं।

अंग्रेजी शिक्षाको रेहाना बहन मानसिक गुलामीका प्रतीक मानती थीं। एक बार उन्होंने बड़े दु:खभरे शब्दोंमें कहा था—'अंग्रेजी शिक्षाने हमारे मस्तिष्कको विकृत कर डाला है और अंग्रेजी दवाओंने शरीरको।'

देशभक्त परिवार—रेहाना बहनने सन् १९०१ ई० में एक गुजराती मुसलिम परिवारमें जन्म लिया था। तैय्यबजीका परिवार देशभक्तिके लिये विख्यात रहा है। पूरा परिवार गाँधी-भक्त रहा है। रेहानाजीके नाना न्यायमूर्ति बदरुद्दीन तैय्यबजी, उनके पिता अब्बास तैय्यबजी तथा परिवारके अन्य सभी सदस्योंने जहाँ ऊँचे-ऊँचे पदोंपर कार्य किये हैं, वहीं देशभक्तिके कार्योंमें भी वे किसीसे पीछे नहीं रहे हैं। उनके पिता अब्बास तैय्यबजी प्रसिद्ध और प्रमुख देशभक्त रहे हैं। रेहाना बहनने गाँधीजीकी प्रेरणासे नमक-सत्याग्रहमें भी डटकर भाग लिया था।

रेहानाजीने अपनी पुस्तक 'गोपी-हृदय' में श्रीकृष्ण-भक्तिकी अनोखी आध्यात्मिक आत्मलक्षी कहानी लिखी है। 'कृपाकिरण' श्रीकृष्ण-भक्तिसे ओत-प्रोत भजनोंका संग्रह है। हिन्दू-धर्म, हिन्दू-दर्शन एवं हिन्दू-आचार-विचारोंके प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति एवं दृढ़ विश्वास वस्तुत: प्रशंसनीय है। थोड़ेमें, रेहानाजीको हमने जैसा सुना, वैसा ही पाया।

[४]

श्रीराम-कृष्णके प्रेमी भक्त—मेजर लीद

फरवरी सन् १९६५ ई० की बात है। भारतके सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी संन्यासी स्वामी श्रीसत्यानन्दतीर्थजी पिलखुवा हमारे स्थानपर पधारे थे। माननीय स्वामीजी महाराज गीता-रामायणकी कथा किया करते थे। हमें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आप एक आर्यसमाजी संन्यासी होकर भी गीता-रामायणका बड़े प्रेमसे पाठ करते हैं और दूसरे लोगोंको भी गीता-रामायणका पाठ करनेका उपदेश करते हैं।

हमने स्वामीजीसे प्रश्न किया—'स्वामीजी महाराज! एक आर्यसमाजी संन्यासी होते हुए भी आपकी गीता-रामायणमें ऐसी दृढ़ निष्ठा और भगवान् श्रीराम-कृष्णमें ऐसा अद्भुत प्रेम होनेका कारण क्या है?'

उन्होंने बताया—मेरे जीवनमें एक ऐसी सत्य घटना घटी है कि जिसके कारण मुझे बरबस भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णको परब्रह्म परमात्मा माननेके लिये बाध्य होना पड़ा है तथा मुझे रामायण और गीतामें इतनी निष्ठा हो गयी है। एक बार मुझे एक बड़े धनी-मानी सेठके साथ विदेशयात्राके लिये जाना पड़ा। मैं उस समय फ्रांस आदि यूरोपके कई देशोंके अतिरिक्त इंग्लैण्ड भी गया और वहाँ बहुत दिनोंतक रहा। मुझे स्वप्नमें भी यह कल्पनातक न थी कि इस फैशनपरस्त, विलासप्रधान देशमें, जहाँ लोग अंडे, मांस, मछली खाते हैं, शराब पीते हैं और स्त्री-पुरुष उन्मत्त होकर नृत्य करते हैं, वहाँ लङ्कामें भक्त विभीषणकी भाँति कोई सज्जन एकान्तमें बैठकर भगवान् श्रीराम-कृष्णकी भक्ति भी कर सकता है!

सहसा एक दिन मुझे एक अंग्रेज सज्जन मिले, जिनका शुभ नाम था—मेजर लीद। मेजर लीद पहले बहुत समयतक भारतीय फौजमें मेजरके पदपर रह चुके थे। वे भारतीय हिन्दू-सभ्यता-संस्कृतिसे बड़े प्रभावित थे तथा बहुत प्रेम रखते थे। वे भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे।

उन्होंने मुझे भारतीय हिन्दू समझकर मुझसे बड़ा प्रेम किया और वे मुझे तुरंत अपने घर ले गये। वहाँ भारतीय अतिथिके नाते मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया। जिस प्रकार और बहुत-से अंग्रेज हम भारतीय हिन्दुओंको गुलाम देशका एवं काला आदमी समझकर घृणा करते हैं, वहाँ मेजर लीदने मुझे भारतीय ऋषियोंके देशका हिन्दू समझकर बड़े प्रेमसे और पूज्यभावसे देखा। उन्होंने बड़े आदरसे मुझे अपने घरमें ठहराया।

वे मुझे एक बार अपने घरके अंदर ले गये। बड़े प्रेमसे एक सुन्दर आलमारी दिखायी, जो संस्कृत और हिन्दीके बहुत-से ग्रन्थोंसे भरी थी। तुलसीकृत श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, सम्पूर्ण महाभारत आदि सब ग्रन्थ उस आलमारीमें सुशोभित थे। उन सब ग्रन्थोंकी बहुत सुन्दर सुनहरी जिल्दें बँधी हुई थीं। उन्होंने हमारे उन पूज्य धर्मग्रन्थोंको ऐसे सुन्दर ढंगसे आदरपूर्वक सजाकर रखा था कि उस प्रकार हमारे भारतीय हिन्दू-घरोंमें भी उन्हें नहीं रखा जाता है। वे उन ग्रन्थोंको बड़ी पूज्य दृष्टिसे देखते थे तथा बड़े ही प्रेमसे, बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ पढ़ते और उनका नित्यप्रति स्वाध्याय करते थे, जिसे देखकर बड़ा आश्चर्य होता था।

श्रीमद्भगवद्गीता और तुलसीदासकृत श्रीरामचरित-मानसके तो वे ऐसे अनन्य भक्त और प्रेमी थे कि नित्य उनका पाठ करते-करते श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक एवं

श्रीरामचरितमानसकी बहुत-सी चौपाइयाँ उन्हें कण्ठस्थ हो गयी थीं, जिन्हें वे बड़े प्रेमसे गा-गाकर सुनाया करते थे। जिस समय वे गा-गा करके सुनाते, उस समय वे भगवान् श्रीराम-कृष्णके प्रेममें विभोर—गद्गद हो जाते थे।

मेरे द्वारा मेजर लीदसे यह प्रश्न किया जानेपर कि 'साहब! आपने एक अंग्रेज होनेपर भी इस प्रकार हिन्दी और संस्कृत-भाषाका इतना ज्ञान प्राप्त कैसे किया कि जो इस प्रकार आप रामायणकी चौपाइयाँ और श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक धड़ाधड़ बोल रहे हैं? आपको भगवान् श्रीराम-कृष्णकी भक्तिका यह चस्का भी कहाँसे लगा कि जो भगवान् श्रीराम-कृष्णका नाम लेते ही आप एकदमसे गद्गद हो जाते हैं?'

मेजर लीदने कहा, 'मैं जब आपके परम पवित्र देश भारतमें मेजर-पदपर था, तब मैंने वहाँ लगातार सात वर्षोंतक एक संस्कृतके विद्वान् ब्राह्मणसे संस्कृत भाषा पढ़ी थी। उन विद्वान् ब्राह्मणको मैं प्रतिमास पंद्रह रुपये दिया करता था। इसीसे मुझे हिन्दू-फिलॉसफीका ज्ञान तथा उसमें अनुराग प्राप्त हो गया। अब मैं हिन्दू-फिलॉसफीसे बढ़कर और किसीको भी नहीं मानता हूँ। मैंने संस्कृत पढ़कर हिन्दूधर्मका जो ज्ञान प्राप्त किया, उसके आधारपर मेरे मनने निष्पक्ष होकर पूर्णरूपसे यह निश्चय और निर्णय कर लिया कि समस्त विश्वमें एकमात्र आपका हिन्दूधर्म, सनातनधर्म ही पूर्ण है और इसी हिन्दूधर्मकी शरणमें आनेसे तथा हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंके अनुसार चलनेसे ही जीवका परम कल्याण हो सकता है। मेरा यह भी पूर्ण निश्चय और विश्वास है कि भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं थे। वे साक्षात् परमात्माके ही पूर्ण अवतार थे। जितने भी अवतार और बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, संत-महात्मा एवं सिद्ध योगी हुए हैं, वे एकमात्र आपके परम पवित्र दिव्य देश भारतमें ही और आपकी परम पवित्र हिन्दू-जातिमें ही हुए हैं। आपका यह देश भारतवर्ष धर्मप्राण, परम पवित्र और जगद्गुरु देश है। यह आपका परम सौभाग्य है कि जो आपने ऐसे परम पवित्र देश भारतमें और परम पवित्र हिन्दू-जातिमें जन्म लिया।'

[५]

महान् कृष्णभक्त—मोहम्मद याकूब खाँ 'सनम'

रहीम, रसखान और ताज बेगमकी परम्परामें इस शताब्दीमें हुए हैं मोहम्मद याकूब खाँ उर्फ 'सनम साहब'। अजमेरवासी सनम साहबने सन् १९२० ई० से लेकर सन् १९४४ ई० तक देशभरमें कृष्ण-भक्तिका प्रचार-प्रसार किया तथा अन्तमें सन् १९४५ ई० में एक दिन अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि व्रजकी पावन मिट्टीमें अपना शरीर समर्पण कर दिया।

सनम साहबने संस्कृत, हिन्दी और उर्दूमें प्रकाशित कृष्णभक्ति-साहित्यका गहन अध्ययन किया। इन भाषाओंके अतिरिक्त वे फारसीके भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने कृष्णभक्ति-सम्बन्धी लगभग १२०० पुस्तकें संग्रहीत कीं तथा अजमेरमें 'श्रीकृष्ण-लाइब्रेरी'की स्थापना की। सनम साहबने बहुत समयतक व्रजभूमिमें रहकर श्रीकृष्णकी उपासना की। अपनी मुक्तिके उद्देश्यसे वे कृष्णभक्त बने और तपस्वी गुरुके अन्वेषणमें लग गये। अन्तमें व्रजभूमिके संत श्रीसरसमाधुरीशरणजीको उन्होंने अपना गुरु बना लिया। गुरुदेव सरसमाधुरीशरणजीकी प्रेरणासे उन्होंने देशभरमें कृष्णभक्तिकी धारा प्रवाहित करनेका संकल्प लिया। वे प्रभावशाली वक्ता तथा भावुक भक्त थे, अतः कुछ ही समयमें देशभरमें उनके प्रवचनोंकी धूम मच गयी। सनम साहबने अपने एक प्रवचनमें कहा था—'श्रीकृष्णके दो रूप हैं निराकार और साकार। निराकार जो गोलोकधाममें विराजमान है, उसका तीन रूपसे अनुभव होता है—प्रेम, जीवन तथा आनन्द। प्रेम ही जीवनविधान है, जीवन ही सत्यताका आधार है और जीवनका मुख्य उद्देश्य आनन्द है। इस कारण ये तीनों ही श्रीकृष्णकी निराकार विभूतियाँ हैं, सृष्टिमात्रमें व्याप्त हैं।'

'यह तो केवल हिन्दुओंका कथनमात्र है कि श्रीकृष्ण मात्र हमारे हैं और उनके पुजारी हम ही हो सकते हैं। श्रीकृष्णप्रेमका अधिकारी जीवमात्र है। स्वामी प्रेमानन्दजीने अमेरिका जाकर श्रीकृष्णपर व्याख्यान दिये, जिनका यह प्रभाव पड़ा कि चौदह हजार अमरीकी श्रीकृष्णके अनुयायी हो गये और कैलिफोर्नियामें कृष्ण-समाज तथा कृष्णालय स्थापित हो गये। वहाँ भारतके समान ही श्रीकृष्णका पूजन, नाम-कीर्तन और गुणानुवाद होने लगा।'

सनम साहबको अपने गुरुदेव श्रीसरसमाधुरीशरणका एक पद बहुत पसन्द था—*'लागै मोहे मीठो राधेश्याम'* यह पद उन्होंने मेरे पिताजी (भक्त रामशरणदास)-को लिखकर भेजा था। प्रवचनके आरम्भमें वे यह पद गाकर सुनाते थे।

एक सुशिक्षित मुसलमानको श्रीकृष्ण-भक्तिमें तल्लीन देखकर अनेक धर्मान्ध लोगोंमें तहलका-सा मच गया था। कुछने अजमेर पहुँचकर उन्हें समझा-बुझाकर कृष्णभक्तिके पथसे हटानेका भारी प्रयास किया, किंतु उनके तर्कोंके आगे वे वापस लौट जाते थे। इसके पश्चात् उन्हें जानसे मार डालनेकी भी धमकी दी गयी, काफिरतक कहा गया, किंतु सनम साहबने स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने इष्टदेव श्रीकृष्णकी भक्तिके लिये पैदा हुआ हूँ, जिस दिन उन्हें मुझे अपने लोकमें बुलाना होगा, मैं पहुँचा दिया जाऊँगा। अजमेरमें उनपर आक्रमणका प्रयास भी किया गया। उन्होंने लिखा—'अभी मुझसे भगवान् कृष्णको और काम लेना है, इसलिये उन्होंने रक्षा की है।'

सनम साहब मेरे पिता भक्त श्रीरामशरणदासजीके अनन्य मित्र थे। सन् १९३५ ई० में वे पिलखुवा पधारे थे तथा उन्होंने हमारे निवासस्थानपर श्रीकृष्ण-भक्तिपर सुन्दर प्रवचन किया था।

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार (आदिसम्पादक 'कल्याण') उनकी श्रीकृष्णभक्तिसे बहुत प्रभावित थे।

सनम साहब संत उड़ियाबाबाके प्रति भी भारी श्रद्धा रखते थे। वृन्दावनमें बाबाके आश्रममें वे प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कीर्तन एवं रासलीलाका रसास्वादन करते थे। रासलीलाके महत्त्वपर उन्होंने एक पुस्तक भी लिखी थी। सनम साहबका कहना था कि रासलीलामें तन्मय होकर कृष्ण एवं राधामय होनेका अवसर अत्यन्त भाग्यशाली व्यक्तिको ही प्राप्त होता है। वृन्दावनमें रासलीलाका रसास्वादन करते समय श्रीकृष्ण-प्रेममें लीन हो वे अश्रुधारा प्रवाहित करने लगते थे। संकीर्तनमें वे भक्तजनोंके साथ मिलकर नृत्य करने लगते थे। सुविख्यात अंग्रेज श्रीकृष्ण-भक्त रोनाल्ड निक्सन उर्फ़ श्रीकृष्णप्रेम- भिखारीसे भी उनका निकटका सम्पर्क हो गया था। इन दोनों गैर-हिन्दू श्रीकृष्ण-भक्तोंने देशभरमें भक्तिकी भागीरथी प्रवाहित करनेमें भारी योगदान किया था। महामना मदनमोहन मालवीयने सन् १९३९ ई० में सनम साहबको काशी बुलाकर उनसे श्रीकृष्ण-भक्तिके विषयमें विचार-विनिमय किया था।

अन्तमें सनम साहबने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि 'व्रज'-सेवनका संकल्प लिया। वे हर समय यमुना-स्नान एवं श्रीकृष्णके ध्यानमें लीन रहने लगे। रूखा-सूखा सात्त्विक भोजन प्रसादरूपमें ग्रहण कर लेना तथा बाकी समय संत-महात्माओंकी सेवा एवं संकीर्तनमें व्यतीत करना यही उनकी दिनचर्या थी। वे अपनेको 'व्रजराजकिशोरदास' नामसे सम्बोधित करने लगे थे। एक दिन उन्होंने वृन्दावनमें ही रासलीलाका रसास्वादन करते समय अपने प्राण त्याग दिये। [प्रे० श्रीशिवकुमारजी गोयल]

भगवत्प्रेमी युगलकिशोर

(वैद्य श्रीगोपीनाथजी पारीक 'गोपेश', भिषगाचार्य, साहित्यायुर्वेदरत्न)

युगलकिशोर ढूंढाड़ प्रदेशकी लोकभाषा एवं हिन्दीके श्रीकृष्णोपासक प्रेमी भक्त कवि थे। इनके द्वारा रचित भक्तिके पद जयपुर एवं इसके समीपवर्ती गाँवोंके घर-घरमें गाये जाते हैं। भक्ति-संगीतके माध्यमसे जन-जनको भगवत्प्रेमी बनानेके उद्देश्यको लेकर इन्होंने 'श्रीश्यामसंकीर्तन-मण्डल' की स्थापना भी की।

इन्होंने अपने इष्टको 'प्रेमभाया'-के नामसे और स्वयंको 'प्रेमबावरा' नामसे सम्बोधित किया। ये अपनी प्रेम-कहानी प्रेमभायाको सुनानेको आतुर रहे और अपना युगल-कुटीर राधेकृष्ण नामसे गुंजायमान करनेको लालायित रहे—

मनमौजी काना कौन बंधाये मोहे धीर॥

किसको सुनाउँ कृष्णा प्रेम कहानी
अपनी मस्तीमें बहती दुनिया दिवानी
आखिर है कौन किसी का
सपना है जीते जी का
कैसे मिलेगा भवतीर॥
मनमौजी काना कौन बंधाये मोहे धीर॥
मानसका वासी बोले जय हो विहारी
पगले पंछी को निरखे राधा विहारी
जै जै श्रीराधे कृष्णा
जै जै श्रीराधे कृष्णा
गूंजे यों युगलकुटीर॥

मनमौजी काना कौन बंधाये मोहे धीर॥

जिस प्रकार भगवत्प्रेमी नन्ददासने रसमंजरीमें लिखा है—

रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरधर देव सौं निधरक बरनौ ताहि॥

—उसी प्रकार युगलजीने विषयतृष्णाको मिटाकर तन्मयभावसे प्रभुमें दत्तचित्त होनेकी प्रेरणा दी है—

बोलो प्रेम से हरे, हरि के नामसे तरे॥

× × ×

बिषय मिटे तृष्णा मिटे मिटे कपट व्यवहार।
ज्योति जगे जीवन मिले बसे नया संसार॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥
मानस उमडे प्रेम से नयन बहावे नीर।
रूप माधुरी में लखें श्यामल गौर शरीर॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥
चलो 'युगल' मधुवन चलें जहाँ बसे घनश्याम।
वहीं प्रेम दरबार में मिले तुम्हें बिश्राम॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥

भक्त कवि कितनी विनम्रतासे घनश्यामको अपने हृदयमें बस जानेहेतु निवेदन करता है, इसी भावभरे निम्न पदको गानेवाला और सुननेवाला भावविभोर हुए बिना नहीं रहता—

घनश्याम म्हारा हिवड़ा में रमजावो जी घनश्याम,
मैं दास छूं चरणकमल रो दास छूँ
ओ जी प्यारा श्याम॥ स्थाई॥

× × ×

जय मुरलीधर मोहना जय ब्रज माखन चोर
जय जय नटवर प्राण धन जय जय नन्द किशोर
घनश्याम दास 'युगल' रा नाथ कहावो जी घनश्याम॥

प्रेमलक्षणा भक्तिके भावसे ओत-प्रोत यह पद्य सुनने-समझने योग्य है—

म्हारा अल्बेल्या मनमोहन क्यों बिछड़ावो छो॥ स्थाई॥
थाँकी निशदिन ओल्यूं (याद) आवै, आंख्या आंसू खूब बहावै।
प्यारा माया का पड़दा में क्यों लुख (छुप) जावो छो''॥
बाँकी सूरत लागे प्यारी ई मैं आंख्या अटकी म्हारी।
छूं दर्शन को दीन भिखारी क्यों तरसावो छो''॥

× × ×

'युगल' शरणमें रहबो चाहूं प्यारी छविमें निरख्यां जाऊं।
म्हारा समरथ स्वामी भव में क्यों भटकाओ छो''॥

विरहमें अधिक तन्मयता एवं प्रेमका उत्कर्ष होता है। इनके विरहपदोंमें मीराकी-सी आतुरता नजर आती है तो सूरकी-सी भावप्रवणता—

कांई जादू कर दीनो थांकी याद आवै छै॥ स्थाई॥

× × ×

आवो आवो श्रीगोविन्द थां बिन हिवडो तरसै छै
झांको प्यारा आंख्यां सूं निशदिन आंसू बरसै छै
कांई थांनैं 'युगल' की भी याद आवै छै॥

और—

नटनागर श्याम हठीला म्हाने थांकी औल्युड़ी आवै जी॥
चैन दिन रैन नहीं छ म्हानै म्हाकी दया न आवै थानै।
प्रेम नजर सूं निरखो रसीला॥ म्हानै थांकी''

तथा—

सोण मनाउंली गाउंली मुख सै राम।
काग उडाउंली कद आवोला घनश्याम॥

रति या प्रीति जब लौकिक आलम्बनके प्रति होती है तब वह शृङ्गार है; किंतु जब आलम्बन अलौकिक होता है तो माधुर्यभाव कहलाता है। राधाकृष्णके युगलस्वरूपमें यही माधुर्यभाव प्रकट हुआ है—

कृष्ण कन्हैया राधा रानी दिव्यरूप दरसावे।
प्रेम बावरे दास युगल के मन मन्दिर में आवे॥

युगलजीद्वारा रचित सभी पद गेयात्मक हैं जो परम आनन्द देनेवाले हैं। (१) *'ओ रे नन्द बाबा न खीज्यो रै, बैठ कदम्ब की डार म्हांका चीर चुरावै कान्हो।'* (२) *'म्हारी लैरा लाग्यो आवै छै यो मुरली हालो श्याम।'* (३) *'कद आवोला कन्हैया म्हारे द्वार मैं ठाडी न्हालू वाटड़ली'* (४) *'काली दह में आज तो यो कूद गयो गोपाल रै।'* (५) *'माई यशोदा थारो लाड़लो माटी खावै छै।'* (६) *'नन्दबाबाका लाड़ला होली का रसिया साँवरा थारो गोपीरूप बणास्यां, आव रै'* आदि भगवान्‌की लीलाके सरस पद ढूंढाड़के घर-घरमें भावविभोर होकर गाये जाते हैं जो युगलजीके भगवत्प्रेमकी याद दिलाते रहते हैं। इन पदोंसे प्रेमबावरे युगलजी अमर हो गये।
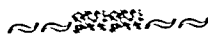
नम्र निवेदन एवं क्षमा-प्रार्थना

भगवत्-कृपासे इस वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क 'भगवत्प्रेम-अङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। कल्याणकी परम्परामें प्रतिवर्ष प्रकाशित विशेषाङ्कों तथा साधारण अङ्कोंमें यद्यपि भगवत्प्रेमसे सम्बन्धित चर्चा किसी-न-किसी रूपमें अवश्य होती रही है, परंतु सर्वाङ्गीण रूपमें भगवत्प्रेमका दिग्दर्शन और उसके स्वरूपका निदर्शन तथा महापुरुषोंद्वारा प्रेमसे सम्बन्धित भावाभिव्यक्तिका एकत्र संकलन अबतक होनेका अवसर प्राप्त नहीं हो सका। चूँकि मानव-जीवनके परम उद्देश्य 'भगवत्प्राप्ति' के लिये प्रेमसाधन ही सर्वोपरि साधन है। अत: इस वर्ष यह विचार आया कि **'भगवत्प्रेम-अङ्क'** विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित किया जाय।

वास्तवमें प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, उसने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया। भगवान् प्रेममय हैं और भगवान् ही प्रेम करने योग्य हैं। अत: सन्तोंने कहा कि प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं हैं। जिस प्रकार वाणीसे ब्रह्मका वर्णन असम्भव है, वेद नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रेमका वर्णन भी वाणीद्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये परम भागवत देवर्षि नारदने अपने 'भक्तिसूत्र' में प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय बताया है—**'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'**। साथ ही यह भी कहा कि **'मूकास्वादनवत्'**। जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परंतु गुड़का स्वाद नहीं बता सकता, उसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव कर आनन्दमें निमग्न हो जाते हैं, परंतु अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरे किसीको बतला नहीं सकते। इस प्रेममें तन्मयता होती है। इसके साथ ही देवर्षि नारद प्रेमके कुछ विशिष्ट लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रेमका रूप गुणोंसे रहित है, कामनाओंसे रहित है, प्रतिक्षण बढ़नेवाला है, एकरस है, अत्यन्त सूक्ष्म है और केवल अनुभवगम्य है—**'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्'**।

भगवान्‌का सच्चा प्रेमी भगवान्‌के अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्‌का चिन्तन भी वह भगवान्‌के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्‌से ही कुछ चाहता है और न भगवान्‌के किसी प्रेमी भक्तसे ही।

सच्चा प्रेम वही है जिससे प्रियतम प्रभुका मिलन हो जाय। प्रियतम प्रभु मिलते हैं—प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी उत्कट इच्छासे। ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं—

प्रेम प्रेम सब कोइ कहे, प्रेम न चीन्हे कोय।
जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय॥

मिलनकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्‌के विरहमें व्याकुल प्रेमीकी अपने प्रेमास्पद भगवान्‌के मिलनेका संदेश मिलनेपर बड़ी ही मधुर अवस्था होती है। प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहमें व्याकुल रहता है और मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलमें अपने प्रेमास्पदके आनेकी आहट ही सुनायी देती है। कोई भी आता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा प्रेमास्पद ही आ रहा है। गोपियोंके पास जब उद्धव आये तो उन्होंने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं। बहुत समीप आनेपर ही वे जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं उद्धव हैं।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्‌के विरहमें जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्‌के पहुँचनेमें विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणाजनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारिणी है।

भरतके विरहकी अवस्था भी रामायणके पाठकोंसे छिपी नहीं है। जब हनुमान्‌जी प्रभु श्रीरामजीका संदेश लेकर आते हैं तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं—

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥
मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥

(रा०च०मा० ७।२।७, ९-१०)

अपने प्रेमास्पदद्वारा प्रेरित संदेश पानेपर या उसका कुछ भी संदेश मिलनेपर जब रुक्मिणी, भरत अथवा गोपियोंकी-सी अवस्था होने लगे तो समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है—तो यह समझना चाहिये कि विशुद्ध प्रेमकी अवस्था है। यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है तथा यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी वृद्धि होती है, उतना ही मनुष्य परमात्माके निकट

पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका पुञ्ज है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके पुञ्ज हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सूर्यके समीप होता है, त्यों-त्यों प्रकाशकी वृद्धि स्वाभाविक रूपसे होती जाती है। इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना निकट होता है, उतनी उसमें प्रेमकी वृद्धि होती है या यह कहा जाय कि ज्यों-ज्यों प्रेमकी वृद्धि होती है त्यों-त्यों वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं हैं, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है। वैसे ही प्रेम और भगवान् दो वस्तु नहीं हैं अपितु प्रेम भी भगवान्‌का स्वरूप ही है—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं, ज्यौं सूरज अरु धूप॥

जब मनुष्य भगवत्प्रेमके रंगमें रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम (भक्ति), प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद (भगवान्) तीनों एक ही रूपमें परिणत हो एक ही वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं। वास्तवमें तो वही एक वस्तु तीन रूपोंमें प्रकट है।

प्रेमीके जीवनमें प्रत्येक चेष्टा सहज ही भगवत्प्रीत्यर्थ होती है। जो भगवान्‌के प्रतिकूल हो वही अविधि है और जो भगवान्‌के अनुकूल हो वही विधि है। यही प्रेमजगत्‌का विधि-निषेध है। वस्तुतः वहाँ सब कुछ भगवान्‌के मनका ही होता है। प्रेमीके मनमें वही बात आती है जो प्रेमास्पदके मनमें है। जहाँ अन्तरङ्गता होती है, वहाँ प्रेमास्पदकी बात प्रेमीके मनमें आनी स्वाभाविक ही है।

विशुद्ध प्रेमके नामपर मोहवश कभी भी अपनी वासनाको पूरी करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये। असलमें साधकको तो विषयीसे विपरीत चलना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े ही सुन्दर और सुकोमल बदन थे, पर जब उन्होंने संन्यास ले लिया तो बड़े ही कठोर नियमोंका पालन किया और करवाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु बड़े रसिक भी थे—जयदेवजीका 'गीतगोविन्द' सुना करते थे, पर साथ ही बड़े संयमी थे। श्रीरूप-सनातन आदि रसशास्त्रके महान् ज्ञाता थे। उन्होंने इसपर अनोखे ग्रन्थ लिखे हैं, पर साथ ही वे विलक्षण त्यागी और विरक्त थे। अतएव इनसे हमें संयमकी शिक्षा लेनी चाहिये तथा संयमकी बात अपनानी चाहिये। वस्तुतः प्रेमके पवित्र क्षेत्रमें इन्द्रियभोगको स्थान नहीं है। भगवान्‌के चरणानुरागमें सभी आसक्तियोंका अभाव होना ही चाहिये। साधकके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है।

चूँकि प्रेमका मार्ग बड़ा ही गहन, दुर्गम और तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान है, केवल बातें करनेसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। बाहरी वेश या चिह्नका नाम भी प्रेम नहीं है। प्रेमका तत्त्व तो परम रहस्यमय है। जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह प्रेमास्पद प्रभुका प्रेमी बन गया। प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्णरूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेमास्पद प्रभु ही जानते हैं अथवा किंचित् ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोंको है।

इसीलिये इस वर्ष यह विचार आया कि प्रभुप्रेमी भक्तोंके भावोंका संकलन **'भगवत्प्रेम-अङ्क'**-के रूपमें प्रकाशित किया जाय, जिससे भारतीय जनमानसको परब्रह्म परमात्मा प्रभुके प्रेमका तथा प्रेमपूर्ण लीलाओंका सम्यक् दर्शन, चिन्तन एवं मनन हो सके तथा संसारके प्रेमी भक्तजनोंमें प्रभुप्रेमके प्रति प्रगाढ़ता, एकाग्रता और अनन्यताका उदय हो। इस विशेषाङ्कमें आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुके प्रेममय स्वरूपका, उनके दिव्य गुणोंका, उनके अलौकिक प्रेमरहस्योंका, प्रेममयी लीलाओंका तथा ऐकान्तिक प्रेमी भक्तों, प्रेमी सेवकों, प्रेमी उपासकों एवं मित्रभावान्वित तथा शत्रुभावान्वित प्रेमी सहचरोंके विभिन्न चरित्रोंका यथास्थान चित्रण करते हुए भगवत्प्रेमका दर्शन और साथ ही प्रेम-रहस्योंका उद्घाटन तथा प्रेमकथाके प्रत्येक पक्षपर पठनीय, विचारप्रेरक एवं अनुष्ठेय सामग्रीका संकलन करनेका प्रयास किया गया है, जिससे प्रेमी भक्तजन अपने सनातन कल्याणकारी प्रेमपथसे परिचित हो सकें और प्रेममार्गका अवलम्बन ग्रहण कर अपने प्रेमास्पद प्रभुको प्राप्त कर सकें।

इस वर्ष **'भगवत्प्रेम-विशेषाङ्क'**-के लिये लेखक महानुभावोंने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यन्त प्रशंसनीय है। भगवत्कृपासे इतने लेख और सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि उन सबको इस अङ्कमें समाहित करना सम्भव नहीं था, फिर भी विषयकी सर्वाङ्गीणताको ध्यानमें रखते हुए अधिकतम सामग्रियोंका संयोजन करनेका विशेष प्रयत्न किया गया है। पिछले वर्ष फरवरी मासका परिशिष्टाङ्क भी विशेषाङ्कके साथ संलग्न किया गया था, परंतु इस वर्ष कुछ कठिनाइयोंके कारण फरवरी तथा मार्च मासके साधारण अङ्क विशेषाङ्कके साथ अलगसे भेजे जा रहे हैं। सामग्रीकी अधिकताके कारण इन दोनों साधारण अङ्कोंमें भी भगवत्प्रेम-सम्बन्धी सामग्रियाँ ही प्रायः समाहित की गयी हैं।

उन लेखक महानुभावोंके हम अत्यधिक कृतज्ञ हैं, जिन्होंने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर भगवत्प्रेम-सम्बन्धी सामग्री यहाँ प्रेषित करनेका कष्ट किया। हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीको इस 'विशेषाङ्क' में स्थान न दे सके, इसका हमें खेद है, इसमें हमारी विवशता ही कारण है। इनमेंसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख आनेके कारण न छप सके तथा कुछ अच्छे लेख विलम्बसे आये। इनमें कुछ लेखोंको स्थानाभावके कारण पर्याप्त संक्षिप्त करना पड़ा और कुछ नहीं दिये जा सके। यद्यपि इनमेंसे कुछ सामग्रीको आगेके साधारण अङ्कोंमें देनेका प्रयास अवश्य करेंगे, परंतु विशेष कारणोंसे कुछ लेख प्रकाशित न हो सकेंगे तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानमें रखकर हमें अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करेंगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्रहृदय संत-महात्माओंके श्रीचरणोंमें प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किञ्चित् भी योगदान किया है। भगवत्प्रेमके प्रचार-प्रसारमें वे ही निमित्त हैं; क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त भावनाओंसे कल्याणको सदा शक्ति-स्रोत प्राप्त होता रहता है। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। त्रुटियों एवं व्यवहार-दोषके लिये हम उन सबसे क्षमाप्रार्थी हैं।

'**भगवत्प्रेम-अङ्क**' के सम्पादनमें जिन संतों और विद्वान् लेखकोंसे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानसपटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम मैं वाराणसीके समादरणीय पं० श्रीलालबिहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जो निरन्तर प्रेरणाप्रद लेख एवं परामर्श प्रदान कर निष्कामभावसे अपनी सेवाएँ परमात्मप्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित करते रहते हैं। इस सन्दर्भमें हमें सर्वाधिक सहयोग 'गोधन' के सम्पादक श्रीशिवकुमारजी गोयलसे प्राप्त हुआ, जिन्होंने भगवत्प्रेमसे सम्बन्धित विभिन्न कथाएँ, घटनाएँ, प्रेमी भक्तोंके चरित्र, लेख तथा अपने पूज्य पिता श्रीरामशरणदासजीके संग्रहालयसे प्राप्त दुर्लभ सामग्रियोंको उपलब्ध कराया। उनके प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एवं अन्य महानुभावोंने अत्यधिक हार्दिक सहयोग एवं आशीर्वाद प्रदान किया है। इसके सम्पादन, संशोधन एवं चित्र-निर्माण आदिमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहयोग मिला है, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें कल्याणका कार्य भगवान्‌का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं, हम तो केवल निमित्त-मात्र हैं। इस बार '**भगवत्प्रेम-अङ्क**' के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत प्रेमास्पद प्रभुके सतत प्रेमका चिन्तन-मनन और सत्सङ्गका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है कि इस 'विशेषाङ्क' के पठन-पाठनसे हमारे सहृदय प्रेमी पाठकोंको भी यह सौभाग्य-लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

वास्तवमें प्रेमकी सतत वृद्धिके लिये मन, वाणी और व्यवहारमें निष्कामभाव तथा अहिंसा एवं निरहंकारताका होना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ स्वार्थ और अहंकार होता है, वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता। वस्तुतः भगवान्‌का वही अनन्य भक्त है जो चराचर-समुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि सम्पूर्ण ब्रह्म मेरा ही आत्मा है और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सब मेरे प्रियतम प्रभुका ही रूप है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद (प्रियतम)—ये देखनेमें तीन होनेपर भी वास्तवमें एक ही हैं। मैं इन तीनोंको जो वस्तुतः एक हैं, प्रणाम करता हूँ—

त्रिध्याप्येकं सदागम्यं गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रेमी प्रेमपात्रं त्रितयं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये पुनः क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारणकरुणावरुणालय प्रियतम प्रभुसे यह प्रार्थना करते हैं कि वे हमें तथा जगत्‌के सम्पूर्ण जीवोंको सद्बुद्धि प्रदान करें, जिससे सभी प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमको प्राप्त करनेके अधिकारी बनकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंका सूचीपत्र

(दिसम्बर २००२)

कोड — मूल्य

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-तत्त्व-विवेचनी—(टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका) २५१५ प्रश्न और उत्तर- रूपमें विवेचनात्मक हिन्दी टीका, सचित्र, सजिल्द आकर्षक

- 1 बृहदाकार १००
- 2 ,, ,, ग्रन्थाकार ६०
- 3 ,, ,, साधारण संस्करण ४० [बँगला, तमिल, ओडिआ, कन्नड़, अँग्रेजी, तेलुगु, गुजराती, मराठी भी]

गीता-साधक-संजीवनी—(टीकाकार— स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझनेहेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल, सुबोध भाषामें हिन्दी टीका, सचित्र, सजिल्द

- 5 बृहदाकार परिशिष्टसहित १६०
- 6 ,, ग्रन्थाकार परिशिष्टसहित ८५ [मराठी, गुजराती, बँगला, ओड़िआ (एकही खण्डमें सम्पूर्ण) कन्नड़, तमिल, अँग्रेजी (दो खण्डोंमें)]
- 1317 गीता पॉकेट साइज (साधक-संजीवनीके आधारपर अन्वय और पदच्छेदसहित) १२

गीता-दर्पण—(स्वामी रामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, गीता-व्याकरण और छन्द-सम्बन्धी गूढ़ विवेचन

- 8 सचित्र, सजिल्द ३५ [मराठी, बँगला, गुजराती, ओड़िआ भी]
- 784 ज्ञानेश्वरी गूढ़ार्थ-दीपिका (मराठी) १३०
- 748 ,, मूल गुटका (मराठी) २५
- 859 ज्ञानेश्वरी मूल मझला (मराठी) ३५
- 10 गीता-शांकर-भाष्य— ६०
- 581 गीता-रामानुज-भाष्य— ३५
- 11 गीता-चिन्तन—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीताविषयक लेखों, विचारों, पत्रों आदिका संग्रह) ३५

गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान

- 17 लेखसहित, सचित्र, सजिल्द [गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड़, तेलुगु, तमिल भी] २०
- 16 गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्य, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें (मराठीमें भी) २५
- 18 गीता—भाषा-टीका, टिप्पणी-प्रधान विषय, मोटा टाइप [ओडिआ, गुजराती, मराठी भी] १२
- 502 गीता- ,, ,, (सजि०) १८ [तेलुगु, ओडिआ, कन्नड़, तमिल भी]
- 19 गीता—केवल भाषा (तेलुगु, तमिलमें भी) ७
- 750 गीता—भाषा पाकेट साइज (हिन्दी) ४
- 20 गीता—भाषा-टीका पाकेट साइज (हिन्दी) ५ [अँग्रेजी, मराठी, बँगला, असमिया, ओडिआ, गुजराती, कन्नड़, तेलुगु भी]
- 633 गीता—भाषा-टीका पाकेट साइज सजिल्द ८ [तेलुगु, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी भी]
- 21 श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें) [ओडिआ भी] १५
- 22 गीता—मूल, मोटे अक्षरोंवाली ६
- 23 गीता—मूल, विष्णुसहस्रनामसहित ३ [कन्नड़, तेलुगु, तमिल, मलयालम, ओडिआ भी]
- 488 नित्यस्तुतिः— गीता मूल, विष्णुसहस्रनामसहित ५
- 700 गीता—छोटी साइज मूल (ओडिआ भी) १.५०
- 1392 गीता ताबीजी (सजिल्द) ४
- 24 गीता ताबीजी—मूल (बंगलामें भी) ३
- 566 गीता—ताबीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता (१०० प्रति एक साथ) .२५
- 289 गीता-निबन्धावली
- 297 गीतोक्त संन्यास या सांख्ययोगका स्वरूप १.००
- 388 गीता माधुर्य-सरल प्रश्नोत्तर-शैलीमें (हिन्दी) ७ [तमिल, मराठी, गुजराती, उर्दू, तेलुगु, बँगला, असमिया, कन्नड़, ओडिआ, अँग्रेजी, संस्कृत भी]
- 1223 गीता रोमन मूल श्लोक एवं अंग्रेजी अनुवाद १०
- 1242 पाण्डव गीता एवं हंस गीता ३
- 1431 गीता-दैनन्दिनी (२००३) पुस्तकाकार विशिष्ट संस्करण ४५
- 874 गीता-दैनन्दिनी (२००३)—पुस्तकाकार डीलक्स ४०
- 503 गीता-दैनन्दिनी (२००३) रोमन पुस्तकाकार प्लास्टिक जिल्द ३०
- 506 गीता-दैनन्दिनी (२००३)— पाकेट साईज डीलक्स २०
- 615 गीता-दैनन्दिनी (२००३)— पाकेट साईज प्लास्टिक कवर १६
- 464 गीता-ज्ञान-प्रवेशिका-स्वामी रामसुखदास १२
- 508 गीता सुधा तरंगिनी-गीताका पद्यानुवाद ४

रामायण

- 1389 श्रीरामचरितमानस-बृहदाकार (राजसंस्करण) ३२०
- 80 ,, ,, बृहदाकार २२०
- 1095 ,, ,, ग्रन्थाकार (राजसंस्करण) १७०
- 81 ,, ,, सचित्र, सटीक मोटा टाइप, १२० [बँगला, तेलुगु, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी भी]
- 1402 ,, ,, सटीक, ग्रंथाकार (सामान्य) ९५
- 82 ,, ,, मझला साइज, सटीक सजिल्द ६० [गुजराती, अंग्रेजी भी]
- 1318 श्रीरामचरितमानस रोमन एवं अंग्रेजी अनुवादसहित २००
- 456 ,, ,, अँग्रेजी अनुवादसहित १००
- 786 ,, ,, मझला ,, ,, ५०
- 1436 ,, ,, मूल पाठ बृहदाकार १४०
- 83 ,, ,, मूलपाठ, मोटे अक्षरोंमें, ग्रंथाकार ६५ [गुजराती, ओडिआ भी]
- 84 ,, ,, मूल, मझला साइज [गुजराती भी] ३५
- 85 ,, ,, मूल, गुटका [गुजराती भी] २५
- 1282 श्रीरामचरितमानस -मूल मझला डिलक्स ६० (अब सचित्र, आरती-संग्रह उपहार-स्वरूप साथमें)
- 790 श्रीरामचरितमानस -केवल भाषा ६०

[श्रीरामचरितमानस-अलग-अलग काण्ड (सटीक)]

- 94 ,, ,, बालकाण्ड १६
- 95 ,, ,, अयोध्याकाण्ड १५
- 1349 श्रीरामचरितमानस-सुन्दरकाण्ड सटीक मोटा टाइप (लाल अक्षरोंमें) (श्रीहनुमानचालीसासहित) १५
- 98 ,, ,, -सुन्दरकाण्ड [कन्नड़, तेलुगु, बँगला भी] ५
- 101 ,, ,, लंकाकाण्ड ८
- 102 ,, ,, उत्तरकाण्ड ८
- 141 ,, ,, अरण्य, किष्किन्धा एवं सुन्दरकाण्ड ८
- 830 ,, ,, सुन्दरकाण्ड मूल ग्रन्थाकार, मोटा (रंगीन) १२
- 99 ,, ,, सुन्दरकाण्ड-मूल, गुटका ३ [गुजराती भी]
- 100 श्रीरामचरितमानस- सुन्दरकाण्ड-मूल, मोटा टाइप ५ [गुजराती, ओडिआ भी]
- 1378 ,, सुन्दरकाण्ड मूल मोटा टाइप (लाल रंगमें) ५
- 858 श्रीरामचरितमानस- सुन्दरकाण्ड-मूल, लघु आकार २ [गुजराती भी]
- 1376 मानस-गूढ़ार्थ-चन्द्रिका (श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक, टीकाकार-प० प० प्रज्ञानानन्द सरस्वती (सातों खण्ड) ७६०
- 1192 ,, बालकाण्ड (खण्ड-१) दोहा ४३ (क) तक ९०
- 1193 ,, बालकाण्ड (खण्ड-२) दोहा ४३ (ख) से १८८।६ तक १००
- 1194 ,, बालकाण्ड (खण्ड-३) दोहा १८८।७ से काण्ड समाप्तितक ११०

☞ भारतमें डाकखर्च, पैकिंग तथा फारवर्डिंगकी देय राशिः—
—२ रुपया-प्रत्येक १० रु० या उसके अंशके मूल्यकी पुस्तकोंपर।
—रजिस्ट्री / वी० पी० पी० के लिये २० रु० प्रति पैकेट अतिरिक्त।
[पैकेटका अधिकतम वजन ५ किलो (अनुमानित पुस्तक मूल्य रु० २५०)]

☞ रु० ५००/-से अधिकको पुस्तकोंपर ५% पैकिंग, हैण्डलिंग तथा वास्तविक डाकव्यय देय होगा।

☞ पुस्तकोंके मूल्य एवं डाकदरमें परिवर्तन होनेपर परिवर्तित मूल्य / डाकदर देय होगा।

☞ पुस्तक-विक्रेताओं एवं विदेशोंमें निर्यातके अलग नियम हैं।

सम्पर्क करें—
व्यवस्थापक— गीताप्रेस, गोरखपुर।

कोड		मूल्य
■ 1195	मानस-गूढार्थ-चन्द्रिका—अयोध्याकाण्ड (खण्ड-४) दोहा ३२६ तक	१५०
■ 1196	,, अरण्यकाण्डसे सुन्दरकाण्ड (खण्ड-५) (दोहा ६०) काण्ड समासितक	९०
■ 1197	,, लंकाकाण्डसे उत्तरकाण्ड (खण्ड-६) (दोहा १३०) समासितक	१२०
■ 1188	,, (प्रस्तावना खण्ड)	१००
■ 86	मानसपीयूष-(श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक, टीककार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड) (अलग-अलग खण्डोंमें भी उपलब्ध)	१०५०
■ 1291	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण कथा-सुधा-सागर	८५
■ 75, 76	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक, दो खण्डोंमें सेट	२००
■ 1337, 1338	,, ,, भाषा (मोटा टाइप) दो खण्डोंमें सेट	२४०
■ 77	,, ,, केवल भाषा	१२०
■ 583	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(मूलमात्रम्)	९०
■ 78	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण-सुन्दरकाण्ड, मूलमात्रम् [तेलुगु भी]	१५
■ 452, 453	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (अँग्रेजी अनुवादसहित दो खण्डोंमें सेट)	२५०
■ 1002	सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५
■ 74	अध्यात्मरामायण—सटीक [तमिल, तेलुगु भी]	५०
■ 223	मूल रामायण	१.५०
■ 460	रामाश्वमेध	१०
▲ 401	मानसमें नाम-वन्दना	७
■ 103	मानस-रहस्य	३०
■ 104	मानस-शंका-समाधान	१०

अन्य तुलसीकृत साहित्य

कोड		मूल्य
■ 105	विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित	२४
■ 106	गीतावली— ,, ,, ,,	२४
■ 107	दोहावली— ,, ,, ,,	१०
■ 108	कवितावली— ,, ,, ,,	१०
■ 109	रामाज्ञाप्रश्न— ,, ,, ,,	६
■ 110	श्रीकृष्णगीतावली— ,, ,, ,,	४
■ 111	जानकीमंगल— ,, ,, ,,	३
■ 112	हनुमानबाहुक— ,, ,, ,,	३
■ 113	पार्वतीमंगल— ,, ,, ,,	३
■ 114	वैराग्य-संदीपनी एवं बरवै रामायण	३
■ 115	बरवै रामायण—	१

सूर-साहित्य

कोड		मूल्य
■ 555	श्रीकृष्णमाधुरी	१२
■ 61	सूर-विनय-पत्रिका	१६
■ 62	श्रीकृष्ण-बाल-माधुरी	१३
■ 735	सूर-रामचरितावली	११
■ 547	विरह-पदावली	१०
■ 864	अनुराग-पदावली—	१२

पुराण, उपनिषद् आदि

कोड		मूल्य
■ 28	श्रीमद्भागवत-सुधासागर—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द	१२०
■ 25	श्रीशुकसुधासागर—बृहदाकार, बड़े टाइपोंमें	२५०
■ 1190, 1191	श्रीशुकसुधासागर—सचित्र मोटा टाइप दो खण्डोंमें सेट	२५०
■ 26, 27	श्रीमद्भागवतमहापुराण—सटीक दो खण्डोंमें सेट	२००
■ 564,565	श्रीमद्भागवतमहापुराण—अँग्रेजी सेट	२००
■ 29	,, ,, ,, मूल मोटा टाइप	८०
■ 124	श्रीमद्भागवतमहापुराण— मूल मझला	५०
■ 1092	भागवतस्तुति-संग्रह	५५
■ 571	श्रीकृष्णलीला चिन्तन—(राजसंस्करण)	१००
■ 30	श्रीप्रेम-सुधासागर—श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्धका भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द	५०
■ 31	भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र, सजिल्द	२०
■ 728	महाभारत—हिन्दी टीका-सहित, सजिल्द, सचित्र [छः खण्डोंमें] सेट (अलग-अलग खण्डोंमें भी उपलब्ध)	१०५०
■ 38	महाभारत-खिलभाग हरिवंशपुराण—हिन्दी टीका	१४०
■ 637	जैमिनीय अश्वमेध पर्व	५०
■ 39, 511	संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा, सचित्र, सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें)	२००
■ 44	संक्षिप्त पद्मपुराण—सचित्र, सजिल्द	१२०
■ 789	सं० शिवपुराण—मोटा टाइप [गुजराती भी]	१००
■ 1133	सं० देवीभागवत—मोटा टाइप [गुजराती भी]	१२०
■ 48	श्रीविष्णुपुराण—सानुवाद, सचित्र, सजिल्द	७०
■ 1364	श्रीविष्णुपुराण—(केवल हिन्दी)	५५
■ 1183	संक्षिप्त नारदपुराण	१००
■ 279	सं० स्कन्दपुराणाङ्क—सचित्र, सजिल्द	१४०
■ 539	सं० मार्कण्डेयपुराण	५५
■ 1111	सं० ब्रह्मपुराण	७०
■ 1113	नरसिंहपुराणम्-सानुवाद	५५
■ 1189	सं० गरुडपुराणाङ्क	८०
■ 1362	सं० अग्निपुराण	११०
■ 1361	सं० श्रीवराहपुराण	६०
■ 1432	सं० वामनपुराण (मुद्रणकी प्रक्रियामें)	
■ 584	सं० भविष्यपुराणाङ्क	७५
■ 631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	११०
■ 517	गर्गसंहिता—भगवान् कृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन, सचित्र, सजिल्द	७०
■ 47	पातञ्जलयोग-प्रदीप—पातञ्जलयोग-सूत्रोंका वर्णन	८०
■ 135	पातञ्जलयोगदर्शन—	९
■ 582	छान्दोग्योपनिषद्—सानुवाद शांकरभाष्य	७०
■ 577	बृहदारण्यकोपनिषद्— ,, ,,	१००
■ 1421	ईशादि नौ उपनिषद्- ,, ,, (एक ही जिल्दमें)	१००
■ 66	ईशादि नौ उपनिषद्-अन्वय-हिन्दी व्याख्या	४०
■ 67	ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्य [तेलुगु भी]	४
■ 68	केनोपनिषद्— सानुवाद, शांकरभाष्य	९
■ 578	कठोपनिषद्— ,, ,,	१०
■ 69	माण्डूक्योपनिषद्— ,, ,,	
■ 513	मुण्डकोपनिषद्— ,, ,,	६
■ 70	प्रश्नोपनिषद्— ,, ,,	७
■ 71	तैत्तिरीयोपनिषद्- ,, ,,	१५
■ 72	ऐतरेयोपनिषद्— ,, ,,	५
■ 73	श्वेताश्वतरोपनिषद्— ,, ,,	१६
■ 65	वेदान्त-दर्शन-हिन्दी व्याख्या-सहित, सजिल्द	३५
■ 639	श्रीनारायणीयम्—सानुवाद [तेलुगु भी]	२५

भक्त-चरित्र

कोड		मूल्य
■ 40	भक्तचरिताङ्क—सचित्र, सजिल्द	१२०
■ 51	श्रीतुकाराम-चरित-जीवनी और उपदेश	३०
■ 121	एकनाथ-चरित्र	१२
■ 53	भागवतरत्न प्रह्लाद	१५
■ 123	चैतन्य-चरितावली-सम्पूर्ण एक साथ	९०
■ 751	देवर्षि नारद	१०
■ 167	भक्त भारती	
■ 168	भक्त नरसिंह मेहता [मराठी, गुजराती भी]	८
■ 169	भक्त बालक-गोविन्द-मोहन आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड़ भी]	४
■ 170	भक्त नारी—मीरा, शबरी आदिकी गाथा	४
■ 171	भक्त पञ्चरत्न—रघुनाथ-दामोदर आदिकी [तेलुगु भी]	६
■ 172	आदर्श भक्त—शिबि, रन्तिदेव आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड़, गुजराती भी]	६
■ 173	भक्त सप्तरत्न-दामा, रघु आदिकी भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड़ भी]	५
■ 174	भक्त चन्द्रिका-सखू, विट्ठल आदि छः भक्तगाथा [गुजराती, कन्नड़, तेलुगु, मराठी, ओडिआ भी]	५
■ 175	भक्त कुसुम-जगन्नाथ आदि छः भक्तगाथा	५
■ 176	प्रेमी भक्त-बिल्वमंगल, जयदेव आदि [गुजराती भी]	५
■ 177	प्राचीन भक्त—मार्कण्डेय, उत्तङ्क आदि	८
■ 178	भक्त सरोज—गङ्गाधरदास, श्रीधर आदि [गुजराती भी]	६
■ 179	भक्त सुमन—नामदेव, राँका-बाँका आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 180	भक्त सौरभ—व्यासदास, प्रयागदास आदि	६
■ 181	भक्त सुधाकर—रामचन्द्र, लाखा आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 182	भक्त महिलारत्न-रानी रत्नावती, हरदेवी आदि [गुजराती भी]	६
■ 183	भक्त दिवाकर—सुव्रत, वैश्वानर आदि भक्तगाथा	६
■ 184	भक्त रत्नाकर—माधवदास, विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा	६
■ 185	भक्तराज हनुमान्-हनुमान्‌जीका जीवनचरित्र [मराठी, ओडिआ, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, गुजराती भी]	४
■ 186	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र [ओडिआ भी]	३
■ 187	प्रेमी भक्त उद्धव [तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओडिआ भी]	३
■ 188	महात्मा विदुर [गुजराती, तमिल, ओडिआ भी]	३
■ 136	विदुरनीति	८
■ 138	भीष्मपितामह [तेलुगु भी]	८
■ 189	भक्तराज ध्रुव [तेलुगु भी]	३

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

कोड		मूल्य
■ 683	तत्त्वचिन्तामणि—(सभी खण्ड एक साथ)	७०
■ 814	साधन-कल्पतरु	७०
■ 527	प्रेमयोगका तत्त्व—[अंग्रेजी भी]	९
■ 242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा—[तेलुगु भी]	१२
■ 528	ज्ञानयोगका तत्त्व [अँग्रेजी भी]	१०
▲ 266	कर्मयोगका तत्त्व—(भाग-१)	८
▲ 267	,, ,, (भाग-२)	७
▲ 303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	८
▲ 298	भगवान्‌के स्वभावका रहस्य	६
▲ 243	परम साधन—भाग-१	६
▲ 244	,, ,, —भाग-२	५
▲ 245	आत्मोद्धारके साधन—भाग-१	७
▲ 335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति—(आत्मोद्धारके साधन भाग-२) [गुजराती भी]	६
▲ 579	अमूल्य समयका सदुपयोग [तेलुगु, गुजराती, मराठी, कन्नड़ भी]	६
▲ 246	मनुष्यका परम कर्तव्य—भाग-१	८
▲ 247	मनुष्यका परम कर्तव्य— भाग-२	७
▲ 611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति [गुजराती भी]	७
▲ 588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति [गुजराती भी]	८
▲ 1296	कर्णवासका सत्संग [तमिल भी]	६
▲ 1015	भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता	७
■ 248	कल्याणप्राप्तिके उपाय-(त०चि०म०भा०१) [बँगला भी]	९
▲ 249	शीघ्र कल्याणके सोपान-भाग-२, खण्ड-१ [गुजराती भी]	८
▲ 250	ईश्वर और संसार-भाग-२, (खण्ड-२)	८
▲ 519	अमूल्य शिक्षा-भाग-३, (खण्ड-१)	७
▲ 253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि-भाग-३, (खण्ड-२)	८

कोड	मूल्य
▲ 251 अमूल्य वचन-तत्त्वचिन्तामणि भाग-४, (खण्ड-१)	८
▲ 252 भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा- ,, (खण्ड-२)	७
▲ 254 व्यवहारमें परमार्थकी कला-त०चि० भाग-५, (खण्ड-१) [गुजराती भी]	८
▲ 255 श्रद्धा-विश्वास और प्रेम- ,, भाग-५, (खण्ड-२) [गुजराती भी]	८
▲ 258 तत्त्वचिन्तामणि- ,, भाग-६, (खण्ड-१)	८
▲ 257 परमानन्दकी खेती- ,, भाग-६, (खण्ड-२)	७
▲ 260 समता अमृत और विषमता विष-भाग-७, (खण्ड-१)	८
▲ 259 भक्ति-भक्त-भगवान्-भाग-७, (खण्ड-२)	८
▲ 256 आत्मोद्धारके सरल उपाय	८
▲ 261 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान [मराठी, कन्नड़, तेलुगु, तमिल, गुजराती, ओडिआ भी]	३
▲ 262 रामायणके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, ओडिआ, तमिल, मराठी भी]	६
▲ 263 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, तमिल, मराठी भी]	५
▲ 264 मनुष्य-जीवनकी सफलता—भाग-१	७
▲ 265 मनुष्य-जीवनकी सफलता— भाग-२	६
▲ 268 परमशान्तिका मार्ग—भाग-१	६
▲ 269 ,, ,, भाग-२	८
▲ 543 परमार्थ-सूत्र-संग्रह [ओड़िआ भी]	६
▲ 769 साधन नवनीत [गुजराती, ओड़िआ, कन्नड़ भी]	५
▲ 599 हमारा आश्चर्य	७
▲ 681 रहस्यमय प्रवचन	७
▲ 1021 अध्यात्मिक प्रवचन [गुजराती भी]	७
▲ 1324 अमृत वचन	७
▲ 1409 भगवत्प्रेम-प्राप्तिके उपाय	७
▲ 1433 साधना पथ	६
▲ 1022 निष्काम श्रद्धा और प्रेम	७
▲ 292 नवधा भक्ति [तेलुगु भी]	४
▲ 273 नल-दमयन्ती [मराठी, तमिल, कन्नड़, गुजराती, ओडिआ, तेलुगु भी]	३
▲ 274 महत्त्वपूर्ण चेतावनी	५
▲ 277 उद्धार कैसे हो?—५१ पत्रोंका संग्रह [गुजराती, मराठी भी]	५
▲ 278 सच्ची सलाह—८० पत्रोंका संग्रह	६
▲ 280 साधनोपयोगी पत्र—७२ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 281 शिक्षाप्रद पत्र—७० पत्रोंका संग्रह	७
▲ 282 पारमार्थिक पत्र—९१ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 284 अध्यात्मविषयक पत्र—५४ पत्रोंका संग्रह	४
▲ 283 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ [अँग्रेजी, कन्नड़, गुजराती, मराठी भी]	५
▲ 680 उपदेशप्रद कहानियाँ [गुजराती, कन्नड़, तेलुगु भी]	७
▲ 891 प्रेममें विलक्षण एकता [मराठी भी]	६
▲ 958 मेरा अनुभव [गुजराती, मराठी भी]	६
▲ 1120 सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें	६
▲ 1283 सत्संगकी मार्मिक बातें	६
▲ 1150 साधनकी आवश्यकता	७
▲ 320 वास्तविक त्याग	५
▲ 285 आदर्श भ्रातृप्रेम [ओडिआ भी]	४
▲ 286 बालशिक्षा [तेलुगु, कन्नड़, ओडिआ, गुजराती भी]	३
▲ 287 बालकोंके कर्तव्य [ओडिआ भी]	३
▲ 272 स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा [कन्नड़, गुजराती भी]	७
▲ 290 आदर्श नारी सुशीला [बँगला, तेलुगु, तमिल, ओडिआ, गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 291 आदर्श देवियाँ [ओडिआ भी]	३
▲ 300 नारीधर्म	३

कोड	मूल्य
△ 293 सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय [गुजराती भी]	१.५०
△ 294 संत-महिमा [गुजराती, ओडिआ भी]	१.५०
△ 295 सत्संगकी कुछ सार बातें—(हिन्दी) [बँगला, तमिल, तेलुगु, गुजराती, ओडिआ, मराठी भी]	१.५०
△ 301 भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म	१.५०
△ 310 सावित्री और सत्यवान्—(हिन्दी) [गुजराती, तमिल, तेलुगु, ओडिआ, कन्नड, मराठी भी]	२
△ 299 श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश—ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप [तेलुगु भी]	३
△ 304 गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति—गजलगीतासहित [गुजराती, असमिया, तमिल भी]	१.५०
△ 305 गीताका तात्त्विक विवेचन एवं प्रभाव	
△ 309 भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय—(कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ) [ओडिआ भी]	३
△ 311 परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य [ओड़िआ भी]	१.५०
△ 306 धर्म क्या है? भगवान् क्या हैं? [गुजराती, ओडिआ भी]	१.५०
△ 307 भगवान्‌की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत-कण) [ओडिआ, कन्नड़ भी]	१.५०
△ 316 ईश्वर साक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
△ 314 व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य [गुजराती, मराठी भी]	१.५०
△ 623 धर्मके नामपर पाप	१.५०
△ 315 चेतावनी और सामयिक चेतावनी [गुजराती भी]	१.५०
△ 318 ईश्वर दयालु और न्यायकारी है और अवतारका सिद्धान्त [गुजराती, तेलुगु भी]	१.५०
△ 270 भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द एवं महात्मा किसे कहते हैं? [तेलुगु भी]	१.५०
△ 271 भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?—	१.५०
△ 302 ध्यान और मानसिक पूजा [गुजराती भी]	१.५०
△ 326 प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोकनाशके उपाय [गुजराती भी]	१.५०
△ 328 संध्या-गायत्रीका महत्त्व, चतुःश्लोकी भागवत एवं गजलगीतासहित	१.५०

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी)-के अनमोल प्रकाशन

कोड	मूल्य
□ 820 भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार)	७०
□ 050 पदरत्नाकर	५०
□ 049 श्रीराधा-माधव-चिन्तन	५०
□ 058 अमृत-कण	१६
□ 332 ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	१५
□ 333 सुख-शान्तिका मार्ग	१५
□ 343 मधुर	११
□ 056 मानव-जीवनका लक्ष्य	१२
□ 331 सुखी बननेके उपाय	१०
□ 334 व्यवहार और परमार्थ	१०
□ 514 दुःखमें भगवत्कृपा	१०
□ 386 सत्संग-सुधा	१०
□ 342 संतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल तमिल (तीन भागोंमें)	१५
□ 347 तुलसीदल	१०
■ 339 सत्संगके बिखरे मोती—	१०
□ 349 भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति—	१२
□ 350 साधकोंका सहारा—	१५
□ 351 भगवच्चर्चा—(भाग-५)	१५
□ 352 पूर्ण समर्पण	१५
▲ 353 लोक-परलोक-सुधार—(भाग-१)	८

कोड	मूल्य
■ 355 महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर—	१२
■ 356 शान्ति कैसे मिले ? (भाग-४)	१३
■ 357 दुःख क्यों होते हैं ?	१२
■ 348 नैवेद्य	१०
△ 337 दाम्पत्य-जीवनका आदर्श [गुजराती, तेलुगु भी]	७
△ 336 नारीशिक्षा [गुजराती भी]	८
■ 340 श्रीरामचिन्तन	९
■ 338 श्रीभगवन्नाम-चिन्तन	१०
△ 345 भवरोगकी रामबाण दवा [ओड़िआ भी]	८
△ 346 सुखी बनो	७
■ 341 प्रेमदर्शन [तेलुगु भी]	९
△ 358 कल्याण-कुंज— (क० कुं० भाग-१)	६
△ 359 भगवान्‌की पूजाके पुष्प- (,, भाग-२)	७
△ 360 भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (,, भाग-३)	८
■ 361 मानव-कल्याणके साधन—(,, भाग-४)	१०
△ 362 दिव्य सुखकी सरिता— (,, भाग-५) [गुजराती भी]	६
△ 363 सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ-(,, भाग-६)	६
△ 364 परमार्थकी मन्दाकिनी—(,, भाग-७)	५
△ 366 मानव-धर्म—	६
△ 526 महाभाव-कल्लोलिनी	६
△ 367 दैनिक कल्याण-सूत्र—	४
△ 368 प्रार्थना—प्रार्थना-पीयूष [ओडिआ भी]	५
△ 369 गोपीप्रेम	३
△ 370 श्रीभगवन्नाम [ओडिआ भी]	३
△ 373 कल्याणकारी आचरण	१
△ 374 साधन-पथ—सचित्र [गुजराती, तमिल भी]	४
△ 375 वर्तमान शिक्षा	३
△ 376 स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी	३
△ 377 मनको वश करनेके कुछ उपाय [गुजराती भी]	१
△ 378 आनन्दकी लहरें [बँगला, ओडिआ, गुजराती भी]	१.५०
△ 379 गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य	३
△ 380 ब्रह्मचर्य [ओडिआ भी]	२
△ 381 दीनदुखियोंके प्रति कर्तव्य—	१
△ 382 सिनेमा मनोरंजन या विनाशका साधन	२
△ 344 उपनिषदोंके चौदह रत्न—	५
△ 371 राधा-माधव-रससुधा (षोडशगीत) सटीक	३
△ 384 विवाहमें दहेज—	१
△ 809 दिव्य संदेश एवं मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बनें?	१

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	मूल्य
■ 465 साधन-सुधा-सिन्धु	७०
△ 400 कल्याण-पथ	६
△ 401 मानसमें नाम-वन्दना	७
△ 605 जित देखूँ तित तू [गुजराती, मराठी भी]	६
△ 406 भगवत्प्राप्ति सहज है	६
△ 535 सुन्दर समाजका निर्माण	७
△ 1175 प्रश्नोत्तर मणिमाला [बंगला, ओडिआ भी]	७
△ 1247 मेरे तो गिरधर गोपाल	६
△ 403 जीवनका कर्तव्य [गुजराती भी]	७
△ 436 कल्याणकारी प्रवचन [गुजराती, बँगला, ओडिआ भी]	५
△ 405 नित्ययोगकी प्राप्ति	६
△ 1093 आदर्श कहानियाँ [ओडिआ भी]	६
△ 407 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता [कन्नड़, मराठी भी]	६
△ 408 भगवान्से अपनापन [गुजराती, ओडिआ भी]	४
△ 861 सत्संग-मुक्ताहार [गुजराती, ओडिआ भी]	४
△ 860 मुक्तिमें सबका अधिकार [गुजराती भी]	१
△ 409 वास्तविक सुख [तमिल भी]	

कोड	मूल्य
▲ 1308 प्रेरक कहानियाँ	५
▲ 1408 सब साधनोंका सार	४
▲ 411 साधन और साध्य [मराठी, बँगला भी]	४
▲ 412 तात्त्विक प्रवचन [मराठी, ओडिआ, बँगला, गुजराती भी]	४
▲ 414 तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार [बँगला भी]	६
▲ 410 जीवनोपयोगी प्रवचन	६
▲ 822 अमृत-बिन्दु [बँगला, तमिल, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी भी]	५
▲ 821 किसान और गाय	१.५०
▲ 416 जीवनका सत्य [गुजराती भी]	४
▲ 417 भगवन्नाम [मराठी भी]	३
▲ 418 साधकोंके प्रति [बंगला, मराठी भी]	४
▲ 419 सत्संगकी विलक्षणता [गुजराती भी]	३
▲ 545 जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग [गुजराती भी]	३
▲ 420 मातृशक्तिका घोर अपमान [तमिल, बँगला, मराठी, गुजराती, ओडिआ भी]	३
▲ 421 जिन खोजा तिन पाइयाँ [बंगला भी]	४
▲ 422 कर्मरहस्य [बंगला, तमिल, कन्नड़, ओडिआ भी]	३
▲ 424 वासुदेवः सर्वम् [मराठी भी]	३
▲ 425 अच्छे बनो	४
▲ 426 सत्संगका प्रसाद [गुजराती भी]	४
▲ 1019 सत्यकी खोज [गुजराती भी]	४
▲ 1035 सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	१
▲ 1360 तू-ही-तू	१.५०
▲ 1434 एक नयी बात	१.५०
▲ 1440 परम पितासे प्रार्थना	१
▲ 1441 संसारका असर कैसे छुटे?	१.५०
▲ 1176 शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे हैं विचार करें [बंगला भी]	१.५०
▲ 1255 कल्याणके तीन सुगम मार्ग [बँगला, मराठी भी]	१.५०
▲ 431 स्वाधीन कैसे बनें?	१.५०
▲ 702 यह विकास है या विनाश जरा सोचिये	१.५०
▲ 589 भगवान् और उनकी भक्ति [ओडिआ भी]	५
▲ 617 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम [तमिल, बँगला, तेलुगु, ओडिआ, कन्नड, गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 427 गृहस्थमें कैसे रहें ? [बँगला, मराठी, कन्नड़, ओडिआ, अँग्रेजी, तमिल, तेलुगु, गुजराती भी]	५
▲ 432 एकै साधे सब सधै [गुजराती, तमिल, तेलुगु भी]	४
▲ 433 सहज साधना [गुजराती, बँगला, ओडिआ, मराठी भी]	३
▲ 434 शरणागति [तमिल, ओडिआ, तेलुगु, कन्नड़ भी]	३
▲ 435 आवश्यक शिक्षा (सन्तानका कर्तव्य एवं आहारशुद्धि) [गुजराती, ओडिआ भी]	४
■ 1012 पञ्चामृत—(१०० पन्नोंका पैकेटमें) [गुजराती भी]	१
■ 1037 हे मेरे नाथ मैं आपको भूलूँ नहीं (१०० पन्नोंका पैकेटमें)	१
▲ 1072 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं? [गुजराती, ओडिआ भी]	३
▲ 730 संकल्पपत्र	२
▲ 515 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन [गुजराती, तमिल, तेलुगु भी]	१
▲ 770 अमरताकी ओर [गुजराती भी]	५
▲ 438 दुर्गतिसे बचो [गुजराती, बँगला (गुरुतत्त्व-सहित), मराठी भी]	१.५०
▲ 439 महापापसे बचो [बँगला, तेलुगु, उर्दू, कन्नड़, गुजराती तमिल भी]	१.५०

कोड	मूल्य
▲ 440 सच्चा गुरु कौन ?	१.५०
▲ 781 अलौकिक प्रेम [गुजराती भी]	१.५०
▲ 444 नित्य-स्तुति और प्रार्थना [कन्नड़, तेलुगु भी]	१.५०
▲ 729 सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण [गुजराती भी]	१.५०
▲ 445 हम ईश्वरको क्यों मानें? [बँगला, नेपाली भी]	१.५०
▲ 745 भगवत्तत्त्व [गुजराती भी]	१.५०
▲ 632 सब जग ईश्वररूप है [ओडिआ भी]	४
▲ 447 मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा [ओडिआ, बँगला, तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती भी]	१.५०

नित्यपाठ साधन-भजन-हेतु

कोड	मूल्य
■ 592 नित्यकर्म-पूजा-प्रकाश [गुजराती भी]	३०
■ 1417 शिवस्तोत्ररत्नाकर	१६
■ 610 व्रतपरिचय	२५
■ 1162 एकादशी-व्रतका माहात्म्य—मोटा टाइप	१०
■ 1136 वैशाख-कार्तिक-माघमास-माहात्म्य	१८
■ 1367 श्रीसत्यनारायण-व्रतकथा	६
■ 052 स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद [तेलुगु भी]	१८
■ 117 दुर्गासप्तशती—मूल, मोटा टाइप [तेलुगु, कन्नड़ भी]	१२
■ 876 ,, ,, मूल गुटका	६
■ 1346 ,, ,, सानुवाद मोटा टाइप	२०
■ 118 ,, ,, सानुवाद [गुजराती, बंगला भी]	१५
■ 489 ,, ,, सजिल्द	२०
■ 866 ,, ,, केवल हिन्दी	१०
■ 1161 ,, ,, केवल भाषा मोटा टाइप	३०
■ 1281 ,, ,, सटीक राजसंस्करण	३०
■ 819 श्रीविष्णुसहस्त्रनाम-शांकरभाष्य	१५
■ 206 ,, ,, सटीक,	३
■ 226 ,, ,, मूल, [मलयालम, तेलुगु, कन्नड़, तमिल, गुजराती भी]	१.५०
■ 509 सूक्ति-सुधाकर—सूक्ति-संग्रह	१०
■ 207 रामस्तवराज—(सटीक)	३
■ 211 आदित्यहृदयस्तोत्रम्—हिन्दी-अँग्रेजी-अनुवाद-सहित [ओडिआ भी]	१.५०
■ 224 श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र-भक्त बिल्वमंगलरचित [तेलुगु, ओडिआ भी]	३
■ 231 रामरक्षास्तोत्रम्— [तेलुगु भी]	१.५०
■ 715 महामन्त्रराजस्तोत्रम्	३
■ 704 श्रीशिवसहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 705 श्रीहनुमत्सहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 706 श्रीगायत्रीसहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 707 श्रीरामसहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 708 श्रीसीतासहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 709 श्रीसूर्यसहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 710 श्रीगङ्गासहस्त्रनामस्तोत्रम्	२
■ 711 श्रीलक्ष्मीसहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 712 श्रीगणेशसहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 713 श्रीराधिकासहस्त्रनामस्तोत्रम्	
■ 810 श्रीगोपालसहस्त्रनामस्तोत्रम्	३
■ 495 दत्तात्रेय-वज्रकवच—सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]	३
■ 229 श्रीनारायणकवच एवं अमोघ शिवकवच [ओडिआ भी]	३
■ 563 शिवमहिम्नस्तोत्र—[तेलुगु भी]	३
■ 054 भजन-संग्रह—पाँचों भाग एक साथ	२४
■ 140 श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली	१४
■ 142 चेतावनी-पद-संग्रह—(दोनों भाग)	१४
■ 144 भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह	६
■ 1355 सचित्र-स्तुति-संग्रह	५
■ 1344 सचित्र-आरती-संग्रह	१०

कोड	मूल्य
■ 153 आरती-संग्रह—१०२ आरतियोंका संग्रह	५
■ 807 सचित्र आरतियाँ [गुजराती भी]	१०
▲ 385 नारद-भक्ति-सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति-सूत्र सानुवाद [बँगला, तमिल भी]	२
■ 208 सीतारामभजन	३
■ 221 हरेरामभजन—दो माला (गुटका)	३
■ 222 हरेरामभजन—१४ माला	१०
■ 576 विनय-पत्रिकाके पैंतीस पद	२
■ 225 गजेन्द्रमोक्ष-सानुवाद, हिन्दी पद्य, भाषानुवाद [तेलुगु, ओडिआ भी]	१.५०
■ 699 गङ्गालहरी	१.५०
■ 232 श्रीरामगीता	२
■ 383 भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये	१.५०
■ 1094 हनुमानचालीसा-हिन्दी भावार्थसहित	४
■ 1181 हनुमानचालीसा मूल (रंगीन)	२
■ 227 हनुमानचालीसा—(पाकेट साइज) [गुजराती, असमिया, तमिल, बँगला, तेलुगु, कन्नड, ओडिआ भी]	१.५०
■ 695 हनुमानचालीसा—(छोटी साइज) [गुजराती भी]	१
■ 228 शिवचालीसा	१.५०
■ 1185 शिवचालीसा— लघु आकार	१
■ 851 दुर्गाचालीसा, विन्ध्येश्वरीचालीसा	१.५०
■ 1033 दुर्गाचालीसा—लघु	१
■ 203 अपरोक्षानुभूति	३
■ 139 नित्यकर्म-प्रयोग	८
■ 524 ब्रह्मचर्य और संध्या-गायत्री	३
■ 210 सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण बलिवैश्वदेवविधि—मन्त्रानुवादसहित	३
■ 236 साधकदैनन्दिनी	२
■ 614 सन्ध्या	१.५०

बालोपयोगी पाठ्यपुस्तकें

कोड	मूल्य
■ 573 बालक-अङ्क—(कल्याण-वर्ष २७)	८०
■ 1316 बालपोथी (शिशु), रंगीन	१०
■ 461 ,, ,, भाग-१	३
■ 212 ,, ,, भाग-२	३
■ 684 ,, ,, भाग-३	३
■ 764 ,, ,, भाग-४	६
■ 765 ,, ,, भाग-५	६
■ 125 ,, ,, रंगीन, भाग-१	४
■ 216 बालककी दिनचर्या	३
■ 214 बालकके गुण	३
■ 217 बालकोंके सीख	३
■ 219 बालकके आचरण	३
■ 218 बाल-अमृत-वचन	३
■ 696 बाल-प्रश्नोत्तरी [गुजराती भी]	३
■ 215 आओ बच्चो तुम्हें बतायें	३
■ 213 बालकोंकी बोल-चाल	३
■ 145 बालकोंकी बातें	६
■ 146 बड़ोंके जीवनसे शिक्षा [ओडिआ भी]	६
■ 150 पिताकी सीख [गुजराती भी]	८
■ 402 आदर्श सुधारक	४
■ 897 लघुसिद्धान्तकौमुदी	१५
■ 148 वीर बालक	५
■ 1437 वीर बालक (रंगीन)	७
■ 149 गुरु और माता-पिताके भक्त बालक	५
■ 152 सच्चे-ईमानदार बालक	४
■ 155 दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ	४
■ 156 वीर बालिकाएँ	४
■ 727 स्वास्थ्य, सम्मान और सुख	३

कोड		मूल्य

सर्वोपयोगी प्रकाशन

कोड	पुस्तक	मूल्य
698	मार्क्सवाद और रामराज्य-स्वामी करपात्रीजी	
202	मनोबोध—	५
746	श्रमण नारद	
747	सप्तमहाव्रत	२
1300	महाकुम्भ पर्व	
542	ईश्वर	२
196	मननमाला	
57	मानसिक दक्षता	१६
59	जीवनमें नया प्रकाश	१३
60	आशाकी नयी किरणें	१४
132	स्वर्णपथ	११
55	महकते जीवनफूल-	२०
1381	क्या करें? क्या न करें?	१६
1416	गरुडपुराण-सारोद्धार (सानुवाद)	१८
64	प्रेमयोग	१८
774	गीताप्रेस-परिचय	४
387	प्रेम-सत्संग-सुधामाला	१२
668	प्रश्नोत्तरी	१.५०
501	उद्धव-सन्देश	१३
191	भगवान् कृष्ण [तमिल, तेलुगु, मराठी, गुजराती भी]	३.५०
193	भगवान् राम [गुजराती भी]	४
195	भगवान्पर विश्वास	४
120	आनन्दमय जीवन	११
130	तत्त्वविचार	९
133	विवेक-चूड़ामणि [तेलुगु भी]	१०
701	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका [ओडिआ, बँगला, तमिल, तेलुगु, मराठी, अंग्रेजी, गुजराती, कन्नड़ भी]	३
131	सुखी जीवन	९
122	एक लोटा पानी	१०
888	परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ	१०
1217	भवनभास्कर	१०
134	सती द्रौपदी	८
137	उपयोगी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल, कन्नड़, गुजराती भी]	७
157	सती सुकला	३
147	चोखी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल, गुजराती, मराठी भी]	४
159	आदर्श उपकार- (पढ़ो, समझो और करो)	८
160	कलेजेके अक्षर— ,, ,, ,,	८
161	हृदयकी आदर्श विशालता— ,, ,,	८
162	उपकारका बदला ,, ,,	८
163	आदर्श मानव-हृदय ,, ,,	८
164	भगवान्के सामने सच्चा सो सच्चा ,,	८
165	मानवताका पुजारी— ,, ,,	८
166	परोपकार और सच्चाईका फल- ,,	८
510	असीम नीचता और असीम साधुता-	८
129	एक महात्माका प्रसाद—	१५
827	तेईस चुलबुली कहानियाँ—	८
151	सत्संगमाला एवं ज्ञानमणिमाला	८
1363	शरणागति रहस्य	१५

चित्रकथा

कोड	पुस्तक	मूल्य
190	बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला	८
1114	श्रीकृष्णलीला (राजस्थानी शैली १८ वीं शताब्दी)	१००
867	भगवान् सूर्य (बृहदाकार)	४०
868	भगवान् सूर्य (ग्रंथाकार)	१५
1156	एकादश रुद्र (शिव)	५०
869	कन्हैया [बंगला, तमिल, गुजराती, ओडिआ भी]	१०
870	गोपाल [बंगला, तमिल भी]	१०
871	मोहन [बंगला, तमिल, गुजराती, ओडिआ भी]	१०
872	श्रीकृष्ण [बंगला, तमिल भी]	१०
1018	नवग्रह—चित्र एवं परिचय	१०
1016	रामलला	१५
1116	राजाराम	१५
862	मुझे बचाओ, मेरा क्या कसूर?	१५
1017	श्रीराम—नवीन संस्करण	१५
1394	भगवान् श्रीराम (पुस्तकाकार)	१०
1418	श्रीकृष्णलीला-दर्शन (,,)	१०
1278	दशमहाविद्या [बंगला भी]	१०
829	अष्टविनायक [ओडिआ, मराठी, गुजराती भी]	१०
1214	मानस-स्तुति-संग्रह	१०
1343	हर-हर महादेव	१५
204	ॐ नमः शिवाय (द्वादश ज्योतिर्लिंगोंकी कथा) [बंगला, ओडिआ, कन्नड़ भी]	१५
787	जय हनुमान [तेलुगु, ओडिआ भी]	१५
779	दशावतार [बंगला भी]	१०
1215	प्रमुख देवता	१०
1216	प्रमुख देवियाँ	१०
1420	पौराणिक देवियाँ	१०
1443	रामायणके प्रमुख पात्र	१५
1442	प्रमुख-ऋषि-मुनि	१५
205	नवदुर्गा [तेलुगु, गुजराती, असमिया, कन्नड़, अंग्रेजी, ओडिआ, बंगला भी]	१०
1307	नवदुर्गा—पॉकेट साइज	४
537	बाल-चित्रमय बुद्धलीला	५
194	बाल-चित्रमय चैतन्यलीला	
693	श्रीकृष्णरेखा-चित्रावली	
656	गीता-माहात्म्यकी कहानियाँ [तमिल, तेलुगु भी]	६
651	गोसेवाके चमत्कार— [तमिल भी]	८

रंगीन चित्र-प्रकाशन

कोड	पुस्तक	मूल्य
237	जयश्रीराम—भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	१५
546	जय श्रीकृष्ण—भगवान् कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण	१५
1001	जगज्जननी श्रीराधा—	८
1020	श्रीराधा-कृष्ण—युगल छवि	८
491	हनुमान्जी—(भक्तराज हनुमान्)	८
492	भगवान् विष्णु	८
560	लड्डू गोपाल (भगवान् श्रीकृष्णका बालस्वरूप)	८
1351	सुमधुर गोपाल	८
548	मुरलीमनोहर—(भगवान् मुरलीमनोहर)	८
776	सीताराम— युगल छवि	८
1290	नटराज शिव	८
630	सर्वदेवमयी गौ	८
531	श्रीबाँकेबिहारी	८
812	नवदुर्गा (माँ दुर्गाके नौ स्वरूपोंका चित्रण)	८
437	कल्याण-चित्रावली— I	८
1320	कल्याण-चित्रावली— II	८

'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

कोड	पुस्तक	मूल्य
1184	कृष्णाङ्क	१००
749	ईश्वराङ्क	९०
635	शिवाङ्क	१००
41	शक्ति-अङ्क	१००
616	योगाङ्क	९०
627	संत-अङ्क	१००
604	साधनाङ्क	१००
1002	सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	
44	संक्षिप्त पद्मपुराण	
539	संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण	
1111	संक्षिप्त ब्रह्मपुराण	
43	नारी-अङ्क	
659	उपनिषद्-अङ्क—	
518	हिन्दू-संस्कृति-अङ्क	
279	सं० स्कन्दपुराण	
40	भक्त-चरिताङ्क	
573	बालक-अङ्क	
1183	सं० नारदपुराण	
667	संतवाणी-अङ्क	
587	सत्कथा-अङ्क	
636	तीर्थाङ्क	
660	भक्ति-अङ्क	
1133	सं० देवीभागवत-मोटा टाइप	
574	सं० योगवासिष्ठ अङ्क	
789	सं० शिवपुराण-(बड़ा टाइप)	
631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	
1362	सं० अग्निपुराण	
1135	भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	
572	परलोक-पुनर्जन्माङ्क	
517	गर्ग-संहिता-[भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन]	
1113	नरसिंहपुराणम्-सानुवाद	
657	श्रीगणेश-अङ्क	
42	हनुमान-अङ्क—	
791	सूर्याङ्क	
584	सं० भविष्यपुराणाङ्क	
586	शिवोपासनाङ्क	
628	रामभक्ति-अङ्क	
653	गोसेवा-अङ्क	
1432	सं० वामनपुराण (मुद्रणकी प्रक्रियामें)	
1131	कूर्मपुराणाङ्क	
448	भगवल्लीला-अङ्क	
1044	वेद-कथाङ्क	
1189	सं० गरुड़पुराणाङ्क	
1377	आरोग्य-अङ्क	
1379	नीतिसार-अङ्क (मासिक अंकोंके साथ)	
	कल्याण-मासिक-अङ्क	

Annual Issues of Kalyan-Kalpataru at Reduced Rates

Code	Title	Price
1395	Woman No.	40
1396	Rama No.	40
1397	Manusmriti No.	40
1398	Hindu Sanskriti No.	40

अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन

संस्कृत

कोड	पुस्तक	मूल्य
679	गीतामाधुर्य	६

बँगला

कोड	पुस्तक	मूल्य
954	श्रीरामचरितमानस-ग्रन्थाकार	१२०
763	गीता-साधक-संजीवनी—	८५
1118	गीतातत्त्व-विवेचनी—	६५
556	गीता-दर्पण—	३०
013	गीता-पदच्छेद—	२०
957	गीता-ताबीजी—	३
1322	दुर्गासप्तशती सटीक	१५
1075	ॐ नमः शिवाय	१५
1043	नवदुर्गा	१०
1439	दशमहाविद्या	१०

कोड	मूल्य
■ 1096 कन्हैया	१०
■ 1097 गोपाल	१०
■ 1098 मोहन	१०
■ 1123 श्रीकृष्ण	१०
■ 1393 गीता भाषा टीका (पॉकेट साइज) सजि.	१०
■ 496 गीता भाषा टीका (पाकेट साइज)	६
■ 275 कल्याण-प्राप्तिके उपाय	१०
▲ 1305 प्रश्नोत्तर मणिमाला	७
▲ 395 गीतामाधुर्य	५
▲ 1102 अमृत-विन्दु	५
■ 1356 सुन्दरकाण्ड—सटीक	४
▲ 816 कल्याणकारी प्रवचन	४
▲ 276 परमार्थ-पत्रावली—भाग-१	४
▲ 1306 कर्त्तव्य साधनासे भगवत्प्राप्ति	४
▲ 1359 जिन खोजा तिन पाइया	४
▲ 1115 तत्त्वज्ञान कैसे हो?	४
▲ 1303 साधकोंके प्रति	४
▲ 1358 कर्म रहस्य	४
▲ 1119 ईश्वर और धर्म क्यों?	७
▲ 1122 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 625 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 428 गृहस्थमें कैसे रहें ?	३
▲ 903 सहज साधना	३
▲ 1368 साधना	३
▲ 312 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 955 तात्त्विक प्रवचन	३
■ 1103 मूल रामायण एवं रामरक्षास्तोत्र	२
▲ 449 दुर्गतिसे बचो गुरुतत्त्व	२
▲ 956 साधन और साध्य	२
▲ 330 नारद एवं शांडिल्य-भक्ति-सूत्र	२
▲ 762 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 848 आनन्दकी लहरें	१.५०
■ 626 हनुमानचालीसा	१.५०
▲ 1319 कल्याणके तीन सुगम मार्ग	१.५०
▲ 1293 शिखा धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे है?	१.५०
▲ 450 हम ईश्वरको क्यों मानें?	१.५०
▲ 849 मातृशक्तिका घोर अपमान	१
▲ 451 महापापसे बचो	१
▲ 469 मूर्तिपूजा	१
▲ 1140 भगवान्‌के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं	१.५०
▲ 296 सत्संगकी सार बातें	१
▲ 443 संतानका कर्तव्य	१
मराठी	
■ 1314 श्रीरामचरितमानस सटीक, मोटा टाइप	१२०
■ 784 ज्ञानेश्वरी गूढ़ार्थ-दीपिका	१३०
■ 853 एकनाथी भागवत—मूल	९०
■ 7 गीता-साधक-संजीवनी टीका	८५
■ 1304 गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 1071 श्रीनामदेवांची गाथा	५०
■ 859 ज्ञानेश्वरी—मूल मझला	३५
■ 15 गीता माहात्म्यसहित	३०
■ 504 गीता-दर्पण	३०
■ 748 ज्ञानेश्वरी—मूल गुटका	२५
■ 14 गीता-पदच्छेद	२५
■ 1388 गीता श्लोकार्थसहित (मोटा टाइप)	१०
■ 1257 गीताश्लोकार्थसहित (पाकेट साइज)	६
■ 1168 भक्त नरसिंह मेहता	८
▲ 429 गृहस्थमें कैसे रहें ?	७
▲ 1387 प्रेममें विलक्षण एकता	७
■ 857 अष्टविनायक	६
▲ 391 गीतामाधुर्य	६
▲ 1099 अमूल्य समयका सदुपयोग	६

कोड	मूल्य
▲ 1335 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 1155 उद्धार कैसे हो?	४
▲ 1386 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 1340 अमृत विन्दु	५
▲ 1382 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
▲ 1210 जित देखूँ तित-तू	६
▲ 1330 मेरा अनुभव	६
■ 1073 भक्त चन्द्रिका	४
■ 1383 भक्तराज हनुमान	४
▲ 886 साधकोंके प्रति	४
▲ 885 तात्त्विक प्रवचन	४
■ 1333 भगवान् श्रीकृष्ण	४
■ 1332 दत्तात्रेय-वज्रकवच	३
■ 855 हरीपाठ	३
■ 1169 चोखी कहानियाँ	३
▲ 1385 नल दमयंती	३
▲ 1384 सती-सावित्री-कथा	२
▲ 880 साधन और साध्य	४
▲ 1006 वासुदेवः सर्वम्	३
▲ 1276 आदर्शनारी सुशीला	३
▲ 1334 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 899 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 1339 कल्याणके तीन सुगम मार्ग और सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 1341 सहज साधना	३
▲ 802 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 882 मातृशक्तिका घोर अपमान	२
▲ 883 मूर्तिपूजा	१.५०
▲ 884 सन्तानका कर्तव्य	१.५०
▲ 1279 सत्संगकी कुछ सार बातें	१.५०
▲ 901 नाम-जपकी महिमा	१.५०
▲ 900 दुर्गतिसे बचो	१.५०
▲ 902 आहार-शुद्धि	
▲ 1170 हमारा कर्तव्य	१.५०
▲ 881 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	५
▲ 898 भगवन्नाम	४
गुजराती	
■ 799 श्रीरामचरितमानस—ग्रन्थाकार	१२०
■ 1430 श्रीरामचरितमानस मूल, मोटा	६०
■ 1326 सं० देवीभागवत	१२०
■ 1286 संक्षिप्त शिवपुराण	११०
■ 467 गीता-साधक-संजीवनी	९०
■ 1313 गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 785 श्रीरामचरितमानस—मझला सटीक	
■ 468 गीता-दर्पण	४०
■ 878 श्रीरामचरितमानस—मूल मझला	३५
■ 879 श्रीरामचरितमानस—मूल गुटका	२५
■ 1365 नित्यकर्म पूजाप्रकाश	३०
■ 12 गीता-पदच्छेद	२५
■ 1315 गीता—सटीक, मोटा टाइप	१५
■ 1366 दुर्गासप्तशती—सटीक	१५
■ 1227 सचित्र आरतियाँ	१०
■ 1034 गीता छोटी—सजिल्द	१०
■ 1225 मोहन— (धारावाहिक चित्रकथा)	१०
■ 1224 कन्हैया— ,,	१०
■ 1228 नवदुर्गा	१०
■ 936 गीता छोटी—सटीक	६
■ 948 सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
■ 1085 भगवान् राम—	४
■ 950 सुन्दरकाण्ड—मूल गुटका	३
■ 1199 सुन्दरकाण्ड—मूल लघु आकार	२
■ 1226 अष्ट विनायक	१०

कोड	मूल्य
■ 613 भक्त नरसिंह मेहता	९
▲ 1164 शीघ्र कल्याणके सोपान	८
▲ 1146 श्रद्धा, विश्वास और प्रेम	८
▲ 1144 व्यवहारमें परमार्थकी कला	८
▲ 1062 नारीशिक्षा	८
▲ 1129 अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
■ 1400 पिताकी सीख	८
▲ 1128 दाम्पत्य-जीवनका आदर्श	७
▲ 1061 साधननवनीत	७
▲ 1264 मेरा अनुभव	७
▲ 1046 स्त्रियोंके लिये कर्त्तव्य-शिक्षा	७
■ 1143 भक्त सुमन	७
■ 1142 भक्त सरोज	७
▲ 1211 जीवनका कर्तव्य	७
▲ 404 कल्याणकारी प्रवचन	७
▲ 877 अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	७
▲ 818 उपदेशप्रद कहानियाँ	७
▲ 1265 अध्यात्मिक प्रवचन	७
▲ 1052 इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति	६
■ 934 उपयोगी कहानियाँ	६
■ 1076 आदर्श भक्त	६
■ 1084 भक्त महिलारत्न	६
■ 875 भक्त सुधाकर	६
▲ 1067 दिव्य सुखकी सरिता	६
▲ 933 रामायणके आदर्श पात्र	६
▲ 1295 जित देखूँ तित तूँ	६
▲ 943 गृहस्थमें कैसे रहें?	६
▲ 932 अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 392 गीतामाधुर्य-	६
■ 1082 भक्त सप्तरत्न	५
■ 1087 प्रेमी भक्त	५
▲ 1077 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
▲ 940 अमृत-बिन्दु	५
▲ 931 उद्धार कैसे हो?	५
▲ 894 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 413 तात्त्विक प्रवचन	५
■ 892 भक्त चन्द्रिका	४
■ 895 भगवान् श्रीकृष्ण	४
▲ 1126 साधन-पथ	४
▲ 946 सत्संगका प्रसाद	४
▲ 942 जीवनका सत्य	४
▲ 1145 अमरताकी ओर	४
▲ 1066 भगवान्‌से अपनापन	४
■ 806 रामभक्त हनुमान्	४
▲ 1086 कल्याणकारी प्रवचन	४
▲ 1287 सत्यकी खोज	४
▲ 1088 एकै साधे सब सधै	४
■ 1399 चोखी कहानियाँ	४
▲ 889 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 1141 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 939 मातृ-शक्तिका घोर अपमान	३
■ 890 प्रेमी भक्त उद्धव	३
▲ 1047 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 1059 नल-दमयन्ती	३
▲ 1045 बालशिक्षा	३
▲ 1063 सत्संगकी विलक्षणता	३
▲ 1064 जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग	३
▲ 1165 सहज साधना	३
▲ 1151 सत्संगमुक्ताहार	३
■ 1401 बालप्रश्नोत्तरी	२
■ 935 संक्षिप्त रामायण (वाल्मीकीय रामायण-अन्तर्गत)	२
▲ 893 सती सावित्री	२
▲ 941 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	२
▲ 1177 आवश्यक शिक्षा	

कोड		मूल्य
▲ 804	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 1049	आनन्दकी लहरें	१.५०
■ 947	महात्मा विदुर	
■ 937	विष्णुसहस्रनाम	१.५०
▲ 1058	मनको वश करनेके उपाय एवं कल्याणकारी आचरण	१.५०
▲ 1050	सच्चा सुख	१.५०
▲ 1060	त्यागसे भगवत्प्राप्ति और गीता पढ़नेके लाभ	१.५०
■ 828	हनुमानचालीसा	१.५०
▲ 844	सत्संगकी कुछ सार बातें	१.५०
▲ 1055	हमारा कर्त्तव्य एवं व्यापार सुधारकी आवश्यकता	१.५०
▲ 1048	संत-महिमा	१.५०
▲ 1179	दुर्गतिसे बचो	१.५०
▲ 1178	सार-संग्रह, सत्संगके अमृत कण	१.५०
▲ 1152	मुक्तिमें सबका अधिकार	१.५०
▲ 1207	मूर्तिपूजा-नाम जपकी महिमा	१.५०
▲ 1167	भगवतत्त्व	१.५०
▲ 1206	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	१.५०
▲ 1051	भगवान्की दया	१.५०
■ 1198	हनुमानचालीसा—लघु आकार	१
■ 1229	पंचामृत	१
▲ 1054	प्रेमका सच्चा स्वरूप और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
▲ 938	सर्वोच्चपदप्राप्तिके साधन	१
▲ 1056	चेतावनी एवं सामयिक चेतावनी	१
▲ 1053	अवतारका सिद्धान्त और ईश्वर दयालु एवं न्यायकारी	१.५०
▲ 1127	ध्यान और मानसिक पूजा	१.५०
▲ 1148	महापापसे बचो	१
▲ 1153	अलौकिक प्रेम	१.५०

तमिल

कोड		मूल्य
■ 1426	गीता साधक संजीवनी—भाग-१	७५
■ 800	गीता-तत्त्व-विवेचनी	७५
■ 1256	अध्यात्म रामायण	५०
■ 823	गीता पदच्छेद	२०
■ 743	गीता मूलम्	१५
▲ 389	गीतामाधुर्य	८
■ 365	गोसेवाके चमत्कार	८
■ 1134	गीता माहात्म्यकी कहानियाँ	८
▲ 1007	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
▲ 553	गृहस्थमें कैसे रहें ?	८
▲ 850	संतवाणी—(भाग १)	७
▲ 952	,, (,, २)	७
▲ 953	,, (,, ३)	७
▲ 1353	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲ 1354	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	७
■ 795	गीता भाषा	६
■ 646	चोखी कहानियाँ	६
■ 608	भक्तराज हनुमान्	६
■ 1246	भक्तचरित्रम्	६
▲ 643	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	५
▲ 550	नाम-जपकी महिमा	
▲ 1289	साधन पथ	५
■ 793	गीता मूल-विष्णुसहस्रनाम	५
▲ 1117	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	५
▲ 1110	अमृत बिन्दु	५
▲ 655	एकै साधै सब सधै	५
▲ 1243	वास्तविक सुख	५
■ 741	महात्मा विदुर	४
▲ 536	गीता पढ़नेके लाभ, सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 591	महापापसे बचो, संतानका कर्तव्य	३
▲ 609	सावित्री और सत्यवान्	३
▲ 644	आदर्श नारी सुशीला	३

कोड		मूल्य
△ 568	शरणागति	३
△ 805	मातृशक्तिका घोर अपमान	२
△ 607	सबका कल्याण कैसे हो?	२
□ 794	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	२
□ 127	उपयोगी कहानियाँ	
□ 600	हनुमानचालीसा	२
△ 466	सत्संगकी सार बातें	१
△ 499	नारद-भक्ति-सूत्र	१.५०
□ 601	भगवान् श्रीकृष्ण	
□ 642	प्रेमी भक्त उद्धव	
□ 647	कन्हैया (धारावाहिक चित्रकथा)	
□ 648	श्रीकृष्ण—(,, ,,)	
□ 649	गोपाल—(,, ,,)	
□ 650	मोहन—(,, ,,)	
□ 1042	पञ्चामृत	
△ 742	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	
△ 423	कर्मरहस्य	४
△ 569	मूर्तिपूजा	१.५०
△ 551	आहारशुद्धि	
△ 645	नल-दमयन्ती	
△ 606	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	
△ 792	आवश्यक चेतावनी	

कन्नड़

कोड		मूल्य
□ 1112	गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
□ 1369 / 1370	गीता साधक संजीवनी (दो खण्डोंमें सेट)	१२०
□ 726	गीता पदच्छेद	२५
□ 718	गीता तात्पर्यके साथ	१५
□ 1375	ॐ नमः शिवाय	१५
□ 1357	नवदुर्गा	१०
△ 1109	उपदेशप्रद कहानियाँ	८
△ 945	साधन नवनीत	८
□ 724	उपयोगी कहानियाँ	७
△ 833	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
△ 834	स्त्रियोंके लिये कर्त्तव्य-शिक्षा	७
□ 1288	गीता श्लोकार्थ	६
△ 716	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
□ 832	सुन्दरकाण्ड (सटीक)	६
□ 840	आदर्श भक्त	६
■ 841	भक्त सप्तरत्न	६
□ 843	दुर्गासप्तशती—मूल	६
△ 390	गीतामाधुर्य	६
△ 720	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
△ 1374	अमूल्य समयका सदुपयोग	६
△ 128	गृहस्थमें कैसे रहें ?	५
■ 661	गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	५
■ 721	भक्त बालक	५
□ 951	भक्त चन्द्रिका	५
■ 835	श्रीरामभक्त हनुमान्	४
■ 837	विष्णुसहस्रनाम—सटीक	४
■ 842	ललितासहस्रनामस्तोत्र	४
△ 717	सावित्री-सत्यवान् और आदर्श नारी सुशीला	४
△ 723	नाम-जपकी महिमा और आहार शुद्धि	३
△ 725	भगवान्की दया एवं भगवान्का हेतु रहित सौहार्द	३
△ 722	सत्यकी शरणसे मुक्ति, गीता पढ़नेके लाभ	३
△ 325	कर्मरहस्य	३
△ 597	महापापसे बचो	१.५०
△ 719	बालशिक्षा	३
△ 839	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
△ 1371	शरणागति	३
■ 737	विष्णुसहस्रनाम एवं सहस्रनामावली	३
△ 836	नल-दमयन्ती	२

कोड		मूल्य
▲ 838	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
■ 736	नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	१.५०
■ 1105	श्रीवाल्मीकि रामायणम् संक्षिप्त	१.५०
■ 738	हनुमत्-स्तोत्रावली	१.५०
▲ 593	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	
▲ 598	वास्तविक सुख	
▲ 831	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	

असमिया

कोड		मूल्य
■ 714	गीता-भाषा-टीका—पाकेट साइज	
■ 1222	श्रीमद्भागवत-माहात्म्य	
■ 825	नवदुर्गा—	
▲ 624	गीतामाधुर्य—	
■ 1323	श्रीहनुमान चालीसा	
▲ 703	गीता पढ़नेके लाभ	

ओडिआ

कोड		मूल्य
■ 1121	गीता-साधक-संजीवनी	
■ 1100	गीता-तत्त्व-विवेचनी—ग्रन्थाकार	
■ 1218	रामचरितमानस—मूल मोटा टाइप	
■ 1298	गीता दर्पण	
■ 815	गीता श्लोकार्थसहित—(सजिल्द)	
■ 1219	गीता पञ्चरत्न	
■ 1009	जय हनुमान्	
■ 1250	ॐ नमः शिवाय	
■ 1157	गीता-सटीक मोटे अक्षर (अजिल्द)	
■ 1010	अष्टविनायक	
■ 1248	मोहन	
■ 1249	कन्हैया—	
■ 863	नवदुर्गा	
▲ 1251	भवरोगकी रामबाण दवा	
▲ 1209	प्रश्नोत्तर मणिमाला	
▲ 1274	परमार्थ सूत्र संग्रह	
▲ 1254	साधन नवनीत	
■ 1008	गीता—पाकेट साइज	
▲ 754	गीतामाधुर्य	
▲ 1208	आदर्श कहानियाँ	
▲ 1139	कल्याणकारी प्रवचन	
■ 1342	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा	
▲ 1205	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	
■ 1204	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	
▲ 1299	भगवान् और उनकी भक्ति	
■ 854	भक्तराज हनुमान्	
▲ 1004	तात्त्विक प्रवचन	
▲ 1138	भगवान्से अपनापन	
▲ 1187	आदर्श भ्रातृप्रेम	
▲ 430	गृहस्थमें कैसे रहें ?	
▲ 1321	सब जग ईश्वररूप है	
▲ 1269	आवश्यक शिक्षा	
▲ 865	प्रार्थना	
▲ 796	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	
▲ 1130	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	
■ 1154	गोविन्ददामोदरस्तोत्र	
■ 1200	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	
▲ 1174	आदर्श नारी सुशीला	
■ 541	गीता मूल विष्णुसहस्रनाम-सहित	
▲ 1003	सत्संगमुक्ताहार	
▲ 817	कर्मरहस्य	
▲ 1078	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	
▲ 1079	बालशिक्षा	
▲ 1163	बालकोंके कर्तव्य	
▲ 1252	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	
▲ 757	शरणागति	
▲ 1186	श्रीभगवन्नाम	
▲ 1267	सहज साधना	

कोड		मूल्य
▲ 1005	मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲ 1203	नल-दमयन्ती	३
▲ 1186	श्रीभगवन्नाम	३
▲ 1253	परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य	३
▲ 1220	सावित्री और सत्यवान्	२
▲ 826	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
■ 856	हनुमानचालीसा	१.५०
▲ 798	गुरुतत्त्व	१.५०
▲ 797	सन्तानका कर्त्तव्य-	१.५०
■ 1036	गीता—मूल लघु आकार	१.५०
■ 1070	आदित्यहृदयस्तोत्र	१.५०
■ 1068	गजेन्द्रमोक्ष	१.५०
■ 1069	नारायणकवच	१.५०
▲ 1089	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	१.५०
▲ 1039	भगवान्की दया एवं भगवत्कृपा	१.५०
▲ 1090	प्रेमका सच्चा स्वरूप (पाकेट साइज)	१.५०
▲ 1091	हमारा कर्तव्य	१.५०
▲ 1040	सत्संगकी कुछ सार बातें	१.५०
▲ 1011	आनन्दकी लहरें	१.५०
▲ 852	मूर्तिपूजा-नामजपकी महिमा	१.५०
▲ 1038	संत-महिमा	१
▲ 1041	ब्रह्मचर्य एवं मनको वश करनेके कुछ उपाय	१.५०
▲ 1221	आदर्श देवियाँ	
■ 1201	महात्मा विदुर	
■ 1202	प्रेमी भक्त उद्धव	
■ 1173	भक्त चन्द्रिका	

नेपाली

कोड		मूल्य
▲ 394	गीतामाधुर्य	
▲ 554	हम ईश्वरको क्यों मानें?	

उर्दू

कोड		मूल्य
▲ 393	गीतामाधुर्य	८
▲ 549	महापापसे बचो	१.५०
▲ 590	मनकी खटपट कैसे मिटे	०.८०

तेलगू

कोड		मूल्य
■ 1352	रामचरितमानस सटीक—ग्रन्थाकार	१२०
■ 1429	श्रीमद्वाल्मीकि रामायण सुन्दरकांड (तात्पर्यसहित)	७५
■ 1172	गीता-तत्त्व-विवेचनी	७०
■ 845	अध्यात्मरामायण	६०

कोड		मूल्य
■ 772	गीता पदच्छेद अन्वयसहित	२०
■ 924	वाल्मीकि रामायणम् सुन्दरकाण्डम् मूलम्	१७
■ 914	स्तोत्ररत्नावली	१७
■ 887	जय हनुमान् पत्रिका	१५
■ 771	गीता तात्पर्यसहित	१५
■ 910	विवेकचूडामणि	१३
■ 904	नारद भक्तिसूत्र मुलु (प्रेमदर्शन-)	१२
■ 909	दुर्गासप्तशती—मूलम्	१०
■ 1029	भजन-संकीर्तनावली	१०
■ 1301	नवदुर्गा पत्रिका	१०
■ 1309	गीता माहात्म्यकी कहानियाँ	१०
■ 1390	गीता तात्पर्य (पॉकेट साइज) (मोटा टाइप)	१०
■ 691	श्रीभीष्मपितामह	९
▲ 1028	गीता माधुर्य	८
▲ 915	उपदेशप्रद कहानियाँ	८
▲ 905	आदर्श दाम्पत्य-जीवनमु	८
■ 1031	गीता—छोटी पाकेट साइज	६
■ 929	महाभक्तुलु	६
■ 919	मंचि कथलु (उपयोगी कहानियाँ)	६
▲ 766	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 768	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 733	गृहस्थमें कैसे रहें?	५
■ 908	नारायणीयम्—मूलम्	
■ 682	भक्तपञ्चरत्न	५
■ 687	आदर्श भक्त	५
■ 767	भक्तराज हनुमान्	५
■ 917	भक्त चन्द्रिका	५
■ 918	भक्त सप्तरत्न	५
■ 641	भगवान् श्रीकृष्ण	५
■ 663	गीता भाषा	५
■ 662	गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	४
■ 753	सुन्दरकाण्ड— सटीक	४
■ 685	भक्त बालक	४
■ 692	चोखी कहानियाँ	४
▲ 920	परमार्थ-पत्रावली	४
■ 930	दत्तात्रेय वज्रकवच	३
■ 846	ईशावास्योपनिषद्	३
■ 686	प्रेमीभक्त उद्धव	३
■ 1023	श्रीशिवमहिम्नः स्तोत्रम्-सटीक	३

कोड		मूल्य
■ 1025	स्तोत्रकदम्बम्	३
■ 1026	पंचसूक्तमुलु-रूद्रमु	५
■ 674	गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■ 675	सं० रामायणम्,रामरक्षास्तोत्रम्	३
▲ 906	भगन्तुडे आत्मेयुणु	३
■ 801	ललितासहस्रनाम	३
■ 688	भक्तराज ध्रुव	२
■ 670	विष्णुसहस्रनाम, मूल	१.५०
■ 732	नित्यस्तुतिः, आदित्यहृदयस्तोत्रम्	१.५०
■ 912	रामरक्षास्तोत्र, सटीक	१.५०
■ 676	हनुमानचालीसा	१.५०
■ 677	गजेन्द्रमोक्षम्	१.५०
▲ 913	भगवत्प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट साधनमु-नाम स्मरणमें	१.५०
▲ 923	भगवन्तु दयालु न्यायमूर्ति	१.५०
▲ 760	महत्त्वपूर्ण शिक्षा	४
▲ 761	एकै साधे सब सधै	४
▲ 922	सर्वोत्तम साधन	४
▲ 759	शरणागति एवं मुकुन्दमाला	३
▲ 752	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 734	आहारशुद्धि, मूर्तिपूजा	२
▲ 664	सावित्री-सत्यवान्	२
▲ 665	आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 921	नवधा भक्ति	३
▲ 666	अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 672	सत्यकी शरणसे मुक्ति	१.५०
▲ 671	नामजपकी महिमा	१
▲ 678	सत्संगकी कुछ सार बातें	१
▲ 731	महापापसे बचो	१.५०
▲ 925	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	१.५०
▲ 758	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 916	नल-दमयन्ती	५
▲ 689	भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 690	बालशिक्षा	४
▲ 907	प्रेमभक्ति-प्रकाशिका	१.५०
▲ 673	भगवान्का हेतुरहित सौहार्द	१.५०
▲ 926	सन्तानका कर्तव्य	१.५०

मलयालम

कोड		मूल्य
■ 739	गीता विष्णुसहस्रनाम, मूल	४
■ 740	विष्णुसहस्रनाम—मूल	१

Code		Price
■ 1318	Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text Transliteration & English Translation)	200
■ 452, 453	Śrīmad Vālmīki Rāmāyaṇa (With Sanskrit Text and English Translation) Set of 2 volumes	250
■ 564, 565	Śrīmad Bhāgavata (With Sanskrit Text and English Translation) Set	200
■ 1080, 1081	Śrīmad Bhāgavadgītā Sādhaka-Sañjīvanī (By Swami Ramsukhdas) (English Commentary) Set of 2 Volumes	70
■ 457	Śrīmad Bhagavadgītā Tattva-Vivecanī (By Jayadayal Goyandka) Detailed Commentary	50
■ 455	Bhagavadgītā (With Sanskrit Text and English Translation) Pocket size	5
■ 534	„ „ (Bound)	8
■ 1223	Bhagavadgītā (Roman Gītā) (With Sanskrit Text Transleration and English Translation)	10
■ 456	Śrī Rāmacaritamānasa (With Hindi Text and English Translation)	100
■ 786	„ „ „ Medium	50
▲ 783	Abortion Right or Wrong You Decide	2
■ 824	Songs From Bhartṛhari	2
■ 494	The Immanence of God (By Madan Mohan Malaviya)	

Our English Publications

By Jayadayal Goyandka

Code		Price
▲ 477	Gems of Truth [Vol. I]	5
▲ 478	„ [Vol. II]	6
▲ 479	Sure Steps to God-Realization	8
▲ 481	Way to Divine & Bliss	5
▲ 482	What is Dharma? What is God?	1.50
▲ 480	Instructive Eleven Stories	4
▲ 694	Dialogue with the Lord During Meditation	2
▲ 1125	Five Divine Abodes	3
▲ 520	Secret of Jñānayoga	8
▲ 521	„ „ Premayoga	6
■ 522	„ „ Karmayoga	9
▲ 523	„ „ Bhaktiyoga	8
▲ 658	„ „ Gītā	4
▲ 1013	Gems of Satsaṅga	1

By Hanuman Prasad Poddar

Code		Price
▲ 484	Look Beyond the Veil	8
▲ 622	How to Attain Eternal Happiness?	8
▲ 483	Turn to God	8
▲ 485	Path to Divinity	7
▲ 847	Gopis' Love for Śrī Kṛṣṇa	4
▲ 620	The Divine Name and Its Practice	3
▲ 486	Wavelets of Bliss & the Divine Message	

By Swami Ramsukhdas

Code		Price
▲ 498	In Search of Supreme Abode	
▲ 619	Ease in God-Realization	4
▲ 471	Benedictory Discourses	6
▲ 473	Art of Living	4
▲ 487	Gītā Mādhurya (English)	6
▲ 1101	The Drops of Nectar (Amṛta Bindu)	4
▲ 472	How to Lead A Household Life	3
▲ 570	Let us Know the Truth	3
▲ 638	Sahaja Sādhanā	2
▲ 634	God is Everything	3
▲ 621	Invaluable Advice	2
▲ 474	Be Good	
▲ 497	Truthfulness of Life	2
▲ 669	The Divine Name	2
▲ 476	How to be Self-Reliant	
▲ 552	Way to Attain the Supreme Bliss	1
▲ 562	Ancient Idealism for Modernday Living	1

SPECIAL EDITIONS

Code		Price
■ 1391	The Bhagavadgītā (Sanskrit Text and English Translation) Pocket Size	10
■ 1411	Gītā Roman (Sanskrit text, Transliteration & English Translation) Book Size	15
■ 1407	The Drops of Nectar (By Swami Ramsukhdas)	10

'कल्याण' का उद्देश्य और इसके नियम

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जन-जनको कल्याण-पथ (आत्मोद्धारके सुमार्ग)-पर अग्रसरित करनेकी प्रेरणा देना इसका एकमात्र उद्देश्य है।

नियम—भगवद्भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि प्रेरणाप्रद एवं कल्याण-मार्गमें सहायक अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

१-'कल्याण' का वर्तमान वार्षिक सदस्यता-शुल्क डाक-व्ययसहित नेपाल-भूटान तथा भारतवर्षमें रु० १२० (सजिल्द विशेषाङ्कका रु० १३५) और विदेशके लिये सजिल्द विशेषाङ्कका हवाई डाक (Air mail)-से US$25 (रु० ११५०) तथा समुद्री डाक (Sea mail)-से US$13 (रु० ६००) है। समुद्री डाकसे पहुँचनेमें बहुत समय लग सकता है, अत: हवाई डाकसे ही अङ्क मँगवाना चाहिये।

२-**'कल्याण' का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं।** वर्षके मध्यमें बननेवाले ग्राहकोंको जनवरीसे ही अङ्क दिये जाते हैं। एक वर्षसे कमके लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते हैं।

३-**ग्राहकोंको वार्षिक शुल्क १५ दिसम्बरतक 'कल्याण'-कार्यालय अथवा गीताप्रेसकी पुस्तक-दूकानोंपर अवश्य भेज देना चाहिये।** जिन ग्राहक-सज्जनोंसे अग्रिम मूल्य-राशि प्राप्त नहीं होती, उन्हें विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा भेजनेका नियम है। वी०पी०पी० द्वारा 'कल्याण'-विशेषाङ्क भेजनेमें यद्यपि वी०पी०पी० डाक-शुल्कके रूपमें रु० १० ग्राहकको अधिक देना पड़ता है; तथापि अङ्क सुविधापूर्वक सुरक्षित मिल जाता है। **अतः सभी ग्राहकोंको वी०पी०पी० ठीक समयसे छुड़ा लेनी चाहिये।** पाँच वर्षके लिये भी ग्राहक बनाये जाते हैं, इससे आप प्रतिवर्ष शुल्क भेजने/वी०पी० पी० छुड़ानेकी असुविधासे बच सकते हैं।

४-जनवरीके विशेषाङ्कके साथमें फरवरीका अङ्क भी रहता है। मार्चसे दिसम्बरतकके अङ्क प्रतिमास भली प्रकार जाँच करके मासके प्रथम सप्ताहतक डाकसे भेजे जाते हैं। यदि किसी मासका अङ्क २० तारीखतक न मिले तो डाक-विभागसे जाँच करनेके उपरान्त हमें सूचित करना चाहिये। खोये हुए मासिक अङ्कोंके उपलब्ध होनेकी स्थितिमें पुन: भेजनेका प्रयास किया जाता है।

५-पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम ३० दिनोंके पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। पत्रोंमें **ग्राहक-संख्या, पिनकोडसहित पुराना और नया—पूरा पता पढ़नेयोग्य सुस्पष्ट तथा सुन्दर अक्षरोंमें लिखना चाहिये।**

६-पत्र-व्यवहारमें 'ग्राहक-संख्या' न लिखे जानेपर कार्यवाही होना कठिन है। अत: 'ग्राहक-संख्या' प्रत्येक पत्रमें अवश्य लिखी जानी चाहिये।

७-जनवरीका विशेषाङ्क ही वर्षका प्रथम अङ्क होता है। वर्षपर्यन्त मासिक अङ्क ग्राहकोंको उसी शुल्क-राशिमें भेजे जाते हैं।

८-'कल्याण' में व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी स्थितिमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

'कल्याण' के पञ्चवर्षीय ग्राहक

पाँच वर्षके लिये सदस्यता-शुल्क ६०० रुपये, सजिल्द विशेषाङ्कके लिये ६७५ रुपये, विदेश (Foreign)-के लिये सजिल्द विशेषाङ्कका हवाई डाक (Air mail)-से US$ 125 (रु० ५,७५०), समुद्री डाक (Sea mail) -से US$65 (रु० ३,०००) है। फर्म, प्रतिष्ठान आदि भी ग्राहक बन सकते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण' का प्रकाशन बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों उतनेमें ही संतोष करना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७ पंजीकृत-संख्या—NP/GR—13/2003—2005
प्र० ति० २०-१२-२००२
LICENCE NO.-WPP/GR-03/2003 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT

भगवत्प्रेमीकी प्रेमास्पदसे प्रार्थना

संसारसागरमतीव गभीरपारं दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरङ्गैः।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम्॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव विद्युल्लतोल्लसति पातकसञ्चयो मे।
मोहान्धकारपटलैर्मम नष्टदृष्टेर्दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥
संसारकाननवरं बहुदुःखवृक्षैः संसेव्यमानमपि मोहमयैश्च सिंहैः।
संदीप्तमस्ति करुणाबहुवह्नितेजः संतप्यमानमनसं परिपाहि कृष्ण॥
संसारवृक्षमतिजीर्णमपीह सूच्चं मायासुकन्दकरुणाबहुदुःखशाखम्।
जायादिसङ्घच्छदनं फलितं मुरारे तं चाधिरूढपतितं भगवन् हि रक्ष॥
त्वामेव ये नियतमानसभावयुक्ता ध्यायन्त्यनन्यमनसा पदवीं लभन्ते।
नत्वैव पादयुगलं च महत्सुपुण्यं ये देवकिन्नरगणाः परिचिन्तयन्ति॥
नान्यं वदामि न भजामि न चिन्तयामि त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि।
एवं हि मामुपगतं शरणं च रक्ष दूरेण यान्तु मम पातकसञ्चयास्ते।
दासोऽस्मि भृत्यवदहं तव जन्म जन्म त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि॥

जनार्दन! यह संसार-समुद्र अत्यन्त गहरा है, इसका पार पाना कठिन है। यह दुःखमयी लहरों और मोहमयी भाँति-भाँतिकी तरङ्गोंसे भरा है। मैं अत्यन्त दीन हूँ और अपने ही दोषों तथा गुणोंसे—पाप-पुण्योंसे प्रेरित होकर इसमें आ फँसा हूँ; अतः आप मेरा इससे उद्धार कीजिये। कर्मरूपी बादलोंकी भारी घटा घिरी हुई है, जो गरजती और बरसती भी है। मेरे पातकोंकी राशि विद्युल्लताकी भाँति उसमें थिरक रही है। मोहरूपी अन्धकारसमूहसे मेरी दृष्टि—विवेकशक्ति नष्ट हो गयी है, मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ; मधुसूदन! मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये। यह संसार एक महान् वन है, इसमें बहुत-से दुःख ही वृक्षरूपमें स्थित हैं। मोहरूपी सिंह इसमें निर्भय होकर निवास करते हैं; इसके भीतर शोकरूपी प्रचण्ड दावानल प्रज्वलित हो रहा है, जिसकी आँचसे मेरा चित्त संतप्त हो उठा है। श्रीकृष्ण! इससे मुझे बचाइये। संसार एक वृक्षके समान है, यह अत्यन्त पुराना होनेके साथ बहुत ऊँचा भी है; माया इसकी जड़ है, शोक तथा नाना प्रकारके दुःख इसकी शाखाएँ हैं, पत्नी आदि परिवारके लोग पत्ते हैं और इसमें अनेक प्रकारके फल लगे हैं। मुरारे! मैं इस संसार-वृक्षपर चढ़कर गिर रहा हूँ; भगवन्! इस समय मेरी रक्षा कीजिये—मुझे बचाइये। जो संयमशील हृदयके भावसे युक्त होकर अनन्य चित्तसे आपका ध्यान करते हैं, वे आपके मार्गको पा लेते हैं तथा जो देवता और किन्नरगण आपके दोनों परम पवित्र चरणोंको प्रणाम करके उनका चिन्तन करते हैं, वे भी आपकी पदवीको प्राप्त होते हैं। मैं न तो दूसरेका नाम लेता हूँ, न दूसरेको भजता हूँ और न दूसरेका चिन्तन ही करता हूँ। नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणोंको प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें, मेरे पातकसमूह शीघ्र दूर हो जायँ। मैं सेवककी भाँति जन्म-जन्म आपका दास बना रहूँ। भगवन्! आपके युगल चरण-कमलोंको सदा प्रणाम करता हूँ। (पद्मपुराण)

रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७
प्र० ति० २०-१२-२००२

पंजीकृत-संख्या—NP/GR—13/2003—2005

LICENCE NO.-WPP/GR-03/2003 | LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT

भगवत्प्रेमीकी प्रेमास्पदसे प्रार्थना

संसारसागरमतीव गभीरपारं दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरङ्गैः।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम्॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव विद्युल्लतोल्लसति पातकसञ्चयो मे।
मोहान्धकारपटलैर्मम नष्टदृष्टेर्दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥
संसारकाननवरं बहुदुःखवृक्षैः संसेव्यमानमपि मोहमयैश्च सिंहैः।
संदीप्तमस्ति करुणाबहुवह्नितेजः संतप्यमानमनसं परिपाहि कृष्ण॥
संसारवृक्षमतिजीर्णमपीह सूच्चं मायासुकन्दकरुणाबहुदुःखशाखम्।
जायादिसङ्घछदनं फलितं मुरारे तं चाधिरूढपतितं भगवन् हि रक्ष॥
त्वामेव ये नियतमानसभावयुक्ता ध्यायन्त्यनन्यमनसा पदवीं लभन्ते।
नत्वैव पादयुगलं च महत्सुपुण्यं ये देवकिन्नरगणाः परिचिन्तयन्ति॥
नान्यं वदामि न भजामि न चिन्तयामि त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि।
एवं हि मामुपगतं शरणं च रक्ष दूरेण यान्तु मम पातकसञ्चयास्ते।
दासोऽस्मि भृत्यवदहं तव जन्म जन्म त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि॥

जनार्दन! यह संसार-समुद्र अत्यन्त गहरा है, इसका पार पाना कठिन है। यह दुःखमयी लहरों और मोहमयी भाँति-भाँतिकी तरङ्गोंसे भरा है। मैं अत्यन्त दीन हूँ और अपने ही दोषों तथा गुणोंसे—पाप-पुण्योंसे प्रेरित होकर इसमें आ फँसा हूँ; अतः आप मेरा इससे उद्धार कीजिये। कर्मरूपी बादलोंकी भारी घटा घिरी हुई है, जो गरजती और बरसती भी है। मेरे पातकोंकी राशि विद्युल्लताकी भाँति उसमें थिरक रही है। मोहरूपी अन्धकारसमूहसे मेरी दृष्टि—विवेकशक्ति नष्ट हो गयी है, मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ; मधुसूदन! मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये। यह संसार एक महान् वन है, इसमें बहुत-से दुःख ही वृक्षरूपमें स्थित हैं। मोहरूपी सिंह इसमें निर्भय होकर निवास करते हैं; इसके भीतर शोकरूपी प्रचण्ड दावानल प्रज्वलित हो रहा है, जिसकी आँचसे मेरा चित्त संतप्त हो उठा है। श्रीकृष्ण! इससे मुझे बचाइये। संसार एक वृक्षके समान है, यह अत्यन्त पुराना होनेके साथ बहुत ऊँचा भी है; माया इसकी जड़ है, शोक तथा नाना प्रकारके दुःख इसकी शाखाएँ हैं, पत्नी आदि परिवारके लोग पत्ते हैं और इसमें अनेक प्रकारके फल लगे हैं। मुरारे! मैं इस संसार-वृक्षपर चढ़कर गिर रहा हूँ; भगवन्! इस समय मेरी रक्षा कीजिये—मुझे बचाइये। जो संयमशील हृदयके भावसे युक्त होकर अनन्य चित्तसे आपका ध्यान करते हैं, वे आपके मार्गको पा लेते हैं तथा जो देवता और किन्नरगण आपके दोनों परम पवित्र चरणोंको प्रणाम करके उनका चिन्तन करते हैं, वे भी आपकी पदवीको प्राप्त होते हैं। मैं न तो दूसरेका नाम लेता हूँ, न दूसरेको भजता हूँ और न दूसरेका चिन्तन ही करता हूँ। नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणोंको प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें, मेरे पातकसमूह शीघ्र दूर हो जायँ। मैं सेवककी भाँति जन्म-जन्म आपका दास बना रहूँ। भगवन्! आपके युगल चरण-कमलोंको सदा प्रणाम करता हूँ। (पद्मपुराण)

रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७
प्र० ति० २०-१२-२००२
पंजीकृत-संख्या—NP/GR—13/2003—2005
LICENCE NO.-WPP/GR-03/2003 LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT

भगवत्प्रेमीकी प्रेमास्पदसे प्रार्थना

संसारसागरमतीव गभीरपारं दुःखोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरङ्गैः।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्तं तस्मात् समुद्धर जनार्दन मां सुदीनम्॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव विद्युल्लतोल्लसति पातकसञ्चयो मे।
मोहान्धकारपटलैर्मम नष्टदृष्टेर्दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥
संसारकाननवरं बहुदुःखवृक्षैः संसेव्यमानमपि मोहमयैश्च सिंहैः।
संदीप्तमस्ति करुणाबहुवह्नितेजः संतप्यमानमनसं परिपाहि कृष्ण॥
संसारवृक्षमतिजीर्णमपीह सूच्चं मायासुकन्दकरुणाबहुदुःखशाखम्।
जायादिसङ्घछदनं फलितं मुरारे तं चाधिरूढपतितं भगवन् हि रक्ष॥
त्वामेव ये नियतमानसभावयुक्ता ध्यायन्त्यनन्यमनसा पदवीं लभन्ते।
नत्वैव पादयुगलं च महत्सुपुण्यं ये देवकिन्नरगणाः परिचिन्तयन्ति॥
नान्यं वदामि न भजामि न चिन्तयामि त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि।
एवं हि मामुपगतं शरणं च रक्ष दूरेण यान्तु मम पातकसञ्चयास्ते।
दासोऽस्मि भृत्यवदहं तव जन्म जन्म त्वत्पादपद्मयुगलं सततं नमामि॥

जनार्दन! यह संसार-समुद्र अत्यन्त गहरा है, इसका पार पाना कठिन है। यह दुःखमयी लहरों और मोहमयी भाँति-भाँतिकी तरङ्गोंसे भरा है। मैं अत्यन्त दीन हूँ और अपने ही दोषों तथा गुणोंसे—पाप-पुण्योंसे प्रेरित होकर इसमें आ फँसा हूँ; अतः आप मेरा इससे उद्धार कीजिये। कर्मरूपी बादलोंकी भारी घटा घिरी हुई है, जो गरजती और बरसती भी है। मेरे पातकोंकी राशि विद्युल्लताकी भाँति उसमें थिरक रही है। मोहरूपी अन्धकारसमूहसे मेरी दृष्टि—विवेकशक्ति नष्ट हो गयी है, मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ; मधुसूदन! मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये। यह संसार एक महान् वन है, इसमें बहुत-से दुःख ही वृक्षरूपमें स्थित हैं। मोहरूपी सिंह इसमें निर्भय होकर निवास करते हैं; इसके भीतर शोकरूपी प्रचण्ड दावानल प्रज्वलित हो रहा है, जिसकी आँचसे मेरा चित्त संतप्त हो उठा है। श्रीकृष्ण! इससे मुझे बचाइये। संसार एक वृक्षके समान है, यह अत्यन्त पुराना होनेके साथ बहुत ऊँचा भी है; माया इसकी जड़ है, शोक तथा नाना प्रकारके दुःख इसकी शाखाएँ हैं, पत्नी आदि परिवारके लोग पत्ते हैं और इसमें अनेक प्रकारके फल लगे हैं। मुरारे! मैं इस संसार-वृक्षपर चढ़कर गिर रहा हूँ; भगवन्! इस समय मेरी रक्षा कीजिये—मुझे बचाइये। जो संयमशील हृदयके भावसे युक्त होकर अनन्य चित्तसे आपका ध्यान करते हैं, वे आपके मार्गको पा लेते हैं तथा जो देवता और किन्नरगण आपके दोनों परम पवित्र चरणोंको प्रणाम करके उनका चिन्तन करते हैं, वे भी आपकी पदवीको प्राप्त होते हैं। मैं न तो दूसरेका नाम लेता हूँ, न दूसरेको भजता हूँ और न दूसरेका चिन्तन ही करता हूँ। नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणोंको प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें, मेरे पातकसमूह शीघ्र दूर हो जायँ। मैं सेवककी भाँति जन्म-जन्म आपका दास बना रहूँ। भगवन्! आपके युगल चरण-कमलोंको सदा प्रणाम करता हूँ। (पद्मपुराण)

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
J.H. Prasad
भगवत्प्रेम-अङ्क
वर्ष ७७
संख्या १
गीताप्रेस, गोरखपुर